सत्यजित्

॥ ओ३म् ॥

वेदार्थ-कल्पद्रुमः

श्रीयुत-स्वामि-करपात्रि-कृत-'दयानन्दीय-मत-खण्डन'-खण्डकः

[द्वितीयः खण्डः]

प्रणेता

वेद-वेदाङ्ग-पुरस्कार-सम्मानितः, आर्यरत्नम्

आचार्य-विशुद्धानन्द-मिश्रः शास्त्री

व्याकरणाचार्य-दर्शनवाचस्पतिः

पूर्वकुलपतिर्गुरुकुलविश्वविद्यालयस्य वृन्दावनस्य

भारत-सर्वकार-मनोनीतपूर्वसदस्यो दिल्लीस्थ-राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानस्य

हिन्दीरूपान्तर-विधायिका

श्रीमती निर्मला मिश्रा

पूर्वप्राचार्या

पार्वती-आर्य-कन्या-विद्यालयस्य बदायूंस्थस्य

सम्पादकः

राजवीरः शास्त्री

सह-सम्पादकः

चन्द्रदत्तशर्मा

प्राध्यापकः

पाणिनि-महाविद्यालयस्य बहालाढस्थस्य

दयानन्दाब्दाः—१६७ विक्रमाब्दाः—२०४६

https://t.me/DharmaSamrat

प्रकाशक:—
'आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट'
४५५, खारी बावली, दिल्ली—६

पुस्तक-प्राप्ति-स्थानम्—
'आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट'
४५५, खारी बावली, दिल्ली—६

सर्वाधिकारो लेखकाधीन:

प्रथमं संस्करणम्—२०००
मूल्यम्—२००-००
जुलाई, १९९२

मुद्रक:—
रामकिशन सरोहा
सरोहा प्रिंटिंग प्रेस,
जी० टी० रोड, बहालगढ़
सोनीपत (हरयाणा)
पिन—१३१०२१

प्रकाशकीय

महर्षि व्यास ने योगदर्शन-भाष्य में लिखा है—**'अविद्या नेत्री सर्वक्लेशानाम्'** अविद्या (अज्ञान) ही समस्त दुःखों का कारण है। यद्यपि दुःखों को कोई नहीं चाहता, पुनरपि दुःख के मूल कारण को बहुत कम व्यक्ति जान पाते हैं। विरक्त महात्मा ही इस रहस्य को जान पाते हैं। इसलिए महर्षि दयानन्द ने समस्त आर्यों को निर्देश दिया है—**"अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए ।।"**

परन्तु समस्त सनातनधर्मी अपने को सनातनी तो कहते हैं, किन्तु सनातन, वेदोक्त, एवं ऋषियों द्वारा प्रोक्त सुखद नियमों को नहीं अपनाना चाहते, यही एक मुख्य पहलू है आर्यसमाज और सनातन धर्म के पारस्परिक विवाद का। आर्यसमाज वेद के सत्य प्रकाश को फैलाकर संसार से दुःखों के मूल कारण अविद्या व मिथ्याज्ञान को मिटाना चाहता है, किन्तु सनातनधर्मी अविद्या, मिथ्याज्ञान व पाखण्डों की रक्षा करके उसे बढ़ाना चाहता है। जिस दिन यह भेद मिट जायेगा, उस दिन समस्त सनातनी कहलानेवाले पौराणिक बन्धु महर्षि दयानन्द के आगे नतमस्तक होकर जय-जयकार करने लगेंगे।

उपरोक्त भावना के कारण ही गत शताब्दी में जितना महर्षि दयानन्द का विरोध सनातनी करते रहे हैं, उतना अन्य किसी महापुरुष का नहीं। इसी का ही दुष्परिणाम है कि अनेक पौराणिक पण्डितों ने मिलकर एक ऐसे ग्रन्थ के खण्डन में रचना कर डाली, जो महर्षि दयानन्द की सर्वोत्तम कृति ही नहीं, प्रत्युत जो समस्त वैदिकज्ञान व संस्कृति के अक्षुण्ण गौरव को पुनःस्थापित करने की कुञ्जी है, जिसको पढ़-पढ़कर भारत के ही नहीं, अपितु विदेशी वेदानुसन्धानकर्त्ता विद्वानों को भी अपनी-अपनी काल्पनिक मान्यताओं का त्याग करना पड़ा है। उस पुस्तक का नाम है—**'वेदार्थपारिजात'**। इस विशालकाय पुस्तक के दो भाग हैं, जिसके मुख्य लेखक हैं—श्री स्वामी करपात्रीजी। इस पुस्तक के लिखने का एक ही लक्ष्य रहा है—कि जैसे कोई चोर जब चोरी करने जाता है, तो वह सर्वप्रथम प्रकाश के दीपक को ही नष्ट करना चाहता है, वैसे ही परम्परागत एवं चिरकाल से चली आ रही रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों को पुनर्जीवित करने के लिए पौराणिक जगत् की आंखों में महर्षि-रचित यह भूमिका सर्वाधिक तिनके की भांति खटक रही थी। इसका आजतक कोई उत्तर नहीं दे सका था।

उपरोक्त पुस्तक में छल-कपट के मायाजाल में पाठकों को रखकर कैसी-कैसी असङ्गत, परस्पर विरुद्ध, मिथ्या, कल्पित, शास्त्रविरुद्ध एवं तर्कशून्य बातें लिखी हैं, इसका निर्णय कोई विरला विद्वान् ही कर सकता है। व्याकरण, निरुक्त, दर्शन, धर्मशास्त्र तथा वेदों के अनेक प्रकाण्ड सुलझे हुए विद्वान् अपना

https://t.me/DharmaSamrat

अमूल्य समय निकालकर इस ग्रन्थ का उत्तर लिखते, तब कहीं पूर्णतः सफलता मिल पाती, परन्तु इस प्रकार विद्वानों का इकट्ठा बैठाना, उनके समस्त व्यय की व्यवस्था करके उन्हें निश्चिन्त करना, तथा फिर उस ग्रन्थ का प्रकाशन करना अतीव दुष्कर कार्य थे। आर्यों की शिरोमणि सभा (सार्वदेशिक सभा) भी चिरकाल तक इस कार्य की उपेक्षा ही करती जा रही थी, परन्तु बार-बार आर्यजगत् के आक्रोश का साम्मुख्य वह कब तक करती। सभा के अधिकारियों ने संस्कृत के एक उद्भट विद्वान्, वैदिक-सिद्धान्तों के मर्मज्ञ, वेदादिशास्त्रों के पारङ्गत, सरस्वती के उपासक एक ऋषि-भक्त (श्री आचार्यवर विशुद्धानन्द शास्त्री 'आर्यरत्न') को यह महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपा और उन्होंने भी इस महान् कार्य को अतिशय रुग्ण होते हुए भी महर्षि के प्रति अनन्य श्रद्धा के कारण सहर्ष स्वीकार कर लिया। उनके ग्रन्थ का एक भाग सार्वदेशिकसभा ने प्रकाशित भी किया, जिसकी समस्त आर्यजगत् ने भूयोभूयः प्रशंसा की और साधुवाद दिया।

इसके बाद अनेक वर्ष बीतने पर भी सभा ने इस पुस्तक के अन्य भागों के प्रकाशन में कोई रुचि नहीं दिखाई। आर्यजगत् के स्वाध्यायशील विद्वानों, मित्रों व सहयोगियों की प्रार्थना पर विद्वद्वर आचार्यजी ने इस पुस्तक को पूर्ण भी कर दिया, किन्तु इसे प्रकाशित कैसे किया जाये, यह अतीव चिन्ता की बात थी। आचार्यजी ने यह ज्वलन्त प्रश्न 'आर्यसमाज नयावांस' में हमारे सामने रक्खा। मैं समाज का तथा 'आर्षसाहित्य-प्रचार ट्रस्ट' का मन्त्री हूं, इसलिए मैंने इस कार्य को महत्त्वपूर्ण समझते हुए अपने हाथ में लिया और परमपिता परमात्मा की असीम कृपा व सत्प्रेरणा से मध्य-मध्य में अनेक विघ्नों के आने पर भी यह कार्य पूर्ण हो गया, एतदर्थ मैं ईश्वरीय दयादृष्टि, पितृपरम्परा से प्राप्त ऋषि-भक्ति, विद्वानों के प्रति अनन्य अनुरक्ति और गुरुजनों के आशीर्वाद को ही मुख्य कारण समझता हूं और इनके प्रति सदा ही नतमस्तक रहता हूं।

इस 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' पुस्तक के लेखन में पूज्य आचार्यजी ने कितना श्रम किया है, यह वेदादिशास्त्रों में कृतभूरिश्रम, वेदविद्याविचक्षण पण्डितगण ही समझ सकता है, पुनरपि जिस विद्वत्ता से, युक्ति व प्रमाणों से समीक्षा करके नीर-क्षीर-विवेक किया है, उससे मुझे तो अतिशय सन्तोष है। मेरी तो प्रभु से यही प्रार्थना है कि वे ऐसे ऋषि-भक्त विद्वानों को चिरायु करें और उत्तम स्वास्थ्य प्रदान करें, जिससे यह वैदिक प्रकाश उत्तरोत्तर प्रगति करता रहे और अविद्या के मायाजाल को छिन्न-भिन्न करके मानवमात्र का सन्मार्ग-दर्शन कराता रहे।

विद्वद्गुणानुरक्त आर्षभक्त
धर्मपाल आर्य

सम्पादकीय

उन्नीसवीं शताब्दी के समाज-सुधारकों में महर्षि दयानन्द का नाम मूर्धन्य स्थान पर है। महर्षि दयानन्द ने समाज में फैली सामाजिक व धार्मिक समस्त कुरीतियों का जहां निवारण किया, वहां उनकी सर्वोच्च मुख्य देन वेदोद्धार की है। महर्षि के जन्म से पूर्व वेदविरुद्ध, कपोल-कल्पित तथा मिथ्या वादों की सघन मेघमाला ने वेद-भानु के प्रकाश को ओझल ही कर दिया था, जिससे मत-मतान्तरों के विभिन्न आचार्यों ने पूर्ण स्वतन्त्रता से गुरुडम प्रारम्भ किए हुए थे। सत्य के अन्वेषी, परमतपस्वी महर्षि दयानन्द ने इस समस्त परिस्थिति को एक कुशल चिकित्सक की भांति अच्छी प्रकार से परखा और समाज-पुरुष के शरीर के विकृत इस फोड़े की बड़ी दक्षता से शल्यक्रिया भी की। इस प्रक्रिया से सामाजिक जनों को प्रथम कष्ट अवश्य हुआ, किन्तु शीघ्र ही महर्षि की चिकित्सा के सुखद परिणामों से प्रभावित निश्छल जनता महर्षि की अनुयायी बनने लगी। महर्षि ने परम्परागत अन्धविश्वासों के प्रबल प्रवाह को रोककर निर्भ्रान्त वैदिक धारा को प्रवाहित किया। इससे धार्मिक जनता के धन को लूटनेवाले छली, चटोरे व कमचोरे लोगों की आजीविका पर लात लगने से वे तिलमिलाने लगे। ऐसे लोगों ने महर्षि को मारने के लिए भयङ्कर विष भी दिया, उनके प्रचार कार्यों में बड़े-बड़े अवरोध भी खड़े किये और उनके विषय में तरह तरह की अफवाहें भी फैलाई गईं, परन्तु यह ईश्वरविश्वासी सच्चा संन्यासी सच्चे धर्म के प्रचार व प्रसार में लगा ही रहा।

जब महर्षि ने देखा कि इस नश्वर शरीर का कोई भरोसा नहीं है, तब उन्होंने वेदों का भाष्य करके सूर्य-सम प्रकाश फैलाने का दृढ़ सङ्कल्प लिया। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि सूर्य-सम प्रकाश के होने पर मत-मतान्तरवालों के द्वारा फैलाया अन्धकार तो स्वतः ही समाप्त हो जायेगा। वेदों का भाष्य करने से पूर्व महर्षि ने एक भूमिका लिखी, जिसका नाम है—**'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका'**। जैसे किसी भवन के निर्माण से पूर्व उसका मानचित्र बनाना आवश्यक होता है, वैसे ही ग्रन्थ के निर्माण से पूर्व भूमिका अत्यावश्यक होती है, क्योंकि इससे लेखक की समस्त मान्यताओं का बोध हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति महर्षि के वेद-भाष्य को भूमिका के बिना पढ़ता है, तो वह महर्षि के वेदभाष्य को न तो समझ सकता है और न ही भाष्य की विशेषताओं से ही परिचित हो सकता है। महर्षि ने इस भूमिका में अपनी वेदसम्बन्धी समस्त मान्यताओं का दिग्दर्शन वेदादिशास्त्रों के प्रमाणों व युक्तियों से पुष्ट किया है। इसलिए महर्षि

https://t.me/Dharmadasamrat

की मृत्यु के सौ वर्षों बाद तक भी किसी पौराणिक विद्वान् का इस पुस्तक का खण्डन करने का साहस नहीं हो सका, किन्तु अन्दर-अन्दर ही घुटन होने से वे तिलमिला अवश्य रहे थे। आर्यसमाज के दिग्गज शास्त्रार्थ-महारथी विद्वान् जब तक आर्यसमाज व वैदिक-धर्म की विजयपताका को देश-देशान्तरों तक फैलाते रहे, तब तक चोर की भांति, ये अन्धकारप्रिय पौराणिक विद्वान् छिपे बैठे रहे और सम्मुख आने का साहस न कर सके।

परन्तु उत्थान-पतन तो क्रमशः चलते रहते हैं। आर्यसमाज के प्रचार व प्रसार में भी शिथिलता या कमी देखकर ये छिपे हुए पौराणिक विद्वान् महर्षि के सिद्धान्तों तथा वेद-भाष्य की कुञ्जीरूप भूमिका पुस्तक के प्रत्यक्षर प्रत्याख्यान करने की प्रतिज्ञा करके १५ विद्वानों की एक बटालियन बनाकर (जिनके मुखिया थे श्री स्वामी करपात्रीजी) एक विशालकाय ग्रन्थ का (१२००-१२०० सौ पृष्ठों के दो भाग) निर्माण कर गये, जिसका नाम रखा—**'वेदार्थ-पारिजात'**। यद्यपि यह नाम बहुत डरते-डरते रखा गया था, क्योंकि इस नाम को पढ़कर कोई भी मनीषी पुस्तक के मुख्य प्रतिपाद्य विषय से अवगत नहीं हो सकता था। किन्तु महर्षि-दयानन्द ने जो सूर्यसम वेदों का प्रकाश किया है, उसको अभिभूत करने के किसी भी छली व्यक्ति के प्रयासों को महर्षि के वीर-भक्त शिष्य कैसे सहन कर सकते थे? यद्यपि इन उदरम्भरि विद्वानों ने सोचा होगा कि आर्य-समाज में इस समय विद्वानों का अभाव है और इनके बड़े-बड़े संगठन भी निष्क्रिय दिखाई दे रहे हैं, परन्तु यह उनकी भयङ्कर भूल थी। इस धरातल पर जब तक एक भी ऋषि-भक्त आर्य-वीर जीवित रहेगा, तब तक वेदों के सत्यप्रकाश को ओझल नहीं होने देगा, यह इन विद्वानों को भली-भांति जान लेना चाहिए।

यद्यपि इस पुस्तक के प्रकाश में आने पर आर्य-जगत् में प्रथम तो कुछ खलबली भी मची, जिसका कारण कतिपय वयोवृद्ध विद्वानों की उत्साहहीनता ही थी और कुछ समय तक यह चर्चा भी चलती रही कि इस महान् कार्य को कौन करे, क्योंकि इस कार्य में भिन्न-भिन्न शास्त्रों के अनेक विद्वानों के सहयोग की अपेक्षा थी। विपुल धनराशि तथा अमूल्य समय के अभाव में यह महान् कार्य सम्भव भी न था। किन्तु धन्य हैं वे ऋषि-भक्त माता-पिता, जिन्होंने ऋषि-भक्ति तो बालक में जन्म से ही कूट-कूट कर भर रखी थी। ऐसे वेदादि शास्त्रों के पारंगत विद्वान्, विद्वद्वरेण्य, सरस्वती के वरदपुत्र, 'आर्यरत्न' उपाधि से विभूषित श्री आचार्यप्रवर विशुद्धानन्दजी मिश्र ने स्वतः ही इस महान् कार्य को करने का दृढ़-सङ्कल्प लिया। यद्यपि आचार्यजी का स्वास्थ्य रोगग्रस्त ही रहता है, किन्तु महर्षि के बहुमूल्य ग्रन्थ पर मिथ्या आक्षेपों से पूर्ण ग्रन्थ को देखकर कुछ ऐसी ईश्वरीय शक्ति व प्रेरणा प्राप्त हुई, जिसके कारण प्रोत्साहित होकर वे इस महान् कार्य को पूर्ण कर सके। समस्त आर्य-जगत् जहां उनका चिर ऋणी रहेगा, वहां

उनके प्रति हार्दिक कोटिशः साधुवाद भी कर रहा है। परमेश्वर उन्हें उत्तम स्वास्थ्य एवं दीर्घजीवन दें, जिससे आर्य-जगत् इस विद्वान् ऋषि-भक्त की सेवाओं से लाभान्वित होता रहे और महर्षि द्वारा प्रज्वलित यह ज्ञान-दीपक उत्तरोत्तर जगमगाता ही रहे।

वेदार्थ-पारिजात की अन्त्य-परीक्षा—(क) 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' पुस्तक के विद्वान् मनीषी ने वेदार्थ-पारिजात पुस्तक के विषय में लिखा है—

चन्द्रिका नैव चौराय, रोचते हि यथा तथा।
मिथ्याग्रहगृहीताय, सत्यं नो पक्षपातिने॥ (वेदार्थ० पृ० ३९)

अर्थात् जैसे सर्वजनप्रिय चान्दनी भी चोर को अच्छी नहीं लगती, ठीक उसी प्रकार जो पक्षपात एवं पूर्वाग्रह से ग्रस्त व्यक्ति होते हैं, उन्हें सत्य बात भी अच्छी नहीं लगती।

'वेदार्थ-पारिजात' के विषय में यह पूर्णतः सत्य है। यद्यपि सत्य के साथ असत्य भी कुछ समय तक चल सकता है, परन्तु इस पुस्तक में तो सत्य को ओझल करने के लिए असत्य, कुतर्क, मिथ्या हेत्वाभासों का ही आश्रय लिया गया है। जैसे कोई कांच के महल में बैठा व्यक्ति सुदृढ़ शिलाओं से निर्मित भवन पर पत्थर फेंककर सुरक्षित रहना चाहता हो, ठीक वैसे ही स्वामी करपात्री तथा उनके सहयोगियों की स्थिति रही है।

(ख) वेद-शास्त्रों में पारङ्गत, शब्द-शास्त्र में निष्णात श्री पण्डित विशुद्धानन्दजी मिश्र ने स्वामी करपात्री द्वारा लिखित 'वेदार्थ-पारिजात' का सम्यक् अनुशीलन करके बहुत ही गम्भीरता से युक्ति-प्रमाणों से समन्वित 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' पुस्तक में उत्तर देने का उत्तम प्रयास किया है और ऋषिवर के प्रत्येक सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए प्रत्येक वाक्य को निर्दोष सिद्ध किया है। उनकी लेखनी से लिखा गया एक-एक वाक्य निष्पक्ष व सत्य के उपासक विद्वानों को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकता। यह अमूल्य ग्रन्थ पौराणिक-दिग्गज-पण्डित-मण्डल को भी निरुत्तर करने से महर्षिविरोधी वर्ग को निस्तेज (हतप्रभ) करने में पूर्णतः सक्षम रहेगा, ऐसी पूर्णाशा है।

(ग) इससे पूर्व इस ग्रन्थ का एक भाग 'सार्वदेशिक सभा' ने सं० २०४१ वि० में प्रकाशित किया था। उसे पढ़कर आर्य-जगत् की यह प्रबल मांग थी कि इस ग्रन्थ को पूरा प्रकाशित किया जाये। परन्तु 'सार्वदेशिक सभा' ने इस कार्य की उपेक्षा की और अपने प्रकाशन के वचन का पालन भी नहीं किया। इसी से आर्यगण सभा के कार्यों के विषय में जान सकते हैं कि इस सभा के अधिकारी कितने निष्क्रिय एवं कर्तव्यच्युत हो चुके हैं। परमेश्वर से प्रार्थना है कि इन्हें सद्बुद्धि व सत्प्रेरणा प्रदान करें, जिससे ये कर्तव्यहीन अधिकारी कुछ तो अपने गौरव के प्रति सचेत हो सकें। इस समय 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' के द्वितीय भाग के

https://t.me/Dharmasamrat

प्रकाशन के समस्त व्यय की व्यवस्था श्री धर्मपाल आर्य (मन्त्री, आर्ष साहित्य-प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली) कर रहे हैं, यह अतीव हर्ष की बात है। **'यः प्रीणयेत् सुचरितैः पितरं स पुत्रः'** इस काव्योक्ति के अनुसार श्री आर्य अपने दिवंगत ऋषि-भक्त पिता के योग्य पुत्र हैं। इस श्लाघनीय कार्य को करके आपने अपने पूज्य पिताजी की चिराकांक्षित इच्छा को ही पूर्ण किया है। इनके प्रति मेरा बहुत ही हार्दिक धन्यवाद है। परमपिता परमात्मा इन्हें इसी प्रकार शुभ प्रेरणा देते रहें, जिससे ये अनवरत आर्ष-साहित्य का प्रचार व प्रसार करते रहें।

(घ) इस पुस्तक के प्रकाशन से जहां महर्षि द्वारा लिखित 'भूमिका' ग्रन्थ की सुरक्षा बढ़ी है, वहां वैदिक-सिद्धान्तों के मर्मज्ञ, स्वाध्यायशील गवेषक एवं महर्षि के भक्तजनों की मनोवल्लरी हर्षित व प्रफुल्ल हो जायेगी। मैंने जब इस ग्रन्थ का अवलोकन किया, तब जो हर्ष हुआ, उसे वर्णन नहीं कर सकता। क्योंकि विद्वान् लेखक ने भूमिका की तरह ही क्रमशः प्रत्येक विषय पर आक्षेप-उद्धरण-पूर्वक एवं युक्ति-प्रमाणों से समन्वित करके बुद्धि-सङ्गत समाधान प्रस्तुत किये हैं। अनेक प्रकरण तो (जैसे ब्राह्मण-ग्रन्थों की वेद-संज्ञा) ऐसे लगे, जिनमें विद्वान् लेखक की प्रतिभा, प्रमाणों की स्मृति पदे-पदे प्रतिभासित हो रही है। पक्ष-विपक्ष दोनों के लिये सर्वमान्य प्रमाणों के परिवेश में भी यदि विपक्ष के विद्वान् सहमत नहीं हो सके तो एक महान् आश्चर्य ही होगा। साथ ही जैसे सूर्य के प्रकाश में अन्धकार तो स्वतः ही नहीं रहता, उसी प्रकार लेखक के वेदादि-शास्त्रों के प्रकाश में स्वतः ही 'वेदार्थ-पारिजात' ग्रन्थ की जो त्रुटियां व अशुद्धियां प्रकाश में आयीं हैं, उनको यदि लिखने लगते तो एक पृथक् महाग्रन्थ ही बन जाता। पुनरपि पौराणिक पण्डितों के पाण्डित्य-दम्भ को चूर-चूर करने के लिए कतिपय स्थल यहां दिखाये गये हैं। यद्यपि इनके अतिरिक्त भी छन्दो-ज्ञान में, निरुक्तशास्त्र के समझने में, वेदमन्त्रों के सामान्य अर्थ-ज्ञान में एवं पूर्वापरविरुद्ध मिथ्या असङ्गत बातों के लेखन में अशुद्धियों की इस ग्रन्थ में भरमार है, जिन्हें विद्वान् ही समझ सकते हैं। प्रसङ्गवश लेखक ने अद्वैतवाद, पृथिव्यादिभ्रमण आदि विषयों पर एवं व्याकरण के दुरूह शङ्कित स्थलों पर जो विद्वत्तापूर्ण समाधान प्रस्तुत किये हैं, वे अत्यन्त ही श्लाघनीय हैं। 'वेदार्थ-पारिजात' के कतिपय समालोचनीय विषय देखिए—

(१) वेदार्थ समझने में महाभ्रान्ति—

महर्षि दयानन्द ने वेदमन्त्रों के अर्थों का प्रत्यक्ष करके प्रकरणानुसार उनका उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है, परन्तु वेदार्थ से अनभिज्ञ विचारे स्वामी करपात्री तथा उनकी तुन्दपरिमृज पण्डितों की बटालियन महर्षिकृत मन्त्रार्थों में दोष देख रही है। ठीक ही कहा है—**'न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा'** (निरुक्त) अर्थात् जिसे ऋषित्वबुद्धि प्राप्त नहीं और योगसाधना न करने से

तपस्वी भी नहीं है, ऐसे तोतारटन्त करनेवालों को वेदार्थ नहीं सूझता। महर्षि-कृत मन्त्रार्थों में करपात्रिकृत-दोष-दर्शन के कतिपय प्रसङ्ग देखिए, जिनसे स्वयं पौराणिक विद्वान भी सहमत न हो सकेंगे —

(१) (पृ० ७०४ पर) **"त्र्यायुषं जमदग्नेः०'** इस मन्त्र में वेदरहस्य को न जानने के कारण और पाश्चात्य विद्वानों के प्रभाववश स्वामी दयानन्द ने मन्त्र में पठित जमदग्नि आदि शब्दों का अर्थ तोड़मरोड़कर छल से प्रस्तुत किया है।" यह स्वामी करपात्री का कथन समस्त ऋषि-मुनियों एवं शास्त्रों के विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकता। क्योंकि —

(क) वेदों का आविर्भाव सृष्टि के प्रारम्भ में हुआ, उनमें परवर्त्ती लौकिक ऋषियों के नामों का वर्णन नहीं हो सकता। यह तो सम्भव है कि पर-वर्त्ती किसी ने वेदमन्त्र के आधार पर अपना नाम जमदग्नि या कश्यप रख लिया हो।

(ख) वेद के समस्त पद यौगिक या योगरूढ होते हैं, जो कि प्रकृति-प्रत्यय के योग से निष्पन्न अर्थ का ही द्योतन करते हैं, लोकरूढ अर्थों का नहीं। अतः लौकिक व्यक्तियों, वस्तुओं अथवा स्थानों का वर्णन वेद में कदापि सम्भव नहीं है। इसीलिए महर्षि मनु ने कहा है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ (१।२१)

(ग) प्रत्येक मन्त्र की प्रकरणानुसार व्याख्या की जाती है। यदि किसी शब्द को संज्ञावाचक मान भी लिया जाये, तो पूरे मन्त्र की तत्सम्बद्ध व्याख्या करनी होगी, परन्तु ऐसा करना कदापि सम्भव नहीं है।

(घ) और मन्त्रोच्चारण करके जो प्रार्थना करता है, उस जमदग्नि या कश्यप नामक ऋषियों को लम्बी आयु का लाभ भी क्या सम्भव है? अतः उनके नाम लेकर की गयी प्रार्थना निरर्थक ही रह जायेगी।

(२) (पृ० ७०५ पर) **"इमं मे गङ्गे यमुने०'** मन्त्र से गङ्गा, यमुना आदि नदियों के नामों के वर्णन से वेद में इनका तीर्थत्व सिद्ध होता है।" किन्तु —

(क) यह कथन भी निराधार है। गङ्गादि नदियों के नाम वेद से लेकर रखे गए हों, यह तो सम्भव है, किन्तु इन अनित्य नदियों का वर्णन वेद में सम्भव नहीं है। क्योंकि वेदों से पूर्व इन नदियों की सत्ता ही नहीं थी।

(ख) वेदों को स्वामी करपात्री भी अपौरुषेय मानते हैं, क्योंकि यह ईश्वरोक्त ज्ञान है। फिर उसमें मनुष्यों, नदियों आदि का इतिहास कैसे हो सकता है।

(ग) वैदिक-पद यौगिक होने से गङ्गादि पद नदीवाचक ही नहीं है।

(३) (पृ० ७०६ पर) करपात्रीजी ने **'कस्य नूनं' 'अग्नेर्वयं'** इत्यादि

Dharmaonline/Dharmaonline

मन्त्रों में यूपबद्ध शुनःशेप नामक व्यक्ति का आख्यान माना है। यह भी वेदार्थ को न समझने के कारण महाभ्रान्ति ही है। वेद की भाषा आलङ्कारिक है। यहां 'शुनःशेप' शब्द विषयी पुरुष के लिए आया है और यूप अज्ञान का प्रतीक है। इसी प्रकार उर्वशी और पुरूरवा की ऐतिहासिक व्याख्या न होके आलङ्कारिक वर्णन है। उर्वशी उषा और पुरूरवा सूर्य है। इन दोनों का पति-पत्नीरूप में वर्णन किया गया है।

(४) (पृ० ११६४ पर) स्वामी करपात्री ने **'ईशावास्यमिदं सर्वं०'** मन्त्र में अद्वैतपरक ब्रह्म का ही प्रतिपादन मानकर महर्षिदयानन्दकृत व्याख्या को दूषित बताया है। यह भी लेखक की भ्रान्ति ही है, क्योंकि इस मन्त्र से तो स्पष्टरूप में त्रैतवाद ही की सिद्धि हो रही है। एक व्यापक ब्रह्म है, दूसरी आवास्य = ढकने योग्य प्रकृति और तीसरे 'भुञ्जीथाः' भोग करनेवाले जीव का स्पष्ट वर्णन किया गया है।

(५) वेदमन्त्रों के सत्यार्थ से अनभिज्ञ स्वामी करपात्री ने वाममार्ग के प्रभाव में लिखे ग्रन्थों के आश्रय से मन्त्रों के मिथ्या विनियोगों का भी समर्थन किया है। जैसे (पृ० ११६६ पर) लेखक लिखता है – "पशु की नाभि के आगे चार अङ्गुल पर तिनका रखे ····· तलवार की धार से ····· तिनके सहित उदर की त्वचा को काट देवे।"

ऐसे पशुबलिपरक वेदविरुद्ध विनियोगों के समर्थक ये करपात्रीसदृश व्यक्ति अन्धविश्वासों से अत्यधिक ग्रस्त हैं, इन्हें कौन समझा सकता है? इसलिए ही आचार्यप्रवर श्री विशुद्धानन्दजी मिश्र लिखते हैं –

वेदोऽकूपारगाम्भीर्यं दयानन्दस्तपोधनः।
वेत्ति, पौराणकूपस्थो वेत्ति नो पारिजातकृत्॥

(वेदार्थ० पृ० १७६)

अर्थात् तलैया का मेंढक समुद्र की गम्भीरता को नहीं जान सकता। अतः पुराणकूपस्थ पारिजातकर्त्ता वेद-समुद्र की गम्भीरता को कैसे जान सकता है? वेद की गम्भीरता को तो तपस्वी दयानन्द ही जान सकते हैं।

(२) छलपूर्ण-भाषा के प्रयोग से पाठकों को भी भ्रम में रखा है—

वैसे तो प्रत्येक वाक्य प्रसङ्ग में आकर जो अर्थ देता है, वह प्रसङ्ग से पृथक् करने पर अनर्थक हो जाता है अथवा यथार्थ बोध नहीं करा पाता। पुनरपि 'वेदार्थ-पारिजात' के लेखक ने स्वामी दयानन्द की मान्यताओं की यदि आलोचना ही करनी थी, तो सत्पुरुषों की भांति उद्धरणों में तो कमी, अपूर्णता या परिवर्तन नहीं करना चाहिए। आपकी स्वामीजी से सम्मति नहीं है, कोई बात नहीं। आपको पूर्ण स्वतन्त्रता है कि आप खुले दिमाग से समीक्षा करते।

परन्तु जो व्यक्ति संन्यासी होकर भी राग-द्वेष से ग्रस्त है, जीवनभर छल-कपटपूर्ण व्यवहार करते-करते जिसका मनोमालिन्य अति समृद्ध हो गया है, जड़ मूर्तियां पूजते-पूजते बुद्धि में भी जड़ता के कारण विवेकभ्रष्ट हो गया है और पूर्वाग्रह एवं पक्षपात के चश्मे के कारण जिसे सत्य भी सत्य तथा न्याय्य भी न्याय्य प्रतीत नहीं होता, ऐसे व्यक्ति की आत्मा कितनी निर्बल हो चुकी होगी? यह पाठक निम्न उद्धरणों से ही भलीभांति अवगत हो सकेंगे। कतिपय उद्धरण देखिये—

(१) (पृ० ७०५ पर) लेखक लिखता है **'वेदेषु विद्वत्सु यावद् विद्या-प्रभावयुक्तं त्रिगुणमायुर्भवतीति।'** यहां महर्षि के वाक्य में 'यद्' शब्द है, जिसके अनुसार अर्थ है—देव = विद्वानों में जो विद्यादि शुभगुणयुक्त त्रिगुण आयु होती है, वैसी ही हमारी भी हो। किन्तु लेखक ने पूर्वाग्रहवश 'यावद्' शब्द लिखकर लिखा है—यदि दयानन्द विद्वान् था तो वह तीन सौ वर्ष तक क्यों नहीं जिया?

(२) सृष्टि-विद्या विषय में महर्षि दयानन्द ने लिखा है –'सृष्टि से पूर्व परब्रह्म का सामर्थ्य नामक अतीव सूक्ष्म इन सबका परम-कारण संज्ञक उस समय था' इस प्रसङ्ग में (पृ० १२१७ पर) **'केवलं ब्रह्म वाभूत्'** पाठ स्वयं बढ़ाकर महर्षि के मत में अद्वैतवाद सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है। जिस महर्षि ने सर्वत्र अद्वैतवाद का खण्डन और त्रैतवाद का ही प्रतिपादन किया है, उससे विरुद्ध महर्षि का मत बताना पूर्वाग्रहग्रस्त होने के कारण ही है और छलपूर्ण व्यवहार से पाठकों को धोखे में ही रखना है।

(३) सृष्टि-विद्या विषय में ही महर्षि लिखते हैं –'सृष्टि से पूर्व यह वर्तमान जगत् भी शुद्ध ब्रह्म का आच्छादक नहीं है।' इसके पश्चात् स्वयं यह वाक्यरचना करके लिख दिया – **'नैवशब्देनैव सदादिपदैरपि प्रकृत्यादीनां निषेधात्'** अर्थात् यहां दयानन्द का अभिप्राय यह है कि नैव शब्द से प्रकृत्यादि का भी निषेध किया गया है। धन्य है लेखक की बुद्धि को। जैसे किसी भूखे से पूछा दो-दो कितने होते हैं? वह झट कहता है –चार रोटी। वैसे ही दयानन्द ऋषि तो लिख रहे हैं ब्रह्म का आच्छादक कोई नहीं है, परन्तु आपने स्वमनीषया क्या कल्पित भाव निकाला है?

(४) (पृ० १४२६ पर) लेखक लिखता है –**'विधवेव देवरम्'** पदों से दयानन्द ने यह अभिप्राय निकाला है –'जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ सन्तानोत्पत्ति करती है, वैसे तुम भी करो।'

यह लेखक का कथन स्वयं कल्पित तथा भ्रान्ति उत्पादक है, क्योंकि महर्षि ने नियोग विषय को आपद्धर्म मानकर लिखा है। महर्षि का लेख इस प्रकार है—**'जो जितेन्द्रिय रह सकें, वे विवाह वा नियोग भी न करें, तो ठीक है। परन्तु जो ऐसे नहीं हैं, उनका विवाह वा आपत्काल में नियोग अवश्य होना चाहिए।'** (सत्यार्थ० समु० ४)

https://t.me/Dharmasastra

इत्यादि छलपूर्ण स्थलों को देखकर 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' के विद्वान् लेखक ने करपात्री के छलपूर्ण व्यवहारों को उजागर करके लिखा है—

साधुवेशधरः कश्चिद् वञ्चनाहस्तलाघवः ।
अत्रपः करपात्रोऽयं निगृहीतो मयाऽधुना ।। (पृ० २०८)

अर्थात् असूयावृत्तिग्रस्त, छल-कपट करने में निपुण, निर्लज्ज, साधु के वेश में जो करपात्री है, उन्हें मैंने पकड़ लिया है, अर्थात् उनके द्वारा किए छल-कपट को छिपने नहीं दिया है।

(३) पूर्वापरविरोध—

न्यायदर्शन में एक सूत्र आया है—**तदप्रामाण्यम् अनृतव्याघातपुनरुक्त-दोषेभ्यः** (न्या० २।१।५६) इस सूत्र के अनुसार विद्वान् पुरुष उस बात को प्रामाणिक नहीं मानते हैं, जिसमें अनृत (झूठ) हो, व्याघात=पूर्वापर विरोध हो, और पुनरुक्त=एक बात को ही बार-बार कहा गया हो। और लोक में भी यह स्पष्ट देखा जाता है कि सामान्य पुरुषों की पुस्तकों में भी पूर्वापर विरोध नहीं होता है, अर्थात् अपनी पूर्व लिखी बात का ही यदि कोई लेखक विरोध कर रहा हो तो लोक में उसे प्रमत्तप्रलाप ही कहा जाता है। पौराणिक जगत् में सम्मानित साधु तथा उसके साथ सहयोग करनेवाली विद्वन्मण्डली को क्या कहा जाये, जो कि बार-बार अपने पूर्व लिखे से ही विरुद्ध लिख गए हैं, और आंख के अन्धे गांठ के पूरे पौराणिक लोग उसे ही ब्रह्मवाक्य समझकर वाह-वाह करने में लगे हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभी धनक्रयी लोग लालच के वशीभूत होकर सत्यान्वेषी महर्षि दयानन्द का विरोध मन से तो नहीं करना चाहते थे, किन्तु धन के प्रलोभन के कारण विक्षिप्तवत् पूर्वापरविरुद्ध भी लिख गये हैं। वेदार्थ-पारिजात के परस्पर विरोधी कतिपय स्थल द्रष्टव्य हैं—

(१) (पृ० ७१८ पर) **'ब्राह्मणानि वेदा अपौरुषेयवाक्यत्वात् सहस्र-शीर्षेति वाक्यवत्'** अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थ भी वेद हैं, अपौरुषेय वाक्य=ईश्वरीय वाक्य होने से, 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यादि वाक्यों की भांति। इससे पूर्व वेदों को भी ऋषिप्रोक्त (पौरुषेय) कहकर यहां वेदों के व्याख्यानभूत लौकिक पुरुषों के इतिहास से ओतप्रोत ब्राह्मणग्रन्थों को ही अपौरुषेय कह बैठे। ऐसी बातें अस्थिरमति ही कह सकते हैं।

(२) (पृ० ७०३ पर) आप लिखते हैं—**'ब्राह्मणानां व्याख्यानं वेदाः, उप-निषदुदाहरणत्वात्'** अर्थात् वेद ब्राह्मणग्रन्थों के व्याख्यानग्रन्थ हैं, उपनिषद् के उदाहरण से यह बात सिद्ध है। श्री करपात्रीजी का यह कितना प्रत्यक्ष का भी अपलाप करना है। कोई भी विद्वान् निष्पक्ष होकर इस बात को नहीं मान सकता। यह पाठकों की आंखों में धूलि झोंकने के ही तुल्य कार्य किया है। क्योंकि

जो ब्राह्मणग्रन्थ हैं, उनमें वेदमन्त्रों की प्रतीकें दे दे कर उनकी व्याख्या लिखी है। और ऐसा तो एक उदाहरण भी नहीं मिलता कि वेदों में ब्राह्मणग्रन्थों की प्रतीकें देकर व्याख्या लिखी हो। यह उनका स्पष्ट ही उन्मत्तप्रलाप है।

(३) (पृ० ११७० पर) आप लिखते हैं—**'अग्नि-आदयो देवा ब्रह्मणि व्याप्नुवाना अश्नुवते'** अर्थात् अग्नि आदि देव ब्रह्म में व्याप्त हैं। और इससे आगे लिखा है यह सारा जगत् ब्रह्म से व्याप्त है। इसका आशय यह है कि प्रथम वाक्य के अनुसार अग्नि आदि देव व्यापक हैं और ब्रह्म व्याप्य है। दूसरे वाक्य के अनुसार ब्रह्म व्यापक है और अग्नि आदि देवता व्याप्य हैं। इन दोनों में द्रष्टव्य है- व्याप्य की अपेक्षा व्यापक बड़ा और सूक्ष्मतर होता है, अतः ब्रह्म बड़ा है या अग्नि आदि देवता? ब्रह्म सूक्ष्म है या देवता? यहां तो लेखक ने परस्पर विरोध का दिवाला ही निकाल दिया है।

(४) (पृ० ११७२ पर) आपने अद्वैतवाद के प्रभाव से लिखा है—**'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते'** अर्थात् अध्यारोप और अपवाद के द्वारा ब्रह्म को प्रपञ्चमय बना दिया है। जबकि स्वयं शङ्कराचार्यजी ने लिखा है—अध्यास का अभिप्राय यह है—अन्य वस्तु का अन्य वस्तु में धर्माविभास होना। जैसे रस्सी और सर्प दो भिन्न वस्तुयें हैं और अन्धकार में अथवा कम प्रकाश में रस्सी में सर्प का भ्रम होना अध्यास कहलाता है। जब इन अद्वैतवादियों के मत में ब्रह्म से भिन्न किसी पदार्थ की सत्ता ही नहीं मानी जाती, तब 'अध्यास' से ब्रह्म का प्रपञ्च कैसे हो सकता है। परन्तु विवेकहीन मतिवाले अथवा अन्धश्रद्धा के वशीभूत व्यक्ति कुछ भी लिखें या कहें, उन्हें कौन रोक सकता है? परन्तु यह परस्पर विरोधी मान्यता चिन्तनीय है।

इस प्रकार 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' के विद्वान् लेखक ने बहुत ही सूक्ष्म विवेचन करते हुए तथा पूर्वापर विरोधों का प्रदर्शन करते हुए स्पष्ट लिखा है—

पौर्वापर्यविरोधोक्ति पक्षाघातरुजाहतः ।
यो न वेत्यबुधः किं स वेदभाष्यं विधास्यति ।। (पृ० १३३)

अर्थात् जो करपात्री स्वामी मतिभ्रम के कारण पक्षाघातरोग से ग्रस्त रोगी की तरह पूर्वापर विरोध को ही समझने में असमर्थ है, वह वेदों का भाष्य क्या कर पायेगा?

(४) स्वामी करपात्री न्याय-दर्शन में भी अनभिज्ञ हैं—

'वेदार्थ-पारिजात' पुस्तक में महर्षि दयानन्द की निर्भ्रान्त मान्यताओं का खण्डन करने के लिए जो हेतु दिए हैं, वे यथार्थ में हेत्वाभास ही हैं। और किसी विवाद में यदि विपक्षी के हेतुओं का प्रत्याख्यान हो जाता है, तो वह निग्रहस्थान में आने से पराजित ही हो जाता है। 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' के विद्वान् लेखक ने बहुत

https://t.me/Dharmasastra

ही विद्वत्ता से एवं न्यायदर्शन की प्रक्रिया का आश्रय करके करपात्रीजी के हेतुओं को सर्वथा निराकृत कर दिया है। उदाहरणस्वरूप कतिपय स्थल द्रष्टव्य हैं

(१) (पृ० ६९२ पर) ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं है क्योंकि ये ग्रन्थ ऋषियों से प्रोक्त, वेदों के व्याख्यान एव पुराणेतिहाससंज्ञक हैं, इस महर्षि की मान्यता का खण्डन करते हुए लेखक लिखता है—ये हेतु तुच्छ हैं, ये हेतु व्यभिचारी हैं, असिद्ध होन से। इनमें असिद्धता यह है कि इन ब्राह्मणग्रन्थों को पुराण अथवा इतिहास नहीं कहा जाता। यहां इन हेतुओं की असिद्धता के विषय में करपात्रीजी प्रथम तो यही नहीं बता सके हैं कि असिद्धता के अनेक भेदों में कौनसी असिद्धता है ? और ब्राह्मणग्रन्थों की अन्तःसाक्षी से इनका पुराण नाम सिद्ध है — **'ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीति।'** जबकि विपक्षी के पास स्व पक्ष में एक भी ऐसा प्रमाण नहीं है।

(२) (पृ० ६९३ पर) करपात्रीजी ने महर्षि की उपर्युक्त मान्यता के वेदव्याख्यान हेतु को भी अनैकान्तिक बताते हुए लिखा है, ब्राह्मणों की भांति वेद में भी ऐसा व्याख्यान है। इसका उत्तर देते हुए लेखक ने करपात्रीजी के मुख पर अच्छा थप्पड़ लगाया है—यहां तो करपात्रीजी की न्याय शास्त्र में सर्वथा अनभिज्ञता ही प्रकट हो गई है, क्योंकि वेद तो किसी के व्याख्यान नहीं हैं और ब्राह्मणग्रन्थों में स्पष्टरूप से वेदमन्त्रों की प्रतीकें देकर व्याख्यान मिलता है। इतना बड़ा तर्काभास देकर पाठकों को घन अन्धकार में रखना उन्मत्त-सदृश कार्य ही है और अनैकान्तिक हेत्वाभास का तो कथन ही सर्वथा असङ्गत है। क्योंकि ब्राह्मण वेद नहीं हैं, यह साध्य है, किन्तु ब्राह्मण वेदव्याख्यान हैं, यह साध्य नहीं है, यह तो सर्वसम्मत है।

(३) (पृ० ७०१ पर) करपात्रीजी लिखते हैं—ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हैं, क्योंकि ये मनुष्य-बुद्धिरचित हैं, यह दयानन्द का कथन तुच्छ है, क्योंकि इस हेतु में 'साध्यसम हेतु' दोष है।

यह कथन भी असत्य है, क्योंकि साध्यसम हेतु दोष दयानन्द के कथन में नहीं है। यथार्थ में करपात्रीजी को हेत्वाभासों की परिभाषा ही नहीं आती। जो हेतु साध्य की भांति असिद्ध हो, उसका नाम 'साध्यसम' होता है। जैसे किसी ने कहा—छाया द्रव्य है, गतिमान् होने से। क्योंकि छाया में द्रव्यत्व और गतिमत्त्व दोनों ही साध्य हैं। अतः इसमें 'साध्यसम' दोष है। परन्तु महर्षि दयानन्द के वाक्य में दिया हेतु (मनुष्यबुद्धिरचित होना) साध्य न होकर सिद्ध है। क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थ महीदास, ऐतरेय, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों के बनाये हुए हैं, और यह सर्वमान्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि करपात्रीजी ने नव्यन्याय की 'अवच्छेदकावच्छिन्न' वाली भाषा ही तोतारटन्त की भांति घोट रक्खी है, शब्दों की यथार्थता को समझा ही नहीं है।

(४) (पृ० ७०३ पर) करपात्रीजी ने पुनः महर्षि के इस कथन को तुच्छ बताया है कि ब्राह्मणग्रन्थों में नामोल्लेखपूर्वक इतिहास है, वेदों में नहीं। इसके विपरीत वेदों में भी नामोल्लेखपूर्वक इतिहास मिलता है, जैसे—**'त्र्यायुषं जमदग्नेः'** मन्त्र में जमदग्नि ऋषि का इतिहास है इत्यादि।

यह कथन भी साध्य होने से साध्यसम है, क्योंकि वेदों में पठित जमदग्नि आदि शब्द यौगिक हैं, रूढ नहीं। बाद में वेदों से लेकर ऋषियों ने भी अपना नामकरण कर लिया। इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि ये परवर्त्ती नामकरण वेदों में इतिहास बताते हैं। यह बात तो वेदार्थदीपक निरुक्तादि शास्त्रों से भी स्पष्ट हो जाती है। किन्तु करपात्रीजी को शास्त्रों के अनुशीलन से क्या, उन्हें तो स्वप्न में भी दयानन्द ही दीखता है, क्योंकि उसने इनकी समस्त पोल खोलकर ही रख दी।

(५) (पृ० ७१९ पर) करपात्रीजी लिखते हैं—दयानन्द का यह कथन तुच्छ है और व्याप्यत्वासिद्धि दोष से दूषित है कि ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के व्याख्यान हैं, वेद नहीं, क्योंकि ब्राह्मणों में वेदों की प्रतीकें रख-रख कर व्याख्यान किया है।

यहां भी करपात्रीजी ने न्याय नहीं, प्रत्युत न्यायाभास ही दिखाया है। क्योंकि करपात्रीजी ने व्याप्यत्वासिद्धि का नाम ही सुना है, उसे समझा नहीं। यह दोष तो सोपाधिक होता है, और यहां उपाधि ही नहीं है। जैसे कोई कहे—**'पर्वतो धूमवान् वह्निमत्वात्'** इस वाक्य में आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है। जैसे तपे लोहे के गोले में वह्नि तो है किन्तु आर्द्रेन्धनसंयोग नहीं है। ऐसी उपाधि महर्षि दयानन्द के वाक्य में न होने से व्याप्यतासिद्धि दोष नहीं है।

इस प्रकार करपात्री के न्याय में भी अन्याय देखकर मिश्रजी ने लिखा है—

दर्शनाचार्य जानीहि, दर्शने विषये सदा।
न करेण न पात्रेण, बुद्धया कार्यं चलिष्यति॥ (वेदार्थ० ६५)

अर्थात् हे नाममात्र के दर्शनाचार्य ! ध्यान रखिये, दर्शन विषय बहुत गम्भीर है, इसमें करपात्र से काम नहीं चलेगा, यहां तो बुद्धि की आवश्यकता है।

(५) व्याकरण-ज्ञान की परीक्षा—

(क) (पृ० ७०६ पर) **'गङ्गादीनाम् उत्पत्तिमताम्'** प्रयोग अशुद्ध है। क्योंकि गङ्गादि शब्द 'नदियों के' शब्द की अपेक्षा करने से स्त्रीलिङ्ग है, इसलिए इसका विशेषण भी स्त्रीलिङ्ग ही (उत्पत्तिमतीनाम्) होना चाहिए। क्या इन 'पण्डितंमन्यों' को इस सामान्य विशेषण-विशेष्य भाव का भी ध्यान नहीं रहा ?

(ख) (पृ० १२९४ पर) **'भ्रममाणानाम्'** प्रयोग लिखकर तो लेखक ने व्याकरणज्ञानशून्यता ही प्रकट की है, जिसे परस्मैपद और आत्मनेपद का भी ध्यान नहीं रहा और परस्मैपदी 'भ्रम' धातु से आत्मनेपदी धातुओं से होनेवाला शानच् प्रत्यय का प्रयोग कर गये।

https://t.me/Dharmaeamra

(ग) (पृ० १२३५ पर) 'शिरस्' शब्द के स्थान पर (**शीर्षश्छन्दसि** अ० ६।१।६०) शीर्ष आदेश लिखा है। लेखक को इतना भी ध्यान नहीं रहा कि यह सूत्र तो 'शीर्षन्' आदेश करता है, शीर्ष नहीं।

(घ) (पृ० ११७४ पर) महावैयाकरण महर्षि दयानन्द के लेख में व्याकरण की त्रुटि बताते हुए लेखक लिखता है—'सङ्गच्छध्वम्' प्रयोग में '**समो गम्यृच्छिभ्याम्**' सूत्र से आत्मनेपद नहीं हो सकता, क्योंकि इस सूत्र से अकर्मक गम् धातु से ही आत्मनेपद होता है। क्योंकि दयानन्द ने 'धर्मम्' पद आक्षिप्त किया है. अतः यह धातु सकर्मक हो गई है। परन्तु लेखक का यह कथन अज्ञानजन्य ही हैं, क्योंकि वेद में तो व्यत्यय से भी आत्मनेपद हो जाता है। और उपरोक्त सूत्र में भी महाभाष्य के टीकाकार प्रदीप ने 'अकर्मकात्' की अनुवृत्ति नहीं मानी है।

(ङ) (पृ० १२३९ पर) 'महिमत्व' और 'महिमता' पक्ष का प्रयोग करके लेखक ने व्याकरण-नियमों की स्पष्ट ही अवहेलना कर दी है, क्योंकि 'महतो भावः' अर्थ में 'महिमा' शब्द में 'इमनिच्' प्रत्यय है। पुनः भावप्रत्ययान्त शब्द से ही भावार्थक 'त्व, तल्' प्रत्ययों का प्रयोग अनावश्यक है। '**उक्तार्थानामप्रयोगः**' उक्त अर्थ में प्रत्ययों का पुनः प्रयोग नहीं करना चाहिये।

इसी प्रकार ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही 'गणेशायः' (पृ० १) 'सरस्वत्यः' (पृ० १) 'हिन्दीमयोऽपि च' (जबकि भाष्य का विशेषण होने से पुंस्त्व नहीं होना चाहिए) प्रयोग करके लेखक ने व्याकरण-ज्ञान का दिवालियापन ही प्रकट किया है। इसी प्रकार 'छन्दोपद' 'प्रत्यायका भवति' इत्यादि बहुत से अशुद्ध प्रयोग हैं। अतः 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' के लेखक आचार्यप्रवर का यह उद्घोष सत्य ही है—

वेदार्थ-पारिजातस्य अनन्तास्त्रुटयः परम्।
व्याकृतिज्ञानशून्यत्वं दर्शयन्ति सखे तव ॥ (वेदार्थ० पृ० ११२)

अर्थात् यद्यपि 'वेदार्थ-पारिजात' पुस्तक में व्याकरण-विषयक बहुत त्रुटियां हैं, पुनरपि यहां कुछ ही त्रुटियों का दिग्दर्शन कराया गया है। अन्त में स्वयं लेखक के (पृ० ७००) भावों को ही उद्धृत करके अपने वक्तव्य को समाप्त करता हूं—

नो कल्पनामकृत यत् करपात्र एषः, सम्मर्दयिष्यति बुधो यदखर्वगर्वम्।
कश्चित् सुतर्कनिशितैश्च शरैर्यथाऽसौ, अङ्गारकस्तृणचयं दहति क्षणेन ॥

अर्थात् पौराणिक साधु स्वामी करपात्री ने यह कभी कल्पना भी नहीं की होगी कि कोई ऋषिभक्त विद्वान् अपने तीक्ष्ण तर्करूप बाणों से तुम्हारे अखर्व गर्व का उसी प्रकार मर्दन कर देगा, जैसे तिनकों के बड़े ढेर को एक अग्नि का तुच्छ अङ्गारा क्षणभर में जलाकर भस्म कर देता है।

भूपेन्द्रपुरी
मोदीनगर (२०१२०४)
(गाजियाबाद)

विनीत
राजवीर शास्त्री
अवैतनिक सम्पादक—'दयानन्द सन्देश'

ओ३म्

महर्षि दयानन्द

https://t.me/DharmaSamrat

वेद-वेदांग-पुरस्कार-सम्मानितः, आर्यरत्नम्

आचार्य-विशुद्धानन्द-मिश्रः शास्त्री

व्याकरणाचार्य-दर्शनवाचस्पतिः

पूर्वकुलपतिर्गुरुकुलविश्वविद्यालयस्य वृन्दावनस्य

भारत-सर्वकार-मनोनीतपूर्वसदस्यो दिल्लीस्थ-राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानस्य

आर्यभाषारूपान्तर-विधायिका

श्रीमती निर्मला मिश्रा

पूर्वप्राचार्या

पार्वती-आर्य-कन्या-विद्यालयस्य बदायूँस्थस्य

https://t.me/Dharm

आचार्य राजवीर शास्त्री

अवैतनिक सम्पादकः "दयानन्द सन्देश" मासिक
प्रधानः आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली

https://t.me/DharmaSamrat

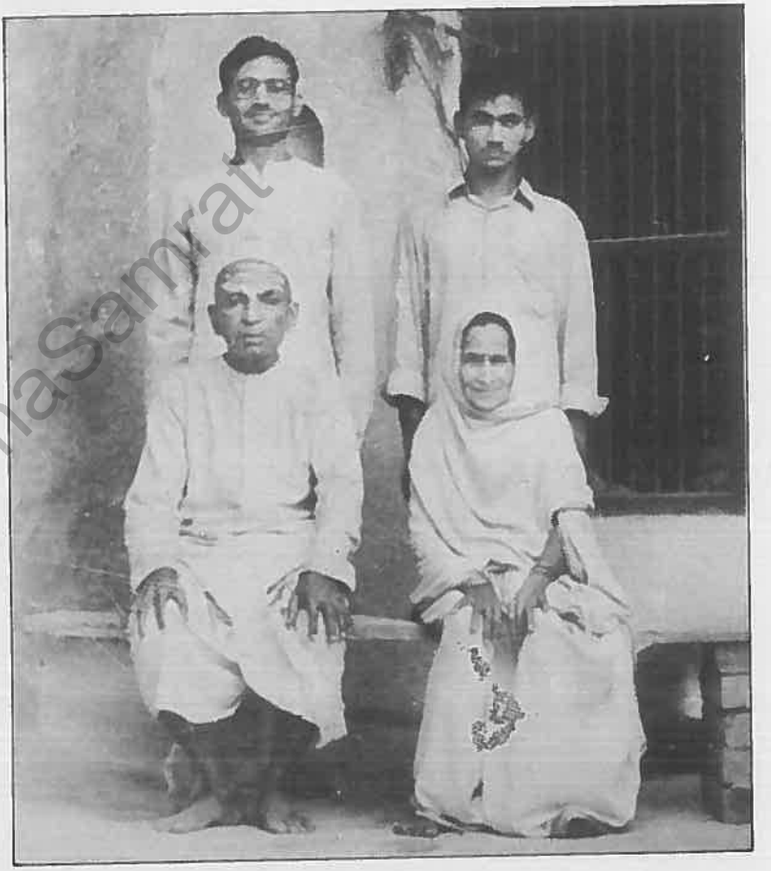

युवावस्था में ग्रन्थप्रणेता

पिता—श्री अयोध्याप्रसाद मिश्र
माता—श्रीमती ललिता देवी
अनुज—श्री ब्रह्मेन्द्र मिश्र शास्त्री
के साथ

https://t.me/DharmaSamrat

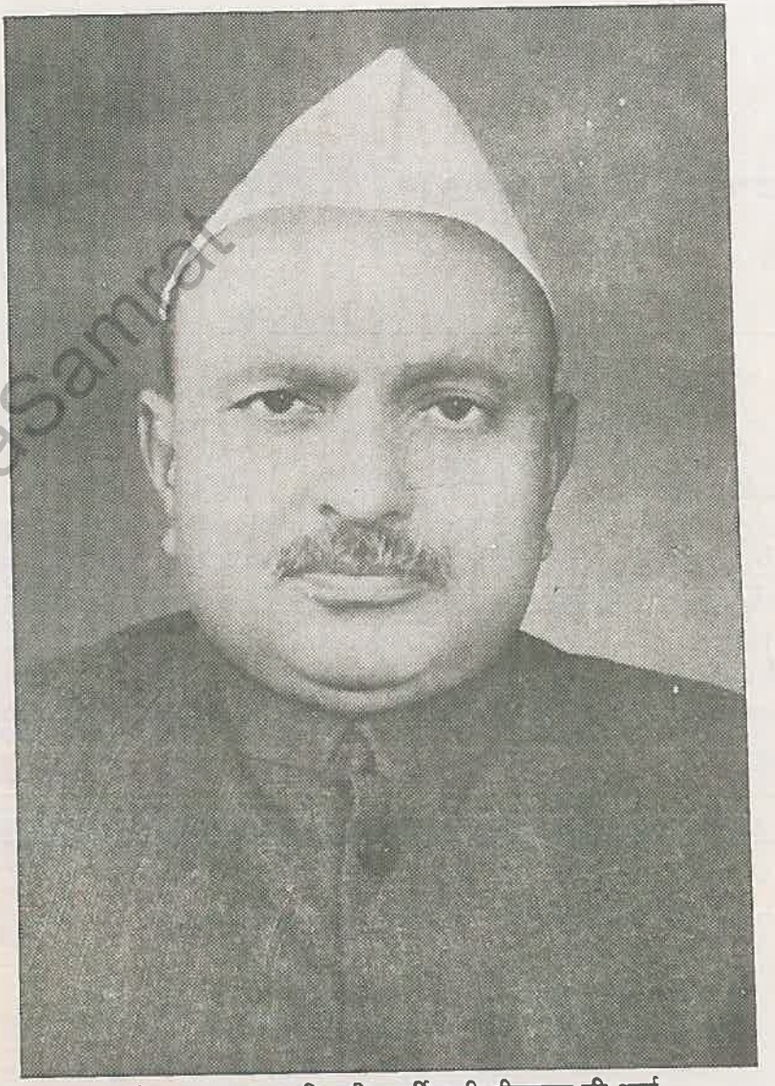

ऋषिभक्त, अथक परिश्रमी स्वर्गीय श्री दीपचन्द जी आर्य

संस्थापक

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट

https://t.me/DharmaSamrat

आचार्य प्रियव्रत
वेदमार्तण्ड, वेदवाचस्पति
भूतपूर्व आचार्य एवं कुलपति तथा
वर्त्तमान परिद्रष्टा
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

आर्य-जगत् के मूर्धन्य विद्वान् श्री आचार्य विशुद्धानन्द जी द्वारा लिखित 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' ग्रन्थ को पढ़कर अतीव हर्ष हुआ। आपने बहुत ही शिष्ट भाषा में इस ग्रन्थ का प्रणयन बड़ी योग्यता से किया है। पौराणिक साधु करपात्री जी ने अपने ग्रन्थ 'वेदार्थ-पारिजात' में ऋषिवर दयानन्द की वेद-सम्बन्धी जिन मान्यताओं का खण्डन करने का दुस्साहस किया है और उनके प्रति जिस अशिष्ट भाषा का प्रयोग किया है, उसे देखते हुए श्री आचार्य जी ने बहुत ही संयत भाषा का प्रयोग करते हुए करपात्री जी के मिथ्याक्षेपों का सप्रमाण व सयुक्तिक मुँहतोड़ उत्तर दिया है। इस ग्रन्थ को पढ़ने से जहाँ आचार्य जी की शास्त्रों में गहन विचरण करनेवाली तथा सत्यासत्य विवेक करने में पूर्णतः दक्षताप्राप्त प्रज्ञा का आभास हो रहा है, वहाँ स्वामी करपात्री जी के महर्षि की सत्य मान्यताओं पर लगाये मिथ्याक्षेपों की पोल भी विद्वत्समाज के समक्ष खुल गई है। मैं इस विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ को लिखने के लिए आचार्य जी को हार्दिक बधाई देता हूँ और समस्त आर्यजगत् से आग्रहपूर्वक निवेदन करता हूँ कि इस ग्रन्थ का एक बार अवश्य अनुशीलन करें और विद्वान् लेखक का सब प्रकार से उत्साह-वर्धन करते रहें। यह ग्रन्थ आर्यसमाजों, वैदिक संस्थाओं, गुरुकुलों, महाविद्यालयों के पुस्तकालयों में संग्रहणीय है।

आचार्य प्रियव्रत

https://t.me/DharmaSamrat

सुभाष विद्यालंकार
कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार-२४९४०४

श्री आचार्य विशुद्धानन्द जी की कृति 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' को देखने का मुझे सुअवसर प्राप्त हुआ। आचार्य जी का न केवल संस्कृत भाषा पर ही पूर्ण अधिकार है, अपितु भारतीय वेदादि शास्त्रों एवं वैदिक वाङ्मय के परिशीलन में भी उन्होंने आजीवन साधना की है। इसी सतत साधना का ही सुपरिणाम 'वेदार्थकल्पद्रुम' में परिलक्षित हो रहा है। पौराणिक साधु श्री करपात्री जी ने 'वेदार्थपारिजात' ग्रन्थ लिखकर महर्षि-दयानन्द की वैदिक-मान्यताओं के विषय में जो-जो भ्रान्त बातें फैलाने का प्रयत्न किया है, उनका युक्तियुक्त एवं सप्रमाण निराकरण आचार्य विशुद्धानन्द जी ने 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' में सफलतापूर्वक किया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि विद्वज्जनों और वैदिक साहित्य के अध्येताओं के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही उपादेय सिद्ध होगा।

दि.–११.१.१९९२ **सुभाष विद्यालंकार**

वाचस्पति उपाध्यायः
एम.ए., पी-एच.डी., डी.लिट्
आचार्योऽध्यक्षश्च
दिल्लीविश्वविद्यालयस्य
संस्कृतविभागस्य

'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नाम्नि ग्रन्थे पण्डितप्रवरविशुद्धानन्दमिश्रमहोदयानां वेदतत्त्वान्वेषि वैदुष्यवैभवं श्रमातिशयञ्च सुविलोक्य मोमुद्यतेतरां मनः। 'वेदार्थपारिजात' ग्रन्थे दुर्व्याख्या-विषमूर्च्छितवेदद्रुमः सञ्जीवनीप्रदानेनात्र नवपल्लवीकृतः।

बहुकालानन्तरं स्वामिदयानन्दाभिमतं मतमाश्रित्य एतादृशो-वैदुष्य-पूर्णप्रयासो दृष्टिपथमायातः। स्वामि-दयानन्देन 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' नाम्नि ग्रन्थे विचारिता वेदविषया वेदार्थपारिजातग्रन्थकारेण दुर्व्याख्याविष-मूर्च्छिता इति नाविदितं विदितवेदितव्यानाम्। वैदिकसिद्धान्तमर्मज्ञैर्मिश्र-महोदयैर् नीरक्षीरविवेकधिया ग्रन्थस्यास्य प्रणयनं कृतमित्यक्षरशः सत्यम्। ग्रन्थे चास्मिन् प्रखरयुक्तिभिर्विषयाणां समीक्षणं, स्वामिदयानन्दस्य सत्य-निर्भ्रान्तसिद्धान्तानां च संस्थापनं नितरां चमत्कुर्वन्ति सचेतसां विदुषां चेतांसि। पदे पदे च वैदिकपरम्परागौरवम् उन्मीलयन् ग्रन्थकारः शास्त्रसमर्पितहृदयान् सहृदयान् विज्ञजनान् अमन्दमानन्दमनुभावयति। गुणैकपक्षपातैर्ज्ञानो-पासकैश्चास्य ग्रन्थस्य समादरोऽवश्यं विधास्यत इति निश्चप्रचम्। अहञ्चास्य ग्रन्थस्य सर्वतोभावेन प्रचार-प्रसारौ सततं हृदा कामये।

दि. १४.१.९२
मकर संक्रान्ति **वाचस्पति उपाध्यायः**

https://t.me/DharmaSamrat

आचार्य वेदप्रकाशः शास्त्री
प्राध्यापकोऽध्यक्षश्च संस्कृतविभागे
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयस्य
(हरिद्वारे)

पद-वाक्य-प्रमाणज्ञानां, समग्रवैदिकवाङ्मयपारङ्गतानां, तर्कप्रयोगे कोमल-कर्कश-प्रकारप्रकटनचतुराणां श्रीमताम् आचार्यप्रवर-विशुद्धानन्द-शास्त्रिणाम् अप्रतिम-प्रतिभोन्मेषालोकविवर्धिततत्त्वबोधसामर्थ्यया, उदात्त-भाव-पुष्कल-सम्भूति-पेशलया, आप्तवाक्यरम्य-सौरभरम्यया, सार्वभौम-सिद्धान्त-प्रतिपादन-समेधमानमेधया, दैवी-सम्पत्त्संवृद्धया श्रद्धासमन्वित-बुद्ध्या निर्मितस्य 'वेदार्थकल्पद्रुम' ग्रन्थस्य द्वितीयोभागो मम दृष्टिपथ-मुपागतः।

विद्वत्तल्लजेन मिश्रमहाभागेन प्रणीतेऽस्मिन् ग्रन्थे तथाविधानि प्रति-भान्वितानि तर्करत्नानि पदे पदे विन्यस्तानि, तैर्ग्रन्थोऽयं रत्नाकरौपम्य-मेवाधत्ते। वेदार्थकल्पद्रुमस्यास्मिन् द्वितीयभागे वेदसंज्ञा-विचारादारभ्य पुनर्जन्मविषयान्ताः समेऽपि विषया वेद-ब्राह्मण-उपनिषद्-दर्शन-धर्म-शास्त्रादि—प्रमाणपुरस्सरं सम्यगनुशीलिताः, सत्यासत्यनिर्णय-युता मिथ्यामतनिरसनपूर्वकं सत्यमत-पोषिताश्च तर्कधुरीणेन विदुषा।

ऋषिवरदयानन्दस्य समुज्ज्वल—कीर्तिधलायाम् ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकायां स्वामिकरपात्रि-प्रभृति-पौराणिकविद्वद्भिर्यः संशयोच्चयःपूर्वा-ग्रहग्रहिलया धिया कृतः, स सर्वोऽपि विशुद्धानन्दशास्त्रिभि विशुद्ध-वेद-भानु-भास्वरप्रतिभया साधिकारं समूलं च निराकृतः। विश्वजनीन-भावना-भावितान् महर्षि-दयानन्दमण्डित-सत्यान् वैदिकसिद्धान्तान् युक्ति-प्रमाण-बलेन परिपोष्य महती ख्यातिरर्जितो लेखकमहानुभावेन।

ममायं द्रढीयान् विश्वासो यत् प्रकृतं ग्रन्थरत्नमधीत्य पक्षपात-ग्रहिलमलिनां मतिमपास्य वेदविद्यानुसन्धातारः, विविध-वैदिक-विषय-रत्नानुचिचीषवश्च यदा वेदार्थकल्पतरोरमृतफलान्यास्वादयिष्यन्ति,तदानीं स्वीयं श्रमातिशयं सफलं धन्यधन्यं च मंस्यन्ते नूनम्।

आचार्य वेदप्रकाशः शास्त्री

मानसिंहः
एम.ए., पी-एच.डी., वेदाचार्यः,
डिप्० (शर्मण्यभाषा),
आचार्योध्यक्षश्च
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालयस्य,
संस्कृत-पालि-प्राकृत विभागे

वेदविद्याविद्योतितस्वान्तैः श्रीमद्भिर्विशुद्धानन्दमहाभागैर्विरचितो वेदार्थ-कल्पद्रुमाख्यः सन्दर्भो मया दृष्टिपथमवतारितः। श्रीमद्दयानन्द-सरस्वती प्रणीतायाम् ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां प्रतिपादितानां वेदसंज्ञादि-विषयाणां श्रीमद्भिः करपात्रस्वामिभिः स्वकीये वेदार्थ-पारिजातनाम्नि ग्रन्थे कृतस्य खण्डनस्य प्रमाणपुरस्सरं निरसनं विधाय श्रीमद्दयानन्द-मतमण्डनं कया-चिन्नूत्नयैव पद्धत्या प्रपञ्चितं विषयविवेचनचतुरस्रे, शास्त्रीयपारम्पर्यमव गाहमाने, प्रामाण्यकोटिमाटीकमाने, वैदुष्यपाट-वसम्भृते, युक्तिप्रमाणो-पपत्तिसंवलिते चास्मिन् सन्दर्भे।

श्रीमतां विशुद्धानन्दमहाभागानां नवा नवा समालोचना विमर्शकृतां गभीरां मतिं भृशमुद्भासयतितराम्। भाषासरणिरप्यत्रातीव मनोज्ञा, ललितललितैः पदविन्यासैः समलंकृता, प्रौढा, प्राञ्जला च सुतरां रञ्जयति चेतांसि सचेतसां विदुषाम्। प्रबन्धेऽस्मिन् सन्निवेशितानां विषयाणां परिशीलनेन ग्रन्थकर्तृणां वैदुष्य-गुणगरिमा, वेदविद्यापारगामित्वं, प्रखरतर्कवैभवञ्च नितरां प्रस्फुटीभवति।

एतादृशस्य ग्रन्थरत्नस्य प्रणयने श्रीमन्तो विशुद्धानन्दमहाभागाः समेषामपि सुधियां विद्यन्ते हार्दिकवर्धापनार्हाः। वेदविद्यापारदर्शिनो विद्वत्समाजस्य प्रबन्धोऽयं महोपकाराय मनस्तोषाय च नूनं कल्पिष्यत इत्यत्र नास्ति कोऽपि सन्देहलवलेशः। **विदुषां वशंवदो—**

दि. ८.१.१९९२ **मानसिंहः**

https://t.me/DharmaSamrat

डॉ० विक्रमकुमारः विवेकी
वरिष्ठप्राध्यापकः संस्कृतविभागः
पंजाब विश्वविद्यालयस्य
(चण्डीगढ़म्)

पौराणिक-मत-दीक्षितेन पूर्वाग्रहग्रहिल-साधुना स्वामिकरपात्रेण 'वेदार्थ-पारिजात' नाम्नि ग्रन्थे यत् किमपि महर्षि-दयानन्द-रचित-ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकामधिकृत्य लिखितम्, तत् सर्वं कीदृशमिति निर्णेतुं न शक्नोति सामान्यजनः। आचार्यप्रवरैः श्री विशुद्धानन्दमहाभागैस्तत्सर्वं वेदार्थ-बोध-प्रखर-मन्थन-धिया युक्ति-प्रमाण-रज्जुसहायेन च तथा-कारमालोडितम्, येन तक्रभिन्ननवनीतमिव सत्यासत्ये नीरक्षीरवत् सुस्पष्टं पृथग् भूते। 'वेदार्थकल्पद्रुम' ग्रन्थस्य द्वितीये भागे यत् किञ्चिद् लिखितं तत्सर्वं प्रशस्यं भ्रान्ति-तमोनिवारकं सत्यार्थप्रकाशकञ्चेत्यवलोक्य चेतसि स्यन्दते स्नेहधारा।

एतस्मिन् ग्रन्थे स्वामि-करपात्रि-प्रयुक्तमिथ्याप्रमाणानां छल-प्रयुक्त-हेत्वाभासानां विद्वज्जन-गर्ह्यावद्यभाषाप्रयोगाणां च यादृशं निरसनं सरल-भाषया युक्तिप्रमाणाभ्यां च विहितं तदनल्पानन्दकरमेव प्रतिभाति। कामं वेदार्थप्रसंगो वा स्याद् व्याकरणप्रक्रिया वा, कामं वेद-ब्राह्मणसंज्ञाप्रसंगो वा स्यान्न्याय-प्रक्रिया वा, सर्वत्र पारिजात-वर्णनमसारं निष्फलं च प्रतिभाति, इत्यत्र नास्ति सन्देहावसरो लेश-मात्रमपि। 'वेदार्थ-कल्पद्रुमः, तु सत्यमेव कल्पद्रुम इव, यस्यामृततुल्य-सत्यार्थद्योतकानि फलान्यास्वादमाना विद्वांसो मिथ्यारोपिततमोजन्य-भ्रान्ति-जातं नूनमपाकरिष्यन्ति। स्वामिकरपात्रिसदृशमतीनां विषये सत्यमेवोक्तं 'त्रिविक्रम भट्टेन'—

उत्फुल्लगल्लैरालापाः क्रियन्ते दुर्मुखैः सुखम्।
जानाति हि पुनः सम्यक् कविरेव कवेः श्रमम्।।

डॉ० विक्रमकुमारः विवेकी

प्रास्ताविकम्

माता श्रीललिता प्रकृत्यतिमृदुर्वात्सल्यवारान्निधिः,
श्रीमान् वैद्यविभूषणो मम पिताऽयोध्याप्रसादः सुधीः।
मेधां मञ्जुविचारशीलसुलभामाप्तुं सदा निर्मलाम्,
ध्यात्वा पैत्रपदाम्बुजं विरचये 'वेदार्थ-कल्पद्रुमम्' ॥

वैदिकयुगप्रवर्तनाभिलाषुकाणां महर्षिदयानन्दसरस्वतीस्वामिनाम् 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' वैदिकसिद्धान्तानां वेदार्थ-सत्यप्रक्रियायाश्च निर्भ्रान्त-दिशा-निर्देशनाय सर्वातिशायिमहत्त्वपूर्णोऽमरग्रन्थो वर्तते। भगवद्वाणीस्वरूपवेदानां व्याख्यानभूत-ब्राह्मणादीनां स्वरूपाऽवबोधनं सम्यग्रूपेणैतदनुपम-ग्रन्थाध्ययनेनैव भवितुमर्हति। अतो वेदभाष्यं विधित्सु-सङ्कल्पवता श्रीकरपात्रिप्रमुखपौराणिक-विद्वद्वृन्देनैतदावश्यकमवाबुध्यत यदेतस्या भूमिकायाः खण्डनाद् ऋते एतदल्पज्ञ-पाखण्डाऽधारित-प्रज्ञा-प्रसूत-भाष्याभासेषु न कोऽपि खलु श्रद्धास्यति। अतस्तद् वृन्दमस्यां भूमियायां स्वकीयखण्डनाभास-कुतर्ककुठारैरसारान् प्रहारान् कर्तुं प्रचक्रमे। ततः प्रभृति मे चिराय चेतसि समारोपितः समाधानं चिकीर्षुः सुचिन्तन-सन्तान-वारिभिः प्रसिञ्चितः सङ्कल्पद्रुर्भगवदनुकम्पया वेदार्थ-कल्पद्रुमरूपो वेदार्थ-पारिजातकर्त्तुरखर्व-सर्व-गर्व-दम्भ-जृम्भामुज्जासयन् सुतर्क-युक्ति-प्रयुक्ति-नाराच-प्रवल-प्रहारैः, सार्वदेशिकार्यप्रतिनिधिसभायाः प्रधानानां श्रीमतामानन्दबोध-सरस्वतीस्वामिनां समुत्साह-पुरस्सरं प्राकाश्यं प्रथमखण्डो नीतः सन्नद्यावधि केन-चित् श्रीकरपात्रानुचरविदुषा न प्रत्युत्तरितः, महर्षिप्रतिपादित-सत्यसिद्धान्तानां खण्डनानर्हत्वात्।

तदनु, आवामाचार्यदम्पती सकलप्रतिद्वन्द्विनां विजित्वादिव स्वबिश्रम-गृहगुहायां फेरवाक्रमणातङ्क-शङ्का-सम्भावना-विरहितत्वात् शान्तौ स्थितौ केसरिणाविव भूमिकाया अग्रिमाक्षेपाणां निरासाय समाधानं प्रकाशयितुं न प्रायतिष्वहि। परमार्यमूर्ध यविदुषां वाणीभूषण-श्रीपं० विहारिलालशास्त्रिणाम्, महामहोपाध्यायश्रीयुधिष्ठिरमीमांसकमहाभागानाम्, आचार्यप्रवर-श्री-उदयवीर-शास्त्रिणाम्, संयासिविद्वत्-प्रवर-श्रीविद्यान दसरस्वतीस्वामिनाम्, सम्मान्यश्री-ओमानन्दसरस्वतीस्वामिनाम्, स्वर्गीयश्रीपं० शिवकुमारशास्त्रिणाम्, सम्पादका-चार्यश्रीक्षितीशवेदालङ्काराणाम्, कालिकातो विश्वविद्यालय-प्राध्यापकश्रीपं० उमाकान्तोपाध्यायानाम्, दिल्ली-विश्वविद्यालय-संस्कृतविभागाध्यक्षाणां प्रियश्री-वाचस्पति-उपाध्यायानाम्, कुमायूं विश्वविद्यालयस्य श्रीजयदत्त-उप्रैति-आचार्य-डी० लिट् संस्कृतविभागाध्यक्षाणाम्, आचार्यश्रीओङ्कारमिश्रप्रणवोपाधिविभूषि-तानाम्, आचार्यश्रीराजवीरशास्त्रानन्दयदसन्देश-सम्पादकानाम्, आचार्यश्री-

https://t.me/Dharmaccamrit

सत्यानन्दवेदवागीशानाम्, प्रिय-डा० देवशर्मणाम्, अजमेरस्थ-श्रीडा०धर्मवीराणाम्, डा० श्रीके० सी० शर्मणाम् अजमेरस्थविदुषाम्, वेदाचार्यडा०-सावित्रीदेवी (बरेली) डा० कविता (दिल्ली) डा० महाश्वेतादिबरेलीस्थविदुषीणाम्, बरेलीस्थ-डा० उमेशचन्द्रशर्मणाम्, श्रीधर्मपालार्याणाम् आर्षसाहित्यप्रचारट्रस्टदिल्लीस्थ-सचिवानाम्, अन्येषामपि च बहूनां विदुषां वेदार्थकल्पद्रुमप्रथमखण्डस्य भाषा-भाव-शैलीमाञ्जुल्यस्य मुक्तकण्ठं सोत्कण्ठं प्रशस्तय आवां पुनरपि समाधानार्थम् उत्कलिकाकलितौ संव्यधुः ।

एतेषां विदुषाममृतसिक्त-सुस्निग्ध-प्रशस्ति-कोमल-कमनीयवचोभिर्धमनीषु नवीनोत्साहशक्तिसञ्चारः समजनि । सुपुत्री डा० मृदुलाशर्मा-प्रख्यात-संस्कृत-कवयित्री, सुपुत्रो डा० मेधाव्रताचार्यः, सुपुत्री आचार्या मंजुला शर्मा, सुवध्वौ डा० प्रतिभा-मीनाक्षीदेव्यौ च उक्तप्रशस्तिपत्राणि समीक्ष्य आवां प्रोत्साहयन् । सुपुत्रो वेदव्रत एम० टेक् च प्रकाशनाय समाश्वासयत्, मदीयानुजः श्रीब्रह्मेन्द्र-शास्त्री अपि लेखबद्धं समाधानं विधातुमाश्वासयत्, तदनु नौ उपक्राम्याव समाधातुम् ।

इतश्च पुनः श्रीधर्मपाल-आर्यः सुलेखाय सुलेखकविदुषां साहाय्यं दातुं प्रतिजज्ञे, द्वितीयखण्डस्य एतस्य प्रकाशनचिन्तामपि अतितरामुदारमनसा सश्रद्ध-विनम्रवचोभिश्च स्वयं वोढुं मम समक्षे प्रस्तावमकार्षीत् ।

सम्प्रति महान् प्रश्न उपातिष्ठदेतद्ग्रन्थस्य प्राग्रूपवाचनपुरस्सरं शोधनस्य । भगवतः परमानुग्रहेण मुद्रण-शोधन-कला-प्रवीणो मदीय एव प्रेयान् शिष्यो विद्वान् श्रीचन्द्रदत्तशर्मा बहालगढ़स्थ एतन्महाक्लेशगर्ताद् मामुददीधरदाश्वास्य ।

प्रियशर्मा प्रशस्याभिरुच्या सुलगनेन संशोधनम्, समुद्धृतप्रमाणमेलनम्, विषय-सूची-सज्जाम्, शुद्धाशुद्धिकार्याणि च विधाय सपरिश्रमं सम्पादनं व्यदधात् । जराजर्जरित-कलेवरेऽस्मिन् एतस्य महान् श्रमोऽनुष्ठितः कामपि हृदयस्यानर्घामाशिषं भजतां सुचिरायुष्यां भव्यभविकभावयित्रीमिति कामये । मध्ये मध्ये सुलेखकरणपाटवेन प्रसादयन्तं मां दिल्लीस्थप्राच्यविद्यानुसन्धानपरिषदो निदेशकं स्वशिष्यं डा० धर्मवीराचार्यमप्याशीर्भिर्भूषयामि । मम प्रेयान् विद्वान् संस्कृत-साहित्याम्भोधिमन्थननिपुणः शिष्यः श्रीवेदप्रकाशश्रोत्रियोऽस्य ग्रन्थस्य प्रणय-पूर्णप्रेरणानुरोधेन मम विशिष्टाशिषां भाजनं निःसंशीति जायताम् । प्रकाशकं श्रीलम् आर्यं प्रति आभारितां प्रकाशीकर्तुं प्रयतमानोऽपि भूयोभूयो न समुपयुक्तां प्रशस्तां शब्दावलीं विचिनोमि । किं कथयाम्यतिशयेन एतस्मै स्वमातृपितृवन्महर्षि-वर्यस्य ऋणादुत्तर्तुं वरेण्यप्रभुः शिवशक्तिं दद्यात् ।

चिरायुष्यं लभमानोऽयं पित्रनुसृतपवित्रश्रुतिसृतिं निर्भ्रान्त-महर्षि-सिद्धान्त-प्रकाशन-प्रकाशेन प्रद्योतयन् परिष्कृतां सदैव विदधीतेति कामये ।

अक्षरसंयोजकः श्रीबालकृष्णो मुद्रणकार्यप्रबन्धकः श्रीरामकृष्णश्च विशेष-रूपेण धन्यवादार्हौ स्तः ।

अन्तेऽहं 'सान्ताक्रुज-आर्यसमाज, बम्बई' समाज-सदस्येभ्यः, विशेषरूपेण आर्षप्रणालीपरिपोषकस्य मम प्रेरणाप्रदस्य विद्वद्वराचार्यभद्रसेनमहाभागस्य सुपुत्राय सम्मानसमारोहस्य समायोजकाय समाजप्रधानाय श्रीकैप्टेनदेवरत्नार्याय, यो 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' कृतिं वेद-वेदाङ्गपुरस्कारेण समभाजयत्, धन्यवादान् प्रददामि ।

विदुषां वशंवदः

आचार्यो विशुद्धानन्दः शास्त्री

ग्रन्थकारस्यान्ये प्रकाशिताऽप्रकाशिता ग्रन्थाः

प्रकाशिताः—

१. चारुचरितामृतम् (लघुकाव्यम्) ।
२. सुरवाणीप्रशस्तिका ।
३. वेदार्थ-कल्पद्रुमः (प्रथमद्वितीयखण्डौ)
४. जीवात्मा का शरीर में स्थान ।
५. वेद-मन्त्रों पर निर्दिष्ट ऋषि मन्त्रद्रष्टा थे, मन्त्रकर्ता नहीं ।
६. शास्त्रार्थ-आह्वान (माधवाचार्य से शास्त्रार्थ) ।
७. वेदार्थ-भूमिका (संस्कृते अनूदिता) ।
८. वैदिक-निघण्टुः (गेयच्छन्दस्सु) ।

अप्रकाशिताः—

१. वेदार्थ-कल्पद्रुमः (तृतीयः खण्डः, मुद्रणालये) ।
२. को नु हिन्दू (संस्कृत-काव्यम्) ।
३. भारतमहिमा (काव्यम्) ।
४. गोकरुणानिधि-काव्यम् (संस्कृते) ।
५. इन्दिरायशस्तिलकम् (संस्कृते) ।
६. विभिन्नविषयेष्वनुमानतः १५०० श्लोकाः ।

https://t.me/DharmaSamrat

वेदार्थकल्पद्रुमस्य

सहायकग्रन्थसन्दर्भ-सूची

१. अत्रिस्मृतिः
२. अथर्ववेदः
३. अष्टाध्यायी
४. आपस्तम्बश्रौतसूत्रम्
५. आर्यभट्टीयम्
६. आश्वलायनगृह्यसूत्रम्
७. ऋग्वेदः
८. ऐतरेयब्राह्मणम्
९. ऐतरेयालोचनम्
१०. काठकसंहिता
११. काण्वसंहिता
१२. कात्यायनश्रौतसूत्रम्
१३. काशिका
१४. गीता
१५. गोपथब्राह्मणम्
१६. गोभिलगृह्यसूत्रम्
१७. गौडपादीयकारिका
१८. चरकः
१९. छान्दोग्योपनिषद्
२०. तैत्तिरीयब्राह्मणम्
२१. तैत्तिरीयारण्यकम्
२२. नाट्यशास्त्रम्
२३. निरुक्तटीका (दुर्गाचार्यः)
२४. निरुक्तभाष्यम् (स्कन्दस्वामी)
२५. निरुक्तम्
२६. निरुक्तालोचनम्
२७. न्यायदर्शनम्
२८. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
२९. पञ्चतन्त्रम्
३०. परापूजा (शङ्कराचार्यः)
३१. पातञ्जलमहाभाष्यम्
३२. पारस्करगृह्यसूत्रम्
३३. पाराशरस्मृतिः
३४. प्रशस्तपादभाष्यम्
३५. बालभारतम्
३६. बृहत्पाराशरस्मृतिः
३७. बृहदारण्यकवार्त्तिकसारः
३८. ब्रह्मवैवर्त्तपुराणम्
३९. भट्टपादकुमारिलभाष्यम्
४०. भविष्यपुराणम्
४१. भागवतपुराणम्
४२. मनुस्मृतिः
४३. महादेववेदान्तवृत्तिः
४४. महाभारतम्
४५. मिस्टिक एप्रोच टु द वेदाज्
४६. मीमांसादर्शनम्
४७. मुण्डकोपनिषद्
४८. मेदिनीकोषः
४९. मैत्रायणीसंहिता
५०. यजुःप्रातिशाख्यम्
५१. यजुर्भाष्यम् (महर्षिः)
५२. यजुर्वेदः
५३. यजुर्वेदकल्पतरुः
५४. योगदर्शनम्

५५. योगदर्शनम् (व्यासभाष्यम्)
५६. रघुवंशमहाकाव्यम्
५७. लल्लसिद्धान्तः
५८. लाट्यायनश्रौतसूत्रम्
५९. लीलावती
६०. वसिष्ठस्मृतिः
६१. वात्स्यायनभाष्यम्
६२. वाल्मीकिरामायणम्
६३. विश्वकोषः
६४. विहारी सतसई
६५. वेदवाणी (II विशे० १९५३)
६६. वेदान्तदेवीभागवतम्
६७. वैदिकगणितम्
६८. वैशेषिकदर्शनम्
६९. शतपथब्राह्मणम्
७०. शांख्यायनश्रौतसूत्रम्
७१. संवर्त्तस्मृतिः
७२. सत्यार्थप्रकाशः
७३. समराङ्गणसूत्रधारः
७४. सांख्यदर्शनम्
७५. सामवेदः
७६. सिद्धान्तशिरोमणिः
७७. सुभाषितरत्नभाण्डागारम्
७८. सूर्यसिद्धान्तः
७९. स्कन्दपुराणम्
८०. हारीतस्मृतिः

https://t.me/DharmaSamrat

शुद्धि-पत्रम्

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
३	२१	'अक्षों (पंक्ति के मध्य में)	'अक्षों (पंक्ति के आरम्भ में)
१४	२	वद	वेद
१६	८	ब्राह्मण-	ब्रह्म-
१७	१६	०र्भावं	०र्भाव
३२	९	०हत् शीत-भानुं	०हदनुष्ण-भानुं
३६	३	०गणिताः,	०गणिता,
,,	११	यत्राभ्रा-ग्धि०	यत्राभ्रा-ब्धि०
,,	१२	खान्यर्क०	खत्र्यर्क०
४०	२६	अविर्भूत	आविर्भूत
४२	१३	वेदस्य	वेदत्व-
४९	२	व्याख्य तणाञ्च	व्याख्यात्-णाञ्च
५१	८	महज्जग०	महान् जग०
५५	१२	०प्रतापी-पुरुष०	०प्रतापि-पुरुष०
५५	१५	महेश्वरम्	महेश्वरः
५६	४	०ध्यय-मध्या०	०ध्यय-नाध्या०
,,	२५	पौरुषेय	अपौरुषेय
५७	११	०मविशिष्टा	०मवशिष्टा
६२	३	वेदत्वन	वेदत्वेन
६९	२	सव०	सर्व०
,,	६	उदाहणे	उदाहरणे
७०	१३	०कतु०	०कर्तु०
८४	२२	'युक्म्'	'युवम्'
१०६	४	तदवेदत्व०	तद्वेदत्व०
१०९	३	राजनि	राजा
११२	२	प्रकरण	प्रकरेण
११८	२	गजमुक्त०	गजभुक्त०
१२५	४	छन्दो-प्रकरण०	छन्दः-प्रकरण०
१३२	१	ज्ञाने०	ज्याने०
१३४	१	कत्तु०	कर्त्तु०
१३६	२	०स्वरूप-मतर्का०	०स्वरूपं तर्का०
१३८	७	एतग्रे	एतदग्रे
१४२	१	दत्यादि०	इत्यादि०
१४९	१२	०नध्यन०	०नध्ययन०
१५१	९	०जनन-	०जनक-
१५५	६	प्रभा०	प्रमा०
१७८	५	एव	हि
१८२	५	सक्षणकम्	लक्षणकम्
१९१	२	०लुब्धा	०लुब्धाः
१९६	२	तत्त	तत्तु
१९९	५	०वयेष पार०	०विषये पारि०
२१६	५	०प्यर्थो	०प्यर्थः
२१७	७	तद०	तद्
२२२	२	कृतमतम्	कृन्मतम्
२३५	१२	विवक्षित	विवक्षितम्
२३८	६	ए कश	एकदेशिनं
२४६	१	देश	देशः
२५५	१	पनतस्य	पतनस्य
२५७	१	लौकि०	लौकिक०

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
२७९	१४	०महति	०मर्हति
२८१	४	स्वरूद०	स्वरूप०
२९३	१	पारम्पय	पारम्पर्यं
२९८	४	न रुक्ते	निरुक्ते
२९८	१३	षष्णाम्	षण्णाम्
३०३	३	इत्या दना	इत्यादिना
३०८	२०	अश्रत०	अश्रुत०
३११	१	सवथा	सर्वथा
३१२	६	प्रातिप्रदिक०	प्रातिपदिक०
३१४	११	आष	आर्ष
३१५	२५	आश्चर्य०	आश्चर्य०
३१८	२४	सवत्र	सर्वत्र
३२०	१९	और	ओर
३२५	६	सूयस्यापि	सूर्यस्यापि
३३१	९	पदाथ०	पदार्थ०
,,	२५	पृथिवीस्य	पृथिवीस्थ
३४३	१७	धारण	धारण
३५१	१४	पाश्त्यात्यों	पाश्चात्यों
३६२	९	अर्यास्तु	आर्यास्तु
३६२	१०	०भाषित०	०भाषिक०
३६६	९	काचित्	कांचित्०
३७६	१५	विभज्येत	विभजेत
३८९	१३	प्रमीयते	प्रमिमीते
३९०	७	परिमिति०	प्रमिति०
३९१	२	कथ्ल्प्यते	कल्प्यते
३९३	६	पश्चात्या	पाश्चात्या
३९४	१	०पहेलिकां	०प्रहेलिकां
३९७	२	०योगणि०	०योर्गणि०
,,	४	०गणना	०गणनां
३९९	५	पहे०	प्रहे०
४००	२	वदिक०	वैदिक०
४०२	३	ततो०	तत्तो०
४०५	२	कथन्नव	कथन्नैव
४०७	२	०न्द्रियार्थ-मग्र०	०न्द्रियार्थग्र०
४१५	११	०प्रापकेण	०प्रायकेण
४१६	२	०न्नाभि०	०न्नभि०
,,	७	०किंकर०	०किंकरै०
,,	,,	०रेवा	०रेव०
४१७	८	र्म०	कर्म०
४२२	३	सव०	सर्व०
४२३	१७	०म्य	०म्यां
४२५	६	व्यवधायि	व्यधायि
४३३	८	बुद्ध०	बुद्धि०
,,	११	०कषः	०कर्षः
४३४	१	०त्ममि०	०त्मकमि०
४३८	४	ह्येतत् प्रक्रा०	ह्येतदप्रक्रा०
४४३	५	अर्थं	अर्यं
४४५	११	काणं	कारणं
४४७	४	स रा	सीरा
४५३	५	स्यात्	स्यात
४५५	९	०प्राणा दवहाम्यो	०प्राणादिव-हाम्यो
४६९	३	विहितो	विहितः
४७४	४	यते	०सादयते
४७७	७	बुद्धिवत्०	बुद्धिमत्०
४८६	२२	विद्यादि	अविद्यादि
४८८	२	ण्टना०	लुण्टना०
४८९	४	०श्वरा०	०श्वर०
४९३	५	बाह्यो	बाह्यः
४९५	९	निःशेष	निःशेषतया
४९६	८	इत्यरिबल०	इत्यखिल०
४९७	१	सिद्धो	सिद्धौ

https://t.me/DharmaSamrat

पृ०	पं०	अशुद्धम्	शुद्धम्
५००	१	०मते ना	०मतेना०
५०६	१	०ज्ञावि०	०ज्ञादि०
५०६	१४	०दिण वत्त्वं	०दिगुणवत्त्वं
५०८	१३	०शिरच्छेदाद्	०शिरश्छेदाद्
५०९	१०	०ङ्करे	०ङ्कटे
५१४	१२	निक्षं	०रिक्षं
५१८	१	एवार्थो	एवार्था
५२४	१२	०माणां	०माणायां
५२५	२	०त्तद-	०त्तद्
५२८	५	क्रियते	क्रियते
५३७	२	०यंल्लिखन्	०यल्लिखन्
५४०	१८	०णक्षमो०	०णाऽक्षमो०
५४९	९	०रित्या०	०रिरित्या०
५५३	२	०नेनाया०	०नेनानाया०
५५७	१	ब्रह्मणो०	ब्रह्मणो०
५५९	८	०हास्पदम्	०हासास्पदम्
५७२	१	काय०	कार्य०
,,	७	चि या	चित्या
५७६	७	श्वश्र०	श्वश्रू०
५७७	८	प्रवतमानो	प्रवर्तमानो
,,	१३	०पयव०	०पर्यव०
५७८	४	०रूपत्वं	०रूपोपहितत्वं
५७९	३	दृष्टव्यं	द्रष्टव्यं
५८५	५	एषो०	एको०
,,	१०	०जनुदानेन	०जनुर्दानेन
५९६	५	०गुणा	०गुणाः
५९९	५	एकतरं	एकतस्
६०४	८	०धिन	०धिर्न
,,	९	०घटनी०	०घटनौ०
६०५	७	तुग्रः	तुग्रुः
६१०	८	कषण-	कर्षण-
६११	४	०वषये	०विषये
६१६	१२	०र्व्यध्य०	०र्मध्य०
६१९	४	आच्छाय०	आच्छादय०
६२१	४	वहे०	वहो०
६२२	२	०निषत्श्रु०	०निषच्छ्रु०
६२३	२	ज्योतिम०	ज्योतिर्म०
६२४	२	०हान्ये	०हायान्ये
६२६	११	पर्वतः	पूर्वतः
,,	१२	एव०	एवं०
६३५	१०	ङ्गिचते	लिङ्गचते
६४०	५	मर्त्या	मर्त्याः
६४१	६	देवव०	देव०
,,	१२	तत	तत्र
,,	२९	तत	तत्र
६४३	७	मरणं	करणं
६४६	६	मात्मानः	मात्मनः
,,	१२	आयति	आयाति
६५३	३	पुर्विवाह०	पुनर्विवाह०
६५६	४	दाम्पत्त्यो०	दम्पत्त्यो०
,,	११	इति	इति न
६७४	११	०मिच्छती	०मिच्छन्ती
,,	१५	नियो०	नियोग०
६८०	११	यददे०	यदने०
६८१	३	इिशिष्टा०	विशिष्टा०
,,	५	०भाजिनी०	०भाजनी०
६८२	१२	भ्रातुमृतस्य	भ्रातुर्मृतस्य
६८४	३-४	०ख्यान- मिवी०	०ख्यात्- नवे०
६८७	१०	०मस्मद०	०मस्मत्०
६९६	१	वधव्यं	वैधव्यं
६९७	९	०भक्ति०	०भक्त०

ओ३म्

विषय-सूची

विषयः — पृष्ठम्

वेदसंज्ञा-विचारः — १-११८

किं 'प्राप्तौ सत्यामेव निषेधः' इति नियमाद् ब्राह्मणभागस्य वेदत्वापत्तिः ? — १
'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' इति लक्षणं प्रायिकम् । — ३
मन्त्रस्य विधायकत्वाभिधायकत्वविचारः । — ४
'मन्त्रभाग'शब्दे 'भाग'शब्दस्यांशार्थत्वमज्ञानविजृम्भितम् । — ५
ब्राह्मणानां वेदसंज्ञाऽभावे भूमिकोक्तहेतवः । — ७
कपोलकल्पितविषयप्रतिपादकत्वाद् विष्णुपुराणादीनि न पुराणेतिहाससंज्ञा-मर्हन्ति । — ९
'वेदव्याख्यानात्' इति हेतुर्न ब्राह्मणभागस्यावेदत्वं साधयतीति न्यायशास्त्रामननफलम् । — ११
ब्राह्मणानां वेदव्याख्यानत्वे प्रमाणानि । — १४
यदि पदान्तरेणार्थख्यापनमेव व्याख्यानम्, तत्तु वेदमन्त्रेष्वप्युपलभ्यते ? — १७
'यथा वेदा अज्ञातकर्तृकास्तथैव ब्राह्मणान्यपि' इति कथनं तु प्रमत्त-प्रलाप एव । — १८
ब्राह्मणग्रन्थानां वेदव्याख्यानत्वे निरुक्तस्य प्रमाणानि । — १९
गोपथब्राह्मणमहाभाष्ययोरथर्ववेदस्यादिमो मन्त्रः 'शन्नो देवीः', वर्तमानाथर्ववेदे च 'ये त्रिषप्ता' इति, तत्र कतरोऽथर्ववेदः ? — २१
वेदा न कस्यापि ऋषेराद्योच्चारणम्, परं ब्राह्मणानि लौकिकयाज्ञ-वल्क्यादिरचितानि । — २३
सम्राजोऽन्यराजसेवकवद् ब्राह्मणा अपि वेदानुचराः । — २४
करपात्रिणो 'निरनुयोज्यानुयोग'नामकनिग्रहस्थान आपतनम् । — २५
'उक्त-प्रोक्त'शब्दयोर्गूढार्थभेदः । — २६
ऋषिप्रोक्तहेतुत्वाद् ऋषिदयानन्दलिखिता ग्रन्थाः कथं न वेदाः ? — २७
मन्त्रकृदादिशब्दानां मन्त्रद्रष्टृणामित्येवार्थो वास्तविकः । — २७
'गृहीतं व्याख्यानं भवति' इति व्याख्यानभागे गौणतया वेदसंज्ञाव्यवहारः । — ३०

https://t.me/Dharmasastrat

विषयः	पृष्ठम्
शबरस्वामिनः परस्परविरोधिकथनम् ।	३१
सब्राह्मणानां वेदानां व्यासेन विभागीकरणं तु महागल्पजल्पः ।	३२
ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रयुक्तो वेदशब्दः केवलं मन्त्रबोधक एव ।	३३
माध्यन्दिनसंहिताया मूलयजुर्वेदत्वे कतिपयप्रमाणानि ।	३५
कात्यायनीयसर्वानुक्रमण्यां माध्यन्दिनसंहिताया एव मन्त्राक्षरादिसंख्या परिगणिता ।	३६
ब्राह्मणपाठमिश्रितशाखाकारैरेव 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' सूत्रं पठितम् ।	३७
'प्राप्तौ सत्यामेव निषेधः' इत्यनुसृत्य ब्राह्मणानां वेदत्वं न दयानन्देन निराकृतम् ।	३८
'चत्वारि शृङ्गाः' इति मन्त्रे वेदानां चतुष्ट्वम् ।	३९
चतुर्णां वेदानामेव वेदत्वे प्रमाणानि	४०
पतञ्जलिमते ब्राह्मणानां वेदत्वमस्ति न वा ?	४३
'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' इत्यत्र श्रुतिशब्दो वेदपरकः, न ब्राह्मणात्मकः ।	४४
ब्राह्मणानां मनुष्यरचितत्वे प्रमाणानि ।	४५
न वेदे कृतनाम्नां पदार्थानां वर्णनम्, सर्वशब्दानां यौगिकत्वात् ।	४६
जमदग्न्यादिपदानां वास्तविकोऽर्थः ।	४८
शतपथब्राह्मणानुसारं देवा द्विविधाः ।	५०
'इमं मे गङ्गे' इति मन्त्रो गङ्गादीनामुत्पत्तेः प्रागासीन्न वा ?	५१
अनधीतब्राह्मण एव ब्राह्मणग्रन्थान् अपौरुषेयान् वक्तुं शक्नोति ।	५२
वेदेष्वालङ्कारिकं कथाकल्पनमेव वास्तविकम् ।	५४
मन्वादिनामानि किं लोकोत्पन्नपुरुषाणां वेदेषु ?	५५
तुग्र-भुज्यु-आदिशब्दानां प्रयोगस्य हिंसाद्यर्थत्वान्न वेदस्य पौरुषेयत्वम् ।	५६
वेदवद् ब्राह्मणग्रन्थान्यपि ईश्वरनिःश्वसितानि कथन्न मन्यन्ते ?	५८
इतिहासपुराणादिशब्दैस्तत्तद्विद्याग्रहणान्न वेदस्यानित्यत्वम् ।	५९
इन्द्र-वृत्रादीनां युद्धस्योपमार्थत्वम् ।	६०
ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधो विभागः ।	६१
ब्राह्मणानि वेदव्याख्यानानि तेषां व्याख्यानकरणात् ।	६३
वेदार्थपारिजातकर्तुर्मतानुज्ञानामके निग्रहस्थाने पतनम् ।	६५
ब्राह्मणभागस्यावेदत्वं वैशेषिककारसम्मतम् ।	६६
न केवलं ब्राह्मणानामपि तु शाखानामप्यवेदत्वम् ।	६७
पारिजातकर्तुराक्षेपः केवलं व्याकरणतत्त्वानभिज्ञत्वात् ।	७०

विषयः	पृष्ठम्
मन्त्रब्राह्मणसंहितापदानां वास्तविकोऽर्थः ।	७२
मन्त्रशब्देन मूलवेद एव गृह्यते ।	७३
'छन्दोब्राह्मणानि०' इत्यत्र पृथग् ब्राह्मणपाठेनैव तेषामवेदत्वम् ।	७५
'स होवाच ऋग्वेदम्' इत्यादिस्थलेषु वेदशब्देन ब्राह्मणाग्रहणत्वम् ।	७५
नाट्यशास्त्रादिष्वपि वेदाश्चतुःसंख्याका एव ।	७७
निरुक्ते वेदशब्देन किं गृह्यते ?	७९
ब्राह्मणानामवेदसंज्ञात्वे प्रमाणानि ।	८०
'तेनानुक्तत्वात्' इति स्वामिदयानन्दकथनस्य मूलम् ।	८१
'ब्रह्म'शब्दस्य वास्तविकोऽर्थः ।	८३
'वेदो ब्राह्मणायत्तः' इति करपात्रकथनस्य निस्सारता ।	८३
ॐकारस्य विधानम् ।	८४
वेद-ब्राह्मणयोरनैक्ये हेतवः ।	८५
उपक्रमोपसंहारानुरोधेन ऋचादिपदानि ऋग्वेदादिवाचकानि ।	८७
करपात्रिणः सर्षपेण सिकतां सम्मेल्य तैलनिष्पादनम् ।	८८
मन्त्रब्राह्मणात्मकवेदग्रहणे शास्त्रदीपिकाया अनौचित्यम् ।	९०
ऋगादिशब्दानां मन्त्रब्राह्मणसमुदायार्थो लक्षणया ग्राह्यो न वा ?	९१
'उदितेऽनुदिते' इत्यत्र 'श्रुति'शब्देन किमभिप्रेतम् ?	९१
'यः कश्चित् कस्यचित्' इति मनुवाक्ये वेदशब्दाभिप्रायः ।	९२
कुल्लूकभट्टमतेऽपि वेद ऋग्यजुःसामाथर्वलक्षणः ।	९३
'शेषे ब्राह्मणशब्दः' इत्यत्र शेषपदस्यार्थः ।	९५
'तदर्थशास्त्रात्' सूत्रे शास्त्रशब्दस्यार्थविवेचनम् ।	९७
'ऊहः' इति सूत्रपठितोहशब्दस्यार्थनिर्णयः ।	१००
नानार्थप्रकरणोपस्थिते प्रकरणेनैवार्थग्रहणमुचितम् ।	१०१
मन्त्राणां विधायकत्वम् ।	१०२
ब्राह्मणभागस्य वेदत्वे 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इति सूत्रं प्रमाणरूपेणोपस्थानमज्ञानसूचकम्	१०३
'निवेशनः सङ्गमनो' इत्यादिमन्त्र इन्द्ररूपेश्वरस्याभिधायकः ।	१०४
इन्द्रशब्दस्य गार्हपत्याग्निना सह सम्बन्धे शबरस्वामिमतम् ।	१०५
'अनाम्नातेषु' इत्यादिसूत्रस्य ब्राह्मणवेदत्वेऽप्रमाणता ।	१०६
'होता वा मन्त्रवर्णात्' इत्यस्याऽपि ब्राह्मणस्य वेदत्वे निस्सारता ।	१०७
'म्लेच्छितवै' इत्यत्र 'तवै' विधानं वेदब्राह्मणयोरुभयोरेव ।	१०८
'अनन्ता वै वेदाः' इति वचने 'अनन्त'शब्दस्य वास्तविकोऽर्थः ।	१०९

https://t.me/Dharmadanda

विषयः	पृष्ठम्
ब्राह्मणभागस्यावेदत्वे सति मन्त्राणामानर्थक्यकथनं प्रमत्तगीतवत् ।	११०
ब्राह्मण-मन्त्रतुल्यतायां पशुमनुष्यदृष्टान्तमसङ्गतम् ।	१११
'तनादिकृञ्भ्य उः' इत्यत्र किमर्थं पृथक् कृञ्ग्रहणम् ?	११२
निरुक्ते 'पुरुषविद्या०' इत्यत्र मन्त्रशब्दे सत्यपि वेदग्रहणं किमर्थम् ?	११३
निष्कर्षरूपा निर्मलोक्तयः ।	११३
मूलवेदानां शाखात्वमस्ति न वा ?	११४
मूलसंहितैव मुख्या शाखा ।	११५
वेदार्थपारिजातस्य संक्षेपेण त्रुटिपरिगणनम् ।	११६
ब्रह्मविद्या-विषयः	**११९–१४३**
वेदेषु सर्वा विद्याः सन्ति न वा ?	१२०
रज्ज्वहिदृष्टान्तवर्णनम् ।	१२१
शशकशृङ्गयोरभावे भेदः ।	१२२
'तमीशानम्' इत्युल्लेखपूर्वकं व्याख्यानं शृङ्खलाबद्धम् ।	१२४
छन्दःशास्त्रज्ञानाभावपरिणामः ।	१२५
मन्त्रार्थविपरीतविनियोगानामप्रमाणत्वम् ।	१२६
मन्त्रार्थदृष्ट्या अर्थकामनानुरूपो विनियोग एवोचितः ।	१२८
'तमीशानम्' इत्यत्र ब्रह्मविद्याया मूलम्, न बहुदेवतात्वम् ।	१२९
'ईशान'पदस्य वास्तविकोऽर्थः ।	१३०
अग्निवाय्विन्द्रपूषादिनामानि क्व जडपदार्थानां क्व चेश्वरस्य वाचकानि ?	१३२
'परीत्य भूतानि' इतिमन्त्रो ब्रह्मविद्यामूलकः ।	१३३
किंप्रयोजना सृष्टिः परमात्मना समुत्पादिता ?	१३५
ईश्वरस्योत्पादकगुणस्य क आधारः ?	१३६
'न द्वितीयो न तृतीयः' इत्यत्राध्यात्मतत्त्वशिक्षा ।	१३८
नन्वेकपदेनैकत्वविधानसम्भवः, कथं द्वितीयादिना निषेधः ?	१३९
एक-द्वितीय-तृतीयाभिहितोऽर्थः ।	१४०
'पृष्ठेऽविचाकशत्' इत्यस्यापपाठत्वम् ।	१४१
रज्ज्वां सर्पभ्रान्तौ शुक्तौ रजतभ्रान्तौ वा सत्ताया अनिवार्यत्वम् ।	१४२
वेदोक्तधर्म-विषयः	**१४४–२०१**
सायणमहीधरयोस्तात्कालिकी परिस्थितिः ।	१४५
वेदानामीश्वरीयज्ञानत्वं स्वतःप्रमाणत्वं च महर्षेरभिमतम् ।	१४६
पिपीलिकारन्ध्रान्वेषणप्रवृत्तिवत् पारिजातकृद्बुद्धिव्यवहारः ।	१४७
मनुष्यमात्रस्य वेदश्रवणाधिकारे प्रमाणानि ।	१४८

विषयः	पृष्ठम्
'संवदध्वम्' शब्दस्यार्थः ।	१५०
'सङ्गच्छध्वम्' इत्यत्रात्मनेपदविधानस्यौचित्यम् ।	१५२
आद्योपदेशवेदेन सर्वजनकल्याणमार्गप्रशंसनम् ।	१५३
'समिति' शब्दस्य यौगिकार्थः ।	१५५
शुभगुणानामिच्छा एव कामशब्दवाच्या ।	१५८
किमर्थाभिधायी 'विचिकित्सा'शब्दः ?	१५९
'दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्' इत्यत्र श्रद्धामाधातुमीश्वराज्ञा ।	१६०
पारिजातकृता गोमांसादिप्रतिपादिकायाः सरणेरनुसरणम् ।	१६२
'रूप'शब्दनिष्पत्तिः ।	१६३
सृष्ट्यादौ ऋषीणां धर्माङ्गेषु स्वाभाविकप्रवृत्तौ सत्यामपि वेदे शास्त्र-विधिर्निहितः ।	१६४
अप्राप्तवस्तुनः स्वार्थं परार्थं वा प्रति प्रार्थनैवेच्छा ।	१६५
ईश्वरेण जीवकृतप्रयत्नापेक्षयैव फलदानम् ।	१६७
ज्ञानचिकीर्षयोर्हेतुहेतुमद्भावे प्रमाणम् ।	१६८
धर्मजिज्ञासयैव सत्यस्वरूपज्ञानम् ।	१६९
'दीक्षा'शब्दनिष्पत्तिः ।	१७०
अपूज्यपूजनात् पूज्यपूजाभावाच्च दुर्भिक्षमरणभयाः ।	१७१
'स्वधा'शब्दस्य दयानन्दसम्मता व्युत्पत्तिलभ्या अर्थाः ।	१७३
'ओज'शब्दस्य व्युत्पत्तिः, तस्य चार्थाः ।	१७७
'तेज'शब्दस्यार्थाः ।	१७८
वेदसमुद्रस्य गाम्भीर्यं महर्षिणैव वेद्यम् ।	१७९
प्राणापानाभ्यां बुद्धिशुद्धौ शरीरबले च योगशास्त्रप्रमाणम् ।	१८१
ब्राह्मणग्रन्थानां वेदानुकूलतया प्रामाण्यम् ।	१८३
'ऋत'शब्दस्य सत्यज्ञानमित्यर्थः ।	१८४
इन्द्रियाणामधर्माचरणाद् वारणं कृत्वा धर्माचरणे प्रवर्तनं दमः ।	१८६
उक्तार्थानामन्यवचनैर्गतार्थत्वेऽपि तत्तच्छास्त्रे तत्प्रकरणस्येष्टप्रतिपत्तये तत्तद्वचनमावश्यकम् ।	१८७
श्राद्धादिकर्मभिः देवर्षिपितॄणां सत्कारे प्रमाणानि ।	१८८
श्रद्धाऽश्रद्धाशब्दयोः प्रीत्यप्रीत्यर्थकत्वे मानम् ।	१९०
तामसकोटिगतदानविषये गीता-प्रमाणम् ।	१९१
वेदानुकूलप्रमाणान्येव ब्राह्मणेभ्य ऋषिणा प्रस्तुतानि ।	१९२
कमलोत्पन्नो ब्रह्मा किं परमात्मनो भिन्नः ?	१९४

https://t.me/DharmaSamrat

विषयः	पृष्ठम्
किं धर्मोऽप्यसत्यौ भवितुं शक्नोति ?	१९५
सत्यस्य धर्मत्वे प्रमाणानि ।	१९६
'समाहितो भूत्वाऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्' इति श्रुतेरर्थः ।	१९८
जीवात्मनोऽल्पज्ञत्वाद् आत्मसाक्षात्काराय प्रयत्नविधानमावश्यकम् ।	१९९
'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इत्यत्र कुमारिलभट्टस्य वचनम् ।	१९९
सृष्टिविद्या-विषयः	**२०२–२९२**
'नासदासीत्' इति मन्त्रस्याक्षेपे समाधानम् ।	२०२
'सुखमस्वाप्सम्' इत्यनुभूतेर्न सुषुप्तौ सर्वव्यवहाराभावः ।	२०३
समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु परस्परं किमन्तरम् ?	२०५
स्थूलशरीराभिमानत्याग एव ब्रह्मसम्बन्धोऽवाप्यः ।	२०६
अद्यतनगुप्तचरसदृशं पारिजातकृदाचरणम् ।	२०७
सत्तासम्बन्धः सतोऽसतो वा ?	२०८
सामर्थ्यशक्तिस्वधामायादयः शब्दा मूलोपादानद्योतकाः ।	२१०
'मन्त्रार्थनिश्चयाभावस्तत्रावग्रहः' इत्यनुरुध्य 'कुहकस्य' पदस्यार्थः ।	२११
पदपाठातिक्रमणं युक्तमाहोस्विद् दोषावहम् ?	२१२
तुषारार्थे 'कुहक'शब्दस्य व्युत्पत्तिः ।	२१३
ब्रह्मण उपादानत्वनिरासः ।	२१४
जीवानां नित्यसत्तायां प्रमाणम् ।	२१६
परमात्मनोऽमूर्त्तत्वम् ।	२१७
ब्रह्मण उपादानत्वे सर्वेषां दुःखाभावापत्तिः ।	२१८
जीवस्योत्पत्तिविनाशरहितत्वे शाङ्करभाष्यम् ।	२१९
एकस्यैव ब्रह्मणो निमित्तोपादानकारणत्वमयुक्तम् ।	२२०
प्रकृतेरुपादानत्वे 'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः' इत्यादिवाक्यानां कथं सङ्गतिः ?	२२३
'हिरण्यगर्भः' इत्यत्राक्षेपसमाधानम् ।	२२५
नैकस्य जीवस्य सहस्रशिरसां सम्भवः ।	२२७
'दशाङ्गुल'पदस्यार्थः ।	२२८
स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थमध्याहारो भूषणं न हि दूषणम् ।	२३१
सांख्यवेदान्तयोः सिद्धान्ताभेदो भिन्नविषयत्वात् ।	२३२
रज्जुसर्पदृष्टान्तस्यानुपयुक्तता ।	२३३
त्रैतवादस्वीकार एव सर्वसमाधानोपपत्तिः ।	२३५
विवर्त्तस्य सत्तायां त्रयाणां वस्तूनामनिवार्यता ।	२३६
वेदान्तसिद्धान्तविरुद्धो विवर्त्तवादः ।	२३७

विषयः	पृष्ठम्
'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' श्लोकस्य वास्तविकोऽर्थः ।	२३८
नहि ब्रह्म मायाया उपादानकारणम् ।	२३९
प्रकृतेर्जडत्वाज्जीवानां चाल्पज्ञत्वाद् ब्रह्मणो महत्त्वमङ्गीकरणीयम् ।	२४१
'दिश अतिसर्जने'धातोर्देशशब्दस्य निष्पत्तिः ।	२४५
वेदस्य काव्यत्वम्, श्लेषाद्यलङ्कारव्यञ्जनादिशक्तिसमभिव्यञ्जनात् ।	२४६
प्रकरणभेदादेकस्य शब्दस्यानेकार्थाः ।	२४७
ईश्वरस्य महिमा वास्तवो मिथ्या वा ?	२४८
यौगिकार्थकरणे भूयोविद्यः प्रशस्यः ।	२४९
अनेकार्थव्यञ्जकत्वे सति पुनः पुनरुच्चारणम् ।	२५०
श्लेषालङ्कारनिदर्शनम् ।	२५१
परमात्मनो ब्रह्माण्डमालङ्कारिकशरीररूपम् ।	२५३
'तस्माद् यज्ञात्' इत्यस्याध्यात्मपक्षे वर्णनम् ।	२५५
निराकारस्याभिषेचनादिनिषेधे शाङ्करप्रमाणम् ।	२५९
'ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते' इत्यत्र ब्रह्मणो हेतुत्वेन वर्णनम् ।	२६०
'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इत्यत्र लाक्षणिकार्थाश्रयणम् ।	२६१
शुभगुणकर्मादिभिर्ब्राह्मणादिव्यवस्था मनुसम्मता ।	२६२
'नाभि'शब्दस्य व्युत्पत्तिः ।	२६३
वसन्तादिशब्दैः सत्त्वादिगुणग्रहणम् ।	२६५
'सप्तास्यासन्' इत्यत्र 'अस्य' पदस्यार्थः ।	२६७
वेदे सप्तपरिधीनां वैज्ञानिकरहस्यम् ।	२६९
'अग्नि'शब्देन परमेश्वरार्थग्रहणम् ।	२७०
'रस'शब्दस्यार्थः ।	२७२
चेतनाचेतनयोर्वास्तविकसम्बन्धे मनोः प्रमाणम् ।	२७४
परमेश्वरसामीप्यात् प्रकृतौ गतिवर्णनम् ।	२७५
प्रजाया अभावे कस्य पतिः प्रजापतिः ?	२७७
'योनि'शब्दस्य कारणेऽर्थे वेदान्तप्रमाणम् ।	२७८
'धीर'शब्दस्य यौगिकार्थः ।	२७९
रामकृष्णादिरूपेण ब्रह्मणो जायमानत्वासम्भवः ।	२८१
ब्रह्मणि परस्परविरोधिगुणद्वयस्याभावः ।	२८२
'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिवाक्यानां तात्पर्यानवबोधादेव भ्रान्तिः ।	२८४
'इवादि'शब्दप्रयोगे उपमालङ्कारग्रहणम् ।	२८६
जगत्प्रकृत्योः कार्यकारणत्वम् ।	२८८

https://t.me/DharmaSastra

विषयः	पृष्ठम्
'देव-पितृ-मनुष्य'शब्दानामर्थाः ।	२८९
पारिजातकृतो वितण्डा-हेत्वाभासाश्रयणम् ।	२९१
पृथिव्यादिलोकभ्रमण-विषयः	**२९३–३३३**
पृथिवीवाचको 'गोत्रा'शब्दः ।	२९३
व्रीहिग्रहणेन तण्डुलवद् गोग्रहणेन पृथिवीग्रहणम् ।	२९५
गोशब्दस्य लिङ्गनिर्धारणम् ।	२९६
पृश्निशब्दोऽन्तरिक्षाभिधायी ।	२९८
'आयं गौः०' मन्त्रे पृथिव्या भ्रमणप्रतिपादनम् ।	३०२
'निष्कृत'शब्दविषयकमाक्षेपम् ।	३०९
प्रकरणमनुरुध्य 'गो'पदस्यार्थः ।	३१०
घटोक्तिवर्णनम् ।	३११
'प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति' इति विभक्तेर्विपरिणामे न काचिद् विप्रतिपत्तिः ।	३१२
वेदेषु सर्वविद्याविषये प्रमाणानि ।	३१४
'त्वं सोम०' इतिमन्त्रविषयक आक्षेपः ।	३१६
सायणकृतभाष्यस्य मन्त्रार्थविरुद्धता ।	३१९
गोशब्देन पृथिव्याः कम्पनप्रतिपादनम् ।	३२१
वराहमिहिरोद्भावितदोषपर्यालोचनम् ।	३२६
'निर्ऋति'शब्दो न पृथिव्या गत्यभावस्य साधकः ।	३२८
पृथिव्या भ्रमणविषये विशेषः ।	३३१
आकर्षणानुकर्षण-विषयः	**३३४–३५१**
'हरि'शब्दस्य यौगिकार्थः ।	३३५
सूर्यगताकर्षणं काल्पनिकं नैवाऽपितु वास्तविकम् ।	३३९
'वैश्वानर'पदविवेचनम् ।	३४०
'आकृष्णेन रजसा' इत्यत्र आङुपसर्गस्य कृष्णशब्देन सह सम्बन्धः ।	३४३
एकद्रव्यमनेकगुणाश्रयः ।	३४५
अनधिगतगन्तृत्वमतस्यासामञ्जस्यम् ।	३४६
विलुप्तार्थशब्दानामर्थप्रतिपादनाय निरुक्तम् ।	३४७
प्रकाश्यप्रकाशक-विषयः	**३५२–३६१**
'सत्येनोत्तभिता भूमिः' इति मन्त्रव्याख्यानविषयक आक्षेपः ।	३५२
कालादित्ययोः सूक्ष्मो भेदः ।	३५५

विषयः	पृष्ठम्
किरणानां बलवत्त्वम् ।	३५७
ब्रह्मानन्दरसानुभूतिरेव वास्तविकः सोमः ।	३५८
स्वयं प्रकाशमानसूर्यस्य प्रकाशकत्त्वम् ।	३५९
गणितविद्या-विषयः	**३६२–४००**
आर्याणां कलाविज्ञानादिज्ञानं गणितज्ञानं च ।	३६२
'एका च मे तिस्रश्च मे' इतिमन्त्रविषयक आक्षेपः समाधानं च ।	३६३
सङ्कलनार्थे चकारनिदर्शनम् ।	३६८
संख्यानां गणितविद्याविषयकानि चित्राणि ।	३७०
'एका च' इति मन्त्रेण समीकरणाविष्कारः ।	३७४
गवां दुग्धस्य च समविभाजनचित्रम् ।	३७७
मन्त्राधारे गणितोहनम् ।	३८३
गणितविद्याया मूलं वेदे निहितम् ।	३८५
''अग्न' 'आयाहि'' इत्यादिस्वरसंकेताङ्कैर्बीजगणितसिद्धिः ।	३८७
एकस्य शब्दस्य यथाप्रकरणमनेकार्थोहनम् ।	३८९
पृथिव्याः परोऽन्तो हि द्विधा ।	३९१
'काऽऽसीत् प्रमा' इति मन्त्रे प्रश्नोत्तराणि ।	३९२
गणितविद्याया आद्याविष्कारका अस्माकं पूर्वजाः ।	३९३
उपनिषद्गणिता गणितप्रहेलिका ।	३९४
डा० नरेन्द्रपुरीमहोदयस्य दुरूहगणनाप्रदर्शनम् ।	३९७
वैदिकगणितविषये श्रीभारतीकृष्णतीर्थविरचितानि सूत्राणि ।	३९८
डा० एस० के० कपूरमहोदयस्य दुरूहप्रमेयसमाधानम् ।	३९९
ईश्वरस्तुति-प्रार्थना-याचना-समर्पण-विषयः	**४०१–४३०**
प्रार्थनायाचनयोर्भेदत्वम् ।	४०१
प्रार्थ्यमानपराक्रमस्थितिर्बुद्धौ शरीरे वा ।	४०५
धनवाचको मघशब्दः ।	४०७
विभिन्नार्थवाचकः 'सु'शब्दः ।	४०८
'इषे त्वोर्जे' इत्यत्र कथं सम्बोधनपदाध्याहारः ?	४१२
'पिन्वस्व' इत्यत्रान्तर्भावितण्यर्थः ।	४१४
वेदार्थको ब्रह्मशब्दः ।	४१५
वर्णव्यवस्थायां महाभारतप्रमाणम् ।	४१७
मानवसमाजोपयोगिनीं प्रक्रियामनुसृत्य महर्षिभाष्यम् ।	४१८

https://t.me/DharmaSansar

विषयः	पृष्ठम्
सुराज्यं सुनियमाः सुरत्नादीन्यपि नृम्णपदाभिधेयानि ।	४२०
मनस्संयुक्तेन्द्रियेणैव विषयावबोधः ।	४२१
गन्धाक्षतपुष्पसमर्पणं नहि सर्वस्वसमर्पणम् ।	४२५
धर्मादनपेतं धर्म्यं तदेव न्याय्यम् ।	४२७
'रथन्तर'शब्दस्य सामातिरिक्तार्थे प्रमाणम् ।	४२८
मोक्षप्राप्तिकामस्य निष्कामत्वम् ।	४२९
उपासना-विषयः	**४३१–५१६**
'युञ्जते मन उत' इत्यत्राक्षेपसमाधानम् ।	४३१
मेधाविवाचको विप्रशब्दः ।	४३२
धीवृत्तयो बुद्धिवृत्तयः ।	४३३
'वयुनाविद्' इतिशब्दार्थ-विवेचनम् ।	४३४
'इत्'शब्दस्य न केवलं प्रसिद्धार्थग्रहणम् ।	४३५
मन्त्रार्थं सम्यगवबोधयितुं पदवाक्यादिप्रयोगमहत्त्वम् ।	४३९
नहि कर्मनिर्देशरहितं वाक्यं निरर्थकम् ।	४४१
वेदवक्तृत्व उपदेशकत्वे प्रमाणम् ।	४४५
स्वामिदयानन्देन वेदभाष्यकरणे नैरुक्तरीतिरेव स्वीकृता ।	४४६
'सीरा युञ्जन्ति' इतिमन्त्रस्य योगपरकोऽर्थः ।	४४७
श्लेषात्मकार्थग्रहणे कविवरबिहारीलालस्य प्रमाणम् ।	४४९
नाड्यर्थकः 'सीरा'शब्दः ।	४५०
प्रसिद्धार्थग्रहणे नार्थसङ्गतिः ।	४५१
प्राणादिवाहकशरीरस्थनाडीनां योगसिद्धिसहायकत्वम् ।	४५४
महर्षेः पाठस्योद्धरणे करपात्रिणश्छलालम्बनम् ।	४५६
धात्वर्थानुसारी नक्षत्रशब्दस्यार्थः ।	४५८
'युञ्जन्ति ब्रध्नम्' इत्यत्राक्षेपसमाधानम् ।	४६१
प्राणायामरीत्या प्राणस्य परमेश्वरे योजना ।	४६५
नियतकालावधि यावज्जीवस्य मोक्षस्थितिः ।	४६६
योगस्य स्वरूपसाधनप्रकारफलचतुष्टयम् ।	४६८
परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीस्वरूपा वाक् ।	४७०
निरुद्धायाश्चित्तवृत्तेः परमेश्वरस्य स्वरूपेऽवस्थानम् ।	४७१
पण्डितमीमांसकोपरि करपात्रिण आक्षेपः ।	४७३
द्रष्टृपदेन परमात्मन एव ग्रहणम् ।	४७५
व्यासभाष्यान्तर्हितभावस्य महर्षिणोहनम् ।	४७६

विषयः	पृष्ठम्
'आदिविद्वान्' शब्देन परमात्मन 'आसुरये' शब्देन च जीवात्मनो ग्रहणम् ।	४८०
अनन्तो हि भगवान्, न कश्चिन्नागविशेषः ।	४८१
प्राणायामविषयकभ्रान्तेर्निराकरणम् ।	४८२
'सत्यविवेकस्य' शब्दस्य सन्धिच्छेदे करपात्रिणो भ्रमः ।	४८६
प्रत्याहारलक्षणविषयक आक्षेपः ।	४८९
चित्तस्य परमेश्वरस्वरूपावस्थितिकाल इन्द्रियाणां बाह्यविषयासंसर्गत्वम् ।	४९१
नहि सावयवपदार्थेषु प्रत्ययैकतानतास्थितिः ।	४९३
समाधौ ध्येयस्य निर्विकल्पत्वात् परमेश्वरस्यानिर्भासं स्वरूपमेव ध्येयम् ।	४९५
संयमस्य उपासनाया नवमाङ्गत्वकथने हेतुः ।	४९७
'नाविरतो दुश्चरितात्' इत्यस्याभिप्रायः ।	४९९
'ये तपःश्रद्धे उपवसन्ति' इत्यत्रारण्यशब्दस्य हृदयोऽर्थो व्यङ्ग्यार्थप्रधानत्वात् ।	५००
हृदयः 'पुर्'शब्दवाच्यः ।	५०१
सगुणनिर्गुणोपासनाविधिरहस्यम् ।	५०५
पौराणिकानामीश्वरावतारग्रहणे पञ्च हेतवः ।	५०७
कर्मफलभोगाय जीवस्य त्रिविधयोनिषु गमनम् ।	५०८
जगत्कर्त्तुरीश्वरस्य शरीरित्वे उद्भावितपक्षपरीक्षा ।	५११
ब्रह्मणो मूर्त्तामूर्त्तभेदेन रूपद्वैविध्यसिद्धिरसम्भवः ।	५१३
मुक्ति-विषयः	**५१७-५९७**
मुक्तेः स्वरूपम् ।	५१८
जीवस्य मुक्तिः सावधिका, सादेः सान्तत्वात् ।	५१९
मुक्तेरनन्तत्वे दोषः ।	५२१
अविद्यैवास्मितादिक्लेशानां जननी ।	५२४
अनित्यादिषु नित्यादिख्यातिरविद्या ।	५२७
क्रियाक्रियावतोः सम्बन्धस्य नित्यत्वम् ।	५३०
गङ्गादिजले मनोबुद्ध्यादीनां पावकत्वस्याभावः, गात्रशोधकत्वात् ।	५३२
अविद्याऽस्मितयोर्भेदः ।	५३४
विशोकासिद्धितो वैराग्यम् ।	५३९
नवीनवेदान्तिकथनस्यासत्यता ।	५४०
स्वकारणलयरूपः कार्यनाशः ।	५४१
अज्ञानस्य सादित्वेऽनवस्थादोषप्रसक्तिः ।	५४२
गुणानामनेकत्वे न गुणिनोऽनेकत्वम् ।	५४३
दुःखात्यन्तनिवृत्तेरनन्तरं परमानन्दप्राप्तेरन्यसाधनस्यानावश्यकत्वम् ।	५४६

https://t.me/DharmaSanskrit

विषयः	पृष्ठम्
सांख्ययोगवेदान्तरीत्या पुरुषस्य नित्यमुक्तत्वकथनमसत्यम् ।	५४८
मोक्षस्य परान्तकालावधिरेव शास्त्रसम्मतः ।	५५१
प्रभवाप्ययशब्दयोर्यौगिकोऽर्थः ।	५५५
ब्रह्मणः पृथगेव जीवस्य सत्ता ।	५५६
सख्यशब्दस्य व्याकरणरीत्याऽर्थद्वैविध्यम् ।	५६०
प्राणानामाङ्गिरसत्वम् ।	५६१
'स नो बन्धुः' इत्यत्र बन्धुशब्दस्यार्थः ।	५६३
सत्यार्थप्रकाशविषयक आक्षेपः ।	५६४
स्वभावतो जीवस्य बद्धता मुक्तताया वाऽभावः ।	५६६
जीवात्माऽणुर्विभुर्वेति विचारः ।	५६७
जीवात्मनामनेकत्वम् ।	५६९
आत्मनश्चितिः स्वाभाविकी ।	५७१
प्रदीपप्रकाशवदात्मनश्चेतनत्वप्रसारः ।	५७४
कर्तृत्वव्यपदेशेन जीवस्य स्वतन्त्रकर्तृत्वम् ।	५७५
जीवानां मुक्तौ संसारोच्छेदप्रसङ्गाभावः ।	५७६
अविद्यानाशे आत्मा वा वृत्तिर्वा हेतुः ?	५७७
श्लोकैर्मुक्तिविषयस्य संक्षेपः ।	५७९
मोक्षानन्तरं पुनर्जन्मनि प्रमाणम् ।	५८६
'कस्य नूनम्' इतिमन्त्रस्यार्थे करपात्रिणोऽज्ञानम् ।	५८७
मोक्षकालादावृत्तिरनिवार्या जीवस्याल्पज्ञस्वभावत्वात् ।	५८९
अग्निसान्निध्यतस्तप्तायोगोलकवज्जीवस्य तत्त्वज्ञत्वम् ।	५९१
मोक्षविषयकप्रश्नसमाधानम् ।	५९२
मुक्तेरधिगमे ज्ञानकर्मणोः प्रतिपादनम् ।	५९३
मोक्षे त्रिविधा निष्ठा ।	५९४
नव्यवेदान्तिनः कथनं कल्पनाजन्यम् ।	५९५
मोक्षावधौ कथमानन्दानुभूतिः ?	५९६
नौविमानादिविद्या-विषयः	**५९८–६२३**
तुग्रनामको न कश्चिदैतिहासिको राजर्षिः ।	६००
'अश्विनौ' शब्दस्यार्थः ।	६०२
अनुक्तस्याप्यूहनं प्रत्युत्पन्नमतीनामेव ।	६०३
पण्डितप्रवरशिवशङ्करकृतो मन्त्राणामाध्यात्मिकार्थः ।	६०५
वेदेषु विज्ञानविषयमवलम्ब्यानेकग्रन्थानामस्तित्वम् ।	६०८

विषयः	पृष्ठम्
समराङ्गणसूत्रधारे विमानयन्त्रादिविषयवर्णनम् ।	६११
पञ्चाननपालितशृगालशावकवत् करपात्रिणोऽवस्था ।	६१२
वायुयाननिर्माणात् प्रागेव महर्षिणा वेदे तन्निदर्शनम् ।	६१५
विमानविद्याविषये इतालवीवैज्ञानिकस्य कथनम् ।	६१५
'कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा' इतिमन्त्रस्याक्षेपे धात्वर्थस्यानादरः ।	६१८
वेदेषु पदार्थविद्याया अदर्शनं कुण्ठितधियां दौर्भाग्यम् ।	६२०
सायणमहीधरादीनां यज्ञपरकार्थविधाने पं० गोपालदत्तशास्त्रिणो वचनम्	६२१
तारविद्याया मूलम्	**६२४–६२९**
'युवं पेदवे' इतिमन्त्रे 'अश्विनौ' इति 'तरुतारं' शब्दस्य विशेषणम् ।	६२५
पुरातनग्रन्थेषु दिव्यदृष्टेर्वर्णनम् ।	६२६
सायणेनापि स्वभाष्ये योगिकार्थोऽङ्गीकृतः ।	६२७
वैद्यकशास्त्रमूलोद्देशः	**६३०–६३३**
'सुमित्रिया न आपः' इत्यत्र सायण-दयानन्दभाष्यतुलना ।	६३०
वैद्यकशास्त्रमूलात्मका वेदेषु बहवो मन्त्राः ।	६३२
पुनर्जन्म-विषयः	**६३४–६४८**
वेदमन्त्राक्षरमूलकप्रार्थनस्य न नैरर्थक्यापत्तिः ।	६३४
परोक्षार्थप्रतिपादकं लिङ्गं न्यायशास्त्रानुमतम् ।	६३५
कर्मणामनिवार्यत्वे न सत्कर्मप्रार्थनाया नैरर्थक्यम् ।	६३६
'पुनर्मैतु' इतिमन्त्रः पुनर्जन्मबोधकः ।	६३७
शयनमात्रेण नेन्द्रियाणामभावाऽऽपत्तिः ।	६३८
द्विविधा देवाश्चेतना अचेतनाश्च ।	६४०
विदुषां मार्गद्वयम् – देवयानं पितृयानं च ।	६४१
पुनर्जन्मसाधकं निरुक्तस्य प्रमाणम् ।	६४३
आजरञ्जरीभाव एव प्रेत्यभावः ।	६४५
निद्रासम्भूतिगवेषकवैज्ञानिकानामाश्चर्यम् ।	६४६
स्वप्नविषये स्वानुभूतिवर्णनम् ।	६४७
विवाह-विषयः	**६४९-६५९**
'गृभ्णामि ते' इति मन्त्रस्य भावगाम्भीर्यम् ।	६४९
सन्तानोत्पत्तये धर्मकार्यसम्पादनाय च दम्पत्योः परस्परस्वीकृतिः ।	६५०
भग-अर्यमन्-सवितृशब्दानां यौगिकार्थः ।	६५१
एकस्यैव पत्युरेकस्या एव पत्न्याश्च विधानम् ।	६५३

https://t.me/Dharmadasamrat

विषयः	पृष्ठम्
एकपत्नीव्रतानुकरणे रामस्यादर्शः ।	६५७
विवाहसमये वधूवचनेऽप्येकवचनम् ।	६५८
नियोग-विषयः	६६०–७१२
'कुह स्विद्' इति मन्त्रे 'विधवेव देवरम्' इत्यंशस्य विवेचनम् ।	६६०
शिवदत्तशास्त्रिमते विधवानां चतस्रो गतयः ।	६६२
कुमारेण सह विधवाया नियोगेऽहेतुत्वम् ।	६६३
नियोगे मनुस्मृतिप्रमाणम् ।	६६४
'अश्विनौ' इतिपदेन स्त्रीपुरुषयोर्ग्रहणम् ।	६६६
वेदे गर्भधारणार्थमेव समागमस्याज्ञा ।	६६८
नियोगविषये उदाहरणानि ।	६६९
पुराणकथानकस्यैकस्य निदर्शनम् ।	६७२
व्यभिचारवेश्यागमनादिदोषवारणार्थमेव नियोगाभिधानम् ।	६७३
अवैदिक्याः सतीप्रथायाः खण्डनम् ।	६७४
वीर्याधानं विना न प्रजोत्पत्तिः ।	६७७
'उदीर्ष्व नार्यभि' इतिमन्त्रविषयक आक्षेपः ।	६७९
'दिधिषोः' पदेन नियोगप्रतिपत्तिः ।	६८२
पाराशरस्मृतेरुद्धरणम् ।	६८५
शौनकाचार्यमतेऽपि 'उदीर्ष्व' इतिमन्त्रस्य विनियोगो नियोग एव ।	६८७
आपद्धर्मरूपे नियोगे प्रतिबन्धाः ।	६८९
करपात्रिमतसनातनधर्मस्य नग्नं चित्रम् ।	६९१
महर्षेर्व्याख्याने शङ्कासमाधानम् ।	६९५
स्त्रीपुरुषयोर्नियोगसमयविधानम् ।	६९८
नियोगप्रतिपादकानि कतिपयप्रमाणानि ।	७०१
अथर्ववेदे आपद्धर्मवर्णनम् ।	७०३
'पुनर्दाय ब्रह्मजायां' इत्यत्र जायाशब्दः पत्नीवाचकः ।	७०४
जीवत्येव स्वभार्याप्रदानविषये कथानकम् ।	७०६
नियोगविषयस्य चर्चा स्वामिना कथं कृता ?	७०९
उष्ट्रलष्टिकान्यायवर्णनम् ।	७१०
धर्मं जिज्ञासमानानां श्रुतेः प्रमाणम् ।	७११

शब्द-संकेत-सूची

अ०—अध्यायः, अष्टाध्यायी
अथर्व०—अथर्ववेदः । अनु०—अनुच्छेदः
अनु० प०—अनुशासन-पर्व
अष्टा०—अष्टाध्यायी
आप० श्रौ०—आपस्तम्बश्रौतसूत्रम्
आपस्त० धर्मसू०—आपस्तम्बधर्मसूत्रम्
आश्वलायन०—आश्वलायनगृह्यसूत्रम्
उ०—उत्तरम् । उणा०—उणादिकोषः
उ० प०—उत्तर-पक्षः । ऋ०—ऋग्वेदः
ऋ० भा० भू०—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
ऋषिः, महर्षिः—महर्षिदयानन्दः
ऐ० आ०—ऐतरेयारण्यकम् । ऐ० ब्रा०—ऐतरेयब्राह्मणम्
काशि०—काशिका । कौ० सू०—कौशिकगृह्यसूत्रम्
ख०—खण्डः । गी०—गीता
गो० ब्रा०—गोपथब्राह्मणम्
छां० उ०—छान्दोग्योपनिषद्
जै० सू०—जैमिनीयसूत्रम्
तै० ब्रा०—तैत्तिरीयब्राह्मणम्
नि०, निरु०—निरुक्तम् । न्या०—न्यायदर्शनम्
न्यायसि० मुक्ता०—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
पं०—पङ्क्तिः । पद्मपु०—पद्मपुराणम्
पार० सू०—पारस्करगृह्यसूत्रम्
पू० प०—पूर्व-पक्षः
पृ०—पृष्ठम् । प्र०—प्रश्नः
प्रशस्तपा० भा०—प्रशस्तपादभाष्यम्
ब्र० सू०—ब्रह्मसूत्रम् । ब्रा०—ब्राह्मणम्
बृहदा०—बृहदारण्यकोपनिषद्
भवि० पु०—भविष्यपुराणम्
भा० पु०—भागवतपुराणम्

https://t.me/DharmaSanrat

भा० भू०—ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका
भूमिका— ,, ,, ,,
मं०—मण्डलम्, मन्त्रः
म०—मनुः
मनु०—मनुस्मृतिः
म० भा०—महाभारतम्, महाभाष्यम्
महाभा०—महाभाष्यम्
माण्डू०—माण्डूक्योपनिषद्
मी०—मीमांसा
मु० उ०—मुण्डकोपनिषद्
यजुः०—यजुर्वेदः
यो० द०—योगदर्शनम्
वा० भा०—वात्स्यायनभाष्यम्
वा० सं०—वाजसनेयसंहिता
वे०—वेदान्तदर्शनम्
वे० क०—वेदार्थ-कल्पद्रुमः
वे० द०—वेदान्तदर्शनम्
वे० पा०—वेदार्थ-पारिजातः
वै०, वैशे० द०—वैशेषिकदर्शनम्
व्या० भा०—व्यासभाष्यम्
शत०—शतपथब्राह्मणम्
श० प०— ,, ,,
शां० प०—शान्ति-पर्व
शां० भा०—शाङ्करभाष्यम्
समा०—समाधानम्
समु०—समुल्लासः
सां० द०—सांख्यदर्शनम्
सू०—सूक्तम्, सूत्रम्

https://t.me/DharmaSamrat

सत्यजित्

अथ वेद-संज्ञा-विचारः

"यत्-पौराणिक-कौरवाखिलचमूसंरक्षको नेतृताम्,
कुर्वाणः करपात्र आर्यसुभटैर्योद्धुं समुज्जृम्भते।
तज्जानीहि विशुद्ध-पाण्डव-सुतीक्ष्णाऽक्षीणतर्कैर्नवैः,
नाराचैर्निचितः पराजयधियः शय्यासुखं लप्स्यते ॥"

अस्त्विह वेद-संज्ञा-विचारे ऋषिणा कात्यायनसम्मत-कल्पितस्य "मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इत्यस्य अनिष्टत्वप्रतिपादनधिया "कोऽयं वेदो नाम ?" इति प्रश्नोद्भावनपुरःसरं "मन्त्रभागसंहितेत्याह" इति समाहितम्। तत्रायं लेखको (पृ० ६१०, पं० १५) मन्त्रभागशब्देनैव ब्राह्मणभागस्य वेदत्वसिद्धत्वादिति वदन् स्वामिनोऽनभीष्टमर्थं कल्पयते यदेतेन ब्राह्मणानां वेदत्वं सिद्ध्यति।

पृ० ६६१—ननु ऋषिदयानन्देन ब्राह्मणभागस्य वेदत्वनिषेधप्रयासः कृतः, अयञ्च प्रयासोऽपि तस्य वेदत्वे प्रमाणम्। "प्राप्तौ सत्यामेव निषेधः" इति नियमात्, अन्यथा मन्त्रादिस्मृतीनामपि वेदत्व-निषेधः कर्तव्य आसीदिति चेन्न, एतत्तर्केण तु

हे भीष्मपितामह करपात्री जी ! आप पौराणिक-कौरवों की सम्पूर्ण सेना के संरक्षक बनकर नेतृत्व करते हुए आर्य-सुभटों के साथ युद्ध करने के लिए जमुहाई ले रहे हैं। निश्चय जानिये कि विशुद्धानन्दरूपी अर्जुन के सुतीक्ष्ण-अक्षीण नये तर्क-बाणों से विद्ध होकर पराजय-बुद्धिरूपी शय्या के सुख को अवश्य प्राप्त करोगे।

अस्तु, यहां वेदसंज्ञा-विचार में ऋषि दयानन्द ने कात्यायनसम्मत 'मन्त्र और ब्राह्मण की वेदसंज्ञा है' इस वचन की मान्यता अनभीष्ट होने के कारण से 'वेदनामक कौन ग्रन्थ हैं ?' इस प्रश्न के उद्भावनपूर्वक 'मन्त्रभाग-संहिता ही वेद हैं', यह समाधान दिया है। उस पर यह पारिजात-लेखक कहता है कि 'मन्त्रभाग' शब्द के द्वारा ही 'ब्राह्मणभाग का भी वेदत्व सिद्ध होता है' इस प्रकार स्वामीजी के अनभीष्ट अर्थ की कल्पना कर रहा है।

पृ० ६६१ (पूर्वपक्ष)—ऋषि दयानन्द ने 'ब्राह्मणभाग' के वेदत्वनिषेध का प्रयास किया है, यह प्रयास ही इसके वेदत्वसिद्धि में प्रमाण है, क्योंकि ब्राह्मण को वेदत्व प्राप्त था, तभी तो यह प्रयास किया गया। नियम है कि—'प्राप्ति होने पर

स्वयमेव लेखकः स्वच्छुरिकयैव स्वनासाच्छेदनावसरं प्रस्तौति, यतो हि यदि ऋषिः प्राप्तवेदत्वनिषेधमकरोत् तदायमपि ब्राह्मणभागशब्देनाऽप्राप्तं वेदत्वं साधयति। "अप्राप्तावेव विधिरिति नियमात्।"

अयं भावः—यदि ब्राह्मणभागे वेदत्वमप्राप्तं नाऽभविष्यत् कथं नाम तदा भवानपि उद्धतोऽभविष्यत् साधयितुम्? अत इदमेव भवदनुकथनं कथं न मन्येत यद् ब्राह्मणानां वेदत्वमण्डनप्रयास एव ते खण्डनरूपकं सत् ब्राह्मणभागस्यावेदतां साधयति, अन्यथा मण्डनप्रयासस्य वैयर्थ्यापत्तेः।

पृ० ६९२—यदुक्तं, 'मीमांसा २।१।३१ अर्थात् मन्त्रातिरिक्तेषु वेदभागेषु ब्राह्मणशब्दो जैमिनिनोक्तम्' इति तु अज्ञानादेव। "अपि वा प्रयोगसामर्थ्यात् मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्", मी० २।१।३१ तथा "तच्चोदकेषु मन्त्राख्या" मी० २।१।३२ आभ्यां सूत्राभ्यामग्निहोत्रादिकर्मणां विधायकवेदवाक्यानां सिद्धार्थानामभिधायकवेदवाक्यानां मन्त्रसंज्ञा भवतीत्युक्तत्वात्। "शेषे ब्राह्मणशब्दः" मी० २।१।३३ इति सूत्रेण तु वेदव्याख्यानभूतैतरेयादिग्रन्थानां ब्राह्मणसंज्ञा-वचनात्। परमिह मन्त्रनिर्वचनब्राह्मणनिर्वचनसूत्रयोः प्रमाणाङ्कनसंख्या तु प्रमादेनैव भ्रामिका उद्धृता

ही निषेध होता है।' नहीं तो मनु आदि स्मृतियों के भी वेद होने का निषेध किया जाता।

उत्तरपक्ष—यह तर्क ठीक नहीं है, क्योंकि इस कुतर्क से तो स्वयं लेखक ही अपनी छुरी से अपनी नाक काटने का अवसर प्रस्तुत कर रहा है। जब ऋषि दयानन्द ने प्राप्त वेदत्व का निषेध किया है तो इन्होंने भी अप्राप्तवेदत्व में ब्राह्मण-भाग की वेदता सिद्ध करने का प्रयास किया है, क्योंकि नियम है कि 'न होने पर ही विधि का विधान किया जाता है।'

भाव यह है कि यदि ब्राह्मण-भाग में वेदत्व अप्राप्त नहीं होता, तो आप सिद्ध करने का प्रयास ही क्यों करते? जैसे कि चार संहिताओं के वेदत्व-खण्डन का या सिद्ध करने का कोई प्रयास नहीं करता, क्योंकि उनका वेदत्व निर्विवाद है। अतः आपके कथन से यही क्यों न माना जाये कि ब्राह्मणों का वेदत्व-साधन-प्रयास खण्डनरूप होता हुआ ही ब्राह्मण-भाग की अवेदता सिद्ध करता है, अन्यथा मण्डन-प्रयास की व्यर्थता आ जायेगी।

पृ० ६९२—पर यह कथन कि मन्त्रातिरिक्त वेदभागों में ब्राह्मणशब्द जैमिनि ने कहा है, अज्ञानमात्र नहीं है। मीमांसा के २।१।३१-३२ सूत्रों से अग्निहोत्रादि कर्मों के विधायक वेदवाक्यों और सिद्ध अर्थों के अभिधायक वेदवाक्यों की मन्त्र-संज्ञा होती है, ऐसा कहा गया है। 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' मी० २।१।३ इस सूत्र से तो वेद के व्याख्यानभूत ऐतरेय आदि ग्रन्थों की ब्राह्मण-संज्ञा कही गई है, परन्तु आपके द्वारा मन्त्र तथा ब्राह्मण-निर्वचन-सूत्रों की प्रमाणाङ्कनसंख्या भी प्रमाद से

इति, विवेचका वीक्षन्ताम्।

यत्र शबरादिमीमांसका वेदशब्देन मन्त्रब्राह्मणयोर्ग्रहणं कृत्वा "चोदना-लक्षणोऽर्थो धर्मः" (१।१।२) इति सूत्र-गत 'चोदना'शब्दस्य व्याख्यानं चक्रुः, तन्मते ब्राह्मणग्रन्थस्य कर्मणि प्रवर्तकवाक्यम्। तत्त्वस्माकमपि व्याख्यानं स्वीकृतम्। परमस्माकं मते मन्त्रगतकर्मणि प्रवर्तकत्वं निवर्तकत्वं चोभयमपि अभिप्रेतम्। यथा —"अक्षैर्मा दीव्यः, कृषिमित्कृषस्व" (ऋ० १०।१४।१३) इत्यत्र।

परं शबरस्वामी "तच्चोदकेषु मन्त्राख्या" इति सूत्रेऽलिखत्—'प्रायिक-मिदं लक्षणम्। अनभिधायका अपि केचन मन्त्रा इत्युच्यन्ते' एतेनाभिव्यज्यते मन्त्रे-ष्वपि मीमांसकमतेनापि यत्र यत्र विधायकत्वम्।

अपि वा प्रयोगसामर्थ्यादिति, अस्य तु अयमाशयो यद् यैर्मन्त्रैर्विधानं तत्र विधिर्यत्र चाभिधानं तत्र मन्त्रत्वम्। एवं वेद एव विधि-मन्त्रभेदेन द्विधा।

पृ० ६९२, पं० ४-पू० प०—यदुच्यते "विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमेकशब्दात्" (२।१।३०) अर्थाद् ब्राह्मणभागमन्त्रभागयोरेवयशब्दादर्थाद् वेदशब्दादैकार्थ्यमेव तात्पर्यमुक्तम्। नहि नारङ्गादिफलस्यैको भागो नारङ्गोऽपरो भागः कालिन्दो भवति।

भ्रामिका उद्धृत की गई है। विवेचक विचार करें।

जहां शबरस्वामी आदि मीमांसक वेद शब्द से मन्त्र और ब्राह्मण का ग्रहण करके 'चोदना' शब्द का व्याख्यान करते हैं। उनके मत से ब्राह्मणवाक्य कर्म-प्रवर्तक होता है। इस रूप में व्याख्यान हमें भी स्वीकृत है। परन्तु हमारा सिद्धान्त यह है कि मन्त्रगत कर्म में प्रवर्त्तकता और निवर्त्तकता दोनों भी मिलती हैं। जैसे (पासों) से न खेलना' निवर्त्तक है और 'कृषि 'अक्षों करना' प्रवर्त्तकवाक्य है।

परन्तु शबरस्वामी ने स्वयं भी 'तच्चोदकेषु' सूत्र के भाष्य में लिखा है कि यह लक्षण तो प्रायिक है। कुछ मन्त्र अभिधायक भी होते हैं अर्थात् केवल विधायक नहीं। इससे मीमांसक भी मन्त्रों का विधायकत्व स्वीकार करते हैं।

मी० २।१।३१ 'अपि वा' का तात्पर्य यह है कि यद्यपि विधि और मन्त्र एक ही वेदशब्द के वाच्य हैं, तथापि दोनों का एक अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द-सामर्थ्य से विधि का अर्थ 'विधान' और मन्त्र का भाग 'अभिधान' है। इस प्रकार वेद उक्त दो प्रकार का है।

पू० प० पृ० ६९२, पं० ४—यह कहना कि ब्राह्मणभाग और मन्त्रभाग को एक ही शब्द से बोधित माना है। नारङ्गी का एक भाग नारङ्ग हो और दूसरा भाग कालिन्दी हो, यह नहीं हो सकता।

https://t.me/DharmaSamraj

"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति" कात्यायनोक्तरीत्या मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयत्वप्रसिद्धेः" इति ।

तदुच्यते, उद्धृतं सूत्रं हि पूर्वपक्षः । तत्रैवं शङ्क्यते यन्मन्त्रो विधायक उताभिधायकः ? इह प्रथमः पक्षः पूर्वपक्षिणः, द्वितीयपक्षस्तु सिद्धान्तिनः । पूर्वस्याऽभिप्रायो यत्सम्पूर्णवेदस्य मनुष्यमात्रकल्याणार्थं सृष्टेरादावाविर्भावः, तेन कल्याणं कर्तव्यानुष्ठानेन मनुष्येण प्राप्तुं शक्यते, ननु सिद्धपदार्थज्ञानेन तदधिगन्तुं शक्यते । ततोऽग्रिमसूत्रेण समाधीयते यद् यथा वेदवाक्यैः कर्मणां विधानं तथैव सिद्धपदार्थगुणकर्मस्वभावादेरपि अभिधानं क्रियते ।

नारङ्गोदाहरणं तु पारिजातकृतो मनीषा-निष्कोशत्वमेवाभिव्यनक्ति, "विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात्" इति सूत्रगतस्य 'ऐकार्थ्य'शब्दमर्मानभिज्ञानात् । नारङ्गः कालिन्दो वा हि द्रव्यं नाम, अत्र हि न वा शब्दो नाऽपि तदर्थो द्रव्यं, गुणत्वात् । मन्त्रस्य विधायकत्वमभिधायकत्वं वा गुण एव । ततो न साम्यं दृष्टान्तस्य ।

यच्चाह कात्यायनोक्तरीत्या मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदत्वम् इति, तत्र परिभाषा

पू० प०—'मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है' इस कात्यायन की उक्ति के आधार पर मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद माने जाते हैं ।

उ० प०—इस पर हमारा कथन है कि उक्त सूत्र (२।१।३०) पूर्वपक्ष है, जिसे आपकी भ्रान्त बुद्धि उत्तरपक्ष समझ रही है । इस मन्त्राभिधायकत्वाधिकरण में यह विचार किया जा रहा है कि उक्त मन्त्र विधि के समान विधायक है ? कि वा अभिधायक ? इसमें प्रथम पूर्वपक्ष है और द्वितीय समाधान पक्ष है । पूर्वपक्ष का अभिप्राय है कि सम्पूर्ण वेद का सृष्टि के आदि में आविर्भाव मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ हुआ, अतः कल्याण तो कर्त्तव्यकर्मों के अनुष्ठानमात्र से सब मनुष्यों का सम्भव है, सिद्धपक्ष के ज्ञान से नहीं । यह कल्याण ही मुख्य प्रयोजन है । यह मन्त्रवाक्य भी विधायक ही है । अतः अग्रिम सूत्र में 'अपि वा' से समाधान दिया गया कि वेदवाक्यों से कर्मविधान के समान अभिधान भी होता है ।

नारङ्ग और कालिन्द का उदाहरण देना तो पारिजातकर्त्ता की बुद्धि का दिवालियापन ही है । जबकि(२।१।३०)सूत्र में ऐकार्थ्य, शब्द ही गुणत्व का निर्देश कर रहा है । आपने उदाहरण में नारङ्ग और कालिन्द इन दोनों द्रव्यों के उदाहरण दिये हैं । भला, जो व्यक्ति द्रव्य व गुण की नैयायिक परिभाषा से अनभिज्ञ हो, उसके द्वारा भूमिका-खण्डन-प्रयास दुःसाहसमात्र है । शब्द या उसका अर्थ अथवा मन्त्र और उसका विधायकत्व और अभिधायकत्व दोनों गुण ही हैं, फिर आपके दृष्टान्त का साम्य कैसे हो ?

यह कहना कि कात्यायन की उक्त रीति से ,'मन्त्र' और 'ब्राह्मण' दोनों की

प्रकरणपठितश्रौतसूत्रस्य वचनानुसारं यज्ञकर्मसु तद्विधायकग्रन्थेषु च मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरपि पारिभाषिकी वेदसंज्ञाऽस्ति । परं सा परिभाषा गुणवृद्धिसंज्ञावत् स्वशास्त्रपर्यन्तमेव सीमितप्रयोजना, तद्बहिस्त्वशास्त्रीयत्वम् । यथा कश्चिद् वक्ति 'मम वेतने वार्षिकवृद्धिर्योजिता' नहि कदाप्येतस्याशयोऽयं यद् वेतने "आदैच्" इत्याख्या वृद्धिर्योजिता ।

अयं महाशयः पूर्वं तु मिथ्यैव आक्षिपद् गतप्रकरणे ऋषिदयानन्दं यत् स सिद्धान्तपक्षं मत्वा पूर्वपक्षमुद्धरति । सम्प्रति स्वयं पूर्वपक्षसूत्रम् "विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात्" (मी० २।१।३०) इति सिद्धान्तरूपेण तात्पर्यानभिज्ञानादुपन्यस्यति । सिद्धान्तसूत्रं तु मी० २।१।३१ वर्तते । पूर्वपक्षस्यापि भ्रामकः प्रसङ्गः, अध्यायसूत्राङ्का अशुद्धा उल्लिखिताश्च ।

पृ० ६९१, पं० १५—यदुक्तं 'मन्त्रभागशब्देनैव भागशब्दस्य च अंशार्थत्वाद् ब्राह्मणभागस्यापि वेदत्वं सिध्यति' इति कथनं तु ऋषेरभिप्रायाज्ञानादेव । तथा च भागो भजनं सेवनं ग्रहणमिति यावद् भज्यते इति भागो न तु अंशाशिभावोऽत्र । यत्र मन्त्रमात्रग्रहणं सा संहितेत्याह, अतो मन्त्रभागसंहितेत्याहेति संगच्छते ।

वेदसंज्ञा मानी जायेगी, सरासर अज्ञान है; क्योंकि परिभाषा-प्रकरण में पठित इस श्रौतसूत्र के वचनानुसार यज्ञकर्म और उनके विधायक ग्रन्थों में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों की पारिभाषिकी वेदसंज्ञा है, परन्तु वह यज्ञशास्त्र तक ही सीमित प्रयोजनवाली है । उसके बाहर प्रयोग करना शास्त्रविरुद्ध है । जैसे कोई कहे कि हमारे वेतन में वार्षिक वृद्धि जोड़ दी गई है । इसका यह आशय कदापि नहीं हो सकता कि वेतन में 'आ, ऐ और औ' जोड़ दिये गये हैं, क्योंकि पाणिनि की वृद्धिसंज्ञा उन्हीं के शास्त्र तक प्रयोज्य है ।

इन महाशय ने पूर्व में ऋषि पर यह आक्षेप किया था कि स्वामीजी ने पूर्वपक्ष को सिद्धान्तपक्ष मानकर उद्धृत किया है, पर इस समय आपने ही पूर्वपक्ष सूत्र (२।१।३०) को सिद्धान्तरूप में तात्पर्य न जानने के कारण उद्धृत किया है । इससे अगला सूत्र सिद्धान्तपक्ष है । पूर्वपक्ष-सूत्र का प्रसङ्ग वा अध्याय, सूत्राङ्क भी अशुद्ध लिखे हैं । (विशेष—जिज्ञासु महोदय वे० क० द्र० प्र० भा० पृ० २५७ में देखें) ।

यह कथन कि 'मन्त्रभाग' इस कथन का 'भाग' शब्द 'अंश' अर्थ में है, अतः ब्राह्मणभाग का भी वेदत्व सिद्ध होता है । यह बात ऋषि अभिप्राय को न समझकर कही गई है, क्योंकि 'भाग' शब्द का अर्थ यहां अंश-अंशीभाव नहीं है, प्रत्युत सेवन अथवा ग्रहण है । जब मन्त्र (भाग) का ग्रहण किया जाता है, वह संहिता होती है । अतः 'मन्त्रभाग संहिता है' यह कथन सङ्गत है ।

https://t.me/Dharmadarshan

कात्यायनेनाऽपि ऋग्वेदीयसर्वानुक्रमण्यां वेदाद् ब्राह्मणभिन्नता व्यञ्जिता। यथा—अथ ऋग्वेदाम्नाये शाकले सूक्त-प्रतीकसंख्या-ऋषिदैवतच्छन्दांस्यनुक्रमिष्यामो मन्त्राणां ब्राह्मणार्षेयच्छन्दो देवताविद् याजनाध्यापनाभ्यां श्रेयोऽधिगच्छतीति।

यतो हि मन्त्राणां ब्राह्मणं भवति न तु ब्राह्मण-ब्राह्मणम्। "अथ च मन्त्रेषु ओङ्कारम्, अथकारं च भाष्येषु।" अतो ब्राह्मणेषु अथकारो भवति इत्यनुयजुर्वेद-प्रातिशाख्यम् इत्थमपि ब्राह्मणभागस्यावेदता सिद्ध्यति।

अथापि कात्यायनोक्तपरिभाषा त्वनभीष्टैवेति स्पष्टमुक्तम्। भागशब्दस्य वक्तुरभिप्रायादन्यत्र कर्षणं तु छलमेव। यथा "अविशेषाऽभिहितेऽर्थे वक्तुरभि-प्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्", "धर्मविकल्पनिर्देशे सद्भावप्रतिषेध उपचार-च्छलम्", "वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात्।" न्या० १।२।१३-१५ वा० भा० 'नवकम्बलोऽयं माणवक इति प्रयोगः। अत्र नवः कम्बलोऽस्येति वक्तुरभिप्रायः। तत्रायं छलवादी वक्तुरभिप्रायादविवक्षितमन्यमर्थं नवसंख्याकाः कम्बला अस्येति तावदनभिहितं कल्पयति, कल्पयित्वा चाऽसम्भवेन प्रतिषेधति एकोऽस्य कम्बलः, कुतो नव कम्बला इति।'

वृत्तौ चापि 'न च श्लिष्टलाक्षणिकप्रयोगाद् वादिन एवापराधः स्यादिति वाच्यम्, तत्तदर्थबोधकतया प्रसिद्धस्य शब्दस्य प्रयोगे वादिनोऽनपराधात्। अन्यथा पर्वतो वह्निमानित्युक्तेऽपर्वतोऽयं कथं वह्निमानित्यादि दूषणेनानुमानाद्युच्छेदः स्यात्'

कात्यायन ने भी ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी में वेद से ब्राह्मण की भिन्नता व्यञ्जित की है। जैसे अब ऋग्वेद आम्नाय शाकल में सूक्त, प्रतीक, संख्या, ऋषि, दैवत, छन्दों का हम अनुक्रमण करेंगे, मन्त्रों के ब्राह्मण, ऋषि, छन्द और देवता जाननेवाला याजन और अध्यापन के द्वारा श्रेय प्राप्त करता है।'

क्योंकि मन्त्रों (वेदों) का ब्राह्मण होता है, इसीलिए ब्राह्मणों में 'अथ' लगाया जाता है। यह यजुर्वेदप्रातिशाख्य के अनुगत है। इस प्रकार भी ब्राह्मणभाग की अवेदता सिद्ध होती है।

कात्यायन-परिभाषा तो अभीष्ट ही नहीं है, यह सत्यार्थप्रकाश में स्पष्ट है। भागशब्द का वक्ता के अभिप्राय से अन्यत्र कर्षण करना 'छल' है। जैसा कि 'छल' की परिभाषा में कहा है (न्या० १।२।१३-१५)। जैसे छलवादी नव का अर्थ 'नौ संख्या' लगा रहा है और कहता है कि एक कम्बल है, तो नौ होना असम्भव है।

यही बात वृत्ति में भी कही है कि श्लिष्ट लाक्षणिक प्रयोग करने से वादी का ही अपराध नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वह 'नव' शब्द उस अर्थ का बोध करा रहा है। अन्यथा तो—पर्वत वह्निमान् है, ऐसा कहने पर जो पर्वत नहीं है,

एवं करपात्रद्वारा ग्रन्थदूषणं छलप्रायिकम्। यथा चात्रायं भागशब्दस्य अंशार्थं कल्पयति।

ब्राह्मणानां वेदसंज्ञाभावे भूमिकायामिमे हेतवः। 'पुराणेतिहाससंज्ञकत्वात्, वेदव्याख्यानात्, ऋषिभिरुक्तत्वात्, अनीश्वरोक्तत्वात्, कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेद-संज्ञायामस्वीकृतत्वात्, मनुष्यबुद्धिराचितत्वाच्च।' तत्रायं वक्ति, 'तदपि तुच्छम्, व्यभिचारित्वादसाधकत्वादसिद्धत्वाच्च।'

तत्र हि क्रमशो हेतून् वेदसंज्ञाऽभावे उक्तान् दूषयत्ययम्। तथाह्यनुमानप्रयोगः —'ब्राह्मणं न वेदः, पुराणेतिहाससंज्ञकत्वात्' इति। तच्चाऽयुक्तम्, हेतोरसिद्ध-त्वात्। ऐतरेयशतपथादिब्राह्मणेषु पुराणेतिहाससंज्ञकत्वाऽसिद्धेः। विष्णुपुराणादिषु तत्प्रसिद्धेः (पृ० ६९२)' इति तत्र युक्तम्, नहि कथनमात्रेणैव हेतुरसिद्धोऽयम्। न चोक्तम्, कीदृशोऽसिद्धः। अपि च ब्राह्मणानां पुराणेतिहाससंज्ञोपलब्धेः। तत्प्रमाणं ब्राह्मणसूत्रग्रन्थेषु यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसी-रिति।

वह फिर क्यों वह्निमान् है? इस दूषण से तो अनुमानादि प्रमाणों का भी उच्छेद होने लगेगा। अतः श्री करपात्रीजी द्वारा ग्रन्थ में दूषण लगाना छल से पूर्ण है। जैसा कि यहां 'भाग' शब्द से अंश कर्थ की कल्पना कर रहे हैं।

ब्राह्मणों की वेद-संज्ञा नहीं हो सकती, इसकी सिद्धि में ऋषि ने ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका में निम्न हेतु दिये हैं—'ब्राह्मण पुराणेतिहाससंज्ञक हैं, वेदों के व्याख्यान हैं, ऋषियों ने बनाये, ईश्वरोक्त नहीं हैं, कात्यायन से भिन्न ऋषि के द्वारा वेदसंज्ञा स्वीकृत न करना तथा मनुष्यबुद्धि-रचित होने से भी ब्राह्मण वेद नहीं हैं।' इस पर करपात्रीजी आक्षेप करते हैं कि ये हेतु तुच्छ हैं, ये हेतु व्यभि-चारी हैं, असिद्ध होने से साध्य की सिद्धि नहीं कर सकते। वे कहते हैं कि 'आप यह कहेंगे कि ब्राह्मण वेद नहीं हैं, क्योंकि इनकी पुराण, इतिहास संज्ञा है।' यह स्वामी दयानन्द द्वारा प्रस्तुत हेतु असिद्ध हैं, क्योंकि ऐतरेय, शतपथ आदि ब्राह्मणों को पुराण अथवा इतिहास नहीं कहा जाता। विष्णुपुराण, रामायण, महाभारत आदि को ही पुराण, इतिहास कहा जाता है।' (पृ० ६९२)।

यह सब पारिजातकार का कथन ठीक नहीं है; क्योंकि इनके कथनमात्र से हेतु 'असिद्ध' नहीं हो सकता, जबतक आप इसकी असिद्धता सिद्ध न करें और साथ ही आपको यह भी बताना चाहिए कि यह कौनसा असिद्ध है? दूसरे ब्राह्मणों की पुराण-इतिहास संज्ञा प्राप्त ही है। जैसा पूर्वभाग में सिद्ध है। जिसके प्रमाण ब्राह्मण तथा सूत्रग्रन्थों में हैं। जैसे—'ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति।'

https://t.me/Dharmasastra

पुराणलक्षणं सायणाचार्यकृतमपि ऐतरेयब्राह्मणभूमिकायां "इदं वा अग्रे नैव किञ्चिन्नास्ति न द्यौरासीद् इत्यादिकं जगतः प्रागवस्थानमुपक्रम्य सर्गप्रतिपादक-वाक्यजातं पुराणम्" इति।

ऐतरेयब्राह्मण-सायणभाष्ये (२।१) 'देवासुराः संयता आसन्' इत्यादयः इतिहासाः, इति प्रमाणैः पुराणेतिहासलक्षणस्य ब्राह्मणेषु सङ्गतत्वात् न हेतोर-सिद्धता।

पृ० ६९२—यदयं वक्ति "यदि तु पुरातनार्थप्रतिपादकत्वेन ऐतिहासिकार्थ-प्रतिपादकत्वेन च पुराणत्वमितिहासत्वं चोच्यते, तदापि न तादृशस्य पुराणेतिहास-संज्ञकत्वस्य वेदसंज्ञकत्वस्य च विरोधः, वेदसंज्ञकस्यापि ब्राह्मणभागस्य पुराणेतिहास-संज्ञकत्वसम्भवात्," इत्यादि। इति सर्वमपि असङ्गतमप्रामाणिकञ्च वेदसंज्ञायां ब्राह्मणसंज्ञाया अनन्तर्गतत्वात्, अशास्त्रीयत्वात्, विरुद्धत्वाच्च वेदो हि ब्राह्मण-दृष्ट्याऽपि मन्त्रवाचकत्वाद् ब्राह्मणात् पृथगेव।

यथा—"तानि ज्योतींष्यभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त" (ऐ० ब्रा० ५।५।६)। नहि शास्त्रप्रतिपादितवेदलक्षणेषु ब्राह्मणानां वेदत्वम्, "उच्चै-र्ऋचा क्रियते" इत्यादिना। मीमां० १२।३।१७ सूत्रे शबरस्वामिनाऽपि ब्राह्मणानां

सायणाचार्यकृत पुराण-लक्षण ऐतरेयब्राह्मण की भूमिका में दिया हुआ है कि—'इदं वा' इत्यादि जगत् की प्रागवस्था से लेकर सृष्टि-प्रतिपादक वाक्य-समूह पुराण हैं। ऐतरेयब्राह्मण-भाष्य में भी 'देवता और असुरों का युद्ध हुआ' इत्यादि इतिहास है। इन प्रमाणों से पुराणेतिहास लक्षण ब्राह्मणग्रन्थों में ही घटित होता है, अतः हेतु की असिद्धता नहीं है।

पृ० ६९२—यह कह रहे हैं 'यदि पुरातन अर्थ के प्रतिपादक होने से, ऐति-हासिक अर्थ के प्रतिपादक होने से इनको पुराण और इतिहास कहा जायेगा, तो इस तरह की संज्ञा से वेदसंज्ञा का कोई विरोध नहीं है, वेदसंज्ञा के रहते हुए भी ब्राह्मणभाग की पुराण-इतिहास संज्ञा भी हो सकती है' इत्यादि कथन असङ्गत और अप्रामाणिक है; क्योंकि वेदसंज्ञा के अन्तर्गत ब्राह्मण-संज्ञा समाहित नहीं हो सकती तथा ब्राह्मणादिशास्त्रों में भी ऋग्वेदादि को ही वेद माना गया है। इनकी दृष्टि में भी ब्राह्मणों की वेदता नहीं है, क्योंकि यहां वेद मन्त्रवाचक है, अतः ब्राह्मण से वेद पृथक् हैं।

जैसे ऐतरेय ब्रा० ५।५।६ में उपक्रम तथा उपसंहार में एकवाक्यता है। शास्त्रप्रतिपादित वेद के नियमों में ब्राह्मण नहीं आते। यथा—'ऊंचे स्वर से ऋचा का पाठ करे' आदि। मीमांसा १२।३।१७ में आपके शबरस्वामी भी ब्राह्मणों में

भाषिकस्वरप्रतिपादनात्, नहि वेदानां भाषिकस्वरो भवति। नात्र पुराणशब्दस्य 'पुरातन' इत्यर्थोऽभीष्टः, पुराणेतिसंज्ञकत्वात्।

यदुक्तं (पृ० ६९३, पं० ७) "यथा चैकस्यापि कम्बुग्रीवादिमतोऽर्थस्य घटत्वं कलशत्वं चेति नानाभिधानत्वं न विरुद्ध्यते तथैकस्याऽपि ब्राह्मणग्रन्थस्य वेदत्वं न विरुद्ध्यते" इत्यबोधवचनम्। दृष्टान्तवैषम्याद् वेदानामीश्वरोक्तत्वाद् ब्राह्मणग्रन्थस्य च पौरुषेयत्वात्। विष्णुपुराणादीनि तु न पुराणेतिहाससंज्ञकानि, असत्यत्वात्, कपोलकल्पितगर्हितविषयप्रतिपादकत्वात्, बुद्ध्यसङ्गतत्वाच्च। यथा—'कामिनी केलिलो लताव्याकुलता निदर्शनम्।' तत्र च—

"दृष्ट्वा निषादं सबलं काष्ठभारोपजीविनम्।
तस्मै दत्त्वा पञ्च मुद्रा बुभुजे कामपीडिता॥"

भवि० पु० प्रतिसर्ग खं० २। अ० ३३, श्लोक ७॥

नैवंविधानि पुराणसंख्यामर्हन्ति।

"वेदसंज्ञकत्वेऽपि ब्राह्मणभागस्य पुराणेतिहाससंज्ञकत्वसम्भव इत्युक्त्वा

भाषिक-स्वर मानते हैं जबकि वेद में भाषिक स्वर नहीं है। आप पुराण शब्द का पुरातन अर्थ-मानकर हेतु को अहेतु मान रहे हैं। यह छल है। यहां पर ऋषि ने हिन्दी में पुराण, इतिहास, कल्प आदि को संज्ञारूप में माना है।

पृ० ६९३, पं० ७—"यह कथन कि जैसे कम्बु-ग्रीवादि से युक्त एक ही पदार्थ के घट, कलश आदि अनेक नामों से कहे जानेपर कोई विरोध उपस्थित नहीं होता, इसी तरह एक ही ब्राह्मणग्रन्थ के वेद होने में और पुराण, इतिहास होने में भी कोई आपत्ति नहीं होगी।" अज्ञानवचन ही है। तथा एक ही पदाथ के घट, कलश आदि संज्ञाएं कहने के बाद उदाहरण भी विषम होने से बुद्धिहीनता का द्योतन कर रहा है; क्योंकि ब्राह्मण को वेद तथा पुराण कथन करने में उक्त दृष्टान्त नहीं घटता। कहां तो एक पदार्थ के घट और कलश आदि पर्यायवाची शब्द हैं, पर यहां ब्राह्मणरूप एक पदार्थ में वेद और पुराण शब्द घटित नहीं; क्योंकि ये दोनों आपस में पर्यायवाचक नहीं, प्रत्युत सर्वथा भिन्नतावाचक हैं। दूसरे वेद ईश्वरोक्त हैं और ब्राह्मणग्रन्थ पुरुषनिर्मित हैं।

विष्णुपुराण भागवत आदि की वास्तविक पुराणसंज्ञा नहीं हो सकती; क्योंकि इनमें असत्य, कपोलकल्पित, गर्हित विषयों का भी प्रतिपादन किया गया है, जो बुद्धिसङ्गत भी नहीं है। जैसे—उनमें कामिनियों के साथ कामकेलियां तथा व्याकुलता आदि के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। भविष्यपुराण के प्रतिसर्ग खण्ड ११ अ० ३३ में देखिये। ऐसे ग्रन्थ पुराणादि की कोटि में नहीं आ सकते।

'वेदसंज्ञा होने पर भी ब्राह्मणभाग की पुराणेतिहास संज्ञा भी सम्भव है'

https://t.me/DharmaSamrat

भवता ब्राह्मणानां पुराणेतिहाससंज्ञा त्वर्धोक्त्याऽङ्गीकृतैव; परं ब्राह्मणेषु वेदसंज्ञा कथमपि न घटते, तेषां पौरुषेयत्वात्। तत्र प्रमाणं सामश्रमिमहाभागस्य व्याख्यानरूपत्वाच्चेति ऐतरेयालोचने द्वितीयसंस्करणे पृ० २।

(१)—"वेदार्थवित्तमेन ब्राह्मणेन प्रोक्तं यागविध्यनुस्यूतं मन्त्रभाष्यमेव ब्राह्मणमिति।" वेदार्थवित्तमेन प्रोक्तत्वात्।

(२)—यजुर्वेदप्रातिशाख्येऽपि लिखितम्—

विनियोक्तव्यरूपो यः स मन्त्र इति चक्षते।
विधिस्तुतिकरं शेषं ब्राह्मणं कथयन्ति हि॥

(३)—नियतस्वरवर्णपदक्रमाभाव एव ब्राह्मणानां वेदत्वासाधकं मुख्यं कारणञ्च।

यदुक्तं "यदि मन्त्रभागस्य प्रणेता ईश्वरस्तदा कथं न मन्येत ब्राह्मणभागस्यापि?" आश्चर्यम्, अयं तर्कस्तु चिन्तनस्य परां कोटिं चुम्बति मुक्तकण्ठं च प्रशस्यः। एतस्यायं निष्कर्षो, यदि पृथ्वी निर्मितेश्वरेण मन्यते तदा करपात्रमहोदयस्य विश्वनाथमन्दिरमपि तेनैव निर्मितमित्यपि मन्तव्यम्। किञ्च ब्राह्मणानां वेदत्वसाधनप्रयासेन वेदस्थितिगरिमाऽपि लाघवे विपरिणीयते ब्राह्मणग्रन्थानामा-

---

यह कहकर आपने ब्राह्मणों की पुराणेतिहास संज्ञा तो स्वीकार कर ली; परन्तु इनकी वेदसंज्ञा कदापि सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि ये ब्राह्मण पौरुषेय हैं तथा वेदों के व्याख्यान हैं। जैसा कि पृ० २ पर सामश्रमी महोदय ने ऐतरेयालोचन में लिखा है कि वेदार्थ को जाननेवाले ब्राह्मणों द्वारा प्रोक्त तथा यागविधि से अनुस्यूत मन्त्रों का भाष्य ब्राह्मण है।

यजुर्वेदप्रातिशाख्य में भी लिखा है—

जो विनियोक्तव्यरूप है, वह मन्त्र कहलाता है, विधि-स्तुति करनेवाले शेष को 'ब्राह्मण' कहते हैं।

स्वर, वर्ण, पद और क्रम के नियत होने का ब्राह्मणों में अभाव है, जो ब्राह्मणों के वेदत्वाऽभाव का द्योतक और साधक है। यह कथन कि "यदि मन्त्रभाग का कर्ता ईश्वर है, तो क्यों न माना जावे कि ब्राह्मणभाग का भी प्रणेता वही ईश्वर है" बड़ा आश्चर्य है, इनका यह तर्क तो चिन्तन की पराकाष्ठा को भी पार कर गया, जिसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करनी चाहिए। इस तर्क से यह निष्कर्ष निकला कि यदि पृथिवी ईश्वर ने बनायी है तो क्यों न मान लिया जावे कि श्री करपात्र का नूतन वाराणसी का मन्दिर भी राज के स्थान पर ईश्वर ने ही बनाया है? दूसरी बात यह भी है कि ब्राह्मणों की वेदता सिद्ध करने से वेद-

न्तरिकसाक्ष्यमेव ब्राह्मणानामन्यथासाधने पर्याप्तत्वात्।

पृ० ६९३, पं० ९-यदुक्तम्-"वेदव्याख्यानादित्ययमपि हेतुर्न ब्राह्मणभागस्य वेदसंज्ञकत्वाभावं साधयितुमलम्, हेतोरनैकान्तिकत्वात्। वेदपदव्यपदेश्यवाक्यकदम्बस्य पदान्तरेणार्थकथनस्य वेदव्याख्यानात् तस्य च वेदमन्त्रेष्वप्युपलब्धेः" इति समग्रं कथनमेतस्य लेखकस्य न्यायशास्त्रस्यानभिज्ञतामेव द्योतयति। तथाहि-'तत्र साध्याभाववृत्तिः साधारणो ह्यनैकान्तिको भवति। यथा-पर्वतोऽग्निमान् प्रमेयत्वाद् इति प्रमेयत्वस्य वह्न्यभाववति ह्रदे विद्यमानत्वात्।' परं नायं हेतुर्घटतेऽत्र। यतोहि ब्राह्मणेष्ववेदत्वं साध्यं वेदव्याख्यानादिति हेतोः। अयं हेतुरवेदत्वसाध्याभाववति वेदे न घटते, तस्य स्वयं वेदरूपत्वात्।

न चान्योऽपि भेदोऽनैकान्तिकस्य घटते, अतः स्वयं भ्रान्तोऽयं हेत्वाभासाभावेऽपि तथाऽरोपयन् न्यायशास्त्रानभिज्ञान् तर्काभासघनान्धकारे मुग्धान् पाठकान् भ्रामयति।

ननु ब्राह्मणानामवेदत्वे 'वेदव्याख्यानाद्' इति हेतुरुक्तः, यथा—'न ब्राह्मणो

स्थिति-गरिमा भी लघुता में विपरिणीत हो जाती है। ब्राह्मणों का आन्तरिक साक्ष्य भी ब्राह्मणों की वेदता सिद्ध करने के विपरीत है।

पृ० ६९३, पं० ९ "वेदव्याख्यान होने से, यह हेतु भी ब्राह्मणभाग के वेदसंज्ञकत्वाभाव को सिद्ध करने को पर्याप्त नहीं है, क्योंकि यह हेतु अनैकान्तिक है। वेदपद से व्यपदेश्य-वाक्यसमूह का पदान्तर से अर्थ करना ही वेदव्याख्यान है, तो यह बात तो वेदमन्त्रों में प्राप्त होती है।" पारिजात का यह समग्र कथन इनकी (श्री करपात्री की) न्यायशास्त्र की अनभिज्ञता का द्योतक है। जैसे—न्याय में साध्य के अभाववृत्तिवाला साधारण अनैकान्तिक होता है। जैसे—पर्वत अग्निवाला है, प्रमेय होने के कारण। लेकिन प्रमेयत्व तो वह्नि के अभाववाले ह्रद में भी है, यह हेतु यहां घटित नहीं होता, क्योंकि ब्राह्मणों में वेदत्व साध्य है। उसमें हेतु है, वेदों के व्याख्यान होने के कारण। परन्तु यह हेतु अवेदत्वसाध्य के अभाववाले वेद में घटित नहीं होता, क्योंकि वेद स्वयं ही वेदरूप है, न कि वेद का व्याख्यान है।

तथा अनैकान्तिक का अन्य भेद भी घटित नहीं होता, अतः स्वयं यह भ्रान्त लेखक हेत्वाभास के अभाववाले स्थल में भी वैसा आरोप करता हुआ न्यायशास्त्र से अनभिज्ञ पाठकों को तर्काभास के घने अन्धकार में चक्कर कटवा रहा है।

प्रश्न—ब्राह्मणग्रन्थों के अवेदत्व सिद्ध करने में 'वेदों के व्याख्यान होने से'

https://t.me/DharmaSamrat

वेदः, तथा तु सर्वं हीदं वेदमात्रं प्रणवस्यैव व्याख्यानं गायत्र्या वा' तदा संहितानामपि न वेदत्वं मन्तव्यमिति चेन्न।

समा०—आश्चर्यं भवानेव सर्वमिथ्यालेखनसंविदाकारः। भवता पूर्वं साधनीयं हि वेदो गायत्र्या व्याख्यानं प्रणवस्य वेति। आमेतन्मन्ये यत् 'तस्य वाचकः प्रणवः' प्रणवस्य च व्याख्यानं वेदः, अर्थात् वेदव्याख्याता परमात्मा। एवं तु न तेऽभिप्रायसिद्धिः, सायणस्य व्याख्यानं दयानन्दस्य व्याख्यानमित्यादिवचनेन कर्तृत्वाभिव्यञ्जनात्।

ननु वेदव्याख्यानतया ब्राह्मणानां न वेदाभिधानम्, तथैव अष्टाध्याय्या व्याख्यानभूतस्य पतञ्जलिमहाभाष्यस्य व्याकरणत्वं न मन्तव्यं स्यात्। मते च व्याकरणे ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदसंज्ञाऽपरिहार्या इति चेन्न, यथा अष्टाध्यायीव्याख्यानभूतस्य महाभाष्यस्य नाष्टाध्यायीसंज्ञाव्यपदेश्यता, तत्र सत्त्वेऽपि अष्टानामध्यायानाम्। अष्टाध्याय्या यत्ते ज्ञानमाविष्कृतं तदत्र पल्लवितं कृतम्। तथैव वेदव्याख्यानभूतानामपि ब्राह्मणानां न वेदसंज्ञा। इह तु प्रश्नकर्ता स्वनिर्मितजाल एव स्वयं निबद्धः। किञ्चित्तु विचार्य लेख्यमासीदनेन!!

यह जो हेतु दिया गया है, उससे तो जैसे ब्राह्मणों का वेदत्व खण्डित होता है, उसी प्रकार वेद भी तो प्रणव या गायत्री का व्याख्यानमात्र है, तब तो संहिताओं की भी वेदसंज्ञा सिद्ध नहीं होती?

उत्तर—ऐसा कहना अयुक्त है। आश्चर्य है कि समस्त मिथ्यालेख और कल्पनाओं का आपने ही ठेका ले रखा है। प्रथम तो आपको यही सिद्ध करना पड़ेगा कि वेद प्रणव या गायत्री के व्याख्यान हैं। तथा जिस प्रकार शतपथ आदि प्रकरणबद्ध वेदव्याख्यान हैं, उसी प्रकार वेद भी हैं। महोदय! प्रणव के व्याख्यान कहने का तात्पर्य प्रणव के कर्तृत्व-प्रतिपादन में है। जैसे सायणाचार्य का व्याख्यान या स्वामी दयानन्द का व्याख्यान, इत्यादि कथन से कर्तृत्व की व्यञ्जना होती है।

प्र०—जैसे वेदव्याख्यान होने से ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा नहीं है, उसी प्रकार पतञ्जलिकृत महाभाष्य को जो अष्टाध्यायी का व्याख्यान है, उसे भी व्याकरण नहीं मानना चाहिए, पर जैसे उसे व्याकरण मानते हैं, वैसे ही ब्राह्मणों को भी वेद मानना चाहिए।

उ०—जैसे अष्टाध्यायी का व्याख्यानभूत महाभाष्य आठ अध्यायों के होते हुए भी अष्टाध्यायी नहीं कहलाता, उसी प्रकार वेदव्याख्यानभूत ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा नहीं है। यहां तो प्रश्नकर्ता स्वनिर्मित जाल में स्वयं ही फंस गया, कुछ तो बुद्धि से काम लिया होता!!

प्र०-अष्टाध्याय्याम् 'तस्यापत्यम्' एतन्मूलसूत्रस्य व्याख्यानं किञ्च नास्त्यपत्याधिकारः? किं प्रत्याहारसूत्राणां व्याख्यानं नास्ति समस्ताष्टाध्यायी? एवं यदि व्याख्यानमात्रेण न व्याकरणत्वं तद् अष्टाध्याय्या अपि व्याकरणत्वं कथं सिध्यति?

उ०—अष्टाध्याय्या व्याकरणत्वं स्वव्याख्यानमहाभाष्ये यथा व्यवहृतम्, तथा वेदे यज्ञादिविधायकशास्त्रत्वसामान्येन ब्राह्मणस्यापि यज्ञविषयकशास्त्रत्वम्। परं महाभाष्ये सङ्गमय्य पातञ्जलत्वस्य पाणिनीयत्वेन विनिमयस्त्वन्याय एव।

प्र०—किञ्च भोः! य ईश्वरो वेदकर्त्ताऽस्ति तस्य किं वेदानां व्याख्याने न सामर्थ्यम्? अथ चेन्नो, तदा प्रमाणं पुष्टं प्रस्तूयतां यन्न शक्नुयात्। अथ चेदोम्, व्याख्यानभूतब्राह्मणानामपि वेदत्वं मन्यताम्।

उ०—यमीश्वरं कच्छप-मत्स्य-वामनादिशरीरधारकं पौराणिको मनुते, तदा स स्वामिदयानन्दस्यापि शरीरं धारयितुं शक्नोति भवन्मते। यदि नैवम्, पुष्टं प्रमाणं प्रस्तूयताम्, यन्न कर्तुं शक्नुयात्। यदि कर्तुं शक्तस्तदा सत्यार्थप्रकाशं, संस्कारविधिम्, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकामपि तस्येश्वरस्यैव वचनं कथं न मन्येत? इतोऽधिकमीसाद्यनुगाम्यपि स्वपुस्तकानि ईश्वरवचनानि मन्तुं प्रश्नकर्तारमागृह्णीयात्। अतस्तेऽयं कुतर्क एव।

प्र०—क्या अष्टाध्यायी में 'तस्यापत्यम्' इस सूत्र का व्याख्यान अपत्याधिकार नहीं है? क्या प्रत्याहारसूत्रों का ही व्याख्यान अष्टाध्यायी नहीं है? तब यदि व्याख्यान होने मात्र से व्याकरणत्व न रहे तो अष्टाध्यायी का भी व्याकरण होना कैसे सिद्ध कर सकोगे?

उ०—अष्टाध्यायी का व्याकरणत्व अपने व्याख्यान महाभाष्य में भी जैसे व्यवहृत है, वैसे वेद के यज्ञादिविधायक शास्त्रत्व के सामान्य से ब्राह्मण का भी यज्ञविषयकशास्त्रत्व है ही। परन्तु अष्टाध्यायी के पाणिनीयत्व को महाभाष्य में घटित कर पातञ्जलत्व का पाणिनीयत्व से बदलना अन्याय होगा।

प्र०—जिस ईश्वर को तुम वेदकर्त्ता मानते हो, वह क्या वेद का व्याख्यान नहीं कर सकता था? यदि नहीं तो न करने में पुष्ट प्रमाण दीजिये। यदि हां, तो ब्राह्मणग्रन्थों को वेद मान लीजिये।

उ० जिस ईश्वर को कच्छप-मत्स्य-वामनादि शरीरधारक मानते हो, तो क्या वह स्वामी दयानन्द का शरीर धारण नहीं कर सकता? यदि नहीं, तो प्रमाण दीजिए। यदि हां, तो सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका को ईश्वरवचन क्यों नहीं मानते? इससे भी आगे ईसा, मोहम्मद आदि के अनुयायी आप से कुरान आदि को ईश्वरवचन मानने का आग्रह करेंगे। अतः यह सारा कुतर्क है।

https://t.me/Dharmasamrat

ब्राह्मणानां वेदव्याख्यानत्वे प्रमाणानि, यथा—

१—"चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि।" (शतपथब्राह्मणे)।

२—तैत्तिरीये आरण्यके २।९।८ "यदृचोऽध्यगीषत ताः पयआहुतयो देवानामभवन् यद् यजूंषि घृताहुतयो,यत् सामानि सोमाहुतयो, यदथर्वाङ्गिरसो मध्वाहुतयो, यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीर्मेदाहुतयो देवानामभवन्।"

एवमिह ऋग्वेदादीनामध्ययनं पयोघृतसोममध्वाहुतिसमानं गदितम्, परं ब्राह्मणेतिहासपुराणाध्ययनं मेदाहुतिसमं वर्णितम्। अतो ब्राह्मणवाक्येभ्यो वेदभिन्नता ब्राह्मणावरता च सुस्पष्टैव।

३—"य एव मन्त्रब्राह्मणद्रष्टारः प्रवक्तारश्च" अत्र वात्स्यायनभाष्येऽपि ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो ब्राह्मणानां च प्रवक्तारः पृथक्-पृथक् निगदिताः। यदि नैवं प्रशस्यते व्याख्यानं, तदायं हेतुरनिवार्यो निम्नाङ्कितप्रमाणेष्वपि।

४—वेदगतमन्त्राणामेव संख्या प्रतिपादिता न तु ब्राह्मणवाक्यादीनाम् —

"ऋचां दशसहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च।
ऋचामशीतिः पादाश्च तत्पारायणमुच्यते॥
द्वे सहस्रे शतन्यूने मन्त्रा बाजसनेयके।
तावन्मानेन संख्यातं बालखिल्यं सशुक्रियम्॥

ब्राह्मण वेद-व्याख्यान हैं, इसमें प्रमाण देखिए—

१—चारों वेद जाननेवाले ब्राह्मण महर्षियों के द्वारा प्रोक्त वेदों के व्याख्यान ही ब्राह्मण हैं। (शतपथब्राह्मण)।

२—तैत्तिरीय आरण्यक में—जो ऋचाएं पढ़ी हैं, वे पय-आहुतियां, यजुः घृताहुति, साम सोमाहुति, अथर्वाङ्गिरस मधु-आहुतियां देवता के लिए हैं। इस प्रकार यहां ऋग्वेदादि का अध्ययन तो पय, घृत, सोम और मधु की आहुति के समान है, परन्तु ब्राह्मणेतिहास पुराणादि को मेदाहुति के समान बताया। अतः ब्राह्मणवाक्यों से वेदों की भिन्नता और ब्राह्मणों की अवरता सुस्पष्ट है।

३—'जो मन्त्र और ब्राह्मण के द्रष्टा और प्रवक्ता हैं' इस वात्स्यायनभाष्य में भी ऋषि मन्त्रद्रष्टा और ब्राह्मणों के प्रवक्ता पृथक्-पृथक् कहे गये हैं। कदाचित् यह हेतु सबल न जानें तो निम्न हेतु तो अबाध्य है।

४—निम्न प्रमाणों में भी वेदगत मन्त्रों की ही संख्या प्रतिपादित हुई है, ब्राह्मणवाक्यों की नहीं। यथा—ऋचां दशसहस्राणि आदि।

अष्टौ सामसहस्राणि सामानि च चतुर्दश।
ऊह्यानि सरहस्यानीत्येष सामगणः स्मृतः॥
द्वादशानि सहस्राणि मन्त्राणां त्रिशतानि च।
गोपथं ब्राह्मणं वेदेऽथर्वणां शतपाठकम्॥"

एषु सुस्पष्टप्रमाणेषु सत्सु को ब्राह्मणानि वेदान् मन्तुं दुःसाहसं कुर्यात्।

५—मन्त्रद्रष्टा शङ्खः ऋषिरपि शङ्खध्वनिपूर्वकं चतुर्णामेव वेदानां वेदत्वं द्योतयते—"वेदेन रूपे व्यपिबत् सुतासुतौ प्रजापतिः" (यजुः १९।७८)। तत्र उव्वटमहीधरभाष्यमपि "वेदेन परिज्ञानेन त्रय्या वा विद्यया" इति ऋग्वेदादीनामेव वेदत्वमाचष्टे।

महर्षिदयानन्दस्तु भाष्येऽतिस्पष्टमाचष्टे—"यः प्रजापतिर्जीवः सत्यविज्ञानयुक्तैरीश्वरप्रकाशितैश्चतुर्भिर्वेदैः प्रेरिताऽप्रेरितौ धर्माधर्मौ गृह्णाति।"

६—सामश्रमिमहाभागोऽप्याह—"परं मन्त्रभागस्यैवाम्नायत्वं मुख्यं तदनु ब्राह्मणादेः" (निरुक्तालोचने, पृ० १४६)।

७—मीमांसाकृज्जैमिनिरपि वेदमन्त्राणामेव वेदत्वं मनुते तद्वेदत्वस्य ब्राह्मणभागे सर्वथाऽसम्भवात्। ब्राह्मणेषु देवर्षिछन्दोविनियोगाभावात्।

८—बृहत्पाराशरस्मृतावपि (३।४४) ब्राह्मणलक्षणे "अस्य मन्त्रस्यार्थोऽयम्,

---

इन स्पष्ट प्रमाणों के होते हुए कोई अनार्य भी ब्राह्मणों को वेद मानने का दुःसाहस नहीं करेगा।

५—मन्त्रद्रष्टा शङ्ख ऋषि भी यजुः के १९।७८ मन्त्र में शङ्खध्वनिपूर्वक चार वेदों के वेदत्व की घोषणा कर रहे हैं। वहां पर उव्वट और महीधर तक का भाष्य भी वेद को 'त्रयी विद्या' कहकर ऋग् आदि चार का ही वेदत्व सिद्ध करता है।

महर्षि दयानन्द के भाष्य में तो अति स्पष्ट है—"जो प्रजापति-जीव सत्यविज्ञानयुक्त ईश्वरप्रकाशित चार वेदों से प्रेरित और अप्रेरित धर्म और अधर्म को ग्रहण करता है।"

६—सामश्रमी महोदय भी कहते हैं "परन्तु मन्त्रभाग का ही वेदत्व मुख्य है, इसके बाद ब्राह्मणादि का" (निरुक्तालोचन, पृ० १४६)।

७—मीमांसाकार जैमिनि भी वेदमन्त्रों का ही वेदत्व मानते हैं। उस वेदत्व की ब्राह्मणभाग में सर्वथा असम्भवता है; क्योंकि ब्राह्मणों में देवता, ऋषि, छन्द और विनियोग नहीं होता।

८—बृहत्पाराशरस्मृति (३।४४) में किया ब्राह्मण-लक्षण शतपथादि में

https://t.me/DharmaSamrat

अयं मन्त्रोऽत्र वर्तते । तत्तस्य ब्राह्मणं ज्ञेयं मन्त्रस्येति श्रुतिक्रमः ।" इति शतपथादिषु घटते ।

९—छान्दोग्योपनिषदि स्वभाष्ये आचार्यशङ्करोऽपि मन्त्रेभ्यः पृथग्ब्राह्मणं विभजते "ऋगादीन् मन्त्रानधीते, तदर्थं ब्राह्मणेभ्यो विधींश्च श्रुत्वा कर्माणि कुरुते" इति ।

१०—शतपथब्राह्मणं स्वयं चाऽपि वेदेभ्यः पृथक् स्वीयव्याख्यारूपत्वमुद्घोषयते--"तददस्तद्विवाकीर्त्यानां ब्राह्मणे व्याख्यायते यथा तद् यज्ञस्य शिरः प्रतिदधतु ।" गोपथेऽपि "चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्राह्मणवेदः" इति वेदानां चतुष्ट्वमेव ।

नहि पदान्तरकथनमात्रमेव व्याख्यानं भवति यत् सम्भावनया वेदानामपि व्याख्यानताऽऽपादनस्य दुःसाहसमाचरत्ययम्, व्याख्यानस्य भिन्नलक्षणत्वात् । यतः—

"पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना ।
आक्षेपोऽथ समाधानं व्याख्यानं षड्विधं मतम् ॥"

इदं हि षट्प्रकारकं व्याख्यानं भवति, न चैकपदद्वयपरिवर्त्तनेन व्याख्यानं भवति ।

अतो महर्षिदयानन्देन ऋतप्रज्ञेन 'वेदव्याख्यानरूपत्वाद्' इति हेतुर्दोषशून्य

घटित होता है । यथा –"इस मन्त्र का यह अर्थ है । यह मन्त्र इस कार्य में विनियुक्त है, यह बतानेवाले ग्रन्थ को मन्त्र या मन्त्रसंहिता (वेद) का ब्राह्मण जानना चाहिए ।"

९—छान्दोग्योपनिषद् में भी शङ्कराचार्य स्वभाष्य में लिखते हैं –"ऋग्वेद आदि के मन्त्रों को पढ़ते हैं । उनके अर्थों और विधियों को ब्राह्मणग्रन्थों से जानकर कार्य करते हैं ।"

१०—शतपथब्राह्मण स्वयं भी ब्राह्मण का व्याख्यानरूप ही प्रस्तुत करता है । तथा गोपथब्राह्मण में ऋग्वेदादि चार ही वेद हैं, ऐसा कहा है ।

पदान्तरमात्रकथन ही व्याख्यान नहीं होता । यह लेखक वेदों को व्याख्यान कहने का दुःसाहस कर रहा है । व्याख्यान का लक्षण ही भिन्न होता है, जिसके छः भेद हैं—(१) पदच्छेद, (२) पदार्थोक्ति, (३) विग्रह, (४) वाक्ययोजना, (५) आक्षेप और (६) समाधान । यह छः प्रकार का व्याख्यान है । एक या दो पदों के परिवर्त्तन करने से व्याख्यान नहीं हो सकता ।

अतः ऋतप्रज्ञ महर्षिदयानन्द ने ब्राह्मणों का वेदव्याख्यानरूप हेतु दोष-

एव प्रस्तुतः । अनैकान्तिकदोषकथनं साध्यसमहेत्वाभासकथनं वा कथमपि नोपपद्यते । यतो हि ब्राह्मणेषु अवेदत्वं साध्यं, परं हेतुः वेदव्याख्यानादिति तु न साध्यम्, पूर्वत एव ब्राह्मणानां वेदव्याख्यानं तु सिद्धमेव सर्वसम्मतम् ।

साध्यसमो हि "साध्याऽविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः" न्या० १।२।८॥ वात्स्यायनभाष्ये—"द्रव्यं छायेति गतिमत्वादिति हेतुः साध्येनाऽविशिष्टः साधनीयत्वात्" इति ।

ननु व्याख्यानं हि नाम वेदपदव्यपदेश्यं वाग्यकलापस्य पदान्तरेणार्थख्यापनं, तच्च वेदमन्त्रेष्वप्युपलभ्यते । यथा—"प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि··· ···" (यजुः २३।६५), "विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान" इत्यथर्वणः (७।८०।३), "नवोनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम् । भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः ।" (ऋ० १०।८५।१९), "नवोनवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम् । भागं देवेभ्यो विदधास्यायन् ।" (इत्यथर्वणः—७।८१।२) ।

एवमाद्ययोः विश्वा जातानि विश्वा रूपाणि इति चरमयोश्च भवति, एति, विदधाति, भवसि, एषि, विदधासि; इति भिन्नतया वेदपदानां पदान्तरेणार्थकथनरूपस्य वेदव्याख्यानस्य दुरपह्नवतया तदन्तर्भावं इति यत्तदपि व्यामोहविजृम्भणदम्भमात्रम् ।

शून्य ही प्रस्तुत किया है । आपका अनैकान्तिक या साध्यसम हेत्वाभास-कथन सर्वथा असङ्गत है । क्योंकि ब्राह्मणों में अवेदत्व साध्य है, परन्तु 'वेदव्याख्यानरूपत्वात्' यह हेतु साध्य नहीं । पूर्व से ही ब्राह्मणों का वेदव्याख्यानत्व सर्वसम्मत सिद्ध है ।

न्याय के १।२।८—"जो हेतु साध्य होने से साध्य के समान हो, उसको साध्यसम कहते हैं ।" यह घटित नहीं होता, जैसा कि "चलनात्मक क्रिया के होने से छाया द्रव्य है, इस अनुमान में 'गतिमत्वात्' हेतु साध्यमस हेत्वाभास है । यहां पर छाया के समान गतिमत्त्व भी साध्य है ।" पर व्याख्यानरूपत्वात् हेतु साध्य नहीं ।

शङ्का—व्याख्यान जो वेद का पदान्तरमात्र से अर्थ कहना होता है, वह तो वेदों में भी पाया जाता है । जैसे यजुः में 'विश्वा जातानि' और अथर्ववेद में 'विश्वा रूपाणि' तथा ऋग्वेद में 'भवति, एति, विदधाति' और अथर्व में 'भवसि, एषि, तथा विदधासि' । आपके कथन से यदि ये वेदव्याख्यान नहीं हैं तो ब्राह्मण भी वेद ही हैं, अन्यथा वह दोष तो वेदों पर भी आयेगा । अतः आपके कथन में अनैकान्तिक दोष है ।

https://t.me/Dharmik_Books

प्रकृते सव्यभिचारहेत्वाभासस्य नावकाशः। सव्यभिचारो हि अनैकान्तिको भवति। पक्ष-सपक्ष-विपक्ष-वृत्तित्वञ्च तल्लक्षणं भवति। यथा शब्दो नित्यः प्रमेयत्वात्, आकाशवत्, इति। तथा सति अत्र तु हेतोः प्रमेयत्वस्य नित्यानित्योभयसाधारणवृत्तिकत्वेन व्यभिचारितया सव्यभिचारहेत्वाभासत्वमुपपद्यते; परन्तु वेदव्याख्यानादिति हेतोस्तथात्वोपपादनं केवलं मनोमोदकास्वादनमात्रम्। भवन्मतमपि निरुक्तहेतुरेव तावत्साध्यकोट्यवगाहकत्वात्। न चापि भवदुक्तं व्याख्यानस्य लक्षणमेव। न चाऽपि पदान्तरयोजनेनेह मन्त्रेषु किञ्चित् पाठभेदेन उक्तमन्त्राणामेव पुनरुक्तिर्विहिता। न च पुनरुक्तिर्व्याख्यानम्। व्याख्यानं हि नाम आचार्यैरुक्तम्, उपरि मयाऽपि यथा 'पदच्छेदः, पदार्थोक्तिर्विग्रहो, वाक्ययोजना, आक्षेपः, समाधानं व्याख्यानं षड्धा स्मृतम्।' नेदं वेदमन्त्रेषु घटते लक्षणम्। नात्र उक्तहेतुः सव्यभिचारः किन्तु सद्हेतुरेवैषः।

श्री करपात्रस्येदं वचनं "यथा न वेदा, केनाऽपि निर्मितास्तथैव ब्राह्मणान्यपि न केनाऽपि निर्मितानि" इति प्रमत्तगीतमेव। को नु खलु ब्रूते 'न केनाऽपि वेदा निर्मिताः'? अत एतन्निरर्गलोद्गलितवचो निराधारम्। तद्वारणायैव 'ईश्वरो-

---

समा०– महोदय ! आपका कथन असङ्गत और व्यामोहमात्र है। प्रकृत में सव्यभिचार हेत्वाभास का कोई अवकाश नहीं है। सव्यभिचार अनैकान्तिक होता है, जो पक्ष, सपक्ष और विपक्ष में रहनेवाला होता है। जैसे शब्द नित्य है, प्रमेय होने से, आकाश के समान। इसी प्रकार शब्द अनित्य है, प्रमेय होने से, घट के समान। इत्यादि रूप से प्रमेयत्व हेतु नित्य, अनित्य और उभयसाधारणवृत्ति होने से व्यभिचारी है। परन्तु वेद में यह आरोप लगाना मनोमोदक का आस्वादनमात्र है। वैसे तो आपका हेतु स्वयं ही साध्य है; क्योंकि आपके कथितलक्षण व्याख्यान को किसी आचार्य ने नहीं माना है और न पदान्तरमात्र से ही उक्त मन्त्रों में उक्त कथन किया गया है। कुछ पाठभेद से मन्त्रों की पुनरुक्ति की गई है। पुनरुक्ति व्याख्यान नहीं होता। आचार्यों ने पदच्छेद, पदार्थोक्ति, विग्रह, वाक्ययोजना, आक्षेप और समाधान को व्याख्या या भाष्य माना है, जो वेदों में नहीं घटता। अतः ऋषि का दिया हेतु सद्हेतु है।

श्री करपात्रीजी का यह कथन कि "जैसे वेद किसी ने नहीं बनाये, वैसे ही ब्राह्मणग्रन्थ भी किसी ने नहीं बनाये" प्रमत्तगान ही है। कौन कहता है कि वेद किसी ने नहीं बनाये ? यह निरर्गल गल से उगला हुआ वचन निराधार है। ऐसे ही कथन के वारणार्थ ही 'वेद ईश्वरोक्त है' यह महर्षि ने कहा है। वेदमन्त्रों के पदपरिवर्तनमात्र से व्याख्यान नहीं माना जा सकता तथा 'वेदव्याख्यानात्' यह हेतु सोपाधिक भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि स्मर्यमाणकर्तृकता वेदों की

वतत्वाद् वेदानाम्' इति हेतुः, ऋषिणा व्याहृतम्।

अपि च 'ब्राह्मणग्रन्था वेदानां व्याख्यानानि' इत्यत्र निरुक्तं साक्षि—

१–"पञ्चारे चक्रे परिवर्त्तमाने (ऋ० १।१६४।१३) इति पञ्चर्तुतया पञ्चर्तवः संवत्सरस्य इति च ब्राह्मणम्" (निरु० ४।२७)। अत्र वेदस्य पञ्च अरा इत्यस्य वर्षस्य पञ्च ऋतव इत्यर्थकरणे ब्राह्मणं वेदाद् भिन्नं व्याख्यानमित्येव साधयति।

२–"द्वादश प्रधयश्चक्रम्" (ऋ० १।१६४।४८) "तस्मिन् साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः। षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहोरात्रा इति च ब्राह्मणम्" (निरु० ४।२७)। अत्र वेदस्य 'त्रिषष्टिशङ्कवः' 'वर्षस्य त्रिषष्ट्यहोरात्रा ब्राह्मणे' इत्यपि ब्राह्मणं वेदाद् भिन्नं व्याख्यानमित्येव साधयति।

३–"वामदेवस्यैतद्····· स एतत्सूक्तमपश्यत्। 'कृणुष्वपाजः' प्रसितिञ्च पृथिवीमिति" (का० सं० १०।५)।

४–ब्राह्मणग्रन्थेषु च काठकादिसंहितानामपि मनुष्यकृतत्वमाख्यातम्। यथा–"तद् हैकेऽन्वाहुः। होता यो विश्ववेदस इति नेतरमित्यात्मानं ब्रवाणीति तदु तथा न ब्रूयान्मानुषं ह ते यज्ञं कुर्वन्ति। व्यृद्धं वैतद् यज्ञस्य यन्मानुषं नेद् व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति, तस्माद् यथैवार्चानूक्तमेवानुब्रूयाद् होतारं विश्ववेदसमिति।" (शत०

ईश्वर में, ब्राह्मणादि की अन्य ऋषियों में सिद्ध है। अतः ब्राह्मणों का अवेदत्व सिद्ध है। इसमें और भी प्रमाण देखिए—

ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के व्याख्यान हैं, इसमें निरुक्तादि के प्रमाण देखें—

१—'पञ्च अरा' की व्याख्या वर्ष की पांच ऋतुएं हैं—यह ब्राह्मणग्रन्थ में व्याख्यान है।

२—'द्वादश प्रधयः'—यजुः में ३६० शङ्कुओं का व्याख्यान वर्ष के ३६० दिन और रात रूप में ब्राह्मणों में किया है।

३—इसी प्रकार काठकसंहिता वेद के 'कृणुष्वपाजः' इस सूक्त का ऋषि वामदेव बतलाकर अपने को वेद का विवरण-ग्रन्थ ही सिद्ध करती है, वेद नहीं।

४—ब्राह्मणग्रन्थों में काठकादिसंहिताओं का भी मनुष्यकृतत्वख्यापन किया गया है। जैसे कुछ शास्त्रकार 'होतारं विश्ववेदसम्' (ऋ० १।४४।७) ऋग्वेद के इस पाठ के स्थान पर 'होता यो विश्ववेदसः' ऐसा पाठ यज्ञ में पढ़ते हैं, परन्तु यज्ञ में ऐसा नहीं पढ़ना चाहिए, क्योंकि यह पाठ मानुष अर्थात् मनुष्यकृत है। यज्ञ में मानुष-पाठ करना यज्ञ की क्षति करता है। अतः जैसा ऋचा का

https://t.me/DharmaSamrat

१।४।१।३३) । सायणोऽप्यत्र ब्रूते—"यथैव वेदपठितं तथैवानुवक्तव्यम् ।"

५—महाभाष्येऽपि काठकादिसंहिता मनुष्यकृता एव कथिताः । "यद्यप्यर्थो नित्यः । या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या । तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादमिति" (महाभा० ४।३।१०१) ।

परन्तु वेदे आनुपूर्वी नित्यैव महाभाष्ये मता । यथा—"स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवामशब्दस्य, वर्णानुपूर्वी खल्वपि आम्नाये नियता" (महाभाष्य ५।२। ५९) ।

निरुक्तेऽपि वेदानुपूर्वी नित्या मता । यथा—"क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिरिति नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्याः" (निरु० १।१६) ।

एवं विविधप्रमाणैः सिद्धं यन्नोपनिषदारण्यकब्राह्मणकाठकादिसंहिता वेदः ।

ननु अद्य ये वेदा मन्यन्ते तेऽपि न वेदाः, प्रत्युत वेदशाखा एव । यथाऽयम् 'ऋग्वेदः—शाकलशाखाया वेदः', इति चेन्न ?

अत्र वस्तुस्थितिस्त्वेषा यत् शाकलेन एतस्य वेदस्य पदपाठः कृतः, अत एव शाकलसंहितेति नाम्ना कथ्यते ।

पाठ है, वही पढ़ना चाहिए । यहां सायण ने भी लिखा है—"यथैव वेदपठितं तथैवानुवक्तव्यम् ।"

५—महाभाष्य में भी कहा है कि काठक आदि सहिता-ग्रन्थों में दिये हुए पाठों में यद्यपि अर्थ नित्य हैं; परन्तु वर्णानुपूर्वी के भेद से काठकसंहिता, कालापकसंहिता, मौदकसंहिता और पैप्पलादसंहिता आदि हैं । जिनमें शब्दों में फेरबदल किये गये हैं । जैसे-शत्रु के अर्थ में 'भ्रातृव्यस्य वधाय' के स्थान पर काठकसंहिता में 'द्विषतो वधाय' पढ़ा है ।

वेद में आनुपूर्वी नित्य है, यह भी महाभाष्य में कहा गया है । जैसे वेद में 'अस्य वामस्य' (ऋ० १।१६४।१) इत्यादि वचनों का स्वर नित्य है और वर्णानुपूर्वी भी नित्य है ।

निरुक्त में भी वेदों की आनुपूर्वी को नित्य माना है । जैसे 'क्रीडन्तौ पुत्रैः' यह वेद की आनुपूर्वी नित्य है । इस प्रकार विविध प्रमाणों से सिद्ध है कि उपनिषद्, आरण्यक, ब्राह्मण, काठकादि संहिताएं कोई भी वेदसंज्ञक नहीं हैं ।

प्र०—इस प्रकार आज जो वेद उपलब्ध हैं, वे भी वस्तुतः वेद नहीं, प्रत्युत वेद की शाखाएं हैं । जैसे—'ऋग्वेद शाकलशाखा का वेद है ।'

उ०—नहीं, वस्तुस्थिति यह है कि पदपाठ जिस ऋषि के द्वारा जिस वेद का किया गया है, इसके नाम से भी वह उसकी शाखा-रूप में प्रसिद्ध हो गया । जैसे ऋग्वेद का पदपाठ शाकल-ऋषि ने किया, अत एव इसका नाम शाकलसहिता प्रसिद्ध हो गया ।

प्र०—नन्वत्रेदमपि विचारणीयं प्रसङ्गोपात्तं प्रतिभाति यद् गोपथब्राह्मणे महाभाष्ये च वेदशब्दोल्लेखे अथर्ववेदस्य 'शन्नो देवीरभिष्टय०' इति मन्त्र आदौ लिखितः; परन्तु वर्त्तमानोपलब्धाथर्ववेद आदौ 'ये त्रिषप्ताः परियन्ति०' इति मन्त्र उपलभ्यते,तदोक्तमते वेदः स एव यत्र 'शन्नो देवीः' इति मन्त्र आदौ लभ्यते, इत्यत्र को हेतुः ?

समा०—श्रीमन् ! 'शन्नो देवीः' इति मन्त्रः पैप्पलादशाखाया आदिमो मन्त्रो विद्यते । परं महाभाष्ये सा पैप्पलादसंहिता न वेदो मन्यते इति साम्प्रतमेवोपयुक्तं मया । अपरं च 'शन्नो देवीः' इति मन्त्रः 'अथर्ववेदे' ।तते इति तथ्यं तु न कोऽपि निराकुरुते । महाभाष्यानुसारेण च वैदिकशब्दानामुदाहृतौ 'शन्नो देवीः' इत्यस्योल्लेखः कथंकारं दोषकरः ? न च महाभाष्यकार एवमलेखीद् यदयं मन्त्रोऽथर्ववेदस्यादिमः ।

गोपथब्राह्मणे आदिशब्दस्तु पठितः, परं नासौ प्रारम्भार्थकः, किन्तु 'आदि कृत्वा' इत्यत्र 'कृ' धातुः पठनार्थकः । यथा वराहगृह्यसूत्रे 'दक्षिणत उदङ्मुखो मन्त्रकारः' इत्यत्र विवाहे 'मन्त्रकारः' इत्यस्य मन्त्रपाठकर्त्ता इत्येवार्थः । एवमेवात्र 'आदि कृत्वा' अर्थात् 'प्रथमं मन्त्रं पठित्वा' इत्येवार्थः । अन्यथा आदिपदस्य प्रारम्भार्थं इह चेद् भाष्यकृतोऽपि मतमेतदभिमंस्यते यदसौ मानुषीं पैप्पलादशाखां

प्र०—यहां प्रसङ्गतः यह भी विचार कर लिया जाये कि गोपथब्राह्मण तथा महाभाष्य में वैदिक शब्दों के उल्लेख करने में अथर्ववेद का 'शन्नो देवी०' यह मन्त्र अन्य वेदों के आदि मन्त्रों के उदाहरण देते समय उदाहृत किया है, परन्तु वर्तमान में 'ये त्रिषप्ताः०' यह मन्त्र अथर्ववेद के आदि में मिलता है । इसका क्या कारण है ?

समा०—श्रीमन् ! 'शन्नो देवी०' यह मन्त्र पैप्पलाद शाखा का आदिम मन्त्र है, परन्तु महाभाष्य में पैप्पलादसंहिता को वेद नहीं माना गया है यह बात हमने ऊपर भी दर्शाई है । दूसरे 'शन्नो देवी०' यह मन्त्र अथर्ववेद में आया है, इस बात का तो कोई निराकरण नहीं करता है । महाभाष्यकार ने तो 'वैदिक शब्द कौन-कौन हैं' इस प्रश्न के उदाहरण में 'शन्नो०' मन्त्र का उद्धरण किया है, यह किस प्रकार दोषकर है ? तथा भाष्यकार ने यह कहीं भी नहीं लिखा कि 'शन्नो०' मन्त्र अथर्ववेद का आदिम है ।

गोपथब्राह्मण में जो आदि शब्द दिया है, वह प्रारम्भार्थक नहीं है । किन्तु 'आदि कृत्वा' में 'कृ' धातु पठनार्थक है । जैसे वराहगृह्यसूत्र में कहा है कि विवाहकाल में मन्त्रकार दक्षिण में उत्तराभिमुख बैठे । यहां मन्त्रकार का अर्थ मन्त्रपाठकर्त्ता है । इसी प्रकार गोपथ में 'आदि कृत्वा' का अर्थ पहले पढ़कर है । अन्यथा आदि पद का उक्त सूत्र में प्रारम्भार्थ मानने पर भाष्यकार पर भी ध्वनितार्थ

https://t.me/DharmaSamra

वेदत्वेन मन्यत इत्यनादरः स्यात्तस्य ।

वस्तुतस्तु अत्रैकं रहस्यं यदेतन्मन्त्रस्य प्रथमपाठः कर्मकाण्डसम्बन्धिपरम्परया विद्यते । यज्ञिय-कर्मकाण्डे ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेदानां पाठप्रथा वर्तते । "यदेनम् ऋग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिः स्तुवन्ति" (नि० १३।१७) । अत्र कर्मकाण्डे नाथर्ववेदोपयोगः, किन्तु ब्रह्मयज्ञे (जपयज्ञे) भवति ।

कर्मकाण्डपरम्परायामाचमनाय अथर्ववेदस्य 'शन्नो देवी०' इति मन्त्रस्योपयोगो भवति, परन्तु कर्मकाण्डाद् भिन्नस्थले ऋग्वेदादीनां पाठो गायत्रीमन्त्र-प्रारम्भपूर्वक एव विहितः ।

"स्वाध्यायानुपाकरोति आचार्योऽन्तेवासिनां योगमिच्छन् जपति ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि, ब्रह्म वदिष्यामीति त्रिः सावित्रीमधीते, ओ३म् भूर्भुवः स्वरिति" (वराहगृह्यसूत्रे) ।

न च गायत्री तेषां वेदानां त्रयाणां प्रथमो मन्त्रः परं स्वाध्यायाद् पूर्वपठनविधानमेतस्याः ।

तथैव वेदस्यानुपूर्वीनिर्देशेऽपि 'अस्य वामीय०'—इति 'क्रीडन्तौ पुत्रैः०' इति च निदर्शनमात्रे, न त्वेतेन कदापि तत्तद्वेदस्य आदिममन्त्रता निर्धार्यते ।

द्वारा मानुषी शाखा पैप्पलाद के मानने का आरोप सिद्ध होता हो, तो भगवान् पतञ्जलि का अनादर होगा ।

वस्तुतः यहां एक रहस्य की बात है कि यह जो मन्त्रों का प्रथम पाठ किया जाता है, वह कर्मकाण्ड-सम्बन्धी परम्परा के कारण है । यज्ञसम्बन्धी कर्मकाण्ड में ऋग्वेदादि तीन के पाठ की परम्परा है । जैसा कि निरुक्त में कहा है कि होममन्त्र का ऋग्वेद के मन्त्रों से शंसन, यजुर्वेद के मन्त्रों से यजन और सामवेद के मन्त्रों से संस्तवन करते हैं । यहां कर्मकाण्ड में अथर्ववेद का उपयोग नहीं है, किन्तु ब्रह्मयज्ञ (जपयज्ञ) में होता है ।

कर्मकाण्ड की परम्परा में आचमन करने के लिए अथर्ववेद के 'शन्नो०' इस मन्त्र का उपयोग होता है । परन्तु कर्मकाण्ड से भिन्न स्थल में ऋग्वेदादि वेदत्रय का पाठ गायत्री मन्त्र के पाठनपूर्वक विहित है । यह बात वराहगृह्यसूत्रोद्धरण से सिद्ध है ।

इससे यह अर्थ कदापि ध्वनित नहीं हो सकता कि उन वेदों का गायत्री मन्त्र आदिम है । केवल स्वाध्याय से पूर्व पढ़ने का विधान है । उसी प्रकार वेद के आनुपूर्वी के निर्देश व उदाहरणों में भी 'अस्य वामीय' इथा 'क्रीडन्तौ पुत्रैः०' से तत्तद् वेद के आदि मन्त्र होने की बात ध्वनित नहीं होती ।

पृ० ६९४, पं० २—यदुच्यते "स्मर्यमाणकर्तृकत्वमुपाधिरप्यत्र हेतौ, तेन सोपाधिकत्वमपि । यत्र यत्र महाभारतादौ वेदत्वाभावस्तत्र तत्र स्मर्यमाणकर्तृकत्वमस्ति ।" नेदं युक्तियुक्तम् ।

न चायं वेदव्याख्यानादिति हेतोः सोपाधिकः स्मर्यमाणकर्तृकत्वरूपोपाधिना । ब्राह्मणेषु अवेदत्वे साध्येऽपि स्मर्यमाणकर्तृकता महाभारतादौ इव वर्तते । एवं वेद-व्याख्यानरूपसाधनेऽपि स्मर्यमाणकर्तृकताया व्यापकता विद्यते, न चाऽव्यापकता । अतो निरुपाधिरयं हेतुः सिद्धः । यत उपाधिस्तु साध्ये व्याप्तो भवति । साधने चाऽव्याप्तः । परन्न तथाऽत्र ।

नहि केनापि ऋषिणा वेदा व्याख्यानरूपे निगदिताः, न च वेदाः कस्यापि ऋषेरुपज्ञात्वादाद्योच्चारणम्, परं ब्राह्मणानि याज्ञवल्क्यादिरचितानि, शरीरधारिणां च याज्ञवल्क्यादीनां संवादाश्चाप्येतेषु लौकिका न चालौकिकास्ते । वेदे उर्वशी-पुरूरवादिसंवादा अलौकिकाः । वैदिकवस्तुसुखावबोधनार्थमिमे संवादा जनकादीनामिति तु व्यभिचरितम् । भवत्पक्षेण तु अस्मादृशभवादृशोक्तीनामपि वैदिकवस्तुबोधने नित्यत्वमापद्येत । अतो वेदानामनीश्वरोक्तत्वम् ऋषिप्रणीतत्वं

पृ० ६९४, पं० २—पारिजात में यह कथन भी कि "इसमें स्मर्यमाणकर्तृकरूप उपाधि भी है, अतः यह सोपाधिक है । जहां-जहां महाभारत में वेद का अभाव सिद्ध है, वहां-वहां सब जगह उनका कर्त्ता मालूम है ।" ठीक नहीं है ।

यह नहीं कह सकते कि वेदव्याख्यान होने से यह हेतु सोपाधिक है और इसमें स्मर्यमाणकर्त्तृकता उपाधि है । ब्राह्मण में अवेदत्व होने में महाभारत के समान स्मर्यमाणकर्त्तृकता है । इस प्रकार वेदव्याख्यानरूप साधन ब्राह्मण में भी स्मर्यमाणकर्त्तृकता की व्यापकता सिद्ध है, न कि अव्यापकता और वेद में किसी शरीरधारी पुरुष की कर्त्तृकता नहीं है । अतः यह हेतु निरुपाधि है । क्योंकि उपाधि तो साध्य में व्याप्त और साधन में अव्याप्त होता है, परन्तु यहां पर वैसा नहीं है ।

किसी भी ऋषि ने वेदों को व्याख्यानरूप नहीं कहा और न वेद किसी ऋषि के सोपज्ञाजन्य ज्ञान आद्योच्चारण हैं, पर ब्राह्मण तो याज्ञवल्क्यादि द्वारा रचित हैं, शरीरधारी याज्ञवल्क्य आदि के लौकिक संवाद भी इनमें हैं, वे अलौकिक संवाद नहीं हैं । वेद में तो उर्वशी-पुरूरवा आदि के संवाद अलौकिक हैं । ब्राह्मण में जनक आदि के संवाद वैदिक वस्तुओं के सुखावबोधनार्थ हैं, इसलिए आपका कथन व्यभिचरित है । आपका पक्ष मानने पर तो हमारे और आप जैसों के कथन भी वैदिक वस्तु-बोधन में नित्यत्व को प्राप्त होने लगेंगे । अतः वेदों

https://t.me/DhamaSanrai

ब्राह्मणानाञ्चेश्वरीयत्वमनृषिवचनत्वं तूभयमेव न साधु ।

पृ० ६९५, पं० १—यदुच्यते "यथैव जनकयाज्ञवल्क्यादिसंवादस्य ब्राह्मणेषु दर्शनाज्जनककालान्तरकालवृत्त्युत्पत्तिमत्त्वं ब्राह्मणानां परिकल्प्यते, तथैव मन्त्राणामपि सूर्यचन्द्रोर्वश्यादिकालानन्तरकालोत्पत्तिकत्वेनानित्यत्वमेवापद्येत ।" इति तु असङ्गतं, वेदानां न लौकिकपदार्थास्तित्वापेक्षत्वम्, तज्ज्ञानस्येश्वरनित्यत्वेनावस्थितत्वात्, परं ब्राह्मणानां न तथात्वं जनकाद्युत्पत्त्यनन्तरं रचितत्वात् ।

पृ० ६९५, पं० ५—यदप्याह "यथा पाश्चात्या वेदेषु नदी-पर्वत-वन-पशु-मनुष्यादीनां विविधनामदर्शनादेव तदनन्तरकालिकत्वं कल्पयन्ति, तामेव सरणिमनुसरन्ति ब्राह्मणभागेषु सामाजिका इति पाश्चात्या इव तेऽप्यपाकरणीयाः" इति तु दृष्टान्तवैषम्यम् । पाश्चात्या इव पौराणिका एव राम-कृष्णादिशब्दान् दृष्ट्वा हनुमद्गोपिकादिरासलीलाकल्पनामपि विदधति वेदेषु । ब्राह्मणादिग्रन्थास्तु वेदानुचरा यथा सम्राजोऽन्यराज्यसेवकाः । न कथमपि साम्यं तयोः सम्भवति ।

वस्तुतस्तु आर्यधर्ममूलोन्मूलकानां थीवोसाहबादिपाश्चात्यानामन्धानुकरणेन

का अनीश्वरोक्तत्व व ऋषि-प्रणीतत्व तथा ब्राह्मणों का ईश्वरोक्तत्व और अनृषि-वचनत्व दोनों ही सिद्ध नहीं होते ।

पृ० ६९५, पं० १—यह कथन "जैसे जनक-याज्ञवल्क्य के संवाद को ब्राह्मणों में देखकर यह कल्पना की जाती है कि ये ब्राह्मण जनक के काल के बाद में बने, उसी तरह मन्त्रों की भी रचना सूर्य, चन्द्र, उर्वशी आदि के समय के उपरान्त होने से उनकी अनित्यता माननी पड़ेगी" सर्वथा असंगत है, क्योंकि वेद-शब्द लौकिक पदार्थों की रचना की अनन्तरता की अपेक्षा नहीं रखते, वेदज्ञान तो ईश्वर में नित्य अवस्थित रहता है, परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों की रचना जनकादि लौकिक पुरुषों के अनन्तर हुई ।

पृ० ६९५, पं० ५—यह भी कहना कि "जैसे पाश्चात्य विद्वान् वेदों में नदी, पर्वत, वन, पशु, मनुष्य आदि के भांति-भांति के नाम देखकर वेदों को उनके बाद की रचना मानते हैं, उन्हीं का अनुसरण करनेवाले आर्यसमाजी उन्हीं की पद्धति को स्वीकार कर ब्राह्मणभाग के विषय में यही बात कहते हैं" भी अयुक्त व असंगत है । वेद के साथ ब्राह्मण की बात कहना दृष्टान्त की विषमता है । पाश्चात्यों के समान पौराणिक ही 'राम', 'कृष्ण' आदि नामों को देखकर उनके यौगिक अर्थों को न मान रूढि-अर्थों को मानकर हनुमान् और गोपिका आदि की रासलीला सिद्ध करने की दुश्चेष्टा व दुष्ट साहस करते हैं । कहां सम्राट् वेद, और कहां ये अनुचर सेवक ब्राह्मणग्रन्थ । भला, इनकी क्या समता हो सकती है !!

वास्तव में आर्यधर्म के मूल को उखाड़नेवाले थीवो साहब आदि पाश्चात्यों

पौराणिकनेताऽयमपि तथाऽऽचरति । अन्ततोगत्वा आर्यधर्मपरित्राणार्थं बद्धपरिकरा ऋषिदयानन्दभक्ता एव ईश्वरीयज्ञानवेदचतुष्टयसिद्धान्तरक्षां विधास्यन्ति । आर्यसामाजिकान् पाश्चात्यमतिप्रभावितान् कश्चिदेव मूढधीः कथयितुमुत्सहेत, यदा हि पाश्चात्य-मार्क्स डेन-वेबर-मैक्डानलादीनां विचाराणां खण्डनं सबलमिमे एवार्या व्यधुर्न पौराणिकाः । पाश्चात्यवेदभाष्यकाराणामर्थाननर्थान् सर्वप्रथमम् ऋषिदयानन्द एवासाधयत् ।

भूमिकायां ब्राह्मणानामवेदत्वसाधकं तृतीयहेतुमाह—'ऋष्युक्तत्वात्' इति । इमं हेतुं च भवानपि स्वीकरोति यथा—पृ० ६९४, पं० ७—"ऋष्युक्तत्वस्य ऋगादिमन्त्रसाधारणत्वात्" । भवता पूर्वं हि वेदा ईश्वरेण प्रकाशिता अग्न्यादिहृदयेषु, पश्चाद् ऋषिभिरुक्ता उच्चारिता अन्यान् प्रतीत्यभिप्रेत्याप्युक्तम् । तद्-वारणाय ऋषिणा इहैव अनीश्वरोक्तत्वादित्यपि हेतुरुपन्यस्तः—अर्थाद् ब्राह्मणग्रन्था वेदवत् पूर्वम् ईश्वरेण नोक्ताः कदापि, ब्राह्मणानि तु ऋषीणामुपज्ञारूपाणि न तथा वेदाः । अतो न पुनरुक्तदोषः । प्रत्युत भवानेव 'निरनुयोज्यानुयोग'नामकनिग्रहस्थाने निगडितः सीदतीति बुधाः प्रणिदधति ।

के अन्धानुकरण से ये पौराणिक नेता भी वैसा ही आचरण कर रहे हैं । अन्ततोगत्वा आर्यधर्म की रक्षा के लिए कटिबद्ध ऋषि दयानन्द के भक्त ही ईश्वरीय ज्ञान वेदचतुष्टय के सिद्धान्त की रक्षा करेंगे । आर्यसमाजियों को कोई ही मूढधी यह कहेगा कि ये पाश्चात्य मतों से प्रभावित हैं, जब कि पाश्चात्य मार्क्स, डेन, वेबर, मैक्डानल आदि के विचारों का खण्डन प्रबलरूप से इन आर्यसमाजियों ने ही किया है । पाश्चात्य वेदभाष्यों के अनर्थों को सर्वप्रथम ऋषि दयानन्द ने ही अनर्थ सिद्ध किया है ।

भूमिका में ब्राह्मणों का अवेदत्व-साधक अब तीसरा हेतु कहा जा रहा है कि ये ब्राह्मण ऋषिप्रोक्त हैं, इस हेतु को आपने भी "ऋग् आदि के मन्त्र भी समानरूप से ऋषियों के द्वारा कहे गये हैं", ऐसा कहकर अन्यथा स्वीकार लिया है । आपने भी पहले वेद ईश्वरोक्त हुए अर्थात् 'ईश्वर ने ऋषियों के हृदयों में प्रकाशित किये या ऋषियों ने दूसरों के प्रति उच्चारित किये' इस अभिप्राय से कहा है । पर इसी अर्थ की कल्पना करने से आपको रोकने के लिए 'ब्राह्मणग्रन्थ ईश्वर के द्वारा प्रथम कभी नहीं कहे गये' यह दूसरा हेतु भी रख दिया गया, अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थ ऋषियों के उपज्ञा-रूप हैं; परन्तु वेद नहीं हैं । इसीलिए यहां हेतु पुनरुक्त नहीं है । इस प्रकार 'निरनुयोज्यानुयोग' नामक निग्रहस्थान में आप ही आ गये, विद्वान् लोग इस बात को अच्छी तरह समझ रहे हैं ।

https://t.me/DharmaGanga

शङ्का—ननु भूमिकायाम् "ऋषिभिरुक्तत्वात्" इति तृतीयहेतुर्ब्राह्मण-ग्रन्थानां वेदत्वनिरासायोक्तः। परं मन्त्रसंहिता अपि ऋषिभिः प्रोक्ताः सन्ति। अष्टाध्याय्यां शौनकादिगणे पठितसप्तदशशब्दैर्वेदस्य सप्तदशशाखानां नामानि प्रोक्तानि। एवं वाजसनेयेन प्रोक्ता वाजसनेयी संहिता यजुःशाखैव। तदा किम् ऋषि-प्रोक्तत्वान्मन्त्रसंहिता अपि न वेदाः? सत्येवं वेदसंज्ञाकरणं तेषां चतुर्णामपि घोषणं निरर्थकमेवेति।

समा०—इति चेन्न, प्रश्नोद्भावकेन 'उक्त'-'प्रोक्त'-शब्दयोर्गूढार्थभेद एव नावगतः। यदि पाणिनिपठितप्रोपसर्गपूर्वकोक्तशब्दार्थ एवाभिप्रेतोऽभविष्यत् स्वामिदयानन्दस्याप्युक्तशब्देन, तदा पाणिनेर्महामतेः 'प्र' इत्युपसर्गो निष्फलोऽभविष्यत्। परं महाप्राज्ञस्य पाणिनेर्विवक्षितोऽयमाशयः 'प्रोक्त'शब्देन यद् येनर्षिणा यस्याः शाखायाः संहितायाः संकलनं पुस्तकाकारे कृतम्, तदेव 'प्रोक्तम्' न तु तेन रचितपुस्तकेनाऽभिप्रायः।

अतो गणपाठोक्तसप्तदशशब्दास्तत्-संग्रहकर्तॄणां नामानि न तु रचयितॄणाम्। तदा वाजसनेयेन यत्संहितासंकलनं कृतम्, सा वाजसनेयी संहिता प्रसिद्धा। परन्न मूलवेदेषु तन्नाम विद्यते, यजुःष्वस्ति। अतः सिद्ध्यति यद् वाजसनेयीति

शङ्का—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में 'ऋषियों के कहे होने से' यह तीसरा हेतु ब्राह्मणों के वेदत्व-निराकरण में दिया गया, पर मन्त्रसंहिताएं भी ऋषियों से प्रोक्त हैं। अष्टाध्यायी के शौनकादिगण में १७ शब्द पढे गये हैं। इनसे १७ शाखाओं के नाम कहे गये हैं। इस प्रकार वाजसनेय से प्रोक्त (संकलित) शाखा वा संहिता का नाम वाजसनेयी संहिता पड़ा है। तो ऋषि-प्रोक्त होने से मन्त्र-संहिताएं भी वेद नहीं, ऐसा मानने पर तो चार वेदों की भी वेद-संज्ञा करना निरर्थक हो जायेगा।

समा०—ऐसा नहीं है। आपने 'उक्त' और 'प्रोक्त' शब्दों के अर्थ-भेद को भी नहीं समझा। यदि 'पाणिनि' के 'प्रोक्त' शब्द से अभिप्रेत अर्थ ही ऋषि दयानन्द के 'उक्त' शब्द से भी अभिप्रेत होता तो पाणिनि का 'उक्त' से पूर्व 'प्र' उपसर्ग लगाना ही व्यर्थ होता। पाणिनि मुनि का प्रोक्त से विवक्षित अर्थ उन-उन ऋषियों द्वारा संगृहीत तत्तत् संहिता वा शाखा है न कि उनके द्वारा रचित। पर 'उक्त' से ऋषि दयानन्द का अभिप्राय रचित ब्राह्मणों से है।

अतः गणपाठ में कहे १७ शब्द संग्रहकर्त्ताओं के नाम हैं, रचयिताओं के नहीं। तो वाजसनेय ने जिस संहिता का संकलन किया वह वाजसनेयी संहिता कहलायी। परन्तु वाजसनेय शब्द मूलवेदों में कहीं नहीं है, 'यजुः' शब्द तो आता

पश्चात् ख्यातिं गता, यदाऽयमृषिः पुस्तकरूपेण सङ्कलितवान्।

शङ्का—यदा ऋषि-प्रोक्तत्वेऽपि संहिता वेदास्तदा ब्राह्मणग्रन्था अपि कथन्न वेदसंज्ञामर्हन्ति?

उत्तरम्—यदि ऋषि-प्रोक्तानखिलान् ग्रन्थान् वेदसंज्ञकान् मंस्यते भवान् तदा ऋषिदयानन्द-लिखिता अपि ग्रन्थाः कथं न वेदाः? तस्माद् विरम्यतामनर्थ-कल्पनायाः।

पृ० ६९५, पं० १२—यदुच्यते—"ब्राह्मणानां यद्यप्यृषिकृतत्वं न श्रूयते, तथापि मन्त्राणामृषिकृतत्वं ब्राह्मणेषु मन्त्रेषु चोक्तमेव। तथाहि 'सूर्य ऋषिर्मन्त्रकृत्' (ऐ० ब्रा० ६।१)" इत्यादि।

तत्रैतस्य बुद्धिमान्द्यमेव, मन्त्रकृदादिशब्दानां मन्त्रद्रष्टॄणामित्यर्थवास्तवात्। विस्तरेणैष विषयो मद्रचिते 'वेदमन्त्रों पर निर्दिष्ट ऋषि मन्त्रद्रष्टा हैं, मन्त्रकर्ता नहीं' इति निबन्धे सम्यक् प्रत्यपादि। जिज्ञासुभिस्तत्र द्रष्टव्यम्।

अपरञ्च "अनुवादस्तु सप्रयोजनो व्याख्यानरूप इत्यनुसृत्य एषोऽनुवाद एव। वेदेषु तैः (सनातनिभिः) ईश्वररचितत्वानङ्गीकरणादिति तु जडनास्तिकोक्तिः।" अहो निर्मलोक्तिः सुघटितेह। लज्जास्पदं यदनुमन्यत एष वेदान्

है। इससे सिद्ध है कि वाजसनेयी संहिता यह प्रसिद्धि बाद में हुई, जब उन्होंने उसका पुस्तकरूप में संग्रह किया।

शङ्का—जब ऋषि-प्रोक्त होने पर भी संहिताएं वेद हैं, तो ब्राह्मणग्रन्थ भी वेद क्यों नहीं?

उत्तर—यदि ऋषि-प्रोक्त होने पर समस्त ग्रन्थों को वेद मानोगे तो ऋषि दयानन्द के लिखित ग्रन्थ भी वेद क्यों नहीं माने जायेंगे? अतः अनर्थक कल्पनाएं नहीं करनी चाहिए।

पृ० ६९५, पं० १२—यह कहना ग्रन्थकर्त्ता का बुद्धिमान्द्य ही है कि "ब्राह्मणों की ऋषि-प्रणीतता यद्यपि नहीं सुनी जाती, तो भी मन्त्रों की ऋषि-प्रणीतता ब्राह्मण और मन्त्रभाग दोनों में श्रुत है। यथा—सूर्य ऋषि मन्त्रकृत् है।

यह पारिजात कर्त्ता का कथन ठीक नहीं क्योंकि मन्त्रकृत् आदि शब्दों का अर्थ मन्त्रद्रष्टा आदि ही है। विस्तार से मेरे "वेदमन्त्रों पर निर्दिष्ट ऋषि मन्त्रद्रष्टा हैं, मन्त्रकर्त्ता नहीं' निबन्ध में लिखा है, जिज्ञासुजन देखलें।

दूसरे 'अनुवाद तो सप्रयोजन व्याख्यानरूप होता है' अतः यह अनुवाद ही है। 'वेदों को उन सनातनियों ने ईश्वर-रचित नहीं स्वीकार किया है'। यह कथन तो नास्तिक का हो सकता है, यहां निर्मलोक्ति सुघटित है। यह नास्तिकता और

https://t.me/DharmaSamvat

नवेश्वरीयवचनानीति तु नास्तिकत्वम्। पौराणिकास्तदनुगा विभवैर्धनान्धश्रद्धाभिभूतमनसाऽपि तथाऽर्चयन्ति।

एकस्वरेण सुधियः प्रभुनिर्मितस्य वेदस्य बोधमिह शाश्वतिकं जगुस्ते। तस्मात्स्वतस्त्वमपि तस्य तथापरेषां प्रामाण्यमस्ति परतः खलु पुस्तकानाम्।

अत्र तृतीयेन चतुर्थोऽपि हेतुर्व्याख्यातः।

पृ० ६९६, अनु० ३—कात्यायनभिन्नैर्महर्षिभिर्वेदसंज्ञाया अस्वीकृतत्वात्"।

इह कात्यायनभिन्नैरित्यस्याशयः कात्यायनभिन्नमतकैः, अर्थात् कात्यायनो याज्ञिकपरिभाषायां ब्राह्मणानामपि वेदैः सार्धं प्रयोजनत्वाद् उभयोरपि यज्ञप्रकरणे वेदत्वमङ्गीचकार, अन्ये तु यज्ञेऽपि ब्राह्मणानां वेदत्वं न स्वीकुर्वन्ति ये शुक्लयजुर्मन्तारः।

कृष्णयजुर्मन्तारः आपस्तम्ब-सत्याषाढ-बौधायनादिश्रौतसूत्रादिप्रणेतारस्तु कृष्णयजुर्ब्राह्मणमिश्रितं मन्यन्ते नाम छत्रिणो यान्तीति न्यायात्। नहि ऋक्सामवेदयोरुपलब्धशाखासु ब्राह्मणं लेशतोऽपि संमिश्रितमस्ति। कतिपये यजुःसर्वानुक्रम-

---

लज्जा की बात है कि पारिजातकर्त्ता यह मानते हैं कि 'वेद ईश्वरकृत नहीं हैं, उनके पौराणिक अनुयायी धनी और अन्ध श्रद्धा से अभिभूत मन से उनकी धनों से पूजा करते हैं।'

पूर्व के विद्वान् लोग एकस्वर से प्रभुनिर्मित वेद के ज्ञान को शाश्वत मानते हैं। अतः वेद का प्रामाण्य भी स्वतः है और अन्य ब्राह्मणादि का परतःप्रामाण्य है।

यहां तृतीय हेतु से चौथे हेतु की भी व्याख्या हो गयी।

पृ० ६९६, अनु० ३—"कात्यायन से भिन्न ऋषियों के द्वारा वेद-संज्ञा स्वीकृत नहीं की गयी।"

यहां पर 'कात्यायन-भिन्न शब्द का अभिप्राय है कि कात्यायन से भिन्न मतवाले अर्थात् यज्ञ में भी ब्राह्मण की वेदता स्वीकार न करनेवाले अन्य ऋषि यज्ञ में भी ब्राह्मणों का वेदत्व स्वीकार नहीं करते हैं, जो शुक्लयजुः के माननेवाले हैं।

कृष्णयजुः शाखा माननेवाले आपस्तम्ब, सत्याषाढ, बौधायन आदि सूत्रप्रणेता ब्राह्मणों की वेदता कहते हैं, क्योंकि कृष्णयजुः भी ब्राह्मणमिश्रित है। छत्रधारियों के साथ दो अच्छत्रधारी भी हों तो भी बहुत्व से व्यपदेश होने से, छत्रधारी जा रहे हैं, ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार बहुत मन्त्रों में कुछ ब्राह्मण होने पर वेदान्तर्गत कह दिया जाता है। ऋग्वेद और सामवेद की उपलब्ध शाखाओं में ब्राह्मण लेशमात्र भी मिश्रित नहीं है। कतिपय लोग यजुः के सर्वानु-

सूत्रमाधारीकृत्य शुक्लयजुषः काण्वमाध्यन्दिनसंहितयोरपि ब्राह्मणस्य संमिश्रणं मन्वते, यच्च स्वयमप्रामाणिककोटौ वर्तते। अपरे प्राचीनाचार्याः काण्वमाध्यन्दिनयोर्ब्राह्मणपदवाच्यं कमप्यंशं न निर्धारयन्ति, प्रत्युत सर्वानुक्रमतमपि ब्राह्मणभागमाचार्यास्ते सुविशदं मन्त्रात्मकमेव मेनिरे न ब्राह्मणमिश्रम्। आनन्दबोधो भाष्यकारः काण्वसंहितायाः तथाविधभागे ऋषिदेवताछन्दसां निर्देशं चकार। एवंविधनिर्देशस्तु मन्त्रेष्वेव न ब्राह्मणभागे भवति। परिशिष्टञ्चाऽपि न प्रामाणिकत्वेन कात्यायनरचितम्। कात्यायननाम्ना प्रसिद्धे प्रतिज्ञा-परिशिष्ट एवोपलम्भाद् यदि कात्यायन-सम्मतकमभविष्यत् तदाऽऽपस्तम्बादिश्रौतसूत्रवत् कात्यायनश्रौतसूत्रसम्बद्ध-प्रतिज्ञापरिशिष्टेऽभविष्यत्, न तु प्रातिशाख्यसम्बद्धे। एतेन कात्यायनस्याऽपि ब्राह्मणानां वेदसंज्ञानभीष्टत्वं व्यज्यते। अतएव सत्यार्थप्रकाशे (समु० ७) उक्तम् "अनेकप्रमाणविरुद्धत्वान्नेदं कात्यायनवचनं सम्भवति।"

यदुच्यते केनापि यत्र बौधायनधर्मगृह्यसूत्राणां न कृष्णयजुर्वेदीयत्वं, तदलीकम्, रामगोविन्दत्रिवेद्यादिपौराणिकैरपि तथाङ्गीकृतत्वात्। परं तेषामापस्तम्बादीनां वेदसंज्ञा-परिभाषा तद्ग्रन्थेष्वेव वर्तयितुं युज्यते, न चान्यत्र। यथा

क्रमसूत्र को आधार मानकर शुक्लयजुः की काण्व और माध्यन्दिन संहिताओं में भी ब्राह्मण का सम्मिश्रण मानते हैं, जो स्वयं प्रामाणिक कोटि में नहीं है। कोई प्राचीन आचार्य काण्व और माध्यन्दिन में ब्राह्मण नहीं मानते, प्रत्युत सर्वानुक्रमसूत्रकार द्वारा माने गये ब्राह्मण-भाग को स्पष्टरूपेण मन्त्रमात्र ही मानते हैं न कि ब्राह्मणमिश्रित। काण्वसंहिता के भाष्यकार आनन्दबोध ने तो ऐसे अंशों पर भी ऋषि, देवता और छन्दों का निर्देश किया है, जबकि ऐसा निर्देश केवल मन्त्रों पर ही होता है, ब्राह्मण पर नहीं। दूसरे 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इसकी रचना कात्यायन ने की, यह भी प्रमाणित नहीं है। कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध प्रतिज्ञा-परिशिष्ट में ही इसका उल्लेख है। यदि कात्यायन को भी ब्राह्मण का वेदत्व अभीष्ट होता तो श्रौतसूत्र में उक्त सूत्र देते। यह सूत्र यदि कात्यायन-सम्मत होता तो आपस्तम्ब आदि श्रौतसूत्र की भांति कात्यायन-श्रौतसूत्रसम्बद्ध प्रतिज्ञापरिशिष्ट में होता न कि प्रातिशाख्यसम्बद्ध प्रतिज्ञापरिशिष्ट में। इससे अभिव्यक्त होता है कि कात्यायन को भी ब्राह्मणों की वेद-संज्ञा अभीष्ट नहीं है। इसीलिए सत्यार्थप्रकाश के सातवें समुल्लास में महर्षि दयानन्द ने लिखा है कि—अनेक प्रमाणों से विरुद्ध होने से यह कात्यायन का वचन नहीं हो सकता।

यह किसी का कथन कि बौधायन धर्म-गृह्यसूत्र कृष्णयजुर्वेदीय नहीं हैं, निराधार है। रामगोविन्दत्रिवेदी आदि पौराणिकों ने भी वैसा स्वीकार किया है। परन्तु उन आपस्तम्बादि में भी वेदसंज्ञा-परिभाषा तो उन्हीं के ग्रन्थों में उपयुक्त

https://t.me/DhamaSamrat

पाणिनेर्गुणः 'अदेङ् गुण' इत्येव, न तु वैशेषिकसांख्यादौ कथितो गुणः।

नन्वापस्तम्ब-ऋषिरपि ब्राह्मणानि वेदत्वेन स्वीचक्रे इति वाच्यम्, इति चेन्न, तत्र गौणतयाऽङ्गीकरणात्। यथाहि महाभाष्यकृद् भगवान् पतञ्जलिराह—"सूत्रमेव विगृहीतं व्याख्यानं भवति" तथा "लक्ष्य-लक्षणे व्याकरणम्" इत्यनुसृत्य व्याख्यानभागेऽपि गौणतया वेद-संज्ञा-व्यवहारः। यथा च मीमांसा-सूत्रेषु 'मन्त्र-निर्वचनाधिकरणम्' 'ब्राह्मणनिर्वचनाधिकरणम्' इत्यधिकरणद्वयपार्थक्यं द्वयोर्भिन्नत्वं प्रकटी कुरुते। तन्नेदं वक्तव्यं यत्तत्र मीमांसायां पूर्वं वेदलक्षणं, तदनुब्राह्मणलक्षणम्, पश्चाद् ऋग्वेदादिविशिष्टलक्षणं कृतम्। अतः सामान्यविशेषलक्षणयोर्मध्ये लक्षितस्य ब्राह्मणस्याऽपि वेदत्वेन ग्रहणं कर्तव्यम्, मन्त्रसामान्यवेदादिविशेषलक्षणयोर्मध्ये देहली-दीपकन्यायसम्बन्धो हि ब्राह्मणानाम्।

पृ० ६९७, अनु० २—यच्चोच्यते—"शाबरभाष्यस्य प्रामाण्यमङ्गीकरोति दयानन्दः सत्यार्थप्रकाशे। 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (मी० २।१।३३) इत्यत्र शाबरभाष्ये मन्त्राश्च ब्राह्मणं च वेदः, तत्र मन्त्रलक्षण उक्ते परिशेषसिद्धत्वाद् ब्राह्मणलक्षणमवचनीयम्" इति, तदप्यलीकं मिथ्याबोधाभिनिवेशश्च तत्र। नहि स्वामिना

करना ठीक है, अन्यत्र नहीं। जैसे कि पाणिनि की गुण-वृद्धि आदि परिभाषाएं वैशेषिक तथा सांख्य की परिभाषाएं नहीं हो सकतीं।

'आपस्तम्ब ऋषि ने भी ब्राह्मणों को वेद माना है' यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि वहां पर गौणरूप से स्वीकार किया है। जैसा कि महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है कि—'सूत्र ही विगृहीत होकर व्याख्यान हो जाता है' तथा 'लक्ष्य-लक्षण व्याकरण है।' इस व्यवहार का अनुसरण कर व्याख्यानभाग में भी गौणता से वेद-संज्ञा व्यवहृत हो जाती है और मीमांसासूत्रों में भी 'मन्त्रों के निर्वचन का अधिकरण' 'ब्राह्मणनिर्वचन का अधिकरण' इन दो अधिकरणों के लिखने से दोनों की भिन्नता प्रकट है।

यह भी नहीं कहना चाहिए कि 'मीमांसा में पहले वेद का लक्षण, फिर ब्राह्मण का लक्षण, इसके पश्चात् ऋग्वेदादि का विशेष लक्षण किया है। अतः सामान्य-विशेष लक्षणों के मध्य में लक्षित ब्राह्मण का भी वेदत्व स्वीकार कर लेना चाहिए।' वहां पर मन्त्रसामान्य और ऋग्वेदादि के विशेष लक्षणों के बीच ब्राह्मणों का सम्बन्ध देहली-दीपक न्याय से ही है।

पृ० ६९७, अनु० २—यह जो कहा जा रहा है कि "सत्यार्थप्रकाश में शाबरभाष्य की प्रामाणिकता कही है और (मी० २।१।३३) सूत्र के शाबरभाष्य में मन्त्र और ब्राह्मण वेद हैं। वहां पर मन्त्र का लक्षण कर देने पर जो इससे बचा, वह ब्राह्मण है।" यह मिथ्या है तथा मिथ्याज्ञान के स्वीकृत करने का दुराग्रह है।

शाबरप्रामाण्यमङ्गीकार्यमिति प्रतिपादितम्।

यः शबरस्वामी गोपथब्राह्मणमपौरुषेयं वेदं मन्यते, (गोपथब्रा० १।२।५) इत्यत्र 'अष्टाचत्वारिंशद् वर्षं सर्ववेदब्रह्मचर्यम्' प्रत्यपादि तथापि गोपथविरोधे (मी० १।३।३) भाष्ये शबरस्वामी "अष्टाचत्वारिंशद् वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यचरणं, जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत" इत्यनेन विरुणद्धि; यतो हि पुत्रोत्पत्ति यावत् कृष्णकेशस्य श्वेतकेशत्वं सम्भवति। नैतावदेव विरमति लिखन्नग्रे "अपुंस्त्वं प्रच्छादयन्तश्चाष्टाचत्वारिंशद् वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरितवन्तः, तत एषा स्मृतिः (शा० भा० १।३।४)।"

एवं गोपथाप्रामाणिकतामालोचयन्तं शबरस्वामिनमष्टाचत्वारिंशद् वर्षाणि यावद् वेदब्रह्मचर्यं प्रतिपादयन्नाचरंश्च महर्षिदयानन्दः कथं प्रमाणं मन्येत?

न च शबरलेखमात्रेण ब्राह्मणस्य वेदत्वं सेत्स्यति। अत्र सूत्रे शेष-शब्दो हि परार्थको नत्ववशेषार्थकः। तात्पर्यं त्विदं यदुपकारकः शेष उपकार्यो हि शेषी। शेषो हि गौणः शेषी च प्रधानः। प्रधानस्य व्याख्येयस्य वेदस्य व्याख्यानं ब्राह्मणं गौणम्। आधुनिकटीकाकारः शेषस्याविशेषार्थकरणे ब्राह्मणस्य वेदत्वसाधनाय दुःसाहसमेवान्वष्ठीयत। अतएव "अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः (२।१।३४)"

स्वामीजी ने शाबरभाष्य की प्रामाणिकता कहीं नहीं मानी है।

जो शबरस्वामी गोपथब्राह्मण को अन्य ब्राह्मणवत् अपौरुषेय वेद तक मानता है, वह गोपथ (१।२।५) के अड़तालीस वर्ष तक वेद-ब्रह्मचर्यपालनादेश का अपने मीमांसाभाष्य (१।३।३-४) में उपहास करते हुए गोपथ सिद्धान्त का विरोध करता है कि ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य करके भला कोई कृष्णकेश कैसे रह सकता है? वह तो श्वेतकेश हो जायेगा। आगे कहता है कि—"किन्हीं लोगों ने अपनी नपुंसकता को छिपाने का प्रयास करते हुए ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन का आचरण किया होगा, उससे यह ४८ वर्ष के वेदब्रह्मचर्य की स्मृति चल पड़ी।"

भला ऐसे परस्पर विरोधी कथन करनेवाले को महर्षि दयानन्द कैसे प्रामाणिक मान सकते थे? वे तो गोपथसिद्धान्त के प्रतिपादक तथा आचरण के प्रबल पोषक थे।

शबर के लिखनेमात्र से ब्राह्मण की वेद-संज्ञा सिद्ध नहीं हो जाती। इस सूत्र में 'शेष' का अर्थ 'अवशेष' नहीं है; प्रत्युत परार्थक व उपकारक है और उपकार्य 'शेषी' है। अर्थात् वेद उपकार्य और ब्राह्मण इसका उपकारक है। शेष को गौण तथा शेषी को प्रधान कहते हैं। व्याख्येय वेद प्रधान है तथा व्याख्यानभूत ब्राह्मण गौण है। आधुनिक टीकाकारों ने शेष का अवशेष अर्थ कर ब्राह्मण की

https://t.me/DharmaSamrat

इत्यत्राऽपि अनाम्नातेष्वनीश्वरोक्तेषु ऐतरेयादिब्राह्मणेष्वमन्त्रत्वं वेदत्वाभावोऽस्ति।

पृ० ६९८—यदुक्तम् "व्यासकर्तृकाद् विभागात् पूर्वं सर्वोऽपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदराशिरेक एवासीत्।" इति त्वनृतम्।

अहो! कीदृशी बुद्धि-विडम्बना? कथनं ते यद् महाभारतकाले पञ्चसहस्रवर्षपूर्वं सृष्ट्यादौ प्रकाशितानां वेदानां सब्राह्मणानाम् एकीभूतानां व्यासो विभागमकरोत्। अयं पौराणिकमहागल्पजल्पस्तथैव यथा—

धेनोर्यथाऽजायत वै तुरङ्गो, वत्सो यथाऽजायत घोटिकायाः।
पिपीलिकाऽऽरोहत् शीतभानुं व्यासस्तथा चाकृत वेदभागम्॥

महाप्राज्ञ! सम्प्रत्यपि निभाल्यन्तां ब्राह्मणानि धृतप्रतीकानि वेदमन्त्रब्राह्मणयोर्भेदमाचक्षते इत्यन्यत्र व्याख्यातम्। वेदेषु च मन्त्रावृत्तिः प्रकरणभेदेन, गानभेदेन अनेकार्थप्रतिपादनोद्देश्येनाऽऽदृताऽस्ते।

ननु ब्राह्मणवद् वेदेष्वपि कृतकत्वदोषोद्भवसम्भवः, तथा अनित्यत्वमापद्यतेऽतो न वेदानां न च ब्राह्मणानां कृतकत्वं मन्तव्यम्। एवमेकमत्यमपि भवतीति

वेदता सिद्ध करने का दुःसाहस किया है। इसीलिए अगले सूत्र में अनीश्वरोक्त ब्राह्मण में अमन्त्रत्व कहा गया है।

शङ्का—पृ० ६९८—"व्यास द्वारा वेदों के विभाग करने से पूर्व सब मन्त्र और ब्राह्मण एक ही वेदराशि के रूप में थे।"

समा०—आश्चर्य है, कैसी यह बुद्धि-विडम्बना है? ऐसा कथन करना कि महाभारत-काल में पांच सहस्र वर्ष पूर्व सृष्टि के आदि में प्रकाशित वेदों के विषय में ब्राह्मण और वेदों का व्यास ने विभाग किया। यह पौराणिकों का महागल्प-जल्प जैसा ही है। जैसे—

'गाय से बछेड़ा (घोड़ा) और घोड़ी से बछड़ा उत्पन्न हुआ और चींटी चन्द्रमा पर चढ़ गयी, ऐसा ही यह कथन है कि व्यास ने वेदों का विभाग किया।'

हे महामते! अब भी आप देख लीजिए कि मन्त्रों की प्रतीक रखकर वेदों की व्याख्या ब्राह्मणों में की गयी है। मीमांसा के सूत्र तो स्पष्टरूप से वेद और ब्राह्मण का भेद कह रहे हैं। यह मेरे द्वारा अन्यत्र व्याख्यान किया गया है और वेदों में मन्त्रों की आवृत्ति तो प्रकरण-भेद तथा ज्ञान-भेद के कारण बहुत से अर्थों के प्रतिपादन के उद्देश्य से की गई है।

यह कथन कि "ब्राह्मणवत् वेदों में भी कृतकत्व दोष उठने की सम्भावना से अनित्यत्व दोष आ जायेगा। इसलिए वेदों और ब्राह्मणों का कृतकत्व नहीं

चेन्न, यथा हि फलराशेरेकं विकृतं फलं सर्वाणि विकारयति, तथा हि ब्राह्मणानां मनुष्यकर्तृकत्वं, तथा वेदेन सह ऋषिकृतब्राह्मणानामकर्तृत्वमीश्वरकर्तृत्वं वा नाऽभ्युपेयं स्यात्। वेदानां कृतकता इत्यस्याशयप्रकाशस्तु ऋष्यात्मसु स्फुरणं वा निर्मलहृदयेषु। पैलादिप्रोक्तशाखानाम् अनन्तरमेवास्य कथनेन ब्राह्मणरचना व्यासापेक्षयापि अर्वाचीनतां भजते।

यदुच्यतेऽनेन "नहि स्वामिदयानन्दोक्तिः शाखाभेदकथनरूपा संगच्छते। व्याख्येयानां वेदानां व्याख्यानभूतानां ब्राह्मणानां पृथगनुपलम्भात्।" एतत्कथनेन प्रत्यक्षापलापो नैव योग्यः।

पृ० ६९९, पं० २—यदाह—"वेदशब्दस्तु केवले मन्त्रे न क्वापि" इति तत्त्वज्ञानविजृम्भितम्, मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञायाः कल्पसूत्रकारैः कल्पितत्वात्। तस्याः संज्ञायाश्च ब्राह्मणग्रन्थेष्वशक्यप्रवृत्तित्वात्, ब्राह्मणग्रन्थानां कल्पसूत्राणाञ्च प्रवचनकालस्य भिन्नत्वाच्च। अत एव ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रयुक्तवेदशब्दः केवलं मन्त्राणामेव बोधको भवति।

मानना चाहिए। इस प्रकार ऐकमत्य हो जायेगा।" यह ठीक नहीं है। जैसे फलों की राशि में एक विकृत फल अन्यों को भी विकृत कर देगा। ब्राह्मणों का मनुष्यकर्तृकत्व है, उसी प्रकार वेद के साथ ऋषिकृत ब्राह्मणों का अकर्तृत्व और ईश्वरकर्तृत्व भी नहीं माना जा सकता। वेदों की कृतकता से आशय ऋषियों की आत्मा में निर्मल हृदयों में ज्ञान-प्रकाश का स्फुरण समझना चाहिये। श्री करपात्री जी के कथन से भी पैलादिप्रोक्त शाखाओं के अनन्तर ही व्यास की अपेक्षा से भी ब्राह्मणों की रचना अर्वाचीन सिद्ध होती है।

प्र०—"स्वामी दयानन्द का शाखाभेद-कथन भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि व्याख्यानग्रन्थ व्याख्येय से पृथक् नहीं है।"

उ०—पर यह कथन प्रत्यक्ष का अपलाप करना है; क्योंकि व्याख्येय तथा व्याख्यानग्रन्थ पृथक् से उपलब्ध हैं।

पृ० ६९९, पं० २—यह कहना कि—"वेदशब्द केवल मन्त्रभाग के लिए कहीं प्रसिद्ध नहीं है।" ठीक नहीं। क्योंकि मन्त्र और ब्राह्मण की वेद-संज्ञा तो कल्पसूत्रकारों ने की है। इस संज्ञा का प्रवर्तन ब्राह्मणग्रन्थों पर नहीं हो सकता, क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों और कल्पसूत्रों की रचना में कालभिन्नता है अर्थात् कल्पसूत्रकार परवर्ती है। इसीलिए ब्राह्मणग्रन्थों में प्रयुक्त वेदशब्द केवल मन्त्रों का ही बोधक होता है।

https://t.me/Dharmasomiti

शाबरभाष्य उद्धृतब्राह्मणवचनमिह प्रमाणम् । यथा—"तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा असृज्यन्त । अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात्सामवेदः ।" इत्येवमुपक्रम्य निगमने इदं श्रूयते ।

'उच्चैर्ऋचा क्रियते' इत्यादि (मीमांसा ३।३।२) अत्राप्युपक्रमे वेदशब्दः प्रयुक्तः । उपसंहारे केवलमृग्यजुःसामशब्दाः प्रयुक्ताः । परमत्र ध्यातव्यं यदुच्चैस्त्वोपांशुत्वधर्मो वेदपठितमन्त्राणामेव, न तु तत्तद्वेदसम्बद्धब्राह्मणवचनानामपि । अयमेव हि सर्वतन्त्रराद्धान्तः । याज्ञिका अपि नाम ये ब्राह्मणानामपि वेदत्वमामन्वते, तेऽपि नेह वेदशब्देन तेषां ब्राह्मणानां ग्रहणं कुर्वते ।

इह नेदमप्यप्रासङ्गिकं स्यात् प्रवचनं यत् स्वामिदयानन्दमतो माध्यन्दिन-(शुक्ल) यजुर्वेद एव कथं संहिता ? यदा हि मध्यन्दिनो हि याज्ञवल्क्यशिष्य आसीत् । तदधीतयजुषोऽपि कथन्न शाखात्वम् ?

यथाह कश्चिद्दयानन्दमहीधरतुलनायां यजुर्वेदस्य माध्यन्दिनशाखाया भाष्यं स्वामिदयानन्दोऽकरोत् । सैव संहिता, इत्यपि विचारणीयम्, एतस्यापि स्वतः-प्रामाण्यकोटिगतत्वाभाव एव (पृ० ४०) । वस्तुतस्त्वयमेव लेखश्चिन्त्यः ।

शाबरभाष्य में उद्धृत ब्राह्मण प्रमाण है 'उन तपस्वियों से तीन वेद उत्पन्न हुए । अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से सामवेद ।' इस प्रकार उपक्रम करके निगमन में यह पढ़ा जाता है ।

मीमांसा ३।३।२ यहां पर उपक्रम में वेदशब्द प्रयुक्त है । उपसंहार में ऋगादि शब्द प्रयुक्त हैं, जिनका उच्चैस्त्व और उपांशुत्व धर्म बताया गया है । वह धर्म उन-उन वेदों में पठित मन्त्रों का ही है, न कि उन वेदों के ब्राह्मण-वचनों का भी । यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है । याज्ञिक लोग भी जो कि ब्राह्मणों की वेद-संज्ञा मानते हैं, वे भी यहां पर वेद-शब्द से ब्राह्मणों का ग्रहण नहीं करते ।

यहां यह लिखना अप्रासङ्गिक न होगा कि स्वामी दयानन्द-सम्मत माध्यन्दिन यजुर्वेदसंहिता ही मूल वेद क्यों है ? जबकि मध्यन्दिन भी याज्ञवल्क्य के एक शिष्य थे तो उनका अधीत वेद भी माध्यन्दिन शाखा ही कहलाया, न कि संहिता ।

जैसा कि आचार्य महीधर और स्वामी दयानन्द की तुलना में एक लेखक विद्वान् ने लिखा कि यजुर्वेद की इस माध्यन्दिन शाखा की संहिता, जिसका भाष्य स्वामीजी ने किया, नित्य व अपौरुषेय है तथा अन्य समस्त यजुर्वेदीय शाखाएं अनित्य व वेद-व्याख्यानरूप होने से स्वतःप्रामाण्य-कोटि में नहीं आतीं तथा ऋषिकृत होने से अपौरुषेय नहीं हैं, विचारणीय हो जाता है (पृ० ४०) । वस्तुतः यह समग्र लेख ही विचारणीय है ।

तथा हि —— याज्ञवल्क्यप्रोक्तवाजसनेयसंहितायास्तच्छिष्य-प्रशिष्यैरनेकधा प्रवचनं कृतम् । एवं १५ भेदा उपपन्नाः । एताः पञ्चदशापि शाखा आदित्यायन-आङ्गिरसायनेति पक्षद्वये विभक्ताः ।

यतो याज्ञवल्क्यस्य द्वावेव प्रधानशिष्यावास्ताम्—मध्यन्दिनः कण्वश्च । कण्वश्च ऋग्वेदिन आङ्गिरसघोरस्य पुत्रोऽभवत् । अयञ्च आदित्यप्रोक्तसंहितायां कश्चिद् भेदं कृत्वा स्वशाखाप्रवचनमकरोत् । यथा च डकार-ढकारयोः स्थाने ळ ल्ह प्रयोगं व्यदधात् । मध्यन्दिनश्च किमपि परिवर्तनं न व्यधात् ।

अत्र कतिपयप्रमाणानि —

१—मद्रासराजकीयहस्तलेखपुस्तकालये प्राप्ते अज्ञातनामके पुस्तके एष पाठः "अथ पञ्चदशशाखासु माध्यन्दिनशाखा मुख्येति वेदितव्या ।" इति ।

२—अन्तरङ्गपरीक्षयाऽपि —

माध्यन्दिनसंहिता	काण्वी संहिता
१।१८ भ्रातृव्यस्य वधाय	द्विषतो वधाय
९।४० एष वोऽमी राजा	एष वः कुरवो राजा

इह भ्रातृव्यस्य भ्रातुः पुत्रस्य शत्रोर्वा इति विकल्प उपपन्ने व्याख्यानरूपो निर्णीतः पाठो 'द्विषतः' इति शत्रोरिति । द्वितीयोद्धरणे 'अमी' इति सर्वसाधारणः पाठः । तस्य व्याख्यानं हि काण्वसंहितायाम् । माध्यन्दिनसंहिताया अन्ते 'यजुर्वेद-

---

जैसे—याज्ञवल्क्य-प्रोक्त वाजसनेयसंहिता का उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने अनेक प्रकार से प्रवचन किया है । इस प्रकार १५ शिष्यों के कारण १५ भेद ही उत्पन्न हुए । इन १५ शाखाओं को दो भागों में विभक्त किया जाता है—एक आदित्यायन और दूसरा आङ्गिरसायन ।

क्योंकि याज्ञवल्क्य के दो ही प्रधान शिष्य थे । एक मध्यन्दिन और दूसरा कण्व । कण्व ऋग्वेदी आङ्गिरस घोर का पुत्र था । इसने आदित्य-प्रोक्त संहिता में कुछ भेद करके प्रवचन किया । जैसे 'ड' और 'ढ' के स्थान पर क्रमशः 'ळ' और 'ल्ह' । मध्यन्दिन ने कोई भी परिवर्तन नहीं किया ।

इस विषय के पुष्ट्यर्थ कतिपय प्रमाण हैं—

१—मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय में एक पुस्तक है, जिसके आद्यन्त पन्ने फटे हुए हैं । उस पुस्तक में यह पाठ दिया है—'अथ पञ्चदशशाखासु माध्यन्दिनशाखा मुख्येति वेदितव्या ।'

२—अन्तरङ्ग परीक्षा में भी माध्यन्दिन 'भ्रातृव्यस्य' के स्थान पर व्याख्यानरूप में 'द्विषतः' पाठ काण्व में पढ़ा है । तथा एष वोऽमी राजा' (माध्यन्दिन) का व्याख्यात पाठ 'एष वः कुरवो राजा' यह काण्व में दिया है । दूसरे—

https://t.me/DharmaSamra

संहिता समाप्ता' 'वाजसनेयसंहिता समाप्ता' एवंविधोल्लेखो लभ्यते। एवमेतादृक्-प्रमाणैरविकृतरूपेणोपलभ्यमाना माध्यन्दिनशिष्येणाधीतैव संहिता नान्येतिसिद्धम्।

तथा च माध्यन्दिनसंहिताया एव मन्त्राक्षरादिसंख्या परिगणिताः, एतद्यजुषः सर्वानुक्रमणिका कात्यायनकृतिरूपे प्रसिद्धा च। यथा—

द्वे सहस्रे शतन्यूने मन्त्रा वाजसनेयके।
इत्युक्तं परिसंख्याय एतत्सर्वं सशुक्रियम्॥
यजुर्वेदस्य मूलं हि भेदो माध्यन्दिनीयकः।
सर्वानुक्रमणी तस्याः कात्यायनकृता तु या॥

तथैव—सन्मूलो यजुराख्यवेदविटपी जीयात् स माध्यन्दिनिः,
शाखा यस्य युगेन्दुकाण्डसहिता यत्रास्ति सा संहिता।
यत्राभ्राग्धिलता विभान्ति शरशैलाङ्केन्दुभिर्ऋग्दलैः,
पञ्चद्वीषु नभोङ्कवर्णमधुपैः खान्यर्कगुङ्गुञ्जितैः॥
(यजुर्वेदकल्पतरुः)

एवमेव यजुर्वेदो मूलसंहितारूपेणाद्यावधि प्रसिद्धः।

माध्यन्दिन संहिता के अन्त में 'यजुर्वेदसंहिता समाप्ता' या 'वाजसनेयसंहिता समाप्ता' भी लिखा है। अतः माध्यन्दिनसंहिता ही मूल यजुर्वेद है जो कि अविकृत-रूप में उपलब्ध हुई।

तथा माध्यन्दिन संहिता की ही मन्त्रसंख्या, अक्षरों की गणना परिगणित की गई है और इसी यजुः की सर्वानुक्रमणिका कात्यायन की कृति के रूप में प्रसिद्ध है। जैसे—

वाजसनेयी यजुर्वेद की मूल संहिता में १९०० मन्त्र वाजसनेय ऋषि के देखे हुये तथा ७५ मन्त्र शुक्रिय अर्थात् अथर्वा ऋषि के प्रचार किये हुए हैं। इस प्रकार यजुः के १९७५ मन्त्र हैं। यह नारायणभट्ट के अनुसार यजुर्वेद का परिमाण है। मुल यजुर्वेद माध्यन्दिनी संहिता है, जिसमें उन्नीस सौ पचहत्तर मन्त्र हैं और इस संहिता की सर्वानुक्रमणी कात्यायन ऋषि की बनाई हुई प्रसिद्ध है अर्थात् अनुक्रमणिकाएं तो और भी हैं, परन्तु इस यजुर्वेदसंहिता के लिए केवल यही जाननी चाहिए, जिसकी रचना कात्यायन ऋषि ने की है तथा जिसका मूल कारण परमेश्वर है।

उस यजुर्वेद के द्रष्टा माध्यन्दिनि ऋषि की सदा जय हो। जिस यजुर्वेदरूप पादप के १४ काण्डरूप विषय बड़ी-बड़ी शाखाएं हैं। इसमें ४० अध्यायरूप लता और इसमें १९७५ मन्त्र पत्ते हैं तथा ९०५२५ अक्षररूप भ्रमर एवं उन भ्रमरों की गुञ्जाररूप ग्वंकार १२३० हैं। इस प्रकार यह यजुर्वेदसंहिता के रूप में मान्य रहा है।

पूर्वपक्षः—ननूद्धृतकात्यायनसर्वानुक्रमसूत्रमनुसृत्य शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिन-संहितायाम् (१) अ० १९ मं० २२-३१ (२) चतुर्विंशोऽध्यायः, पञ्चविंशस्याध्यायस्य नव कण्डिकाः, (३) त्रिंशाध्यायस्य च पञ्चमकण्डिकातोऽध्यायपूर्ति यावत् सर्वो भागो ब्राह्मणत्वेन मन्यते काण्वसंहितावत्। ननु इयमपि संहिता मूल-वेदत्वेन न मन्येत इति वाच्यम्।

उ० प०—तन्न, प्राचीनाचार्यमतेन नैतद् युज्यतेऽभिधातुम्। कृष्णयजुष उपलब्धशाखासु मन्त्रैः सह ब्राह्मण-पाठोऽपि वर्तते। अतो यासु संहितासु केवला मन्त्रा एव पठितास्तासां श्रौतसूत्रेषु अर्थाद् ऋक्शुक्लयजुःसामसु नैतत् सूत्रमुपलभ्यते। यासु शाखासु ब्राह्मणपाठो मिश्रितस्तासां श्रौतसूत्रकारैः 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति' सूत्रं पठितम्।

एतेन सुस्पष्टं यत् केवलमन्त्रपाठवत्संहितास्वेव वेदत्वं लोके प्रसिद्धमभूत्। अतो न सूत्रकारैरपाठि उक्त-परिभाषासूत्रम्। यासु च ब्राह्मणपाठोऽपि मिश्रितस्तासामपि शाखानाञ्च लोके वेदवत्प्रतिपादनार्थम् अथवा स्वशास्त्रार्थविहित-कार्यसिद्ध्यर्थं तत्सूत्रकारैरुक्तपरिभाषा कृता। अतो निर्विवादमेतद् यन्मन्त्रेष्वेव

पूर्वपक्ष—उपरि उद्धृत कात्यायन के सर्वानुक्रमणी सूत्र का अनुसरण करके शुक्लयजुः माध्यन्दिनसंहिता में (१) अ० १९ के २२-३१ (२) चौबीसवां अध्याय, पचीसवें अध्याय की ९ कण्डिकाएं (३) ३० वें अध्याय की पाचवीं कण्डिका से इस अध्यायपर्यन्त समस्त भाग ब्राह्मण माना जाता है। ऐसे काण्व-शाखा में भी उसी के समान माना है। तब यह माध्यन्दिनसंहिता, जिसे स्वामीजी ने मुल यजुर्वेद माना है, क्योंकर है?

उ० प०—यह नहीं मानना चाहिए, क्योंकि प्राचीन आचार्यों के मत से कोई भी ऐसा भाग इसमें नहीं है, जो ब्राह्मण कहा जा सके और कृष्णयजुः की उपलब्ध शाखा में तो मन्त्रों के साथ ब्राह्मण-पाठ मिलता है। अतः जिन सहिताओं में केवल मन्त्र पढ़े गये हैं, उनके श्रौतसूत्रों में अर्थात् ऋक्, शुक्लयजुः और साम में 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह सूत्र उपलब्ध नहीं होता और जिन शाखाओं में ब्राह्मण-मिश्रित हैं, उनके सूत्रकारों ने उक्त सूत्र पढ़ा है।

इससे सुस्पष्ट है कि केवल मन्त्रपाठवाली संहिताओं की ही लोक में वेद-रूपी प्रसिद्धि थी। इसलिए उन सूत्रकारों को वेदत्व सिद्ध करने के लिए उक्त सूत्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं हुई और जिनमें ब्राह्मण-पाठ मिला हुआ था, उनकी वेदत्व-सिद्धि के लिए उक्त सूत्र से प्रतिपादन की आवश्यकता समझी अथवा अपने शास्त्र-विहित कार्य की सिद्धि के लिए उन सूत्रकारों के द्वारा उक्त परिभाषा का निर्माण किया गया। अतः यह निर्विवाद है कि वेदत्व मुख्यतया मन्त्रों में ही है,

(https://t.me/Dharmasansar)

मुख्यत्वेन वेद-संज्ञा न ब्राह्मणेषु। एतदेव कारणं यत् कृष्णयजुषः सूत्रकारैर्मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञायां कृतायामपि न प्राञ्चोऽङ्गीचक्रुश्चिरकालं यावत्तयोर्वेदसंज्ञत्वम्। अत आपस्तम्बीयोक्तसूत्रव्याख्यायां हरिदत्त आचार्यः प्राह—

"कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाख्यातम्। एतत्पूर्ववर्त्तिधूर्तस्वाम्यप्यनुमेने।"

वस्तुतस्तु याज्ञिकमनोवृत्तिप्रभावितलोकाननुमन्य कृष्णयजुर्वेदवत् 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति सूत्रं शुक्लयजुःकर्तृभिरपि कात्यायननाम्ना प्रसिद्धे 'प्रतिज्ञा-परिशिष्टे' समावेशितम्। कर्हिचिच्चेदिदं महर्षिकात्यायनेनाभीष्टमभविष्यत्तदाऽऽपस्तम्बश्रौतसूत्रकारवत् स्वकीयश्रौतसूत्रस्य परिभाषा-प्रकरण एवाऽपठिष्यत्, परन्नैतदपाठि तत्र। अतो न कात्यायनेनाप्यभीष्टं ब्राह्मणानां वेदत्वमिति सुविशदम्। महर्षिदयानन्देनेह दुर्जनतोषन्यायेन कात्यायनमतेन स्वीकृतं वेदत्वमिति मत्वा कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिरिति पाठः कृतः।

पृ० ७०१, पं० २—यदुक्तम्—"ब्राह्मणं न वेद इत्यत्र तु कस्याप्येकस्याप्यृषेर्वचनं प्रमाणतया नोपन्यस्तं दयानन्देन तदीयैर्वाऽनुगामिभिः।" इति।

समा०—प्राप्तौ हि सत्यां निषेधो जायते। न तु कदाप्याचेष्टितं केनाऽपि

ब्राह्मणों में नहीं। यही कारण है कि कृष्णयजुर्वेदी सूत्रकारों के द्वारा मन्त्र और ब्राह्मण की वेद-संज्ञा कर लेने पर भी प्राचीनाचार्यों ने चिरकाल तक दोनों की वेद-संज्ञा स्वीकार नहीं की। इसीलिए आपस्तम्ब में उक्त संज्ञा की व्याख्या में आचार्य हरिदत्त ने भी कहा है—

"किन्हीं के द्वारा मन्त्रों का ही वेदत्व कहा गया है, इन हरिदत्त के पूर्ववर्ती धूर्त स्वामी ने भी ऐसा ही माना।"

वास्तव में उस समय याज्ञिकों की मनोवृत्ति से लोग प्रभावित हो गये थे, उनके अनुसार कृष्णयजुर्वेदियों के समान उक्त सूत्र शुक्लयजुर्वेदियों ने भी कात्यायन-नाम से प्रसिद्ध 'प्रतिज्ञा-परिशिष्ट' में समाविष्ट कर लिया। यदि कदापि कात्यायन को अभीष्ट होता तो आपस्तम्ब सूत्रकार के समान परिभाषा-प्रकरण में ही उक्त सूत्र को पढ़ते, परन्तु नहीं पढ़ा। इससे स्पष्ट है कि कात्यायन को ब्राह्मणों का वेदत्व अभीष्ट नहीं है। महर्षि दयानन्द ने तो दुर्जनतोषन्याय से मान लिया। यहां पर स्वामीजी ने भी 'कात्यायन-भिन्न ऋषियों ने' यही पाठ किया।

पृ० ७०१, पं० २—"ब्राह्मण वेद नहीं है, इस कथन में किसी ऋषि का प्रमाण-वचन स्वामी दयानन्द ने प्रस्तुत नहीं किया अथवा उनके अनुयायियों ने भी नहीं किया।"

समा०—'प्राप्तौ सत्यां प्रतिषेधः' के अनुसार पहले कभी ब्राह्मण को वेद

वेदान् ब्राह्मणानि कथयितुम्, यावतामेहसा चेष्टितं तावतैव समाधानमनुष्ठितम्। नहि भवता प्राचीनशास्त्रानुशीलनं कृतं, नहि क्वाप्येकत्वं द्वयोः प्रतिपादितमत्र; प्रत्युत निरुक्ते वेदस्य निगमशब्देन बोधः कृतः। 'बहुभक्तिवादीनि ब्राह्मणानि' इति ब्रुवाणः स्पष्टतया भेदं न्यरूपयद् यास्काचार्यः। चतुर्णामेव वेदानां वेदत्वमगादि तदर्थापत्त्या न भवति ब्राह्मणानाम्।

काकस्य कालिमेव सुव्यक्तमेतदलीकं वचो यन्नैकस्याऽपि ऋषेः प्रमाणं प्रस्तुतं भेदाख्यापकम्। यदा 'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' इति पाणिनिमुनेरन्यान्यपि वात्स्यायन-पतञ्जल्यादीनां बहूनि प्रमाणान्युद्धृतानि। निरुक्ते—'चत्वारि शृङ्गाः' इति मन्त्र-व्याख्यायान्तु चतुर्णामेव वेदानामाख्यानं सूर्यप्रभेव नेत्रवद्भिरुपलभ्यते। तथा महाभाष्येऽपि 'चत्वारो वेदा' उदीरिताः।

अन्तःसाक्षित्वेन 'तस्माद् यज्ञाद्' इति चतुर्वेदोत्पत्तिः प्रमाणम्। निर्मलोक्तिः सत्येह घटते—

करीरेण वसन्तेऽपि दलं नैवोपलभ्यते।
तथा नो स्फुरति प्रज्ञा प्रमाणेषु बहुष्वपि॥
चन्द्रिका नव चौराय, रोचते हि यथा तथा।
मिथ्याग्रहगृहीताय, सत्यं नो पक्षपातिने॥

बताने की चेष्टा नहीं की गई, जब से की गई तब से ही समाधान भी किया गया। आपने प्राचीन शास्त्रों का अनुशीलन ही नहीं किया। कहीं पर भी दोनों की एकरूपता व संज्ञा प्रतिपादित नहीं की गई है, प्रत्युत निरुक्तकार महर्षि यास्क ने निगम शब्द से वेद का बोधन कराया है। 'ब्राह्मण बहुभक्तिवादी हैं,' यह कहते हुए यास्क ने स्पष्टरूप से भेद-निरूपण किया है। जब सर्वत्र चार ही की वेद-संज्ञा कही है तो अर्थापत्ति से सिद्ध है कि ब्राह्मणों की वेद-संज्ञा नहीं है।

कौए की कालिमा के समान आपका यह स्पष्ट झूठ-वचन है कि एक भी ऋषि का भेदाख्यापक प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया। 'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' यह तथा अन्य भी पाणिनि मुनि के प्रमाण प्रस्तुत हैं। वात्स्यायन, पतञ्जलि आदि के भी बहुत से प्रमाण उद्धृत हैं। निरुक्त में 'चत्वारि शृङ्गाः' इसी मन्त्र की व्याख्या में तो चार ही वेदों का कथन सूर्य-प्रभा के समान नेत्रवालों को दिखायी पड़ता है, उसी प्रकार महाभाष्य में भी चार वेद बताये गये हैं।

अन्तःसाक्षी-रूप में 'तस्माद् यज्ञात्' इससे चार वेदों की उत्पत्ति प्रमाणित है। यहां यह निर्मलोक्ति सत्य घटित है—

वसन्त में भी करीर पर पत्ते नहीं आते, उसी प्रकार बहुत से प्रमाणों से भी आपकी प्रज्ञा में स्फुरण नहीं होता। जिस प्रकार चोर को चांदनी अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार मिथ्या आग्रह से गृहीत पक्षपाती को सत्य नहीं रुचता।

https://t.me/Dharmadarshan

तथा चेहानेकानि प्रमाणानि यदादिकालत ऋगादीनामेव चतुर्णां वेदानां वेदत्वं नान्येषाम् —

'वेदैश्च चतुर्भिः सुप्रीतिः' (महा० भा० द्रो० प० ५१-५२)।

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः (पद्मपु० ५।२।५०)।

मन्त्राश्चतुर्विधा ज्ञेया ऋग्वेदादिगिरोदिताः।
ब्राह्मणं चेतिहासादिरूपमष्टविधं मतम् ॥
(सायणकृतबृहदारण्यकवार्तिकसारे, २।४)

यत्तु श्री बलदेवोपाध्यायमहोदयेन "वैदिक-साहित्य और संस्कृति" नाम्नि ग्रन्थे चतुर्दशपृष्ठे पौरुषेय-परिभाषायां 'यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम्' (सांख्य ५।५०) इति सूत्रे 'श्वास-प्रश्वास स्वतः आविर्भूत होते हैं' इति व्याख्यातम्। तत्त्वपव्याख्यातमेव, 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' इति सूत्रविरोधात्। तस्मान्निःश्वासवदेतस्याऽभिप्रायः प्रयत्नजन्यताऽभाव एव न तु बुद्ध्यभावः।

कृतबुद्धेरप्याशयः पुरुषकृतबुद्धेरेव, न तु पुरुषविशेषेश्वरकृतत्वाभिप्रायः। वेदस्याद्भुतरचनां विज्ञानकौशलपरिपूर्णां दृष्ट्वा बद्धमुक्तयोः कतरस्यापि जीवस्य

और भी इस विषय में अनेक प्रमाण हैं कि आदिकाल से ऋग्वेदादि चार का ही वेदत्व है, अन्य ग्रन्थों का नहीं। इसमें कुछ प्रमाण —

चारों वेदों से सुप्रसन्न (महाभा० द्रोणपर्व ५१-५२)।

जो-जो द्विज अङ्ग, उपनिषदों सहित चारों वेदों को जानता है (पद्मपुराण ५।२।५०)।

ऋग्वेदादि वाणी से कहे हुए मन्त्र चार प्रकार के हैं और ब्राह्मण इतिहास आदि आठ प्रकार का है। (सायणकृत बृहदारण्यक वार्तिकसार, २-४)।

श्रीबलदेव उपाध्याय महोदय ने अपने 'वैदिक साहित्य और संस्कृति' नामक ग्रन्थ के १४वें पृष्ठ पर पौरुषेय शब्द की परिभाषा में सांख्य ५।५० सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'श्वास-प्रश्वास स्वतः आविर्भूत होते हैं, उनके उत्पादन में पुरुष की कोई बुद्धि नहीं होती है। अतः उस महाभूत के निःश्वासरूप ये वेद अदृष्ट-अबुद्धिपूर्वक स्वतः ही अविर्भूत होते हैं। वस्तुतः ऐसा लिखना अशुद्ध व्याख्यान है, क्योंकि 'बुद्धिपूर्वक वाक्यकृति वेद में है' इस उक्ति का विरोध उपाध्यायजी के कथन में है।

यहां कृतबुद्धि का आशय पुरुष-कृतबुद्धि से है, 'पुरुष-विशेष' ईश्वरकृत का अभिप्राय नहीं है। वेद की विज्ञान-कौशल-परिपूर्ण अद्भुत रचना को देखकर

तत्सम्पादनयोग्यताऽनवाप्तेर्न कृतबुद्धिर्जायत इति भावः।

यदुक्तम् —"ऋचः सामानि यजुरिति मन्त्रवाचकान्येव" (पृ० ४८४) तेनाऽपि मन्त्रात्मकानां वेदानामेवेश्वरीयत्वं सिद्ध्यति न ब्राह्मणानां त्वद्वचोभिरपि। आचार्यशङ्करोऽपि 'एवं वाऽरेऽस्य' इत्यादेर्व्याख्याने चतुर्विधं मन्त्रजातमिति प्रतिपादितवान्।

यद्यपि मीमांसायां बहुषु स्थलेषु ब्राह्मणवाक्यान्युद्धृतानि परं तेषां क्वाऽपि अनादित्वमपौरुषेयत्वं वा नाभ्यधायि। नाऽतोऽपि ब्राह्मणानि वेदसंज्ञामर्हन्ति।

न च प्रामाणिकत्वेन ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा मन्तव्या, वेदानां स्वतःप्रामाण्यत्वं, तेषां परतः प्रामाण्याच्च। यदुक्तं—"यस्य कस्याप्यृषेराप्तत्वेन प्रामाण्याऽविशेषात्" इति तु ते स्वकल्पितम्। नह्यत्र ऋषि-प्रामाण्यव्याहृतिः परं तस्याऽपि यज्ञभाषागतत्वाद् अस्वारस्यं द्योतयति।

यच्च केचिदाहुः—ऋग्वेदीयकौशिकसूत्रे 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदशब्दः' अथर्ववेदीय-

---

बद्ध या मुक्त किसी भी जीव को वेद के सम्पादन की योग्यता न होने से उसके प्रति कृतबुद्धि नहीं होती है, ऐसा सूत्र का भाव है।

आपने पृ० ४८४ पर लिखा है कि 'ऋचः, साम और यजुः मन्त्रवाचक हैं' इस कथन से भी मन्त्रवाचक वेदों का ही ईश्वरीयत्व सिद्ध है, ब्राह्मणों का नहीं। आचार्य शङ्कर ने 'एवं वाऽरेऽस्य' इत्यादि बृहदारण्यकोपनिषद २।४।१० की व्याख्या में लिखा है 'यद् ऋग्वेदो यजर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसश्चतुर्विधं मन्त्रजातम्'। यहां वेद पद से ऋग्वेदादि ४ को ही वेद माना है।

मीमांसा में बहुत से स्थलों पर ब्राह्मण-वाक्य उद्धृत किये गये हैं, परन्तु उनका कहीं भी अनादित्व और अपौरुषेयत्व कथन नहीं किया गया है। अत एव ब्राह्मणः वेद-संज्ञा के योग्य नहीं हैं।

तथा प्रामाणिकत्व पक्ष को लेकर भी ब्राह्मणों की वेद-संज्ञा नहीं है, क्योंकि वेद स्वतःप्रमाण हैं और ब्राह्मण परतःप्रमाण। यह कथन कि "एक भी आप्त ऋषि का प्रामाण्यविशेष नहीं है", यह तो आप की कल्पना है। इस प्रकरण में यह तो दयानन्द ने कहा नहीं है कि कात्यायन आप्त पुरुष नहीं तथा न उनके प्रामाण्य का व्याहनन किया है, परन्तु यज्ञ-परिभाषा-गत इस परिभाषा के प्रति अपना अस्वारस्य द्योतित किया है।

कुछ का कथन है कि ऋग्वेदीय कौशिकसूत्रों में 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदशब्दः' और

https://t.me/DharmaSamrat

कौशिकसूत्रे चाऽपि 'आम्नायः पुनः मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च', यजुर्वेदप्रातिशाख्ये 'स्वरसंस्कारयोश्छन्दसि नियमः' इति सूत्रस्य वृत्तौ 'ब्राह्मणेऽपि स्वरविधानाद् ब्राह्मणभागस्य मन्त्रत्वम्' इत्यादिप्रमाणैः कृष्णयजुषोऽसम्बद्धेष्वपि स्थलेषु ब्राह्मणानां वेदत्वस्य मन्त्रत्वस्य वा प्रतिपादनात् तेषां वेदत्वं निर्विशङ्कमिति चेन्न, 'तस्माद् यज्ञात्' 'यस्मादृचोऽपातक्षन्' इति ऋगथर्वणोरन्तःसाक्ष्यस्य बलीयस्त्वात्, सूत्रे वृत्तौ च परिभाषितत्वाद् गौणत्वमेव न तु प्रधानत्वं नातस्तेषां वेदत्वम् ।

वस्तुतस्तु 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति' सूत्रं कृष्णयजुःशाखाया आपस्तम्ब-सत्याषाढ-बोधायनादिश्रौतसूत्रेष्वेवोपलभ्यते । कृष्णयजुषि मन्त्रैः सार्धं ब्राह्मण-पाठोऽपि विद्यते । अत एव वेदनामधेयत्वमुपलभ्यते ।

एवमञ्जनप्रतारणपरायणतया भवानेव धूलिप्रक्षेपणं विधत्ते शास्त्रापठन-शीलानां लोचनेषु, न तु महर्षिदयानन्दः । नहि सत्यार्थप्रकाशे शाबरभाष्यप्रमाण-मुक्तम् । न च तद् भवितुमर्हति, तस्य भाष्यस्य बहुषु स्थलेषु वेद-विरुद्धत्वात् । तत्त्व-तस्तु मन्त्राणां ब्राह्मणानां च भिन्नकालिकता भिन्नकर्तृकता च ब्राह्मणानां वेदस्य निरासाय अबाध्यो हेतुः ।

अथर्ववेदीय कौशिकसूत्र में 'आम्नायः पुनः मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च' तथा 'स्वर-संस्कारयोश्छन्दसि नियमः' इस प्रातिशाख्य(यजुर्वेदीय) के सूत्र की वृत्ति में 'ब्राह्मण में भी स्वरविधान करके ब्राह्मणभाग का मन्त्रत्व है, इत्यादि प्रमाणों से, जो कि कृष्णयजु से सम्बद्ध नहीं हैं, ब्राह्मणों का वेदत्व सिद्ध होता है, परन्तु यह कथन ठीक नहीं है। जबकि इन वेदों की अन्तःसाक्ष्य 'तस्माद् यज्ञात्' 'यस्मादृचोऽपातक्षन्' उक्त सूत्र और वृत्ति के सर्वथा विपरीत है। अतः कालान्तर में अन्य ऋषियों द्वारा परिभाषित करने या औपचारिक प्रयोग करने से ब्राह्मणग्रन्थों का गौणरूपेण ही वेदत्व कहा गया है। इससे उनका वस्तुतः वेदत्व कदापि सिद्ध नहीं होता।

वस्तुतः 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह सूत्र कृष्णयजुर्वेद शाखा के आप-स्तम्ब, सत्याषाढ, बोधायनादि श्रौतसूत्रों में ही उपलब्ध होता है। कृष्णयजुः में मन्त्रों के साथ ब्राह्मण-पाठ भी है। अत एव वेदनामधेयत्व माना है।

इस प्रकार अञ्जन के प्रतारण-कुशलता से शास्त्र-विहीनों की आंखों में आप ही धूलिप्रक्षेप का दुःसाहस कर रहे हैं, न कि स्वामी दयानन्द। आप ही चकमा दे रहे हैं कि सत्यार्थप्रकाश में शाबरभाष्य का प्रामाण्य कहा है। शाबर-भाष्य मे बहुत स्थलों पर वेदविरुद्ध कथन होने से वह प्रमाण नहीं हो सकता। सार यही है कि मन्त्र और ब्राह्मणों की भिन्नकालिकता और भिन्नकर्तृकता ब्राह्मण के वेदत्व-निरास के लिए अबाध्य हेतु है।

(१) ननु 'वेदे खल्वपि – पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्यः'।

(२) वेदशब्दा अप्येवमभिवदन्ति—योऽग्निष्टोमेन यजते, य उ चैनमेवं वद।' (महाभाष्यपस्पशाह्निकम्)।

(३) 'वेदेऽपि—य एवं विश्वसृजः सत्रास्यऽयासत इति।'

('ऋलृक्'सूत्रे महाभाष्ये)

इत्यादिप्रमाणैः पतञ्जलिमतेऽपि ब्राह्मणानां वेदत्वमस्त्येव। तदेतत्स्वामि-वचनं कथं सङ्गच्छेत यत् कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वादिति चेन्न, व्याकरणेऽपि नाम भगवतः पतञ्जलेरभिप्रायो वेदेति मुख्यत्वेन संज्ञा-प्रतिपादनम् आनुपूर्वीनियमवत्सु चतुर्ष्वेव वेदेष्वस्ति। अतः प्रतिवेदं प्रतीकानि वाक्यान्युदा-हृतानि।

यत्र हि आनुपूर्वीनियमः स एव वेदः, इत्याशयः प्रदीपेऽपि स्पष्टीकृतः। 'चत्वारो वेदाः साङ्गाः' इत्यनेनाऽपि उक्ताभिप्रायपुष्टिरेव।

परमुद्धृतोदाहरणेषु ब्राह्मणग्रन्थेष्वौपचारिको गौणो वा प्रयोगः। तथा च महाभाष्ये 'यथा लौकिकवैदिकेषु' इति व्याख्याने प्रदीपे 'ये लोकवेदयोर्भवा अवय-वास्ते लोकवेदशब्दाभ्यामभिधातुं शक्यन्ते।' आधाराधेयकल्पनया तु तद्धितप्रयोगः,

---

शङ्का—(१) 'वेद में कहा है—पयोव्रत ब्राह्मण हो तथा यवागूव्रत क्षत्रिय हो।' (२) 'वेद-शब्द भी ऐसा कहते हैं कि जो अग्निष्टोम से यजन करता है।' (३) 'वेद में कहा है—जो विश्वसृज् सत्रों को करते हैं' इत्यादि महाभाष्य में कहे प्रमाणों से सिद्ध है कि महर्षि पतञ्जलि भी ब्राह्मणग्रन्थों के उदाहरण वेद-शब्द से दे रहे हैं। तब स्वामी दयानन्द का यह कथन सङ्गत नहीं होता कि कात्यायन से भिन्न किसी ऋषि ने ब्राह्मणों की वेद-संज्ञा नहीं मानी।

समा०—श्रीमन्! आपने उनके उद्धरणों पर विचार नहीं किया। अर्थ समझिये! भगवान् पतञ्जलि का भी अभिप्राय उन्हीं चार वेदों को मुख्यरूप में कहने से है, जिनमें आनुपूर्वी का नियम है। इसीलिए उन्होंने वेदशब्दों के उद्धृत करने में चारों वेदों के प्रतीक उद्धृत किये हैं।

यह भाव कैयट-प्रदीप में भी स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकार इन्होंने अन्यत्र भी 'चत्वारो वेदाः' की ही बात कही है।

परन्तु विधियों में आनुपूर्वी का कोई प्रश्न नहीं उठता। फिर उन विधियों का विस्तार से निर्देश ब्राह्मणग्रन्थों में है। इसलिए औपचारिकता या गौणत्व से ब्राह्मणग्रन्थों के उदाहरण भी वेद शब्द से दिये। इसी कारण 'यथा लौकिक-वैदिकेषु' की व्याख्या प्रदीपकार ने बड़ी ही स्पष्टरूप में की है कि लोक और वेद में अवयव या सिद्धान्तों को केवल लोक और वेद शब्द से भी कहा जा सकता है।

http://t.me/Dharmasastra

इत्यनेन वैदिककृतान्तानां ब्राह्मण व्याख्याननिर्दिष्टानामपि वेदानां चतुर्णां तदाधारकल्पनया ब्राह्मणानामपि गौणत्वेन वेदशब्देन प्रयोगः।

परमस्मिन् गौणप्रयोगे नायं दयानन्दोऽभिधत्ते यद् यादृच्छिकप्रयोगो न केनापि कृतः, प्रत्युत सृष्ट्यादौ ईश्वरोक्तोऽपौरुषेयो वेदस्तु संज्ञात्वेन चतुर्ष्वेव वेदेषु प्रयोक्तव्यः। न चैतच्चतुष्टय्या इतिहासपुराणादिसंज्ञा ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रयोगेण साधुत्वात्। ब्राह्मणानि याज्ञवल्क्यादिभिरुक्तानि ग्रथितानि च केनचिच्छिष्येण। एकत्र आरुणेः स्पष्ट एव नामोल्लेखो यथा—"शश्वद्धैतदारुणिनाऽधुनोपज्ञातं यद् गौतम! ब्रुवाणेति। स यदि कामयेत ब्रूयादेतद् यद्यु कामयते अपि नाद्रियेत" (शतपथ, का० ३, ब्रा० १-१९)। अतो ब्राह्मणग्रन्था मनुष्योक्ता न तु वेदवदीश्वरोक्ता अपौरुषेयाः।

पृ० ७००, पं० १५—यदाह—"तेषां ब्राह्मणानाञ्च श्रुतित्वं मनुरप्याह—धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः" इति। तत्रेवमवगमनं यदत्र श्लोके श्रुतिशब्दो वेदपरकः। न चैवमवगन्तव्यं यन्न वेदेऽस्ति धर्मप्रतिपादनं यथायमभिप्रैति लेखकः।

पृ० ७०१, पं० ३—यदप्युच्यते—"यदपि—ब्राह्मणं न वेदो मनुष्यबुद्धिरचितत्वात्" इति।

यह बात आधाराधेय की कल्पना से निकली अर्थात् वेद इनका आधार है और प्रतिपादन (विधियां) आधेय हैं।

परन्तु गौण प्रयोग होने से (यत्र-तत्र) महर्षि दयानन्द यह तो नहीं कहते कि कोई भी व्यक्ति यादृच्छिक प्रयोग न कर सकता है और न उसने किया है। प्रत्युत सृष्टि के आदि में अग्न्यादि के अन्तःकरण में ईश्वर के द्वारा प्रकाशित ज्ञान तो ये चार वेद ही हैं, उन्हीं की संज्ञा वेद है। इस चतुष्टयी की संज्ञा न इतिहास और न पुराणादि है, क्योंकि यह इतिहासादि संज्ञा तो ब्राह्मणग्रन्थों में ही घटित है। शतपथ का० ३ ब्रा० १-१९ में आरुणि के नाम का तो स्पष्ट उल्लेख है। अतः ब्राह्मण तो मनुष्योक्त ही हैं, वेद के समान अपौरुषेय अर्थात् ईश्वरोक्त नहीं हैं।

पृ० ७००, पं० १५—यह कहना कि—"ब्राह्मणों का श्रुतित्व मनु भी स्वीकार करते हैं कि सब में परमप्रमाण श्रुति है।" परन्तु यहां पर भी श्रुतिशब्द वेदपरक है न कि ब्राह्मणार्थक। वेद में धर्म-प्रतिपादन न मानना तो मूर्खता ही है, जैसा कि लेखक का अभिप्राय है।

पृ० ७०१, पं० ३—"यह जो कहा जा रहा है कि ब्राह्मण वेद नहीं हैं,

तत्तु असत्यम्, साध्यसमहेतोरत्राघटितत्वाद् ब्राह्मणग्रन्थानां मनुष्यबुद्धिरचितत्वात्। साध्यसमो हि 'साध्येनाऽविशिष्टः साधनीयत्वात्' (न्या० भा० १।२।८) यथा द्रव्यं छायेति साध्यं गतिमत्त्वादिति हेतुः। अत्र हि यथा द्रव्यत्वं साध्यं तथा गतिमत्त्वमपि साध्यं न तु गतिमत्त्वं सिद्धम्। परं प्रकृते तु ब्राह्मणानां वेदत्वं साध्यं, हेतुर्हि भूमिकायां मनुष्यबुद्धिरचितत्वम् इति। स च सिद्ध एव न साध्यः। मनुष्य-रचितत्वे च प्रमाणानि। यथा—'कोऽस्य प्रवक्तेति? महीदास इति विश्रुतः।' तथा हि आरण्यकम्—'एतद्ध स्म वै विद्वानाह महीदास ऐतरेय इति' (ऐ० आ० १-८-२)। सायणानुसारमितरा-शूद्रायाः पुत्र ऐतरेयः।

शतपथब्राह्मणस्य कर्ता महर्षियाज्ञवल्क्यः। यथा—

'ततः शतपथे कृत्स्नं सरहस्यं ससङ्ग्रहम्।
चक्रे स परिशेषं च हर्षेण परमेण ह॥'

काशिकायामपि तथा—'याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि अचिरकालानि इत्याख्यानेषु वार्ता' (काशि० ४।३।५)। ताण्ड्यब्राह्मणकर्तरि प्रमाणम्—(शत० ६।१।२।२१)। गोपथब्राह्मणकर्तृविषये गोपथ-ऋषिरेव विलिखितः।

क्योंकि वे ब्राह्मण मनुष्यबुद्धि-रचित हैं, स्वामी दयानन्द का यह कथन तुच्छ है, क्योंकि ब्राह्मणों का मनुष्यबुद्धि से रचा जाना असिद्ध है, अतः भूमिका-कथन में साध्यसमहेतु है।"

समा०—उक्त कथन असत्य है; क्योंकि साध्यसम हेतु यहां पर है ही नहीं। स्यात् लेखक साध्यसमहेतु की परिभाषा से अनभिज्ञ है। ब्राह्मणग्रन्थ मनुष्यों द्वारा ही विरचित हैं। जो हेतु साध्य की भांति असिद्ध हो, उसका नाम साध्यसम होता है। जैसा कि छाया द्रव्य है। यह साध्य या पक्ष है, क्योंकि छाया में चलनात्मक क्रिया है। इसमें गतिमान् होने से यह 'साध्यसम' हेत्वाभास है, तथा जिस प्रकार छाया में द्रव्यत्व साध्य है, उसी प्रकार 'गतिमत्त्व' भी साध्य है, सिद्ध नहीं। परन्तु प्रकृत विषय में ब्राह्मणों का वेदत्व साध्य है, पर भूमिका में दिया मनुष्य-बुद्धि से रचित होना हेतु साध्य न होकर सिद्ध है। ब्राह्मण के मनुष्यों द्वारा रचित होने में निम्न प्रमाण है। यथा—'इसका प्रवक्ता कौन है?' इसके उत्तर में महीदास है, यह कहा गया। जैसा कि ऐतरेयारण्यक में भी लिखा है। सायण ने भी ऐतरेय को इतरा शूद्रा का पुत्र माना है।

शतपथ ब्राह्मण का रचयिता याज्ञवल्क्य को बताया गया है (महाभारत शा० प० अ० ३२३)। उसी प्रकार काशिका का भी लेख है। ताण्ड्यब्राह्मणकर्ता तण्डि को बताया गया है और गोपथब्राह्मण के कर्ता ऋषि-गोपथ नाम के हैं। इसी प्रकार अन्य ब्राह्मणों के भी ऋषि ही रचियता थे।

https://t.me/DharmaSamrat

पूर्वपक्षः पृ० ७०३ यदप्याह—"यथा ब्राह्मणेषु नामोल्लेखपूर्वका इतिहासाः सन्ति न तथा मन्त्रभागेषु इति, तदपि तुच्छम्, उक्तोत्तरत्वात्। लौकिकं वाक्यमेवार्थपूर्वकं न वैदिकं तस्य नित्यत्वात्। यथा मन्त्रेषु सूर्यचन्द्रादिप्रतिपादकत्वेऽपि न सादित्वम्,तथैव ब्राह्मणेषु कासांचिद् घटनानां प्रतिपादनेऽपि न तेषामनादित्वनित्यत्वव्याहतिः, अर्थपूर्वकत्वविरहात्।'त्र्यायुषं जमदग्नेः' इति मन्त्रेऽपि व्यक्तिविशेषनामोल्लेखो दृश्यत एव।" इति पारिजाताशयः।

उ० प०—एतस्य तुच्छकथनमेव वस्तुतस्तुच्छम्, उत्तरस्योल्लिखितत्वात्। वेदे तु सर्वे शब्दा यौगिका एव। तेभ्य ऋषिभिः पश्चात्पदार्थनामकरणाद् रूढित्वं चाऽपि शब्दानां भवति। अतो न वेदेषु कृतनाम्नां पदार्थानां वर्णनम्। वेदोत्पत्तेः प्राङ् नामाभावात्। परं ब्राह्मणग्रन्थानां सृष्टेर्बहुकालानन्तरं रचितत्वान्नामशरीरधारिणां तत्र वर्णितत्वान्न चानादिता न वा नित्यता सम्भवति। न च ब्राह्मणेषु मैत्रेयी-गार्गी-जनकादीनामितिहासा अर्थपूर्वकत्वविरहे विलिखिताः।

त्र्यायुषमिति मन्त्रे न शरीरधारिणां जमदग्न्याद्यृषीणामुल्लेखो वेदरचनायाः

पूर्व पक्ष—पृ० ७०३—"जैसे ब्राह्मणों में नामोल्लेखपूर्वक इतिहास लिखे हैं, उस प्रकार मन्त्रभागों में नहीं है। यह भूमिकाकार का कथन तुच्छ है, क्योंकि इसका उत्तर लिखा जा चुका है। अर्थपूर्वक प्रवृत्ति लौकिक वाक्य में ही होती है, वैदिक में नहीं; क्योंकि वैदिक वाक्य नित्य है। जैसे मन्त्रों में सूर्य-चन्द्रादि का प्रतिपादन होने पर भी उनमें अनित्यता नहीं पायी जाती, तद्वत् ब्राह्मणों में भी कुछ घटनाओं का उल्लेख होने पर भी उनकी अनादिता, नित्यता आदि में कोई बाधा नहीं आती; क्योंकि यहां पर भी शब्द की प्रवृत्ति अर्थानुसन्धान के साथ संयुक्त नहीं है।"

उ० प—आपका यह तुच्छ कथन ही आपकी तुच्छता का द्योतक है। पूर्व में उत्तर दिया जा चुकने से यह हेतु तो स्वयं में साध्य होने से साध्यसम है। श्रीमन्! वेद में तो सभी शब्द यौगिक हैं। वेदों से ही ऋषियों के द्वारा पदार्थों के नामकरण किये गये। फिर ये शब्द रूढिवाचक भी हो गये। इसलिए वेदों में ऋषिकृत नामपदार्थों का वर्णन नहीं है। 'यथापूर्वमकल्पयत्' के अनुसार सृष्टि और उनके नाम हुए। वेदोत्पत्ति से पूर्व पदार्थों के नाम नहीं थे, परन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना बहुकाल के अनन्तर हुई और उनमें नाम और शरीरधारियों का वर्णन किया गया,फिर उन ग्रन्थों की अनादिता और नित्यता कदापि संभव नहीं। ब्राह्मणों में मैत्रेयी, गार्गी, जनकादि के इतिहास अर्थस्मरणपूर्वक नहीं लिखे गये, यह कैसे कहा जा सकता है।

'त्र्यायुषम्' इस मन्त्र में शरीरधारी इन्द्र, जमदग्नि आदि का वर्णन नहीं है;

प्राक् तेषां जमदग्न्यादीनामनुत्पन्नत्वात्। 'योषा वाऽग्निर्गौतम' (बृहदा० ६।२।१३)। अत्र भवेन्नाम योषायामग्निपद-प्रयोगस्तदग्नित्वारोपेण, परं नेह चक्षुषि कस्यचिज्जमदग्निनामधेयस्यर्षेः तस्य तद्वाचकत्वात्।

पृ० ७०३, अनु० २—'ब्राह्मणानान्तु व्याख्यानं वेद' इति तात्पर्यं तु अनधीतवेदानां नेत्रेषु धूलिप्रक्षेपः, उपनिषदुदाहरणत्वात्। ब्राह्मणेषु मन्त्र-प्रतीकोद्धरणपूर्वकव्याख्यानं तथा ब्राह्मणप्रतीकं न वेदेषूद्धृतम्, इह निर्मलोक्तिः सङ्गतैषा—

व्याख्यानं ब्राह्मणानां तु मन्त्रैश्चापि विधीयते।
मतिरेवं वदन्ती वै पक्षाघातरुजा हता॥
शेषशङ्कासमाधानमिहैव बहुशः कृतम्।

पृ० ७०४, पं० ४—पू० प०—यदुक्तम्—"हे ईश्वर! जमदग्निसंज्ञकस्य चक्षुषः कश्यपनाम्नः प्राणस्य त्र्यायुषं त्रिगुणमर्थात् त्रीणि शतानि वर्षाणि,यावत्तावदायुरस्तु देवेषु विद्याप्रभावयुक्तत्रिगुणमायुर्भवति तन्नोऽस्तु तत्सेन्द्रियाणां समनस्कानां नोऽस्माकं पूर्वोक्तं सुखयुक्तमायुरस्तु इत्यादि, तदसङ्गतम्, नः त्र्यायुषमस्त्वित्युक्त्यैव त्रिगुणितायुषः प्रार्थनोपपत्तौ जमदग्न्यादिपदप्रयोगस्य नैरर्थक्यापातात्। मानुषत्र्यायुषप्रार्थनैव लाघवाद् युज्यते।" इत्यादि।

क्योंकि ये वेद-रचना से पूर्व उत्पन्न नहीं हुए थे। बृहदारण्यक में 'स्त्री में अग्नि' का आरोप गौणवृत्ति से भले हो, परन्तु चक्षु आदि में जमदग्नि आदि का आरोप न होकर मुख्यतया वाचक ही है।

पृ० ७०३, अनु०२—'ब्राह्मणों का व्याख्यान वेद है, उपनिषद् के उदाहरण से सिद्ध है' यह कहकर तो आप वेद न पढ़नेवालों के नेत्रों में धूलि झोंक रहे हैं; क्योंकि यह उपनिषद् का उदाहरण है। ब्राह्मणों में मन्त्रप्रतीकपूर्वक उद्धरण-व्याख्यान किया गया है, परन्तु वेदों में ब्राह्मणों की प्रतीक ही उद्धृत नहीं की गयी। यहां निर्मलोक्ति सङ्गत हो रही है "ब्राह्मणों का व्याख्यान मन्त्रों द्वारा किया जाता है, ऐसा कहनेवालों की बुद्धि तो पक्षाघात के रोग से ग्रस्त है"। शेष शङ्काओं का समाधान यहीं पहले संक्षेप में कर दिया है।

पृ० ७०४,पं०४—पू० प०—यह कथन कि—"हे ईश्वर जमदग्नि नामक चक्षु की, कश्यप नामक प्राण की त्र्यायुष अर्थात् तीनगुणी आयु हो। देवों में विद्या के प्रभाव से तीनगुणी आयु होती है, वह आयु इन्द्रिय, मन आदि से संवलित हम लोगों की भी सुखयुक्त हो, इत्यादि भूमिका-लेख असङ्गत है। हमारी तीनगुणी आयु हो, इतना कहने से ही तीनगुणी आयु की प्रार्थना पूरी हो जाती है, तब जमदग्नि आदि पद निरर्थक हो जायेंगे। जितनी मनुष्य की आयु होती है, उतनी ही मनुष्य के व्यवहार-साधक चक्षु आदि की भी होती है, इन्द्रियों की त्रिगुण आयु-प्रार्थना की अपेक्षा मानुष आयु मागने में ही लाघव है" इत्यादि।

https://t.me/DhanoPsamrat

उ० प०—तद्वचनं प्रतिभाविहीनस्यैव युज्यते, मन्त्रार्थे जमदग्न्यादिपदानां विशिष्टतात्पर्याभिलक्षितत्वात् । यतः कश्चिदपि दृष्टिरहितचक्षुर्गोलकवानपि चिरायुर्भवितुमर्हति, तस्मादिह 'चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेतेन जगत् पश्यति । अथो मनुते, तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः' (शत० ८।१।२।३) अनेनापि प्रमाणेन रूपगुण-ग्राहकं चक्षुर्गृह्यते न तु गोलकमात्रम् । जमदिति ज्वलतो नाम निघण्टौ ।

मानवत्र्यायुषप्रार्थनया लाघवेन सर्वेन्द्रियाणामायुः सम्भावनकल्पना तु विकासशीलज्ञानप्रसारप्रतिरोधिनी । एवं जातु चिदयं 'पश्येम शरदः शतम्, जीवेम शरदः शतं, शृणुयाम शरदः शतम्' आदिष्वपि जीवेम शरदः शतमित्यनेनैवान्यद्-वचनस्य गतार्थतापातात् सर्वान्यत्कथनस्य वैयर्थ्यमेव कल्पयितुं शक्येत । इन्द्रि-याणामायुः-प्रार्थनायां जीवनस्यायुस्तु समाविश्यत एव ।

पृ० ७०४, पं० १६ - "उव्वटमहीधरानुसारं जमदग्नेर्मुनेस्त्रयाणां बाल्य-यौवनस्थाविराणामायुषां समाहारस्त्र्यायुषम्" इत्यादि तु वेदरहस्यानभिज्ञानात् पाश्चात्यमतान्धानुकरणव्यामोहबुद्धिमान्द्यफलम् । इतरच्च शरीरधारिजीवविशेष-

---

उ० प०—महाशय ! ऐसे वचन कोई प्रतिभाशून्य-जन ही कह सकता है । प्रथम तो आप और आपके अनुवादक ने ऋषि दयानन्द के शब्द और भागों को तोड़ मरोड़कर छल से प्रस्तुत किया है । विद्या के प्रभाव से तीन गुनी आयु होती है, ऐसा भूमिका-लेख नहीं है, प्रत्युत ऋषि आगे लिखते भी हैं कि 'ब्रह्मचर्यादिसु-नियमैर्मनुष्यैरतस्त्रिगुणमायुः कर्तुं शक्यमस्तीति गम्यते' अर्थात् ब्रह्मचर्यादि सुनियमों द्वारा मनुष्य यह त्रिगुणी आयु कर सकते हैं, ऐसा अर्थ ध्वनित होता है ।

मन्त्रार्थ में जमदग्नि आदि पदों का विशिष्टार्थ अभिलक्षित है; क्योंकि कोई भी दीर्घायु होकर भी दर्शनशक्ति-रहित नेत्र-गोलकमात्र से भी युक्त हो सकता है । इसलिए 'जमत्' का अर्थ निघण्टु के अनुसार जलती अर्थात् सजीव इन्द्रियादि और शतपथ के अनुसार देखनेवाली आंख से अभिप्राय है । जैसा कि श० ८।१।२।३ में कहा है कि जिससे जगत् को देखता है । उक्त लाघव से मानव-आयु से पूर्ण कल्पना विकासशील ज्ञान-प्रसारण का विरोध करना है । ऐसे तो आप 'जीवेम शरदः शतम्' की प्रार्थना से 'पश्येम, शृणुयाम' आदि प्रार्थना ही निरर्थक कहने लगेंगे । हां इन्द्रियों की आयु-प्रार्थना में तो जीवन-प्रार्थना भी समाहित हो सकती है ।

पृ० ७०४,पं० १६—"उव्वट-महीधरानुसार जमदग्नि-मुनि की बाल्य,यौवन और वार्धक्य इन तीन अवस्थाओं का समाहार 'त्र्यायुष' कहा गया है ।" इत्यादि कथन ही वेद के गूढार्थ को न जानने का कारण है । पाश्चात्य विद्वान् और उनके अनुयायी भारतीयों के अन्धानुकरण-व्यामोह के कारण भी है तथा अपनी अनुर्वरा

जमदग्निमहर्षेः सर्गादौ प्रकाशितवेदे उल्लेखस्यासम्भवात् । दुर्गस्कन्दादीनां निरुक्त-व्याख्यातणाञ्च स्वीकृतवेदनित्यत्वपक्षव्याघातापत्तेश्च ।

पृ० ७०५, पं० ४—"विद्वांसो हि देवा इति वचनन्तु न विदुषां देवत्वं बोध-यति; किन्तु देवानां विद्वत्त्वं बोधयति । तस्मादत्र जमदग्न्यादिनाम्नामुल्लेखो नाप-लापमर्हति" इति वचनन्तु तव ब्राह्मणादिवाक्य-रचना-ज्ञानं नास्तीत्येव बोधयति ।

यदि महर्षिदयानन्दकृतार्थप्रक्रियया यद् 'विद्वांसो निश्चितरूपेण देवा भवन्ति' इति नार्थो गृह्यते, तदा भवता एतदपि वक्तव्यं भविष्यति यत्—'यजमानो वै यूपः, प्राणा वै ग्रावाणः, विद्वांसो वै ग्रावाणः' इत्यादिब्राह्मणवचनानां कोऽर्थो भविष्यति? भवत्प्रक्रियया तु 'यजमानो वै यूपः' इत्यत्र यज्ञे यजमानं यूपत्वेन मत्वा यूपो यज-मानत्वेन व्यवहर्तव्यः स्यात् । अनयोः कतरोऽर्थो गरीयानभीष्टतरश्च ? तथैव भवदवलम्बितप्रक्रियया तु ग्रावाणः, पाषाणा विद्वांसो मन्तव्याः स्युः । तत्राय-मेवार्थः—अचेतना जडदेवाश्चेतना विद्वांसो देवा भवन्तीत्येव साधीयान् पक्षः ।

बुद्धि का भी फल है । विचारिये, उत्तरवर्ती शरीरधारी जीवविशेष महर्षि जमदग्नि जिन्होंने वेद-शब्द के आधार पर ही अपना नामकरण भी पसन्द किया । भला, सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए वेदों में उस मुनि का नाम होना कैसे सम्भव हो सकता था ? निरुक्त की व्याख्या करनेवाले दुर्ग और निरुक्तसमुच्चय में स्कन्दस्वामी ने वेद का नित्यत्व-पक्ष स्वीकृत किया है, जिसके व्याघात की भी स्थिति उत्पन्न हो जायेगी ।

पृ० ७०५, पं० ४—"देवता विद्वान् हैं' यह वचन विद्वानों को देवता नहीं बताता, किन्तु यहां देवताओं की विद्वत्ता का प्रतिपादक है । इसलिए यहां जमदग्नि आदि नामों का उल्लेख छिपाया नहीं जा सकता" ऐसा आपका कथन सिद्ध करता है कि आपको ब्राह्मण आदि ग्रन्थों की वाक्यरचना-प्रकार का ज्ञान नहीं है ।

यदि महर्षिदयानन्दकृत अर्थ की प्रक्रिया से कि—'विद्वान् लोग निश्चित ही देव होते हैं' अर्थ आप ग्रहण नहीं करते तो आपको यह बताना होगा कि—'यजमानो वै यूपः' आदि ब्राह्मणवचनों का क्या अर्थ होगा ? आपकी इस उल्टी प्रक्रिया से तो यज्ञ में यजमान को यूप-रूप में मानकर यूप का यजमानत्वेन व्यवहार करना होगा । इन दोनों में कौन-सा अर्थ गौरववान् व ग्राह्य है ? उसी प्रकार आपकी अवलम्बित प्रक्रिया से 'पाषाण विद्वान्' माने जायेंगे । अतः उन स्थलों पर यही अर्थ ग्राह्य व साधीयान् होगा—अचेतन जडदेव और चेतन विद्वान् देव होते हैं ।

https://t.me/DharmaSamrat

शतपथे एवं दर्शितं यद् देवा द्विविधा भवन्ति, एके तु ते येभ्यो यज्ञे आहुतयो दीयन्ते भौतिका अग्न्यादयो, येषां माध्यमेन सर्वजगत्कल्याणं साध्यते, अपरे वेदज्ञा विद्वांसश्च चेतनाः। तथा च "द्वया वै देवाः। अहैव अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवास्तेषां द्वेधा विभक्ता एव यज्ञ-आहुतय एव देवानां दक्षिणा मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानां शुश्रूवुषामनूचानानामाहुतिभिरेव देवान् प्रीणाति, दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान् ब्राह्मणान् शुश्रूवुषोऽनूचानांस्त एवमुभये देवाः प्रीताः सुधामादधति" (शत० २।२।२४)। इह दक्षिणा-प्रकरणे यदि तवार्थो गृह्येत देवानां जडानां विद्वत्त्वविधायकास्तदेयं दक्षिणा ब्राह्मणेभ्यो विद्वद्देवेभ्यो न प्रदास्यते, पुनरग्न्यादिभ्यः कथङ्कारं प्रदातुं शक्ष्यते ?

अत एव ऋषिदयानन्दकृतोऽर्थ एव गरीयस्तया मान्यतां भजते, अन्यथा त्वदर्थेन यज्ञान्ते समेऽपि ऋत्विजादयो दक्षिणा-वञ्चिताः स्युः। एतत्समग्रं पर्यालोच्य नेह जमदग्न्यादय ऐतिहासिकपुरुषविशेषा इत्येव मन्तव्यम्।

पृ० ७०५, पं० ६—आक्षेपः—"देवेषु विद्वत्सु यावद् विद्याप्रभावयुक्तं त्रिगुणमायुर्भवतीति, तत्रेदमुच्यते दयानन्दो यदि विद्वानासीत्, कुतो न शतत्रयायुर्जातः ?"

समा०—प्रथमन्तूद्धरणे छलं कृतं 'यद्' इति स्थाने 'यावत्' इति पठित्वा

शतपथ में इस प्रकार दर्शाया है कि देव द्विविध होते हैं, एक तो वे जिनके लिए यज्ञ में आहुतियां दी जाती हैं भौतिक अग्नि आदि, जिनके माध्यम से सर्वजगत् का कल्याण सिद्ध किया जाता है। दूसरे वेदज्ञ विद्वान् चेतन होते हैं। देखिये, 'देवता दो होते हैं'—एक देव ब्राह्मण शुश्रुत अनूचान मनुष्यदेव हैं, उनकी दो प्रकार से विभक्त आहुतियां हैं, एक तो दक्षिणा-आहुतियों से देवताओं को पोषित करती हैं इत्यादि। शत० २।२।२४ में दक्षिणा-प्रकरण में यदि आपकी प्रक्रिया से जड़ देवों का विद्वत्त्व-विधायक अर्थ किया जाये, तो यह दक्षिणा विद्वानों को नहीं दी जा सकेगी, फिर अग्नि आदि के लिए कैसे दी जा सकेगी ?

अतः ऋषिदयानन्दकृत 'विद्वान् देवता हैं', यह अर्थ गौरवतया मान्य है। अन्यथा आपके अर्थ से तो यज्ञ के अन्त में सभी ऋत्विज आदि दक्षिणा-वञ्चित हो जायेंगे। यह सब विचार करके 'यहां पर जमदग्नि आदि ऐतिहासिक पुरुषविशेष नहीं है', यह मानना चाहिए।

पृ० ७०५, पं० ६—आक्षेप—'देव विद्वानों में जो विद्याप्रभावयुक्त त्रिगुण आयु होती है' यहां पर करपात्री जी का कथन है कि यदि दयानन्द विद्वान् थे, तो तीन सौ वर्ष क्यों नहीं जिये ?'।

समा०-प्रथम तो 'यद्' के स्थान पर 'यावत्' पाठ देकर छल किया है। यह

पाठमुद्धरता भवता नाग्रिमपाठः समग्रशङ्का-निवारकः पठितः। यथा—

"तत्सेन्द्रियाणां समनस्कानां नोऽस्माकं पूर्वोक्तं सुखयुक्तं त्रिगुणमायुरस्तु ·· ····" इति मनुष्य ईश्वरं प्रार्थयते चिरायुष्यकामः। एवंविध उत्तमाभिलाषस्तु मनुष्याधीनः, शेषभोगव्यवस्था यथाकर्म परमेश्वरायत्तैव।

नातो महर्षिणा तावदायुराप्तम्। परम्—

'अलातं तिन्दुकस्येव मुहूर्तमपि हि ज्वल।
मा तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायस्व जिजीविषुः॥'

इति सूक्तिमनुरुध्य एतावतैवायुषा महर्षिणा महज्जगदुपकारोऽनुष्ठितः। अनर्चेस्तु तुषाग्नेरिव धूमायितस्य चिरंजीवितस्याऽपि रागद्वेषादिपरीतमानसस्य प्रचण्डपाखण्डमण्डनविशिष्टतुण्डस्य जडार्चनार्पितमतेः शास्त्रकुव्याख्याकृतश्रमस्य तु निष्फलमेव भवतो जीवनम्।

पृ० ७०५, पं० १५—"ननु इमं मे गङ्गे यमुने० (ऋ० १०।७५।५) तत्रेयं जिज्ञासा किं गङ्गादीनामुत्पत्तिमतामनित्यानामुत्पत्तेः प्रागयं मन्त्र आसीदनन्तरं वोत्पन्नः ? आद्ये तथैव जमदग्नि-कश्यप-याज्ञवल्क्यादीनामप्युत्पत्तेः प्राग् मन्त्र-ब्राह्मणादीनां सत्त्वे न तेषां पौरुषेयत्वमनित्यत्वं वा न सम्भाव्यते। यद्युत्पत्तेरनन्तरं

उद्धरण देते हुए आपने शङ्कानिवारक अगला पाठ तो पढ़ा ही नहीं। जैसे "स्वस्थ इन्द्रिय तथा मनसहित हम लोगों की सुखयुक्त पूर्वोक्त त्रिगुण आयु होवे"। मनुष्य ईश्वर से चिरायुष्य की कामना करता हुआ यह प्रार्थना करता है। इस प्रकार सिद्ध है कि उत्तम अभिलाषा तो मनुष्य के आधीन है, शेष भोग-व्यवस्था कर्मानुसार परमेश्वर के आधीन है।

इसलिए महर्षि ने उतनी आयु नहीं प्राप्त की। ठीक कहा है 'तिन्दुक की अलात के समान मुहूर्त भर जले, वह उत्तम है, तुष (भूसी) अग्नि के समान ज्वालारहित होकर जीने की इच्छा रखता हुआ जीवनभर धुंआ न दे' इस सूक्ति के अनुसार इतनी आयु से ही महर्षि ने जाति का महान् उपकार किया है। ज्वालारहित तुषा (अज्ञान) का धूंआ छोड़ते हुए राग-द्वेष-युक्त मानस, प्रचण्ड पाखण्ड-मण्डित मुख, जड-पूजा में अर्पित मनवाले, आपसदृश शास्त्र की कुव्याख्या में श्रम करनेवाले का तो चिर जीवन भी निष्फल ही है।

पृ० ७०५, पं० १५—"ननु इमं मे गङ्गे यमुने' इसमें यह जिज्ञासा कि क्या उत्पत्तिवाली गङ्गादि अनित्य नदियों की उत्पत्ति से पूर्व यह मन्त्र था अथवा उत्पत्ति के बाद बना ? प्रथम पक्ष में उसी प्रकार जमदग्नि-कश्यप आदि ऋषियों की उत्पत्ति से पूर्व और ब्राह्मणों के होने पर उनकी न तो पौरुषेयता है और न अनित्यत्व ही सम्भावित है। यदि गङ्गा आदि नदियों की उत्पत्ति के बाद उन

https://t.me/DharmaSamrat

तद्बोधकमन्त्राणामुत्पत्तिस्तदा तेषामपीतिहासत्वमनिवार्यमेव ।"

समा०—अयं हि करपात्रमहोदयः सर्वत्र प्रकरणं छलेन प्रस्तौति । प्रकरणं तु यत् काशी-प्रयाग-पुष्कर-गङ्गा-यमुनादिनदीनां सागराणां च नैव तीर्थसंज्ञा सिध्यति । तत्र पूर्वपक्षिण एष प्रश्नो यद् ननु इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वतीति, गङ्गादिनदीनां वेदेषु प्रतिपादनं कृतमस्ति, त्वया तासां नदी संज्ञेति । न तु पाप-नाशकत्वं तासाम्, दुःखार्तनरकत्वञ्च । अन्यच्च इडा-पिङ्गला-सुषुम्णा-कूर्म-नाड्या-दीनां गङ्गादिसंज्ञास्तीति । ताभिर्योगसमाधौ परमेश्वरस्य ज्ञानं स्यात् ।

एतन्मन्त्रप्रकरणे परमेश्वरस्यानुवर्तनात्सम्प्रत्यनुशीलनीयं यत् क्वास्ति एतस्य शङ्कावकाशः ? नाऽनित्यवस्तूनां चर्चा तत्र, 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्था' इत्यनुरुध्य लोके नदीनामपि गङ्गायमुनादयः संज्ञाः कृताः सन्ति । एवं जम-दग्न्यादयः प्राणादिवाचका ऋषीणां संज्ञास्तु वेदशब्देभ्यः पश्चात् कृताः । अतो न मन्त्राणां पौरुषेयत्वं, ब्राह्मणानि त्वनित्येतिहास-संवादादियुक्तकृतयस्त्वृषीणामतो निर्विवादं तेषां पौरुषेयता ।

ब्राह्मणग्रन्थांश्च स एव अपौरुषेयान् वक्तुमर्हो यो नाऽध्यीतवान् कदापि

मन्त्रों की उत्पत्ति हुई है, तो इनमें भी इतिहास अनिवार्यरूप से मानना पड़ेगा ।"

समा०—यह करपात्री जी सर्वत्र वाक्छल से प्रकरण प्रस्तुत करते हैं। महोदय ! यहां पर तो सन्दर्भ यह है कि काशी-पुष्कर-प्रयाग-गङ्गा-यमुना आदि नदी और सागरों की तीर्थ संज्ञा है या नहीं। वहां पर पूर्वपक्षी का प्रश्न है कि गङ्गा, यमुना, सरस्वती इनका प्रतिपादन वेदों में किया गया है, तुम क्यों नहीं मानते ?

उत्तर—हम तो उनकी नदी संज्ञा मानते हैं, पर उनकी पाप-नाशकता और दुःख से तारकता नहीं मानते और इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, कूर्म नाडी आदि की गङ्गा आदि संज्ञा है। जिनके द्वारा योग-समाधि में परमेश्वर-ज्ञान का मार्ग प्रशस्त होता है।

इस प्रकरण में परमेश्वर का अनुवर्तन करने से अब विचारना चाहिए कि आपके लिए इस शंका का अवकाश भी कहां है ? अनित्यों के नामों की चर्चा वहां पर नहीं है। वेदों के शब्दों से ही नाम रखे गये। इस प्रकार लोक में गङ्गा आदि संज्ञाएं करली गयीं। जमदग्नि आदि प्राणादिवाचक भी ऋषियों के नाम वेद के शब्दों से ही रख लिये गये। अतः मन्त्रों का पौरुषेयत्व है ही नहीं। ब्राह्मणादि तो ऋषियों की अनित्य इतिहासों की चर्चावाली कृति हैं, इसलिए इनकी पौरुषेयता निर्विवाद है।

ब्राह्मणग्रन्थों को वही अपौरुषेय कह सकता है, जिन्होंने कभी ब्राह्मणों का

ब्राह्मणानि, 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' इत्यत्र पाणिनि-पतञ्जलिवचनैः पुराण-नवीनप्रोक्तभेदद्वयाकलनात् ।

अत्रेदं भवता 'गङ्गादीनामुत्पत्तिमताम्' इत्यस्यान्यपदार्थविवक्षाया हिन्द्या 'नदियों के' इति अभिलक्ष्य उत्पत्तिमतीनामिति वक्तव्यम्, अपरं च 'सत्वेन' इति च वक्तव्यम्, न तु 'सत्वे न' इति, अन्यथा नञ्द्वयेन सम्भावनैव गंस्यते । अहो ! बुद्धिमान्द्यं कीदृग् यज्जन्मान्तरेऽन्तरमप्यनुबध्नाति ।

पृ० ७०६, पं० ५—"तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च' (अथर्व० १५।३।१) इति मन्त्रे ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं न भागवतादीनामिति स्वामिवचनम-प्रमाणम्, यतः 'तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च' इति मन्त्रस्य ब्राह्मणनिर्माणात् पूर्वं निर्मितत्वे मन्त्रस्येतिहासत्वमायातम्, पश्चाद् भावित्वे ब्राह्मणैः किमपराद्धम्" इति करपात्रवचनं सुतरामपार्थं, वेदे तत्रेतिहास-विद्याविज्ञानानां वर्णितत्वाद्, ऐतिहासिकपात्रव्यक्ति-विशेषाणां ततः प्रागभावात् । ऐतिह्यं त्वेकं प्रमाणं यस्य प्रामाणिकता न्यायेऽस्ति, वेदे तद्विज्ञानमूलोपलम्भाद् इतिहासलेखस्य प्रामाण्यम् ।

ईदृशी पौर्वापर्यवचनविरोधिनी मतिस्तु अद्भुतागारे एव न्यसनीया यैवं

अध्ययन नहीं किया। 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' यहां पाणिनि और पतञ्जलि के वचनों से पुराण और नवीन, दो भेद किये गये हैं।

उक्त उद्धरण में 'गङ्गादीनामुत्पत्तिमताम्' हिन्दी में 'नदियों के' इसकी अपेक्षा करके तो स्त्रीलिङ्ग में 'उत्पत्तिमतीनाम्' प्रयोग करना चाहिए। तथा 'सत्वेन' यह तृतीयान्त पढ़ना चाहिए न कि 'सत्वे न' ऐसा। अन्यथा दो नकारों से ब्राह्मण की पौरुषेयता और अनित्यता आपके कथन से भी ध्वनित हो रही है। अहो ! जन्मान्तर में भी यह बुद्धिमान्द्य आपका पीछा ही नहीं छोड़ता।

पृ० ७०६, पं० ५—पू० प०—"अथर्ववेद के मन्त्र में ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण है, भागवत आदि का नहीं, यह स्वामी दयानन्द का कथन अप्रमाण है, क्योंकि 'तमितिहासश्च' यह मन्त्र ब्राह्मणग्रन्थों के निर्माण से पूर्व तो निष्प्रयोजन था, अतः मन्त्र का इतिहासत्व सिद्ध है, बाद में होनेवाले ब्राह्मणों ने ही क्या अपराध किया है ?

उ० प०—यह श्री करपात्रजी का कथन बिल्कुल व्यर्थ है; क्योंकि आदि-ज्ञान-वेद में इतिहास-विद्या का वर्णन करना आवश्यक था, वेद से पूर्व ऐति-हासिकपात्र-विशेष की सत्ता नहीं थी, ऐतिह्य तो एक प्रमाण भी न्यायशास्त्र में है। वेद में उसका विज्ञान-मूल प्राप्त है, अतः इतिहास का लेख प्रामाणिक है।

ऐसी पौर्वापर्य-वचनविरोधी मति तो अद्भुतसंग्रहालय में रखने योग्य है, जो

https://t.me/Dharmadaan

मन्यते यत् 'कस्य नूनं' 'अग्नेर्वयम्' इत्यादिमन्त्रेषु (ऋ० १।२४।१-२) यूपबद्धशुनःशेपपुरुषविशेषाऽख्यानमस्ति (पृ० ७०६, पं० ८-१०)।

वस्तुतस्तु वेदे आलङ्कारिकी कथा कल्पिता। इह शुनःशेपो विषयी पुरुषः यूपश्चाज्ञानं, स प्रजापतिं परमात्मानं प्रार्थयते तत्सत्तां साक्षादनुभवन् अथवा वितर्के जिज्ञासां तनुते। अमृतानां प्राप्तामृतानां जीवानां कतमस्य मुक्तदेवस्य वयं मनामहे मन्यामहे उच्चारयाम ? को देवोऽस्मान् परमपूज्याऽदितिदेव्याः समीपं प्रापयिष्यति येन पितुर्मातुश्च दर्शनं कुर्याम।

परं दुर्वृत्यभिनिविष्टधीभिर्नरमेधकुप्रथा वेदे साधिता एतेन। अयमपि न चान्योऽर्थः शक्यो भवितुमिति वदन् अनित्येतिहासं सिसाधयिषति।

पृ० ७०७, पं० १—'हये जाये' (ऋ० १०।९५।१) इत्यत्र उर्वशीपुरूरवसोरितिहासोऽस्ति। एवमेवोर्वशी-पुरूरवसोरितिहासोऽपि न व्यक्तिपरकः, प्रत्युत आलङ्कारिकोऽलौकिकः। इह उर्वशी तु उषा, पुरूरवाः सूर्यः। अनयोश्चेतनत्वं स्त्रीत्वं पुरुषत्वं चारोप्य वर्णनं वेदे। इयं खलु ब्रह्मवादिनी, ऋ० १०।९५ सूक्त-प्रचारिका, इदं सूक्तं च पुरुषस्य उत्कृष्टमाङ्गल्यसाधकं विद्यते।

एतस्याशयो—यो वै मदोन्मत्तः सन् न स्त्रीसहमत्या सञ्चलति स महत्-

कि ऐसा मानती है कि 'कस्य नूनं' 'अग्नेर्वयं' इत्यादि मन्त्रों में यूप में बन्धे हुए 'शुनःशेप' नामक पुरुष-विशेष का आख्यान है (पृ० ७०६, पं० ८-१०)।

वस्तुतः वेद में अलङ्कारमयी कथा कल्पित है। यहां शुनःशेप विषयी-पुरुष का प्रतीक है और यूप अज्ञान है। वह प्रजापति परमात्मा की साक्षात् सत्ता का अनुभव करते हुए प्रार्थना करता है। वितर्क व जिज्ञासा कर रहा है कि हम अमृत (मोक्ष) को प्राप्त हुए किस मुक्त-देव का नाम उच्चारण कर ? कौन देव हमें परमपूज्य अदितिदेवी के पास पहुंचायेगा ? जिससे हम पिता और माता के दर्शन करें।

परन्तु दुराचरण में लगी बुद्धिवालों ने वेद में नरमेध की कुप्रथा प्रसाधित कर दी। ये वे० पां० कर्त्ता 'अन्य अर्थ नहीं हो सकता' यह कहते हुए इसमें अनित्य इतिहास सिद्ध करना चाहते हैं।

पृ० ७०७, पं० १—इसी प्रकार उर्वशी और पुरूरवा का इतिहास भी व्यक्ति-परक नहीं है, प्रत्युत अलौकिक आलङ्कारिक है। यहां पर उर्वशी उषा, और पुरूरवा सूर्य है। इन दोनों में स्त्रीत्व और पुरुषत्व का चेतनत्व आरोपित कर वेद में वर्णन किया गया है। यह ब्रह्मवादिनी ऋ० १०।९५ सूक्त की प्रचार करनेवाली और यह सूक्त पुरुष के उत्कृष्ट-मङ्गल का साधक है।

इसका यह आशय है कि जो मदोन्मत्त हो स्त्री की सहमति से नहीं चलता

कष्टमनुभवति। इदमसन्दिग्धं च यत्—स्त्री प्रतिज्ञापूर्तिं दृढतया कुरुते न तावती दृढता पुंसि भवति। तथैव पद्येन विशदीक्रियत इहत्यो भावो मम धर्मपत्न्या निर्मलादेव्या—

कश्चित् कान्तो रुचिरललना-विप्रयोगेऽवसन्नः,
सन्धाभङ्गादसहत परां वेदनां तामसह्याम्।
किन्त्वेकस्त्री परमविदुषी स्वां प्रतिज्ञां दृढास्था;
दुःखं सोढ्वा परमतितरां सुव्रता संररक्ष॥

एतां शिक्षां लक्ष्यीकृत्य वेदभगवतीमं प्रियं संवादं प्रस्तौति—"हये जाया मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु। न नौ मन्त्रा अनुदितास एते मयस्करन् परतरे च नाहन्॥" इत्यादिषु।

वेदे मन्विक्ष्वाकु-जनमेजय-वासिष्ठादिनामदर्शनेन नैवावधारणीयं यज्जगज्जातप्रतापीपुरुषमन्वादीनां नामानि तानि सन्ति पठितानि, किन्तु वेदादेव प्रसिद्धिगतानि धृतानि वा नामानि। यतो हि—

नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे च महेश्वरम्॥

मीमांसाकारोऽपि अनित्येतिहासाऽमान्यतां सिद्धान्तयति। इत्यत्र पूर्वपक्षं प्रस्तौति—

वह महान् कष्ट को पाता है और यह असन्दिग्ध है कि स्त्री अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति जिस दृढ़ता से करती है, वैसी दृढ़ता पुरुषों में नहीं होती। इस मन्त्र का भाव एक पद्य-रचना में मेरी धर्मपत्नी आचार्य-निर्मला देवी द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है—

"कोई प्रिय अपनी सुन्दर स्त्री के वियोग में दुःखी प्रतिज्ञा के भङ्ग होने के कारण असह्य वेदना को सहता रहा, किन्तु एक स्त्री परमविदुषी और दृढ़ आस्था-वाली सुव्रता होकर अतितरां दुःखों को सहकर अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा करती है।"

इस उत्तम शिक्षा को लक्ष्य कर वेदभगवान् इस सुन्दर संवाद को प्रस्तुत करते हैं। वह मन्त्र है—"हये जाया मनसा तिष्ठ" आदि।

वेद में मनु, इक्ष्वाकु, वसिष्ठ आदि नाम देखकर ऐसा नहीं समझना चाहिए कि जगत् में उत्पन्न प्रतापी पुरुष मनु आदि के नाम हैं; क्योंकि प्राणियों के नाम, रूप और कर्मों का प्रवर्तन आदि में वेद से ही परमेश्वर ने किया।

मीमांसाकार भी वेद में अनित्य इतिहास की अमान्यता को सिद्धान्तित

https://t.me/DharmaSamrat

"वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या । अनित्यदर्शनाच्च" (१।१।२७-२८)।

उत्तरपक्षश्चायम्—'उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्' (१।१।२९) 'आख्याप्रवचनात्' 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (१।१।३०,३१)। अर्थात्—'तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्' इत्यादिलिङ्गदर्शनात्, वेदमन्त्राणामध्ययनमध्यापनाभ्यां मधुच्छन्द आदिनाम्नां प्रयोगात् तुग्र-भुज्यु-आदिशब्दानां प्रयोगस्तु तत्र हिंसाद्यर्थेषु एव, न तु कस्यचित् पुरुषविशेषस्येत्यतो वेदा अपौरुषेया नित्याश्च।

पृ० ७०९, पं० २—यदुक्तं "गोतमसूत्रे 'प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणानां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते' (४।१।६२) इति वात्स्यायनेन मुनिना ब्राह्मणभिन्नानामितिहासपुराणानां प्रामाण्यसिद्धये ब्राह्मणप्रमाणस्योपस्थापितत्वात्" इति तवाऽपि वचनं न तेऽभीप्सितं साधयति। ब्राह्मणं हि प्रमाणभूतं तदन्तर्गतेतिहासपुराणानां हि प्रामाण्यं स्यात्। ब्राह्मणभिन्नानां प्रामाण्यमित्यर्थः कुतो ध्वन्यते? कल्पिते च ध्वनने ब्राह्मणस्य प्रामाण्यमुच्येत, तद्भिन्नस्य च सिद्ध्येत इति कस्तर्कः? विन्ध्याचलं प्रति गच्छेत्, परं हिमालयमभिप्रपद्येत इति कथं सम्भवति?

करते हैं। इस लिए पूर्वपक्ष का प्रस्ताव १।१।२७-२८ से—कि वेदों में मधुच्छन्द आदि ऋषियों के नाम आने से ज्ञात होता है कि उक्त महर्षि ही इनके रचयिता थे तथा जन्म-मरणवाले अनित्य पुरुषों के नाम वेदों में आने से पौरुषेय हैं।

उत्तरपक्ष—वेदरूप शब्द में नित्यत्व पहले कहा जा चुका है, जैसा कि—'लिङ्गदर्शनात्' सूत्र से सिद्ध है। वेद में मधुच्छन्दस् आदि का प्रयोग अध्ययन तथा अध्यापन के कारण है अर्थात् इसके अधिक अभ्यास करने-कराने से प्रसिद्ध हो गये। तुग्र और भुज्यु किसी विशेष के नाम नहीं, वरन् मौलिक अर्थ को बताते हैं (मी० १।१।२९,३०,३१)।

अर्थात् 'तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्' इत्यादि लिङ्गदर्शन से वेदमन्त्र के अध्ययन-अध्यापन से मधुच्छन्दस् आदि नामों का प्रयोग किया गया। तुग्र और भुज्यु आदि शब्दों का प्रयोग तो वहां पर हिंसा आदि अर्थों में ही किया गया है न कि किसी पुरुष-विशेष के अर्थों में। अतः वेद पौरुषेय तथा नित्य हैं।

पृ० ७०९,पं०२—यह कथन "गौतमसूत्र में 'ब्राह्मणग्रन्थों के प्रमाण पर इतिहास और पुराणों का प्रामाण्य होता है।' इस प्रकार वात्स्यायन मुनि ने ब्राह्मण से भिन्न इतिहास, पुराण के प्रामाण्य-सिद्धि के लिए ब्राह्मणवचनों के प्रमाण दिये हैं"। आपका अभीष्ट सिद्ध नहीं करता कि ब्राह्मण प्रमाणभूत हैं। उसके अन्तर्गत इतिहास और पुराणों का प्रामाण्य होगा अर्थात् ब्राह्मणभिन्नों का प्रामाण्य होगा। यह अर्थ कहां से कैसे ध्वनित हो गया? ध्वनन की कल्पना में ब्राह्मण का प्रामाण्य कहा जावे और सिद्ध हो जावे तद्भिन्न का प्रमाण, यह कैसा विचित्र तर्क है? जावे तो विन्ध्याचल की ओर और पहुंच जावे हिमालय पर! वाह! धन्य है आप की मति।

मन्ये मन्त्रब्राह्मणयोर्यज्ञो विषयः। यज्ञविषयमधिकृत्यैव तु परिभाषितं कात्यायनेन "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इति। लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य विषयः, अर्थात् प्रामाणिकलोकवृत्ते प्रामाणिकेतिहासपुराणस्यैव ग्रहणं भविष्यति। किं 'गणिकागर्भसम्भूतो वसिष्ठश्च महामुनिः' इत्यादीनि गप्पाष्टकानि प्रमाणकोटिमधिश्रयिष्यन्ते? तस्मात् कदापि नो भागवतादीनामत्र ग्रहणम्।

पृ० ७१०, पं० १३—तथा च मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवेत्यनेन मन्त्राणां द्रष्टारो ब्राह्मणानां प्रवक्तारो भवन्तीति स्पष्टम्, न च ब्राह्मणानां द्रष्टारः प्रसिद्ध्यन्ति। ततो भागवतादिषु च वेदविरोधकलहमिथ्याज्ञानबुद्धिविरुद्धकथोल्लेखादप्रामाण्यम्।

अत्र वक्तव्यमस्ति यदृषिणा इतिहासादि ब्राह्मणान्तर्गतमेव प्रामाणिकमन्यत, तत्त्वङ्गीक्रियत एव भवताऽपि, ततः साध्यता तु भागवतादीनामविशिष्टा। अस्माभिरुच्यते यद् ब्राह्मणादि-चर्चा वेद आयाता, सा तु तद्विद्याविज्ञानसूचिका। बृहदारण्यके चर्चितेतिहासादेर्ब्राह्मणान्तर्गतत्वमेव, 'एवमष्टविधं ब्राह्मणम्' इति शङ्करेणापि पठितम्।

हम भी मानते हैं कि मन्त्र और ब्राह्मण का विषय है यज्ञ। यज्ञविषय को ही अधिकृत करके परिभाषा में कात्यायन ने वेद और ब्राह्मण का नाम वेद लिखा। यह ठीक है कि लोकवृत्त इतिहास और पुराण का विषय है अर्थात् प्रमाणिक इतिहास पुराण का ही ग्रहण होगा। 'गणिका के गर्भ से वसिष्ठ महामुनि उत्पन्न हुए' इत्यादि गप्पाष्टक प्रमाणकोटि में आ सकेंगे? अतः यहां पर भागवत आदि का पुराण-शब्द से ग्रहण नहीं होगा।

पृ० ७१०, पं० १३—"मन्त्र और ब्राह्मण के द्रष्टा और प्रवक्ता वे ही हैं" इस कथन से मन्त्रों के द्रष्टा प्रसिद्ध नहीं हैं। भागवत आदि पुराणों में अनेक स्थल वेदविरोध, कलह, मिथ्याज्ञान तथा बुद्धिविरुद्ध कथाओं के उल्लेख के कारण अप्रमाण हैं।

यह कहना कि ऋषि के द्वारा इतिहास आदि ब्राह्मणान्तर्गत ही प्रामाणिक माने गये हैं, वह तो आपको भी स्वीकृत है, तब भागवत आदि की प्रामाणिकता साध्यकोटि में आ रही है। हम तो कह रहे हैं कि वेद में आई हुई ब्राह्मण आदि चर्चा तो तत्तद्विद्या-विज्ञान की सूचिका है। बृहदारण्यक में चर्चित इतिहास आदि ब्राह्मण के ही अन्तर्गत हैं। इस प्रकार शङ्कर ने भी 'अष्टविध ब्राह्मण है' यह लिखा है।

https://t.me/DharmaSamrat

नन्विह 'ब्राह्मणग्रन्था एव कथन्न मन्येरन्नीश्वरनिःश्वसितानि वेदवत्' इति चेन्न, तथात्वे वेदब्राह्मणयोरेकरूपताऽऽपत्तिः स्यात्। यदीदमुच्येत एकरूपत्वापत्तौ का नो हानिः ? नैतद् वाच्यं, सर्वशास्त्रविरुद्धत्वात्। कश्च शास्त्रविरोध इति प्रश्ने समादध्मः—

यत् नहि ब्राह्मणग्रन्थानामपौरुषेयता, न च नियतशब्दानुपूर्विता, न च स्वतः-प्रामाण्यं ब्राह्मणानामतो वेदा निःश्वासिताः, न ब्राह्मणग्रन्थाः, वेदचतुष्टयसम्मित-सर्वगुणाऽघटितत्वात्।

यदि च ब्राह्मणानि वेदव्याख्यानानि ब्रह्मणो निःश्वसितान्यभविष्यन्, तदा ब्राह्मणानामैकार्थ्य-निश्चयेनानेकार्थाऽसम्भवोऽप्यभविष्यत्, इत्यादिप्रतिपादनस्य वैयर्थ्यमापद्येत, तेषां मन्त्राणां निश्चित-व्याख्यातत्वात्।

वयं तु न पुरावृत्तप्रतिपादकमात्रेण ब्राह्मणानामितिहासत्वं ब्रूमः, प्रत्युत सत्यात्मत्वेन आप्तोक्तत्वात् तेषां प्रामाण्यं वदामः, भागवतादीनां चाऽतथ्याभि-निवेशत्वादप्रामाण्यं कथयामः।

"नन्वर्वाचीनानामितिहासपुराणानां कथमनादिवेदेषु वर्णनं सम्भाव्यत इति चेन्न, यथा हि ब्राह्मणानामादिमत्त्वमङ्गीकुर्वाणा अपि सामाजिकाः 'तमितिहासश्च

प्रश्न—यहां पर वेदों के समान ब्राह्मणग्रन्थों को ही ईश्वर-निःश्वसित क्यों नहीं मान लेते ?

उत्तर-वैसा मानने पर तो वेद और ब्राह्मण दोनों की एकरूपता होने लगेगी। यदि कहो कि एकरूपता में क्या हानि है ? तो ऐसा नहीं कहना चाहिये; क्योंकि यह तो सभी शास्त्रों के विरुद्ध बात है, शास्त्रविरोध क्या है ? इस प्रश्न का समा-धान प्रस्तुत करते हैं कि न ब्राह्मणग्रन्थों की अपौरुषेयता ही है और न नियतशब्दानु-पूर्विता और न ब्राह्मणों का स्वतःप्रामाण्य है। अतः वेद ईश्वर के निःश्वासभूत हैं न कि ब्राह्मणग्रन्थ। वेदचतुष्टय में लगे सब गुण इनमें घटित नहीं होते।

यदि वेदों के व्याख्यानभूत ब्राह्मणग्रन्थ ब्रह्म के निःश्वासभूत होते, तो ब्राह्मणों के एकार्थ-निश्चय से अनेकार्थ भी सम्भव होता, मन्त्रों का निर्वचन प्रकरणशः होना चाहिए, इत्यादि प्रतिपादन का वैयर्थ्य होने लगेगा, ब्राह्मण तो निश्चित ही वेद-व्याख्यान हैं।

हम तो पुरावृत्त के प्रतिपादकमात्र होने से ब्राह्मणों का इतिहासत्व नहीं कह रहे हैं, प्रत्युत सत्यात्मत्वेन आप्तपुरुषों से उक्त होने के कारण प्रामाण्य कह रहे हैं और भागवत आदि का अतथ्य के अभिनिवेश के कारण अप्रामाण्य कह रहे हैं।

पृ० ७१२, पूर्वपक्ष—"अनादि वेदों में अर्वाचीन पुराणों का वर्णन कैसे हो सकता है ? उसका उत्तर यही है कि जैसे आर्यसमाजी ब्राह्मणों के बाद की रचना

पुराणं च' (अथर्व० १५।६।११) इत्यथर्वमन्त्रे तेषां वर्णनमभ्युपगच्छन्ति, तथैवादि-मतामपि पुराणानां वेदे वर्णनं न दोषाधायकं, वस्तुतस्तु इतिहासपुराणमप्यनाद्येव प्रतिकल्पं ब्राह्मणस्तदाविर्भावस्मरणात्" इत्याद्युपन्यासोऽपि वेदशब्दार्थानवगाहना-देवामेन कृतः।

यतो हि अथर्ववेदमन्त्रे इतिहासपुराणादिशब्दैरितिहासविद्यापुराणविद्येवोप-लक्षिता, न तु परस्परविरोधकलहाद्यसम्भवकथाः संवलिताः। भागवतादीनां ग्रन्थानां न कदापि अनादिवेदे सादीनां सन्दर्भः। यदाह—एतेषामितिहासपुराणानां वास्तविकमनादित्वं तत्र न सम्भाव्यं, तथा सति भवतां वेदार्थपारिजातस्य तद्-गताज्ञानस्य चाऽप्यनादित्वाऽऽपत्तेः। अतः शबरस्वामी आह—'इतिहास-वचनमिदं प्रतिभाति। इतिहासे च विधौ सति आदिमत्ता दोषो वेदे प्रसज्येत ?' इति।

पृ० ७१३, अनु० १—यदुच्यते "पुरावृत्तार्थप्रतिपादकत्वेन ब्राह्मणाना-मेवेतिहासपुराणत्वम्, तदा तु 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता' (ऋ० १०।१९०।३) 'हिरण्य-गर्भः समवर्तताग्रे' (वा० सं० १३।४) 'अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवानृषिरस्मि

मानते हुए भी इतिहास-पुराण (अथर्व० १५।६।११) मन्त्र में उनका वर्णन मानते हैं, इसी तरह अर्वाचीन पुराणों का भी वेद में वर्णन मानने में कोई दोष नहीं है। वास्तव में तो इतिहास-पुराण भी अनादि हैं, क्योंकि प्रतिकल्प में ब्रह्मा के द्वारा उनका आविर्भाव होता है, यथा—'युगान्तेऽन्तर्हितान्' (महाभा० शा० प० २०।१९) में कहा है।"

उ० प०—श्री करपात्रीजी द्वारा उक्त उपन्यास वेद के तात्पर्य को न समझने के कारण ही हुआ है; क्योंकि अथर्ववेद के उक्त मन्त्र में इतिहास और पुराणादि शब्दों से तत्तत् सम्बन्धी विद्या ही उपलक्षित है, न कि परस्पर विरोध, संघर्ष आदि असंभव कथाओं से भरे हुए भागवत आदि ग्रन्थ। कारण यह है कि अनादि वेद में इन सादि अर्वाचीन इतिहासों का, जो झूठ के पुलिन्दें हैं, वर्णन नहीं हो सकता। इन पुराणादि का अनादित्व कथन करना हो, तो बुद्धि का दिवालियापन ही होगा; क्योंकि ऐसा मानने पर तो आप, आपके वेदार्थपारिजात और तद्गत अज्ञान सभी अनादि हो जायेंगे। मीमांसाभाष्यकार शबरस्वामी ने भी लिखा है कि यह इति-हास-सदृश प्रतीत होता है, वस्तुतः इतिहास नहीं है। इतिहास मानने पर वेद में अनित्यता-दोष आयेगा।

पृ० ७१३, अनु० १—"पुरानी घटनाओं का वर्णन देखकर यदि आप ब्राह्मणों को इतिहास-पुराण मानने का हठ करते हैं तो ब्रह्मा ने पूर्वकल्प की भांति इस नयी सृष्टि में भी सूर्य-चन्द्र को बनाया। सृष्टि के आरम्भ में हिरण्यगर्भ ब्रह्मा वर्तमान था। पूर्वजन्म में मनु था, सूर्य था, कक्षीवानृषि था और अब ब्राह्मण वामदेव हूं।

https://t.me/DharmaSamrat

विप्रः' (ऋ० ४।२६।१) इत्यादिसंहितामन्त्राणामप्येतिहासिकार्थप्रतिपादकतयेतिहासपुराणत्वापत्तिः स्याद्" इति। तदपि सर्वं न विचारसहम्।

वेदे हि यानि रूपकाणि इन्द्र-वृत्रयुद्धरूपाणि तान्युपमार्थत्वेन वर्णितानि। सूर्यचन्द्रादीनां वर्णनं, परमात्मरचितानां पदार्थानां वर्णनं हिरण्यगर्भोऽपि प्रभुः समवर्तत, वर्तते, वर्त्तिष्यते चेत्यर्थः। नायं खलु इतिहासः। 'अहं मनुः' इत्यादावपि नेमे मनुष्याः, प्रत्युत यौगिकाः शब्दाः सन्तो यथार्थं बोधयन्ति। यथा मनुर्मननशीलो विद्वान् (अभवम्) अस्मि, कक्षीवान्=सर्वसृष्टिकक्षा विद्यन्ते यस्मिन् सः। कक्ष्यायाः संज्ञायां मतौ सम्प्रसारणम् (अ० ६।१।३७) 'आसन्दीवद्' (अ० ८।२।१२) इति मस्य वत्वे कक्षीवान् सिध्यति। आर्जुनेयमित्यपि प्रतियत्नार्थकार्जधातोरुनि-प्रत्यये णिलुकि च अर्जुनेन ऋजुना विदुषा निष्पादितमिव, कान्त्यर्थकाद् वशधातोः 'वशेः कनसिः' (उणा० ४।२४०) सूत्रेण सिद्धौ वष्टि कामयतेऽसौ सर्वहितं कामयमानः परमात्मैव नाऽन्यः कश्चित् पुरुषः।

आक्षेपः—पृ० ७१३, अनु० ४—"वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणाद्" इतः प्रारभ्य "संवादः कृत" इति यावत् सन्दर्भ्य—अयमाक्षिपति—"परमेतत्सर्वं सूत्रभाष्यसंस्पर्शशून्यमेव, 'प्रमाणं शब्दो यथा लोके' इत्यनेन भाषावाक्येनैव दयानन्देनेदं निर्णीतं यद् ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव न वैदिका इति। परमेष निर्णय-

---

इन संहिता-मन्त्रों में भी इतिहास का प्रतिपादन होने से इनको भी इतिहास-पुराण मानना पड़ेगा" इत्यादि पारिजात-कथन विचार करने पर नि.सार सिद्ध होता है।

वेद में इन्द्र-वृत्रादि-युद्धवर्णनरूपक है, जो उपमार्थत्वेन वर्णित है। परमात्मरचित सूर्य-चन्द्र का वर्णन इतिहास नहीं, क्योंकि यहां सृष्टि-रचना-नियम का दिग्दर्शन है। अतः 'अकल्पयत्' का अर्थ केवल भूतकाल में नहीं, प्रत्युत वर्तमान और भविष्यत् का भी द्योतक है। इसी प्रकार 'हिरण्यानि सूर्यादितेजोऽसि गर्भे यस्य स हिरण्यगर्भः' अर्थात् सूर्यादि तेजों का धारणकर्ता परमात्मा तीनों कालों में सत्तावाला है। 'अहं मनुः' मन्त्र में भी आपको यौगिकार्थ नहीं सूझता, बल्कि आप मनु, सूर्य, कक्षीवान् आदि को मनुष्य समझते हैं। इनके वास्तविक अर्थ मननशील मनु तथा सर्वहित कामना करनेवाला परमात्मा ही है कोई नश्वर-पुरुष नहीं, अतः यहां इतिहास का लेश भी नहीं है।

आक्षेप—पृ० ७१३, अनु० ४—'वाक्यविभागस्य' से प्रारम्भ कर पृ० ७१५ के 'संवादः कृतः' तक सन्दर्भित कर यह आक्षेप करते हैं कि "स्वामी जी का यह कथन सारा सूत्र के भाष्य के स्पर्श तक से शून्य है। 'प्रमाणं शब्दो यथा लोके' इस भाष्य-वाक्य से ही दयानन्द ने यह निर्णय ले लिया कि ब्राह्मणग्रन्थों के शब्द लौकिक

स्तद्भ्रान्तिमूलक एव, सूत्रभाष्यशब्दैस्तादृशस्यार्थस्यानवगमात्।"

समा०—'वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात्' (न्या० २।१।६२) इत्यस्य भाष्यम्—"प्रमाणं शब्दो यथालोके इति, विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः। अर्थात् त्रिविध (विध्यर्थवादानुवाद) विभागयुक्तब्राह्मणवाक्यानां यथा लोके वेदेऽपि ('वेदेऽप्येवमिति भावः' वृत्तिः) शब्दः प्रमाणम्।" वाक्यानां प्रमाणमित्यर्थः। एतेन ब्राह्मणग्रन्थगतशब्दाः स्पष्टं लौकिका एव न वैदिकाः।

संस्पर्शशून्योऽयं दयानन्दं भ्रान्तं भ्रान्त्या एव कथयन् स्वयं प्रकृतमबुध्यमानः परास्तोऽयम्। मूलमविज्ञाय स्वयं धूलिक्षेपं कुरुते। "ब्राह्मणभागस्य लौकिकशब्दविभागसमानत्वकथनेनाऽपि ब्राह्मणभागस्य लौकिकत्वम्" अयम् एतत्कथनेन मूलं तदभिप्रायं च विपरीतं कृत्वा प्रस्तौति। अनुमूले वात्स्यायनभाष्ये च विध्यर्थवादानुवादविभागे 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इति विधेरुदाहरणम्।

अथ च वक्तव्यम्, ब्राह्मणग्रन्थानामिह वेदत्वं क्व साधितम्? वस्तुतोऽत्र लोकदृष्टान्तेन ब्राह्मणवाक्यानां प्रामाण्यं साधितम्, वैदिकशब्दानां च प्रमाणत्वं न्या० २।२।६७ सूत्रेण साधितम्। तत्रोक्तम्—"दृष्टार्थेनाप्तोपदेशेनाऽऽयुर्वेदेनाऽदृष्टार्थो वेदभागोऽनुमातव्यः प्रमाणमिति। आप्तप्रमाणमिति हेतोः समानत्वाद्"

हैं वैदिक नहीं, परन्तु उनका यह निर्णय भ्रान्तिमूलक है। सूत्रभाष्य-शब्दों से वैसा अर्थ बोधित नहीं होता।"

समा०—वाक्यविभाग के सार्थक होने से उक्त दोष नहीं। (न्या० २।१।८२) के भाष्य में कहा है कि शब्दप्राण लोक के समान है और लौकिक ब्राह्मणग्रन्थों का वाक्यविभाग तीन प्रकार का है—विधि-वाक्य, अर्थवाद-वाक्य और अनुवाद-वाक्य भेद से। इस विभाग से युक्त ब्राह्मणग्रन्थों का जो लौकिक हैं, इन का जैसे प्रमाण है। उसी प्रकार वेद में भी प्रमाण समझना चाहिए। इस से ब्राह्मणग्रन्थ लौकिक सिद्ध होते हैं, वैदिक नहीं।

अपनी भ्रान्ति से दयानन्द को भ्रान्त कहते हुए आप स्वयं परास्त हो गये। मूल को विना समझे आप धूल उड़ा रहे हैं। "ब्राह्मणग्रन्थ के लौकिक शब्द-विभाग के समान कहने से भी ब्राह्मणभाग का लौकिकत्व नहीं हो सकता" यह कथन कर आप मूल और उसके अभिप्राय को उल्टा करके प्रस्तुत कर रहे हैं। मूलानुसारी वात्स्यायनभाष्य में विधि, अर्थवाद और अनुवाद-विभाग में विधि का 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' यह उदाहरण दिया है।

अब आप बताइये, यहां पर ब्राह्मणग्रन्थों का वेदत्व कहां सिद्ध किया है? वस्तुतः यहां लोक-दृष्टान्त के द्वारा ब्राह्मणवाक्यों का प्रामाण्य सिद्ध किया है। वैदिक शब्दों की प्रमाणता न्या० २।२।६७ में सिद्ध की है। वहां भाष्य में लिखा है कि "दृष्टार्थ आप्तोपदेश आयुर्वेद के द्वारा अदृष्टार्थ वेदभाग का भी प्रमाणत्व अनुमेय

https://t.me/DharmaSansar

इति । वस्तुतस्तु इह शब्दप्रमाणविषयो न तु ब्राह्मणानां वेदत्वप्रतिपादनप्रसङ्गः ।

पृ० ७१६, पं० १५ – "ब्राह्मणवाक्यानामवेदत्वे वेदप्रकरणे तदुपस्थापनम-प्रकृतप्रक्रिया" इति कथनं तु अविचाररमणीयम्, वेदप्रकरणे ये वेदत्वेन ग्रन्थाः गृह्यन्ते तेषां चर्चा, परमन्यग्रन्थानामपि भवादृशा वेदत्वं प्रतिपादयन्ति । तस्मात् तत्खण्डनं प्रकृतमेव, नाऽप्रासङ्गिकम् । अपरं च स्पष्टमिह लौकिकत्वेन ब्राह्मण-ग्रन्थानामुदाहरणं लौकिकस्यायुर्वेदस्योदाहरणेन, यथा वेदानां लौकिकत्वं तव कथ-नेन न सम्भवति, कथं तदा लौकिकानां वैदिकत्वसम्भवः ।

पृ० ७१८ – प्रमाणविषये स्वामिनो मान्यता महर्षिगोतममान्यतामनुमन्यते । तत्र न काचिद् विप्रतिपत्तिरिति सर्वं पूर्वमुल्लिखितमतो नेह प्रपञ्च्यते ।

पृ० ७१९—आक्षेपः—"ब्राह्मणानि वेदव्याख्यानान्येव न वेदाख्यानि वेद-प्रतीकोद्धरणपूर्वकव्याख्यानात् । इति तुच्छं, भावानवबोधात् । एतच्चानुमानं सत्प्रतिपक्षितं व्याप्यत्वासिद्धिदोषदूषितं च, स्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य रागवत्, कर्तृक-त्वस्य च तत्रोपाधित्वात् । ब्राह्मणानि वेदा अपौरुषेयवाक्यत्वात्, सहस्र-शीर्षेति वाक्यवत् – इति प्रत्यनुमानाच्च ।"

है, क्योंकि आप्तप्रमाण हेतु-समान है" । वस्तुतः उक्त प्रकरण में शब्दप्रमाण-विषय है न कि ब्राह्मणों का वेदत्व-प्रतिपादन प्रसङ्ग ।

पृ० ७१६, पं० १५—"ब्राह्मणवाक्य यदि वेद नहीं हैं तो वेद के प्रसङ्ग में उनका उल्लेख करना एक अप्रासङ्गिक चर्चा है" यह आपका विचार अरमणीय है।

वेद-प्रकरण में जो ग्रन्थ वेद-नाम से गृहीत हैं, उनकी चर्चा है, परन्तु आप जैसे लोग अन्य ग्रन्थों का भी वेदत्व-प्रतिपादन करने लगते हैं, अतः उसका खण्डन करना प्रसङ्गगत ही है । लौकिक आयुर्वेद के उदाहरण से जैसे वेदों की लौकिकता आपके कथन से भी सम्भव नहीं है, तो लौकिक ब्राह्मणग्रन्थों की वेदता कैसे सम्भव है ? दूसरे स्पष्ट है कि लौकिक तो ब्राह्मणग्रन्थों का उदाहरण दिया गया है ।

पृ० ७१८—प्रमाण के विषय में स्वामी जी की मान्यता महर्षि गौतम के अनुरूप है । उसमे कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, यह पूर्व लिखा जा चुका है, अतः यहां विस्तार नहीं किया जा रहा है ।

पृ ७१९, आ०—"ब्राह्मण वेद के व्याख्यान हैं, वेदसंज्ञक नहीं । जो कि वेद की प्रतीकें उद्धृत करके व्याख्यान करते हैं, यह भूमिका-कथन तुच्छ है, क्योंकि स्वामी जी ने भाव नहीं समझा । यह अनुमान सत्प्रतिपक्षवाला तथा व्याप्यत्वा-सिद्धि दोष से दूषित है; क्योंकि स्मर्यमाणकर्तृकत्व तथा रागवत्कर्तृकत्व उपाधि है । वस्तुतः ब्राह्मण वेद हैं, अपौरुषेयवाक्य होने से । 'सहस्रशीर्ष' इस वाक्य के समान प्रत्यनुमान है ।"

समा० – इहायं दर्शनाचार्यसहायकोऽपि न्यायाभासं प्रस्तौति । तत्र विचा-र्यम्, यद् व्याप्यत्वासिद्धिः साध्ये साध्यतावच्छेदकाभावे भवति । अथवा एवम-विकलमवगन्तव्यम्—सोपाधिको व्याप्यत्वासिद्धः । साध्यव्यापकत्वे सति साधना-ऽव्यापकत्वमुपाधिः । साध्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं, साध्य-व्यापकत्वम् । साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वम् । यथा—पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात् इत्यत्रार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः । तथा हि यत्र धूमस्त-त्रार्द्रेन्धनसंयोग इति साध्यव्यापकत्वम् । यत्र वह्निस्तत्रार्द्रेन्धनसंयोगो नास्ति अयोगोलके आर्द्रेन्धनाभावाद् इति साधनाऽव्यापकत्वम् ।

तथा प्रकृते सङ्गमयन्तु पाठकाः । पूर्वमेतद् द्रष्टव्यम्, ऋषिदयानन्देन भूमि-कायां लिखितम्—'ब्राह्मणानि तु वेदव्याख्यानानि एव सन्ति, न वेदाख्यानानि, मन्त्रप्रतीकानि धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकरणात् । अत्र व्याख्यानरूपत्वं प्रदर्शितं यदेष ब्राह्मणकर्तॄणाम् ऋषीणां व्याख्यान-प्रकार आसीत् ।

वेदसंज्ञा-विचारप्रारम्भे एव ब्राह्मणानामवेदत्वं साधितम् । तत्र ऋषिणा ५-६ हेतवः प्रस्तुताः, ये च पूर्वं विवेचिताः । न च तत्र हेतुषु व्याप्यत्वासिद्धिः सत्प्रतिपक्षत्वं च । इहापि च न व्याप्यत्वासिद्धिदोषः । यतोहि स दोषः सोपाधिको

समा०—यहां पर यह लेखक न्याय नहीं, न्यायाभास प्रस्तुत कर रहा है । वहां विचारणीय है कि व्याप्यत्वासिद्धि साध्य में साध्यतावच्छेदकाभाव में होती है, अथवा पूर्णतया यह समझिये—व्याप्यत्वासिद्धि सोपाधिक होती है, साध्यसामा-नाधिकरण्य का अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी साध्यव्यापकत्व होता है और साधन-वत् निष्ठाऽत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व साधनाव्यापकत्व होता है । जैसे पर्वत धुआंवाला है वह्निमान् होने से । यहां पर गोला इंधन का संयोग उपाधि है । तथा—जहां धूआं है, वहां आर्द्रेन्धन संयोग यह साध्यव्यापकत्व है । जहां वह्नि है, वहां आर्द्रन्धन-संयोग नहीं है, जैसे तपे लोहगोले में आर्द्रेन्धन का अभाव होने से साधनाऽव्यापकत्व है ।

उसी प्रकार प्रकृत विषय में पाठक घटित करलें । पहले तो यह देखिये कि—ऋषि दयानन्द ने भूमिका में लिखा है कि "ब्राह्मण तो वेद-व्याख्यान हैं, न कि वेद-संज्ञक, मन्त्र की प्रतीक रखकर वेदों के व्याख्यान करने के कारण से ।" यहां पर व्याख्यान का स्वरूप प्रदर्शित किया है कि ब्राह्मणकर्ता ऋषियों का यह व्याख्यान-प्रकार था ।

वेदसंज्ञा-विचार के प्रारम्भ में ही ब्राह्मणों का अवेदत्व सिद्ध किया है, उसमें ऋषि ने पांच वा छः हेतु प्रस्तुत किये हैं, जिनकी हमने पूर्व विवेचना करदी है, उन हेतुओं में व्याप्यतासिद्धि और सत्प्रतिपक्षत्व दोष नहीं है और इस हेतु में

https://t.me/DharmaSansar

भवति, परन्नेहोपाधिः, भवतः प्रत्यनुमानं च सदोषम् ।

अपरं चेदमपि विशिष्टं विपश्चिद्भिर्निश्चेयं यद् ऋषिवयानन्दस्य ब्राह्मणानामवेदत्वे साध्ये करपात्रहेतौ अपि ऋषि-प्रस्तुतहेत्वनन्तरं सत्प्रतिपक्षत्वेन सदा स्थास्यति, एवमपि ब्राह्मणानां वेदत्वं कदापि न सेत्स्यति, वेदानां तु वेदत्वं सिद्धमेव न साध्यम् ।

अन्यच्च प्राच्यानां नैयायिकानां सत्प्रतिपक्षो दोषोऽनित्यः । तेषामभिप्राय एष यद् यावद् हेतुलिङ्गपरामर्शः प्रतिहेतुलिङ्गकपरामर्श इत्यनयोरेकतरपरामर्शस्य कस्मिंश्चिदपि अंशे भ्रमत्वनिश्चयो न भवेत् तावदुक्तौ द्वावपि हेतू प्रतिपक्षितौ एव स्थास्यतः । भ्रमत्वनिश्चयानन्तरं तु नैव । अतोऽयं दोषोऽनित्यः । वयं प्राच्य-भक्ताः ।

परं नव्यनैयायिकमते एव दोषो नित्यः । एवं नव्य-न्यायभक्तस्य तव तु पिण्डम् अनेन मदारोपितेन दोषो कदापि नोत्स्रक्ष्यते नित्यत्वात्, अतो महोदय ! ऋषि-प्रदत्तहेतौ प्रतिपक्षोद्भावस्तु ते सर्वथाऽवास्तविक एवाऽस्ति ।

ब्राह्मणानां साध्ये अवेदत्वे स्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य रागवत् कर्तृकत्वस्य व्यापकत्वे सति साधने वेदप्रतीकोद्धरणपूर्वकत्वेऽपि व्यापकत्वं स्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य रागवत्कर्तृकत्वस्य चास्त्येव ।

अन्यान्यपि अद्यत्वे प्रतीकानि उद्धृत्य व्याचक्षते तथा प्रतीकेऽपि नोपाधिलक्षणं घटते । पुनर्न व्याप्यत्वासिद्धिः । प्रत्यनुमानमपि न सङ्गच्छते । हेतोरपौरुषेयत्वादित्यस्य साध्यकोटौ प्रविष्टत्वात् । अपौरुषेयता एव तत्र साध्या, सा

भी व्याप्यत्वसिद्धि दोष नहीं है; क्योंकि यह दोष सोपाधिक होता है, परन्तु यहां उपाधि नहीं है ।

यहां यह भी जानना कि प्राच्य नैयायिकों के मत में सत्प्रतिपक्ष दोष अनित्य है, उनका अभिप्राय यह है कि जबतक हेतुलिङ्गक परामर्श और प्रतिहेतु-लिङ्गक परामर्श इन दोनों में एकतर परामर्श या किसी भी अंश में भ्रमत्व निश्चय न हो, तब तक दोनों ही हेतु प्रतिपक्ष रहेंगे । भ्रमत्व-निश्चय के बाद नहीं रहेंगे । अतः यह दोष अनित्य है और हम लोग तो प्राच्यभक्त हैं ।

ब्राह्मणों के साध्य अवेदत्व तथा प्रतीकोद्धरणपूर्वक व्याख्यान हेतु दोनों में स्मर्यमाणकर्तृकत्व और रागवत्कर्तृकत्व की व्यापकता है ।

लोग आज भी प्रतीकोद्धृत करके व्याख्या करते हैं तथा प्रकृत में भी उपाधिलक्षण घटित नहीं होता । फिर व्याप्यत्वासिद्धि भी नहीं है और आपका यह प्रत्यनुमान भी सङ्गत नहीं है; क्योंकि अपौरुषेयत्व हेतु भी साध्यकोटि में प्रविष्ट

नास्ति सिद्धा, ब्राह्मणानां महीदास-याज्ञवल्क्यादिकर्तृकत्वस्मरणात् ।

सत्प्रतिपक्षस्तु यस्य साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं सः । स च तव प्रत्यनुमाने घटते । यथा ब्राह्मणानि वेदा अपौरुषेयत्वात्—सहस्रशीर्षेति वाक्यवत् । तथा ब्राह्मणानि न वेदा महीदासादिपुरुषनिर्मितत्वात् वेदार्थपारिजातवाक्यकदम्बक-वत् । यतो हि यद् वेदत्वं साध्यमस्ति तदभावव्याप्यहेत्वन्तरस्य पुरुषनिर्मितत्वस्य पक्षे ब्राह्मणे ज्ञानस्य सत्त्वात् । अतो दोषद्वयाभाव एवात्र ऋषिवचने ।

अयं सर्वत्र छलहेत्वाभासानेव प्रयुङ्क्ते, स्वयमेवं मतानुज्ञा-निग्रहस्थानगर्ते निषीदति । मतानुज्ञा हि सा यथा स्वपक्षे दोषमनुद्धृत्य परपक्षे दोषाभिधानम् । पूर्वं वेदकोटौ आस्थापयद् ब्राह्मणानि करपात्रः, वेदानपि ऋषि-प्रोक्तानलिखत्, तत्रैव वेदानामपि पौरुषेयत्वं सिषाधयिषताऽनेनेहाऽपौरुषेयत्वं निगदितं ब्राह्मण-ग्रन्थानाम् । पौर्वापर्यानभिज्ञताऽस्थिरसिद्धान्तस्य ते ।

है । अपौरुषेयता ही यहां पर साध्य है, वह सिद्ध नहीं है; क्योंकि ब्राह्मणों में महीदास, याज्ञवल्क्यादि कर्ता का स्मरण होता है ।

जिसका साध्याभाव साधक हेत्वन्तर हो, वह सत्प्रतिपक्ष होता है । यह दोष आपके प्रत्यनुमान में घटित होता है न कि ऋषि-द्वारा प्रस्तुत हेतु में । जैसे—ब्राह्मण वेद हैं अपौरुषेय होने से । 'सहस्रशीर्ष' इस वाक्य के समान । उसी प्रकार ब्राह्मण वेद नहीं हैं, महीदासादि पुरुषों द्वारा निर्मित होने से, वेदार्थपारिजात के वाक्यसमूह के समान । क्योंकि जो वेदत्व साध्य है, उसका अभाव व्याप्य हेत्वन्तर पुरुष-निर्मितत्व पक्ष ब्राह्मण में घटित है । अतः ऋषि-कथन में तो दोनों दोषों का अभाव है और आपका प्रत्यनुमान सदोष है ।

यहां निर्मलोक्ति घटित है—

दर्शनाचार्य जानीहि, दर्शने विषये सदा ।
न करेण न पात्रेण, बुद्ध्या कार्यं चलिष्यति ॥

हे नाम के दर्शनाचार्य टीकाकार! ध्यान रखिये, दार्शनिक विषय में करपात्र से तो काम चलेगा नहीं, काम तो सदा बुद्धि से ही चलेगा ।

यह लेखक सर्वत्र छल और हेत्वाभासों का ही प्रयोग करता है तथा स्वयं मतानुज्ञानामक निग्रहस्थान-गर्त में गिरता है । मतानुज्ञा का लक्षण है—अपने पक्ष में दोष का उद्धरण न देकर दूसरे के पक्ष में दोषकथन करना । श्री करपात्रीजी ने पहले तो ब्राह्मणों को वेद की कोटि में स्थापित किया तथा वेदों को भी ऋषि-प्रोक्त (रचित) लिखा, वहीं पर वेदों का पौरुषेयत्व सिद्ध करनेवाले इन्होंने यहां पर ब्राह्मणग्रन्थों का भी अपौरुषेयत्व कह डाला । आप अस्थिर सिद्धान्तवाले की यह कैसी पौर्वापर्य की अनभिज्ञता है !!

https://t.me/Dharmasamrat

ब्राह्मणभागस्य तु अवेदता वैशेषिकदर्शनकारेणाऽपि प्रत्यपादि "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे, तथा ब्राह्मणे संज्ञाकर्मसिद्धिलिङ्गम्।" (वैशे० द० ६।१।१-२)। न च क्वापि ब्राह्मणानां व्याख्यानरूपतां प्रयोजकत्वेन पौरुषेयत्वे प्रतिपादयामः, तेषां (ब्राह्मणानां) पौरुषेयत्वे ऋषिभिरुक्तत्वादिति कथनात्।

पारिजाते यदुक्तं "प्रतीकमादाय ब्राह्मणेषु व्याख्यानदर्शनात् ब्राह्मणानां मन्त्रान्तरकालिकता न सम्भवति, क्रमिकेषु संहितामन्त्रेष्वपि पूर्वोत्तरभावस्य अवर्जनीयतया वेदत्वव्यवस्थायां पूर्वोत्तरभावस्याऽकिञ्चित्करत्वात्" इति तु अविचाररमणीयम्।

वेदत्वव्यवस्थायां पूर्वोत्तरहेतोरमुख्यत्वात्। वयं तु ब्रूमो वेदत्व ईश्वरोक्तत्वं हेतुम्। अपि च परमेश्वरज्ञानरूपस्थितौ वेदानां न पौर्वापर्यतावस्थानम्, नेश्वरज्ञाने किमपि पूर्वं किमपि पश्चाद्भवत्वं सम्भवति, तस्येश्वरस्य तज्ज्ञानस्यापि कालानवच्छिन्नत्वात्। पौर्वापर्यता च अस्मद्दृष्ट्यैव सम्भवति।

न हि तथा ब्राह्मणानां स्थितिर्बहोः कालादनन्तरमृषिभिरुक्तत्वात्। न हि मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरपौरुषेयत्वम्, याज्ञवल्क्यादीनाम् असन्दिग्धरूपेण ब्राह्मणेषु संवादोपलब्धेः पुरुषोक्तत्वात्।

ब्राह्मण-भाग की तो अवेदता वैशेषिकदर्शनकार ने (६।१।१-२) सूत्रों में प्रतिपादित की है। कहीं पर भी हम ब्राह्मणों की व्याख्यानरूपता का प्रयोजकत्वेन पौरुषेयत्व में प्रतिपादन नहीं करते, वरन् पौरुषेयत्व में ऋषियों के द्वारा उक्त होने के कारण से यह कथन किया गया है।

"प्रतीक लेकर ब्राह्मणों का व्याख्यान किया गया है। इस कारण ब्राह्मणों की मन्त्रान्तरकालिकता सम्भव नहीं है। क्रमिक संहिता-मन्त्रों में भी पूर्वोत्तरभाव की अवर्जनीयता से वेदों की व्यवस्था में पूर्वोत्तर-भाव कुछ भी महत्त्व-पूर्ण नहीं है।" पारिजात-लेखक का यह कथन तो अविचाररमणीय है।

वेद-व्यवस्था में पूर्वोत्तरहेतुता मुख्य नहीं है। हम तो वेदत्व में ईश्वरोक्तत्व हेतु कहते हैं। दूसरे परमेश्वर की ज्ञानरूपस्थिति में वेदों की पौर्वापर्यता नहीं है। ईश्वर के ज्ञान में कुछ पूर्व और कुछ पश्चाद्भव नहीं होता। वह ईश्वर और उसका ज्ञान काल से अनवच्छिन्न है, पौर्वापर्यता तो हम लोगों की दृष्टि से ही हो सकती है ईश्वर की दृष्टि से नहीं; क्योंकि वह सदा से अनादि है।

वेद के समान ब्राह्मणों की स्थिति नहीं है। बहुकाल के अनन्तर ऋषियों द्वारा कहे जाने के कारण मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का अपौरुषेयत्व हो ही नहीं सकता। असन्दिग्धरूप से याज्ञवल्क्यादि के ब्राह्मणों में संवाद मिलते हैं, वे पुरुषोक्त हैं।

तथा च शतपथे ऋ० १।४।७ "होतारं विश्ववेदसम्" इत्यस्य स्थाने शाखागतस्य 'होता यो विश्ववेदसः' इति मानुषपाठस्य निषेधविधानात् शाखानामप्यवेदत्वं प्रतिपादितम्, का कथा पुनर्ब्राह्मणानां वराकाणाम्। सायणोऽपि समर्थयते—"यथैव वेदे पठितं तथैवानुवक्तव्यम्।" अन्यच्च 'स ऋचो व्यौहद् द्वादश बृहतीसहस्राणि' शत० १०।४।२।२३,२५ इत्यादि पाठेन तावन्ति अक्षराणि चतुर्णामेव वेदानां परिगणितानि, न तु ब्राह्मणानाम्। यदि शाखा ब्राह्मणानि च वेदा अभविष्यन् कथमक्षराणां गणना तेषामपि व्यधास्यत?

इह वैदिकशब्दान् आनुपूर्वीसहितानुद्धृत्य महाभाष्यकारश्चतुर्णामेव वेदानामुदाहरणानि प्रस्तौति। "लोके स्वरानादरात् वेदे तदादराच्च स्वरविशिष्टानां वेदमात्रविषयतामभिप्रेत्य 'शन्न' इत्यादीनां वैदिकोदाहरणत्वसङ्गतिः" इति नागेशः। एतेन ऋषिदयानन्दोऽनुदाहृतानि ब्राह्मणानि न वेद इति साधयति।

तत्रायं वक्ति—"तदप्यज्ञानविजृम्भितम्, महाभाष्ये वेदशब्दैर्ब्राह्मणवाक्यानामुदाहरणदर्शनात्। 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' अ० १।१।५५ (स्वयं ५६ अङ्कयति) इत्यत्र महाभाष्ये 'वेदेऽपि सोमस्य स्थाने पूतिकातृणान्यभिषुणुयादित्युच्यते' इति निर्दशनात्" इति।

शतपथ में ऋ० १।४।७ के 'होतारं विश्ववेदसम्' के स्थान पर शाखागत 'होता यो विश्ववेदसः' इस मानुष-पाठ का निषेध विधान करने से शाखाओं का भी अवेदत्व प्रतिपादित किया है, फिर बेचारे ब्राह्मणों का तो कहना ही क्या! सायण भी इसका समर्थन करते हैं-'जैसा वेद में पढ़ा है,वैसा ही अनुवचन करना चाहिए'। और भी देखिए—शतपथ में 'स ऋचो व्यौहद् द्वादश बृहतीसहस्राणि' (१०।४।२।२३,२५) इस पाठ के द्वारा उतने अक्षर वेदों के ही परिगणित किये हैं, ब्राह्मणों के अक्षरों की गणना नहीं की गयी। यदि शाखा और ब्राह्मण वेद होते, तो उसके भी अक्षरों की गणना क्यों नहीं की जाती?

यहां पर आनुपूर्वीसहित वैदिकशब्दों को उद्धृत करके महाभाष्यकार चारों वेदों के उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। "लोक में स्वरों का आदर न होने तथा वेद में आदर होने से स्वरविशिष्टों के वेद-मात्र विषय को अभिप्रेत करके 'शन्न' इत्यादियों की वैदिकोद्धरण संगति है" ऐसा नागेश ने कहा है। इससे ऋषि दयानन्द अनुदाहृत ब्राह्मण वेद नहीं हैं, यह सिद्ध करते हैं।

इस पर यह करपात्री जी कहते हैं, "वह भी अज्ञान-विजृम्भित है; क्योंकि महाभाष्य में वेदशब्दों के द्वारा ब्राह्मण-वाक्यों के उदाहरण देखे जाते हैं। 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' इस सूत्र के महाभाष्य पर वेद में भी सोम के स्थान पर 'पूतिकातृणान्यभिषुणुयाद्' यह कहा जाता है।"

https://t.me/DharmaSahat

समा०—तदपि न साधु । वस्तुतो 'वेदेऽपि' इत्यस्यार्थो वैदिककर्मणि दृष्टान्ते वा। यथाऽह तत्रैव सूत्रे 'सिद्धं तु यथा लौकिकवैदिकेषु च कृतान्तेषु अभूतपूर्वेऽपि स्थानशब्दो वर्तते।' तथैव 'एकः पूर्वपरयोः' (अ० ६।१।८४) अत्रापि 'यथा लौकिकवैदिकेषु कृतान्तेषु' इहापि वैदिककर्मसु वैदिककर्मदृष्टान्तेषु वेत्यर्थः।

वेदानुकूलं कर्म उदाहृतमत्र, न तु वेदशब्दावली। तथाऽऽह कैयटः—'लोकवेदयोर्भवा लोकवेदशब्दाभ्यामभिधातुं शक्यन्ते।' 'पयोव्रतो ब्राह्मणः' इत्यत्रापि 'यथा लौकिकवैदिकेषु' इत्येव पठितं, तत्पूर्ववद् व्याख्यातव्यम्।

यदुच्यते "प्रतिवेदस्य प्रथममन्त्रोदाहरणेनानुदाहृतमन्त्राणामपि तदवयवानां वेदत्वसिद्धिस्तथैव तत्तत्संहिताया उत्तरभागाखिलब्राह्मणस्याऽपि वेदत्वसिद्धिर्भविष्यति" इति विचित्रोऽयं तर्कोऽज्ञानप्रतिष्ठितः। नह्यत्र वेदत्वसिद्धिरुदाहरणेन क्रियते, प्रत्युत सिद्धवेदचतुष्टयस्योदाहरणं प्रस्तूयते वैदिकशब्दत्वेन। न वा सब्राह्मणारण्यकोपनिषत्का संहिताख्याता मता वाप्तैः। एवमनर्गलतर्केण तु त्वल्लेखस्याऽपि वेदत्वमापद्येत। न च त्वदुदितोत्तरभागस्योदाहरणं वेदत्वेनासिद्ध-

---

समा०—यह ठीक नहीं है। वास्तव में 'वेदेऽपि' इसका अर्थ है वैदिक कर्म में या दृष्टान्त में। जैसा कि वहां पर ही कहा है 'लौकिक और वैदिक सिद्धान्तों में अभूतपूर्व में भी स्थान शब्द है'। उसी प्रकार 'एकः पूर्वपरयोः' में भी जैसे 'लौकिकवैदिककृतान्तेषु' में भी वैदिक कर्मों वा 'वैदिककर्मदृष्टान्तों में' यह अर्थ है।

यहां वेदानुकूल कर्म का उदाहरण दिया गया है न कि वेद की शब्दावली का। उस स्थल पर 'शन्न' इत्यादि का ही उदाहरण दिया गया था। दूसरे सिद्ध नहीं हो सकता कि आपकी उदाहृत शब्दावली वेद की है। जैसा कि कैयट ने कहा है—'लोक और वेद में होनेवाले लोक और वेद शब्दों से कहे जा सकते हैं'। 'पयोव्रतो ब्राह्मणः' यहां पर भी 'यथा लौकिकवैदिकेषु' यही पढ़ा है। इस की भी पूर्व व्याख्या कर लेनी चाहिये।

'जैसे वेद के प्रथम मन्त्र के उदाहरण से अनुदाहृत मन्त्रों का भी और उनके अवयवों की वेदता सिद्ध है भी, उसी प्रकार उस-उस संहिता के उत्तरभाग निखिल ब्रह्मणग्रन्थ की भी वेदत्वसिद्धि हो जायेगी" यह तो विचित्र तर्क है और अज्ञान में प्रतिष्ठित है। महोदय! यहां पर उदाहरण देकर वेदत्व की सिद्धि नहीं की गयी है, प्रत्युत सिद्ध वेदचतुष्टय का उदाहरण वैदिकशब्दत्वेन दिया गया है और न कहीं ब्राह्मण और उपनिषद् समेत आप्तपुरुषों द्वारा वेदसंहिता मानी या कही गयी है तथा आपके उदाहृत 'मन्त्राणाम्' इसमें पठित मन्त्र शब्द से तो ऋचाओं का ही बोध होता है, न कि ब्राह्मणों का। तुम्हारे उदाहृत उत्तरभाग की शब्द-प्रतीकें वहां अथवा अन्यत्र वेदत्वेन नहीं दी गयी है, ऐसे अनर्गल तर्क से तो तुम्हारा परिजात

त्वात्।

यदभिप्रैति भवान् यद् "यजुषि सवव्याघ्रमृगादीनां नामपाठेन न हि यथा वेदानामवेदत्वम्, तथा गवादिशब्दोपलम्भेन ब्राह्मणानामपि नाऽवेदत्वम्" इति तु त्वया 'केषां शब्दानाम्' इति व्याकरणप्रसङ्गस्यानभिज्ञानादेवोक्तम्। तत्र तु नियतानुपूर्वीविशिष्टा वर्णावली एव वैदिकी अभीष्टा, न तु नियतानुपूर्वी वैशिष्ट्यरहितब्राह्मणादीनां शब्दावली उदाहृते अभीष्टा भगवतः पतञ्जलेः। वेदस्य तु सा वर्णावली नित्यैव। यथा—'नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति' (नि० १।१५) इति।

७२२ पृष्टतः ७२४ पृष्ठं यावत् समालोचनम्—भवता ब्राह्मणानां वेद-संज्ञा भवतीत्यवलम्ब्य बहुपल्लवितम्, तदभिलक्ष्यीकृत्य पृच्छामो, वेदब्राह्मणयोः संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धो भवता मन्यते न वा? यन्मन्यते 'द्वितीया ब्राह्मणे' इति ब्राह्मणपाठेन ब्राह्मणे वेदे चाऽपि षष्ठी भविष्यति ततोऽनुवृत्तौ 'ब्राह्मणे' पदस्य 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' सूत्रे किमर्थं छन्दोग्रहणम्, संज्ञिना संज्ञोपस्थानात्? स्वामिनस्तात्पर्यमत्रैतदेव यन्न वेदशब्दः संज्ञा न च तस्य ब्राह्मणं संज्ञि, यतो हि न संज्ञी क्वाऽपि स्व-

---

ग्रन्थ भी वेद मान लिया जायेगा।

यह आपने अभिप्राय निकाला है कि "यजुर्वेद में सब व्याघ्र, मृग आदि के नाम पढ़ने से जैसे वेदों का अवेदत्व नहीं होता, वैसे ही गो आदि शब्दों के होने से ब्राह्मणों का भी अवेदत्व नहीं होगा" यह ठीक नहीं; क्योंकि आपने 'केषां शब्दानाम्' इस व्याकरण-प्रसङ्ग को समझा नहीं, इसलिए ऐसा कहा। वहां पर नियत आनुपूर्वी से विशिष्ट वर्णावली वैदिकी ही भगवान् पतञ्जलि को अभीष्ट है, न कि आनुपूर्वी के वैशिष्ट्य से रहित ब्राह्मणादि ग्रन्थों की शब्दावली उदाहरण में अभीष्ट है। वेदों की वह वर्णावली नित्य है। जैसे निरुक्त (१।१५) में कहा है—'नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति।'

पृष्ठ ७२२ से ६२४ तक कासमालोचन प्रस्तुत है आपने 'ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा होती है' यह सिद्ध करने के लिए बहुत कुछ कागज काला करडाला। उसको अभिलक्षित करके ही हम पूछते हैं कि वेद और ब्राह्मण में संज्ञा-संज्ञी संबन्ध आप मानते हैं या नहीं? यदि मानते हैं तो 'द्वितीया ब्राह्मणे' इस ब्राह्मणपाठ से ही ब्राह्मण और वेद दोनों के ग्रहण होने से ब्राह्मणपद की अनुवृत्ति होने पर 'चतुर्थ्यर्थे बहुलम्' इस सूत्र में षष्ठी हो जायेगी; क्योंकि संज्ञी से संज्ञा की उपस्थिति होगी। फिर इसमें 'छन्दसि' यह पद क्यों पढ़ा गया? स्वामी जी का यहां यही तात्पर्य है कि वेदशब्द यहां संज्ञा नहीं और न वेद का संज्ञी ब्राह्मण है; क्योंकि संज्ञी कहीं भी

https://t.me/DharmaBharat

संज्ञां व्यभिचरति । नास्ति प्रश्नोऽत्र यत् प्रयोजकेच्छया वेदशब्देन ब्राह्मणं गृह्यते नवेति ।

यथा हि करपात्रीति संज्ञा तत्पदवाच्यो भवान् संज्ञी, नैव क्वाप्येतयोः संज्ञा-संज्ञिनोर्व्यभिचारः शिष्टसम्मतः, संज्ञायास्तदर्थबोधने रूढत्वाद् योगरूढत्वाद् वा । तथा हि शास्त्रकल्पितावयवार्थमानाभावे समुदायार्थनिरूपितशक्तिः रूढिः, तन्निरूपकं पदं रूढम् । यथा—गोमण्डलादिपदम् । यादृशपदघटकावयवशक्तिसमानाधिकरणसमुदायशक्तिप्रयोज्यानुभवविषयतावान् अर्थो भवति तादृशपदघटित-समुदायत्वं योगरूढत्वम्, यथाहि पङ्कजादिपदम् । इहापि ब्राह्मणानां वेदसंज्ञाऽभविष्यत् तदा न हि कदाऽपि केवलब्राह्मणत्वबोधोऽभविष्यत् । यदा च ब्राह्मण-पदेन न ब्राह्मणातिरिक्तबोधोऽतएव छन्दः पदं पठितं 'चतुर्थ्यर्थे बहुलम्' इत्यत्र ।

यदुच्यते—"न ब्राह्मणग्रन्थानां वेदसंज्ञाऽस्तीति कथनं तु, अनवगतव्याकरण-शास्त्रतत्त्वस्य चेष्टितम्, अत्र हेतुं प्रस्तौति सामान्यविशेषभावानवगमात्" इति सर्वोपन्यासे पारिजातकतुरेव व्याकरणतत्त्वानभिज्ञत्वम् । तथा च वक्तव्यं भवता, कथं ब्राह्मणशब्दः सामान्येन वेदाभिधायी ? यदि चास्ति तदा वेदब्राह्मणयोर्द्वयोरपि

अपनी संज्ञा को नहीं छोड़ता । यहां यह प्रश्न नहीं है कि प्रयोजक की इच्छा से वेद-शब्द से ब्राह्मण का ग्रहण किया जायेगा या नहीं ?

जैसे 'करपात्री' यह संज्ञा, इस संज्ञा-पद से वाच्य आप, इन दोनों संज्ञा-संज्ञी का कहीं भी व्यभिचार शिष्टसम्मत नहीं है । संज्ञा उस अर्थ का रूढ या योगरूढ होने से बोधन कराती है । शास्त्र द्वारा कल्पित अवयवार्थ के मानाभाव में समुदायार्थ में निरूपित शक्ति ही रूढि है । इस रूढि का निरूपक-पद रूढ होता है । जैसे गोमण्डलादि पद । वैसे पदघटक अवयवशक्ति के समानाधिकरणवाली समुदायशक्तिप्रयोज्य-अनुभवविषयता से युक्त अर्थ होता है, वैसे पदघटित समुदाय-वाला योगरूढ होता है, यथा पङ्कजादि पद । यहां पर भी यदि ब्राह्मणों की वेद-संज्ञा हुई होती, तो कदापि केवल ब्राह्मण-बोध नहीं होता और जब ब्राह्मणपद से ब्राह्मणातिरिक्त का बोध नहीं होता है, इसीलिए तो 'चतुर्थ्यर्थे' सूत्र में छन्दः पद पढ़ा गया है ।

पूर्वपक्ष—ब्राह्मणों की वेद-संज्ञा नहीं होती, यह कथन तो स्वामी दयानन्द का व्याकरणशास्त्र को न जानने के कारण है और विशेष के कहने पर सामान्य और सामान्य के कहने पर विशेष कथन व्यर्थ नहीं होता, यह स्वामी जी ने नहीं समझा ।"

उत्तरपक्ष—यह सब उपन्यस्त करना तो करपात्री जी की व्याकरण के तत्त्व की अनभिज्ञता को प्रकट करता है । अच्छा बताइये, सामान्यरूप से ब्राह्मण शब्द किस प्रकार वेद का अभिधायी है ? यदि है तो ब्राह्मण और वेद दोनों का

ग्रहणेन 'चतुर्थ्यर्थे' इत्यत्र छन्दःपाठस्तु व्यर्थः स्यात् । यदि च ब्राह्मणशब्दः केवलं ब्राह्मणमेव द्योतयति तत्र किं नियामकम् ? एतेनाऽपि सिद्ध्यति यद् ब्राह्मणानि न वेदाः ।

यत्तु कश्चिदाह यत् स्वामिदयानन्देनोक्तं यद् आचार्यपाणिनिः स्वव्याकरणे वेदपर्यायरूपेण 'छन्दः'शब्देन केवलं मन्त्रमागृह्णात् । यद्युभयमपि (मन्त्रब्राह्मण) वेदसंज्ञात्वे अभीष्टमभविष्यत् तदा 'द्वितीया ब्राह्मणे'अ० २।३।६० इति सूत्रे 'ब्राह्मणे' इति स्थाने 'छन्दसि' इत्येवापठिष्यत्, अनुवृत्त्या च चतुर्थ्यर्थे इत्यत्रापि 'छन्दसि' इति पाठस्यावश्यकता नाभविष्यत् । अतः 'ब्राह्मणे' इति पाठेन ध्वन्यते यत् 'छन्दः' पदं केवलमन्त्रवाचकम्, इति समग्रं तव स्वकपोलकल्पितं न स्वामिदयानन्दे-नोक्तम् ।

स्वामिनः शब्दावली त्वेषा "यद्यत्र छन्दोब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाऽभीष्टा भवेत् तर्हि 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' इत्यत्र छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात्" । एतस्याशयस्तु एष एव यत् पाणिनिकाले ब्राह्मणं वेदशब्दवाच्यं नासीत्, अभविष्यच्चेत् तदा ब्राह्मण-पदानुवृत्तावपि चतुर्थ्यर्थे बहुलमित्यत्रापि वेदे 'छन्दसि' षष्ठी अभविष्यत्, 'ब्राह्म-

---

ब्राह्मण पद से ग्रहण हो जाता, फिर छन्दः पद पढ़ना व्यर्थ है । यदि यह शब्द यहां पर केवल ब्राह्मणग्रन्थ का बोधन करायेगा तो इसमें नियामक क्या है? अर्थात् कुछ नहीं । इससे भी सिद्ध होता है कि ब्राह्मण वेद नहीं हैं ।

आचार्य महीधर और स्वामीजी की ब्राह्मणों के वेदत्व मानने और न मानने के सम्बन्ध में तुलना करते हुए एक (डा० प्र० मि०) ने लिखा है कि—स्वामी दयानन्द ने ब्राह्मणों को वेद न मानने में यह दूसरा हेतु प्रस्तुत किया है कि आचार्य पाणिनि ने अपने व्याकरण में वेद के पर्यायरूप में व्यवहृत 'छन्दस्' शब्द से केवल मन्त्र का ही ग्रहण किया है । यदि उन्हें मन्त्र और ब्राह्मण दोनों संज्ञा अभीष्ट होतीं तो 'द्वितीया ब्राह्मणे'(अ० २।३।६०) इस सूत्र में ही 'ब्राह्मणे' के स्थान पर 'छन्दसि' पद रखते तथा उसकी अनुवृत्ति अगले सूत्र 'चतुर्थ्यर्थे' (२।३।६२) में लेजाते, जिससे इस सूत्र में 'छन्दसि' ग्रहण की आवश्यकता न होती । अतः ब्राह्मण-पाठ से ध्वनित होता है कि 'छन्दस्' शब्द केवल मन्त्र का ही वाचक है, ब्राह्मण का नहीं ।

उक्त सारा पाठ ही इस लेखक का अन्यानुकृत अथवा स्वकपोलकल्पित है, स्वामीजी द्वारा लिखित नहीं है । स्वामीजी की शब्दावली तो यह है कि "अगर यहां पर छन्द और ब्राह्मण की वेद-संज्ञा अभीष्ट होती तो आगे 'छन्दसि' ग्रहण व्यर्थ होता ।" इसका आशय केवल यह है कि पाणिनि के काल में ब्राह्मण की वेद-संज्ञा अभीष्ट होती तो वेद में भी ब्राह्मण-पदानुवृत्ति से ही काम चल जाता । वस्तुतः

https://t.me/Dharmasamrat

णस्य' इह च वेदवाचकछन्दःपदस्यैकार्थप्रतिपादनात् । वस्तुतः 'चतुर्थी' इति भाष्ये विभागाद् ब्राह्मणे षष्ठ्यर्थे चतुर्थी साध्यते वेदे 'छन्दसि' च चतुर्थ्यर्थे षष्ठी विधीयते ।

न च आम्नायशब्दोऽपि व्याकरणे अत्र भाष्यकारवचनेन 'स्वरो नियत आम्नायेऽस्य वामस्य शब्दस्य वर्णानुपूर्वी खल्वप्याम्नाये नियता' (महाभा० ५।२।५९) ब्राह्मणात्मकवेदसामान्यवाचकः, अतस्तव कथनं मिथ्या । इह भगवान् पतञ्जलिर्मूलसंहितामेवाम्नायपदेन गृह्णाति । "श्रुतिछन्दोनिगमाम्नायवेदपदवाच्ये मन्त्रब्राह्मणात्मके वेदाऽसामान्ये द्वितीया न भवति" इति वचस्तु प्रामादिकमेव, वेदाऽसामान्ये द्वितीयाविधानाऽभावात् । "तथा चात्र ब्राह्मणशब्देन वेदैकदेशे ब्राह्मणभागे द्वितीया विधीयते" अत्र वेदैकदेश इत्यर्थोऽतिरिक्त एव बर्धितः, न केनापि वैयाकरणेनोक्तोऽतोऽसङ्गतः ।

मन्त्रशब्देन केवलं संहितायाः, ब्राह्मणपदेन केवलं महर्षिप्रोक्तानां ब्राह्मणानां, छन्दःपदेन तूभयोर्ग्रहणमतश्छन्दःपाठः 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' इत्यत्रास्ति । परमत्रैतदपि विवेच्यमस्ति प्रसङ्गतो यन्महाभाष्यकारेण छन्दःशब्दस्य स्वरूपं स्वशास्त्रे 'तेन प्रोक्तम्' (अष्टा० ४।३।१०१) एतत्सूत्रोपरि लिखितं यदिदं सूत्रं छन्दोऽर्थं पठनीयम् । तदनन्तरं 'तत्र कृते ग्रन्थ इत्येव सिद्धम्' इमां शङ्कामुद्भाव्य

'चतुर्थी' यह योग-विभाग करने से भाष्य में ब्राह्मण में तो षष्ठी अर्थ में चतुर्थी सिद्ध की जा रही है और वेद में चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी ।

व्याकरण में भाष्यकारवचन के द्वारा भी आम्नाय शब्द ब्राह्मणात्मक वेदसामान्य का वाचक नहीं है । जैसा कि अ० ५।२।५९ सूत्र में कहा है—'स्वर तथा वर्णानुपूर्वी आम्नाय में नियत होती है' अतः आपका कथन निराधार है । यहां भगवान् पतञ्जलि मूलसंहिता का ही आम्नाय पद से ग्रहण करते हैं । श्रुति, छन्दः, निगम, आम्नाय पदवाच्य पूरे वेदाऽसामान्य में द्वितीया नहीं होती, उसी प्रकार यहां ब्राह्मण शब्द से वेदैकदेश ब्राह्मणभाग में द्वितीया का विधान है, इस कथन में 'वेदैकदेश' यह अर्थ आपने अतिरिक्त कहां से बढ़ा दिया ? किसी वैयाकरण ने ऐसा नहीं कहा । अतः सर्वथा अनर्गल और असंगत है ।

मन्त्र शब्द से केवल संहिता का और ब्राह्मणपद से केवल महर्षिप्रोक्त ब्राह्मणग्रन्थों का और छन्दः पद से दोनों का ग्रहण होता है, अतः 'चतुर्थ्यर्थे' इस सूत्र में छन्दः पद का पाठ किया गया है । परन्तु यहां पर यह भी विवेचनीय है कि छन्दः पद का स्वरूप भाष्यकार पतञ्जलि ने स्वयं दिखाया है । उन्होंने भाष्य में 'तेन प्रोक्तम्' (अ० ४।३।१०१) सूत्र पर लिखा है कि इस सूत्र को छन्दों के लिए पढ़ना चाहिए । तदन्तर 'तत्र कृते ग्रन्थ इत्येव सिद्धम्' यह शङ्का उठायी है कि महाभाष्य-

विशिष्टार्थं स्वीकरोति । यथा—"ननु चोक्तं नहि छन्दांसि क्रियन्ते, नित्यानि छन्दांसीति । यद्यप्यर्थो नित्यो या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या । तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकं, कालापकं, मौदकं, पैप्पलादकमिति" (म० भा० ४।३।१०१) ।

अर्थाद् वेदार्थं गृहीत्वा काठक-कालापकादिशाखाः कृताः सन्ति, अतोऽर्थस्तु नित्यः, परं छन्दःसु वर्णानुपूर्वीपरिवर्तनं क्रियतेऽतः कृतानि छन्दांसि । अपराणि छन्दांसि नित्यानि, एषां वर्णानुपूर्व्यपि नित्याऽस्ति ।

एतत्समग्रं पर्यालोच्यैव भाष्यकारः शाखाप्रतीकान्यपि उदाहरत् । महाभाष्यकृच्छाखावचनानि मूलवेदत्वेन मन्यमानो नैवोदाहरति; प्रत्युत कृतच्छन्दः परिभाषागतत्वेनोदाहरति । एवं स मूलसंहिताभ्यो नित्याभ्यः शाखाः स्वयं पृथगेव कुरुते ।

एवं 'मन्त्रे श्वेतवहोक्थ०' इत्यस्मान् 'मन्त्रे' इत्यनुवृत्तेरेव भाषायां न भविष्यतीति 'विजुपे च्छन्दसि' इत्यत्र छन्दोग्रहणं ब्राह्मणसंग्रहार्थम् । एतेन प्रतीयते मन्त्रशब्दो मूलवेदवाचको, ब्राह्मणभागो हि मन्त्रातिरिक्तः । वस्तुतोऽस्मिन् शास्त्रे छन्दःशब्दप्रयोगोऽनेकार्थकः । 'हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च छन्दसि' (अ० २।४।२८)

कार छन्दः शब्द का अपने शास्त्र में विशिष्ट अर्थ स्वीकार करते हैं । जैसे—"यह कहा है कि छन्दस् किये नहीं जाते' क्योंकि छन्दस् नित्य होते हैं, पर छन्दः भी किये जाते हैं, यद्यपि अर्थ नित्य है, यह जो वर्णानुपूर्वी है, वह अनित्य है । उसके भेद से काठक, कालापक, मौदक और पैप्पलादक हैं" (महा० भा० ४।३।१०१) ।

अर्थात् वेदार्थ को ग्रहण करके काठक, कालापक शाखाएं बनायी हुई हैं, अर्थ तो नित्य है, पर छन्दस् में जो-जो वर्णानुपूर्वी है, उसमें परिवर्तन किया जाता है; इसलिए छन्द कृत हैं । दूसरे छन्द नित्य हैं, जिनकी वर्णानुपूर्वी भी नित्य है ।

इस समग्र का पर्यालोचन करके ही भाष्यकार ने शाखा की प्रतीकों को उदाहरण के रूप में रखा है । महाभाष्यकार शाखावचनों को मूल वेदरूप में मानकर उदाहरण नहीं दे रहे हैं, प्रत्युत कृतछन्द की परिभाषा के अन्तर्गत होने से उदाहरण दे रहे हैं । इस प्रकार वह नित्य मूल संहिताओं से शाखाओं को स्वयं पृथक् कर रहे हैं ।

इसी प्रकार 'मन्त्रे श्वेतवहोक्थ०' इस सूत्र से 'मन्त्रे' की अनुवृत्ति से ही भाषा में नहीं होगा, अतः 'विजुपे च्छन्दसि' यहां 'छन्दसि' ग्रहण करना संग्रह के लिए है । इससे प्रतीत होता है कि मन्त्र-शब्द मूलवेद-वाचक है और ब्राह्मणभाग मन्त्रातिरिक्त है । वास्तव में इस व्याकरणशास्त्र में 'छन्दस्' शब्द अनेकार्थक है ।

https://t.me/DharmaSamrat

अत्र 'छन्दसि' शब्दो मूलसंहिताकाठकादिसंग्रहार्थः। 'बहुलं छन्दसि' (अ० २।४।७३) इह छन्दो वेदे 'बहुलं छन्दसि'(अ० २।४।७६) अत्र ब्राह्मणसंग्रहार्थमप्यस्ति। तथा च व्याकरणे मन्त्रग्रहणमपि क्वचिच्छन्दस उपलक्षणार्थम्। यथा 'मन्त्रे घसह्वरणश०' (अ० २।४।८०)इत्यत्र उपलक्षणेति कथनेन सिद्ध्यति यदष्टाध्याय्यां मन्त्रपदं छन्दः-समानार्थकं नैवास्ति।

एवं 'नैतावता कस्यापि भागस्यावेदत्वमायाति' इति कथनं तु दुराग्रहमूलकमेव। अनुवर्तमानब्राह्मणपदेन छन्दःपदवाच्यार्थग्रहणसामर्थ्याद् ब्राह्मणस्य अवेदता स्पष्टैव।

पृ० ७२४, पं० ८—"प्रवाहरूपेण समेषामनादित्वात् तुल्यकालत्वम्, प्राचीनत्वमर्वाचीनत्वं वा न केषाञ्चन सम्भवति" इति तु उन्मत्तगीतं स्यात्। 'साध्या ऋषयश्च ये' इति वचसा ऋषीणामपि मनुष्यवदुत्पन्नत्वात्, मृत्युधर्मग्रस्तत्वाच्च।

कोऽयं तर्कः? यत् 'अम्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि' (अ० ८।२।७०) अस्मिन् छन्दःपदमुपादायापि 'भुवश्च महाव्याहृतेः' (अ० ८।२।७१) इत्यस्य रुत्वस्य वैकल्पिकविधानार्थं 'महाव्याहृतिग्रहणेन महाव्याहृतेरवेदत्वमापद्येत' नहि 'रुत्वस्य वैकल्पिकविधानार्थमिह महाव्याहृतिग्रहणम्।' विकल्पस्तु सिद्ध एव। महाव्याहृतिग्रहणं तु 'भुवो विश्वेषु भुवनेषु' अत्र रुत्वं रेफो वा न भवेदित्यर्थम्।

'हेमन्तशिशिर०' (अ० २।४।२८ में) 'छन्दस्' शब्द मूलसंहिता काठकादि संग्रहार्थक है तथा २।४।७३ में वेदार्थक। २।४।७६ में 'छन्दस्' पद शाखा में भी प्रयुक्त तथा 'चतुर्थ्यर्थे' में ब्राह्मणसंग्रहणार्थक भी है और व्याकरण में मन्त्रग्रहण कहीं-कहीं छन्दस् के उपलक्षणार्थ भी आता है। जैसे—'मन्त्रे घस०' (२।४।८०) में उपलक्षण-कथन से सिद्ध है कि अष्टाध्यायी में मन्त्रपद छन्दः-समानार्थक नहीं है।

इस प्रकार 'इतने से किसी भाग का अवेदत्व नहीं होता' इनका यह कथन दुराग्रहमूलक ही है। अनुवर्तमान ब्राह्मणपद से छन्दःपदवाच्यार्थ ग्रहण की असमर्थता के कारण ब्राह्मणग्रन्थ की अवेदता सिद्ध है।

"प्रवाहरूप से सभी के अनादि होने के कारण तुल्यकालता है। प्राचीनता व अर्वाचीनता किसी की भी सिद्ध नहीं होती" यह आपका कथन तो उन्मत्तगीत-मात्र है; क्योंकि 'साध्या ऋषयश्च ये'(यजु० ३१।९) इस वचन से ऋषियों की भी मनुष्यवत् उत्पत्ति तथा मृत्युधर्म होता है।

यह कैसा तर्क है, कि 'अम्नरूध०' (अ० ८।२।७०) में छन्दः पद लेकर के भी 'भुवश्च महाव्याहृतेः' (अ० ८।२।७१) इसमें रुत्व के वैकल्पिक विधानार्थ महाव्याहृति का ग्रहण नहीं किया गया है; क्योंकि विकल्प तो सिद्ध ही है। महाव्याहृति का ग्रहण तो 'भुवो विश्वेषु भुवनेषु' यहां पर रुत्व या रेफ न होवे,

'भुवः' इति तिङन्तमेतद्भवतेः। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' इति वर्तमाने लङ् सिपि शपि गुणाभावश्छान्दसः, 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' इत्यडभावः। लाक्षणिकत्वादेवास्याग्रहणे सिद्धे महाव्याहृतिग्रहणमस्याः परिभाषाया अनित्यत्वज्ञापनार्थम्। तेन क्रापयतीत्यादौ युक् सिध्यति। अतो न सङ्गच्छते भवत्कल्पितोऽर्थः। न वा ब्राह्मणानां वेदत्वमुपपद्यते।

'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' (अ० ४।२।६६) अस्मिन् सूत्रे ब्राह्मण-शब्दस्य पठनेनैव सिद्ध्यति यन्न तानि वेदाः, अन्यथा छन्दःशब्देनैव गतार्थत्वात् पुनरुक्तिरापद्येत। शेषभागः पश्चादवतारितः समोऽपि निरर्थकोऽसङ्गतः, त्वदभीष्टाऽसाधकत्वात्। इति न कथमपि ब्राह्मणानां वेदसंज्ञात्वं साधयितुं शक्यत इत्यस्माभिः सभेरीनादं जोघुष्यते।

पृ० ७२५, पं० १६—यदुच्यते "स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि (छा० ७।१।२) इत्यादिस्थलेषु वेदशब्देन मन्त्रभाग-ब्राह्मणभागयोरुभयोरपि ग्रहणम्।" इति कथनं त्वज्ञानमेव, वेदशब्देन ब्राह्मणाग्रहणात्। ननु इतिहासपुराणमिति तु ब्राह्मणमेव स्वामिदयानन्देनाऽपि स्वीक्रियते, अत्र चेदं पञ्चमं वेदानां वेदमाह, तदावश्यं ब्राह्मणग्रहणं भविष्यति इति चेन्न, त्वया ब्राह्मणानामितिहासपुराण-

---

इसलिए है। 'भुवः' यह पद यहां पर महाव्याहृति का नहीं है, तिङन्त है। भू धातु में 'छन्दसि०' इस सूत्र से वर्तमान में लङ् आदि होने पर छान्दस गुणाभाव तथा 'बहुलं छन्दस्य०' से अट् का अभाव होने पर सिद्ध होता है। लाक्षणिकत्वेन इसके अग्रहण सिद्ध होने पर 'महाव्याहृति' का ग्रहण इस परिभाषा की अनित्यता-ज्ञापनार्थ है। इससे 'क्रापयति' इत्यादि में युक् सिद्ध होता है। अतः आपका कल्पित अर्थ कदापि सिद्ध नहीं होता और न ब्राह्मणों का वेदत्व उपपन्न होता है।

'छन्दो०' (अ० ४।२।६६) इस सूत्र में ब्राह्मण शब्द के पढ़ने से ही सिद्ध होता है कि (ब्राह्मण) वेद नहीं हैं, अन्यथा छन्दः शब्द से ही सिद्ध है, फिर पुनरुक्तिदोष आजाता। शेष भाग भी जो यहां उद्धृत किया है, समस्त निरर्थक और असंगत है, जो आपका अभीष्ट भी सिद्ध नहीं करता। तो किसी प्रकार भी ब्राह्मणों की वेद-संज्ञा सिद्ध नहीं की जा सकती। यह हमारी सडिण्डिम् घोषणा है।

पृ० ७२५, पं० १६—यह कथन कि "वह बोला, 'भगवन्! मैं ऋग्वेद का अध्ययन करता हूं" इत्यादि स्थलों में वेद शब्द से मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग दोनों का ग्रहण होता है,' अज्ञानमात्र है; क्योंकि वेद शब्द से यहां ब्राह्मण का ग्रहण नहीं है। इतिहास-पुराण तो ब्राह्मण ही हैं यह स्वामी दयानन्द ने भी स्वीकृत किया है। 'यहां इसको पांचवां वेदों का वेद कहा है, तब तो ब्राह्मण-ग्रहण वेद से अवश्य होगा' यह कथन भी ठीक नहीं। आपने तो ब्राह्मण को इतिहास-पुराणत्वेन

https://t.me/Dharmasastra

त्वेनाग्रहणात्। तन्नाम्ना च भागवतादीनामेव ग्रहणात्, शङ्कराचार्येण चात्र महाभारतस्य ग्रहणाच्च। यथा—"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि' स्मरामि यद् वेत्थेति विज्ञानस्य पृष्टत्वात्। तथा यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थं वेदं वेदशब्दस्य प्रकृतत्वाद् इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदं वेदानां भारतं पञ्चमानां वेदं व्याकरणमित्यर्थः। व्याकरणेन हि पदादिविभागश ऋग्वेदादयो ज्ञायन्ते.....।" इह व्याकरणमपि वेदत्वेन निगदितम्, न ब्राह्मणानां ग्रहणम्। यदाह "तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च (नि० १।१०।२) अत्र वेदशब्देन ब्राह्मणानामेव ग्रहणं मन्त्रभागस्य प्रथमेवोक्तत्वात्" इति। तदपि नूनमज्ञानम्।

अत्र हि तात्पर्यमेतद्यत् पुरा उपदेशेन मौखिकेन मन्त्रान् सम्प्रादुः, पश्चाद् मौखिकोपदेशाय तेषां पूर्वेषां ग्लानिरभवद् यदवरे न क्षमास्तथा, तथा वेदम् ऋग्वेदादिकं वेदाङ्गानि च निघण्टु-निरुक्तं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्लिपिबद्धं चक्रुः। यदि वेदशब्देन ब्राह्मणार्थो भवदुक्तो गृह्येत तदेमं ग्रन्थं वेदाङ्गानि ब्राह्मणानि च रचितवन्त इत्येवार्थो लभ्येत। पूर्वमन्त्रोपदेश इमं ग्रन्थं वेदाङ्गानि च रचितवन्तो न परं वेदं, तच ब्राह्मणं रचितवन्तः।

ग्रहण नहीं किया है। इतिहास-पुराणरूप में भागवतादि का ग्रहण किया है और शंकराचार्य ने यहां महाभारत का ग्रहण किया है। जैसे "हे भगवन्! ऋग्वेद का अध्ययन करता हूं...। व्याकरण के द्वारा पदादिविभाग से ऋग्वेद आदि का ज्ञान है .....।" यहां पर व्याकरण भी वेदत्वेन कहा गया है, ब्राह्मणग्रन्थों का नहीं। "उन आद्य ऋषियों ने बाद में उन ऋषियों को, जिनको कि धर्म का साक्षात्कार नहीं था, मन्त्रों का उपदेश किया। इस उपदेश की परम्परा में भी जब शिथिलता आने लगी, तब वेद-वेदाङ्गादि ग्रन्थों का सम्प्रदाय प्रवृत्त हुआ। इस निरुक्तवाक्य में वेद-शब्द से ब्राह्मणों का ही ग्रहण होता है, क्योंकि मन्त्र-भाग का पहले ही उल्लेख हो चुका है।" यह कथन भी सम्यग् विवेचन के अभाव में अज्ञान ही है।

इस का सीधा सा अर्थ तो यह है कि पुराकाल में आद्य-ऋषियों ने मौखिक उपदेश के द्वारा तीव्रबुद्धि अन्य ऋषियों के लिए मन्त्रों का सम्प्रदान किया, पश्चात् मौखिक उपदेश के लिये उत्तरोत्तर ऋषियों में ग्लानि (हर्षक्षय) हुई; क्योंकि अवर ऋषि ग्रहण करने में समर्थ न हुवे, तब ऋग्वेदादि, वेदाङ्ग तथा इस ग्रन्थ को अभ्यस्त किया अर्थात् अभ्यासार्थ लिपिबद्ध किया। यदि वेदशब्द से ब्राह्मणग्रन्थ लिया जाये तो इस सब को लिपिबद्ध किया या सम्प्रदाय प्रवर्तित किया। अतः आपका अर्थ लेने पर 'इस ग्रन्थ निघण्टु-निरुक्त और वेदाङ्गों के सहकार से रचना की' अर्थ होगा, अन्यथा ब्राह्मण अर्थ करने की कोई तुक नहीं।

वस्तुतो वैदिककाले वेदशब्दस्यातिमहत्त्वमासीद्। यथा हि शास्त्रसूत्रस्मृतिपुराणमहत्त्वकाले तत्तच्छब्दैर्ग्रन्था निर्मिताः प्रथिता अभूवन्, तथैव ब्राह्मणानामपि विशेषमहत्त्वप्रख्यापनाय प्रतिज्ञा-परिशिष्टे 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्यपि पठितम्। नैतावदेव, परं गोपथब्राह्मणे तु सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदमिति पठितम्। नाट्यशास्त्रेऽपि उक्तम्—

'सङ्कल्प्य भगवानेव सर्ववेदाननुस्मरन्।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्॥'

इह औपचारिकतया नाट्यशास्त्रं नाट्यवेदं स्पष्टं निजगाद। नात्रैव व्यरमन् प्रशंसकाः, ते तु इदमपि जगदुः—

'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदा अस्य विनिर्गताः॥' भा० पु० ५३।३॥

निष्कर्षस्तु एषः, यत्रापि वैदिकसाहित्य उपलभ्यते वेदवर्णनं तत्र चतुःसंख्याका एवेमे। यथा—

'पाहि नोऽग्न एकया पाह्युत द्वितीयया।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो॥' यजुः २७।४३॥

वास्तव में वैदिक काल में वेद-शब्द का अति महत्त्व था। जैसा कि शास्त्र, सूत्र, स्मृति और पुराणों के महत्त्वकाल मे उन-उन शब्दों (नामों) से ग्रन्थ बनाकर प्रसिद्ध कर दिये गये। इसी प्रकार ब्राह्मणों के भी विशेष महत्त्व-प्रख्यापन के लिये प्रतिज्ञा-परिशिष्ट में 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह सूत्र भी पढ़ दिया गया। इतना ही नहीं, गोपथब्राह्मण में तो सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद, पुराणवेद भी बताये गये हैं। नाट्यशास्त्र में लिखा है—'भगवान् ने चारों वेदों का संकलन कर स्मरण करते हुये वेदचतुष्टय से नाट्यवेद की रचना की।' यहां पर औपचारिकरूप से नाट्यशास्त्र को नाट्यवेद स्पष्टरूप से कहा गया है। इतना ही कहकर प्रशंसकों ने विराम नहीं किया। उन्होंने तो यहां इतना तक कह दिया कि 'सब से प्रथम ब्रह्मा ने पुराण याद किया, फिर इनके मुख से चार वेद निकले'। (भा० पु० ५३।३)

निष्कर्ष यह है कि जहां भी वैदिक साहित्य में वेद का वर्णन प्राप्त है वहां ये वेद चार संख्यावाले हैं। जैसे कि—

'हे वसो! मुझे चार वाणियों से पालो' (यजु० २७।४३)।

https://t.me/DharmaSamrat

'ऋग्विदमेव होतारं वृणीष्व यजुर्विदमध्वर्युम् ।
सामविदमुद्गातारम् अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणम् ॥' गो० पू० २।२४॥

'चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः, सामवेदो ब्रह्मवेद इति ॥'
गो० पू० २।१६॥

तत्र यदुक्तं चातुर्वेद्यं चत्वारो वेदा विज्ञाता भवन्ति । यथा चरणव्यूह-परिशिष्टे (१।२।३) अपि ।

त्रयी विद्यामवेक्षेत वेदे सूक्तमथाङ्गतः ।
ऋक्सामवर्णाक्षरता यजुषोऽथर्वणस्तथा ॥ महा० शा० १३५ ॥

एवं वेदचतुष्टये नान्यग्रन्थप्रवेशाय गुञ्जावकाशः । कीदृशी बुद्धिविडम्बना? गोपथनिरुक्तादिषु वेदशब्देन वेदमगृहीत्वाऽप्रकृतं ब्राह्मणार्थं गृह्णाति । यदुच्यते 'तैत्तिरीयोपनिषदि गीतायाञ्च ब्रह्मशब्दस्यार्थो जगत्प्रतिपादकत्वे वेदपरत्वे च वर्तते ।'

महाशय ! तत्र नास्ति प्रतिबन्धः, न वा ऋषिणोक्तं यद् ब्रह्मशब्दो ब्राह्मणवाची एव नान्यार्थवाचकः । न चाथर्ववेदे (१५।१६) ब्रह्म ब्राह्मणवाचकं तत्राथर्ववेदवाचकत्वात्तस्य । मनुश्लोके—

'यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत् ।' (४।१००)

'ऋग्वेद के जाननेवाले को होता, यजुर्वेदज्ञ को अध्वर्यु, सामवित् को उद्गाता और अथर्ववित् को ब्रह्मा के रूप में वरण करो' (गो० पू० २।२४) ।

'ये वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद' (गो० पू० २।१६) । चरणव्यूहपरिशिष्ट १।२।३ से भी चार वेद जाने जाते हैं। महाभारत शान्तिपर्व अ० १३५ में भी त्रयीविद्या और वेदों का कथन है।

इस प्रकार वेदचतुष्टय में अन्य ग्रन्थ के प्रवेश के लिये गुञ्जावकाश भी नहीं है। कैसी विडम्बना है कि गोपथ, निरुक्त आदि में तो वेद-शब्द से वेद को ही ग्रहण न करके अप्रकृत ब्राह्मण अर्थ ग्रहण किया जा रहा है और यह कहा जा रहा है कि 'तैत्तिरीयोपनिषद् और गीता में ब्रह्मशब्द का अर्थ जगत्-कारण-प्रतिपादक और वेदपरक है' ।

महोदय ! इसमें ऋषि दयानन्द ने कोई प्रतिबन्ध तो लगाया नहीं और न ऋषि ने कहा है कि ब्रह्म शब्द ब्राह्मणवाची ही है, अन्यार्थवाचक नहीं है। मनु (४।१००) के श्लोक में भी कहा है—

'यथोदित विधि से छन्दस्कृत ब्रह्म का पठन करे।'

ब्रह्मशब्दस्कृतं चैवेत्यत्र ब्रह्मेत्यत्र ब्राह्मणमित्यर्थेऽयं कुल्लूकभट्टं प्रमाणयति, परं तत्रैव ब्रह्मपदस्य मन्त्रजातं चेत्यर्थमुपेक्ष्य इतः पूर्वञ्च (४।९९) श्लोकेऽपि 'ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत्' कुल्लूकभट्टेन वेदमधीत्यर्थवार्थो व्यधायि। वस्तुतो ब्रह्म वेदः। छन्दोभ्यः कृतमिति छन्दस्कृतं ब्राह्मणञ्चापि। भट्टमुद्धरन्नयं हस्तिसाहाय्येन मण्डूकं पुरस्कुरुते ।

पृ० ७२६, पं ३—"पुरुषविद्यानित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' (नि० १।२।७) अत्रापि मन्त्रात् पृथग् वेद-शब्दो ब्राह्मण-बोधक एव । 'ब्राह्मणभाग एव कर्मसम्पादकमन्त्राणामाम्नातत्वात्'' इति वचनं तु महदज्ञानम्, यथार्थाऽप्रतिपन्नत्वात् । ब्रूतां तावत्पूर्वं, 'मन्त्रा वेदे भवन्ति ब्राह्मणेषु वा ?' नूनं वेद एवेति भवताऽपि स्वीकृतः सिद्धान्तः । इमे मन्त्रास्तावन्न ब्राह्मणानाम् । तदा कथं वेदे (ब्राह्मणे) मन्त्र इति संगच्छेत ? यच्चाह कर्मसम्पादकमन्त्राणाम् इत्यत्र तवापि मन्त्राणाम् इत्यस्यैव कर्मसम्पादकानामिति विशेषणमस्ति । तदाऽसन्दिग्धं मन्त्राः कर्मसम्पादकाः । तदन्यद् यद् ब्राह्मणग्रन्थेषु केऽपि मन्त्राः कर्मसम्पादका इति कृतम् । तत्रापि यदि कर्मसम्पादनवैशिष्ट्यवन्तो नासन् मन्त्रास्तदा नोत्पादितं तेषु कर्मत्वमेभिरिति

यहां पर ब्रह्म का अर्थ ब्राह्मण, इस अर्थ में करपात्रीजी कुल्लूकभट्ट को प्रमाणित करते हैं, किन्तु वहीं पर ब्रह्म-पद का मन्त्रजात इस अर्थ की उपेक्षा करके इससे पूर्व ४।९९ श्लोक में भी 'ब्रह्म का अध्ययन करके सोवे' कुल्लूकभट्ट ने वेद को पढ़कर, यह अर्थ किया। वस्तुतः ब्रह्म वेद है और छन्दों से किया गया छन्दस्कृत ब्राह्मण भी है। भट्ट का उदाहरण देकर यह मानो हाथी की सहायता लेकर मेंढक पकड़कर प्रस्तुत कर रहे हैं।

"पुरुषविद्या' इन निरुक्त-वाक्यों में मन्त्र से पृथग् वेद-शब्द ब्राह्मणभाग का ही बोधक है। क्योंकि ब्राह्मणभाग में ही कर्मसम्पादक मन्त्रों का विधान है।" यह वचन भी यथार्थ तक न पहुंचने के कारण अज्ञान पर ही आधृत है। कृपया बताइये, 'मन्त्र' जप्यादि वेद में होते हैं या ब्राह्मण में ? निश्चय ही आप भी मानते हैं कि ये मन्त्र तो ऋग्वेदादि चारों में ही हैं, जिनके उच्चैस्त्वादि धर्म कहे भी गये हैं। ये मन्त्र ब्राह्मणों के तो हैं ही नहीं। 'मन्त्रो वेदे' के अधिकरण से स्पष्ट है और 'कर्मसम्पादकमन्त्राणाम्' पद में कर्मसम्पादक-विशेषण आपने स्वयं मन्त्रों का ही दिया है जो 'ब्राह्मणभागे' इस सप्तम्यन्त का समासगत हो जाने पर विशेषण हो ही नहीं सकता। तब निःसन्देह ही मन्त्र कर्मसम्पादक हुए। यह बात दूसरी है कि ब्राह्मणों में कुछ मन्त्र कर्मसम्पादक हैं, ऐसा विधान किया गया है। उसमें भी यदि वेदमन्त्र कर्मसम्पादनगुण से विशिष्ट नहीं, तब उनमें ब्राह्मण-ग्रन्थों ने उत्पन्न कर दिये, ऐसा कथन तो सर्वथा ऊलजलूल होगा। अतः पारिजात-

https://t.me/Dharmadarshan

निखिलमसारमेवोट्टङ्कितमनेन ।

पृ० ७२६, पं० ६ – यदाह – "ब्राह्मणैः प्रोक्तानि वेदव्याख्यानानि ब्राह्मणानीति भूमिकावचनं तुच्छम्'। परं महाशय ! ब्रह्मशब्दस्य 'जगत्कारणत्वप्रतिपादकत्वाद्' इति तत् सर्वमतितरां तुच्छम्, अस्मिन् प्रकरणे त्वत्कृतसमस्तशङ्कानां निराकृतत्वात् ।

पृ० ७२७, पं० ११ –'ऋलृक्' सूत्रेऽपि 'अनुकरणं शिष्टाशिष्टप्रतिषिद्धेषु यथा लौकिकवैदिकेषु' इह कृतान्तेषु सिद्धान्तेषु दृष्टान्तेष्वित्यर्थः । तथा ब्राह्मणगतमुदाहरणं 'य एवं विश्वसृजः सत्राण्यध्यासते' इति वैदिकमेव न त्वनेन ब्राह्मणानां वेदत्वं सिध्यति । ब्राह्मणानां वैदिकत्वञ्च अस्माभिरपि मतम् । न च 'सन्मात्रे चर्षिदर्शनात्' सन्मात्रं च पुनः ऋषिर्दर्शयति मनुपम् । 'यवमतीभिरद्भिर्यूपं प्रोक्षतीति' अत्र ऋषिरित्यस्यार्थो वेदः कृतोऽनेन न तु परं तत्र ऋषिरित्यस्य अर्थो ब्राह्मणकार एव । वेदशब्दं कोष्ठकेऽवर्धयत् पारिजातकृत् ।

ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा तु कथमपि न सम्भवति –

१ यदा हि ऐतरेये यज्ञे गाथाया उत्तरे 'तथेति' ब्रूयात् । शतपथे च 'अनृता वै मनुष्याः', काठके च गाथा नाराशंसीः चानृता अवदम्, अतो गाथाः पौरुषेयाः ।

कृत् का समस्त कथन सारहीन है ।

पृ० ७२६, पं० ६ –"ब्राह्मणों द्वारा कहे गये वेदव्याख्यान ब्राह्मण हैं', यह भूमिकावचन तुच्छ है" । पर महाशय ! ब्रह्म के 'जगत्कारणप्रतिपादकत्वात्' यह सब तो अतितरां तुच्छ है, क्योंकि इस प्रकरण में आपकी समस्त शङ्काओं का निराकरण कर दिया गया ।

पृ० ७२७, पं० ११ –'ऋलृक्' सूत्र में भी 'अनुकरणं शिष्टा०' का लौकिक वैदिक कृतान्त या सिद्धान्त वा दृष्टान्तों में यह अर्थ है । उसी प्रकार ब्राह्मणगत उदाहरण है कि 'विश्वसृज् सत्रों को करते हैं,' यह वैदिक है, इससे ब्राह्मणग्रन्थों का वेदत्व सिद्ध नहीं होता । ब्राह्मणों का वैदिकत्व तो हमलोग भी मानते हैं । 'सोमस्य स्थाने पूतिकातृणान्यभिषुणुयात्' यहां पर भी वेद-सम्बन्धी सिद्धान्तों या दृष्टान्तों में 'स्थान' शब्द का प्रयोग देखा जाता है और पाणिनि के सूत्र ५।२।९४ के 'सन्मात्रे चर्षिदर्शनात्' इस वार्तिक में ऋषि का वेद अर्थ महाभाष्यकार ने नहीं किया है, प्रत्युत पारिजातकार ने ऋषि का वेद अर्थ कोष्ठक बढ़ाकर दिखाया है । यहां ऋषि का अर्थ ब्राह्मणकार ऋषि है ।

ब्राह्मणों की वेदसंज्ञा तो कथमपि सिद्ध नहीं होती । देखिये–

१ –जब कि ऐतरेय यज्ञ में गाथा के उत्तर में 'तथा' यह बोले । शतपथ में 'मनुष्य अनृत हैं' ऐसा कहा है । अतः गाथाएं पौरुषेय हैं । जिसमें पौरुषेय गाथाएं

यत्र पौरुषेया गाथाः, कथमसौ ग्रन्थो वेदाभिधामर्हति ? अनृतगाथास्त्वनीश्वरीयाः ।

२ –'यज्ञो हि वा अनस्तस्मादनस एव यजूंषि सन्ति····· ····· ह स्मर्षयो गृह्णन्ति तदु ऋषीन् प्रति भस्त्रायै यजूंष्यासुरतान्येतर्हि ····· ' (शतपथ० १।१।२।७) इह 'स्म', 'एतर्हि' पाठ एव बोधयति, यन्नैषा अनादिनिधना वेदवाणी, आभ्यां भूतवर्तमानकालबोधनात् ।

३ –याज्ञवल्क्यो वदति अग्रिमकण्डिकायां 'कौशिक ब्राह्मण गौतम ब्रुवाणेति शश्वद्धैतद्वाऽरुणेन अधुनोपज्ञातम्' एतद्विद्यमानतायां कथं ब्राह्मणानां वेदत्वं कल्पयितुं शक्येत ?

४ –तैत्तिरीयब्राह्मणे (१।३।२।६) 'यद् ब्राह्मणं शबलमासीत् सा गाथा नाराशंस्यभवत्' । अत्र हीनोपमया सूच्यते गाथादीनां न वेद-तुल्यताऽपि, दूरे नाम तिष्ठतु वेदाभिधेयता ।

स्वामिदयानन्देन कात्यायनमुनेर्ब्राह्मणानां वेदाभिधेयतायाम् अस्वारस्यं दर्शितम् । एवं तेनानुक्तत्वादिति कथयता तत्कथनमूलमिहोपन्यस्यते । यथाह कात्यायनो मुनिः स्वश्रौतसूत्रे (अ० १ । क० ५ । सू० ७,८,९) –

हैं; वह ग्रन्थ वेद-संज्ञक नहीं हो सकता । अनृत गाथाएं तो अनीश्वरीय हैं ।

२ – यज्ञो हि वा ·····' शतपथ १।१।२।७ में 'स्म' और 'एतर्हि' पाठ ही बताता है कि यह अनादिनिधना वेदवाणी नहीं है; क्योंकि इन दोनों शब्दों से भूत तथा वर्तमानकाल का बोध होता है ।

३ –याज्ञवल्क्य अग्रिम कण्डिका में कहते हैं–'कौशिक ब्राह्मण' आदि । इस पाठ की विद्यमानता में ब्राह्मणों का वेदत्व कैसे माना जा सकता है ?

४ –तैत्तिरीयब्राह्मण (१।३।२।६) में 'यद् ब्राह्मणं शबलमासीत्' इसमें हीनोपमा से सूचित है कि ब्राह्मणों की वेद-तुल्यता भी नहीं, फिर वेद-संज्ञक होना तो बहुत दूर है ।

स्वामी दयानन्द ने कात्यायनमुनि की ब्राह्मणों के लिये वेदाभिधेयता में अस्वरसता प्रकट की है । इस प्रकार 'तेनानुक्तत्वात्' यह कहते हुये तत्कथन का मूल यहां उपन्यस्त किया जा रहा है । जैसा कि कात्यायनमुनि ने अपने श्रौतसूत्र (अ० १। का० ५। सू० ७,८,९) में कहा है–

https://t.me/DharmaSamrat

(क) 'मन्त्रचोदनयोर्मन्त्रबलं प्रयोगित्वात्' अर्थाद् यदि क्वापि टीकाकृदपि मूलं निरुणद्धि, तदा मन्त्रप्रतिपादित एवार्थो बलीयान् मन्तव्यः, अन्तरङ्गकार्यकर्तव्यतायां बहिरङ्गासिद्धेः।

न च मूलटीकाकृतोश्च समत्वं, तथाह 'न समत्वात्' अर्थात् चोदनाविधिब्राह्मणवाक्यानि मन्त्रप्रयोगार्थस्मरणपूर्वकं वर्तन्ते। 'गुणानां भूयस्त्वात्' अर्थाद् न व्याख्यारूपब्राह्मणानां व्याख्येयवेदानाञ्च तुल्यता।

(ख) मन्त्रस्मृतिपूर्विका एव च प्रामाणिकता ब्राह्मणानां मन्त्रपाठस्य गुणातिरेकाद्, अतोऽत्र सुस्पष्टतया कात्यायनमुनिर्ब्राह्मणानि न वेदसंहितासनमध्यासयते।

(ग) भट्टभास्करः सायणाचार्यश्च जगदतुः, 'ब्राह्मणं नाम कर्मणां तन्मन्त्राणाञ्च व्याख्यानग्रन्थः'।

(घ) वृत्तिकाराचार्योपवक्ताऽपि दश ब्राह्मणग्रन्थान् वेदेभ्यः पृथगवस्थापयति, तेषां लक्षणानां वेदेष्वघटितत्वात्।

(ङ) मीमांसाकौस्तुभकार आचार्यखण्डदेवोऽपि 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (मी० ३।३।१४) इति सूत्रव्याख्यायां श्रुतिशब्देन मन्त्रग्रहणं चक्रे, ब्राह्मणभागे तु श्रुतिशब्दो भाक्त एव।

(क) 'मन्त्रचोदनयोर्मन्त्रबलं प्रयोगित्वात्' अर्थात् यदि कहीं पर टीकाकार भी मूल में विरोध करता है, तो मन्त्र-प्रतिपादित अर्थ ही बलवान् मानना चाहिये; क्योंकि अन्तरङ्गकार्य-कर्तव्यता में बहिरङ्ग असिद्ध होता है।

मूल तथा टीकाकार में समत्व नहीं हो सकता—'न समत्वात्' अर्थात् चोदनाविधिक ब्राह्मण-वाक्य मन्त्र प्रयोगार्थ स्मरणपूर्वक प्रवृत्त होते हैं। 'गुणों के बाहुल्य होने से' अर्थात् व्याख्यारूप ब्राह्मण और व्याख्येय वेद की तुल्यता नहीं है।

(ख) मन्त्रस्मृतिपूर्वक ही प्रामाणिकता ब्राह्मणों की है। मन्त्रपाठ में गुणातिरेक है। अतः यहां स्पष्ट है कि कात्यायनमुनि ब्राह्मणों को वेद सिंहासन पर नहीं बिठा रहे हैं।

(ग) भास्कर और सायणाचार्य ने कहा है कि 'ब्राह्मण व्याख्यानग्रन्थ हैं'।

(घ) वृत्तिकाराचार्य उपवक्ता ने भी ब्राह्मणों के दशलक्षण बताये हैं—हेतु, निर्वचनादि। वे लक्षण ब्राह्मणों को वेदों से पृथक् अवस्थापित करते हैं; क्योंकि वे लक्षण वेदों में नहीं घटते।

(ङ) मीमांसा-कौस्तुभकार आचार्य खण्डदेव ने भी 'श्रुतिलिङ्ग' (मी० ३।३।४) इत्यादि सूत्र की व्याख्या में श्रुति शब्द से मन्त्र ग्रहण किया है, ब्राह्मणग्रन्थ में श्रुति शब्द गौण है।

(च) 'तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन्' (अथर्व० १५।६।८) इति मन्त्रेऽपि ब्रह्मेत्यस्यार्थोऽथर्ववेद एव। अनेन विनैव बीजं कल्पितो ब्राह्मणार्थो ब्रह्मशब्दस्य। भाष्यकारेण सायणाचार्येणापि मन्त्रार्थ एवाऽकारि। यथा—अथर्व० ६।४५।३ ब्रह्मणस्पते=मन्त्रस्याधिपते इति।

(छ) तथा च भागवतेऽपि श्रीधरटीकायां ब्रह्मेत्यस्यार्थो गायत्रीत्येव—

'अथाप्लुतोऽम्भस्समले यथाविधि, क्रियाकलापं परिधाय वाससी।
चकार सन्ध्योपगमादिसत्तमो, हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः॥'

अतो 'ब्रह्म'शब्दस्य ब्राह्मणार्थो न कस्मिंश्चिदपि प्राचीनग्रन्थे लप्स्यते, इति सडिण्डिमं घोष्यते।

इदं वचस्तु 'यद् वेदो ब्राह्मणायत्तो ब्राह्मणानां प्रधानत्वात्' इति समग्रं वैदिकं वाङ्मयं कलङ्कयत्यशङ्कम्, त्रपाकरं च करपात्रिणो महोदयस्य। ब्राह्मणानां वेदत्वसाधनप्रयास एव वेदानां निर्विवादमहत्तां प्रमाणयति।

भवान् ब्राह्मणग्रन्थानां न केवलं वेदत्वम्, अपितु महावेदत्वमपि सिसाधयिषेत्, परमीश्वरकृतवेदानामृषिकृतब्राह्मणानाञ्च क्व साम्यम्? इयं चेष्टा न

(च) 'तमृचश्च सामानि च' (अथर्व० १५।६।८) इस मन्त्र में भी 'ब्रह्म' इसका अर्थ अथर्ववेद ही है। श्री करपात्रीजी ने तो निर्मूल ही 'ब्रह्म' शब्द का ब्राह्मण अर्थ कल्पित कर लिया। भाष्यकार सायण ने भी (अथर्व० ६।४५।३ के) 'ब्रह्मणस्पते' का अर्थ 'मन्त्रस्याधिपते' किया है।

(छ) भागवत की टीका में आचार्यप्रवर श्रीधर ने 'ब्रह्म' का अर्थ 'गायत्री' किया है। जैसे—इसके अनन्तर भगवान् कृष्ण ने जल में स्नान किया, वस्त्रों को धारण किया, यथाविधि सन्ध्योपासन आदि किया और मौन हो ब्रह्म (गायत्री) का जाप किया।

अतः 'ब्रह्म' शब्द का ब्राह्मण अर्थ में प्रयोग किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं प्राप्त होगा, यह सडिण्डिम घोषणा की जा रही है।

यह आपका कथन कि 'वेद ब्राह्मण के अधीन है, क्योंकि ब्राह्मण की प्रधानता है' समग्र वैदिक वाङ्मय को कलङ्कित करता है तथा करपात्रीजी को यहां लज्जाकर है। ब्राह्मणों का वेदत्वसाधन-प्रयास ही वेदों की महत्ता को निर्विवादरूप से प्रमाणित कर रहा है।

आप ब्राह्मणग्रन्थों का वेदत्व ही क्या, महावेदत्व भी सिद्ध करना चाहें, परन्तु ईश्वरकृत वेद और ऋषिकृत ब्राह्मणों की समानता कैसे हो सकती है? वेदों

https://t.me/DharmaSamrat

चेष्टा ब्राह्मणकर्तॄणाम् ऋषीणां वेदमहत्त्वप्रतिपादने समर्पितजीवितानाम्, प्रत्युत निरादृतिरेव। अत एषा निर्मलोक्तिः सङ्गच्छते—

प्रमाणैस्तर्कसंयुक्तैः पर्यैक्षिषि पुनः पुनः।
वेदत्वं ब्राह्मणानां वै नैव सिध्यति कर्हिचित्॥

पृ० ७२८—'प्रथमायाश्च, द्विवचने भाषायाम्' (अष्टा० ७।२।२८) इति या भाष्यते स्म पाणिनिकाले सैषाऽभीष्टा, तत्रैवैतद् विधानम् आकारस्य। भवत एष तर्कस्तूपहासास्पदं यत् "वेदत्वाऽविशेषेऽपि यजुःसामवेदयोरनुस्वारस्य श-ष-स-ह वर्णेषु परेषु ँ कारो भवति, ऋग्वेदाथर्ववेदयोश्च न भवति"। महोदय! यत्र यत्र विधानं तत्रैव भवति, न तु वेदत्वमात्रे विधीयते। विधानाऽभावे न भवति। यथा—मनुष्यत्वाऽविशेषेऽपि ब्राह्मणादिवर्णानां पृथक् पृथक् कर्मविधानं न तु मनुष्यभावेन विधीयते। तथैव न हि शब्दत्वाऽविशेषेऽपि सर्वेषु शब्देषु व्याकरणस्य तत्तत्प्रत्ययादिविधानं, यत्र यत्र यद् यद् विधीयते तत्र संस्कारसम्पन्नो जायते शब्दो, नहि शब्दत्वेन किमपि विधीयते।

के महत्त्व-प्रतिपादन में जीवन समर्पित करनेवाले ब्राह्मणग्रन्थों के रचयिता ऋषियों के लिये आपकी यह चेष्टा (ब्राह्मणों का वेद-संज्ञकत्व) अभीष्ट नहीं, प्रत्युत यह उन ऋषियों का अनादर है। अतः यह निर्मलोक्ति यहां संगत है—

'तर्कसंयुक्त प्रमाणों से हमने बार-बार परीक्षा कर ली, किन्तु ब्राह्मणों का वेदत्व कदापि सिद्ध नहीं होता।'

पृ० ७२८—"प्रथमायाश्च०" (अष्टा० ७।२।२८) इसमें भी जो व्यवहार-काल में बोली जाती है, वह भाषा है और पाणिनिकाल में यह भाषा पद से अभीष्ट थी। वहां आकार का विधान है। छन्द अर्थात् वेद और ब्राह्मणों में सभी विधियों के वैकल्पिक होने से 'युक्म्' इस ब्राह्मण के उदाहरण में आकार नहीं हुआ। आपका यह तर्क तो हास्यास्पद है कि "वेदत्व से अविशिष्ट होने पर भी यजुः और साम में 'शर्' प्रत्याहार परे होने पर ँ होता है और ऋक् और अथर्व में नहीं होता"। महोदय! जहां-जहां विधान किया गया है, वहीं तो होगा न कि वेद-मात्र में। विधानाभाव में नहीं होता। जैसे-मनुष्यत्वाविशेष होने पर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों के लिये कर्तव्यों का पृथक्-पृथक् विधान है, मनुष्यत्वेन सामान्य विधान नहीं। उसी प्रकार शब्दत्वाऽविशेष होने पर भी सब शब्दों में व्याकरण के उन-उन प्रत्ययों का विधान नहीं है। जहां-जहां जो-जो विहित है, उस-उस संस्कार से सम्पन्न शब्द वहीं होता ही है, शब्दत्वेन कोई विधान नहीं है।

लौकिकशब्दमात्रं हि शाकटायनादिशास्त्रं, वैदिकशब्दमात्रं हि प्रातिशाख्यम् अधिकृतम्। इदं हि पाणिनीयं नाम लौकिकवैदिकभाषयोरुभयोरपि प्रवर्तते। अत इह भाषाशब्देन प्रयोज्य-प्रयोजकव्यवहारस्तत्र प्रयुज्यमानाया भाषाया ग्रहणम्।

पृ० ७२८—श्रुतिशब्दस्य पर्यायत्वेऽपि न प्रतिबन्धो ब्राह्मणादिवचने। यदुच्यते 'श्रुत्यादिशब्दैर्ब्राह्मणवचनान्येवोदाहृतानि।" किमेतस्यायमभिप्रायो यन्न श्रुतिशब्देन वेदार्थो ग्रहीष्यते, एवेत्यवधारणात्? नैतेन ब्राह्मणानां वेदाभिधा सिद्ध्यति, शिष्टं समाहितं प्राक्।

एवं निष्कृष्टार्थोऽयं निर्मलोक्तौ—

याज्ञिकप्रक्रियायां वै, वेदत्वमुभयोर्मतम्।
कैश्चित्तेन न वैकत्वमुभयोः सम्भवत्यपि॥१॥
सुबन्ते च तिङन्ते च पदत्वमुभयोर्यथा।
अजाव्योश्चैव प्राणित्वं धातुत्वं स्वर्णलोहयोः॥२॥
द्रव्यत्वं वह्निजलयोर्भूमित्वं चेष्टिकाश्मनोः।

शाकटायनादि लौकिक शब्दमात्र के लिये और प्रातिशाख्य वैदिक शब्दमात्र के लिये है। यह पाणिनीय शास्त्र लौकिक और वैदिक दोनों में ही प्रवर्तित है। अतः इस सूत्र में भाषा-शब्द से प्रयोज्य-प्रयोजक व्यवहार में प्रयुज्यमान भाषा का ग्रहण है।

पृ० ७२८ पर आपने लिखा है कि श्रुति शब्द से वेद और ब्राह्मण का ग्रहण होता है। श्रुति शब्द के पर्यायार्थ में ब्राह्मण आदि अर्थ कहने में ऋषि दयानन्द ने कोई प्रतिबन्ध तो लगाया नहीं, परन्तु क्या आपके कथन से यह सिद्ध हो जायेगा कि श्रुति शब्द से वेद का अर्थ गृहीत नहीं होगा? जो कि आपने 'ब्राह्मणवचनान्येव' में 'एव' विधान से अवधारण किया है। इसमें भी वेदसंज्ञक ब्राह्मण हैं, यह कहां सिद्ध हुआ? शेष पूर्व ही हम कह चुके हैं।

इस प्रकार निर्मलोक्ति में निष्कृष्टार्थ यह है कि किन्हीं लोगों ने याज्ञिक (पारिभाषिक) प्रक्रिया में उपयोगिता की दृष्टि से वेद और ब्राह्मण दोनों का वेदत्व माना है, परन्तु वास्तव में दोनों का एकत्व कथमपि संभव नहीं है॥१॥

जैसे सुबन्त और तिङन्त दोनों में ही (सुप्तिङन्तं पदम्) से पदत्व है, परन्तु ये दोनों एक नहीं हैं। तथा बकरी और भेड़ आदि में प्राणित्वेन (पशुत्वेन) एकता है, परन्तु वस्तुतः दोनों भिन्न हैं। उसी प्रकार स्वर्ण और लौह दोनों में धातुत्व होते हुए भी ये एक नहीं हैं॥२॥

आग और पानी में द्रव्यत्व, ईंट और पत्थर में भूमित्व होते हुए भी दोनों

https://t.me/DharmaSamrat

वेदब्राह्मणयोरेव नैकत्वं मूलटीकयोः ॥३॥
साध्यावस्थास्वरूपत्वं पदत्वञ्च तिङन्तके ।
सिद्धावस्थापरं रूपं क्रमशः क्रमते क्रमे ॥४॥
वेदब्राह्मणयोरेवमेकत्वं पर्वताकृतिः ।
भ्रान्तिर्वविद्यते विज्ञैरतस्त्याज्यो दुराग्रहः ॥५॥

पृ० ७२९—अत्रैका वार्ता प्रासङ्गिकी उपन्यस्यते—क्वापि राज्यपालेन सह तस्य अरिदली सेवकोऽप्यगमत्,अरिदलिना साकं वार्ताप्रसङ्गे तं कश्चिद् ग्रामीणोऽपृच्छत् 'अरिदलिन् महोदय ! तव कियद् वेतनं ?' इति । असावुदतरत् झटिति, यदावयोः (राज्यपालस्य मम च सङ्कलितं वेतनं दशसहस्रमितं भवति । तथैव यत्रापि वेदनामचर्चा तत्रायं ब्राह्मणमपरिहार्यत्वेन संयोजयति । यथाऽत्रापि "श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात्" (मी० ३।३।१) इत्यनेन उच्चैर्ऋचा क्रियत इत्यादौ ऋगादिशब्दा 'उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पने मानाऽभावात्' ऋक्त्वादिधर्मवन्मन्त्रवाचका न तु ऋग्वेदादीनाम् इति पूर्वपक्षः ।

उत्तरपक्षस्तु—'प्रजापतिरकामयत' इत्यादिनोपक्रम्य वेदम् उपसंहारे च उच्चैर्ऋचा क्रियते, इत्यादिवचनं कृतमस्ति । उपक्रमोपसंहारयोश्चैकवाक्यता-

---

भिन्न हैं। उसी प्रकार यज्ञ में उपयोगित्वेन वेद और ब्राह्मण दोनों हैं, परन्तु मूल वेद और टीका ब्राह्मण कदापि एक नहीं हो सकते ॥३॥

'क्रमते' में जो पदत्व है, वह अन्य प्रकार अर्थात् साध्यावस्थारूप है तथा 'क्रमः' में जो पदत्व है, वह सिद्धावस्थारूप है। सिद्ध कदापि साध्य नहीं होता ॥४॥

करपात्रीजी तथा उनके अनुगामियों ने वेद और ब्राह्मण की एक ही मानने में पहाड़-जैसी महती भ्रान्ति की है,ऐसा विज्ञजन जानते हैं। अतः यह अशास्त्रीय दुराग्रह छोड़ देना चाहिये ॥५॥

पृ० ७२९—यहां पर प्रासङ्गिकी वार्ता उपन्यस्त की जा रही है—कहीं पर राज्यपाल के साथ उसका अर्दली भी गया। अर्दली के साथ वार्ता-प्रसङ्ग में किसी ने पूछा कि महोदय! तुम्हारा वेतन क्या है? अर्दली ने झटिति उत्तर दिया कि—'हम दोनों का वेतन दस सहस्र है।' उसी प्रकार जहां पर भी वेद-नाम की चर्चा आती है, वहीं पर आप ब्राह्मण को भी जोड़ देते हैं। जैसा कि यहां पर भी 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' (मीमांसा ३।३।१) इत्यादि में ऋगादि पद 'उपस्थित को छोड़कर अनुपस्थित की कल्पना में प्रमाण नहीं है।' इस न्याय से ऋक्त्व आदि धर्म से युक्त मन्त्रवाचक है, ऋग्वेदादि के वाचक नहीं—यह पूर्वपक्ष है।

उ० प०—ऋचा आदि पद ऋग्वेदादि के वाचक हैं, 'वेदो वा प्रायदर्शनात्' क्योंकि वेदों का उपक्रम करके उक्त पदों का प्रयोग किया गया है। प्रजापति

ऽनिवार्या । एकवाक्यता तदा भवति, यदा उपसंहार उपक्रमानुसारी स्यात् । उपक्रमे च वेदशब्दप्रयोगोऽस्ति, अत उपसंहारेऽप्यत्र ऋगादिशब्देन ऋग्वेदादिग्रहणं भविष्यति । उपक्रमेऽत्र वेदकथनं सुस्पष्टमसंजातविरोधि, उपसंहारे च 'ऋचा' आदिपदानि संजातविरोधीन्यपि अर्थाद् ऋचादिशब्दैर्मन्त्रा गृह्यरन्नथवा तत्तद् वेदा इति । अतः प्रबलनिर्बलयोर्मध्ये प्रबलस्यैव बलीयस्त्वम् ।

अपरं च 'एकदेशग्रहणेन समुदायोऽपि गृह्यते' । एकदेश 'ऋचा' आदिशब्दैर्ऋग्वेदादय एव ग्रहीष्यन्ते, एष एवाभिप्रायो 'वेदा वा प्रायदर्शनात्' इति सूत्रस्य । 'लिङ्गाच्च' (मी० ३।३।३) इत्यनेनाऽपि "ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि ईयते..... वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः" (तै० ब्रा० ३।१२।९।१) इत्यत्र बहुवचनान्त वेदशब्दलिङ्गेनाऽपि उच्चैस्त्वादिधर्मा मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्यैव न तु मन्त्राणाम् इत्येतेन ७२९ पृष्ठगतमनर्गलमयुक्तिकञ्च ते ।

इह भवता वेदशब्देन 'सब्राह्मणेन' इत्यर्थः स्वकल्पितो वर्धितः, न हि उच्चै-

---

परमात्मा ने इच्छा की कि मैं प्रजा उत्पन्न करूं, उसने विचार-रूप 'तप' किया। उसने अग्नि आदि ऋषि उत्पन्न किये। उन्होंने तप किया, इन से ऋग्वेदादि उत्पन्न हुए। इस प्रकार वेदों का उपक्रम करके फिर उपसंहार में 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' इत्यादि कथन किया है। उपक्रम और उपसंहार की एकवाक्यता का होना आवश्यक है। वह एकवाक्यता उपसंहार के उपक्रम का अनुसारी हुए बिना नहीं हो सकती और उपक्रम में वेद-शब्द का प्रयोग है। उसी के अनुसार उपसंहार में भी 'ऋचा' आदि शब्दों से ऋग्वेदादि का ग्रहण उचित है। उपक्रम और उपसंहार दोनों के मध्य उपक्रम असंजात-विरोधी होने से प्रबल और संजात-विरोधी होने के कारण उपसंहार निर्बल होता है। अतः ऋचा आदि शब्द वेदवाचक हैं। वेदवाचक होने से सिद्ध हुआ कि उच्चैस्त्व आदि धर्म ऋक्त्वादि जात्याक्रान्त मतों के विधान नहीं किये हैं, किन्तु ऋग्वेदादि के लिये हैं और प्रबल और निर्बल के मध्य प्रबल का बलीयस्त्व होता है।

दूसरे एकदेश ऋचा आदि के ग्रहण से समुदाय ऋग्वेदादि का ग्रहण होगा। 'वेदो वा प्रायदर्शनात्' का यही अभिप्राय है। 'लिङ्गाच्च' इस सूत्र से भी 'दिव्य प्रकाशवाला सूर्य' द्यौ लोक में प्रातःकाल ऋग्वेद से उदय, मध्याह्नकाल यजुर्वेद से स्थित तथा सायंकाल सामवेद से अस्त होता है। तीनों कालों में एक क्षण भी वेद के बिना गमन नहीं करता। यहां पर चतुर्थ चरण में बहुवचनान्त वेद शब्द लिङ्ग से भी सिद्ध है। 'ऋचा' आदि वाक्यों में उच्चैस्त्वादि धर्म वेदों के ही हैं, मन्त्रों के नहीं। इससे ७२९ पृष्ठ का लेख अनर्गल, स्वकल्पित तथा अयुक्तिक है।

यहां पर आपने वेद-शब्द से 'ब्राह्मणसहित' यह अर्थ स्वयं कल्पना कर बढ़ा

https://t.me/Dharmasastra

स्त्वादिविधानं ब्राह्मणेषु, अतो निरर्थकं वर्धनम्। न च यत्र गोः प्रवेशस्तत्र पुच्छस्यापि प्रवेशः, अतो वेदेन सह ब्राह्मणानामपि ग्रहणमिति वाच्यम्, पुच्छग्राह्यता तु सहजत्वात्, परं न हि वेदैः सहाऽजायन्त ब्राह्मणानि पश्चाद् वेदप्रतीकानि [illegible] ऋषिभिर्व्याख्यानात् तेषाम्।

अयं श्रीकरपात्री सर्षपेण सिकतां सम्मेल्य सम्पेष्य च तैलं निष्पादयितुकामः। अत एव अतत्परत्वार्थेऽपि वेदशब्दे ब्राह्मणार्थं बलादारोपयति। यथा—७२९ पृष्ठतः ७३० पृष्ठस्य ११ पङ्क्तिं यावद् उक्तमनेन—

"शास्त्रदीपिकानुसारेण—'प्रजापति·····सोऽकामयत' (शत० ११।५।८।१) इत्युपक्रम्य 'तस्माद्उच्चैर्ऋचा क्रियते, उपांशु यजुषा, उच्चैः साम्ना' इति वचनैर्ऋक्सामभिरुच्चस्वरेण यजुषा च मन्दस्वरेण कर्म कर्तव्यमुक्तम्। तत्र संशयः—किमुपसंहारश्रुत्यनुरोधेनोच्चैस्त्वादयो धर्मा ऋगादिमन्त्राणामेव विधीयन्ते, अथवा मन्त्रब्राह्मणसंहितानाम् ऋग्वेदादीनामुच्चैस्त्वादयो धर्मा विधीयन्त इति। तत्र 'प्रजापति ····· सोऽकामयत' (शत० ११।५।८-१), 'अग्नेर्ऋग्वेदो' (शत०

लिया है। उच्चैस्त्वादि-धर्म-विधान ब्राह्मणों में नहीं है, अतः वर्धन निरर्थक है।

शङ्का—लोक में देखा जाता है कि जहां गाय का प्रवेश हो जाता है, तो उसके पीछे पूंछ का भी प्रवेश हो जाता है। वेद-रूपी गौ के साथ पुच्छ-रूप ब्राह्मण का भी ग्रहण हो जायेगा।

उत्तर—ठीक नहीं; क्योंकि गौ की पुच्छ तो गोसहजन्य होती है, परन्तु सृष्टि के आदि में उत्पन्न वेदों के समकाल में ब्राह्मणों का जन्म नहीं हुआ। बाद में वेदों की प्रतीकें रखकर ऋषियों ने उन-उन मन्त्रों का व्याख्यान किया, वे ही ब्राह्मण हैं।

यह करपात्रीजी सरसों के साथ रेत मिलाकर और उसे निष्पीडित कर तेल निकालने की चेष्टा करते हैं। इस लिये वेद शब्द (सर्षप) के ब्राह्मणसहित यह तात्पर्य न होते हुए भी ब्राह्मणार्थ का बलात् आरोपण करते हुए कहते हैं (पृ० ७२९ से ७३० पृ० की ११ पं० तक)—

"शास्त्रदीपिका के अनुसार—'प्रजापति ने इच्छा की' ऐसा उपक्रम कर 'इसलिये ऋङ्मन्त्रों का उच्च स्वर से, यजुर्मन्त्रों का मन्द स्वर से और साममन्त्रों का उच्च स्वर से' इत्यादि वचनों से ऋक् और साम से उच्च स्वर से और यजुर्मन्त्रों से मन्दस्वर से कर्म करने का विधान है। यहां पर संशय उठता है कि क्या उपसंहार श्रुति के अनुसार उच्च-मन्द आदि धर्म केवल ऋगादि मन्त्रों के लिये विहित हैं अथवा मन्त्र, ब्राह्मण, संहिता आदि सभी के लिये ये धर्म विहित हैं? 'प्रजापति ने चाहा', 'अग्नि से ऋग्वेद' इस उपक्रम-वाक्य के अनुरोध से यह वेद

११।५।८।३) इत्युपक्रमानुरोधेन वेदधर्मः प्रतीयते, उपसंहारानुरोधेन च ऋगादिमन्त्राणामेव धर्मा इति प्रतीयते।

ऋगादयः शब्दा मन्त्रेष्वेव प्रयुज्यन्ते, वेदशब्दस्तु मन्त्रब्राह्मणात्मके समस्ते वेदराशौ प्रयुज्यते। पूर्वपक्षरीत्या उपसंहारश्रुतेर्विधिरूपत्वेन प्राधान्यमुपक्रमश्रुतेरर्थवादत्वेनाऽप्राधान्यम्। अत उपसंहारश्रुत्यनुरोधेनोक्रमश्रुतिस्थस्य वेदशब्दस्य मुख्यार्थं मन्त्रब्राह्मणसमुदायमपहाय लाक्षणिक ऋगादिमन्त्रा एवार्थः।

उपक्रमश्रुतेः प्राधान्यान्न गौणार्थाश्रयणम्, उपक्रमश्रुतेरप्राधान्यात् तत्र गौणार्थाश्रयणं युज्यते। सिद्धान्ते त्वसञ्जातविरोधत्वान्मन्त्रब्राह्मणरूपो मुख्य एवार्थ ऋग्वेदादिशब्दस्य गृह्यते। एवं वेदशब्दस्य मन्त्रब्राह्मणात्मकवेदपरत्वे निश्चिते 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' इति ऋगादिशब्दानां मुख्यमर्थं मन्त्रमपहायोपक्रमानुरोधेन मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूप एवार्थो ग्राह्यः, मुख्यार्थग्रहण उपक्रमश्रुतिविरोधापत्तेः।

तथा चोपसंहारस्थायाः श्रुतेरयमर्थः स्यात्—ऋग्वेदादिब्राह्मणगतैर्विधिभिर्यानि कर्मणां विधानं स्यात् तान्युपसंहारश्रुत्यनुसारेणोच्चैस्त्वादिधर्मेण कर्तव्यानि। यजुर्वेदविहितानां कर्मणामुपांशु (मन्दस्वरेण) अनुष्ठानं युक्तम्। 'श्रुतेर्जाताधिकारः

का धर्म प्रतीत होता है और उपसंहार-वाक्य के अनुरोध से केवल ऋगादि के ही ये धर्म हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

ऋगादि शब्द मन्त्रों में ही और वेद शब्द मन्त्रब्राह्मणात्मक समस्त वेदराशि में प्रयुक्त है। अतः उपसंहार-श्रुति के अनुरोध से उपक्रम श्रुति-स्थित वेदशब्द के मुख्यार्थ मन्त्रब्राह्मणात्मकसमुदाय का त्याग कर ऋगादि मन्त्रपरक लाक्षणिक अर्थ परिगृहीत होता है।

उपक्रम की श्रुति की प्रधानता के कारण वहां पर गौण अर्थ नहीं होगा, उपक्रमश्रुति की अप्रधानता के कारण वहां गौण अर्थ लिया जा सकता है। सिद्धान्त में तो विरोध के न होने के कारण ऋग्वेदादि शब्द का मन्त्रब्राह्मणरूप अर्थ ही मुख्य होगा। इसी तरह वेद-शब्द के मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद-परक माने जाने पर 'उच्चैर्ऋचा' इत्यादि-स्थलों में ऋगादि शब्द के मुख्य अर्थ मन्त्र को छोड़कर उपक्रम के अनुरोध से मन्त्र-ब्राह्मणात्मक समुदायरूप अर्थ का ग्रहण होना चाहिए, क्योंकि मुख्यार्थ का ग्रहण करने पर उपक्रमश्रुति से विरोध हो जायेगा।

ऐसा करने पर उसंहारश्रुति का यह अर्थ होगा—ऋग्वेदादि के ब्राह्मणों में प्रतिपादित-विधि से जिन कर्मों का विधान हुआ है, उनको उपसंहारश्रुति के अनुसार उच्चैस्त्व आदि धर्मों से युक्त करना चाहिए। यजुर्वेद-विहित कर्मों का

https://t.me/DharmaSamrat

स्यात्' (मी० ३।३।१) इति जैमिनिसूत्रेऽपि तादृशो विचारः। तत्र पूर्वपक्षे ऋगादि-मन्त्राणामेवोच्चैस्त्वादिधर्मा विधीयन्ते, ऋगादिशब्दानां मन्त्रमात्रार्थत्वात्। उत्तरपक्षीयं सूत्रम्—'वेदो वा प्रायदर्शनात्' (मी० ३।३।२)। तदर्थस्तु—उच्चैस्त्वादयो धर्मा मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य वेदस्यैव, न केवलं मन्त्राणामेव। तेन ऋग्वेदादि-विहितकर्मणामेवोच्चैस्त्वादयो धर्माः, उपक्रमे वेदशब्दस्य दृष्टत्वात्।"

इति व्याख्यानं विषसम्पृक्तान्नवत्त्याज्यम्। न हि वेदशब्देन ब्राह्मणात्मकस्यापि ग्रहणं शबरमुनिनाऽपि मतम्। अत एवायमुद्धृतवान् न शाबरभाष्यम् उच्चैस्त्वादीनां वेदधर्मताधिकरणे।

भवत इयं शास्त्रदीपिका वस्तुतः शास्त्रलोपिकाऽस्ति, शास्त्रविरुद्धार्थ-विधानात्। इयं खलु कीदृशी मतिर्विभ्रान्तिभङ्गजन्या यदयमेकतोऽत्र 'उपक्रम-श्रुतेः प्राधान्यान् न गौणार्थाश्रयणम् इति, उपक्रमश्रुतेरप्राधान्यात् तत्र गौणार्था-श्रयणं युज्यते' इति च विरोधोक्तिं प्रस्तौति।

वस्तुतस्त्वत्र 'प्रजापतिरकामयत ……' इत्यादौ एकवाक्यता उपसंहारस्य उपक्रमानुकूल्य एव सम्भवति। उपक्रमे च वेदशब्दप्रयोगः 'अग्नेर्ऋग्वेदो वायो-

---

उपांशु अर्थात् मन्दस्वर से अनुष्ठान उचित है। 'श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात्' इस जैमिनिसूत्र में भी यही विचार है। यहां पर पूर्वपक्ष-सूत्र में ऋगादि मन्त्रों के ही उच्चैस्त्व आदि धर्म विहित हैं; क्योंकि ऋगादि शब्दों का मन्त्रमात्र ही अर्थ होता है। 'वेदो वा' इत्यादि उत्तरपक्ष-सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि उच्चैस्त्वादि धर्म मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के हैं, केवल मन्त्रों के नहीं। इसलिए ऋग्वेद आदि से विहित कर्मों के ये उच्चैस्त्वादि धर्म हैं, क्योंकि उपक्रम में वेद-शब्द देखा गया है।"

यह शास्त्रदीपिका के अनुसार व्याख्यान विषसम्पृक्तान्नवत् त्याज्य है; क्योंकि वेदशब्द से ब्राह्मणात्मक वेद का भी ग्रहण तो आप के शबरमुनि ने भी यहां नहीं किया। इसलिये आपने इस प्रकरण में शाबरभाष्य का उद्धरण नहीं दिया।

आपकी यह शास्त्रदीपिका वस्तुतः शास्त्रलोपिका है, जो कि 'मन्त्रब्राह्मणा-त्मक' वेद का अर्थ प्रस्तुत कर रही है। दूसरी यह आपकी भङ्ग के नशा-जन्य-जैसी मति-विभ्रान्ति कैसी है? जो एक ओर यहां 'उपक्रम श्रुति-की प्रधानता के कारण गौण अर्थ नहीं और फिर भी उपक्रमश्रुति की प्रधानता के कारण यहां गौण अर्थ लिया जा सकता है' यह विरोध-कथन किया जा रहा है। वह तुन्दपरिमृज १४ पण्डितों की बटालियन किस नशे में चूर पड़ी रही?

वास्तव में इस प्रकरण में 'प्रजापतिरकामयत' आदि में एकवाक्यता उपसंहार उपक्रम के अनुसारी हुए बिना नहीं हो सकती। उपक्रम में वेद-शब्द का प्रयोग है,

र्यजुर्वेदः……' इति लभ्यते, तदनुसारी च उपसंहारे 'उच्चैर्ऋचा क्रियते' इत्यादौ ऋचादिशब्दैर्ऋग्वेदादीनां ग्रहणं भविष्यति। अथ च 'एकदेशग्रहणे समुदायस्याऽपि ग्रहणाद्' इति नियमेन ऋचादिपदैर्ऋग्वेदादिग्रहणमुचितं न तु कदापि ब्राह्मणा-नाम्।

पृ० ७३०, पं० ९—यदप्याह—"तस्माल्लक्षणया ऋगादिशब्दानामपि मन्त्रब्राह्मणसमुदाय एवार्थो ग्राह्यः" तदप्यज्ञानमेव। ऋचादिशब्दैर्ब्राह्मणानाम-प्रसङ्गादग्राह्यता। अपि च ऋचादिशब्दा ऋग्वेदादीनां वाचका एव, न च लक्षणायाः किमप्यत्र प्रयोजनम्।

"उदितेऽनुदिते चैव' इति मनुवाक्येन 'उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति' इत्यादिब्राह्मणवाक्यानां स्पष्टमेव वैदिकत्वं श्रुतित्वं चोक्तम्" इत्यपि वचोऽज्ञान-जम्, तत्त्वानवबोधात्। यदि श्रुतिशब्देन भवानभिप्रैति वेद इति तथा वैदिकत्व-मित्यनेन कोऽपरोऽर्थो गृह्यते? पुनरुक्तिपरिहाराय द्वाभ्यामपि भवताऽनन्यार्थ-ग्रहणाभिलक्षितत्वात्। वेदे भवा वैदिकी का श्रुतिरन्या यदाऽत्र श्रुतिरेव वेदः, तस्मान्नात्र वेदार्थे श्रुतिप्रयोगस्तस्य श्रवणार्थे श्रवणं श्रूयते, श्रूयते ब्राह्मणाद्यर्थे वाऽपीह औचित्यम्। तथा च न हि सर्वत्र श्रुतिशब्दो वेदपर एव, लौकिकैतिह्यत्वे-

---

उसके अनुसार उपसंहार 'उच्चैस्त्व' आदि वाक्यों में ऋचा आदि से ऋग्वेदादि का ही ग्रहण होगा। तथा ऋचा आदि पद से एकदेश के ग्रहण करने में समुदाय ऋग्वेदादि का ग्रहण करना उचित है।

पृ० ७३०, पं० ९ में यह कथन भी अज्ञान ही है कि "इसलिये लक्षणा से भी ऋगादि शब्दों का मन्त्रब्राह्मणात्मक समुदाय ही अर्थ होगा।" ऋचादि शब्दों से ब्राह्मणार्थ ग्रहण करने का यहां कोई प्रसङ्ग ही नहीं है। दूसरे ऋचा आदि शब्द यहां मन्त्र के वाची नहीं; प्रत्युत ऋग्वेदादि के ही वाचक हैं, फिर लक्षणा से यह अर्थ निकालना भी निःसार है।

'उदितेऽनुदिते' (मनु० २।१५) इस मनुवाक्य से ब्राह्मणवाक्यों का वैदिकत्व और श्रुतित्व सिद्ध करना सागर-सन्तरण के लिये शैवाल-ग्रहण के समान ही है। यदि आपका अभिप्राय 'श्रुति' शब्द से वेद के ग्रहण का है, तो यह वेदार्थ में प्रयुक्त नहीं है तथा उस दशा में 'वैदिकत्व' से आप क्या अर्थ ग्रहण करेंगे? आप 'चोक्तम्' में चकार का प्रयोग कर रहे हैं, इस चकार का समुच्चयार्थ के अतिरिक्त भला और क्या अर्थ लगायेंगे? समुच्चयार्थक चकार में ब्राह्मणग्रन्थ में वेदों के वैदिकत्व और श्रुतित्व क्या-क्या स्वरूपवाले होंगे? यह भी आपको बताना होगा। आपकी इस दयनीय दशा पर मुझे तरस आ रहा है। जबकि 'उदितेऽनुदिते जुहुयात्' यह वैदिकी श्रुति अर्थात् वेद में होनेवाली वेदानुकूल श्रुति ब्राह्मणादि का श्रवण है,

https://t.me/Dharmesadhak

ऽपि श्रुतिशब्दो यथा—यत्र तेपे तपस्तीव्रं दाल्भ्यो बक इति श्रुतिः (महाभा० श० प० ४०।३२)। श्रुता सत्यपरम्परापि श्रुतिर्यथा—'औपनिषदी श्रुतिः'।

यदुक्तम् इह 'मन्त्रब्राह्मणरूपो मुख्य एवार्थ ऋग्वेदादिशब्दस्य गृह्यते', प्रथमन्त्विदं वाक्यमेवाशुद्धम् 'मन्त्रा ब्राह्मणरूपो'। द्वयोर्वचनाऽसमानाधिकरणात् न च मन्त्रा ब्राह्मणरूपः। इत्यत्र मन्त्रश्चासौ अब्राह्मणरूप इति सत्यार्थो ग्राह्य इति वाच्यम्, तदर्थस्य त्वदनभीष्टत्वात्। वस्तुत ऋगादिपदैर्ऋग्वेदादय एव ग्राह्यन्ते न तु ब्राह्मणानि।

पृ० ७३०—एवमेव—

यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ मनु० २।७॥

इह यदुक्तं यद् वेदशब्देन ब्राह्मणभागस्य ग्रहणं यतो हि 'अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मणां विधानमिहोपलभ्यते, न तु वेदेषु' इति। यद्ययं तर्कः प्रतिष्ठाप्येत, तदैषां कर्मणामवेदत्वे ऋगादिचतुष्टयानन्तर्गतत्वे अप्रामाण्यमापद्येत। अतो मनोरभिप्रायो वेदशब्देन ऋग्वेदादिष्वेव चतुर्षु न ब्राह्मणेषु। यतो हि वेदो वै सर्वज्ञानमयो न त्वन्यो ग्रन्थस्तादृशः।

यही अर्थ होगा। सर्वत्र श्रुति-शब्द वेदार्थ में और लौकिक ऐतिह्य में भी प्रयुक्त है, जैसा महाभारत में है। सत्य सुनी परम्परा भी श्रुति कहाती है।

यह कथन कि 'मन्त्र ब्राह्मणरूप है' यह मुख्यार्थ ऋग्वेदादि शब्द का ग्रहण किया जाता है। प्रथम तो यह वाक्य ही अशुद्ध है। मन्त्र में बहुवचन और ब्राह्मण रूप में एकवचन का प्रयोग करने से वचन की समानाधिकरणता नहीं है। वैसे मन्त्र अब्राह्मणरूप है, यही सन्धि-विच्छेद क्यों न माना जाये? यह सत्यार्थ क्यों न लिया जावे? फिर व्याकरण की दृष्टि से भी अशुद्धि नहीं रहेगी; पर यह आपको अभीष्ट नहीं होगा। वस्तुतः ऋगादि पदों से ऋग्वेद आदि का ग्रहण होता है, न कि ब्राह्मणों का, जैसा कि 'वेदार्थकल्पद्रुम' प्रथमखण्ड में पल्लवित किया है।

पृ० ७३०—इसी प्रकार 'जो कोई किसी का धर्म मनु ने बताया है, वह सब वेद में अभिहित है, क्योंकि वेद सर्वज्ञानमय है' (मनु० २।७)। यहां यह कथन कि वेद शब्द से ब्राह्मण-भाग का ग्रहण होता है; क्योंकि 'अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास आदि कर्मों का विधान ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध होता है, वेदों में नहीं'। यदि आप के इस तर्क को प्रतिष्ठा दी जावे, तब तो इन कर्मों का अवेदविहितत्व होने पर अप्रामाण्य होने लगेगा। अतः मनु का अभिप्राय वेद शब्द से ऋग्वेदादि का ग्रहण है न कि ब्राह्मणग्रन्थ का, क्योंकि ब्राह्मण सर्वज्ञानमय नहीं हैं पर वेद सर्वज्ञानमय है।

अपरं च द्वितीयाध्याये षष्ठेऽपि श्लोके—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

कुल्लूकभट्टेनाऽपि 'वेदः ऋग्यजुःसामाथर्वलक्षणः' इति व्याख्यातम्। नातोऽपि ब्राह्मणवाचको वेदशब्दः।

पृ० ७३०, पं० १६—यदाह—"परं चतसृष्वपि संहितासु न तादृशाऽभिप्रायको मन्त्र उपलभ्यते। 'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा' इत्युपक्रम्य 'स महान् भूत्वा देवता अब्रवीद् उद्धारम् म उद्धरत' (ऐ० ब्रा० ३।२१) इति ब्राह्मण एव तदुपलम्भः" इति। तदपि संहितागहनाऽमननजनुरज्ञानमेव। मन्त्रमूलस्यैव समुपलम्भे ऐतरेये तद्व्याख्यानात्। उपलब्धौ यत्नः कार्यः। तन्मूलं हि 'वाजस्य मा प्रसवऽउद्ग्राभेणोदग्रभीत्। अधा सपत्नानिन्द्रो मे निग्राभेणाधरां २ऽअकः॥ उद्ग्राभं च निग्राभं च ब्रह्म देवाऽअवीवृधन्।'(यजु० १७।६३,६४) आदिमन्त्रेषु मनुश्लोकाभिप्रायोऽसंशयं विनिविष्टः।

यच्चाप्युच्यते "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (मी० १।२।१) इत्यत्राक्रियार्थानामर्थवादानामप्रामाण्यमाशङ्क्य 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्'

तथा द्वितीयाध्याय के षष्ठ श्लोक में 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इसकी व्याख्या में कुल्लूकभट्ट ने वेद 'ऋग्यजुःसाम' लक्षण को लिया है। इसलिये भी वेद-शब्द ब्राह्मण का वाचक नहीं।

पृ० ७३० पं० १६—परन्तु चारों संहिताओं में उस अभिप्रायवाला मन्त्र उपलब्ध नहीं है। मनुवाक्य में योद्धाओं के द्वारा राजा को दिये गये उद्धार अर्थात् विजित-धन के अंशदान की बात वैदिक श्रुति में प्रतिपादित मानी गयी है। यह ब्राह्मणों में मिलता है।"

यह समस्त लेख दुर्दम्य-दम्भ और दर्प का फल है। संहिताओं के गहन अध्ययन और मनन के अभाव का सूचक है। उपलब्धि में आलस्य को छोड़ प्रयास करना चाहिये था। अब श्लोक के अभिप्राय का मूल भी देखिये—हे मनुष्यो! जैसे इन्द्र उद्ग्राभ अर्थात् उत्कृष्ट ग्राह्य साधन के द्वारा ग्रहण करे, उसी प्रकार विशेष ज्ञानदाता परमेश्वर पुरुष या राजा मेरे शत्रुओं को पराजय से निचे गिराया करे। इस प्रकार उद्ग्राह और निग्राह के द्वारा विद्वान् वा राजा (ब्रह्म) धन को बढ़ावे।

समस्त लौकिक ब्राह्मणादि ग्रन्थ-विस्तार वेदों का आधार लेकर ही पल्लवित किया गया है, पर ये अपनी तुच्छ बुद्धि के पैमाने से अनन्त-ज्ञान वेदसागर की थाह ले रहे हैं। यह कहना कि "आम्नायस्य' इस मीमांसा-सूत्र में अर्थवादवाक्य में, जिस की क्रिया में कोई उपयोगिता नहीं है, अप्रामाण्य की आशङ्का कर

https://t.me/DharmaSamrat

(मी० १।२।७) इति विधिस्तावकत्वेन तत्प्रामाण्यमुक्तम्। ब्राह्मणानामाम्नायत्वमनङ्गीकुर्वाणस्य मते सर्वमेव तद् बाध्येत।" इत्यादि, तदपि अतत्त्वालोचनाधिगमनम्।

कुतूहलवृत्त्यनुसारं 'विधिना तु०' इति सूत्रपदानामेषोऽन्वयार्थः। 'तु' इति पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थम्। अक्रियार्थवचनानि हि स्तुत्यपेक्षयैकविधिना सहैकवाक्यतया विधिवचनैकदेशा भवन्ति अर्थाद् अर्थवादविधिस्तावकत्वेन विधेरेकदेशभूतानि नानार्थकानि भवन्ति। आम्नायसंज्ञा तु मन्त्रब्राह्मणसमुदायस्य 'आम्नायः' पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च (कौशिकसू० १।३) इति आयुर्वेदस्य पृच्छातन्त्राद् यथाम्नायविधिना प्रश्न उच्यते (चरकसं० सूत्रस्थानम्, अ० ३। खं० ६७) इति।

पृ० ७३२, अनु० १— स्वाध्यायो हि वेदो ब्राह्मणवाक्येनाऽपि तदध्ययनविधानात्। यथा 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः', स च सार्थकस्तस्मात् सार्थकोऽध्येतव्यः। वेदानां सार्थकत्वे च प्रमाणं 'गुणार्थेन पुनः श्रुतिः'(मी० १।२।४१)। तस्माद् भवतः 'तदभावे (ब्राह्मणाभावे) सुतरां निरर्थकानां मन्त्राणामध्ययने प्रवृत्तिर्न स्यात्' इति नास्तिककथनमपास्तं, निरर्थकत्वात्।

पृ० ७३२, पं० ५—यदुक्तम्—"शेषे ब्राह्मणशब्दः' (मी० २।१।३०) इति

'विधिना' इस सूत्र के द्वारा विधि की स्तुति इन वाक्यों में होने से इनका प्रामाण्य स्थापित किया गया है। ब्राह्मणों को आम्नाय न माननेवाले के मत में यह सब बाधित हो जायेगा" भी तत्त्वार्थ को न समझने के कारण किया गया है।

कुतूहलवृत्ति के अनुसार 'विधिना तु' इस सूत्र के पदों का यह अन्वयार्थ है। 'तु' शब्द यहां पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये है। अक्रियार्थवचन स्तुति की अपेक्षा रखनेवाली विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता होने पर विधि-वचन के ही एकदेश माने जायेंगे अर्थात् अर्थवादविधि के स्तावक होने से विधि के एकदेश होकर अनर्थक नहीं होते। रही आम्नायसंज्ञा की बात, वह तो मन्त्र, ब्राह्मण, आयुर्वेद, धर्मशास्त्र आदि की भी है। इस प्रकार परिभाषात्वेन ब्राह्मण भी आम्नाय है, पर ब्राह्मण की वेद संज्ञा कदापि नहीं।

पृ० ७३२, अनु० १—स्वाध्याय वेद है, ब्राह्मण ने वेदाध्ययन का विधान किया है। जैसे 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (शत० ११।५।६।३) और वह सार्थक पढ़ना चाहिये। वेदों के सार्थक अध्ययन में प्रमाण है (मी० १।२।४१)। वेद जिन अर्थों में पूरित हैं, अतः उनका अध्ययन करना चाहिये। आपका यह कथन कि 'ब्राह्मणों के अभाव में निरर्थक मन्त्रों के अध्ययन में प्रवृत्ति न होगी' नास्तिकतापूर्ण तथा निरर्थक है।

पृ० ७३२, पं० ५—"शेषे ब्राह्मणशब्दः' इस मीमांसा-पूत्र से स्पष्ट प्रतीत

सूत्रेण स्पष्टं प्रतीयते यद् वेदस्य द्वौ भागौ स्तः—मन्त्रभागो ब्राह्मणभागश्च। मन्त्राणां लक्षणमुक्त्वा शेषे भागे ब्राह्मणशब्दः प्रयुज्यत इति तदेव ब्राह्मण-लक्षणमिति सूत्रार्थः। न चात्र शेषशब्दस्याङ्गमर्थ इति वाच्यम्, 'शेषे यजुःशब्दः' (मी० २।१।३४) इत्यत्रापि तथात्वापत्तेः। तस्मादुभयत्र शेषशब्दस्यावशेष एवार्थो मन्तव्यः।

तदुक्तं शबरस्वामिनाऽपि—'अथ किंलक्षणं ब्राह्मणम्? मन्त्राश्च ब्राह्मणं च वेदः। तत्र मन्त्रलक्षण उक्ते परिशेषसिद्धत्वाद् ब्राह्मणलक्षणमवचनीयम्। मन्त्रलक्षणेनैव सिद्धं यस्यैतल्लक्षणं न भवति तद्ब्राह्मणमिति परिशेषसिद्धम्" इति तदपि तत्त्वानवबोधमूलकम्, शेषपदस्याङ्गपदार्थत्वाद् गौणत्वं ब्राह्मणस्येति प्रागिह विवेचितम्।

यदाऽहं शबरस्वामी ब्राह्मणानि वेद इति मनुते, तदहं मन्ये 'यदसौ मनुते तथा' परं न निजमतमेतस्य। तद् यथा—शबरो मन्यते वेदं ब्राह्मणानि न संशयः, तत्कालयज्ञसम्बन्धिप्रक्रियायाः समर्थने। न च शबर आप्तः।

सम्प्रति भवान् ब्रवीतु यत् 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' तथा 'शेषे यजुःशब्दः' इत्यत्र च शेषशब्दो विशेषणं न वा? अस्ति चेद् अवशिष्टः संसारो विशेष्यः स्यात्। तदा

होता है कि वेद के दो भाग हैं। ये हैं—मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग। मन्त्रों का लक्षण बताकर शेष-भाग के लिये ब्राह्मणशब्द प्रयुक्त होता है। यहां पर शेष-शब्द का अर्थ अङ्ग नहीं होगा; क्योंकि ऐसा मानने पर 'शेषे यजुःशब्दः' यहां पर वही अर्थ करना पड़ेगा।

शबरस्वामी ने यही कहा है—ब्राह्मण और मन्त्र का क्या लक्षण है? ब्राह्मण भी वेद है। इसमें मन्त्र के लक्षण कह देने पर परिशेषसिद्ध हो जाने से ब्राह्मण का लक्षण नहीं कहना है। यह मन्त्र के लक्षण से ही सिद्ध हो जाता है कि जिसका यह लक्षण नहीं है, वह ब्राह्मण होता है, इस परिशेषविधि से ब्राह्मण का लक्षण बन जाता है।"

यह सब कथन भी तत्त्वार्थ न समझने के कारण ही है। शेष पद का अर्थ अङ्ग या गौण है, यह यहां पूर्व ही विवेचित किया गया है।

यह कहना कि शबरस्वामी ब्राह्मणों को वेद मानते हैं, यह तो हम भी मानते हैं कि ये ऐसा मानते हैं, पर यह उनका निज-मत नहीं है, यह तात्कालिक प्रक्रिया के समर्थन में परिभाषा कल्पित की गयी थी, तदनुसार ही उन्होंने भी माना है। शबर कोई आप्तपुरुष नहीं हैं, जिनका कथन प्रामाणिक माना जावे।

अब यह बताये कि 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' और 'शेषे यजुःशब्दः' सूत्रों में शेष शब्द विशेषण है या नहीं? यदि है, तो विशेष्य इसके अतिरिक्त शेष सारा ही

https://t.me/Dharmasamrat

तु वेदभिन्नमात्रं सकलं ब्राह्मणत्वेन ज्ञेयं स्यात् ।

ननु मन्येत दुर्जनतोषन्यायेन शेषशब्दस्य परिशेषार्थम्, तथापि 'सम्भृत-कलशानयनं' यद् गमनसमये लोके मङ्गलावहं मन्यते, जलं त्वाहृतमेव स्वतो भवति । तथैव परिशेषेऽपि शेषस्याङ्गार्थः केन विहन्यते ?

न च 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' इत्यत्र शेष इत्यस्य परिशेष एवार्थः स्यात्, तथा सति जात्या ब्राह्मणस्य जैनादीनामपि च वचनं ब्राह्मणत्वमापत्स्यते । ब्राह्मणादि-वचनानां वेदविरुद्धत्वेऽपि भवत्कृतविरोधोऽपि वेदविरोध एव कलयितव्यः ।

'ब्राह्मण और मन्त्र का क्या लक्षण है ?' इति लिखंस्तु भवदनुवादको भ्रान्तः । निर्मलोक्तिः सङ्गच्छतेऽत्रैवा—

पूर्वं तावद् भवान् भ्रान्तः, पश्चात्त्वदनुवादकः ।
ततोऽनुगामिनः सर्वे, सर्वं वै भ्रान्तमण्डलम् ॥

पृ० ७३१, पं० ३—यदुक्तम्—"एवम् 'उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति' इति ब्राह्मणवाक्येन 'उरु प्रथस्व' इति मन्त्रार्थप्रकाशनात् मन्त्रानर्थक्यम् । 'तदर्थ-शास्त्रात्' (मी० १।२।३१) अत्र शास्त्रपदेन वेदवाक्यमेव, 'शास्त्रयोनित्वात्' (वे० द० १।१।३) इतिवत् । अर्थान् मन्त्रार्थबोधकाद् 'उरु प्रथस्व' इति पुरोडाशं प्रथय-

---

संसार हो जायेगा । तब वेद से भिन्न समस्त ही ब्राह्मण हो जायेंगे ।

दुर्जनतोषन्याय से हम भी मानते हैं कि 'शेष' का 'परिशेष' अर्थ है । तब भी यात्रा के समय भरे हुए कलश का लाना लोकमत में मङ्गलसूचक है । पर जल तो इस घट में स्वतः ही आयेगा । इसी प्रकार परिशेषार्थ के होने पर भी अङ्गार्थ कैसे नहीं होगा ?

यह नहीं कह सकते कि केवल 'शेष' का परिशेष अर्थ ही होगा, तब तो जाति से ब्राह्मण और जैन आदि नास्तिकों के वचन भी वेद माने जायंगे, और और उनका विरोध करना वेद-विरोध कहलायेगा ।

'ब्राह्मण और मन्त्र का क्या लक्षण है ?' ऐसा लिखते हुए आपका अनु-वादक तो भ्रान्त हुआ ही है । यहां पर बस यही निर्मलोक्ति संगत हो रही है कि—पहले तो आप ही भ्रान्त हैं, फिर आप का अनुवादक भ्रान्त हुआ । तब आपके अनुगामी भी भ्रान्त हैं अर्थात् सारा भ्रान्तमण्डल ही इकट्ठा हुआ है ।

पृ० ७३१, पं० ३—इसी प्रकार 'उरु प्रथस्व इस मन्त्र से पुरोडाश का प्रथन करता है' इस ब्राह्मण-वाक्य से 'उरु प्रथस्व' इस मन्त्र का अर्थ प्रकाशित किया गया है, अतः मन्त्र अनर्थक हो जायेगा । 'तदर्थशास्त्रात्' इस मीमांसासूत्र में 'शास्त्रयोनित्वात्' इस वेदान्तसूत्र के समान 'शास्त्र' पद वेदपरक है । इसका यह अभिप्राय है कि पूर्वपक्ष ने मन्त्रार्थ-बोधक 'उरु प्रथस्व' इस मन्त्र से 'पुरोडाश का

तीति ब्राह्मणवाक्यान्मन्त्रानर्थक्यमुक्तं पूर्वपक्षिणा । सिद्धान्तदृष्ट्या ब्राह्मणभागस्य वेदत्वात् स्वतःप्रामाण्यमेव" इति ।

तदपि भ्रान्तधारणया अयथार्थानवगमनादन्येषामपि भ्रामकमेव इह शास्त्र-पदेन ब्राह्मणवाक्यबोधनात्तस्य परतःप्रामाण्याच्च ।

तथा हि शबरस्वामिभाष्यमपि पुष्णाति—'तदर्थशास्त्रात्' यदभिधान-समर्थो मन्त्रस्तत्रैवैनं शास्त्रं बध्नाति । 'उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति' इति । अर्थान् मन्त्रार्थेन तत्तत्कार्यविशेषे मन्त्राणां विनियोगः प्राप्तो भवति । परन्तु तन्मन्त्रविनियोगाय शास्त्रस्य ब्राह्मणवचनस्योपलब्धेर्मन्त्रानर्थक्यम् । तस्य मन्त्रस्य अर्थाय हि शास्त्रं तस्मादिति भावः । वचनमिदमनर्थकम्, यद्यर्थाभिधानेनोपकुर्वन्ति अथोच्चारणमात्रेण, ततो वक्तव्यो विनियोगः, उक्तश्च । अतो नार्थाभिधानेन, यथा साक्षः परेण चेन्नीयते, नूनमक्षिभ्यां न पश्यतीति ।

प्रथन करता है' इस ब्राह्मण-वाक्य के प्रमाण से मन्त्रों को अनर्थक माना है, किन्तु सिद्धान्ती की दृष्टि में चूंकि ब्राह्मण-भाग भी वेद है, अतः उसके द्वारा मन्त्र के अर्थ का ज्ञान कराये जाने पर भी उसका स्वतःप्रामाण्य व्याहत नहीं होता ।"

यह कथन भी स्वकीय भ्रान्त धारणा के कारण तथा यथार्थ के न समझने से औरों के लिये भी भ्रामक है, क्योंकि यहां 'तदर्थशास्त्रात्' सूत्र में 'शास्त्र' पद से वेद का बोधन नहीं होता, प्रत्युत ब्राह्मण-वचन का ही बोधन होता है ।

इस प्रकार शबरस्वामिभाष्य भी पुष्टि करता है कि 'शास्त्र' शब्द से यहां वेद नहीं; प्रत्युत ब्राह्मण-वचन ही गृहीत होगा । जिस अभिधान में समर्थ मन्त्र है, वहीं पर (एनम्) इस मन्त्र को (शास्त्रम्) ब्राह्मण बांधता है । "उरु प्रथस्व' इस मन्त्र को बोलकर बहुत फैलानेवाले तुम पुरोडाश को फैलाओ" तब पुरोडाश को फैलाता है । यदि मन्त्र के अर्थ के कहने से कर्म का उपकार होता है, तो मन्त्र द्वारा ही पुरोडाश का फैलाना ज्ञात हो जायेगा, फिर तो 'पुरोडाशं प्रथयति' यह ब्राह्मणवचन अनर्थक ही है । अतः सिद्ध है कि मन्त्र अर्थ-कथन द्वारा कर्म का उपकार नहीं करते और उच्चारणमात्र से कर्म का उपकार करते हैं, तो विनियोग 'पुरोडाशं प्रथयति' यह कहना चाहिये और कहा भी है, जैसे कि आंखवाले पुरुष को कोई दूसरा पुरुष हाथ पकड़कर लेजाता है तो इससे यही सिद्ध होता है कि उसके अक्षि-गोलक में दृष्टि का अभाव है इसी प्रकार मन्त्र का कर्म (पुरोडाश फैलाने आदि) ब्राह्मण-वचन-द्वारा किया जाता है, तो यही जाना जाता है कि मन्त्र अर्थरहित है ।

https://t.me/Dharmasastra

एतत्समाधाने—'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' (मी० १।२।४०) अर्थाद् लौकिक-वाक्यार्थसमाना एव मन्त्रवाक्यार्थाः। तथा च ते शाबरम्—"अर्थप्रत्यायनार्थमेव यज्ञे मन्त्रोच्चारणम्।' तत्रार्थाभिधानं प्रयोजनम्। नन्वर्थाभिधानेनोपकुर्वत्सु 'तां चतुर्भिरादत्ते' इत्येवमाद्यमनर्थकं भवति। काममनर्थकं भवतु, न जातुचिदपजानीमहे 'दृष्टमर्थाभिधानस्योपकारत्वम्" इति।

'तदर्थशास्त्रात्' अत्र शास्त्रपदेन वेदवाक्यमेवेति कथनमपि दुःसाहसम्, ब्राह्मणवाचकत्वात्। 'शास्त्रयोनित्वात्' इत्यत्र तु 'जन्माद्यस्य यतः' इति जगत्-कारणत्वप्रदर्शनेन ब्रह्मेत्युपक्षिप्तं तदेव 'शास्त्रस्य ऋग्वेदादेरपि कारणं दृढयति एतेन'। अतः 'इतिवत्' कथनं तु सर्वथा निःसारम्।

तथाऽपि सिद्धान्तदृष्ट्या ब्राह्मणभागो वेदः 'तानि ज्योतींष्यभ्यतपन् तेभ्य-स्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त। ऋग्वेद एवाग्नेः ···· तत्त्वैव हौत्रमकरोद्' इत्यादि (ऐत० ५।३।२) अत्रोपक्रमोपसंहारयोरेकवाक्यतायाम् उरुक्रमे वेदस्यापि विशिष्ट-शब्दा मन्त्रवाचका एव। न च तत्र ब्राह्मणानामन्तर्भावोऽपि मन्तव्यः। यज्ञे च मन्त्राणां प्रयोगो न तु ब्राह्मणवचनानाम्। एवमेवोच्चैस्त्वादिधर्मा अपि मन्त्राणामेव

समाधान—'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः' (मी० १।२।४०) अर्थात् लौकिक वाक्यार्थ के समान ही मन्त्रों का वाक्यार्थ है। शाबरभाष्य भी इस पर देखिये—"अर्थ का बोधन कराने के लिए ही यज्ञों में मन्त्रों का उच्चारण होता है। इस प्रयोजन का अपलाप नहीं किया जा सकता। यह कहकर कि अर्थ का कथन करना प्रयोजन नहीं है। पर शंका यह उत्पन्न होती है कि मन्त्रों द्वारा अर्थ स्पष्ट होने पर तो उसे (अश्व-कील को) चार मन्त्रों से ग्रहण करता है, इत्यादि ब्राह्मण-वचन अनर्थक होने लगेंगे।" आचार्य शबर कहते हैं—"इस प्रकार यदि अनर्थक होते हैं, तो हो जावें, पर किसी प्रकार भी दृष्ट अर्थ वचन के उपकारक को झुठलाया नहीं जा सकता।"

'तदर्थशास्त्रात्' इस सूत्र में शास्त्र-पद से वेद-वाक्य का ग्रहण करना दुःसाहसमात्र ही है; क्योंकि यह शास्त्र-पद ब्राह्मण-वाचक है और 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र में तो पूर्वतः प्राप्त जगत् के आदिमूल कारण के प्रदर्शन होने से ब्रह्म का प्रसङ्ग चल रहा है। अतः 'इसकी तरह' कहना तो सर्वथा निःसार है।

यह भी नहीं कहना चाहिए कि सिद्धान्त (मीमांसा) दृष्टि से ब्राह्मणभाग वेद है, जब कि 'तानि ज्योतींषि०' आदि में उपक्रम और उपसंहार की अपेक्षित एकवाक्यता में उपक्रम वेदरूपी विशिष्ट शब्द भी मन्त्रवाचक हैं, इन में ब्राह्मणों का अन्तर्भाव नहीं माना जा सकता। क्योंकि यज्ञ में मन्त्रों का ही प्रयोग विहित है, ब्राह्मण-वचनों का नहीं। इसी प्रकार ऋचाओं का उच्चैस्त्व, यजुर्वेद का उपांशुत्व

न तु ब्राह्मणानाम् एतेनैव ७३१ पृ० द्वितीयोऽनुच्छेदः 'बुद्धशास्त्रात्' इत्यात्मकः समाहितः।

पृ० ७३२, अनु० १—'स्वाध्यायवदवचनात्' (मी० १।२।३७), 'विधि-मन्त्रयोरैकार्थ्यमेकशब्दात्' (मी० २।१।२७) इत्यादिसूत्राण्युद्धृत्य अयं पारिजात-कृद्विधि (ब्राह्मण) वचनानां वेदमन्त्रापेक्षया प्राधान्यं प्रतिपादयति, तदभावे मन्त्रानर्थक्यप्रसङ्गात्। परमिहैव शाबरभाष्यं ब्राह्मणवचनानामप्राधान्यं ब्रूते। सायणाचार्यमतेन (तै० सं० भाष्योपोद्घातात्) व्याख्येयमन्त्राणां हि प्राधान्यं गदितं न पुनर्व्याख्यानग्रन्थब्राह्मणानाम्।

पृ० ७३७, पं० ११—यदाह—"परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (मी० १।१।३१) इत्यनेन च समाधानमिष्येत। तदा तु ब्राह्मणगताख्यायिकानामपि तथैव समाधानं भवत्येव। कथं पुनरितिहासमिश्रणेन ब्राह्मणानामवेदत्वं शङ्क्यते।" इति भवत एतां शब्दावलीमधीत्य प्रसीदामो यद् भवन्तो ब्राह्मणेष्वनित्येतिहास-मन्तुकामा नित्यं सिसाधयिषवो जाता एष महर्षेर्दृष्टिकोणस्य विजयः। परं महा-प्रज्ञ! कथङ्कारं सा शोधमाप्स्यति बुद्धिर्या ह्यनित्यरामकृष्णराधादीनामिति-हासं वेदेषु कल्पयति। एवं हि सति ब्रह्मवैवर्तभागवतादीनां मिथ्याकथा-कल्पना-

---

तथा साम का उच्चैस्त्व-धर्म भी मन्त्रों के ही होते हैं, ब्राह्मणों के नहीं। उपरिकृत समाधान से ही 'बुद्धशास्त्रात्' इस सन्दर्भ से दिया गया कथन भी गतार्थ हो गया।

पृ० ७३२, अनु० १—'स्वाध्यायवदवचनात्' 'विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमेकशब्दात्' इत्यादि सूत्र उद्धृत कर इस पारिजातकर्ता ने ब्राह्मणवचनों की प्रधानता वेद की अपेक्षा भी प्रतिपादित की है। पर यहीं पर ऊपर शाबरभाष्य से ब्राह्मण-वचनों की वेदापेक्षया अप्रधानता दिखायी गयी है। तथा सायणाचार्य ने भी अपने तै० सं० के भाष्योपोद्घात में व्याख्येय मन्त्रों का प्राधान्य 'ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूप-त्वाद् मन्त्र एवादौ समाम्नातः' यह कहकर दिखाया है।

पृ० ७३७, पं० ११—'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' सूत्र से 'तुग्र, भुज्यु' पुरुष-विशेष के नाम नहीं, परन्तु हिंसकादि तथा पालनयोग्यादि यौगिकार्थ ग्रहण करने से समाधान ब्राह्मणग्रन्थों में भी आप मान लेंगे, यह प्रसन्नता की बात है। चलो एक समझदारी तो करने का इरादा किया, महर्षि के दृष्टिकोण से सहमत होकर। पर महाप्रज्ञ! यह बताओ! वह पुराणबुद्धि कैसे शुद्ध होगी, जो नित्य वेदों में भी अनित्य, नश्वर राम-कृष्ण-राधा आदि के इतिहास को मानती है? यदि कदाचित् गपोड़ों को न मानकर शास्त्रीय व्याख्या से सहमत भी हो गये तो इन ब्रह्मवैवर्त भागवतादि के अश्लील, बुद्धिबाह्य कथा और कल्पनाओं का क्या होगा? अच्छा

https://t.me/Dharmagamal

भिनिविष्टानां भवतां का गतिः स्यात् ?

पृ० ७३७, अनु० २—यदुक्तम्—"'ऊहः' (मी० १।२।५२) इति सूत्रेणाऽपि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं सिध्यति।" इति तु असङ्गतम्। एतेन सूत्रेण मन्त्राणामर्थवत्त्वं भवतीति पोष्यते। न हि खलु ऊहविधायकं शास्त्रं वेदो भवितुमर्हति। 'न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः। तान्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम्।' इति प्रतिपादनेन नैव व्याकरणमपि वेदो भविष्यति तदोहनिर्देशेनैव कथं ब्राह्मणं वेदः ?

'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (मी० २।१।३३) इति सूत्रेण वेदानां मन्त्रभागब्राह्मणभागद्वयविधानं तु स्वकपोलकल्पितमेव, न हि शबरस्वामी चात्र प्रमाणं भवितुमर्हति, ब्राह्मणानां वेदसंज्ञायां महर्षिजैमिनेरतात्पर्यादस्य सूत्रस्य। अत्र 'शेषो' हि परार्थः। यथा हि स्वामिने भृत्यास्तथा ब्राह्मणानि वेदेभ्यः। भवान् तु प्राधान्यं ब्रुवाणो ब्राह्मणानामश्वाग्रे शकटस्थापनं कुरुते। न चात्र शेषशब्दस्य त्वत्प्रतिपादितोऽवशेषोऽर्थः। दुर्जनतोषन्यायेनाऽवशेषार्थत्वेऽपि व्याख्येयस्य व्याख्यानमप्य-

---

हो, आप इन्द्र-इन्द्राणी आदि की अपनी कल्पित धारणाओं को छोड़ वैदिक मार्ग का अनुसरण करें।

पृ० ७३७, अनु० २—"'ऊह' इस सूत्र से ब्राह्मण-भाग का वेदत्व सिद्ध होता है" यह आपका कथन असङ्गत है; क्योंकि उक्त 'ऊह' सूत्र से तो मन्त्रों की अर्थवत्ता अर्थात् मन्त्र अर्थवान् होते हैं, यह सिद्ध होता है। 'ऊह' का विधान करनेवाला कोई शास्त्र वेद नहीं हो सकता। 'वेद में जो मन्त्र पढ़े गये हैं, उनमें प्रयुक्त शब्दों में सब लिङ्गों और विभक्तियों का उपयोग नहीं किया गया है। यज्ञभूमि में गये हुए पुरुष को उन मन्त्रों में यथोचित लिङ्गों, विभक्तियों का विपरिणाम करना आवश्यक हो जाता है। जो वैयाकरण नहीं है, वह उन मन्त्रों में यथोचित रीति से लिङ्गों और विभक्तियों के विपरिणाम करने में समर्थ नहीं हो जाता।' इससे व्याकरण को लिङ्ग व विभक्तिविपरिणाम करनेमात्र से वेद नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार ऊह-निर्देशन मात्र से ब्राह्मण भी वेद नहीं हो सकता।

'शेषे ब्राह्मणशब्दः' इस सूत्र से वेदों के मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग बताना तो आपकी अपनी कल्पना ही है। शबरस्वामी इसमें प्रामाणिक नहीं। जैमिनि महर्षि का यह सूत्र आपके तात्पर्य को कहनेवाला नहीं है। यहां पर शेष का अर्थ है 'परार्थ' जैसे स्वामी के लिये 'भृत्य', उसी प्रकार वेदों के लिए ब्राह्मण हैं। आप तो ब्राह्मण का प्राधान्य बताकर घोड़े के आगे गाड़ी जोत रहे हैं और 'शेष' शब्द का अर्थ आपके द्वारा प्रतिपादित अवशेष अर्थ नहीं है। दुर्जन-तोष-न्याय से यदि

वशिष्टमेव भवतीति मन्तव्यम्। अतो न ब्राह्मणानि वेदा व्याख्यानरूपत्वात् तेषाम्।

अन्यच्च नानार्थप्रकरणसन्निधौ प्रकरणेनोपयुक्तार्थग्रहणं भवति, यथा भोजने सैन्धवपदेन लवणस्य, गमनकाले चाश्वस्य। तथैवावशेषपरार्थाद्यनेकार्थसन्निधानेन प्रकरणानुरोधोऽवशेषार्थे, वेदस्य तदुपकारकसंज्ञायाश्च कथनस्य प्रकरणात्। सम्पूर्णवेदस्य मन्त्रसंज्ञा कृता, साम्प्रतं केवलमुपकारकाणां संज्ञाकथनं क्रियते।

उपकारको हि शेषः, अङ्गगौणौ च एतत्पर्यायवाचिनौ। शेषी च वेदः, तत्पर्यायवाचिनौ अङ्गिप्रधानशब्दौ। व्याख्यानमपि व्याख्येयस्य 'शेषः'। तस्मादैतरेयादिग्रन्था मन्त्राणां शेषाः, तेषां च ब्राह्मण-संज्ञा इति। एवं 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' इत्यस्यार्थः सम्पद्यते।

अपरं च 'अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः' (मी० २।१।३४) एतेनाऽनीश्वरोक्तब्राह्मणेष्ववेदत्वं स्पष्टमाख्यातम्। यदुच्यते 'विधिवाक्यं तु ब्राह्मणेष्वेव भवति न मन्त्रेषु' एतस्याऽपि सर्वं समाधानं पूर्वमुक्तम्। शबरस्वामिनाऽपि—'न चैवमादयो मन्त्रसमाम्नाये सन्ति तस्मादमन्त्राः' इत्युक्तम्।

अवशेषार्थ मान भी लिया जावे, तो व्याख्येय का व्याख्यान भी अवशिष्ट होता है, ऐसा मानना चाहिये। अतः ब्राह्मण वेद नहीं हैं, वे वेदों के व्याख्यानरूप हैं।

अनेक अर्थों की उपस्थिति में प्रकरण से उपयुक्त अर्थ का ग्रहण होता है, जैसे सैन्धव-पद से भोजन-काल में 'लवण' और गमन-काल में 'अश्व' का अर्थ लिया जाता है। इसी प्रकार अवशेष परार्थ आदि अनेकार्थसन्निधान से प्रकरण का अनुरोध अवशेषार्थ में है। वेद और उसकी उपकारक संज्ञा के कहने का प्रकरण है। यहां सम्पूर्ण वेद की मन्त्र-संज्ञा की गयी है। अब केवल उपकारकों की संज्ञा करने का प्रकरण है।

उपकारक शेष है, अङ्ग और भाक्त उपकारक ये पर्यायवाची हैं और शेषी वेद है, उसके पर्यायवाचक अङ्गी और प्रधान शब्द हैं। व्याख्यान भी व्याख्येय का शेष होता है इसलिये ऐतरेयादिग्रन्थ मन्त्रों के शेष हैं और उनकी ब्राह्मणसंज्ञा है। इस प्रकार 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' सूत्र का अर्थ सम्पन्न होता है।

अपरं च अनीश्वरोक्त ऐतरेयादि ब्राह्मणों का अमन्त्रत्व अर्थात् अवेदत्व है। अतः उन्हें छोड़कर ईश्वरोक्त मन्त्रों का विभाग किया जाता है। इन से अनीश्वरोक्त ब्राह्मणों में अवेदत्व स्पष्ट है। 'विधिवाक्य तो ब्राह्मणों में ही हैं, मन्त्रों में नहीं' उसका समाधान पूर्व भी किया जा चुका है। शबरस्वामी ने भी इस प्रकार मन्त्रसमुदाय (संहिता) में नहीं माना, इसलिये वह मन्त्र नहीं है।

https://t.me/DharmaSastra

पृ० ७३४, पं० ५—यदुक्तं 'मन्त्रास्तु ब्राह्मणवाक्यविहितकर्मण्यनूद्यकर्मस्मारकरूपेण विनियुज्यन्ते, अतो मन्त्राणां विधायकत्वं नास्ति' इति कथनं तु महर्षिजैमिनिविपरीतम् "मन्त्राणां विधायकत्वात्"। यथाहि 'समिधाग्निं दुवस्यत' 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' एतदर्थसिद्धौ 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' इत्यत्र केवलमभिधायकत्वे सति तस्थाने 'तदभिधायकेषु' इत्येव पठितव्यमासीज्जैमिनिना। अतो न सिध्यति विधिशब्देन ब्राह्मणमेवाऽर्थोऽभीष्टः। किन्तु ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन संहिताया एव विधिमन्त्रद्वयभेदो विवक्षितः। ये चाधुनिकाः 'तच्चोदकेषु' इत्यस्य 'तदभिधायकेषु' इति कुर्वन्ति लाक्षणिकमर्थं तन्न युक्तम्, मुख्यार्थाऽबाधे लक्षणवृत्त्या गौणार्थाश्रयणस्यायुक्तत्वात्। अतो न कथमपि ब्राह्मणानि वेद-संज्ञामर्हन्ति। 'ब्राह्मणविहितकर्मण्यनूद्य' अत्र पूर्वकालिकक्रियां प्रयुज्य ब्राह्मणानां प्रधानत्वद्योतनचेष्टाऽपि कुचेष्टैव।

अपरञ्चेदमपि स्पष्टं यस्मिन् विधिरूपं वेदवाक्यं नैवोपलभ्यते नाऽसौ कदाऽपि धर्मो भवितुं शक्यते, एवं मूर्तिपूजादिकपौराणिकविषया निःसारा एव सिद्धास्तत्र वेदविधेरभावात्, यतो वेदप्रतिपादित एव धर्मो नाऽन्यः।

पृ० ७३५ 'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या' (मी० १।१।२७) इत्यारभ्य

पृ० ७३४, पं० ५—यह कथन कि "मन्त्र तो ब्राह्मणविहित कर्मों का अनुवाद करके कर्मस्मारकरूप से विनियुक्त होते हैं; अतः मन्त्रों का विधायकत्व नहीं है" महर्षि जैमिनि के विपरीत है; क्योंकि मन्त्र विधायक होते हैं। 'समिधा से अग्नि को प्रचण्ड करें' 'कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करें' इस अर्थ की सिद्धि में 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' यहां यदि केवल अभिधायकत्व अभीष्ट होता तो महर्षि जैमिनि 'तदभिधायकेषु' यही पढ़ते। अतः सिद्ध होता है कि विधि-शब्द से ब्राह्मणों का अभीष्ट नहीं है, किन्तु ब्राह्मण-परिव्राजक-न्याय से संहिता का ही विधि और मन्त्र विवक्षित है। जो आधुनिक लोग 'तच्चोदकेषु' के स्थान पर 'तदभिधायकेषु' यह लाक्षणिक अर्थ करते हैं, वह ठीक नहीं है; क्योंकि मुख्यार्थ का बाध न होने पर लक्षणावृत्ति के द्वारा गौण अर्थ का आश्रयण अयुक्त है, अतः किसी प्रकार भी ब्राह्मणों की वेद-संज्ञा नहीं है। 'ब्राह्मणविहित कर्मों का अनुवाद करके' यहां पूर्वकालिक क्रिया का प्रयोग करके वेद की अपेक्षा ब्राह्मणों की प्रधानता-द्योतन करने की चेष्टा भी करना कुचेष्टा है।

दूसरे यह भी स्पष्ट है कि जिसमें विधि-रूप वेदवाक्य उपलब्ध नहीं होता, वह कदापि धर्म नहीं हो सकता। इस प्रकार मूर्तिपूजादिक पौराणिक विषय निःसार सिद्ध हैं, क्योंकि उन विषयों का विधान वेद में नहीं है। अतः धर्म वही है, जिसका प्रतिपादन वेद में है।

पृ० ७३५—इस पृष्ठ के 'कोई एक वादी वेदों का अनित्य कथन करते हैं;

'न तावताऽपि वेदनित्यत्वव्याहतिः' इति यावद् उद्धृतो मीमांसानुवादः। तत्समाधानं चाऽपि तत्प्रकरण एवास्ति नास्त्यत्र ब्राह्मणप्रसङ्गः।

यदुक्तं "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" (मी० १।१।२) इति सूत्रमपि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वे प्रमाणम्, अनेन विधिवाक्यस्यैव प्रमाणत्वोक्तेः। विधिवाक्यं च ब्राह्मणेष्वेव भवति न मन्त्रेषु" इति समस्तं कथनं लेखकस्य घोराज्ञानमेव सूचयति 'ओम् क्रतो स्मर' 'क्लिबे स्मर' 'कृतं स्मर' इत्यादिविधिवाक्यानां वेदेषूपलब्धेः। चोदना, नोदना, प्रेरणा, वेदाज्ञा, विधिः, उपदेशः, इमे शब्दाः समानार्थका एव, एतत्सूत्रभाष्यव्याख्यायां कुमारिलभट्टेनाऽपि तथोक्तत्वात्—'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः' सूत्रे लक्षणशब्दार्थः प्रमाणं 'लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम्' इति। तेन चोदनालक्षणं यस्य सोऽर्थः। अर्थश्चार्थनीयः। अतः सुखसाधनकर्मरूप एवार्थः, स च धर्मो भवति। चोदनालक्षणपदेनार्थपदस्य सामानाधिकरण्यम्, अभिप्रायश्च तस्य यमर्थं वेदविधिः प्रतिपादयति स एव धर्मः।

पृ० ७३८, पं० ८—यदुच्यते "वचनात्त्वयथार्थमैन्द्री स्यात्" (मी० ३।२।३) इदमपि ब्राह्मणस्य वेदत्वे प्रमाणम्। तत्र संशयः—ऐन्द्र्या इन्द्रस्योपस्थापनं कर्तव्यं

क्योंकि उनमें रचियता पुरुषों के नामों का सम्बन्ध पाया जाता है' यहां से लेकर 'इसमें वेद की नित्यता में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती' यहां तक मीमांसा का अनुवाद उद्धृत है, उसका समाधान भी वहीं पर है, यहां पर ब्राह्मण-प्रसङ्ग है ही नहीं।

आपका यह कथन कि "चोदना-लक्षणवाला अर्थ धर्म है' (मी० १।१।२) यह सूत्र भी ब्राह्मणभाग के वेदत्व में प्रमाण है, इससे विधिवाक्य की ही प्रामाणिकता कही गयी है, विधिवाक्य ब्राह्मणों में ही होते हैं, मन्त्रों में नहीं" सरासर अज्ञान है। 'ओम् क्रतो स्मर', क्लिबे स्मर' 'कृतं स्मर' इत्यादि विधिवाक्य वेद में उपलब्ध होते हैं और चोदना, नोदना, प्रेरणा, वेदाज्ञा, विधि, उपदेश ये शब्द समानार्थक ही हैं। उक्त सूत्र की व्याख्या में कुमारिलभट्ट ने भी वैसा ही कहा है कि 'चोदना, उपदेश और विधि एकार्थवाचक हैं'। सूत्र में लक्षण-शब्द का अर्थ प्रमाण है अर्थात् जिसके द्वारा जानी जावे, इससे चोदना है लक्षण जिसका तदर्थवाला धर्म है। अर्थनीय का नाम अर्थ है, अतः सुखसाधन कर्मरूप ही अर्थ है। चोदना-लक्षण पद के साथ जो अर्थ का सामानाधिकरण्य दिखाया है, उसका अभिप्राय यही है कि जिसको वेद की विधि प्रतिपादित करती है, वही अर्थ होता है, और जो विधिप्रतिपाद्य अर्थ है, वही धर्म है, अन्य नहीं।

पृ० ७३८, पं० ८—पूर्वपक्ष—"वचनात्त्वयथार्थ०' (मी० ३।२।३) 'इन्द्ररूप ईश्वर प्रकाशक मन्त्र का लिङ्ग से विधि-योग नहीं होता, किन्तु वाक्यविशेष से होता

https://t.me/DharmaSamrat

गार्हपत्याग्नेर्वा ? तत्र ब्राह्मणस्यावेदत्वे कथं तद् बलान्मन्त्रस्य स्वार्थविरुद्धार्थोपस्थानविनियोगः स्यात् ?"

समा०—एतच्छङ्कने लेखकस्येदं तात्पर्यं यत् 'निवेशनः सङ्गमनो वसूनां विश्वा रूपाभिचष्टे शचीभिः। देव इव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम्' (यजुः १२।६६) इति ऋचाया नाम 'ऐन्द्री' एतस्याः पूर्वाधिकरणानुसारमिन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यरूपलिङ्गात्, इन्द्ररूपेश्वरस्योपस्थाने विनियोगः। एतद्विकल्पशङ्कायाम् 'ब्राह्मणवाक्योपात्तगार्हपत्यशब्दस्य मुख्योऽर्थोऽग्निरेव गृह्यते' एष सन्देहः, 'गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इति ब्राह्मणवचनात्।

यदि ब्राह्मणस्यैतावती वेदसम्मतमान्यता नाऽभविष्यत्तदा कथं ब्राह्मणविधानेनानेन लिङ्गानुपस्थितेन्द्रे गौणता अगृहीताऽभविष्यत्।

परं नैषा युक्तिर्ब्राह्मणानां वेदत्वमुपपादयिष्यति यावन्मन्त्रेणैव नाभिधानं मुख्यं गौणं वा भविष्यति न तावद् अन्यार्थोपस्थितिर्भविष्यति। उक्तमन्त्रे इन्द्रपदेन इन्द्ररूपेश्वरस्याऽभिधानमुपलभ्यते। अतो न गार्हपत्याग्नेरुपस्थाने विनि-

---

है' ब्राह्मण के वेदत्व में प्रमाण है। यहां पर संशय उपस्थित होता है कि ऐन्द्री ऋचा से इन्द्र का उपस्थान कर्त्तव्य है अथवा गार्हपत्य अग्नि का ? यदि ब्राह्मण का अवेदत्व कहा जायेगा तो उसके सामर्थ्य से मन्त्र के अपने अर्थ के विरुद्ध अग्नि के उपस्थान में कैसे विनियोग होगा ?"

समा०—इस शङ्का में पारिजात के लेखक का तात्पर्य यह है कि "पृथिवी आदि सम्पूर्ण पदार्थों का व्यवस्थाता, धन आदि समग्र ऐश्वर्य का दाता, अनेक सहज शक्तियों से नित्य प्रसिद्ध सूर्यसम प्रकाशस्वरूप, वह 'इन्द्र' सर्वैश्वर्य जगत्पिता परमात्मा 'युद्ध' आदि कर्मों में सहायता करे" इत्यादि ऋचा का नाम 'ऐन्द्री' है। इसका पूर्वाधिकरण के अनुसार इन्द्र प्रकाशनसामर्थ्यरूप लिङ्ग से इन्द्ररूप ईश्वर के उपस्थान में विनियोग अथवा गार्हपत्याग्नि के उपस्थान में विनियोग है, यह सन्देह है। इसके विकल्प की शंका में ब्राह्मणवाक्य में गृहीत गार्हपत्य शब्द का मुख्य अर्थ अग्नि है, ग्रहण किया जाता है 'गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस ब्राह्मणवचन से।

'यदि ब्राह्मणवचन की इतनी वेद-सदृश मान्यता न होती तो क्योंकर इस ब्राह्मण-विधान द्वारा लिङ्ग से उपस्थित इन्द्र की गौणता अगृहीत होती।'

पर यह युक्ति ब्राह्मण का वेदत्व सिद्ध नहीं करती। जब तक मन्त्र द्वारा ही अभिधान मुख्य या गौण सिद्ध न हो, तब तक अन्यार्थ की उपस्थिति नहीं होगी। उक्त मन्त्र में इन्द्र-पद से ईश्वर का अभिधान प्राप्त होता है। अत एव गार्हपत्याग्नि के उपस्थान में विनियोग नहीं होगा। अतः उत्तरपक्ष में महर्षि जैमिनि

बोधः स्यात्। अत एव उत्तरपक्षत्वेन महर्षिर्जैमिनिः सूत्रयति—'गुणाद् वाप्यभिधानं स्यात् सम्बन्धस्याशास्त्रहेतुत्वात्' (मी० ३।२।४)।

यदपि इन्द्रशब्दः शक्तिवृत्त्या गार्हपत्याग्नेरभिधानं नैव कर्तुं शक्नोति, तथाऽपि इन्द्रशब्देन गौणवृत्त्या गार्हपत्याग्नेरभिधानं भवितुं शक्यते। तद् यथाहि ईश्वरो जगतः कारणं तथा गार्हपत्याग्निरपि यागकारणम्। उक्तकारणत्वरूपगुणद्वारा इन्द्रशब्दस्य गार्हपत्याग्निना सह परम्परासम्बन्धो विद्यमानोऽस्ति। एतेन मन्त्राभिधायकत्वे सत्येव तदग्नेर्ग्रहणमतो ब्राह्मणवचनं सङ्गच्छते अग्निविनियोगे। मन्त्रानभिधायकत्वे ब्राह्मणवचनमपि न सङ्गतं भवेदिति भावः।

एतमेव सर्वमभिप्रायं भवतः शबरस्वामी अपि पुष्णाति—"यद्यपि नेदं वाक्यं शब्दार्थसम्बन्धस्य विधाने हेतुभूतं, तथाप्यनेन इन्द्रशब्देन शक्यं कर्तुं गार्हपत्याभिधानम्। कुतः ? गुण-संयोगाद् गौणमिदमभिधानं भविष्यति, भवति हि गुणादप्यभिधानम्। यथा सिंहो देवदत्तः, अग्निर्माणवक इति। एवमिहापि अनिन्द्रे गार्हपत्ये इन्द्रशब्दो भविष्यति। यथैव इन्द्रो यज्ञसाधनम् एवं गार्हपत्योऽपीति।

का सूत्र है—'गुण-सम्बन्ध द्वारा इन्द्र शब्द से गार्हपत्याग्नि का अभिधान हो सकता है; क्योंकि पद-पदार्थ के सम्बन्ध का उक्त वचन बाधक नहीं है।'

यद्यपि इन्द्र शब्द शक्ति-वृत्ति से गार्हपत्य का अभिधान नहीं कर सकता, तथापि उक्त शब्द से गौणी वृत्ति द्वारा गाहपत्याग्नि का अभिधान हो सकता है। जैसे ईश्वर जगत् का कारण है, उसी प्रकार गार्हपत्याग्नि भी याग का कारण है। उक्त 'कारणत्व' रूप गुण द्वारा इन्द्र शब्द का गार्हपत्याग्नि के साथ परम्परा-सम्बन्ध विद्यमान है और इसका उक्त वाक्य बोधक नहीं, प्रत्युत सहायक है। इसलिये उक्त सम्बन्ध द्वारा 'इन्द्र' शब्द से उपस्थित हुई गार्हपत्याग्नि के उपस्थान में उक्त मन्त्र का विनियोग हो सकता है। इसमें मन्त्राभिधायकत्व होने पर ही उस अग्नि का ग्रहण होगा, अतः ब्राह्मणवचन अग्नि-विनियोग में संगत होगा। मन्त्र के अभिधायकत्व न होने पर ब्राह्मण-वचन भी संगत नहीं होगा।

इस समग्र अभिप्राय की आपके शबरस्वामी भी पुष्टि करते हैं—"यद्यपि यह वाक्य शब्दार्थसम्बन्ध के विधान में हेतुभूत नहीं है, तब भी इस इन्द्र-शब्द से गार्हपत्य अग्नि का अभिधान किया जा सकता है; क्योंकि गुणसंयोग से यह अभिधान गौण हो जायेगा, गुणों से भी अभिधान होता है। जैसे—'देवदत्त सिंह है, बालक अग्नि है'। इसी प्रकार यहां पर अनिन्द्र गाहपत्य में इन्द्र शब्द समर्थ हो जायेगा। जिस प्रकार इन्द्र यज्ञ का साधन है, उसी प्रकार गार्हपत्य अग्नि भी है।

https://t.me/Dharmesamrat

अथवा इन्दतेरैश्वर्यकर्मण इन्द्रो भवति। भवति च गार्हपत्यस्याऽपि स्वस्मिन् कार्ये ईश्वरत्वम्। तस्मादिन्द्रशब्देन यः प्रत्याय्यतेऽर्थः स प्रतीतः सादृश्याद् गार्हपत्यं प्रत्याययिष्यति।"

अतो ब्राह्मणप्रधानतावचनं वेदापेक्षयाऽथवा तद्वेदत्वप्रतिपादनं समग्रं भ्रान्तिजनकं स्वयं भ्रान्तस्य लेखकस्य।

'अनाम्नातेषु०' (मी० २।१।३४) इत्यादिसूत्राणि पूर्वं व्याख्यातानि प्रसङ्गे, तथाऽपि किञ्चिदिह व्याख्यायते। न चेदं सूत्रं ब्राह्मणस्य वेदत्वे प्रमाणम्, एतत्पूर्वे सूत्राभ्यां वेदस्य मन्त्रसंज्ञाया व्याख्यानस्य ब्राह्मणसंज्ञायाश्च प्रतिपादनानन्तरं जानीते 'अनाम्नातेषु०' अर्थाद् अनाम्नातेष्वनीश्वरोक्तेषु ऐतरेयादिब्राह्मणेष्वमन्त्रत्वम् आम्नातेषु ईश्वरोक्तेषु वेदेषु हि विभागः। अथवा शाबरानुसारम् अनाम्नातेषु ऊहप्रवरनामधेयेषु मन्त्रसम्बद्धेष्वपि अमन्त्रत्वं मन्त्रे भ्रष्टे यत् प्रायश्चित्तं तन्नैतेषु कर्तव्यम्, यतो हि तान्यनीश्वरोक्तानि। अतस्तानि त्यक्त्वा ईश्वरोक्तमन्त्राणां विभागः क्रियते 'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' इत्यादि। किञ्च तत्र मीमांसायां जैमिनिर्मन्त्रानेव देवता अमन्यत। इदं मन्त्रदेवत्वं ब्राह्मणेषु

अथवा ऐश्वर्य-कर्मवाली 'इदि' धातु से इन्द्र शब्द सिद्ध होता है और गार्हपत्य अग्नि का भी ईश्वरत्व होता है। इस कारण से इन्द्र शब्द से जो अर्थ प्रतीत होता है, वह प्रतीत हुआ सादृश्य होने से गार्हपत्य का बोधन करेगा।"

अतः वेद की अपेक्षा ब्राह्मणों की प्रधानता का कथन करना अथवा ब्राह्मणों का वेदत्व प्रतिपादन करना, यह सब भ्रान्तिजनक है और वह लेखक भी प्रतीत होता है कि स्वयमपि भ्रान्त है।

'अनाम्नातेषु०' (मी० २।१।३४) इत्यादि सूत्रों की व्याख्या पूर्व ही प्रसङ्ग में कर दी गयी है, तथापि कुछ यहां व्याख्या की जा रही है। श्रीमन्! यह २।१।३४ सूत्र ब्राह्मण के वेदत्व में प्रमाण नहीं है। इससे पूर्व के दो सूत्रों से वेद की मन्त्र-संज्ञा और व्याख्यान की ब्राह्मण-संज्ञा के प्रतिपादन के अनन्तर ब्राह्मणों का पुनः अवेदत्व कहते हुए वेद-विभाग करने की महर्षि जैमिनि प्रतिज्ञा करते हैं। यथा—'अनाम्नातेषु०' अनाम्नात अर्थात् ईश्वर के द्वारा अनुक्त अर्थात् ईश्वरोक्त वेदों में विभाग बताया जायेगा अथवा शाबरभाष्य के अनुसार ईश्वरानुक्त ऊह, प्रवर और नामधेय में मन्त्र-सम्बन्ध होने पर भी अमन्त्रत्व है अर्थात् मन्त्रभ्रष्ट होने पर जो प्रायश्चित्त है, वह ऊहादि में नहीं करना पड़ता; क्योंकि वे ऊहादि अनीश्वरोक्त हैं। इसलिए उन्हें छोड़कर ईश्वरोक्त मन्त्रों का विभाग 'तेषामृग् यत्रार्थ०' इत्यादि सूत्रों में किया जा रहा है। तथा मीमांसा में महर्षि जैमिनि ने मन्त्रों का ही देवता माना है। यह मन्त्रदेवत्व ब्राह्मणग्रन्थों में असम्भव

सर्वथा न घटितुं सम्भवति। यतो न ब्राह्मणेषु देवता न ऋषयो नो छन्दांसि न वा विनियोगोऽतो न कदापि ब्राह्मणानां वेदत्वम्।

तथा कात्यायनकृतायामृग्वेदीयसर्वानुक्रमण्याम्—अथ ऋग्वेदाम्नाये शाकले सूक्तप्रतीकसंख्या-ऋषि-दैवत-च्छन्दांस्यनुक्रमिष्यामो मन्त्राणां ब्राह्मणार्षेयच्छन्दो-देवताविद् याजनाध्यापनाभ्यां श्रेय इति।

पृ० ७४१, पं० ३—'दोषास्त्विष्टिलौकिके स्याच्छास्त्राद्धि वैदिके न दोषः स्यात्' (मी० ३।४।२८) अत्र यदाह—'वारुणं यवमयं चरुमश्वो दक्षिणा' (तै० सं० १।८।८।१) इति ब्राह्मणवाक्यस्य वेदत्वमुपगतं जैमिनिना। 'वैदिके न दोषः' इति पठनात्। इति कथनमपि शास्त्रवचनेषु बलात्कार एवाऽस्य। तत्र वैदिके वेदानुकूलकर्मणि अदोष एवेति भावात्।

'होता वा मन्त्रवर्णात्' (मी० सू० ३।५।३७) इत्यनेनाऽपि ब्राह्मणवाक्य-द्वारा होत्रा प्रथमभक्षणविधाने ब्राह्मणानां वेदत्वं प्रतिपादयते, तदपि निःसारम्, मन्त्रेषु तद्बीजार्थोपलम्भ एव ब्राह्मणविधानसार्थक्याद् ब्राह्मणविधेरपि वेदोक्तत्वादेव प्रामाण्यम्।

पृ० ७४२, पं० ७—'वेदोपदेशात् पूर्ववद् वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः' (मी० ३।७।५०) एतेनाऽपि ब्राह्मणानां वेदत्वप्रतिपादनं, मन्त्रेषु कर्मविधायकत्वायोगाद्

है; क्योंकि ब्राह्मणों में देवता, ऋषि, छन्द-विनियोग नहीं होता।

जैसा कि कात्यायन ने ऋग्वेदीय सर्वानुक्रमणी में कहा भी है।

मी० ३।४।२८ सूत्र में बताया है कि लौकिक अश्व-ग्रहण में तो दोष है, पर वैदिक कर्म में—अश्वदक्षिणा में दोष नहीं। पारिजातकर्ता 'वारुणं' वाक्य से जैमिनि के मत में ब्राह्मणग्रन्थों का वेदत्व कथन कर रहे हैं; क्योंकि जैमिनि वैदिक कर्म में दोष नहीं मानते। पर ब्राह्मणग्रन्थ भी वैदिक अर्थात् वेदानुकूल कर्म-विधायक है तो फिर इसको वेदत्व कैसे प्राप्त होगा?

'होता वा मन्त्रवर्णात्' इस सूत्र से भी ब्राह्मण-वाक्य द्वारा होता के द्वारा प्रथम भक्षण प्रतिपादन करने पर ब्राह्मणों का वेदत्व-कथन भी निःसार है; क्योंकि यदि मन्त्रों में तदात्मक बीजार्थ नहीं है, तो ब्राह्मणों में कहे हुए वाक्य के द्वारा भी विधान नहीं हो सकेगा। ब्राह्मणविधियों का भी प्रामाण्य वेदमूलक होने के कारण ही है।

'वेदोपदेश०' इस सूत्र से ब्राह्मणत्व का वेदत्व इसलिए बताया गया है; क्योंकि कर्मों का विधानकर्ता ब्राह्मणग्रन्थ है। पर यह स्वाभाविक है यदि वह कर्ममूल

https://t.me/Dharmasamrat

बालिशत्वमेव। मन्त्रगतभावानुकूलकर्मणां विधानं हि नाम वैदिकं, तस्यैव च यज्ञ-व्यवस्थायां ब्राह्मणैः प्रतिपादनं युक्तम्, अन्यथा अप्रमाणापत्तेः।

वैदिककर्मणां कृते व्यवस्थापकानि तु ब्राह्मणानि ऋषिभिर्निर्मितानि, अतः 'गुणत्वाच्च०' (मी० ३।८।१२) आदिसूत्रेषु कर्मव्यवस्थासङ्गतिर्भविष्यत्येव नैतेन वेदत्वमायाति।

पृ० ७४४, पं० ४—यदुक्तम्- "कृत्यार्थे तवै०' (अष्टा० ३।४।१४) इति सूत्रेण वेद एव 'तवै' विधानेन म्लेच्छितवै इति रूपं सेत्स्यति, एष ब्राह्मणान्तर्गतः प्रयोगः, तस्माद् वेदत्वम्।" परञ्चैतदपि न युज्यते 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' इति सूत्राच्छन्दोऽनुवर्तनाच्छन्दसा वेदब्राह्मणयोरुभयोरपि ग्रहणात्।

अहो! धन्यं भवतो व्याकरणज्ञानम्। एतेनैव व्याचिख्यासुर्वेदानाम्।

पृ० ७४२, पं० १६—यद्यप्युच्यते—"संस्कारास्तु .....' (मी० ३।८।३) इति सूत्रेणाऽपि ब्राह्मणभागस्य वेदत्वं सिध्यति। 'केशश्मश्रू वपते' इत्यादिब्राह्मण-भागस्थवाक्येष्वेव 'यथावेदं व्यवतिष्ठेरन्' इति वाक्यं जैमिनिना प्रयुक्तम्" इति, तदपि अज्ञानमेव। 'यथा वेदं व्यवतिष्ठेरन्' इत्यस्यायमभिप्रायो यद्यमपि वेदम-नतिक्रम्यानुसृत्य यद्विधानं कृतं तदनुष्ठेयम्, अन्यथा आध्वर्यवं वपनादिकृत्यं याज्ञ-

---

वेदचतुष्टयगत मन्त्रों से बाह्य है, तो कदापि उसकी प्रामाणिकता नहीं मानी जा सकती। अत एव मन्त्र के प्रतीक को उदधृत कर के ही ब्राह्मण किसी कर्म का विधान करते हैं।

वैदिक कर्मों के लिये व्यवस्थापक ब्राह्मणग्रन्थ हैं, जो ऋषियों ने बनाये हैं। अतः 'गुणत्वात्' आदि सूत्रों में कर्मव्यवस्था-संगति हो जायेगी, इससे ब्राह्मणों का वेदत्व कदापि सिद्ध नहीं होता।

यह कहना कि 'म्लेच्छितवै' ब्राह्मण-प्रयोग है और 'कृत्यार्थे' इस सूत्र से वेद में प्रत्यय होता है, अतः ब्राह्मणों का वेदत्व सिद्ध है। यह कथन भी आंखों में धूल झोंकना है, क्योंकि 'छन्दसि' कि अनुवृत्ति ऊपर से आ रही है और छन्द का अर्थ वेद तथा ब्राह्मण दोनों होते हैं, अतः यहां भी तवै प्रत्यय होगा।

यह कथन भी अज्ञान है कि 'संस्कारास्तु०' इस सूत्र से भी ब्राह्मणभाग का वेदत्व सिद्ध होता है। 'केशश्मश्रू को काटता है' इत्यादि ब्राह्मणभागस्थ वाक्यों में ही उक्त सूत्रगत 'यथावेद व्यवस्था करे' यह बात घटित होती है। महोदय! जैमिनि महर्षि का 'यथावेदं व्यवतिष्ठेरन्' का अभिप्राय यह है कि जिस-जिस वेद के लिए व्याख्यानग्रन्थों में जो व्यवस्था की गयी है, वह करनी चाहिए। अन्यथा

मानं वेति संशये 'संस्कारास्तु' इति सूत्रेण व्यवस्थापकत्वान् मीमांसाऽपि वेदत्वेन ग्राह्या भविष्यति। श्रीमन्! वेदचतुष्टयमधिकृत्य कृता अनेके ग्रन्थास्तत्तद्वेदस्य व्यवस्थापकत्वेन वेदाः? नहि लोकेऽपि राज्ये व्यवस्थापका भृत्याः समेऽपि राजनि इति नामधेयं लभन्ते। 'राज्यस्य परिचालनं कर्तव्यम्' इति आदेशानुसारं सर्वे निदेशका विधायका राजादेशव्याख्यातारोऽपि सन्तो न राजानस्ते, तथेहाप्यव-गन्तव्यम्।

पृ० ७४४, पं० ११—यदुक्तं—"यदि चत्वारि सामाजिकाभिमतानि पुस्तकान्येव वेदास्तदा 'अनन्ता वै वेदाः' (तै० ब्रा० ३।१०।११।४) इति तैत्तिरीय-श्रुतिविरोधश्च।" इत्यादिवचोऽपि अविचारफलम्। यतो हि नहि अनन्ता इत्यस्य असंख्या अर्थात् संख्यायां तु अनेके परन्ते संख्यातुं न शक्या इत्यर्थः, प्रत्युत अन्त-रहिताः। यथा 'अनन्तं ब्रह्म' न तु संख्यासुमयोग्यमित्यर्थः। तथा महाभारतेऽपि—

'ऋषयस्तपसा वेदादध्यैषन्त दिवानिशम्।
अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा॥'

अनन्तब्रह्मणो हि ज्ञानमनन्तमेव। वेदा हि ज्ञानरूपम्। अन्यथा क्लृप्तलुप्त-संहिताधारया लब्ध्या मनसा प्रकल्पिताः प्रकल्पयितव्या वा सर्वे हनुमान्-चालीसा-ऽऽदयोऽपि तव मते वेदासनमध्यासिषन्ति।

तो अध्वर्यु का केशवपनादि संस्कार करे या यजमान का? यह संशय उत्पन्न होने पर ब्राह्मणग्रन्थादि की वेदता तो एक किनारे बैठ जायेगी, अन्तिम निर्णायक इस मीमांसाशास्त्र की ही 'वेदता' सिद्ध होने लगेगी। श्रीमन्! वेदचतुष्टय को अधि-कृत कर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं, तो वे सभी तत्तद् वेद के व्यवस्थापक होकर आपके कथन से वेद हो जायेंगे। अरे! यदि लोक में भी देखो, राज्य में व्यव-स्थापक-भृत्य सभी 'राजा' इस भारी आख्या को प्राप्त नहीं हो जाते। 'राज्य का परिचालन करना है' बस इतना राजा का संकेत पाकर सभी निदेशक, सांसद और विधायक राजा (वेद) के आदेश के व्याख्याता होते हुए भी राजा नहीं बन जाते, वैसा यहां भी समझिये।

"सामाजिकों को अभिप्रेत चार ही वेद माने जावें तो 'वेद अनन्त हैं' इस तैत्तिरीयश्रुति का विरोध होगा" यह कथन अविचार-फल है; क्योंकि अनन्त का अर्थ यह नहीं कि संख्या में तो बहुत हैं, पर उन्हें गिना नहीं जा सकता, प्रत्युत अन्त अर्थात् विनाशरहित अर्थात् अनादि और अनन्त हैं, क्योंकि ब्रह्म अनन्त है, उसका ज्ञान भी अनन्त है। इस भाव को महाभारत में भी कहा गया है।

अन्यथा मानने पर स्वकल्पित, लुप्त वेदसंहिताओं का आधार लेकर तो भूत, भविष्यत्, हनुमान् चालीसाऽऽदि सभी पुस्तकें वेद होने लग जायेंगी।

https://t.me/DharmaSamrat

पृ० ७४५, पं० ३—"मन्त्राश्चाकर्मकरणास्तद्वत्' (मी० ३।४।४५) इति सूत्रेण विज्ञायते यद् ब्राह्मणभागीयलिङ्गादिविनियोगवशाद् द्रव्यदेवतास्मारकत्वमेव मन्त्राणां मुख्यं प्रयोजनम् । ..... ब्राह्मणभागस्यावेदत्वे पौरुषेयापत्त्या निष्क्रम्य विनियोगसामर्थ्याभावान्मन्त्राणामानर्थक्यं स्यात् ।" इत्यपि सर्वं प्रमत्तगीतमिव । ब्राह्मणाभाव-स्थितावपि पूर्णप्रतिभासम्पन्नर्षीणामुपदेशेन मन्त्रसम्प्रदानकाल आसीत् । व्याख्येयस्य वेदस्य प्रतीकमुद्धृत्य लिखितानां व्याख्यानब्राह्मणग्रन्थानां समकालप्रादुर्भावाऽभावे नहि मन्त्राणामानर्थक्यमासीत् । अतोऽनया शङ्क्याऽलम् । विनियोगोऽपि नाम मन्त्रार्थानुकल्पी । पौरुषेयापत्तिविभीषिकाऽपि निराधारा, ब्राह्मणानां पौरुषेयत्वादेव । तथाहि—'एतद्ध स्म वै विद्वानाह महिदास ऐतरेयः' (ऐ० आ० १।८।२)। शतपथकर्ता हि याज्ञवल्क्यः । 'तथा शतपथं कृत्स्नं सरहस्यं ससंग्रहं चक्रे स परिशेषं च हर्षेण परमेण ह' (महाभा० शा० प० अ० ३२३) । एवं ताण्ड्यब्राह्मणस्य ताण्डिः कर्ता, गोपथब्राह्मणस्य गोपथ इति ।

पृ० ७४५, पं० ७—"दयानन्दो वेदमूलकत्वेन ब्राह्मणभागस्य प्रामाण्यमुक्तवान्, तदपि न सङ्गतम्, ब्राह्मणभागस्य विधि-निषेध-प्रधानत्वात्, मन्त्राणां च विधि-निषेधहीनत्वात् । यथा 'पशुर्न मनुष्यमूलं तथैव ब्राह्मणं न मन्त्रमूलकम् ।"

समा०—मनुर्हि व्यलिखत्—'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' ।

"मन्त्राश्च'० इस सूत्र से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणभाग-स्थित लिङ्ग आदि के बोधक वाक्यों से बनाये गये विनियोग के अनुसार द्रव्य और देवता का स्मरण करना ही मन्त्रों का मुख्य प्रयोजन है ।... ...ब्राह्मणभाग के वेद न मानने पर वह पौरुषेय हो जायेगा, फलतः इनकी विनियोग में सामर्थ्य न रह जाने से मन्त्रों की अनर्थकता हो जायेगी ।" यह सारा कथन प्रमत्तगीत-जैसा है । ब्राह्मण जब नहीं बने थे, पूर्णप्रतिभासम्पन्न ऋषियों का उपदेश द्वारा मन्त्र-सम्पादन चल रहा था । वेद के प्रतीक न होने पर मन्त्रों की अनर्थकता तो थी नहीं, अतः यह आशङ्का व्यर्थ है । विनियोग भी मन्त्रार्थ के अनुकूल होना चाहिये । ब्राह्मण तो पौरुषेय हैं ही, अतः 'पौरुषेयत्वात्' की विभीषिका निराधार है, क्योंकि सभी ब्राह्मण-रचियता प्रमाणित हैं ।

पृ० ७४५, पं० ७—"दयानन्द ने वेदमूलक होने से ब्राह्मणों का प्रामाण्य माना है, यह भी ठीक नहीं; क्योंकि ब्राह्मणभाग में विधि और निषेध की प्रधानता है और मन्त्रभाग में विधि और निषेध का अभाव है । जैसे पशु मनुष्य का मूल नहीं, उसी प्रकार वेद भी ब्राह्मण का मूल नहीं है । क्योंकि दोनों में परस्पर विलक्षणता है ।"

समा०—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि मनुमहाराज ने लिखा है—'धर्म के

एतत्प्रमाणेन चोदना-लक्षणो वेद एव मन्तव्यः । विधिनिषेधवाक्यानां वेदेऽप्रतिपादनमल्पज्ञतासूचकमेवैतस्य, अक्षैर्मा दीव्यः, कृषिमित्कृषस्व' चेत्यादिवाक्योपलम्भात् ।

लेखकस्य एषा मतिस्तु अद्भुतालये सुरक्षणीया, यैवमुदाहरति । यथा—'न पशुर्मनुष्यमूलं तथैव ब्राह्मणं न मन्त्रमूलकम्' । अत्र पशुना ब्राह्मणस्य तुल्यता, मनुष्येण च मन्त्रतुल्यता लिखिता । महोदय ! पशुर्मनुष्यश्च भिन्नजातीयौ, कथं तयोर्मूले सम्बन्धः स्यात् ? परन्तु वेद-ब्राह्मणग्रन्थानां समजातीयत्वेन पुस्तकत्वेन व्याख्येय-व्याख्यानसम्बन्धः सङ्गच्छते । वेदानां प्रतीकान्युद्धृत्य ब्राह्मणैर्व्याख्यानं कृतम्, अतो वेदस्तु ब्राह्मणानां मूलमेवाऽस्तीत्यसन्दिग्धं प्रज्ञावताम् । नाधिकमिह समालोच्यते, गतसमाधानेषु प्रायेण भाष्याक्षेपशङ्कानां समाहितत्वात् ।

पृ० ७४६, पं० २—यदाह—"ये च ऋषयस्तद्द्रष्टारस्त एव तत्कर्त्तारोऽत एव ऋषयो मन्त्रकृत इत्युच्यते" इति अज्ञानमेव, मन्त्राणामीश्वरेणोपदिष्टत्वात् । अस्मिन् विषयेऽस्य प्रणेतुः 'वेदमन्त्रों पर निर्दिष्ट ऋषि मन्त्रार्थद्रष्टा थे, मन्त्रकर्ता नहीं' इति पुस्तकं तथा श्रद्धेयस्वामिवेदानन्दसरस्वतीप्रणीतवेदमीमांसा-

---

जिज्ञासुओं के लिये परम प्रमाण श्रुति है' । इस प्रमाण से प्रेरणा-लक्षणक वेद ही मानना चाहिए । विधि-निषेध वाक्यों का वेद में प्रतिपादन नहीं है, यह कथन इनकी अल्पज्ञता का सूचक है । 'अक्षों से जुआ न खेलो, कृषि करो' आदि-आदि वाक्य निषेध तथा विधिपरक वेद में हैं ।

लेखक की ऐसी मति तो अद्भुत है, वस्तु-संग्रहालय में रखने योग्य है, जो यह उदाहरण दे रही है कि 'पशु मनुष्य का मूल नहीं, उसी प्रकार वेद भी ब्राह्मण का मूल नहीं' । यहां पर पशु से वेदग्रन्थों की तुल्यता और मनुष्य से ब्राह्मणों की तुल्यता का दृष्टान्त लिखा है । महोदय ! पशु और मनुष्य तो भिन्नजातीयक हैं, फिर इनका मूल में सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? परन्तु वेद और ब्राह्मण समजातीय और व्याख्येय और व्याख्यान होने से सम्बन्ध सङ्गत है । वेदों की प्रतीकें उद्धृत कर ब्राह्मणों ने व्याख्यान किया है, अतः वेद तो ब्राह्मणों के मूल ही हैं । अधिक समालोचना यहां नहीं की जा रही है । प्रायः मूल समाधान में भाष्य पर की गयी शंकाओं का समाधान किया गया है ।

पृ० ७४६, पं० २—यह कहना कि—"जो ऋषिगण इन मन्त्रों के द्रष्टा माने गये हैं, वे ही वास्तव में उनके रचयिता हैं, इसलिये ऋषिगण 'मन्त्रकृतः' अर्थात् मन्त्रों की रचना करनेवाले कहे गये हैं" यह अज्ञानता ही है; क्योंकि मन्त्रों का उपदेश ईश्वर-द्वारा हुआ है । इस विषय में लेखक द्वारा लिखित 'वेदमन्त्रों पर निर्दिष्ट ऋषि मन्त्रार्थद्रष्टा थे, मन्त्रकर्ता नहीं' यह पुस्तक तथा श्रद्धेय स्वामी

https://t.me/Dharmasamrat

ग्रन्थोऽप्यवलोकनीयः ।

अस्मिन् हि वेदसंज्ञा-प्रकरण अनेनोक्तं यत् संज्ञीपदमशुद्धं व्याकरणदृष्ट्या, तत्र ह्रस्वेकारेण भवितव्यमिति सत्यम्, मुद्रणदोष एषः ।

वेदार्थपारिजातस्य, अनन्तास्त्रुटयः परम् ।
व्याकृतिज्ञानशून्यत्वं दर्शयन्ति सखे तव ॥

पृ० ७५१, अनु० २—यदाह—"तनादिकृञ्भ्य उः' (अ० ३।१।७९) इति सूत्रेण तनादिषु कृञः पाठादेव कार्यसिद्धौ सूत्रे कृञ्ग्रहणेन यथा तस्य वैशिष्ट्यं तथैव 'छन्दोब्राह्मणानि' इति सूत्रे ब्राह्मणस्य वैशिष्ट्यं द्योतयति" इति । तदपि शब्दशास्त्रगूढानध्ययनफलम् । नात्र कृञ्ग्रहणं विशिष्टता-सिद्ध्यर्थं, प्रत्युत गणकार्यस्यानित्यत्वद्योतनार्थम् । यथाह भट्टोजिदीक्षितः—तनादित्वादेव सिद्धे कृञ्ग्रहणं गणकार्यस्यानित्यत्वे लिङ्गम् । तेन न विश्वसेदित्यत्र शपो लुगभावः सिद्ध इति भावः ।

पृ० ७५३, पं० ५—यदाह—"तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः । उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च' (नि० १।२०) अत्र वेदपदं ब्राह्मणपरमेव, मन्त्राणां प्रागेवाम्नात-

---

वेदानन्द सरस्वती द्वारा लिखित 'वेदमीमांसा' नामक ग्रन्थ भी पढ़ना चाहिये ।

इस वेद संज्ञा प्रकरण में करपात्रीजी ने कहा है कि व्याकरण की दृष्टि से संज्ञी पद अशुद्ध है, वहां पर 'संज्ञी' दीर्घान्त के स्थान पर ह्रस्व इकारान्त होना चाहिये । यह सत्य है । मुद्रण में ह्रस्व इकारान्त छापना चाहिये । परन्तु वेदार्थ-पारिजात में तो अनेक व असंख्य त्रुटियां हैं । हे सखे ! वे त्रुटियां आपके व्याकरण-ज्ञान की शून्यता को प्रकट कर रही हैं ।

पृ० ७५१, अनु० २—"तनादिकृञ्भ्य उः' इस सूत्र से तनादिगण में कृञ् धातु का पाठ होने से भी अभीष्ट कार्यसिद्धि हो जायेगी तथा पुनः कृञ् धातु का अलग से उल्लेख इसलिये माना जाता है कि उसकी विशिष्टता सिद्ध हो, उसी तरह से 'छन्दोब्राह्मणानि' सूत्र में ब्राह्मणपद विशिष्टता-द्योतक है ।" यह कथन भी व्याकरण के गूढ रहस्य को न जानने का ही द्योतक है । जैसाकि भट्टोजिदीक्षित कह रहे हैं—तनादि पाठ से ही सिद्ध होने पर कृञ् ग्रहण करना, गणकार्य की अनित्यता में लिङ्ग है । इससे 'न विश्वसेत्' यहां तत्त्वबोधिनी टीका के अनुसार शप् के लुक् का अभाव सिद्ध होता है ।

पृ० ७५३, पं० ५—जैसा कि निरुक्त के 'तेऽवरेभ्यो०' इत्यादि वचनों में वेदपद केवल ब्राह्मण का ही वाचक है; क्योंकि मन्त्रों के समाम्नाय का वर्णन इससे पहले ही किया जा चुका है" । यहां भी इस लेखक ने निरुक्त का तात्पर्य

स्वात् ।" इत्यपि सर्वं निरुक्ततात्पर्यानभिज्ञानादेव । पूर्वं चाऽपि समाहितम् । तव स्मृतिदोषात् पुनः पुनर्लिख्यते ।

पृ० ७५३, पं० ६—'पुरुषविद्यानित्यत्वात्कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे' (नि० १।२) इत्यत्रापि मन्त्रात्पृथग् वेदशब्दपठनं न ब्राह्मणपरकं यतो न मन्त्रो ब्राह्मणे पठितो वेदे एव पठित ऋगाद्यात्मके ।

नहि तथा सप्तम्यन्तवेदशब्दो घटते ब्राह्मणेऽत्र । शिष्टं पूर्वभागे समालोचितम् । अग्रेऽप्यवधेयं यच्छन्दःशब्दो वेदपर्यायवाचकत्वप्रतिपादनेऽपि न ब्राह्मणादिवाचकः स्यादिति न क्वाऽपि महर्षिणोदलेखि । ब्राह्मणपरकछन्दःशब्दार्थस्तत्तत्समये प्रचलितोऽभूत् । निष्कर्षस्त्वेवं निर्मलपद्येषु—

सुबन्ते च तिङन्ते च पदत्वमुभयोर्यथा ।
अजाव्योश्चैकप्राणित्वं धातुत्वं स्वर्णलोहयोः ॥१॥
द्रव्यत्वं वह्निजलयोर्भूमित्वं वेष्टकाश्मनोः ।
वेदब्राह्मणयोरेवं पुस्तकत्वेन चैकता ॥२॥

नहीं समझा, क्योंकि 'उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः' का तात्पर्य मौखिक उपदेश द्वारा ही मन्त्रों का सम्प्रदान किया, उपदेश की जब ग्लानि होने लगी तो उनके लिये इस ग्रन्थ निरुक्त, और वेद-वेदाङ्गों को समाम्नात, लिपिबद्ध किया । अतः न तो यहां पर वेदशब्द ब्राह्मणवाचक है और न वेदों के बनाने से आशय है ।

पृ० ७५३, पं० ६—"पुरुष विद्या०' इस निरुक्त-वचन में भी मन्त्रों से पृथग् वर्णित वेदशब्द ब्राह्मणभाग का ही वाचक है ।"

यहां भी मन्त्र से पृथग् वेद का पढ़ना ब्राह्मणपरक नहीं है; क्योंकि ये मन्त्र ब्राह्मण में नहीं होते, ऋगाद्यात्मक वेद में ही होते हैं ।

अतः यहं सप्तम्यन्त वेदशब्द ब्राह्मणपरक नहीं है । शेष 'कल्पद्रुम' प्रथम खण्ड में आलोचना देखनी चाहिए । आगे भी ध्यान रखना चाहिये कि छन्दः शब्द वेद का पर्याय होने पर ब्राह्मणवाचक नहीं है,ऐसा अभिप्राय ऋषि का भी नहीं है । ब्राह्मणपरकं छन्दःशब्दार्थ तत्तत् समय पर अन्यान्य ग्रन्थों में भी प्रयुक्त हुआ है ।

उक्त विषय साररूप में निर्मलपद्यों में इस प्रकार वर्णित किया गया है—जैसे सुबन्त और तिङन्त दोनों में पदत्व है । बकरी और भेड़ दोनों में प्राणित्व है तथा स्वर्ण और लोह में धातुत्व है ॥१॥ अग्नि और जल में द्रव्यत्व, ईंट और पत्थर में भूमित्व । इसी प्रकार वेद और ब्राह्मणों में पुस्तकत्व है ॥२॥ परन्तु उक्त

https://t.me/DharmaSamrat

परं चोक्तं सुबन्तादौ संज्ञाभेदोऽप्यनेकता।
तन्नास्य वेदसंज्ञा स्यात् नैकत्वं मूलटीकयोः ॥३॥
याज्ञिकप्रक्रियायां वै वेदत्वमुभयोर्मतम्।
केश्चित्तेन न वेदत्वमुभयोः सम्भवत्यपि ॥४॥
वेदब्राह्मणयोरेवम् एकत्वे पर्वताकृतिः।
भ्रान्तिर्वै गीयते विज्ञैरतस्त्याज्यो दुराग्रहः ॥५॥

पुनः का कथा वराकाणां ब्राह्मणानामन्येषां वा यदा शाखाश्चापि न वेदाः। पौराणिका वेदमन्तारः संहिताभागेन साकं शाखानामारण्यकानाम् उपनिषदादीनामपि वेदनाम्ना मन्यन्ते, परन्न शाखानामपि वेदनामधेयत्वम्, यतो न मूलशाखयोरभेदत्वम्।

ननु ये मूलवेदास्तेऽप्यस्माकं मते शाखा एवेति चेन्न, वादिना शाखाशब्दस्य वास्तविकमूलार्थावगमभ्रमात्। व्याप्त्यर्थकात् 'शाखृ' धातोर्निष्पद्यते शाखाशब्दः। व्याप्तिर्नाम विशिष्टज्ञानं विशिष्टज्ञानसाधनं वा। यथाहि—'एष वो अमी राजा' (यजु० ९।४०) इति मन्त्रस्य कठादिशाखासु 'एष वो भरता राजा,' 'एष वो जनते राजा' इत्यादिपाठाः, काण्वशाखायाम् 'एष वः कुरवो राजा' इति पाठः,

---

सुबन्त आदि में संज्ञाभेद तथा अनेकता है, इसलिए ब्राह्मण की वेद-संज्ञा नहीं है और न मूल वेद (व्याख्येय) और टीका (व्याख्यान) ब्राह्मणों में एकता है ॥३॥ कल्पसूत्रों के अनुसार याज्ञिक-प्रक्रिया में वेद और ब्राह्मण दोनों का पारिभाषिक वेदत्व है। केवल इसलिए कुछ विज्ञ दोनों की वेदता सर्वत्र स्वीकृत नहीं करते॥४॥ इस वेद और ब्राह्मण की वेदत्वेन एकभावना पर्वताकार भ्रान्ति है, अतः विज्ञों को ब्राह्मण की वेदता का दुराग्रह सर्वथा त्याज्य है ॥५॥

फिर वे बेचारे ब्राह्मणग्रन्थ व अन्य ग्रन्थ आरण्यकादि का तो कहना ही क्या? जब शाखाएं तक वेद नहीं हैं। वेद को माननेवाले पौराणिक लोग वेद की शाखाओं और आरण्यक, उपनिषद् आदि को भी वेद मानते हैं, परन्तु शाखाएं भी वेद नहीं हैं; क्योंकि मूल वेदसंहिता और उनके पर्याय आदि देकर अर्थ समझाने की चेष्टा करनेवाली शाखाओं में अभेद नहीं माना जा सकता।

प्रश्न— मूल वेद भी हमारे मत में तो शाखाएं ही हैं।

उत्तर—वादी शाखा-शब्द के वास्तविक मूल अर्थ को समझने में भ्रान्त है। 'व्याप्ति' अर्थवाले 'शाखृ' धातु से शाखा की रचना होती है। व्याप्ति का अर्थ है—विशेषरूप से प्राप्त करना अथवा विशिष्ट ज्ञान का साधन। इस अर्थ को वेद में भी घटा सकते हैं। जैसे—'एष वो अमी राजा' (यजु० ९।४०) इसका कठादि शाखाओं में 'एष वो भरता राजा' इत्यादि पाठ है। काण्वशाखा में 'एष वः

परं मूले तु 'अमी' इत्येव। शाखासु विशिष्टसमुदायानां नामानि सन्ति, इमे पाठाः स्पष्टकर्तारो न तु मूलम्। यथा वाऽपि 'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवाऽनुपश्यति' इत्यात्मन् शब्दोऽविभक्तिको विभक्तेः 'सुपां सुलुक्' इत्यनेन लुक्त्वात्। कण्वमहर्षिणा 'आत्मनि' इति धृत्वा सप्तम्यन्तपाठेन तद्व्यञ्जनात् शाखात्वमस्य कण्वकृतपाठवन्मन्त्रस्य।

तथा चात्र मुख्या शाखा मूलसंहितैव। शुक्लयजुर्वेदो माध्यन्दिनशाखेति लोकाः कथयन्ति। प्रमाणं यथा—'अथ पञ्चदशशाखासु माध्यन्दिनशाखा मुख्येति वेदितव्या'। तथा चेदं होलीरभाष्यम्—"यजुर्वेदस्य मूलं हि भेदो माध्यन्दिनकः। तस्मान्माध्यन्दिनशाखा एव पञ्चदशसु वाजसनेयशाखासु मुख्या सर्वसाधारणी। अत एव चोक्तं 'माध्यन्दिनी तु या शाखा सर्वसाधारणी तु सा" (गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी मद्रास, सूचीपत्र तृतीयभाग पृष्ठ ३४२६, ग्रन्थसंख्या २४५६ माध्यन्दिनशाखाविषयः)।

अपरञ्चायं भयावहः परिणामः शाखानां वेदसंहितासनस्थापनस्य, यदस्मिन् काले आर्यजात्यामीदृशा व्यवहाराः प्रचलिता येषां न मूलं वेदेषूपलभ्यते। तेषामाचाराणां व्यवहाराणां च समर्थका विद्वांसः प्रायेणैवं वदन्ति यदिमे लुप्तशाखा आधारीकृत्य प्रचलिता अभूवन्निति। परमेतस्य समाधानं यन्न मूलं विरुणद्धि।

अपरं चैतत्समाधानं यल्लुप्तशाखाप्रवादकारणादेवानिष्टसृष्टिरापद्येत, कस्यांचिल्लुप्तशाखायां जैन-बौद्ध-कुरआनी-किरानी-मतानामपि कल्पनायाः सम्भ-

---

कुरवः०' यह पाठ है, परन्तु मूल में 'अमी' है। शाखाओं में विशेष समुदायों के नाम हैं। ये पाठ अर्थ को स्पष्ट करने के लिये हैं। जैसे 'यस्तु सर्वाणि०' में आया अविभक्तिक 'आत्मन्' शब्द काण्व शाखा में सप्तम्यन्त 'आत्मनि' के रूप में है, जिससे कि इसका शाखात्व स्पष्ट है।

इस प्रकार मुख्य शाखा मूल संहिता ही है। शुक्लयजुः माध्यन्दिन-शाखा कहाती है। जैसा कि होलीरभाष्य में भी लिखा है। इस सर्वसाधारणी शाखा के विषय में मद्रास पुस्तकालय के सूचीपत्र की २४५६ ग्रन्थसंख्या भी प्रमाण है।

शाखाओं को वेद के सिंहासन पर बैठाने का यहां भयंकर दुष्परिणाम भी हुआ जो कि इस समय भी बहुत से आचार और व्यवहारों को लुप्त शाखाओं में होने की बात भी कतिपय विद्वान् कहते देखे गये हैं। पर इसका समाधान वेद की मूल चार इन प्रतियों को मानने से सम्भव हो जाता। मिथ्या कल्पनाओं के लिए कोई अवकाश नहीं रहता।

इससे यह भी समाधान है कि लुप्तशाखा-प्रवाद के कारण से तो बहुत-से अनिष्ट विचारों और प्रथाओं की सृष्टि होने लगेगी और किसी लुप्त शाखा का नाम लेकर जैन, बौद्ध, कुरआनी और किरानी मतों के अस्तित्व की सम्भावना

https://t.me/Dharmasamrat

प्रात्, पुनश्च तत्परिहारस्य सर्वथाऽसम्भवापत्तेश्च ।

एवं विधैरेव वेददूषकैरनर्गलप्रलपनकुशलैरवैज्ञानिकता-सृष्टिक्रमविरुद्धतादि-दोषाननभिध्यायद्भिः 'तैत्तिरीयसंहिता' वैशम्पायन-शापवशाद् याज्ञवल्क्यकृत-वमनप्रसूतिफलाऽमन्यत । अनल्पमिथ्या-कल्पना-जल्पनाशीलैर्न मनागपि 'तित्तिरि-वरतन्तु' (अष्टा० ४।३।१०२) इति पाणिनीयसूत्रं स्मृतिवर्त्मन्यवातारि । तित्तिरि-र्ऋषिरेवायं न तु पक्षी । महाभारतेऽपि ऋषित्वमेतस्य—

'सुमन्तुर्जैमिनिः पैलो व्यासशिष्यास्तथा वयम् ।
तित्तिरिर्याज्ञवल्क्यश्च, ससुतो लोमहर्षणः ॥'

———

त्रुटयः पारिजातस्य असंख्येया मयाऽधुना ।
तथापि कतिचिच्चेह प्रदर्श्यन्ते प्रसङ्गतः ॥

यथा प्रस्तावनायाम्—'लुञ्छन्ति' पृ० ६, 'गणेशायः' पृ० १, 'सरस्वत्यैः' पृ० १, 'हिन्दीमयोऽपि च' कथं पुंस्त्वं यदिभाष्यविशेषणम्, (यथा हिन्द्याम्) पृ० ४, 'मुसलगांव गजाननः' अत्र कथं नवाक्षराणि ? मन्ये नामैकदेशं 'मुसल' इत्य-

---

होने लगेगी तथा उसका परिहार या समाधान करना भी असम्भव हो जायेगा।

ऐसे ही वेददूषक अनर्गल कल्पना करनेवालों ने, अवैज्ञानिकता और सृष्टि-क्रमविरुद्धता आदि दोषों का ध्यान न करके 'तैत्तिरीयसंहिता' को विविध मिलावट करके वैशम्पायन के शाप से याज्ञवल्क्य ने इसका वमन कर दिया और तीतरों ने चुग लिया, वही यह संहिता है, ऐसा माना। उन्होंने पाणिनि मुनि के 'तित्तिरिवरतन्तु०' इस सूत्र पर भी ध्यान नहीं दिया। इसमें स्पष्टरूप से वे ऋषि थे, तीतर पक्षी नहीं। महाभारत में भी ये ऋषि व्यास के शिष्यों में गिनाये गये हैं।

———

यद्यपि वेदार्थपारिजात में असंख्य त्रुटियां हैं, जिनकी गणना करने के लिये मेरे पास समयाभाव है तथापि कुछ त्रुटियां प्रस्तुत हैं—जैसे—प्रस्तावना पृष्ठ ६ पर 'लुञ्छन्ति', पृ० १ पर 'गणेशायः', 'सरस्वत्यैः' पृ० १ पर, 'हिन्दीमयोऽपि च' यहां भाष्य के विशेषण होने पर पुंस्त्व क्यों हैं ? 'मार्कण्डेयो ब्रह्मचारी' में पंचाक्षर गुरु, जबकि पद्य में पांचवां सर्वत्र लघु और छठा सर्वत्र गुरु होना चाहिए, छठा गुरु भी नहीं, अतः छन्द अशुद्ध है। कैसे ही मान भी लें तो 'मुसलगांव गजा-नन' यहां नौ अक्षर क्योंकर हैं। मुसल इसके अनन्तर 'कर' भी करपात्रीजी ने

नन्तरं करोऽपि करपात्रेण विलोपितः । 'व्यञ्जते' पृ० ४८७, 'छन्दोपद' पृ० ५०३, 'षडविकाराणाम्' पृ० ५१७, 'प्रत्यायका भवति' पृ० ५२८, 'सवस्येव' पृ० ५३०, 'यथार्थस्वरूपेन' पृ० ५३५, 'भेदास्ति' पृ० ५४६, 'भिन्नत्वन' पृ० ५५१, 'अनवस्था-पानात्' पृ० ५५२, 'मुक्तेरावृताम्' इत्यत्र व्याभाष्यम्—पृ० ५६०, 'अवर्यजः' पृ० ७२३ इत्यादिषु अपाणिनीयत्वम् ।

पुस्तकसूत्रसङ्केतादिविषये तु प्रायेण भ्रान्तत्वम् । यथा कतिपये सङ्केताः—'अग्निवायुरविभ्यः' (मनु० १।५) 'अध्यापयामास पितॄन्' (मनु० २।६), 'अवशिष्टास्तु वाक्यार्थः' (जै० सू० १।२।३०), 'पूर्वेषामपि गुरुः' (१।१६), 'अत एव च नित्यत्वम्' (१।३।२९), 'सदाकारणवच्चिन्त्यम्' (४।१) । ७२० पृष्ठे 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (अष्टा० १।१।५६), 'एकः पूर्वपरयोः' (अष्टा० १।३।८४), ७२८ पृष्ठे 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' (अष्टा० ७।२।२८), 'परात्तु तच्छ्रुतेः' (२।३।३१), ७३१ पृष्ठे 'बुद्धशास्त्रात्' (मी० १।२।२९), 'तदर्थ-शास्त्रात्' (मी० १।२।२९), ७३२ पृष्ठे 'विधिमन्त्रयोः' (मी० २।१।२७), ७३७ पृष्ठे 'उक्तश्चानित्यसंयोगः' (मी० १।२।४०) इत्यादयोऽसंख्येयाः संकेता अशुद्धा भ्रामकाश्च । एतत्सहयोगिनी एषा पण्डितानां सेना न ध्यातवती यदेवंविधा-ऽसावधानता गवेषकाणां कियतीं घृणामावक्ष्यते । अन्यास्त्रुटयो विवेच्यस्थले-ष्वेव निर्दर्शिताः । एतदग्रे न विशिष्टमवशिष्यते समाधानायातो विरम्यतेऽति-पल्लवितात् ।

लुप्त कर दिया। पृ० ४८७ पर व्यञ्जते पद अशुद्ध है, पृ० ५०३ पर 'छन्दोपद' पद अशुद्ध है, पृ० ५१७ पर 'षडविकाराणाम्' में षड्+अविकाराणाम्—इसमें उलटा अर्थ निकलता है। पृ० ५२८ 'प्रत्यायका भवति' एकवचन क्रिया में 'प्रत्यायका' अशुद्ध प्रयोग है। पृ० ५३० 'सवस्येव' यह अपशब्द है। पृ० ५३५ 'यथार्थस्वरूपेन' यहां णत्वाभाव कैसे हुआ ? पृ० ५४६ पर 'भेदास्ति' कैसे सिद्ध होगा ? पृ० ५५१ पर 'भिन्नत्वन' कैसे सिद्ध हुआ ? पृ० ५५२ पर 'अनवस्थापानात्' कौन शब्द है ? पृ० ५६० पर 'मुक्तेरावृत्ताम्' अशुद्ध है। पृ० ७२३ पर 'अवर्यजः' इत्यादिकों में अपाणिनीयता है।

पुस्तकों के सूत्र-संकेतादि के विषय में तो प्रायः भ्रान्ति है, जैसे कुछ संकेत संस्कृतमूल में देखिये। ऐसे असंख्येय सङ्केत अशुद्ध और भ्रामक हैं। इन महानु-भाव की सहयोगिनी तुन्दपरिमृज पण्डितों की सेना ने ध्यान नहीं दिया कि ऐसी असावधानता तत्त्वान्वेषी गवेषकों के लिए कितनी घृणा का कारण बनेगी ? अन्य महात्रुटियां विवेचनीय स्थलों पर दिखायी गयी हैं। इसके आगे इस ग्रन्थ में यहां और कुछ विशिष्ट बात हमारे समाधान के लिए अभीष्ट नहीं है, अतः विस्तार न देकर यहीं पर विराम किया जा रहा है।

https://t.me/DharmaSamrat

कदलीस्तम्भपत्रान्तः, सारो नैव प्रवीक्ष्यते ।
तद्वदस्य वचः शून्यं, गजभुक्तकपित्थवत् ॥१॥
ऋग्वेदादिचतुष्टयस्य सुतरां वेदाभिधां युक्तिभिः,
भूयः शास्त्रप्रमाणवाक्यनिवहैः संसाध्य कल्पद्रुमे ।
ऋष्युक्तानि मनुष्यबुद्धिरचितानि ब्राह्मणानीति वै,
निःसंशीति महर्षिसम्मतमिदं सत्यं मया घोष्यते ॥२॥
शुभ्रज्योत्स्निरदभ्रविभ्रमलसत् सिद्धान्तमुक्ताफलैः,
दाक्षिण्याऽमलसूत्रनद्धसुमनो गन्धाढ्यमाल्यार्चनैः ।
वेदानां विमला विभूतिरखिलप्राणार्थिनां मुक्तिदो,
विद्वन्मौलिविभूषणो ह्यनुपमश्चाभाति कल्पद्रुमः ॥३॥

इति श्रीमद्बिहारीलालशास्त्रिशिष्येण श्रीमत्पण्डित-अयोध्याप्रसाद-मिश्रात्मजेन श्रीमदाचार्यविशुद्धानन्दमिश्रेण श्रीयुतनिर्मला-मिश्रा-सहधर्मिणीसहायेन विरचिते करपात्रिमतखण्डने दयानन्दीयमतमण्डने वेदार्थकल्पद्रुमनामग्रन्थे वेदसंज्ञाविचारविषयः सम्पूर्णः ॥

केले के खम्भों के पत्तों के भीतर कुछ सार दिखाई नहीं पड़ता। इसी प्रकार करपात्री का कथन भी हाथी के खाये हुए खोखले कपित्थ (कैथ) के समान अत्यन्त सारहीन है ॥१॥

इस कल्पद्रुम में ऋग्वेदादि चार की वेद-संज्ञा युक्ति और शास्त्रीय प्रमाणों के द्वारा सिद्ध करके ब्राह्मणग्रन्थ ऋषिप्रोक्त मनुष्य-बुद्धि से रचित हैं, यह महर्षि-दयानन्दसम्मत असन्दिग्ध सत्य मत है, ऐसी मैं घोषणा कर रहा हूं ॥२॥

उज्ज्वल ज्ञानप्रकाशमय, बड़ी भ्रान्तियों को दलनेवाले सिद्धान्त-रूपी मुक्ता फलों के द्वारा, दाक्षिण्य के निर्मल सूत्रों में गूंथे हुए सुमनों (उत्तम मानसों) की गन्ध से समृद्ध माल्यार्चनों के माध्यम से, वेदों की विमल विभूति तथा अखिल प्राणार्थियों का मुक्तिदाता और विद्वानों का शिरोभूषण यह अनुपम 'कल्पद्रुम' सुशोभित हो रहा है ॥३॥

श्रीमान् पं० बिहारीलालजी शास्त्री के शिष्य, श्रीमान् पण्डित अयोध्याप्रसाद मिश्र के आत्मज, श्रीमदाचार्य विशुद्धानन्द मिश्र द्वारा श्रीयुतनिर्मला मिश्रा सहधर्मिणी की सहायता से विरचित करपात्रमतखण्डन तथा दयानन्दीय मतमण्डन करनेवाले इस 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में 'वेद-संज्ञा-विचार' विषय सम्पूर्ण हुआ ॥

अथ ब्रह्मविद्या-विषयः

नित्यं यो ब्रह्म-विद्या-सरिदमलजले कल्मषध्वंसशीले,
स्नात्वा प्राप्नोत् समाधौ सुविमल-हृदयोऽमन्दमानन्दमाद्यम् ।
संसारस्योपकृत्यै व्यरचयदमलां भूमिकां वै श्रुतीनाम्,
वेदार्थोद्धारवृत्त्या स जयति जगति श्रीदयानन्दयोगी ॥१॥

केचित् पौराण-वर्त्म-प्रसृत-घन-तमश्छन्नमाहीधरादि-,
प्रज्ञा-व्यायाम-जन्यं श्रुति-विमल-विधेर्वैपरीत्यं भजन्तः ।
सत्यासत्यानुशीलाऽक्षमलघुमतयः पण्डितम्मन्यमानाः,
सद्राद्धान्तान् द्विषन्तो मुनिसरणि-मतं सस्ततं गर्हयन्ति ॥२॥

अन्येऽहम्—

ऋग्वेदभाष्यधरणी कृशगात्रयष्टिः,
किन्तु प्रकृष्टविषयैर्बहुरत्नगर्भा ।
कुतर्क-सञ्चितमतिः प्रथितः प्रकामम्,
स्थौल्ये बृहत्तर इतः खलु पारिजातः ॥३॥

पारिजातकर्ताऽत्र वक्तुं पारयते—

जिसने पापविनाशशील ब्रह्म-विद्यारूप-सरिता के निर्मल-जलसमाधि में स्नान कर विमलहृदय होकर, अमन्द आदिम आनन्द को प्राप्त किया था। वेदों की उद्धारवृत्ति से संसार का उपकार करने के लिये जिसने विमल 'ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका' की रचना की, संसार में उसी महर्षि दयानन्द योगी का जयजयकार हो रहा है ॥१॥

कुछ लोग पौराणिक मार्ग में फैले घने अन्धकार से आच्छन्न महीधरादि के बुद्धि-व्यायाम-जन्य, वेद के विमल विधान के विपरीत चलते हुये, सत्यासत्य के अनुशीलन करने में असमर्थ लघुमति, स्वयं को पण्डित माननेवाले, उत्तम सिद्धान्तों से द्वेष करते हुए मुनिवर दयानन्द के सिद्धान्तों की सर्वत्र निरन्तर निन्दा करते हैं ॥२॥

मैं मानता हूं कि यह 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' लघुकाय ग्रन्थ है, किन्तु उत्तम विषयों के माध्यम से इसमें रत्न भरे पड़े हैं, और कुतर्क-परायण निन्दन-शील मति द्वारा प्रकाशित पारिजात अत्यन्त स्थूल और बृहत्तर है ॥३॥

तो पारिजातकर्ता कह सकता है—

https://t.me/DharmaSamrat

सत्यजित्

क्षौमं दुकूलमपि वै प्रतियोगितायाम्,
किं साम्यमत्र कुरुते मम कम्बलेन ।
मूल्ये महद् यदि तवास्ति मदीयमेतद्,
अस्त्येव वाऽधिकतरं परिमाणभारे ॥४॥

अस्तु, प्रकृतमनुसरामः ।

पृष्ठ ११६४—पूर्वपक्षः—"वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति ? अत्रोच्यते सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः । इत्यात्मकं बालभाषितम्, सर्वैरप्यास्तिकैर्वेदानां सर्वविद्यास्थानत्वस्य स्वीकारेण तत्र विप्रतिपत्तेरभावात्" ।

उ० प०—'बालेभ्यो ब्रह्मविद्यामजानद्भ्यो भाषितम्' इत्येवमभिप्रेत्य तु सत्योक्तिरियम् । परमाक्षेपकर्तुरस्य त्वन्य एवाभिप्रायः, तथा सति तु अज्ञानमेवानेन स्वीयं प्रकाशितम्, यतो नहि सर्वैरपि आस्तिकैर्वेदानां सर्वविद्यास्थानत्वं स्वीकृतम् । आचार्यश्रीबलदेव उपाध्यायो वेदेषु सर्वविद्यान्तर्गतविज्ञानादिप्रतिपादयितारं महर्षिमुपहसतीव ।

भवादृशां पुराण-रूढि-प्रस्तमतीनां मते त्वध्वरेषु पशुहिंसनादिका अविद्या अपि प्रतिपादिताः सन्ति । वेदेषु तन्निराकरणाय ऋषिणा 'सर्वाः विद्याः' सन्तीति

कि तुम्हारा रेशमी दुकूल (ग्रन्थ) प्रतियोगिता में मेरे बड़े कम्बल से बराबरी नहीं कर सकता, क्योंकि यदि तुम्हारा दुकूल बहुमूल्यवान् है, तो मेरा यह कम्बल परिमाण और बोझ में इससे कहीं अधिक है ॥४॥

पृ० ११६४—पूर्वपक्ष—"वेदों में सब विद्या हैं या नहीं ? सब हैं; क्योंकि जितनी सत्यविद्या संसार मे हैं, वे सब वेदों से ही निकली हैं, उनमें से पहले ब्रह्मविद्या संक्षेप से लिखते हैं । भूमिका में यह भी बच्चों जैसी बात है । सभी आस्तिक वेदों को सभी विद्याओं की उत्पत्ति का स्थान मानते हैं ।"

उ० प०—पर यह करपात्रीजी का कथन असत्य है, क्योंकि सायणाचार्य ही कहते हैं कि सारे वेद क्रिया-काण्डपरक ही हैं तथा आचार्य बलदेव उपाध्याय विमान, तारविद्या आदि विज्ञानों को मूलरूप में भी वेदों में नहीं मानते, प्रत्युत माननेवालों का उपहास करते हैं । क्या ये आपके लेखानुसार नास्तिक हैं ? (वे० क० प्रथम खण्ड में देखिये) । वस्तुतः ऋषि दयानन्द का कथन इस अर्थ में बाल अर्थात् एतद्-विषयक ज्ञान से अनभिज्ञ आप सदृशों के लिये ही भाषित है ।

तथा आप सदृश पुराण-रूढ-मतियों के मत में तो वेदों में पशु-हिंसादि अविद्यायें भी प्रतिपादित हैं । अतः इन अविद्याओं के वारणार्थ ऋषि ने 'सर्वाः

पाठो न्यस्तः ।

आधुनिकाः केचनारोपयन्तीति यद् यदि वेदेषु सर्वा विद्याः सन्ति तदाऽऽविष्कृत्य कथं न प्रख्याप्यन्ते ? इति समाधातुमृषिणा 'मूलोद्देशतः' इति पाठो व्यधायि, अर्थात् मूलरूपेण सर्वासां विद्यानां नामसङ्कीर्तनेन सङ्केतमात्रं कृतम्, ताश्च स्वबुद्धिवैशद्येन पल्लवितां विधेयिनिमः ।

पृ० ११६४, पं० १३—"तत्र शास्त्रसिद्धान्तमुपेक्ष्य स्वकल्पितार्थनिरूपणं दुनोत्येव सचेतसां चेतांसि" इति ब्रुवन्नात्मानमयं गणयितुं प्रक्रमते सचेतःसु, इत्याश्चर्यम्, यतः स्वयमयं शास्त्रमुपेक्ष्य 'तद्विष्णोः परमं पदं' 'स पर्यगात्' इत्यादीनां स्वकल्पितमनर्गलमर्थं व्याचष्ट इति प्रथमखण्डे निदर्शितम् ।

इह ह्ययं स्वीय-पुराण-प्रलापरज्ज्वहिनिदर्शनपुरस्सरं नवीनवेदान्तमतमेवोपसन्दर्भ्णाति । तद्विषये भूरि प्रतिपादितम्, तथापि किञ्चिदुपन्यस्यत इह—

पृ० ११६५, पं० ३—"यथा साक्षात्कृतया रज्ज्वा तदध्यस्तानां सर्पधारामालाभूच्छिद्रादीनां बाधस्तथैवाधिष्ठानस्वरूपब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण तदध्यस्त-

---

विद्याः' 'सब विद्यायें' यह पद भूमिका में रक्खा है ।

आधुनिक कतिपय लोग आरोप लगाते हैं कि यदि वेद में सब विद्यायें हैं तो वे सब आविष्कृत क्यों नहीं कर ली जातीं ? प्रत्युत आविष्कार के अनन्तर ख्यापित की जाती हैं कि वेदों में हैं । इसका समाधान यह है कि 'वेद में ये मूलोद्देशतः हैं' अर्थात् उन-उन विद्याओं का मूलरूप में नाम-सङ्कीर्तन किया गया है । वे विद्यायें अपनी बुद्धि-विशदता से पल्लवित करना चाहिये ।

यह कथन कि "जब वेद में शास्त्रों के सिद्धान्तों की उपेक्षा करके कल्पित अर्थों का निरूपण किया जाता है, तो समझदार व्यक्ति के मन में अवश्य दुःख होता है ।" आश्चर्य है कि यह कथन करके भी श्री करपात्री स्वयं को समझदारों में समझने का उपक्रम कर रहे हैं; क्योंकि 'तद् विष्णोः परमं पदम्' तथा 'स पर्यगात्' इन मन्त्रों में शास्त्रीय सिद्धान्तों की उपेक्षा करके स्वयम् अनर्गल बकवास की है । जिज्ञासु वे० क० के प्रथम खण्ड में विस्तृतरूप से देखें ।

यहां पर ये अपने पुराने प्रलाप अर्थात् रस्सी और सांप के दृष्टान्त को पुरस्कृत कर नवीन वेदान्तमत को सन्दर्भित कर रहे हैं । इस विषय में बहुत कुछ पूर्व खण्ड में कहा जा चुका है तथापि इनके पुनर्लेखानुसार पुनरपि उपन्यस्त किया जा रहा है ।

"जैसे रस्सी का साक्षात्कार हो जाने पर उसमें कल्पित सर्प, जलधारा, माला, भूच्छिद्र प्रभृति पदार्थों का बाध हो जाता है, उसी प्रकार जगत् के अधिष्ठान-

https://t.me/Dharmaacademy

प्रपञ्चस्यापि बाधः" इति।

तत्रेत्थं विविच्यते, यद् भवतां नवीनवेदान्तिनां मते केवलं ब्रह्मैवासीत्, जीवप्रकृत्योरनादिसत्ता नैवाभूत्, तदाऽनित्योत्पाद्यमानस्य जगतोऽभाव आसीत्, शशकादिशृङ्गाणामपि अभाव आसीत्, तदा किं कारणमभूद् यत् प्रथमस्य शशकस्याभावस्याभावस्तु जातः, परन्न द्वितीयस्य विषाणस्य ? एतद्भेदाधिकरणं च कः पदार्थः ? यदा भावत्कसिद्धान्ते न ब्रह्मणोऽतिरिक्तः कश्चित् पदार्थः।

अपरं च यश्चाऽभावोऽनेकधा, स तु पुनर्भाव एव। अथ चेन्न तथा, कथं सम्भवासम्भवपदार्थयोर्भेद एकस्याभावादुदपद्यत ?

ननु एवं मन्येत यदीश्वर एव जगद्रूपे परिणतः, न युज्येत, ईश्वरस्यापि परिणाम-विनाशापत्तेः। न चेश्वरस्य गुणरूपत्वाद् जगदेतद् गुणः, ईश्वरश्च तदा गुणी, गुणाद् द्रव्योत्पत्तेरसम्भवात्, यथा रसाद् जलस्य रूपादिभ्य अग्न्यादीनाम्। ईश्वरादनादिभिन्नसत्तास्वीकृतौ असिद्धान्तापत्तिः।

न चेदं जगदुत्पत्तेः प्रागीश्वरज्ञाने वर्तमानमासीद् इति वक्तव्यम्। तथा-

---

भूत ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर उसमें कल्पित प्रपञ्च का भी बाध हो जाता है।"

यह इस प्रकार विवेचनीय है कि आप नवीन वेदान्तियों के मत में केवल ब्रह्म की ही सत्ता थी, जीव और ब्रह्म की अनादि सत्ता ही नहीं थी, उस समय अनित्य उत्पाद्यमान जगत् का भी अभाव था, शशक और उसके सींगों का भी अभाव था, तब बताइये क्या कारण हुआ कि सृष्टि होने पर शशक के अभाव का तो अभाव हो गया अर्थात् 'खरगोश' बन गया पर उसके सींगों के अभाव का अभाव नहीं हुआ। इस भेद के अधिकरण का कौन सा पदार्थ है, जब कि आपके सिद्धान्त में ब्रह्म के अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ है ही नहीं।

दूसरे जो अभाव अनेक प्रकार का है तब तो वह भाव ही हो सकता है, यदि ऐसा नहीं है तो बताइये, सम्भव और असम्भव पदार्थों का भेद एक अभाव से तो उत्पन्न हो गया, दूसरे से नहीं ?

शङ्का—यदि यही मान लिया जाये कि ईश्वर ही जगद्रूप में परिणत हो गया, तो यह बात ठीक नहीं होगी, क्योंकि ईश्वर का भी परिणाम और विनाश उपस्थित हो जायेगा। तथा यह भी नहीं कह सकते कि जगत् ईश्वर का गुण है और ईश्वर गुणी है। उसके गुण से यह द्रव्य जगत् उत्पन्न नहीं हो सकता। जैसे कि रस से जल या रूप आदि गुणों से अग्नि उत्पन्न नहीं हो सकती। ईश्वर से भिन्न सत्ता स्वीकृत करने पर आपकी सिद्धान्तहानि होगी।

यह भी नहीं कह सकते कि यह जगत् उत्पत्ति से पूर्व ईश्वर के ज्ञान में तो

प्येवं विचारणीयम्—यथा यत् सर्वकार्यपदार्थेषु वर्तमानानां नामाकृतिजातिव्यक्तीनां मध्ये कतमोंऽशः ईश्वरज्ञानेऽविद्यत ? यथा हि कर्तुः कुम्भकारस्य ज्ञाने घटस्याकृतेः समानभावोत्पादिकाया अनेकघटव्यक्तिघटितजातेश्च वर्तमानत्वम्, किन्तु घटस्य व्यक्तेः प्रादुर्भूतेर्मृत्तिकाया अभावे नैवाऽऽकृतिजात्योश्च ज्ञानमात्रं व्यवहारोपयोगि घटोत्पत्तिं विधातुं क्षमम्।

एवमेव ईश्वरज्ञाने जात्याकृत्योर्जगतो विद्यमानत्वेऽपि तथात्वे व्यवहारायोग्यत्वे व्यवहार्यजगतो मूलकारणप्रकृतेरेवोत्पादनसम्भवात्। अतो नैवेश्वरज्ञानाज् जगदुत्पत्तिः। ततो नवीनवेदान्तिसिद्धान्तो न सचेतसां प्रमोदावह इति दिङ्मात्रम्।

ईशावास्यादिचर्चाविनिवेशस्तु अप्रासङ्गिक (पृ० ११६५) एव। अत्र निर्मलोक्तिरेषा सङ्गच्छते—

प्रकृतितो यदि नो जगदुद्भवः, उभयकारणभूतविभोर्यदि।
समभवत् परिणामिविनाशिता, प्रकृतिहेतुमतो मनुते बुधः॥

वर्तमान था, क्योंकि यहां पर यह विचार करना होगा कि सब कार्यपदार्थों में वर्तमान आकृति, जाति और व्यक्ति में से कौनसा अंश ईश्वर के ज्ञान में विद्यमान था ? जैसे कर्ता कुम्भकार के ज्ञान में घट की आकृति की समानभावोत्पादिका अनेक घट-व्यक्ति में रहनेवाली जाति की वर्तमानता रहती है, किन्तु घट व्यक्ति के प्रादुर्भाव के कारण मृत्तिका में अभाव आकृति और जाति का ज्ञानमात्र, व्यवहारोपयोगी घट की उत्पत्ति में समर्थ नहीं है।

इसी प्रकार ईश्वर के ज्ञान में जगत् की जाति और आकृति के विद्यमान होने पर भी उस प्रकार से व्यवहार के अयोग्य होने पर व्यवहार्य जगत् के मूलकारण प्रकृति से ही जगत् का उत्पादन सम्भव है। ईश्वर के ज्ञान गुण से जगत् की उत्पत्ति नहीं हुई, अतः नवीनवेदान्तियों का यह सिद्धान्त समझदारों के प्रमोद का कारण नहीं बन सकता। यह यहां संक्षेपेण बता दिया।

'ईशावास्य' प्रभृति वाक्य तो अद्वितीय ब्रह्म के प्रतिपादन में ही विनियुक्त हैं। इनका कोई अन्य विषय नहीं है। यह चर्चा भी उक्त स्थिति में प्रसङ्गगत सिद्ध नहीं हो सकती, जब कि वहां पर भी एक 'ईश', दूसरा उससे 'आवास्य' (ढकने योग्य) प्रकृति और तीसरे 'तेन भुञ्जीथाः' अर्थात् भोक्ता 'जीव' इन तीनों की सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

यहां यह निर्मलोक्ति घटित होती है—यदि आपके मत में जगत् का मूल प्रकृति नहीं है और जीव तथा प्रकृति ईश्वर से उत्पन्न होते हैं, तब जगत् के परिणामी और विनाश के कारण ये दोनों ही ईश्वर में सम्भव होने लगेंगे, अतः बुद्धि-

https://t.me/Dharmasamrat

अपि विवर्त्तमुदीक्षत एव यः, समनुपश्यति रज्जुभुजङ्गमौ।
जगति वस्तुत एव सुदृग्गतौ, खलु विवाद इतोऽस्ति न कश्चन ॥

पृ० ११६६, अनु० २—यदुक्तं—"यदपि च 'तमीशानम्' इति मन्त्रमुल्लिख्यैवं व्याख्या कृता ...। तदिदं व्याख्यानं विशृङ्खलं पौर्वापर्यसङ्गतिशून्यं च।" इति तु अज्ञानविजृम्भितमेव, व्याख्यानस्य शृङ्खलाबद्धत्वात् सुसङ्गतत्वात् भवतश्च विजयासेवनप्रलपितसदृशत्वाच्च।

पं० १०—यदस्य "पञ्चदशर्चं सूक्तम्" नहीदं सूक्तं पञ्चदशर्चं, प्रत्युत दशर्चमेव। हिन्दीकारोऽपि मक्षिकास्थाने मक्षिकानिपातनशीलः किङ्करः। न चादितः पञ्च ऋचो जगत्यः, किन्तु आद्या निचृज्जगती पञ्चमी चाऽपि, एकाक्षरेण हीनत्वात्।

नाऽपि 'स्वस्ति न इन्द्रः' इति षष्ठ्यामृचि विराट् छन्दः, 'विराजो दिशः' इति महर्षिपिङ्गलप्रणीतच्छन्दः-सूत्राऽघटितत्वात्। वस्तुतस्त्वत्र 'स्वराड्बृहती'

मान् पुरुष जगत् का उपादान कारण प्रकृति को ही मानते हैं। तथा जो व्यक्ति इस जगत् को विवर्त्तरूप में मानता है; पर जगत् में रज्जु और सर्प दोनों को वस्तुतः दृग्गत कर रहा है, तो इस परमवाद (त्रैतवाद) के मान लेने पर कोई विवाद शेष नहीं रहता।

पृ० ११६६, अनु० २—यह कथन कि "तमीशानम्०' इस मन्त्र को उद्धृत कर किया गया व्याख्यान विशृङ्खल और पूर्वापर सङ्गति से शून्य अर्थात् असङ्गत है।" समस्त अज्ञान पर आधारित है; क्योंकि ऋषि का व्याख्यान समस्त ही शृङ्खलाबद्ध होने से सुसङ्गत है। ऐसा प्रतीत होता है कि करपात्रीजी की १५ पण्डितों की मण्डली (बटालियन) जिस कुंए का पानी पी रही है, उसमें भांग पड़ी है; अतएव विजया-सेवन-प्रलपन के समान ही उक्त कथन है।

"आ नो भद्रा' प्रभृति पन्द्रह ऋचाओंवाले इस सूक्त के गोतम ऋषि और विश्वेदेवा देवता हैं।" प्रथम बात तो यह है कि ऋग्वेद १।८९ सूक्त १५ ऋचाओंवाला नहीं, प्रत्युत १० ऋचाओंवाला है। इनका हिन्दीकार भी बेचारा मक्षिकास्थान पर मक्खी ही बिठाल देता है; क्योंकि किङ्कर है, उसे मूलवेद देखकर पड़ताल करने की न समझ ही है, और न अवकाश, और न प्रथम पांच ऋचायें जगती ही हैं, किन्तु आदिम और पञ्चम संख्या निचृज्जगती है; क्योंकि ये एकाक्षर से हीन हैं।

और न 'स्वस्ति नः' छठी ऋचा विराट् छन्द ही है। 'विराजो दिशः' यह पिङ्गल का सूत्र घटित नहीं होता। वस्तुतः यहां स्वराट् बृहती छन्द है। उसका

छन्दः, 'द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ' इति लक्षणात्। न चाप्यष्टम्यामृचि त्रिष्टुप्, द्व्यक्षरोनत्वाद् विराट् त्रिष्टुब् वर्तते।

मूलवाक्यानां विपरीतानुवादकेन नवम्यामृचि विराट्त्रिष्टुभोर्द्वयोरपि लक्षणमित्युक्तम्, तच्छन्दोज्ञानाभावादेव। अस्त्वपि वान्यथा, इह छन्दोप्रकरणवर्णनेन स्पष्टं ज्ञायते यत् श्रीकरपात्रिणः तदनुयायिनो वा न छन्दःशास्त्रज्ञानमपि सम्यक्।

यद्यपि भवता अत्र ह्यप्रासङ्गिकी विनियोगचर्चा आरब्धा, तद्विषयकयाथार्थ्यज्ञानं परमावश्यकं, तज्ज्ञानाभाव एव विनियोगेऽपि महाननर्थ आपादितः स्वेच्छाचारिभिः। तद्यथा सायणाचार्यादिभिः समेषां मन्त्राणां केवलं यज्ञप्रक्रियोपयोगो मतः, इति सर्वानर्थमूलम्, आध्यात्मिक्यादीनामृचां वैयर्थ्यापत्तेः। नहि त एव विनियोगा विनिश्चिताः, अन्येऽपि कल्पनीया मन्त्रार्थदर्शनानुरूपाः।

महर्षिदयानन्दो ब्राह्मणश्रौतसूत्रोक्तश्रौतयज्ञप्रक्रियां प्रामाणिकीमपि मन्वानो भूमिकायाः प्रतिज्ञाविषय आह—"परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राऽग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद् यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र (वेदभाष्ये) विस्तरतो न

लक्षण है 'द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ' इति। और आठवीं ऋचा में त्रिष्टुप् नहीं, प्रत्युत विराट् त्रिष्टुप् है; क्योंकि इसमें दो अक्षर कम हैं।

मूलवाक्यों के विपरीत अनुवादक ने नवमी ऋचा में विराट् और त्रिष्टुप् दोनों लक्षण उपलब्ध होने से दोनों छन्द हैं, यह कहा है, वस्तुतः इन्हें छन्दोज्ञान नहीं है। अस्तु, यहां गणना-प्रकार की भिन्नता से मान भी लिया जाये, तथापि इतना तो स्पष्ट है कि श्री करपात्री और उनके अनुयायियों को छन्दोज्ञान नहीं है।

पृ० ११६६, पं० १४—"सा नु प्रकृतौ विकृतौ च वैश्वदेवशास्त्रस्य परिधानीया" अर्थात् 'अन्तिम का विनियोग प्रकृति और विकृति में वैश्वदेव शास्त्र के लिये है' यह कहकर अपने अप्रासङ्गिक विनियोग-चर्चा प्रारम्भ कर दी। इस विनियोग-ज्ञान के अभाव में ही अयुक्त विनियोग के द्वारा श्री सायणाचार्य आदि ने समस्त मन्त्रों को केवल यज्ञप्रक्रियापरक मानकर सारे अनर्थों का मूल आरोपित कर दिया। इस प्रकार आध्यात्मिक ऋचाओं की व्यर्थता आ पड़ी। अतः वे ही सभी रूढिगत विनियोग मान्य नहीं है, अन्य भी मन्त्रों के अर्थदर्शनानुरूप मान्य हैं।

महर्षि दयानन्द ने ब्राह्मण, श्रौतसूत्रोक्त यज्ञप्रक्रिया को प्रामाणिक भी मानते हुए भूमिका के 'प्रतिज्ञाविषय' में कहा है कि—"कर्मकाण्ड में लाये हुए वेदमन्त्रों में से जहां-जहां जो-जो कर्म अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त करना चाहिये,

https://t.me/DharmaSansar

वर्णयिष्यते, कुतः ? कर्मानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मण-पूर्वमीमांसा-श्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात् । पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति । तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति ।"

एतेन स्पष्टं युक्तिविरुद्धो वेदप्रमाणप्रतिकूलो मन्त्रार्थविपरीतो विनियोगोऽग्राह्योऽप्रमाणत्वात् । तथा हि –

(क) अश्वमेधादौ राजमहिषी-अश्वसमागमादि युक्तिविरुद्धमिति ।

(ख) यज्ञे पशुवधादिप्रतिपादनं वेदविपरीतम् । 'गां मा हिंसीरदितिम्' (यजु० १३।४३) इत्यादिविरोधात् ।

(ग) 'स्वधिते मैनं हिंसीः' (यजु० ६।१५) इत्याद्युच्चार्य पशुवधो मन्त्रार्थविपरीतः ।

उनका वर्णन यहां नहीं किया गया है, क्योंकि उनके अनुष्ठानों का यथार्थ विनियोग ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा, श्रौत, गृह्यसूत्रादिकों में कहा गया है । उसी को फिर कहने से पिसे हुए को पीसने के समान अल्पज्ञ पुरुषों के लेख के समान दोष इस भाष्य में भी आ सकता है । इसलिये जो-जो वेदानुकूल युक्ति-प्रमाणसिद्ध है, उसी को मानना योग्य है, अयुक्त को नहीं ।"

इससे स्पष्ट है कि युक्तिविरुद्ध, वेदप्रमाणप्रतिकूल, मन्त्रार्थ के विपरीत विनियोग अप्रमाण होने से अग्राह्य है ।

(क) अश्वमेध में राजमहिषी-अश्वसमागमादि युक्तिविरुद्ध है ।

(ख) यज्ञ में पशुवधादि वेदविपरीत हैं 'गां मा हिंसीः' इत्यादि प्रमाण होने से ।

(ग) 'स्वधिते मैनं हिंसीः' इत्यादि उच्चारण कर पशुवध का विधान है । 'उत्तानं पशुं कृत्वाऽग्रेण नाभिं तृणं निदधात्योषध इति' (कात्या० ६।६।८) नाभेरग्रेऽङ्गुलचतुष्टये तृणं निदध्यादिति सूत्रार्थः । तथा (का० ६।६।९) 'स्वधित इति प्रज्ञातयाऽभिनिधाय छिन्त्वेति' प्रज्ञातया प्रस्तुतया कृतचिह्नया घृताक्तयाऽभिधारयामि निधाय तृणोपर्यसिधारां निधाय तूष्णीमुदक्त्वचं छिन्द्यादिति सूत्रार्थः' । अर्थात् पशु की नाभि के आगे चार अङ्गुल पर तिनका रखे और कृतचिह्न घी में सनी हुई तलवार की धारा से तिनकें के ऊपर असिधारा रखकर मौन होकर तिनके सहित उदर की त्वचा को काट दे ।

कहिये, क्या यह कात्यायनप्रोक्त कसाईखाने की प्रक्रिया वेदमन्त्र के सर्वथा विपरीत नहीं है । सही अर्थ महर्षिकृत देखिये ।

(घ) मन्त्रार्थाननुसृतो विनियोगो यथा 'दधिक्राव्णोऽकारिषम्' (यजु० २३।३२) इत्यत्र दधिक्रावन् शब्दस्याश्ववाचकत्वाद् दध्नः प्राशने विनियोगः सर्वथाऽयुक्तो वर्तते ।

(ङ) 'शन्नो देवीः' इत्यस्य शनैश्चरे, 'पृथिव्या अयं' इत्यस्य मङ्गले, 'उद्बुध्यस्वाग्ने' इत्यस्य बुधे विनियोजनं सर्वथा अबुद्धिमतामेव मतमाभाति ।

ब्राह्मणग्रन्थेषु श्रौतसूत्रेषु चापि काल्पनिकविनियोगाः प्राय उपलभ्यन्ते ।

यथा मैत्रायणी-संहितायाम् (३।२।४)—

"निवेशनः सङ्गमनो वसूनाम्' इत्यैन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते ।"

अत्र अभिधानवृत्त्यभावेऽपि ऐन्द्र्या ऋचा गार्हपत्याग्नेरुपस्थानं विहितम् । इन्द्रमुख्यार्थं परित्यज्य गौणकल्पनैवाश्रिता । अत एव शाबरभाष्येऽपि—"गुणसंयोगाद् गौणमिदमभिधानं भविष्यति । भवति हि गुणादप्यभिधानम् । यथा सिंहो देवदत्तः, अग्निर्माणवकः । एवमिहाप्यनिन्द्रे गार्हपत्ये इन्द्रशब्दो भविष्यति" । अतो महाशय ! भवता विनियोगविषयिकी रूढिग्रस्ता भावना परिहातव्या ।

एकस्यैव मन्त्रस्य प्रक्रियाभेदादपरगृह्यश्रौतकर्मदृष्ट्या च भिन्न-भिन्नकर्मसु

(घ) मन्त्र के अर्थ के प्रतिकूल विनियोग और भी देखिये । जैसे—'दधिक्राव्णो अकारिषम्' (यजु० २३।३२) इस मन्त्र में दधिक्रावन् शब्द का अश्व अर्थ करने से दधि-प्राशन का विनियोग सर्वथा अयुक्त हो जाता है ।

(ङ) 'शन्नो देवी०' इसका शनैश्चर में, 'पृथिव्या अयम्' इसका मङ्गल में, 'उद्बुध्यस्वाग्ने' इसका बुध में (पूजन में) विनियोग सर्वथा बुद्धिशून्यों का ही किया हुआ है ।

यत्र-तत्र ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में भी काल्पनिक विनियोग मिलते हैं । जैसे – मैत्रायणी (३।२।४) मे 'निवेशनः' इस ऐन्द्री ऋचा से गार्हपत्याग्नि का उपस्थान करते हैं ।

यहां पर अभिधावृत्ति के अभाव में भी ऐन्द्री ऋचा से गार्हपत्याग्नि का उपस्थान विहित है । इन्द्र मुख्यार्थ को छोड़ गौण कल्पना ही आश्रित है । इसीलिये शाबरभाष्य में भी लिखा है कि 'संयोग से यह गौण अभिधान है, क्योंकि गुण से तो अभिधान होता ही है । जैसे देवदत्त सिंह है, माणवक अग्नि है । इस प्रकार यहां पर इन्द्ररहित गार्हपत्य में इन्द्र शब्द होगा ।' इसलिये महाशय करपात्रीजी ! आपके द्वारा विनियोगविषयक रूढिग्रस्त भावना त्याज्य है ।

एक ही मन्त्र का प्रक्रियाभेद से और गृह्य या श्रौतकर्म की दृष्टि से भिन्न-

https://t.me/DharmaSamrat

विनियोगो भवितुं शक्यते, अत एव न ब्राह्मणेषु समस्तवेदार्थो व्याख्यात इति मन्तव्यम्। एकस्यैव मन्त्रस्य 'समञ्जन्तु विश्वे देवाः' (ऋ० १०।८५।४७) इत्यस्य पारस्करे वरवधूसम्मुखीकरणे विनियोगः, आश्वलायने गृह्यसूत्रे एतन्मन्त्रस्य वरस्य दधिप्राशने वधूवरयोर्हृदयस्य स्पर्शने वा विनियोगः। (पारस्करगृह्य० १।४।१४, आश्वलायन० १।८।९)।

मन्त्रार्थदृष्ट्या विनियोगकर्ता प्रधानरूपेण यमर्थं कामयमानो देवतारूपे प्रयुङ्क्ते, स एवोचितो विनियोगः।

न विनियोगा अनादयोऽपरिवर्तनीयाश्च। श्रौतसूत्रेषु गृहकर्मणां नैव विनियोगो, गृह्यसूत्रेषु च न श्रौतविनियोगः। द्वे कर्मणी पृथक् पृथक् स्तः, परन्तु एकस्यैव मन्त्रस्य श्रौतेऽन्यकर्मणि गृह्ये वा अन्यकर्मणि विनियोगो विद्यते। यथा 'नवो नवो भवति जायमानः' (ऋ० १०।८५।१९) इति मन्त्रस्य चन्द्रमः-सम्बन्धिनि चरौ अस्ति; अन्यत्र च राजयक्ष्मगृहीतेष्टौ विनियोगो वर्तते।

'परं मृत्यो अनु परेहि पन्थाम्' (ऋ० १०।१८।१) अयं मन्त्रो मानवगृह्यसूत्रे पुत्रकामेष्टौ विनियुक्तः, यजुषः (३५।७) अयमेव मन्त्रः कात्यायनेन पितृमेधे विनियोजितः। किमधिकं गृह्यसूत्रेषु यो मन्त्रोऽन्त्येष्टौ विनियुक्तः, स एव श्रौतसूत्रेष्वन्यकर्मणि, अन्यच्च 'शन्नो देवीः' इति तै० ब्रा० १२।६।८।५ प्रवर्गभिषक्-

---

भिन्न कर्मों में विनियोग हो सकता है। इसीलिये ब्राह्मणों में समग्र वेदार्थ व्याख्यात हो चुका, ऐसा मानना भूल है। जैसे एक ही मन्त्र 'समञ्जन्तु विश्वे देवाः' (ऋ० १०।८५।४७) का पारस्कर में वरवधूसम्मुखीकरण में विनियोग है तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र में इस मन्त्र का वर का दधिप्राशन व वधूवर के हृदयस्पर्शन में विनियोग है। (पारस्कर १।४।१४ आश्वलायन १।८।९)।

निष्कर्ष यह है कि मन्त्रार्थदृष्टि से विनियोगकर्ता प्रधानरूप से जिस अर्थ की कामना करता हुआ देवतारूप में प्रयुक्त करता है, वही उचित विनियोग है।

विनियोग अनादि और अपरिवर्तनीय नहीं है। श्रौतसूत्रों में गृह्यकर्मसम्बन्धी विनियोग नहीं है और न गृह्यसूत्रों में श्रौतविनियोग है। दोनों ही कर्म पृथक्-पृथक् हैं, परन्तु एक ही मन्त्र का श्रौत में अन्य कर्म में और अन्यत्र गृह्यकर्म में विनियोग है। जैसे 'नवो नवो भवति' चन्द्रमासम्बन्धी चरु में है, परन्तु मानव-श्रौतसूत्र में इसी मन्त्र का राजयक्ष्मगृहीत इष्टि में है।

'पर मृत्यो०' (ऋ० १०।१८।१) इस मन्त्र का मानवगृह्यसूत्र में पुत्रकामेष्टि में तथा यजुर्वेद (३५।७) का यही मन्त्र कात्यायन (१।४।७) के अनुसार पितृमेध में विनियुक्त है। और अधिक क्या कहें गृह्यसूत्रों में जो मन्त्र अन्त्येष्टि में विनियुक्त है, वही श्रौतसूत्रों में अन्यकर्मों में विनियुक्त है। इसी प्रकार 'शन्नो देवीः'

प्रकरणेऽस्ति। स एव तैत्तिरीयारण्यके (४।४२।४) उपासनाप्रकरणे विनियुक्तः। एवमयमेव कौशिकगृह्यसूत्रे (९।७) टिप्पण्या शान्त्युदकारम्भे, लाट्यायने श्रौतसूत्रे चायं स्पर्शे विनियुक्तः, शाङ्ख्यायने (४।२७।१९) चायं वक्षसि जलप्रोक्षणे विनियुक्तः।

दिव्यदृष्टिर्महर्षिदयानन्दसरस्वती 'तमीशानम्' इति मन्त्रे ब्रह्मविद्यामूलं विशिनष्टि, परमयं करपात्री महोदयो गड्डरिकाप्रवाहमनुसरन् तस्मिन् मन्त्रे वेदे बहुदेवतावादित्वधारणया पूर्वार्धे इन्द्रदेवताम् उत्तरार्धे पूषेति देवतां मन्वानो यथा च वेदविरोधिभिरनेकहिन्दुभिर्यवनैश्च वेदे चैकेश्वरवादाभावदर्शनपूर्वं बहुदेववादित्वं साधितम्, तथैवायं साधयति।

पृ० ११६७, अनु० १—"तमीशानमित्यनया तु पूर्वार्धेनेन्द्रः स्तूयते, उत्तरार्धे च पूषा, तथैव मन्त्राक्षरानुगमात्" इत्युक्तिस्तु असङ्गता। न चास्मिन् मन्त्रार्द्धे पूर्वम् इन्द्र इति मन्त्राक्षरैरनुगम्यते। न च 'इदि' इति धातुना परमैश्वर्यार्थकत्वाद् 'ईशान' इत्यस्य ग्रहणेनेन्द्रो ग्राह्यः, एतादृग्वाच्यताऽभावात्। 'धियं जिन्वम्' इति सिद्धौ टीकाकारस्य अमागम-प्रतिपादनं तु प्रामादिकमेव। वस्तुतस्त्वत्र केवले-

---

तै० ब्रा० में प्रवर्गभिषक्प्रकरण में है। वही तैत्तिरीयारण्यक में उपासनाप्रकरण में विनियुक्त है। कौशिकगृह्यसूत्र की टिप्पणी से शान्त्युदकारम्भ में और लाट्यायन श्रौतसूत्र में जल-स्पर्श में, शाङ्ख्यायन में यही वक्ष पर जलप्रोक्षण में विनियुक्त है।

दिव्यदृष्टि महर्षि दयानन्द सरस्वती 'तमीशानम्' इस मन्त्र में ब्रह्मविद्या का मूल प्रस्तुत कर रहे हैं, परन्तु यह करपात्रीजी भेड़चाल का अनुसरण करते हुए इस मन्त्र तथा वेद में बहुदेवतावाद की धारणा से, पूर्वार्ध में इन्द्र देवता और उत्तरार्ध में पूषा देवता को मान रहे हैं। जैसाकि वेदविरोधी अनेक हिन्दू और यवनों ने वेद में एकेश्वरवाद का अभाव-दर्शन करते हुए बहुदेवतावाद की सिद्धि की है, उसी प्रकार यहां व अन्यत्र भी अनेक देवताओं को ईश्वर के समान ही उपास्य बताने की चेष्टा की है।

पृ० ११६७, अनु० १—"तमीशानम्' इस ऋचा में पूर्वार्ध से इन्द्र और उत्तरार्ध से पूषा की स्तुति की गई है, क्योंकि ऐसा करने से ही मन्त्राक्षरों की सङ्गति बैठती है" यह कथन असङ्गत है। इस मन्त्र में पूर्वार्ध में मन्त्राक्षरों से इन्द्र का अर्थ निकालना कपोलकल्पित है। यह नहीं कहा जा सकता कि 'इदि' धातु ऐश्वर्यार्थक है, अतः ईशान का अर्थ इन्द्र होगा, क्योंकि कहीं भी ऐसी वाच्यता नहीं है। 'धियं जिन्वम्' इसकी सिद्धि में टीकाकार का अम् आगम लिखना असङ्गत है। वस्तुतः

https://t.me/Dharmasastra

श्वरस्योपासनया सर्वविद्यासिद्धिसम्भवः प्रतिपाद्यते ।

यदुच्यते पृ० ११६७, पं० ६ –"'ईशान' इत्यस्य जगत्कर्तेति न प्रामाणिकोऽर्थः, ईशतेरैश्वर्यार्थकत्वात्" इति कथनं त्वयुक्तम्, नवनवार्थोन्मेषशालिप्रतिभाया अभावत्वात्, रूढिग्रस्तमतित्वाच्च । ऐश्वर्यस्य जगत्कर्तृत्वादावेवोपयुज्यमानत्वात् ।

यदा हि 'जगतस्तस्थुषः पतिः' इत्यनेन पतित्वं स्वामित्वं वा सिध्यति, पुनस्ताच्छील्यार्थे चानश्-विधानेन स्वयमुत्पादितस्य जगतः चेतनस्य स्थावरस्य ईशानोऽसौ परमेश्वर इत्यर्थो ध्वन्यते । अत एव ईशानः सर्वजगत्कर्ता सन्नेवेति स्वामिनो विशिष्टार्थो योगाभ्यासनिर्मलमतिसमुद्भाव्य इति भावः । तथा च सायणाचार्योऽपि 'इन्द्रमीशानमोजसा' (ऋ० १।११।८) मन्त्रे ईशानम् इत्यस्यार्थं 'जगतो नियामकम्' इति कुरुते । को भेदो जगतः कर्तरि तन्नियामके च ? भवतस्तु मतिः केवलं सर्वत्र सत्यस्य महर्षेर्वचनस्य खण्डन एव प्रवृत्तिशीला ।

ऋषिस्तु जगत्कर्त्तेत्येव बुद्धिसङ्गतमर्थं कृत्वा तोषमाप, परं तव मान्यमही-

---

इस मन्त्र में केवल ईश्वर की उपासना से सब विद्याओं की सिद्धि सम्भव बताई गई है।

पृ० ११६७, पं० ६—"यहां पर ईशान पद का अर्थ जगत्कर्ता किसी भी प्रकार से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि ईश धातु का अर्थ ऐश्वर्य है" यह कथन अयुक्त है, क्योंकि वैसा अर्थ करने में नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा की आवश्यकता है, जिसका आपमें सर्वथा अभाव है, क्योंकि आपकी मति रूढिग्रस्त है। ऐश्वर्य तो जगद्रचना आदि में ही उपयुक्त हो सकता है।

विचार कीजिये, जब कि 'जगतस्तस्थुषः पतिः' इन पदों से चराचर जगत् के उस प्रभु का स्वामित्व सिद्ध है, फिर ताच्छील्यार्थ में 'ईश' धातु से चानश् विधान के द्वारा स्वयमुत्पादित जगत् (चेतन) का और स्थावर को 'ईशितुं शील यस्य सः' ईशन स्वभाववाला वह परमेश्वर, यह अर्थ स्वतः ध्वनित हो जाता है। इस प्रकार ईशान अर्थात् कृत्य उसका ऐश्वर्य जगदुत्पादन में ही है, बिना जगत् उत्पन्न किये उसका ऐश्वर्य कैसे हो सकता है, उत्पन्न होने पर ही दोनों प्रकार का स्वामित्व हो सकता है, यह विशिष्टार्थ योगाभ्यास-निर्मल मति द्वारा ही समुद्भाव्य है। सायण ने भी 'इन्द्रमीशानमोजसा०' इस मन्त्र में 'ईशानम्' का अर्थ जगत् का नियामक लिखा। यदि जगत् उत्पन्न नहीं किया, तो जगत् का नियामक कैसे हो गया ? आपकी बुद्धि तो सत्यार्थ को भी कुतर्क से खण्डन करने में प्रवृत्त है।

ऋषि ने तो जगत्कर्त्ता यह बुद्धिसंगत अर्थ कर सन्तोष किया, पर आपके

धरस्तु ईशानं जगदवस्थारूपमेव प्रापयति । यजुषि ३१।२ मन्त्रभाष्येऽयं 'स्वीयां कारणावस्थामतिक्रम्य परिदृश्यमानां जगदवस्थां प्राप्नोति' इति लिखति ।

यदुक्तं "धीभिः सत्कर्मभिः प्रीणयितव्यम्" इत्यर्थः स्यात्, न तु बुद्धेस्तृप्तिकर्ता तन्न, तत्र निघण्टौ (३।९) धीशब्दस्य प्रज्ञानामस्वपि पठितत्वात् । धियं प्रीणयतीति तमित्यर्थवत्वात् प्रीणनस्य च तृप्तिकरणार्थत्वाद् बुद्धेस्तृप्तिकर्त्तेत्यर्थः सर्वथा सुसङ्गतः प्रामाणिकश्च । वस्तुतस्तु प्रीणनमित्यस्य तृप्तिकरणमित्येवार्थः । न चासौ परमेश्वरोऽतृप्तोऽप्रसन्नो वा भवति कदापि, निःसर्गात् पूर्णतृप्तत्वात् प्रसन्नत्वाच्च ।

प्रीणनं तोषणादिकं च जीवस्यापेक्ष्यते न तु परमात्मनः । यथा खलु पौराणिकानां मूर्त्यर्चकानां भगवतः प्रसादनं तदधीनं भवति, नासौ पक्षस्तर्कनिकषे शुद्धः । 'प्रीञ्' धातोर्ल्युटि 'पूञ्प्रीञोः' इति नुमागमे प्रीणनमिति ।

अत एव 'हमें अपने सत्कर्मों से स्वामी परमेश्वर को प्रसन्न करना चाहिये' इति 'इस कार्य को सम्पन्न करते समय पूषा को कोई भी शत्रु किसी प्रकार का

मान्य महीधर ने तो यजुः ३१।२ के भाष्य में उस ईशान को यदि दृश्यमान जगदवस्था में ही बदल दिया और इस बदल से आनेवाले परिणामी होनेवाले दोष का असफल निराकरण 'मोक्ष का ईशान' कहकर किया है।

आपका कहना है कि 'सत्कर्मों से प्रसन्न करना चाहिये' यह अर्थ होगा न कि 'बुद्धेस्तृप्तिकर्ता' अर्थात् बुद्धि और आनन्द से तृप्ति करनेवाला, यह अर्थ आपकी अल्पबुद्धि की बात है, क्योंकि निघण्टु (३।९) मे धी शब्द प्रज्ञानामों में भी पढ़ा गया है, अतः ऋष्यर्थ सर्वथा सङ्गत और प्रामाणिक है। दूसरे 'स्वामी को अपने सत्कर्मों से प्रसन्न करना चाहिये' यह अर्थ सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि हमारे सत्कर्मों के अधीन परमात्मा की प्रसन्नता नहीं है। वह तो पूर्णानन्द और सर्वदानन्दमय है। अतः वही बुद्धि अर्थात् प्रज्ञा और आनन्द की वर्षा कर हमें तृप्त करता है। केवल ऋषिकृत अर्थ ही सुतर्कसङ्गत है।

प्रीणन या तोषणादि जीव के लिये ही अपेक्षित है न कि परमात्मा के लिये। जैसी कि मूर्तिपूजक पौराणिक के अधीन भगवान् की प्रसन्नता रहती है। यह पक्ष तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। प्रीञ् धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर 'पूञ्प्रीञोः' इससे नुम् का आगम होने पर 'प्रीणनम्' बनता है, अतः करपात्रीजी का अर्थ प्रमादग्रस्त है। 'इस कार्य को सम्पन्न करते समय पूषा को कोई भी शत्रु किसी प्रकार का नुकसान न पहुंचा सके' यह अर्थ प्रामादिक है। ऐसी बुद्धि तो अद्भुतालय में ही रक्षणीय थी, भला आपका माना हुआ 'पूषा देवता' जो धनवर्धक और धनरक्षक आपके द्वारा बताया गया, यह इतना दुर्बल और डरपोक है कि

https://t.me/Dharmasastra

नुकसान न पहुंचा सके' इति चार्थः प्रामादिक एव, सर्वशक्तिमतस्तस्य ज्ञानेरसम्भवात्।

इह निर्वर्णयन्तु प्राज्ञा यदयं काञ्चिदपि देवतां पूषाऽभिधां चेतनां मत्वा सर्वं कल्पयते। परमत्र तु परमेश्वरस्यैव 'पूषा' शब्दोऽपि विशेषणमेव, वेदप्रादुर्भावात् पूर्वं पदरूढत्वाभावात्।

नहि देवविशेषपर एव तस्माद् यौगिक एवार्थो ग्राह्यो न रूढः। ननु अग्निवाय्विन्द्र-पूषादिनामानि क्व जडपदार्थानां क्व च ईश्वरस्येति प्रश्नसमाधानम्—यथा—

'प्रकरणाच्च' (वेदा० १।२।१) यत्र हि अध्यात्म-प्रकरणं भवेत् तत्र अग्न्यादिनामानि ईश्वरवाचकान्येव। श्रीकरपात्र-सदृशमतीनां विषयमाधायैव ऐतरेयालोचनकारः सनातनधर्मधौरेयः श्रीसत्यव्रतसामश्रमिमहाभागोऽभणत्—"तथा पौराणिकदेवताकारादिकल्पना नूनं वेदार्थग्रहणाऽसमर्थमतीनां स्त्रीशूद्रद्विजबन्धुरूपाणां बालधियां धर्मोपदेशादिसाहाय्यायैव,·····तथैव विद्यापरपर्यायवेदाध्ययनहीना बालाः कल्पितदेवस्वरूपादौ विश्वसन्त्येव, परं न तथा देवस्वरूप-प्रत्यक्षदर्शिनो विद्वांसो वैदिकाः" (पृ० १७०) इति।

पृ० ११६७, अनु० २—"परीत्य भूतानि' इति मन्त्रव्याख्यानमपि विशृङ्-

---

कोई उसे नुकसान पहुंचा सकता है। महानुभाव आपकी बुद्धि पर मुझे तरस आ रहा है, इसलिये ऋषि का अर्थ ही श्रेष्ठ है। पोषक परमात्मा सर्वशक्तिमान् है, उसकी किसी के द्वारा हानि करना असम्भव है।

यह 'पूषा' शब्द किसी आत्मदेवतापरक नहीं है। यौगिक 'पुष्णातीति पूषा परमेश्वरः' यही अर्थ ग्राह्य है न कि रूढ।

शङ्का—पर यहां पर प्रश्न उठता है कि अग्नि, वायु, इन्द्र, पूषा आदि नाम कहां पर जड़ पदार्थों के होंगे और कहां पर ईश्वरवाचक होंगे, यह कैसे ज्ञात हो?

समा०—जहां पर अध्यात्मप्रकरण होगा वहां पर अग्नि आदि नाम ईश्वरवाचक ही हैं। श्री करपात्री जैसे मतवालों को लक्ष्य करके सामश्रमीजी ने कहा है कि "उस प्रकार पौराणिक देवताओं की आकारादि कल्पना निश्चय ही वेदार्थग्रहण में असमर्थ बुद्धिवालों स्त्री, शूद्र, द्विज-बन्धुरूप बालबुद्धियों की सहायता के लिये ही है,····· उसी प्रकार विद्या अपर पर्याय वेदाध्ययनहीन बालक कल्पित देव के स्वरूपादि में अन्धविश्वास ही करते हैं, परन्तु देव के स्वरूप को प्रत्यक्ष देखनेवाले वैदिक विद्वान् वैसा विश्वास नहीं करते।"

पृ० ११६७, अनु० २—पू० प०—"परीत्य भूतानि' इस मन्त्र के व्याख्यान

खलमेव, मूलमन्त्रे 'यः परमेश्वरः' इत्यंशस्याभावात्। 'यः स्वसामर्थ्यस्यात्मास्ति' इति व्याख्यानमपि निर्मूलमेव। 'यश्च प्रथमानि' इत्यपि मूलमन्त्रबहिर्भूतमेव। सूक्ष्मभूतानीत्यपि निराधारम्। तं परमानन्दस्वरूपं मोक्षाख्यं परमेश्वरं यो जीवः स्व-सामर्थ्येनान्तःकरणेनेत्यंशोऽपि निर्मूलोऽक्षरासंस्पर्श्येव, पूर्वापरसङ्गति-विधुरं चेदं व्याख्यानम्" इति समग्रं वचनम् अविचाररमणीयम्।

तथा च विपश्चितो विमृशन्तु, अयं करपात्र आक्षिपति यन्न ब्रह्मविद्याप्रकरणमिह मन्त्रेषु, परं स्वयमेव च विलिखति—'यद्यप्यत्र ब्रह्मणः सर्वकारणस्य प्रतिपादनमस्ति' (११६८, पं० ४)। तस्मादुपरिष्टादाक्षेपो धराशायितामेतः। यदि ब्रह्मणः प्रतिपादनं तत्सङ्गतो भूमिकार्थः। पुनरिदं कथनं "तथापि यत्रैते मन्त्रा विनियुक्तास्तत्प्रधाना एव न स्वप्रधाना अन्यशेषत्वात्।" पुनः कथं मन्त्रार्थविपरीतो विनियोगो मान्यः स्यात्? "अग्न्याविष्वोतप्रोतत्वेनोपास्योऽभिधीयते" अयं कीदृशो बुद्धिव्यामोहस्ते परस्परविरोधात्मकः? अत्रैषा निर्मलोक्तिश्चरितार्था—

पौर्वापर्यविरोधोक्तिं पक्षाघातरुजाहतः।
यो न वेत्त्यबुधः किं स वेदभाष्यं विधास्यति॥

में भी विशृङ्खलता ही प्रतीत होती है। क्योंकि मूलमन्त्र में कहीं भी परमेश्वर की चर्चा नहीं की गई है। 'जो अपने भी सामर्थ्य का आत्मा है' यह व्याख्या भी निर्मूल है। 'यश्च प्रथमानि' ये शब्द भी मूलमन्त्र के बाहर के हैं। सूक्ष्म भूतों की चर्चा करना भी निराधार है। 'उस आनन्दस्वरूप परमेश्वर को जो जीवात्मा अपने सामर्थ्य अर्थात् मन से यथावत् जानता है' यह अंश भी निर्मूल है। मूल के अक्षरों से इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।"

उ प०—उक्त कथन पर विद्वान् विचार करें। 'यहां पर ब्रह्मविद्या का मूल नहीं है' ऐसा वेदार्थपरिजातकर्त्ता कहता है। पर आश्चर्य है, वह साथ में यह भी कहता है कि 'यद्यपि यहां पर सब के कारण ब्रह्म का प्रतिपादन है' (११६८, पं० ४)। फिर यह कहना कि 'तो भी जहां पर इन मन्त्रों का विनियोग हुआ, वहीं इनका प्रधान प्रतिपाद्य है, ब्रह्म का नहीं, क्योंकि इनका विनियोग अन्य के लिये ही हुआ है' यह ऊपर विवेचन किया है। फिर मन्त्रार्थ के विरोध में विनियोग अप्रतिष्ठित रहेगा। इसी प्रकार आगे भी आपने स्वयं कहा है कि 'विज्ञानात्मा के रूप में अग्नि प्रभृति में ओतप्रोत परमात्मा की यहां उपासना बताई गई है' यह परस्पर विरोधी कथन तो व्यामोहित बुद्धि से ही किया जा सकता है। यहां यह निर्मलोक्ति चरितार्थ है—

पक्षाघातरोग से पीड़ित जो जन अपनी पौर्वापर्य विरोधोक्ति पर भी ध्यान

https://t.me/Dharmadarshan

कर्मादिभिः कर्तुराक्षेपः कर्तुं शक्यत एवेति वाक्यज्ञा विदन्ति। ततः 'यः परमेश्वरः' इति कर्तुरुल्लेखः प्रतिभावतां समादर्त्तव्यः। 'इदानीं सर्वेषु भूतेषु अहमस्मि सर्वाणि भूतानि मयि सन्ति' इत्यादौ कल्पितपाठस्तत्रोभाभ्याम् उव्वट-महीधराभ्याम्।

ऋतस्य सत्यस्य (यजुर्वेदभाष्ये) तद्रूपसामर्थ्यस्य आत्मा ईश्वरोऽस्ति। प्रथमानि सूक्ष्मभूतानि जनयतीति प्रथमजः स अमृतरूपस्तस्य आत्मना स्व-सामर्थ्येन अन्तःकरणेन उपगतो भूत्वा जीव आभिमुख्येन सुखमनुभवति।

अत्र भूतानि इत्यनेन स्थूलभूतानि प्रथमपदेन सूक्ष्मभूतानि कल्प्यन्ते तथा न काप्यसङ्गतिः। प्रथमानि इति पदं न मूलमन्त्र-बहिर्भूतम्। 'आत्मना आत्मानम् अभिसंविवेश' इत्यस्यैव 'परमानन्दस्वरूपं मोक्षाख्यं परमेश्वरं यो जीवः (आत्मना) स्वसामर्थ्येनान्तःकरणेन' इति स्पष्टं व्याख्यातम्, न चाक्षरास्पर्शी अर्थोऽयम् इति अल्पज्ञोऽपि ज्ञातुं प्रभवति।

नहीं देता है, क्या वह अबुध वेदभाष्य कर सकेगा ?

प्र०—यह लिखना कि मूलमन्त्र में 'यः परमेश्वरः' नहीं है, फिर अर्थ में कहां से आ गया ?

उ०—महोदय! कभी तो बुद्धि से काम लेना चाहिये। सभी वाक्य-रचनाविद् जानते हैं कि 'परीत्य भूतानि' आदि कर्म के साथ प्रयुक्त 'परीत्य परितो व्याप्य' इस अपूरणार्थक क्रिया द्वारा कर्ता परमेश्वरार्थ का आक्षेप कर लेना प्रतिभावालों द्वारा स्वाभाविक ही है। आपने महीधर और उव्वट की महिमा का बहुत गान किया है, वहां पर आपको नहीं सूझा कि उन्होंने 'इस समय सब भूतों में मैं हूं और सब भूत मुझमें हैं' - इत्यादि कपोलकल्पना कैसे कर ली ?

महर्षि ने ऋत अर्थात् सत्य, तद्रूप सामर्थ्य का परमेश्वर को आत्मा यजु-र्भाष्य में भी लिखा है। तथा जो प्रथम सूक्ष्मभूत को उत्पन्न करता है, वही प्रथमज अमृतरूप है। उसकी अपने सामर्थ्य अन्तःकरण से जीवात्मा भी अभिमुखता प्राप्त कर सुख का अनुभव करता है।

यहां पर 'भूतानि' पद से स्थूलभूतार्थ तथा प्रथमपद से सूक्ष्मभूतार्थ गहीत है, तब कोई भी असङ्गति नहीं है। 'आत्मना आत्मानमभिसंविवेश' से सीधा ही अर्थ निकलता है कि जीवात्मा परमात्मा को स्वान्तःकरण से प्राप्त कर सुख भोगता है। इस अर्थ को अक्षर से असंस्पृष्ट कहना ठीक नहीं। हां, आपकी बुद्धि की पहुंच से तो अवश्य असंस्पृष्ट है, यह बात यहां पर अल्पज्ञाता भी समझ लेगा।

पृ० ११६८, पं० ११—यदुच्यते—"अग्न्यादिरूपकं ब्रह्म' नह्येवंविधं ब्रह्म सामाजिकैरभ्युपेयते, प्रकृतितत्कार्यस्य भोक्तॄणां च परमात्मनो भिन्नत्वाभ्युप-गमेनाग्न्यादिभिर्ब्रह्मणः सामानाधिकरण्यानुपपत्तेः" इति, तन्न, तत्त्वानवबोधात्।

तथाहि ऋषिभाष्ये द्रष्टव्यम्। अत्रापि चेष्टते आख्यातुं लेखकोऽयं यद् भौतिकाग्निरयं चादित्योऽन्ये चापि पदार्था ब्रह्म एव, अर्थादेतेषामष्टानामपि भौतिकपदार्थानामभिन्ननिमित्तोपादानं ब्रह्मैव, प्रकृतेरुपादानभूताया नित्याया नित्यस्य च जीवस्य न पृथग् अस्तित्वमस्ति। एवंविधनवीनाद्वैतवादिनां मतखण्डने बहुपल्लवितं यथास्थानम्, तत्रैवावेक्षणीयम्। केचिद् विवेचकाः सायणमहीधरो-व्वटकृतार्थे विधेयाऽविमर्शदोषमपि मन्यन्ते।

आर्यसामाजिकैरेवंविधं ब्रह्माभिन्ननिमित्तोपादानरूपं नाङ्गीक्रियते, सर्वत्र वेदेषु उपादानभूतप्रकृतेः पृथक् स्वीकारात्। एवमद्वैतवादिनमेनं कश्चित् पृच्छेद् यदियं सृष्टिः परमात्मना कस्मै प्रयोजनाय समुत्पादिता, यदि जीवस्य नित्या सत्ता नाऽविद्यत। एतस्मादपि पश्चात् प्रागुद्भवतीयं पृच्छा, यदीश्वरेण जीवोत्पत्तिरेव किमभिप्रेत्य विहिता ? किं जीव-जगतोरुत्पत्तिः स्वार्थाय व्यधीयत ? एतस्य

पृ० ११६८, पं० ११—यह कहना कि "अग्नि आदित्यादि रूप ब्रह्म आर्य-समाजियों को मान्य नहीं है। उनके मत में प्रकृति, प्राकृतिक कार्य और भोक्ता को परमात्मा से भिन्न माना गया है, अतः अग्नि प्रभृति के साथ ब्रह्म का सामा-नाधिकरण्य इनके यहां नहीं बन सकता" यह कथन तो आपका तत्त्व को न समझने के कारण है।

यजुर्वेद में (३२।१) ऋषिभाष्य देखिये, वहां पर 'अग्निर्जीवस्वरूप आदित्यः प्रलयसमये सर्वषामादाता वायुर्बलवान् सर्वधाता आदयोऽर्थाः समापद्यन्त एव' लिखा है। परन्तु यहां तो इस लेखक की चेष्टा यह कहने की है कि ये भौतिक अग्नि, आदित्य तथा अन्य पदार्थ ब्रह्म ही हैं, अर्थात् उक्त अग्नि भौतिकपदार्थों का अभिन्ननिमित्तोपादन कारण ब्रह्म है, उपादानभूत नित्य प्रकृति और नित्य जीव का पृथक् अनादि अस्तित्व यह नहीं मानता। इस प्रकार के नवीन अद्वैतवादियों के मतखण्डन में यथास्थान बहुत लिखा जा चुका है, वहीं पर देखिये। कुछ विवेचक सायण और महीधरकृत अर्थों में विधेयाऽविमर्श दोष भी मानते हैं।

वस्तुतः आर्य-समाजियों को आपका अभिन्ननिमित्तोपादान ब्रह्म स्वीकृत नहीं है, क्योंकि वेदों में सर्वत्र उपादानभूत प्रकृति को स्वीकृत किया गया है। इस प्रकार इस अद्वैतवादी से कोई पूछे कि बताइये यह सृष्टि परमात्मा ने किसके लिये रची है, यदि जीव की नित्य सत्ता नहीं है, तो ? इससे भी पूर्व एक प्रश्न और उठता है कि जीव की उत्पत्ति मानते हैं अर्थात् मायोपाधि से जीव बना तो

https://t.me/DharmaSamrat

दोषस्य निराकरणाय जीवस्योपादानभूत-प्रधानस्य च सत्ता पूर्वतोऽवश्यमङ्गीकर्तव्या, अतो गतानुगतिकं लोकवन्नार्या मन्यते भवन्मतं ब्रह्मस्वरूपमतर्काऽसहम्।

अपि चेश्वरातिरिक्तस्यानुपस्थितेस्तदुत्पादकगुणस्य कः स्यादाधारः? तत्प्रभावश्च तस्मिन्नेव स्वे ईश्वरे स्थास्यति। न चाभाव ईश्वरक्रियाप्रभावितः सन् भावरूपतामापद्येत। तन्न तस्य क्रियाशक्तिः क्वाचित्की कादाचित्की वा भवितुमर्हति, तस्याः स्वाभाविकत्वात्, अतो भोक्ता जीवो भोग्या च प्रकृतिर्भोजयिता कर्मफलदाता च परेश इति त्रैतवाद एव निर्विवादो राद्धान्त आर्याणाम्। 'स नो बन्धुर्जनिता' आदिमन्त्रेषु तद् ब्रह्म निमित्तकारणत्वेनैव प्रतिपादितमिति नाऽस्ति शङ्का-क्लेशलेशोऽपि। विशृङ्खलं व्याख्यानमिति वचस्तु असूयावृत्तिदूषितजिह्वा-जृम्भता-जन्योच्छृङ्खलताया एव निदर्शनम्।

'महद् यक्षम्' (अथर्व० १०।४।३८) इति मन्त्रस्य महर्षिव्याख्यानं नवलप्रतिभाप्रभवं समं सङ्गतम्। यदुक्तं "परिपूर्णमित्यध्याहारो न करणीयः, यतो हि स्वतः परिपूर्णत्वं सिध्यति" श्रीमन्, यत् स्वतो ध्वन्यते तस्यैवार्थस्यानेनाध्याहारे-

---

बताइये, यह जीवोत्पत्ति किस अभिप्राय से उसने की? क्या जीव और जगत् की उत्पत्ति ईश्वर ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये की?

इन शङ्काओं के समाधानार्थ जीव और प्रकृति की शाश्वत सत्ता माननी पड़ेगी। इसलिये बुद्धिमान् आर्यलोग भेड़चाल में पड़कर बुद्धिविरुद्ध आपके नवीन वेदान्तमत को स्वीकार नहीं करते। क्योंकि ये तर्कबुद्धि से काम लेते हैं और आपको अक्ल से जन्म-जात वैर है।

दूसरे यह भी बताइये, यदि ईश्वर से अतिरिक्त कोई वस्तु उपस्थित नहीं है, फिर उसके उत्पादक गुण का आधार क्या होगा? उसका प्रभाव तो फिर उसी ईश्वर में ही सदा स्थित रह जायेगा। यह तो आप कह नहीं सकते कि अभाव ईश्वर की क्रिया से प्रभावित होकर भावरूप को प्राप्त हो जायेगा; क्योंकि ईश्वर की क्रिया भी कहीं पर और कभी हो सकती है, ऐसा नहीं है, क्योंकि वह स्वाभाविक होती है। अतः भोक्ता जीव, भोग्य प्रकृति और भोजयिता, कर्मफलदाता परमेश्वर—यह त्रैतवाद ही आर्यों का निर्विवाद असन्दिग्ध सिद्धान्त है। 'स नो बन्धु.' आदि मन्त्रों में वह ब्रह्म कारणत्वेन प्रतिपादित है, अतः कोई शङ्का अवशिष्ट नहीं रहती। ऋषि के व्याख्यान को विशृङ्खल कहना असूयावृत्तिदूषित जिह्वा की कुटिलताजन्य उच्छृङ्खलता का ही द्योतक है।

'महद् यक्षम्' (अथर्व० १०।४।३८) इस मन्त्र का व्याख्यान महर्षि की नवल प्रतिभा से प्रतिपादित है, अतः समस्त सुसङ्गत है। यहां पर यह कहना कि 'परिपूर्ण' इसका अध्याहार नहीं कहना चाहिये, क्योंकि स्वतः परिपूर्णत्व सिद्ध है,

णात्र विशदीकरणं भवति। "आकाङ्क्षा समापकपदानुसन्धानं युक्तिप्राप्तस्य पदान्तरमुदाहृत्य व्यक्तीकरणमेवाध्याहारः" इति कल्पद्रुमः।

इयं व्याख्या न भवतो मनोरमा यतो हि भवन्मनस्तु ब्रह्मणोऽप्यादिभूतसनातनदेवे कस्मिंश्चिन्नूतने कल्पिते रमते। यच्चाह—"अस्मिन् स्कम्भसूक्ते सनातनतमो ब्रह्मणोऽप्याद्यभूतो देव उक्तः" इति। ब्रह्म यच्चादिकारणं तस्यापि किं कारणमन्यत् सम्भवेदिति विचार्य विपश्चिद्भिः। महोदय! सम्प्रति तु कूपमण्डूकतामपहाय ऋषिवर्त्मानुसर्त्तव्यम्। अथ ब्रह्मशब्दार्थाः प्रकृतिर्जीवः परमात्मा च ग्राह्याः, ततो ज्येष्ठः परमात्मा। यच्चाह—'कथंभूता देवा अग्न्यादयः?' इति।

"मोक्षप्रापकं ज्ञानं ब्रह्मणि व्याप्नुवाना अश्नुवते" इत्यस्य हिन्द्यां 'ब्रह्म में व्याप्त होकर रहते हैं' इत्यभिप्रायकं मूलमप्यशुद्धम्। नहि देवानां व्याप्यं ब्रह्म ते च व्यापकाः, प्रत्युत विपर्य्ययेणावगन्तव्यम्। अथवा विशेषणे आप्नुवन्त इति

श्रीमन्! जब स्वतः ध्वनित है, तभी तो परिपूर्ण शब्द द्वारा यही विषय विशदीकृत व पूर्ण किया गया है। 'आकाङ्क्षा समापक पद का अनुसन्धान युक्ति-प्राप्त के पदान्तर का उदाहरण देकर व्यक्त करना ही अध्याहार कहाता है' (कल्पद्रुम)।

आगे आप लिखते हैं कि 'महद्यक्ष' इस मन्त्र के व्याख्यान में आपका मन नहीं रमता। कारण यह है कि आपका मन इस ब्रह्म में न रमकर ब्रह्म के भी आदिभूत किसी अन्य सनातन देव में रम रहा है, जो आपका नूतन कल्पित है। जैसा कि आप कह भी रहे हैं कि 'इस सूक्त में ब्रह्म के भी आदिभूत सनातन देव का वर्णन है'। श्रीमन्! ब्रह्म आदिकारण है, उसका भी अन्य आदि कारण भला क्या होगा? क्योंकि 'मूले मूलाभावादमूलं मूलम्'। महोदय! अब तो कूपमण्डूकता को त्यागकर महर्षि के मत के अनुगामी बन जाओ।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि मूलकार अपने हिन्दीकार से सहमत है, यह स्वतः सिद्ध है। अतः आप बताइये 'व्याप्त' से क्या अर्थ समझते हैं? सम्भवतः व्यापक से व्याप्यवस्तु व्याप्त है, यही अर्थ मानते हैं। तो कृपया ११६९ पृष्ठ की प्रथम हिन्दी-पंक्ति और ११७० पृष्ठ की प्रथम हिन्दी-पंक्ति सामने रखकर विचार कीजिये। प्रथम तो लिखा है कि अग्नि आदि देवता ब्रह्म में व्याप्त हैं और आगे लिखा है कि यह सारा जगत् इसी से (ब्रह्म से) व्याप्त है। अर्थात् जगत् में व्याप्त है और देवता व्यापक, ब्रह्म व्याप्य, तथा पुनः ब्रह्म व्यापक और जगद

https://t.me/Dharmadarshan

भूमिकाकृतोऽर्थः साधीयान् ।

पृ० ११७१, पं० ७—यदुक्तम्—"तदेतदविचारितरमणीयम्, पूर्वापर-सम्बन्ध-शून्यत्वात्" इति तु सदसद्विमर्शशीलमतेरभावाद् वेदोक्तीनां गहनार्थाऽविज्ञानाद् । नहि अतपसः प्रत्यक्षी कुर्वन्ति रहस्यम् ।

त्रयोदश-काण्डीयेष्वेतेष्वनुवाकेष्वध्यात्मं प्रशिक्ष्यते प्रभुणा । सर्वज्ञान-मूलशिक्षकत्वाद् वेदानां गणनाप्रबोधने चाऽपि तात्पर्यम् इह । एकैकयोजने एकस्मिन् नवयोजनेन च दशमी संख्या जायते, तत्रापि शून्यप्रशिक्षणम्, एतग्रे च पूर्वतनी संख्या एव योजयिष्यते गणितव्यवहारे । नवबाल-प्रशिक्षणेऽयमेव विधि-विशेषेण कार्यः । इदं तीयादि-प्रत्यय-ज्ञानमपि वेदादेव व्याकरणात्मकं प्रसृतं लोके इत्यपि विज्ञेयम् ।

व्याप्य लिखा है । व्याप्य की अपेक्षा व्यापक बड़ा और सूक्ष्मतर होता है । तो निष्कर्ष यह निकला कि महत्तम देवता, महत्तर ब्रह्म और महत् जगत् हुआ । कहिये, यहां तो आपने अपनी अभिमानिनी बुद्धि और सिद्धान्त दोनों का दिवाला निकाल लिया । जबकि ब्रह्म शब्द प्रकृति, जीव और ईश्वर तीनों अर्थ देगा, तब ईश्वर सिद्ध होगा ।

पृ० ११७१, पं ७—"न द्वितीयो न तृतीयः' इत्यादि व्याख्या भी अविचारितरमणीय है, क्योंकि पूर्वापरसम्बन्ध से शून्य है ।" आपका यह कथन सदसद्-विवेकशील मति के अभाव होने के कारण तथा वेदवचनों के गहन अर्थ के न समझ सकने के कारण ही है । क्योंकि वेद के गहन रहस्य तपोविहीन पर प्रस्फुटित नहीं होते हैं ।

त्रयोदशकाण्डीय इन अनुवाकों में भगवान् अध्यात्म का प्रशिक्षण दे रहे हैं । वेद तो सर्व ज्ञानों के मूल हैं, अतः गिनती तथा पूरणार्थक प्रत्ययादि का प्रबोधन देना भी यहीं अभिप्रेत है । एक में एक जोड़ने पर और एक में नौ संख्या, जो अन्तिमाङ्क का निर्देश है, उसमें भी एक जोड़ने से दशमी संख्या बनती है । शून्य की शिक्षा भी वेद से दी गई है । इसके आगे गणित-व्यवहार में परस्पर आद्य अन्तिम संख्या में जोड़ी जाती है । तीयादि प्रत्यय-ज्ञान से व्याकरण-रचना की गई है, अतः सिद्ध है कि वेद से ही व्याकरण विद्या का प्रसार हुआ । आज गणित जानने पर इसमें नवीनता नहीं मालूम पड़ती, पर नये बालक के प्रशिक्षण में तो यही विधि काम की है ।

'न द्वितीयः' इति कथनेन ध्वन्यतेऽद्वितीयोऽसौ, अनुपम इत्यर्थः । तदपेक्षया लघुस्तु सम्भवत्येव, अर्थात् 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' ।

पं० ८—"एकपदेनैकत्वविधानसम्भवेनाऽपि द्वितीयादिनिषेधेनेकेश्वरविधान-स्यानुपयोगः" इति कथनम् ऊहाप्रतिभाऽभावाद् अविमृष्टम् ।

पं० ९—"किं चानेकेश्वराणामैकमत्येन कार्यकरणत्वे समुदायस्यैवेश्वरत्वं न प्रत्येकस्य" इति वचनं तु स्वमुखे एव चपेटिकाधानम्, सृष्टेर्विभिन्नकार्य-सम्पाद-नायानेकदेवानामीश्वररूपेण उपास्यत्वप्रतिपादनात् ।

पं० १०—यच्चोक्तं—"द्वितीयस्योपासन-निषेधोऽपि गगनकुसुमायित एव, मन्त्रे तादृक्पदाभावात्" इति तु अज्ञानव्याहृतम्, अथर्ववेदस्य सम्पूर्ण-मूलमन्त्रानव-लोकनात् । यथा हि प्रत्येकस्मिन् मन्त्रे 'य एतं देवमेकवृतं वेद' इति पाठः, एवमेकं देवं वेद जानाति विन्दते उपास्ते वेत्यर्थः । अनेकोपासनाशीलत्वाद् द्वितीयवस्तुन उपास्यत्व-निषेधः प्रत्यक्षेऽपि न बुध्यतेऽनेन । वस्तुतस्तु द्वितीयस्योपासना-विधि-

---

'न द्वितीयः' इस वचन से ध्वनित है कि वह परमात्मा अद्वितीय अनुपम है । 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' अर्थात् उससे कम तो हो सकता है, अधिक नहीं हो सकता ।

पूर्वपक्ष—'वेद में ईश्वर एक है' इस कथनमात्र से एकत्व-विधान सम्भव है, फिर द्वितीय नहीं, तृतीय नहीं, इत्यादि कथन व्यर्थ है ।

उत्तरपक्ष—यह कहना भी ऊहा और प्रतिभाहीनता का सूचक है ।

पं० ९—"अनेक ईश्वर मिलकर यदि कोई काम करते हैं, तो समुदाय में ही ईश्वर मानना पड़ेगा, प्रत्येक में नहीं" यह कथन भी तुम्हारा अपने मुंह पर चपत मारना ही है, क्योंकि सृष्टि के विभिन्न कार्यसम्पादन के लिये अनेक देवताओं को तो आप ही ईश्वररूप में उपास्य मानते हैं, हम नहीं मानते ।

पं० १० में "द्वितीय की उपासना का निषेध भी आकाश-कुसुम के समान है, मन्त्र में इसका प्रतिपादक कोई पद नहीं" यह आपका अज्ञानपूर्ण कथन है, क्योंकि आपने अथर्ववेद का सम्पूर्ण मूल मन्त्र देखा ही नहीं । जैसे प्रत्येक मन्त्र में 'जो इस एकवृत देव को जानता है' यह पाठ है । इस प्रकार 'एक देवं विन्दते लभते उपास्ते' एक ही देव को जानता है, और प्राप्त करता है व उपासना करता है, यहां प्रत्यक्ष में एक ही उपासना का तथा वेद में अन्यत्र भी एक ईश्वर का विधान है । अतः वास्तव में द्वितीय उपासना की खोज ही गगनकुसुमायित है । निरुक्त में

https://t.me/DharmaSamra

रेव गगनकुसुमायितः। सत्यं "नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति" इति।

"स सर्वस्मै विपश्यति यच्च प्राणिति यच्च न" इति अनुदधृतस्यार्थः प्रकाशितः। 'अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः' इति सूक्तिमनुसृत्य 'निगतं निश्चयेन प्राप्तं जगदस्ति' इत्यनेन इदमपि व्यज्यते यदेतेन परमात्मना व्यापकेन जगदिदं व्याप्तम् इति।

पृ० ११७१, पं० १३—यदुक्तम्—"नहि पुनरुक्त्या शब्दानामपर्यायवाचकता सम्भवति" इति तु सत्यं, परं यत्र पुनरुक्तिर्दोषो न स्यात्, परमलङ्कार एव सम्भवेत् तत्र किं पुनरुक्त्या नवार्थव्यञ्जनाऽपि केनाऽवरोत्स्यते ? एकस्याभिहितः परमात्मा एकः, द्वितीयस्यार्थो नाधिकस्ततः, तृतीयस्य अर्थो न तत्तुल्यः। अत एव वात्स्यायनमुनिरवोचत् "पुनरुक्तदोषोऽभ्यासो वेति प्रकृतम्, अनर्थकोऽभ्यासः पुनरुक्तम्, अर्थवानभ्यासोऽनुवादः"।

मालिन्याभिनन्दन-वृत्तिमक्षिकावद् भवान् कुत्सितपक्षमेवानुकल्पयते। यदि त्वदनूहशीलमत्या वेदोऽधीयेत तदा सर्वत्र पुनरुक्तिरेव मन्येत। महाशय ! तत्र

ठीक कहा है—'यह स्थाणु का अपराध नहीं है, जो कि इसे अन्धा देख नहीं पाता, प्रत्युत पुरुष का अपराध है'।

"वह अन्तर्यामीरूप में सब जड़-चेतन जगत् को देखता है" यह अर्थ अनुदधृत मन्त्रखण्ड का है। पण्डित जन तो अनुक्त का भी ऊहन कर लेते हैं। इस सूक्ति के अनुसार 'इदं निगतम्' अर्थात् यह उस व्यापक परमात्मा से निश्चितरूप में प्राप्त अर्थात् व्याप्त है।

पृ० ११७२, पं० १३—"एक शब्द की पुनरुक्ति से शब्दों की अपर्य्यायवाचकता अर्थात् अर्थ में भेद नहीं हो जाता" यह आपका कथन सत्य है, पर श्रीमन् ! यहां पर पुनरुक्ति नहीं, यहां तो पुनर्वचन अलङ्कार है। फिर तो नये-नये अर्थों की व्यञ्जना करने से शब्दों को कोई नहीं रोक सकता। एक से अर्थ है कि परमात्मा एक है, अधिक नहीं, वैसा वह एक ही है। तीसरे एक का अर्थ होगा कि वह एक अर्थात् उसके तुल्य भी कोई नहीं है, इसलिये वात्स्यायन मुनि ने ठीक ही कहा है कि—"पुनरुक्ति दोष होता है पर अभ्यास (किसी शब्द का) दोष नहीं होता है। अर्थहीन अभ्यास पुनरुक्त कहाता है, पर अर्थवान् अभ्यास अनुवाद कहाता है।"

मालिन्य का अभिनन्दन करनेवाली मक्खी के समान आपकी बुद्धि कुत्सित मलार्थ पर ही ठहरती है। यदि आपकी अनुकल्पित बुद्धि से वेद पढ़ा जायेगा, तब तो सर्वत्र आप पुनरुक्ति ही मानेंगे। भोलेनाथ ! वहां शब्द-पुनरुक्ति प्रतीत होने

शब्दपुनरुक्तावपि नार्थपुनरुक्तिः, 'प्रयोजन-शून्यत्वे पदवाक्ययोः पुनः पुनः कथनं पुनरुक्तिदोषः'। ज्ञानपरिपूर्णानामृचां शब्द-पद-पादपुनरुक्तिरपि माधुर्यस्राविणीत्यशेषं सुधीभिरुन्नेयम्।

पृ० ११७२, अनु० १—यदुच्यते—"वस्तुतस्तु तृतीयेऽनुवाके 'स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्ठेऽविचाकशत्' इत्यारभ्य 'तस्येमे नव कोशाः' इत्यन्तैर्मन्त्रैः स परमेश्वरः सविता सन् दिवस्पृष्ठेऽविचाकशत् प्रकाशते" इत्यादि, तदपि प्रमाद-जन्यम्, नहि इमे मन्त्रास्तृतीयेऽनुवाके, प्रत्युत चतुर्थेऽनुवाके सन्ति। 'पृष्ठेऽविचाकशत्' इति चापपाठः, पृष्ठेऽवचाकशद् इति शुद्धपाठात्। न चाऽपि स परमेश्वरः सविता (सूर्यः) सन् प्रकाशते, प्रत्युत सूर्ये तेन प्रकाश उत्पादितः। वस्तुतस्तु सविता प्रेरक आकाशपृष्ठे वर्तमानोऽवचाकशत् पश्यन् आकाशगतान् सकलान् लोकान् स्वः आनन्दं सर्वदा एति, इत्यर्थो गरीयान्, स च बुधैरुन्नेयः।

पं० ५—यच्चाह "ते चाधिष्ठानाधिष्ठेयभावेन युक्ता अधिष्ठानशीर्ष-सहिता दश भवन्ति। अधिष्ठानभूतमेकं परमात्मानं निगतम्। 'न द्वितीयो न तृतीयः'

पर भी अर्थ की पुनरुक्ति नहीं है। 'पद और वाक्य के प्रयोजनशून्य होने पर पुनः कथन पुनरुक्ति हो सकता है।" पर ज्ञानगाम्भीर्य से परिपूर्ण ऋचाओं में शब्द, पद, पाद आदि की पुनरुक्ति भी विशेष गान आदि विद्याओं का प्रख्यापन करने से माधुर्यस्राविणी है, यह सब उत्तम प्रज्ञावालों द्वारा कल्पना करने योग्य है, मन्दमति द्वारा नहीं।

पृ० ११७२, अनु० १—"वस्तुतः तीसरे अनुवाक में 'स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्ठेऽविचाकशत्' यहां से लगा कर 'तस्येमे नव कोशाः' इस मन्त्र तक वह परमेश्वर ही सविता के रूप में आकाश में प्रकाशित होता है" इत्यादि कथन भी प्रामादिक है, क्योंकि ये मन्त्र तीसरे अनुवाक में नहीं, वरन् चतुर्थ अनुवाक में हैं। 'पृष्ठेऽविचाकशत्' यह अपपाठ है। शुद्ध पाठ तो 'पृष्ठेऽवचाकशत्' होना चाहिये। और न वह परमेश्वर सूर्य होकर प्रकाशित होता है, प्रत्युत इसका तात्पर्य है कि सूर्य में उसने प्रकाश प्रदान किया, जो उसकी महिमा को प्रकाशित करता है। वस्तुतः सविता अर्थात् प्रेरक वह परमेश्वर आकाश में वर्तमान सब लोकों को देखता हुआ सर्वदा आनन्द को प्राप्त करता रहता है, यही अर्थ गरीयान् है। यह विद्वान् लोग समझ सकते हैं, आपकी समझ का काम नहीं है।

पं० ५—"इनमें अधिष्ठान और अधिष्ठेयभाव है, इनमें अधिष्ठान शीर्षस्थानीय है, इसके साथ ये दश होते हैं। अधिष्ठानभूत प्राण ही परमात्मा में स्थित है, द्वितीय, तृतीय आदि नहीं। इस श्रुति में उन्हीं का निषेध किया गया है।

https://t.me/DharmaSamrat

दत्यादिभिस्तेषामेव निषेधः क्रियते। 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते' इति न्यायात्" इत्याद्यपि नवीनाद्वैतभावनाग्रस्तत्वादपध्वस्तसिद्धान्त एव।

तथाहि "अध्यासो नाम सर्वथाऽपि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति। शुक्तिका हि रजतवदवभासते।" इति शाङ्करभाष्यम्। उपोद्घातेऽपि शङ्करेण—'अध्यासो नामातस्मिंस्तद्बुद्धिरित्यवोचाम' इत्येतदनुसृत्य यदि ब्रह्मैव एकमात्रं सत्तात्मकत्वेन न तद्भिन्नमन्यत्, तदा अन्यस्यान्यधर्मावभासता कथं सङ्गच्छेत? रज्ज्वां सर्पभ्रान्तौ शुक्तौ रजतभ्रान्तौ वा उभयत्र। द्वयोरपि सत्ताऽनिवार्यरूपेण तिष्ठति।'

इह शङ्कराचार्यः प्राह—'अयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासः'। अन्यत्र च 'अस्यानर्थ-हेतोः प्रहाणाय आत्मकैत्व-प्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते' एवं परस्पर-विरोधोक्तिस्तु चिन्त्यैव। प्रहाणे सति कथङ्कारमनादित्वमनन्तत्वं नैसर्गिकत्वं वा स्यादध्यासस्य। नहि सर्वकालं रज्ज्वामहिभ्रान्तिर्न वा शुक्तौ रजत-

---

'अध्यारोप और अपवाद के द्वारा ही निष्प्रपञ्च ब्रह्म को प्रपञ्चमय बना दिया जाता है' यह न्याय यहां लागू होता है" यह सब करपात्रीजी का कथन नवीन अद्वैत भावना से ग्रस्त होने के कारण वैदिक-सिद्धान्त से दूर है, अतः सुधियों द्वारा मान्य नहीं है।

अब इस पर विचार किया जा रहा है कि "अध्यास सदा अन्य का अन्य धर्मावभास होने का नाम है, इसका कभी व्यभिचार नहीं होता। सीप रजत (चांदी) के समान अवभासित होती है" यह शंकराचार्य का भी कथन है। उपोद्घात में शङ्कर ने कहा है कि अध्यास उसे कहते हैं कि जो वस्तु वह (अन्य) नहीं है, परन्तु उसमें उस अन्य वस्तु की बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। यह अनुसरण कर यदि ब्रह्म ही एकमात्र सत्तारूप में है और उससे भिन्न अन्य नहीं है, तो अन्य में अन्य धर्मावभास किस प्रकार हो सकेगा? रस्सी में सर्प की भ्रान्ति होने पर और सीप में चांदी की भ्रान्ति होने पर दोनों ही उदाहरणों में चारों अर्थात् रस्सी और सांप की सत्ता का तथा सीप और चांदी की सत्ता का अनिवार्यरूप से होना आवश्यक है।

इस विषय पर शङ्कराचार्य कहते हैं कि 'यह अध्यास अनादि, अनन्त और नैसर्गिक है'। अन्यत्र कहते हैं कि 'इस अध्यास के अनर्थ हेतु के प्रहाण (नाश) के लिये और आत्मा के एकत्व की प्राप्ति के लिये सारे वेदान्तों का आरम्भ किया जाता है'। इस प्रकार की परस्पर विरोधोक्ति चिन्तनीय है। उसके नाश होने पर भला, अध्यास का अनादित्व, अनन्तत्व व नैसर्गिकत्व कैसे हो सकता है? सर्वकाल तो रस्सी में सांप की भ्रान्ति तो रहती नहीं और न सीप में रजतभ्रान्ति

भ्रान्तिः। अन्यथा तदपवादाऽसम्भवः। एवमधिकजिज्ञासुभिः कल्पद्रुमस्य प्रथमखण्डे, विशेषजिज्ञासुभिश्च श्रद्धेयश्रीविद्यानन्दसरस्वती-स्वामिनां 'तत्त्वमसि' इति कृतिरध्येतव्या।

इति श्रीमद्बिहारीलालशास्त्रिशिष्येण श्रीयुतपण्डित-अयोध्याप्रसाद-मिश्रात्मजेन श्रीमदाचार्यविशुद्धानन्दमिश्रेण श्रीयुतनिर्मला-मिश्रा-सहधर्मिणीसहायेन विरचिते करपात्रिमतखण्डने दयानन्दीयमतमण्डने 'वेदार्थकल्पद्रुम'नामग्रन्थे 'ब्रह्मविद्या-विषयः'

॥ सम्पूर्णः ॥

रहती है। यदि सर्वकाल रहती, तो इसका अपवाद असम्भव हो जाता। इस प्रकार जो अधिक जिज्ञासु हों उन्हें 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' का प्रथम खण्ड तथा विशेष जिज्ञासुओं को श्रद्धेय स्वामी विद्यानन्द सरस्वती विरचित 'तत्त्वमसि' नामिका कृति का अध्ययन करना चाहिये।

श्रीमान् पण्डित बिहारीलालजी शास्त्री के शिष्य, श्रीयुत पण्डित
अयोध्याप्रसाद मिश्र के आत्मज, श्रीमदाचार्य विशुद्धानन्द
मिश्र द्वारा श्रीयुतनिर्मला मिश्रा सहधर्मिणी की
सहायता से विरचित करपात्रिमतखण्डन तथा
दयानन्दीय मतमण्डन करनेवाले इस
'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ
में 'ब्रह्मविद्या-विषय'
॥ सम्पूर्ण हुआ ॥

https://t.me/Dharmasamrat

अथ वेदोक्तधर्म-विषयः

सत्यव्रतेन परिदीक्षित-मानसः सन्,
श्रद्धां परां समधिगम्य च सत्यमाप्य ।
आनन्ददेन दयया परिदर्शितोऽयं,
वेदोक्तधर्मविषयः परिपालनीयः ॥१॥

यस्योपदेशमवबुध्य तु मन्त्रमुग्धः,
साध्वेष एवमवदद् ह्युतिसुन्दरोऽयम् ।
नित्याभ्यसूयनमना अपि योगिने स्युः,
तस्मै नमांसि शतशो मुनिपुङ्गवाय ॥२॥

कालेनाऽज्ञानघोरे तमसि बहुतरं गाढनिद्राशयालुम्,
दिव्यज्ञानेन सद्यो मनुजसमुदयं सम्प्रबोध्य प्रवीणः ।
'ऊह-ब्रह्म' प्रपूर्णा कृतबहुतपसा सूक्ष्मबुद्धिं दधानः,
भूयोविद्यः प्रशस्यः स जयति नितरां दिव्यदर्शी महर्षिः ॥३॥

इहानवद्यविद्या विदाङ्कुर्वन्तु यत् करपात्रमहोदयः सायणमहीधरानुचरः

सत्यव्रत के द्वारा परिदीक्षित-मानस होकर, उत्कृष्ट श्रद्धा को अधिष्ठित कर और सत्य को प्राप्त कर के आनन्दप्रदायक महर्षि दयानन्द ने परम दया करके यह वेदोक्त-धर्म-विषय बताया है, जिसका प्रत्येक मनुष्य को परिपालन करना चाहिये ॥१॥

जिसके उपदेश को समझ कर और मन्त्रमुग्ध होकर नित्य अभ्यसूयक, इस खण्डनपरक वेदार्थपारिजातकर्ता को भी 'उपदेशोऽतिसुन्दरः' (पृ० ११७३, पं० १०) 'यह उपदेश अति सुन्दर है' यह विवश होकर कहना पड़ा है, उस योगीश्वर मुनि-पुङ्गव दयानन्द के लिये शतशः प्रणाम है ॥२॥

चिरकाल से अज्ञान के घोर अन्धकार में अधिक प्रगाढ निद्रा में सोये हुए मनुष्यों के समुदाय को शीघ्र ही दिव्य वैदिक ज्ञान के द्वारा सम्प्रबोधित करके 'ऊह ब्रह्म' से परिपूर्ण, प्रचुर तपस्या के द्वारा सूक्ष्म-बुद्धि को धारण करनेवाले प्रवीण, भूयोविद्य, प्रशंसनीय, दिव्यदर्शी महर्षि दयानन्द का सर्वत्र जय-जयकार हो रहा है ॥३॥

अब प्रशस्त विद्वान् समझें कि यह करपात्र महोदय सायण, महीधर आदि

सर्वत्र ऋषिदयानन्दकृतमन्त्रार्थान् आक्षिपति, यतो हि नायं यास्काचार्यादिप्राच्य-वेदार्थशैल्या परिचितः, अथवा सन्नपि असूयक उपेक्षते । तत्रैवं प्रस्तूयते—यन्नास्त्यत्र शङ्कालेशोऽपि यत् सायणाचार्यो बहुश्रुतः सर्वतन्त्रस्वतन्त्र आसीत्, तत्काल-दर्शनकर्मकाण्डयोर्गभीरज्ञानमासीत्तस्य, परन्तु तत्कालपौराणिककथा मतमतान्तर-सूत्रग्रन्थाश्च तद्विद्वत्तां भ्रान्तावपातयन्, फलतश्च स याज्ञिकपौराणिकधारणा-नुसारं वेदानचालयत् । पौराणिकान् याज्ञिकांश्च वेदानुगामिनो विधातुं न तत्-सामर्थ्यमजायत, अतस्तत्पाण्डित्यं वेदभक्तान् वेदवास्तविकतत्त्वं प्रापयितुं नाक्ष-मत ।

इयमेव च दशाऽभूत् महीधराचार्यस्य, सोऽपि सूत्रसम्मतयज्ञविधीनां प्रकाण्ड-पण्डितोऽभूत् । तद्भाष्यं कात्यायनसूत्रसम्मतमासीत्, परन्तु वामविधानप्रवर्तक-कात्यायनस्यानुसरणं वेदैरकारयत् । अतः कात्यायनमतनिगडिता वेदा अभूवन् । स्वतःप्रमाणभूतवेदानां काऽपरेतो दुरवस्था कल्पयितव्या स्यात् । निदर्शने 'वाचं ते शुन्धामि' इति (यजु० ६।१४) व्याख्याने चरित्रशब्दस्य आचरणपर्यायस्य 'पादान्'

के अनुचरभूत सर्वत्र ही ऋषि दयानन्द के लिये मन्त्रार्थों पर आक्षेप करते हैं, उसका कारण यह है कि यह महर्षि यास्क की प्राच्य वेदार्थ करने की शैली से अनभिज्ञ हैं, अथवा कदाचित् परिचित भी हों तो गुणों में दोष ढूंढने की वृत्ति के कारण उसकी उपेक्षा करते हैं । उस विषय में यह कथन प्रस्तुत किया जा रहा है—इसमें हमें तनिक भी शङ्का नहीं है कि सायणाचार्य बहुश्रुत सर्वतन्त्रस्वतन्त्र थे । उन्हें तात्कालिक दर्शन और कर्मकाण्ड का ज्ञान भी था, परन्तु तत्काल की पौराणिक कथाओं, मतमतान्तर और सूत्रग्रन्थों ने उनकी विद्वत्ता को भ्रान्ति में डाल दिया । परिणाम यह हुआ कि उन्होंने याज्ञिक पौराणिक धारणा के अनुसार वेदों को चलाया । पौराणिक और उस समय के याज्ञिकों को वेदानुगामी बनाने की उनकी सामर्थ्य न थी । अतः उनका पाण्डित्य वेदभक्तों को वेद के वास्तविक तत्त्व तक पहुंचाने में भी अक्षम रहा ।

यही दशा आचार्य महीधर की भी थी, वे भी सूत्रसम्मत यज्ञविधियों के पण्डित थे । उनका भाष्य कात्यायन-सूत्रसम्मत हुआ, परन्तु वाममार्गविधानप्रवर्तक कात्यायन का अनुसरण इन्होंने वेदों के द्वारा कराया, परिणामतः कात्यायन-मत की बेड़ियां वेदों के पैरों में डाल दी गईं । स्वतःप्रमाणभूत वेदों की कला की इससे अधिक और दुर्दशा क्या की जा सकती थी । उदाहरण के रूप में यजुर्वेद (६।१४) के 'वाचं ते शुन्धामि' इस मन्त्र के व्याख्यान में आचरण-पर्यायवाची

https://t.me/DharmaSamrat

इत्यनर्थं व्यधात्। शिष्टं तत्रैव निर्वर्ण्यताम्।

महर्षिदयानन्द उभयविरोधे वेदान् ईश्वरीयज्ञानत्वेन स्वतःप्रमाणत्वेन च असाधयत्। मीमांसायज्ञसूत्राणि स्मृतयश्च वेदविपरीता यास्ताः समा अपि ऋषिवरेणाऽनेन बहिर्निःसारिताः। परमश्रद्धालुर्वेदेष्वयमृषिः सायणादिभाष्यकृतार्थेषु न सन्तोषानुभूतिमावहत, अतो वैज्ञानिकालङ्कारिकगहनार्थपूर्णान् तदर्थान् समाधौ प्रत्यक्षीकृतवान्। ऋषिश्रमेण निघण्टुनिरुक्तादि-दण्डमाथ-निःश्रेणयो वेदप्रासादमधिगन्तुं परिष्कृता अभवन्। अगणितकण्टकितगुल्मझाटिका दुष्प्रवेश्यास्तर्ककुठारेण कर्त्तिताश्च। सङ्कीर्णं दुर्गमं च पन्थानं प्रशस्तं सुगमं च संव्यधात्, एतन्महत् कार्यं कृतवान् महर्षिः।

वेदोक्तधर्मविषये समुदाहृतोऽत्र,
आरण्यकोपनिषदामिह दर्शितोऽपि।
मन्त्रानुशंसनप्रमाणसमुच्चयोऽयं,
तेनाखिलश्रुतिसमर्पितजीवितेन ॥

पृ० ११७३, पं० १०—यदाह—"यद्यप्ययमुपदेशोऽतिसुन्दरस्तथापि नायं मन्त्रस्यार्थो भवति। सर्वैः सर्वोपकारः कर्तव्यः, धर्मेण परस्परं रक्षन्तु, इत्याद्युपदेशो नायुक्तस्तथापि नोक्तमन्त्रार्थत्वेन वर्णयितुं शक्यः, मन्त्राक्षराननुगमात्। तथाहि नास्मिन् मन्त्रे केनचिदपि शब्देन धर्मश्चर्च्यते, न वात्र धर्मस्य लक्षणं

चरित्र शब्द का 'पैर' यह अर्थ कर डाला। शेष वहीं देखिये।

महर्षि दयानन्द ने उक्त दोनों के विपरीत वेदों को ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण स्वतःप्रमाण सिद्ध किया। मीमांसा और जो स्मृतियां वेदविपरीत थीं, उन सबको अर्धचन्द्र (धक्का) देकर प्रामाणिकता से बाहर निकाल दिया। वेदों में परम श्रद्धालु इस ऋषि ने सायणादि भाष्यकारों के अर्थों पर सन्तोष न किया, अतः वैज्ञानिक और आलङ्कारिक गहन अर्थों से परिपूर्ण मन्त्रों के अर्थों का समाधि में साक्षात्कार किया। ऋषि के श्रम से निघण्टु, निरुक्त आदि के सरल मार्ग व सीढ़ियां वेद के प्रासाद पर पहुंचने के लिये परिष्कृत हुईं। इस मार्ग में अगणित कण्टकित गुल्म और झाड़ियां दुष्प्रवेश्य थीं, उन्हें तीक्ष्ण तर्क-कुठार से ऋषि ने काटा। सङ्कीर्ण और दुर्गम मार्ग को प्रशस्त तथा सुगम बनाया। महर्षि ने इतना महान् कार्य किया।

पृ० ११७३, पं० १०—आक्षेप—"यद्यपि यह उपदेश अति सुन्दर है, तथापि यह मन्त्र का अर्थ नहीं हो सकता। सबको सबका उपकार करना चाहिये, धर्म से परस्पर रक्षा कर, इत्यादि उपदेश उपयुक्त नहीं है। इस मन्त्र में कोई धर्म की चर्चा नहीं है, न यहां धर्म का लक्षण दीखता है। पक्षपातरहित, न्याय्य, सत्या-

दृश्यते। पक्षपातरहितो, न्याय्यः, सत्याचरणयुक्तो धर्म इत्यंशस्य दूरतोऽपि बोधकः कश्चन शब्दो मन्त्रे नोपलभ्यते" इत्याद्याक्षेपस्तु 'सुन्दरमणिमयभवनेऽन्विष्यत्येव पिपीलिका रन्ध्रम्' इत्युक्तिमनुरुध्य रूढि-कीलक-निबद्धमतिं स्वीयां नायं पारिजातकृन् नवनवोन्मेषशालिनीं विधातुकामो दृश्यते, इदं हि जाड्यं तथाविधोपासनाफलम्।

सम्प्रत्युत्तरमधीयताम्—मन्त्रेऽस्मिन् 'सङ्गच्छध्वम्' इति सकर्मकक्रियायाः स्वभावतः कर्माक्षिप्तं भवति। उत्तमव्यापकार्थको, यस्य च चोदना 'वेदद्वारा' भवति स तु केवलो धर्म एव। स च धर्मः पक्षपातशून्यो न्याय्यः सत्य एव निर्विवादः। भवान् यद् वदति नैते शब्दा वेदे, तदा महोदय! भवताऽपि न स्वस्कन्धोपरि अलाबुकं रक्षित्वा प्रत्युत नवनवोन्मेषि प्रतिभासम्पन्नं शिर आधायैव पारिजातकर्त्रा वेदभाष्यविचारः कर्तव्य आसीत्। इह धर्मसङ्गमनपरिणामोऽपि सुखवर्धनदुःखविनाशरूपो दर्शितः।

'भज्' धातोर्घञि (अष्टा० ३।३।१९) कर्मणि भज्यते सेव्यते इति भागः सिध्यति। यं च सर्वे संजानाना ज्ञानवन्तो देवा विद्वांस उपासते, स तु सर्वशक्ति-

---

चरणयुक्त धर्म है, इस अंश का दूर से भी बोधकारक कोई शब्द मन्त्र में उपलब्ध नहीं है। 'भाग' पद का अर्थ सर्वशक्तिसम्पन्न ईश्वर कैसे किया?"

समा०—उक्त आक्षेपों से यही सिद्ध होता है कि मणियों के बने सुन्दर भवन में चींटी छेद खोजा ही करती है। ये रूढि के खूंटे से बंधी हुई अपनी बुद्धि को नवनवोन्मेषशालिनी नहीं बनाना चाहते। ऐसा प्रतीत होता है कि यह जड़ता जड़ोपासना का ही फल है।

सम्प्रति उत्तर समझिये—मन्त्र में 'संगच्छध्वम्' क्रिया आई है। इस सकर्मक क्रिया का स्वभावतः कर्म आक्षिप्त होगा ही। उत्तम व्यापक अर्थ देनेवाला, जिसकी वेद चोदना करता है, तल्लक्षणवाला केवल 'धर्म' ही हो सकता है, और वह निश्चित ही पक्षपातरहित न्याय्य और सत्य ही है, यह भी निर्विवाद है। आप कहते हैं कि इतने शब्द वेद में नहीं, तो महाराज! कन्धों पर कद्दू रखकर नहीं सूझ सकता, इसके लिये नवनवोन्मेषिका प्रतिभावाला सिर चाहिये, तभी वेदभाष्य का इरादा आपको करना चाहिये। इस धर्म-सङ्गमन का सुपरिणाम सुखवर्धन तथा दुःख का विनाश निश्चित है।

भज् धातु से कर्म में घञ् प्रत्यय (अष्टा० ३।३।१९) होकर जो सेवन किया जाये, वह 'भाग' हुआ और जिसकी सब ज्ञानवान् देवलोग उपासना करते हैं वह

https://t.me/DharmeSamraj

मानीश्वरो धर्मो वाऽपि। अथवा भगः सेवनीयः स एव भागस्तथा 'भग एव भगवानस्तु' (यजु० ३४।३८) इति प्रमाणेनर्षिकृतोऽर्थः सुसङ्गतः।

किञ्च वेदश्रवणाधिकारस्तु मनुष्यमात्रस्य विहितः। यथा—

(१) आथर्वणस्य ···· शेष इत्युपदिशन्ति। (आपस्त० धर्मसू० अ० ११। ख० १९)।

(२) ब्रह्म वै स्तोमानां त्रिवृत् क्षत्रं पञ्चदशो विशः सप्तदशः शौद्रो वर्ण एकविंशः। (ऐत० ब्रा० पं० ८। अ० १)।

(३) ऋ० मण्डलं १० अनु० तृतीयस्य ३४ सूक्तं यावत् 'कवष ऐलूषः' मन्त्रद्रष्टा यश्च जन्मतः शूद्रः। इदं हि ऐत० ब्राह्मणे (पं० २ अ० ३) लिखितम्।

(४) एहीति ब्राह्मणस्यागत्याद्रवेति, वैश्यस्य च राजन्यबन्धोश्चाधावेति शूद्रस्य। (शत० १।१।४।१२)।

(५) हविष्कृदाधावेति शूद्रस्य प्रथमं वाव सर्वेषाम्। (आप० श्रौतसूत्रम् १। ९)।

(६) आचान्तोदकाय गौरिति नापितस् त्रिब्रूयात्। मुञ्च गा वरुण

तो सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही है, अथवा (भगः सेवनीयः) भग ही भाग कहलायेगा। भग ही भगवान् भी कहलाता है। इस प्रकार ऋषि दयानन्द का अर्थ सुसङ्गत और प्रामाणिक है।

देखिये, मनुष्यमात्र के लिये भी वेदश्रवणाधिकार विहित है। जैसे—

(१) स्त्री और शूद्र को अथर्ववेद पढ़ना चाहिये (आप० धर्मसू० अ० ११। ख० १९)।

(२) ब्राह्मण नव, क्षत्रिय पन्द्रह, वैश्य सत्रह और शूद्र इक्कीस अग्निष्टोम करे। (ऐत० ब्रा० पं० ८। अ० १)

(३) ऋग्वेद मण्डल १० अनुवाक ३ के ३४ वें सूक्त का मन्त्रद्रष्टा ऋषि 'कवष ऐलूष' है। यह जन्मना शूद्र था। ऐसा ऐतरेयब्राह्मण पंचिका २ अध्याय ३ में लिखा है।

(४) चारों वर्ण वेदमन्त्रों से यज्ञ की हवि को शुद्ध करें। (शत० १।१।४ १२)।

(५) यज्ञ के विधान में पूर्वोक्त पृथक्-पृथक् मन्त्रों से चारों वर्ण हवि शुद्ध करें। (आप० श्रौतसूत्र, १।९)।

(६) पूर्वोक्त मन्त्र नापित को सुनावें। इससे शूद्र नाई को वेदाधिकार

पाशान्। (गोभिलीय० दि० प्र० ४।१०)।

(७) तयैवावृता निषादस्थपतिं याजयेत् (आप० श्रौ० ९।९४)। सावित्री पुरोऽनुवाक्या।

(८) फलार्थत्वात् कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात् (मी० ६।१।४-५)। तत्र शाङ्करभाष्यमपि पुष्णाति 'तस्मान् मनुष्याणामेवाधिकारः' इति।

(९) शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम् (पार० गृ० सू० का० २)।

पृ० ११७४, पं० ३—भवता च यः सायणार्थ उपन्यस्यते यत्—"हे स्तोतारः! नात्र सर्वे मानवाः सम्बोधनार्हा उपनयनादिसंस्कारवतामेव वेदाध्ययनश्रवणाद्यधिकारात्"। परमेतत् समग्रमपि तर्कासहम्, मानवमात्रस्यैतदुपदेशस्य भाजनीभूतत्वात्। अनुपवीतोऽपि पक्षपात-रहित-न्याय-सत्याचरणयुक्तधर्मग्रहणायादिष्टः।

सम्प्रति अध्ययनानध्यनविवादं परिहायोच्यते यद् ये वेदज्ञा उपदिशन्ति 'यूयं सङ्गता भवत' एष उपदेशोऽपठितवेदेभ्योऽपि मानवेभ्यः कथन्नोपयोगी, इति ब्रवीतु। वस्तुतस्तु मन्त्रस्य शिष्याचार्यसंवादे यथोपयोगस्तथा उपदेश्योपदेशकसन्दर्भे समान उपकृत्।

महर्षिणा 'सङ्गता भवत' इत्येवार्थः कृतः, परमेतदर्थे वैशिष्ट्यं पूर्णता च।

सिद्ध है। (गोभिलीय ४।१०)।

(७) पूर्व में जिस यज्ञ का प्रतिपादन किया है, वह सब निषाद (अतिशूद्र) से करावे (आप० श्रौतसूत्र, अ० ९ का० ९४)। इससे गायत्री-मन्त्र का भी शूद्र को अधिकार है।

(८) मीमांसा (अ० ६ पा० १ सू० ४-५) में आपके शाङ्कर भाष्य में मनुष्यमात्र का अधिकार कहा है।

(९) अदुष्टकर्मा शूद्र का उपनयन करना चाहिये। इससे ध्वनित है कि दुष्टकर्मा ब्राह्मणों का न करे। (पार० गृ० सू० का० २)।

पृ० ११७४, पं ३—आप 'संगच्छध्वम्' मन्त्र का सायणकृत अर्थ प्रस्तुत कर रहे हैं कि "हे स्तुति करनेवाले! यहां सभी मानव सम्बोधित नहीं हो सकते। जैसा कि स्वामीजी ने सम्बोधन किया है।" यह आपकी बात तर्क नहीं सह सकती; क्योंकि वेदोपदेश तो मानवमात्र को पात्र बनाने की दृष्टि से है। पक्षपातरहित, न्याय, सत्याचरणयुक्त धर्म के ग्रहण करने के लिए उपनयनाधिकार से बहिर्भूत भी यहां आदिष्ट है।

ऋषि दयानन्द ने कहा है कि 'सङ्गता भवत' अर्थात् इकट्ठे हो जाओ। तो

https://t.me/Dharmasamrat

तथा च, किमर्थं सङ्गता भवत ? इत्याकांक्षायां 'धर्मप्राप्त्यर्थम्' इत्यध्युत्प्रेक्षितम् । 'येन उत्तमं सुखं सर्वदा वर्धेत' इति धर्मसाधितं सुखरूपं फलमपि व्याख्यातम् ।

भवता संवदध्वमित्यर्थः 'सह वदत परस्परं विरोधं परित्यज्यैकविधमेव वाक्यं ब्रूतेति यावत्' इत्युक्तः, सोऽपि न ऋषिवाक्यानुगतः ।

अथ च नैकविधं वाक्यं भाषितुं शक्यते, तवार्थे च दोषत्रयम् । विरोधस्य परिहारस्तु सङ्गमन एव पूर्वं भाव्य आवश्यकश्च, तदा अग्रेऽपि तदन्वयः, यथा ऋषिणा व्याख्यातम् । वदने च जल्पवितण्डादि-विरुद्धवादपरित्यागस्यैव उपदेष्टुं योग्यत्वाद् ऋषिव्याख्यानं प्रशस्यतरम् । यतो हि 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताऽविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः' (न्या० १।२।१) तत्त्वार्थ-निर्णये समाश्रयणीय एव ।

स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि किस प्रयोजन के लिये ? क्योंकि 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' । प्रयोजन को बिना उद्दिष्ट किये मन्द भी प्रवृत्त नहीं होता । अतः यहां भी प्रयोजन की आकांक्षा में 'धर्म-प्राप्ति के लिये' यह उत्प्रेक्षित किया गया, और जिससे अर्थात् धर्मप्राप्ति भी किस लिए की जाये ? इस आकांक्षा की पूर्ति 'जिससे उत्तम सुख सर्वदा बढ़े' यह साध्यसुख भी व्याख्यात कर दिया ।

ऋषि ने 'संवदध्वम्' का अर्थ सङ्गत हो जाने के बाद अर्थात् परस्पर विरोध छोड़ने के अनन्तर 'संवदध्वम्' परस्पर जल्प, वितण्डा आदि विरुद्धवाद को त्याग कर प्रीति से प्रश्नोत्तर-विधान से संवाद करो, यह अर्थ किया है । जब कि आपने 'संवदध्वम्' का अर्थ किया कि परस्पर विरोध छोड़कर एक तरह की बात करो ।

अब विचारिये कि आपके अनुरूप पहला दोष तो यह है कि यह अक्षरानुगत नहीं है । दूसरा दोष यह है कि क्या कभी सम्भव है कि एक ही प्रकार का वाक्य बोलें ? इसमें बुद्धिवैभव तो कहीं प्रकट नहीं होता । तीसरा दोष है कि परस्पर विरोध छोड़ने का अर्थ तो 'संगच्छध्वम्' में आ सकता है । संगत होने का अर्थ ही 'वैर-विरोध छोड़कर इकट्ठे हो' होता है, फिर 'संवदध्वम्' से यह अर्थ निकालना सर्वथा बुद्धिविपरीत है । और यह कहना कि 'जल्प वितण्डा को छोड़कर यहां वाद कथा का विधान नहीं किया गया है' सर्वथा अनुर्वरमस्तिष्कता है; क्योंकि आपने अपने इस कथन में कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया है । वस्तुतः प्रमाणाभास तथा तर्काभास द्वारा अपने मत की सिद्धि और दूसरे के मत का खण्डन न हो, किन्तु यथार्थ प्रमाण और यथार्थ तर्क से स्वमत-स्थापन और परमत-प्रतिषेध किया जाये, वही सिद्धान्त के अविरोधी प्रतिज्ञादि अवयवसहित प्रश्नोत्तर-रूप वाक्यसमुदाय का नियम विशेष 'वाद' कहाता है, जिसकी यहां चर्चा है ।

न च स्तोतृभ्य एव कृते वेदोपदेशः, ये चानुपवीता व्रात्या अननुसृतवेद-मार्गाः, परं 'मनुष्या मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति' इत्यनुसारं विचारशीलास्तु सन्ति, तेभ्योऽप्ययमुपदेशः सर्वेभ्यः, उपदेशग्रहणानन्तरमपि तत्स्तोतृत्वसम्भवात् । वेदा हि सार्वभौमाः सार्वजनीनाश्च । 'व्यक्तवाचां समुच्चारणे' (अष्टा० १।३।४८) इत्यस्याभिप्रायस्तु मनुष्याणां सम्भूयोच्चारण एव आत्मनेपदविधाने ।

यच्च ११७३ पृष्ठे प्रथमपंक्तौ "सङ्गता भवथ" इत्यशुद्धं कृत्वा उद्धरणं तु छलाभ्युपेतम्, लोटि मध्यमपुरुषबहुवचनस्याभीष्टत्वात् ।

यच्चाह (पृ० ११७४, पं० १२) "भागशब्दस्य प्रसिद्धं हविर्भागमर्थमपहाय सर्वशक्तिमदादिलक्षण ईश्वरोऽर्थोऽप्रसिद्धोऽप्रासङ्गिकश्चेति" अनुर्वरमस्तिष्कजनकत्वान् मेषिकानुगतिकता ।

लोकप्रसिद्धार्थधीभिस्तु महीधरादिभिः 'गणानां त्वा', 'चरित्रांस्ते शुन्धामि', 'जालबद्धा मत्स्याः', 'अतप्ततनूर्न तदामोऽश्नुते', 'अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्', 'ऋषीणां प्रस्तरोऽसि' इत्यादीनामनर्था एव प्रत्यपादिषत, नैव तैर्वेदे यौगिका अर्था व्युत्पत्तिलभ्या व्यमृश्यन्त । प्रसिद्धार्थपरित्यागस्त्वत एवाऽपि

केवल स्तोताओं को ही वेद का उपदेश मानना तो इस कल्पित विनियोगाधीन किया गया है, पर विनियोग से पूर्व वह मनुष्यमात्र के लिये था । क्योंकि वेद सार्वभौम, सार्वजनीन और सार्वजनिक हैं । शिष्य और आचार्य के संवाद में 'व्यक्तवाचां समुच्चारणे' (अष्टा० १।३।४८) से आत्मनेपद का विधान करने की बात तो आपकी कल्पित अपाणिनीय है । मनुष्य के एकत्र हो उच्चारण करने में विधान होता है । खग मनुष्य नहीं, अतः 'खगाः सम्प्रवदन्ति' परस्मैपद में यह प्रयोग होता है ।

पृ० ११७३, पं० १—"सब विरोध को त्याग परस्पर सङ्गत हों" यहां पर 'सङ्गता भवत' शुद्ध प्रयोग के स्थान पर छल से अशुद्ध पाठ का प्रयोग किया है ।

यह कहना कि "देव शब्द के साथ 'भाग' शब्द के पढ़ने से 'भाग' का अर्थ 'हवि' होगा, प्रसिद्ध अर्थ के ग्रहण होने से" यह कथन ठीक नहीं । आपके द्वारा प्रसिद्ध हुए लौकिकार्थों को वेद पर हावी करने के कारण ही वेदों के अर्थ का महान् अनर्थ किया है । ऐसा करना ऊहा शक्ति का अभाव व भेड़चाल का द्योतक है ।

प्रसिद्धार्थ का स्वीकरण करनेवाली बुद्धियों से महीधर आदि ने 'गणानां त्वा', 'चरित्रांस्ते', 'जालबद्धा मत्स्याः', 'अतप्ततनूर्न तदामोऽश्नुते', 'अदो यद्दारु प्लवते', 'ऋषीणां प्रस्तरोऽसि' इत्यादि मन्त्रों के प्रसिद्धार्थ ग्रहण कर महान् अनर्थ कर दिये हैं । इन लोगों ने ऐसे स्थलों पर यौगिकव्युत्पत्तिजन्य अर्थ ग्रहण नहीं

https://t.me/Dharmasamrat

श्रेयान्, यत्ते नाम स्युर्लोके साधीयांसः, परं रूढिकीलककीलितकल्पनैर्भवादृशैस्त्व-गम्यास्तेऽर्था ये योगनिष्णातान्तःकरणमहर्षिभिर्गम्यन्ते।

एवमीश्वरो धर्मो वार्थ उपरि प्रादर्शि। परमिह यदाह—'नैवार्थोऽयम-विसंवादी' इत्यत्र इदमेव वचनं पर्याप्तम्, भवदुक्तमपि सर्वसम्मतत्वाभावेन विसंवादि, तस्मान्नैतद्वचो ग्राह्यम्। कदाचिन्महर्षिकथने पुराणपङ्ककलङ्कितमतेः कस्यचिदसम्मतिरपि स्यात्, परं तर्कबुद्धिप्रमाणसङ्गतता न कथमपि वारयितुं पार्यते भूमिकार्थे। तस्माद् अयमर्थः सङ्गच्छते न तु सायणार्थः।

पृ० ११७४—यदाह—'सङ्गच्छध्वम्' इति 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' (अष्टा० १।३।२९) इत्यकर्मके आत्मनेपदविधानान् न धर्ममिति कर्म आक्षिप्तं भविष्यतीति अज्ञानप्रलपितम्, वेदे लौकिकसूत्रनियमानां प्रतिबन्धकत्वात्। तथाहि 'व्यत्ययो बहुलम्' (३।१।८५) इति सूत्रभाष्ये—

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छन्ति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्ध्यति बाहुलकेन॥

किये। प्रसिद्धार्थ का परित्याग वैदिक स्थलों पर श्रेयस्कर है, वे अर्थ लोक में तो ठीक हैं। ये अर्थ रूढि के खूंटे से निबद्ध कल्पनाशील आप सदृशों के लिये तो अगम्य हैं, परन्तु योगजल में स्नात अन्तःकरणवाले महर्षियों के द्वारा ही ये गम्य हैं।

यह कहना कि इस तरह 'भाग' पद का धर्म अथवा ईश्वर अर्थ न तो प्रसिद्ध ही है और न यह अर्थ ग्रहण करना सर्वसम्मत है, तो आपका किया अर्थ भी सर्व-सम्मत नहीं। फिर तो आपका अर्थ आपके मुख से ही 'अग्राह्य' हो गया। महाराज! महर्षि दयानन्द का कथन पुराणपङ्क से कलङ्कित मतियों को असम्भव होते हुए भी तर्क, बुद्धि और प्रमाण से सङ्गत होकर भी ग्राह्य कैसे नहीं होगा, अर्थात् सर्वथा ग्रहण करने योग्य तथा सङ्गत है।

पृ० ११७४—यहां यह कहा जाये कि 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' (अष्टा० १।३।२९) इससे अकर्मक से ही आत्मनेपदविधान होता है, धर्म को कर्म मानकर सकर्मक होने पर आत्मनेपद नहीं हो सकता है, यह कथन अज्ञानजन्य है। प्रथम तो 'सम्' पृथक् होने पर भी वेद में 'गम्' धातु से आत्मनेपद हो ही सकता है। दूसरे पाणिनि का 'अकर्मकाच्च' इस अधिकार का लौकिक प्रतिबन्धन वेद में अनित्य है। तीसरे 'उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वति वक्तव्यम्। निरस्यति निरस्यते' में प्रदीप में लिखा है कि यहां 'अकर्मकात्' का सम्बन्ध नहीं है, जब कि यह वार्तिक 'समो गमि०' इसी सूत्र का है। अतः 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' का सिद्धान्त मान्य होगा। क्योंकि

एवं ब्रह्मचारिणमिच्छते, इच्छतीति प्राप्ते, प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति, युध्यत इति प्राप्ते आत्मनेपदपरस्मैपदव्यत्ययो जायत इति।

पृ० ११७६, पं० ४—यदाह—"सर्वेषां ज्ञानस्य गुप्तभाषणस्य समानत्वे जगद्व्यवहारविलोपापत्तेः" इह 'संवदध्वम्' इति पदस्य सायणार्थे 'परस्परं विरोधं परित्यज्यैकविधमेव वाक्यं ब्रूत' इत्यस्य सम्पुष्टिं विदधतस्ते स्पष्टः परस्परोक्ति-विरोधः प्रस्तुतः। वस्तुतस्त्वज्ञानविजृम्भितमेतत्सर्वम्।

ईश्वराद्योपदेशेन वेदेन सर्वजनकल्याणमार्गः प्रशस्यते, न च सर्वे सत्य-वादिनो धर्माचरणशीला ब्रह्मचारिणो वा भवितुं शक्नुवन्ति। अतः भवदुक्त्या सत्यभाषणधर्माचरणब्रह्मचर्यधारणोपदेशस्य 'सत्यं वद' 'धर्मं चर' इत्याद्यात्मकस्य वैयर्थ्यमेवावगन्तव्यम्। सत्यवादित्वादिसम्भवे च संसारस्योच्छित्तिरेवापद्येत त्वन्मते।

सत्यासत्याद्यन्योन्यापेक्षत्वे उपदेशस्याविधेयत्वमापतेत्। तस्मात् प्राणिनां पूर्वजन्मकर्ममूलकत्वात् स्वभावस्याविनाशित्वाद् एकरूपताऽसम्भवेऽपि शास्त्राणां

'व्यत्ययो बहुलम्' इस सूत्र के भाष्य में 'सुप्तिङ्०' इस पाठ से 'ब्रह्मचारिण-मिच्छते' प्रयोग शुद्ध मान लिया है, जबकि वहां 'इच्छति' यह प्रयोक्तव्य था। तथा 'प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति' यहां पर 'युध्यते' प्राप्त था, परन्तु पदव्यत्यय हो गया।

पृ० ११७६, पं० ४—यह कहना कि "किसी भी व्यक्ति के ज्ञान अर्थात् गुप्त भाषण की समानता में सारा व्यवहार ही लुप्त हो जायेगा"। इधर 'संवदध्वम्' इस पद का सायण के अर्थ में 'परस्पर विरोध छोड़कर एकविध ही वाक्य बोलो' इसकी सम्पुष्टि करते हुए आपने परस्पर उक्ति-विरोध ही स्पष्टतया प्रस्तुत किया है। भला बताइये, भाषण के समान और एकविध वाक्य बोलने में क्या अन्तर है? वास्तव में यह सब अज्ञानविजृम्भित है।

ईश्वर के आद्योपदेश वेद से सर्वजनकल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। सभी का सत्यवादी धर्माचरणशील या ब्रह्मचारी होना सम्भव नहीं है। अतः आपके कथनानुसार 'सत्यं वद' 'धर्मं चर' आदि उपदेश का विपर्यय ही हो जायेगा। यदि सभी सत्यवादी और ब्रह्मचारी हो जायेंगे, तो आपके मत से तो संसार का उच्छेद ही हो जायगा, पर महाराज! ऐसी बात नहीं है।

सत्य असत्य का ब्रह्मचर्य अब्रह्मचर्य का अपेक्षी शब्द होने से उपदेश की अविधेयता आ पड़ेगी। महाशय, प्राणियों के पूर्वजन्मकर्मानुबन्धी होने से तथा

https://t.me/DharmaSamrat

क्रियमाणकर्मानुष्ठानोपदेश्यत्वे समुपयोगिता एव। नैव क्वापि सङ्गतौ विप्रतिपत्तिः।

पृ० ११७६, पं० ५—यदुच्यते—"तद् यथेत्यादि राजमन्त्रिदृष्टान्तेन मन्त्रस्य सत्यज्ञानफलत्वसर्वोपकारकत्वसाधनमप्युदक्षरमेव। नहि राजा वा राजमन्त्री वा सत्यज्ञानफल एव सर्वोपकारक एव वा भवति" तदपि अनर्गलम्, मूलाभिप्रायविरोधात्। मूलं तु "राज्ञो मन्त्री सत्यासत्यविवेककर्त्तेत्यर्थः। सोऽपि सत्यज्ञानफलः सर्वोपकारकः समानस्तुल्योऽर्थाद् विरोधरहित एव भवतु" इति। अतो भूमिकायाः सर्वथा मन्त्राक्षरानुरूपोऽर्थः। यथा मन्त्रः अस्यास्तीति मन्त्री हि राज्ञः प्रसिद्धः। नैव कथ्यते स सत्यज्ञानफलकः सर्वोपकारी वा भवति। तत्र 'भवतु' इत्यनुज्ञास्यते। तदेतच्छलमेव ते।

पृ० ११७६, पं० ६—यच्चाह—"यदा बहुभिः इत्याद्यपि न विचारचारु" भवतु नामाविचारशीलस्य तथा, परं विचारशीलास्तु बहवो मिथो विविधप्रस्तावाम्

स्वभाव अविनाशी होने से एकरूपता असम्भव होने पर भी क्रियमाण कर्मानुष्ठान के उपदेश करने की उपयोगिता तो सदा बनी ही रहेगी। इस प्रकार महर्षि के भाष्य में कहीं भी असङ्गति नहीं है।

पृ० ११७६, पं०५—आक्षेप—"यहां पर राजमन्त्री के दृष्टान्त से मन्त्र की सत्यज्ञानफलता और सर्वोपकारकता सिद्ध करना भी मन्त्राक्षरों के अनुरूप नहीं है। राजा अथवा राजमन्त्री सत्यज्ञानफल अथवा सर्वोपकारक ही नहीं होता।"

समा०—यह कथन भी अनर्गल है, क्योंकि यह मूल के अभिप्राय से विपरीत कथन है। देखिये मूल—"जैसे राजा का मन्त्री सत्यासत्य-विवेक करनेवाला होता है, वह भी सत्यज्ञान फलवाला और सर्वोपकारक तुल्य अर्थात् विरोधरहित होवेगा" यहां पर सर्वथा मन्त्रानुरूप अर्थ है। जैसे मन्त्रवान् अर्थात् मन्त्री राजा का प्रसिद्ध है। यह बात तो यहां नहीं कही जा रही है कि वह सत्यज्ञानफलवाला और निश्चितरूप से सर्वोपकारी होता है, बल्कि उसे होना चाहिये। यह 'भवतु' शब्द से विधान किया गया है। लोट् को लट् लकार में प्रस्तुत करना 'भवत' को 'भवथ' वह भी अशुद्धरूप में प्रयुक्त करना तुम्हारा स्पष्ट छल है।

पृ० ११७६, पं० ६—"जब बहुत से मनुष्यों को मिलकर सन्दिग्ध पदार्थों का विचार करना है" इत्यादि कथन को सुन्दर विचार न कहना भी अविचारशीलता है, क्योंकि विचारशील तो बहुत से मिलकर ही मतों की भिन्नता समझेंगे और उनका निराकरण करेंगे। इसीलिये ऋषि पहले 'सभासदों के मतों को जानना फिर सबसे सार ग्रहण करना' लिखते हैं। इस प्रकार विचार करके सबके

श्रुत्वा विचार्य च सर्वसुहितसुभगनिष्कर्षेण मन्त्राणां सफलयन्त्येव।

पृ० ११७६, पं० ८—यदाह—"समिति' पदस्य सामाजिकनियमव्यवस्थाशुभमर्यादा वा नार्थः, निष्प्रमाणत्वात्। यद्यप्युक्तविशेषणा सामाजिकव्यवस्था शुभमर्यादा वा समादरणीयैव" इति तदत्र समालोचनीयं विवेचकैः। समितिशब्दसिद्धिर्हि 'समयन्त्यस्यां' भौवादिकमत्यर्थकादनिटः क्तिनि। सह विद्यमाना मिलितैर्वा मितिः प्रभाऽस्यामिति वा। समयनं वा भौवादिकात् सेटः क्तिचि समयनं समीयते वाऽस्याम्। आदादिकपरस्मैपदानिटो गत्यर्थकादिण्धातोर्वा। दैवादिकान्मानार्थकमाङ्धातोश्च मितिरिति मानं चाऽपि अवबोधनार्थाद् मन्धातोः। एवं समितिशब्दार्थाः 'समितिः सम्पराये स्यात् सभायां सङ्गमेऽपि च' इति मेदिनी, 'समितिर्युधि साम्ये च' इति च हेमचन्द्रः। एवं महर्षिकृतोऽर्थः सामाजिकनियमव्यवस्था शुभमर्यादा वेति सङ्गच्छते सर्वथा।

समितेस्तु पर्यायवाचका विस्तृतार्थमभिव्यञ्जयन्ति, तद्यथा—"समज्या परिषद् गोष्ठी सभासमितिसंसदः, आस्थानी क्लीबमास्थानं स्त्रीनपुंसकयोः सदः" इत्यमरः। अत्र व्यवस्थां विशदीकर्त्तुं भूमिकायां तस्याः षट् सप्त वा विशेषणानि दत्तानि। किमधिकं लिख्येतायं स्वयमेवोक्तविशेषणां व्यवस्थां समादरणीयां मनुते। एतस्याशयो यदत्रर्षय आदिकाले मन्त्रमननपूर्वकं व्यवस्थां व्याख्याञ्चक्रुः।

लिये हितकर और सुन्दर निष्कर्ष के द्वारा मन्त्रणा को सफल बनाते ही हैं।

पृ० ११७६, पं० ८—यह कहना भी कि—"समिति' पद का सामाजिक नियम-व्यवस्था वा शुभमर्यादा अर्थ नहीं हो सकता। यद्यपि भूमिका में दिये उक्त विशेषणवाली सामाजिक व्यवस्था वा शुभमर्यादा आदरणीय ही है" बुद्धिविपरीत है। अतः यहां विवेचक विचार करें कि 'समिति' शब्द की सिद्धि भ्वादिगण की इट् और अनिट् 'इ' धातु से तथा अदादिगणीय 'इण्' धातु से 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'क्तिन्' और 'क्तिच्' प्रत्यय करने पर होती है, तथा सह को 'स' भाव वा 'माङ् माने' से मिति शब्द बनता है। मान अर्थ में होने से तथा मन् (अवबोधने) धातु से भी मान शब्द की सिद्धि होने से समिति शब्द के सम्पराय, सभा सङ्गम, युद्ध, साम्य आदि अर्थ मेदिनी तथा हेमचन्द्रादि के कोषों में दिये हैं। तो इतने व्यापक अर्थोंवाला समिति शब्द महर्षिकृत अर्थ को निश्चितरूप से दे रहा है।

महर्षि के दिये पर्यायवाची शब्द इसकी अर्थसीमा को और भी बढ़ा देते हैं, अर्थात् वे सभी अर्थ 'समिति' शब्द में समाविष्ट हैं। जैसे अमरकोष में समज्या, परिषद्, गोष्ठी, सभा, संसद्, आस्थानी तथा सदः पर्याय दिये हैं, और अधिक क्या लिखें। इन्ही विशेषणों की उत्तमता पर विपक्षी भी मुग्ध है, वह इसे समादरणीय लिखता है। इसका यह आशय है कि हमारे ऋषि ही आदिकाल में मन्त्रों के मनन-

https://t.me/DharmaSamrat

एवंविधशिष्टविद्वद्विषये मनुरप्याह —

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टाः ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥१२।१०९॥

पृ० ११७६, पं० १४—यदुक्तम्—"अभिमन्त्रये इत्यस्याज्ञापयामीति कथमर्थः ?" तदपि अविमर्शनफलम् । अभिमन्त्रशब्दस्यामन्त्रणं सम्बोधनं, परामर्शनं वार्थः, ज्यायसो ज्येष्ठस्य वैतदामन्त्रणं मन्यते लोकशासनव्यवहारेऽपि शिष्टैः । आश्चर्यमेतावती बुद्धिर्भ्रष्टा लेखकस्य या 'समानं मन्त्रम्' इत्यस्य युष्मानित्यर्थं पश्यति । भूमिकामूलमपश्यन् हिन्दीकृदपि 'पश्यन्नपि न च पश्यति मुग्धः' इत्युक्तिमनुरुध्य नावलोकते । श्रीमन् ! इह 'वः' इति पदस्यैव युष्मानित्यर्थः । शिष्टं शङ्कनमल्पचिन्तनसूचकम् ।

यदाह—'समानं पदमेव मनसो धर्मत्वे व्यर्थम्' इति, तथात्वे तु सति समानं सर्वथा साधकमन्योन्यमविरुद्धस्वभावमित्यर्थकत्वात् । पूर्वपरानुभूतं यत् किमपि तत् स्मरणात्मकमेवेति 'अनुभूतवस्तुनः स्मरणं भवति नहि स्मरणस्यानुभूतिः'

पूर्वक व्यवस्थाओं को मूल मन्त्र से ही व्याख्यात करते थे । ऐसे शिष्ट विद्वानों के विषय में मनु महाराज ने भी कहा है—

जिन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य और धर्म के द्वारा साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़े हैं और जो श्रुति और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विधि व निषेध करने में समर्थ हैं, उन्हें ही शिष्ट ब्राह्मण जानना चाहिये (मनु० १२।१०९) ।

पृ० ११७६, पं० १४—यह शङ्का करना कि "अभिमन्त्रये' का 'आज्ञा करता हूँ' यह अर्थ कैसे हो गया ?" शब्दप्रयोग चिन्तनशक्ति के अभाव का द्योतक है । 'अभिमन्त्रण' शब्द के अर्थ कोश और प्रयोगों में संस्कारित करना, प्रतिष्ठित करना, आमन्त्रण, सम्बोधन, आज्ञा, परामर्श आदि अनेक अर्थ पाये जाते हैं। यह परामर्श भी ज्येष्ठ या बड़े का छोटों के प्रति शिष्ट जन लोकव्यवहार में आज्ञा ही मानते चले आ रहे हैं । लेखक की इतनी बुद्धि या स्मृति भ्रष्ट हो गई कि—'समानं मन्त्रं' का अर्थ 'युष्मान्' समझ रहा है । जब कि 'युष्मान्' अर्थक 'वः' पद इसे नहीं दीख रहा है । इनका हिन्दीकार तो 'देखते हुए भी मुग्ध नहीं देखता' इस उक्ति के अनुरूप नहीं देखता । शिष्ट सारी शङ्कायें इनके अल्पचिन्तन की सूचिका हैं ।

यह कहना भी निरर्थक है कि ये सब मन का धर्म होने पर 'समान' पद व्यर्थ हो जायेगा । महाशय ! मन के ये अर्थ होने पर ही तो समान पद की सार्थकता है कि 'समानम्' का अर्थ 'अन्योन्याविरुद्ध स्वभाव' । अनुभूत का स्मरण होता

इत्यनभीष्टा निरर्था टिप्पणी । स होश्वरः समानेन हविषो जुहोति, अर्थात् सत्यधर्मेण योजयति, तत्प्रयोजनं तु परस्परं सुखोपकार एवेति महर्षिणा व्याख्यातमनुमन्त्रम् ।

पृ० ११७७, पं० ३—"न च सर्वेषां मन्त्राणां विचाराणां गुप्तभाषणानां वा समानत्वमिष्टं, तथात्वे विश्ववैचित्र्यविलोपापत्तेः" इति कथने एतस्य शङ्का यद् विश्ववैचित्र्यविलोपो न कदाचिद् भवेदित्यस्ति धन्या मतिर्या तदर्थं परस्परविरोधबीजवपनमभीप्सितं मनुते । 'दक्षिणाप्राप्तिः समाना भवेत्' इति चिन्तायामपि कथं न विश्ववैचित्र्यविलोपापत्तिः ? समितिशब्देन सामाजिकन्यायव्यवस्था इत्यर्थः साधीयान् ।

पृ० ११७७, पं० ८—भवताऽक्षिप्तं मनसः समानत्वे तदा 'मननसाधनमन्तःकरणं चैषामेकविधमस्तु' इति कथं सम्भवति ? षोडशपंक्तौ 'ईश्वरेण तथा नियोगे कथमसत्येऽधर्मे वा प्रवृत्तिः' इति घोराज्ञानवचनम्, नियोगस्यादेशनिर्देशताद्यर्थक-

---

है, स्मृत की अनुभूति नहीं' यह कथन अनावश्यक है, क्योंकि समस्त अनुभूति स्मरणरूप में हो जाती है । वह ईश्वर सत्यधर्म से युक्त करता है । इसका प्रयोजन यही है कि मनुष्य भी सुख व उपकार में अपनी सामर्थ्य लगायें ।

पृ० ११७७, पं० ३ - "सब मन्त्र, विचार व गुप्त भाषणों की समानता मानी भी नहीं जा सकती; क्योंकि ऐसा होने पर विश्व की विचित्रता की उपपत्ति नहीं होगी" इस कथन से प्रतीत होता है कि इस लेखक को शङ्का है कि कहीं विश्व की विचित्रता समाप्त न हो जाये । धन्य है विचित्र मति को, जो चाहती है विश्ववैचित्र्य बना रहे, चाहें परस्पर विरोध के बीजों का वपन होता रहे । आप लिखते हैं, 'प्राप्ति भी समान हो पर दक्षिणा समान नहीं हो सकती' इसकी चिन्ता में भी विश्ववैचित्र्य-विलोपापत्ति बनी ही रही । 'समिति' शब्द के प्रकरणानुसार उक्तार्थ होंगे ही ।

पृ० ११७७, पं० ८—आपने मन के समानत्व में अभी-अभी आक्षेप किया था । 'मन मननसाधन अन्तःकरण समान एकविध हो' यह भी फिर कैसे सम्यक् मान लिया ? सोलहवीं पंक्ति में 'ईश्वर तो सत्यसङ्कल्पवान् है, वह यदि सब मनुष्यों को सत्यधर्म में नियुक्त करता है, तो मनुष्य की असत्य और अधर्म में प्रवृत्ति कैसे सम्भव हो सकती है' यह कथन तो घोर अज्ञान का सूचक है; क्योंकि नियुक्त नियोग का अर्थ आदेशनिर्देशन करना है । आपकी कूपमण्डूकता आपकी बुद्धि को उस घेरे से निकलने नहीं देती । अरे भाई, परमात्मा तो धर्मादेश ही करता है, पर अन्यत्र जीव कर्म-स्वातन्त्र्य में अधर्म भी कर लेता है । आपके मुख में

https://t.me/Dharmasamrat

त्वात्। रूढविचारशृङ्खलितवल्गस्य विशृङ्खलं प्रतीयते योगनिष्ठस्वतन्त्रशैमुषी-निष्यातमपि।

पृ० ११७८, अनु० २—यच्चाह—"अत्र प्रमाणम्' इति कस्मिन्नर्थे प्रमाण-मुपन्यस्तम्, मनसः साम्ये मनसि वा ?" इत्यपर्यालोचनपरिणामो ग्रन्थस्य। ऋषिणा स्पष्टमुक्तं हिन्द्याम्—"मन शब्द का अनेक बार ग्रहण करने में यह प्रयोजन है कि जिससे मन के अनेक अर्थ जाने जायें।" तव हिन्दीकार एवाह "इसमें कामः सङ्कल्पः आदि श्रुति प्रमाण है"। न मन्तुं शक्यते, तव बुद्धिस्तरो न हिन्दी-कारेणाऽपि समानः। परं भवानसूयाकीलकबद्धः, स च भवन्निबद्धः। यद्विधं मनः अस्तु, प्रार्थ्यते वा तत्तत्रापि कृत एवार्थः सङ्गच्छते।

इह शुभगुणानामिच्छा काम इति न युक्तमुच्यते भवता; परमेष एवा-भीष्टोऽर्थः युक्तश्च। काम्यत इति कामो घञि। सत्पुरुषैरेष एव काम्यते। कस्मिन्नपि प्रकरणे संदेहमात्रकरणं नैव विचिकित्सा, प्रत्युत संशयाश्रयणमपि

शृङ्खला तो लगी नहीं जो कि आप प्रति मन्त्र-भाष्य के अनन्तर उसे विशृङ्खल न कह दें। रूढि की शृङ्खला से बद्ध आपको अपने सिवा सभी विशृङ्खल प्रतीत होता है।

पृ० ११७८, अनु० २—यह कहना कि "कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा' आदि (श० १४।४।१३।९) किस विषय में प्रमाण उपस्थित किया है? मन के साम्य में या मन के विषय में ?" ऋषि दयानन्द ने हिन्दी में स्पष्ट किया है कि "मन शब्द का अनेक बार ग्रहण करने में यह प्रयोजन है कि जिससे मन के अनेक अर्थ जाने जायें"। इसके आगे आपका ही हिन्दीकार बढ़ा कर लिख रहा है—"इसमें 'कामः, सङ्कल्पः' इत्यादि श्रुति प्रमाण है"। मैं यह मानने को कभी सन्नद्ध नहीं हूं, कि आपकी समझ इस हिन्दीकार के स्तर की भी नहीं है, पर आप तो असूया के खूंटे से बंधे हैं और वह आप से।

यहां पर सब गुणों की इच्छा को ऋषि ने 'काम' माना है, जो युक्त है। उक्त मन्त्र 'समानी व आकूतिः' में 'समानमस्तु' मन समान हो, अर्थात् जसा मन परमात्मा से जीव चाहता है अथवा परमात्मा तत्तद्गुणविशिष्ट मन देता है, तो वह मन तो ऋषि-व्याख्यात ही उत्तम है, अर्थात् शुभ गुणों की इच्छा 'काम' यही अभीष्ट अर्थ है। 'काम' शब्द 'कम्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय में निष्पन्न है, जो सत्पुरुषों से चाहा जाये। शतपथ में वर्णित मन की विविधरूप में मन्त्र के अनुरूप व्याख्या की है। इच्छामात्र, काम तो सामान्य अर्थ है, पर आपने तो स्वयं ही अपने कथन के विरुद्ध लिखा है कि शाङ्कर भाष्य में 'काम' स्त्री आदि पदार्थों की अभिलाषा को कहते हैं। किसी प्रकरण में सन्देहमात्र को 'विचिकित्सा' समझना आपके ज्ञान

विनिश्चयेप्सयैव भाव्यम्।

यदत्रायं वक्ति (पृ० ११७९, पं० ५)—"संशयमात्रस्य विचिकित्सापरत्वे बाधाऽभावात्" तत्तु सूक्ष्मविवेचनाकलनाक्षमत्वमेवास्य मतेः, पर्यायवाचकत्वेऽपि अन्येषां कोशपठितशब्दानां तत्पदार्थद्योतकत्वेऽपि तस्य विशिष्टार्थज्ञापनोद्देश्य-त्वात्, भिन्नधातुनिष्पन्नत्वाच्च। संशयनिर्णययोर्मध्यवर्तिनी प्रक्रिया विचिकित्सा। संशयितपदार्थस्य शङ्कोत्थापनपूर्वकं निश्चयानुसन्धित्सैव सा। संशयमापन्नो विचि-कित्सयैव निर्णयमापद्यते, यतः संशयोच्छेद एव निर्णयो भवति। शङ्कराचार्यस्य 'विचिकित्सा संशयज्ञानम्' इत्यस्याऽप्याशय ऋषिवचः पुष्णाति। यतो न संशयस्य ज्ञानं संशयो भवति, 'किंस्विद् स्थाणुः पुरुषो वेति' इत्युभयावलम्बी विमर्शः संशयः (प्रशस्तपा० भा०)।

इच्छामात्रकामपदाभिलष्यमत्र न सम्भवति, यद्यभविष्यत् तद् धैर्यमपि अशुभगुणानामाचरणे दीर्घकालदृढताऽपि धृतिरकथयिष्यत, न तु धृष्टता। कस्य-चित् मूर्खस्य विदुषां मध्ये बुद्धिसङ्गतभाषणस्य सङ्कोचो ह्रीरेव मन्येत। अशुभ-गुणानपि शीघ्रं या धारयेत् साऽपि धीरुच्येत, तस्मान्न विपर्ययाभिप्रायः कामोऽपि

की अपूर्णता है, प्रत्युत यह संशय का आश्रय निश्चय करने की इच्छा से होना चाहिये। अन्यथा प्रत्येक में सन्देहमात्र करके छोड़ देना तो सनक हो सकती है।

पारिजातकर्ता का कथन है कि "संशयमात्र को विचिकित्सा मानने में कोई बाधा नहीं है" यह तो सूक्ष्म विवेचन के आकलन में अक्षम मति का परिणाम है। अन्य शब्दों के पर्यायवाचक होने पर भी तथा उस पदार्थ के द्योतक होने पर भी उस शब्द के विशिष्ट अर्थ बताना ही उद्दिष्ट होता है, क्योंकि वह शब्द भिन्ना-र्थक धातुओं से निष्पन्न होता है। इस प्रकार संशय और निर्णय की मध्यवर्तिनी प्रक्रिया विचिकित्सा है, जो कि संशयित पदार्थ में शङ्कोत्थानपूर्वक निश्चय करने की अनुसन्धित्सा ही है। संशयित पुरुष विचिकित्सा के द्वारा निर्णय तक पहुंचता है, क्योंकि संशयोच्छेदन ही निर्णय कहाता है। शङ्कराचार्य ने विचिकित्सा का अर्थ संशयज्ञान लिखा है, सशयज्ञान तो संशय नहीं होता, अतः इसका आशय ऋषि की पुष्टि करता है, कि संशय के होने पर उस वस्तु के ज्ञात करने की इच्छा विचिकित्सा है, जबकि उभयावलम्बी 'यह पुरुष है या ठूंठ' यह विमर्श संशय होता है।

इसी प्रकार 'धृति' अशुभ गुणों के आचरण में दृढता से डटे रहने को भी कहा जाने लगेगा। विद्वानों के बीच में कोई भी मूर्ख बुद्धिसङ्गत भाषण करने में सङ्कोच करेगा, तो वह आपकी परिभाषा में 'ह्री' कहलायेगी। अशुभ गुणों को शीघ्र धारण करनेवाली भी आपका परिभाषा में 'धी' होगी। अतः ऋषिव्याख्यान

https://t.me/Dharmadsamrat

प्रशस्तो योज्यते ।

पृ० ११८१ -"दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्" इति मन्त्रस्य ऋषिभाष्येऽयं वदति यत्—"परमेश्वरः सत्ये श्रद्धामाधातुम् असत्ये च अश्रद्धाम् आज्ञापयति, इत्यत्र आज्ञापयतीति योऽग्रेऽर्थः, स च न स्वीकार्यः । मुख्यार्थश्चायं यत् प्रजापतिः सत्यमनृतं च पृथग् अकरोदिति" ।

श्रीमन् ! मन्ये पृथग् अकरोत्, तदा कमप्यर्थं निर्धार्य अथवा निरर्थकम् ? एतत्समाधानमिह यन्मनुष्यः सत्ये श्रद्धामसत्ये चाश्रद्धामादधीत । इमं च भावं श्रद्धा शब्द एव प्रकटयति, यथा—श्रत् सत्यं दधातीति श्रद्धा ।

पृ० ११८१, अनु० २—'दृष्ट्वा रूपे' इत्यस्य भूमिकायां भाष्यं कृतं तद्विषयेऽयं प्रस्तौति—"तदपि न युक्तम्, गौणार्थाश्रयणस्यायुक्तत्वात् । त्वदुक्तव्याख्यानदृष्ट्या यदीश्वरः सर्वेषां मनुष्याणामनृतेऽश्रद्धामदधात् सत्ये धर्मे च श्रद्धामदधात्, तदा कुतो न सर्वे मनुष्या असत्येऽधर्मेऽश्रद्धावन्तः सत्ये धर्मे च श्रद्धावन्तश्च जाताः ।" महाशय ! न त्वया ध्यातं ज्ञातं वा यन्मनुष्यास्तु मननशीला एव

से भिन्न काम तो अकाम ही होगा ।

पृ० ११८१—"दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्" इस मन्त्र के भाष्य में पारिजातकर्त्ता आक्षेप करता है कि "परमेश्वर सत्य में श्रद्धा के आधान और असत्य में अश्रद्धा के आधान की आज्ञा देता है । तो आज्ञा देना तो गौण अर्थ है, उसे स्वीकार नहीं करना चाहिये । मुख्यार्थ यह है कि प्रजापति ने सत्य और अनृत को पृथक्-पृथक् कर दिया ।"

अच्छा मान लिया पृथक्-पृथक् कर दिया, तो प्रश्न स्वाभाविक है कि पृथक् करना निरर्थक है, या इसका कोई प्रयोजन भी है ? इसका समाधान यही है कि मनुष्य सत्य में श्रद्धा और असत्य में अश्रद्धा का आधान करे । वस्तुतः परमात्मा के इस नियम को 'श्रद्धा' शब्द ही प्रकट करता है । यथा—श्रत् सत्यं दधातीति श्रद्धा, अर्थात् जो सत्य को धारण करती है । वेदशास्त्रोक्त और प्रत्यक्ष आदि से प्रमाणित, परीक्षित, पक्षपातरहित, न्यायधर्म में प्रजापति ने श्रद्धा रक्खी है, अतः उसमें सभी प्रीति करें, यही अर्थ उपपन्न है ।

पृ० ११८१, अनु० २—'दृष्ट्वा रूपे' इस मन्त्र की भूमिका में भाष्य किया गया है, उस विषय में इनका कथन है कि "वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वहां गौण अर्थ का आश्रयण किया गया है । भूमिका-कथित व्याख्यान-दृष्टि से यदि ईश्वर ने सभी मनुष्यों की अनृत में श्रद्धा और सत्य में श्रद्धा नियत कर दी है, तो सब मनुष्य असत्य और अधर्म में अश्रद्धावाले होते हैं तथा सत्य और धर्म में श्रद्धावाले हो गये ।" महाशय ! आपने इस विषय पर न ध्यान ही दिया और न समझा

कथ्यन्ते, अतो ये मनुष्याः सन्ति तेषां सत्ये श्रद्धा धारितैव भवति, असत्येऽधर्मे चाऽश्रद्धा । एतत्प्रत्यक्षदर्शनं पवित्रात्मनां जायते न तु कालुष्यदूषितान्तःकरणानाम् । ये च मनुष्यशरीरधारिण एव केवलं न गुणवन्तस्ते तु मनुष्यरूपे मृगाश्चरन्ति इति ।

श्रद्धां कर्त्तुमाज्ञापयति, इत्यर्थस्तु मूढानामपि प्रेरणायै वर्तते, यत्परमात्मन आज्ञां मत्वैव ते कथमपि धर्मे श्रद्धावन्तो जायेरन्निति भावः । एतत् समाधानमिष्यन्मनुष्यः सत्ये श्रद्धामसत्ये चाश्रद्धाम् आदध्यात् । अतो भूमिकाभाषितं सर्वथा युक्तियुक्तम् ।

पृ० ११८१, पं० ८—यदाह—"तदा कुतो न सर्वे मनुष्या असत्येऽधर्मेऽश्रद्धावन्तो जाताः" इति, तदुत्तरितं यन्न परमात्मा कर्मकारयिता, तथात्वे भोक्तृधर्मस्यापि तस्यैवापत्तेः । अपरं च उव्वटमहीधरावपि "सत्ये श्रद्धामसत्येऽश्रद्धामदधात्" इत्येवार्थं व्याकुर्वाते । यदुक्तं—"नहि सर्वे सत्यानृतयोर्विविक्तं रूपं द्रष्टुं शक्नुवन्ति" इति वचनं किमक्षरमादाय लिखितम् । अस्मन्मते जीवः परमात्मनः पृथक् कर्मकरणे स्वतन्त्रः फलभोगे च परतन्त्रः । अपरं चेयं शङ्का समानेऽर्थे उव्वट-

---

ही है । सोचिये, मनुष्य कहलाने योग्य वही है, जो मननशील हो । इसलिये जो वास्तव में इस अर्थ के अनुसार मनुष्य हैं, उनको तो सत्य में श्रद्धा होती ही है और असत्य में अश्रद्धा होती है । इसका साक्षात्कार पवित्रात्माओं को होता है, कालुष्य से दूषित अन्तःकरणवालों को नहीं होता । जो केवल मनुष्य-शरीरधारी ही हैं, मननवान् नहीं, वे तो मनुष्यरूप में पशु ही हैं ।

परमेश्वर श्रद्धा करने की आज्ञा देता है, यह अर्थ तो मूढों को भी प्रेरणा दे रहा है कि वे परमात्मा की आज्ञा मानकर कैसे भी धर्म में श्रद्धावान् हो जावें । इस समाधान से मनुष्य सत्य में श्रद्धा और असत्य में अश्रद्धा करे । अतः ऋषिदयानन्दोक्त अर्थ सर्वथा युक्ति-युक्त है ।

पृ० ११८१, पं ८—"तब सभी मनुष्य सत्य में श्रद्धा और असत्य में अश्रद्धा क्यों नहीं करते" इसका उत्तर ऊपर अभी दिया गया है कि परमात्मा के कर्मकर्ता या कारयिता मानने पर उसी को कर्मफल भोगना भी पड़ जायेगा । हमारे मत में जीव कर्म करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में परतन्त्र है । दूसरे उव्वट और महीधर दोनों ही 'सत्य में श्रद्धा और असत्य में अश्रद्धा रक्खी' यह लिखते हैं, तब उन पर पहले अपना प्रश्न लागू करना चाहिये । और यह जो कहा है कि—"सभी मनुष्य सत्य और अनृत का विशदरूप समझने में असमर्थ हैं" आप बताइये,

https://t.me/DharmaGoMrat

महीधरयोः कथन्नोद्भाविता ? अहो, अन्धानुसरणस्य महतीयं पक्षपातवृत्तिर्दूषिता ।

यदुक्तं—"विशेषतश्चायं विषयो मन्त्राणां व्याख्यानावसरे निरूपयिष्यते ।" एतदधीत्य तु सहसा स्मृतिमनुधावति सूक्तिर्यद् 'बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति' । मन्त्रव्याख्यानावसरे महीधरादिभिरङ्गीकृतैव गोमांसादिप्रतिपादिकासरणिर्भवताऽप्यनुसरिष्यते तदा त्वब्रह्मण्यम् । सत्या निर्मलोक्तिरियम्—

चिन्तातापं विदधति समा वन्द्यवेदार्थशैल्यो,
रोदित्यस्त्रैरविरलमसौ सन्निरुक्तप्रणाली ।
पौराणा हा ! निगमसरणेर्दूषणे यत्नवन्तः,
यस्मात् कालात् कमलकरयोर्लेखनीमेष आधात् ॥

महीधरस्तु "रूपे रूपवती मूर्तिमती सत्यानृते दृष्ट्वा व्याकरोत्" इति लिखितवान् । भवता 'भूतिमती' इत्यपपाठो विहितः । तत्र ब्रवीतु सत्यानृतयोः मूर्तिमती विशेषणादाने किं प्रतिमानम् ? मूर्तिर्हि नाम 'काठिन्यं शरीरम्' इत्यमरः । अतः महीधरार्थो न सङ्गच्छते, ऋष्यर्थ एव श्रेयान् गरीयांश्च । यतो

यह कथन, मन्त्र के किन अक्षरों का अनुवाद है ? फिर महीधर का अन्धानुसरण और पोषण करना तो घोर पक्षपात-वृत्ति ही है ।

आगे आप लिखते हैं कि "इस बात को विशेषरूप से मन्त्रों की व्याख्या करते समय स्पष्ट किया जायेगा ।" यह पढ़ते ही याद आ गया—'बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति' । महीधरादि से अङ्गीकृत मन्त्र-व्याख्यान-शैली ही आप अपनायेंगे, तब तो अमङ्गल ही अमङ्गल है । मन्त्रव्याख्यान के अवसर पर आप भी गोमांसादि का प्रतिपादन करनेवाली शैली का ही अनुसरण करेंगे, तब तो निर्मलोक्ति सम्यक् घटित हो रही है—

जब से आपके इस निश्चय को सुना है, समस्त वन्दनीय वेदार्थ करने की शैलियां चिन्ताताप में डूबने लगी हैं । उत्तम निरुक्त की वह प्रणाली भी आज आसुओं से रो रही है कि नवीन पुराणभक्त वेद-पद्धति को प्रदूषित करने में लग गये हैं, जिस समय से आपने-अपने कमलकरों में वेदभाष्य करने के लिये कलम पकड़ ली है ।

महीधर ने तो 'रूपे अर्थात् रूपवती मूर्तिमती, सत्य और अनृत व्याकृत किये हैं' ऐसा लिखा है, आपने 'भूतिमती' यह अपपाठ कर दिया है । अब आप बताइये, यहां 'मूर्तिमती' यह विशेषण देने में किस अर्थ का आशय है । मूर्ति का अर्थ काठिन्य शरीर है । ये दोनों मूर्तिमती हैं, यह महीधरार्थ कदापि संगत नहीं

हि 'रूयते' कीर्त्यते रौतीति वा औणादिकसूत्रेण (३।२८) 'प' प्रत्ययो दीर्घश्च । रूपयतीति वा, रूप+अच् । प्रसिद्धाप्रसिद्धलक्षणौ धर्माधर्मौ, यावद् धर्माधर्मलक्षणं बाह्यचेष्टासम्बन्धि तावत् प्रसिद्धम्, आत्मसम्बन्धि च अप्रसिद्धं गुप्तमिति यावत् । न सत्यानृते मूर्तगुणौ भवतः ।

पृ० ११८२, पं० ६—"दृते दृंह' इत्यस्यार्थः पूर्वापरसम्बन्धशून्योऽविचारितरमणीयः, प्रकरणविरोधात्" । तत् प्रकरणं विनियोगशृङ्खला वा स्वैरं तव पूज्यसायणादिभिः मन्त्रपादे बद्धा । पात्रविशेषकल्पनापि मन्त्राक्षरपृथग्भूता तव । अन्ते तदन्तर्यामिपरमेश्वरस्यैव सम्बोधनमायाति, इति स्वीकुर्वता त्वया 'ईश्वरश्च प्रार्थनीयः, यतो धर्मनिष्ठा स्यात् । हे सर्वदुःखविनाशकेश्वर' इत्यादि ऋषिकृत एवार्थोऽनुसृतः । यदुक्तम्—"मदुपरि कृपां विधेहि, यतोऽहं सत्यधर्मं यथावद् विजानीयाम् इति मन्त्रार्थाद् बहिर्भूतम्" इति तु 'दृते' सम्बोधनस्य व्यञ्जनार्थः प्रतिभात एव । 'परमकरुणया जीवानां सर्वदुःखानि दारयति परमात्मा । केवलं जीवोऽकर्मण्यः सन् दुःखं विनाशं वाञ्छेत्' तदपि धर्मस्य वास्तविकस्वरूपज्ञाना-

---

है, ऋष्यथ ही श्रेयान् और गरीयान् है । वहां पर 'रूयते, स्तूयते' इस विग्रह द्वारा औणादिक 'खष्पशिरुप' (३।२८) से 'प' प्रत्यय तथा दीर्घ करके अथवा 'रूप' धातु से 'अच्' प्रत्यय होने पर रूप शब्द की सिद्धि होगी । धर्म और अधर्म दोनों ही प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध लक्षणवाले हैं, जब कि धर्म या अधर्म का लक्षण बाह्य चेष्टा सम्बन्धी है, वह प्रसिद्ध और आत्मासम्बन्धी लक्षण अप्रसिद्ध या गुप्त होता है । सत्य व असत्य मूर्त गुण नहीं हैं ।

पृ० ११८२, पं० ६—"'दृते दृंह' इस मन्त्र का भूमिकागत व्याख्यान भी पूर्वापरसंबन्ध से रहित और अविचारितरमणीय है और प्रकरण के विरुद्ध भी है ।" आपका यह सारा कथन अज्ञान पर आधारित है । यह पूर्व भी कहा जा चुका है कि विनियोग की शृंखला जो मन्त्रार्थविरुद्ध है, उसी से वेद नहीं बांधा जा सकता । यहां पर तुम्हारे पूजनीय व वाममार्गी महीधर ने उस प्रकरण को बांध दिया है । उन्होंने वेद के पात्रों में 'महावीर' विशेष पात्र की कल्पना की बेड़ी पहना दी है । मन्त्र में कल्पनामूलक कोई अक्षर नहीं है । तथा यह कथन करके आपने अपने ही पूर्व कथन का खण्डन भी कर लिया कि 'उस पात्र के अन्तर्यामी परमेश्वर को ही यहां सम्बोधन किया जाता है' । आपका अनुवादक 'विजानीयाम्' का अनुवाद 'जानता हूं' कर रहा है । जब कि 'दृते' अर्थात् अविद्या-अन्धकार का विदारक परमेश्वर तथा विद्वान् से प्रार्थना की जा रही है कि मैं सत्य धर्म को यथावत् जानूं । दारयति इति 'दृते' इस निर्वचन के होने से उक्तार्थ 'दृते' सम्बोधन से ध्वनित होता है । प्रभु करुणा से सब जीवों के दुःख विदीर्ण करता है, केवल अकर्मण्य रहकर जीव विनाश को प्राप्त है, ऐसा कहना धर्म के स्वरूप को न

https://t.me/Dharmasamrat

ऽभावेन सम्भवतीति मन्त्रार्थध्वनिर्योगनिर्धूतकल्मषस्य महर्षेरेव प्रखरप्रतिभाप्राप्यो न तु कलिमललिप्तमतेरस्य ते ।

पृ० ११८३, पं० ५ – यदुक्तम्—"विधेरप्रवृत्तप्रवर्तकत्वनियमात्" इति तु आधुनिकी कल्पिता विधिपरिभाषा पुष्टा । अपरं च 'निर्वैरो भूत्वा' इत्यनेनाप्रवृत्तेः प्रवर्तनाद् अत्र विधिः ।

वस्तुतस्तु अनादिज्ञानात्मकवेदे आदिमशास्त्रे नैषा परिभाषा घटते, अत एव न्यायशास्त्रकृता 'विधिर्विधायकः' (२।१।६४) इति सूत्रमुक्तम् । तत्र वात्स्यायनभाष्यम्—"यद् वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः ।" वृत्तौ—'इष्टसाधनताबोधकप्रत्ययसमभिव्याहृतं वाक्यं विधिः ।' तथा च 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' अर्थाद् यस्मिन् वाक्ये इष्टबोधकलिङ्गतव्यादिप्रत्ययः स विधिः । सृष्ट्यादिकाले तु धर्माङ्गेषु ऋषीणां स्वाभाविकी प्रवृत्तिरेवाऽसीत् । तत्रापि शास्त्रविधिरादिकाव्ये वेदे निहितः । तथा 'सङ्गच्छध्वं संवदध्वम्' इति जीवानां कल्याणाय आद्युप-

---

समझना है । ध्वनित मन्त्रार्थ तो प्रखर मतिमान् को ही प्राप्य हो सकता है, कलिमललिप्त मति के लिये नहीं । इस प्रकार दुःखदारण करनेवाले का उपासक बनकर जीव भी दुःखदारण का उपाय करे ।

पृ० ११८३, पं० ५—'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' का अर्थ निर्वैर होकर हम अन्योन्य सुखसम्पादन के लिये वर्ताव करें, इस भूमिकार्थ पर आप कहते हैं कि—"विधि वहीं प्रवृत्त कराती है जहां स्वभावतः प्रवृत्ति नहीं होती । यहां तो सुख के सम्पादन के लिये सबकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है ।" धन्य है आपकी बुद्धि को, जो एक शब्द को लेकर दौड़ पड़ी और लगी खण्डन करने । महोदय ! पूरे वाक्य पर तो विचार किया होता । इसमें शब्द है 'निर्वैरो भूत्वा' अर्थात् 'निर्वैर होकर', जो मित्र शब्द से व्यक्त है । निर्वैर होने की प्रवृत्ति जीव की होती, तो आप भी इस द्वेष, वैर और असूया वृत्ति को धारण नहीं करते ।

वस्तुतः अनादिज्ञानात्मक वेदशास्त्र में आपकी यह परिभाषा घटित नहीं है; क्योंकि दयालु परमेश्वर जीव के लिये कल्याण-विधि-प्रवर्तन सर्गादि में अवश्य ही करते हैं । इसलिये न्यायशास्त्रकर्त्ता ने 'विधिर्विधायकः' (२।१।६४) सूत्र बनाया और इसके भाष्य में वात्स्यायन ऋषि कहते हैं—"जो वाक्य विधायक होता है, इसका नाम विधि है ।" वृत्ति में इसको और स्पष्ट किया गया—"इष्ट साधनता का बतानेवाला प्रत्यय से कहा हुआ वाक्य ही विधि है । जैसे—'स्वर्ग की कामनावाला अग्निहोत्र करे ।" जिस वाक्य में इष्टबोधक लिङ्ग, तव्यादि प्रत्यय हैं, वह विधि है । सृष्टि के आदिकाल में धर्मादि में ऋषियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति थी, तब भी आदिकाव्य वेद से विधान किया गया । 'सङ्गच्छ-

देशस्तत्र पूर्वसंस्कारवशात् स्वाभाविकप्रवृत्तावपि एषा उपदेशमर्यादा । सुखसम्पादनाय या स्वाभाविकी प्रवृत्तिः, सा ईश्वरोपदिष्टधर्मपालनपूर्विका न दृश्यते, यत् किञ्चिदेव भौतिकसुखं तत्र या जीवानां प्रवृत्तिर्न साऽभीप्सितेह ।

पृ० ११८३, पं० ९ – यदुच्यते – "अत्रापीच्छायाः' कृत्यविषयत्वाद् विधेयता न सम्भवति" इति ऋषिभाष्यस्य पौर्वापर्यानालोचनपरिणामः । ऋषिणा तु इहैव "सहायेच्छायाम्, सहायेन सत्यधर्मज्ञानं तस्यानुष्ठानपूर्तिश्च" इति कृतिविषयतया इच्छाया विधेयता-सम्भव एव प्रस्तुतः ।

पृ० ११८३, पं० ९ – यदुच्यते – "इच्छाया वस्तुसौन्दर्यज्ञानजन्मत्वनियमात्" इति तदपि अदूरदृष्टिजन्यमज्ञानप्रलपनम् । ब्रूतां वा भवान् यद् भवत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाखण्डनस्य येच्छा जाता सा किं वस्तुनिष्ठसौन्दर्यजाता ? वस्तुतस्तु अप्राप्तस्य वस्तुनः स्वार्थं प्रति या प्रार्थना 'इदं मे भूयात्' इति, परार्थं वा प्रार्थना 'अस्येदं भवतु' इति, सेच्छा । साऽत्ममनसोः संयोगात् सुखाद्यपेक्षात् स्मृत्यपेक्षाद्वा उत्पद्यते ।

ध्वम्' आदि जीवकल्याण के लिये पूर्वसंस्कारवश ऋषियों की प्रवृत्ति होने पर भी मर्यादा का प्रवर्तन करना अनिवार्य था । दूसरे जीव जिस प्रकार के सुखसम्पादन के लिये स्वभावतः प्रवृत्त होते हैं, वह सुख भौतिक है, जो वेद-विधान से अनभीप्सित है ।

पृ० ११८३, पं० ९ – यह कथन कि "यहां पर भी इच्छा के कृति का विषय हुए विना विधेयता सम्भव नहीं हो सकती" यह आपका ऋषिभाष्य के पौर्वापर्य के अनालोचन (न समझने) का परिणाम है । यह खम्भे का अपराध नहीं कि आप जा टकरायें । ऋषि ने तो यहीं पर "सब लोग ईश्वर के सहाय की इच्छा करें और उसके सहाय से सत्यधर्मज्ञान और उसके अनुष्ठान की पूर्ति होती है" यह कहकर कृतिविषयता की इच्छा की विधेयता की सम्भवता प्रस्तुत ही कर दी है ।

पृ० ११८३, पं० ९ – यह कहना भी अदूरदृष्टिजन्य अज्ञान का प्रलपन है कि "इच्छा वस्तु के सौन्दर्यज्ञान से जनित होती है" ऐसा नियम है ? मैं पूछता हूं कि आपको ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के खण्डन की जो इच्छा हुई, वह उसके किस वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य से पैदा हुई ? और वह जिस सौन्दर्य से पैदा हुई उसका विध्वंस करने को क्यों टूट पड़ी ? वस्तुतः अप्राप्त वस्तु की स्वार्थ के लिये जो प्रार्थना है कि 'यह मेरा हो जाये' यह इच्छा होती है, या परार्थ के प्रति भी कि 'यह इसका हो जाए' ऐसी भी होती है, वह इच्छा आत्मा और मन के संयोग से सुखादि या स्मृत्यादि की अपेक्षा से होती है ।

https://t.me/DharmaSansar

पृ० ११८४, पं० ४—"यद्यपि सत्यं परमादरणीयं, तथापि केवलं सत्यमेव न धर्मोऽग्निहोत्रादीनां विहितत्वात् ।" महाराज ! 'अग्ने व्रतपते' इत्यस्मिन् शतपथप्रमाणे च सत्यधर्मस्यैव चर्चा न त्वग्निहोत्रादीनां प्रसङ्गः । धर्मानुष्ठानमीश्वरकृपया स्वपुरुषार्थस्य चाधारे एव करणीयम् । अनयोरेकतरस्याभावे नास्तिक्यं कार्पण्यं वापतेत् ? नेदं प्रकरणबहिर्भूतम् । शतपथे 'व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्' अनेन व्रताचरणं धर्माचरणाय, 'अग्ने' इति सम्बोधनेन ईश्वरकृपया 'चरिष्यामि' इति दृढनिश्चयेन स्वपुरुषार्थाश्चेति व्यज्यन्ते । कूपमण्डूकतामुपयाता मतिर्न ध्वनिमवधारयितुमुत्प्रेक्षितुं वा शक्ता ।

ननु अनुग्रहस्य माहात्म्यज्ञानेनानुग्रहेच्छाया यदुक्तं कौषीतकिश्रुतिमुद्धृत्य —"एष एव हि साधु कर्म कारयति" तस्याशयो यत् जीवः स्वेच्छया कर्म न कुरुते, प्रत्युत परमात्मैव कारयति, एतेन ईश्वरस्यापि कर्मफलभोक्तृत्वापत्तेः । अत्र यद् 'अयं जीवः कर्म करोति' कर्म कुर्वन्तं जीवं परमात्मा शक्तिदानेन प्रेरयति, इति

पृ० ११८४, पं० ४—"यद्यपि सत्य परमादरणीय है, तथापि केवल सत्य ही धर्म नहीं है। सत्य के अतिरिक्त अग्निहोत्रादि धर्मों का विधान है।" महाराज ! सत्यमनन, सत्यकथन और तब सत्यानुष्ठान—यह क्रम है । सत्यधर्म के अनुष्ठान से अग्निहोत्र बहिर्भूत नहीं है। यदि दर्शपौर्णमास इष्टि से ही सम्बन्धित मन्त्र मान लें तो भी धर्म का अनुष्ठान ईश्वर की कृपा और पुरुषार्थ के आधार पर मानने में क्या दोष है ? और यह प्रकरण से बाहर कैसे है ? इस इष्टि में भी पुरुषार्थ और ईश्वर-कृपा अपेक्षित है । इनमें से एक के अभाव में नास्तिक्य वा कार्पण्य आ जायेगा। यह प्रकरण से बहिर्भूत नहीं है; क्योंकि शतपथ में 'जो व्रत का आचरण करते हैं, वह सत्य है' इससे धर्माचरण में पुरुषार्थ और 'अग्ने' इस सम्बोधन से ईश्वर-कृपा आक्षिप्त है, तथा 'चरिष्यामि' से भी पुरुषार्थ ध्वनित है। ध्वनितार्थ को भी न समझना कूपमण्डूकता है ।

यह कहना कि "अनुग्रह के माहात्म्यज्ञान से स्वतः ही अनुग्रह की इच्छा सम्भव है, उसकी विधेयता वांछित नहीं है।" महाराज ! प्रथम तो अनुग्रहज्ञान की भी विधेयता आवश्यक है, अर्थात् वह प्रकृति से जीवों पर अनुग्रह करता है, इस बात को भी जीव जाने। बहुत से मूढधियों को यह मालूम होने पर भी 'वह अनुग्रह करे' ऐसी इच्छा भी उत्पन्न नहीं होती, अतः विधेयकता सर्वथा आवश्यक है। कौषीतकि के इस वचन से कि 'भगवान् जिस मनुष्य को इस संसार से मुक्त करना चाहता है, उसको साधुकर्म में प्रवृत्त करता है' श्रीमन् ! कहीं इसका अर्थ आप यह न समझने लगें कि परमात्मा जैसा चाहता है, तदनुकूल जीवात्मा कर्म करता है, परमात्मा उसे प्रवृत्त करता रहता है। अन्यथा जीव के कर्म न करने की अपेक्षा में परमात्मा को भी भोग भोगने पड़ जायेंगे, अतः यही समझना

ण्यन्तत्वे साधनाभ्न दोषः ।

पृ० ११८५, पं० १—यदाह—"इच्छादीनां परमेश्वरानुग्रहहेतुकत्वात् । 'परात्तु तच्छ्रुतेः' (ब्र० सू० २।३।४१) इति न्यायात्" इत्याद्यर्थज्ञाने तु भ्रम एवैतस्य । परं हिन्दीकारेण ऋषिवयानन्दतात्पर्यं पोषितमेतदुक्त्वा—"इसका अभिप्राय यह है कि जीव अपने पूर्वार्जित कर्मों के संस्कार के अनुसार जब प्रवृत्त होता है, तभी ईश्वर की प्रेरणा सार्थक हो सकती है और इससे ईश्वर पर उक्त दोषों की कोई सम्भावना भी नहीं रहती।"

यदत्र भवान् उद्धृतयोः 'परात्तु तच्छ्रुतेः' 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः' सूत्रयोर्यमाशयं प्राकाशयत्, स तु भ्रान्तिजन्यः, अशास्त्रीयनवीनवेदान्तदृष्टिप्रतिपादकत्वात् । ईश्वरो हि जीवकृतप्रयत्नापेक्षयैव फलं दत्ते, अन्यथा विधिनिषेधयोर्वैयर्थ्यमापतेत् । न स्वेच्छयेश्वरः कञ्चिदपि अन्धं कुष्ठिनं वा कुरुते, न सुन्दरमविकलाङ्गं वा, तस्य न्यायकारित्वाज् जीवस्य कर्तव्याकर्तव्यस्य च पूर्वतः प्रतिपादितत्वात् ।

पृ० ११८७, पं० १—यदाह—"तन्न, यतो यदा धर्मं जिज्ञासते तदा सत्यं

चाहिये कि यहां ण्यन्त प्रयोग में ही 'कारयति' क्रिया है।

पृ० ११८५, पं० १—यह कहना कि "इच्छा आदि परमेश्वर के अनुग्रह-हेतु से जन्य होने का नियम है। जैसा वेदा० सू० २।३।४१ में कहा है" यह भी अर्थ न समझने के कारण भ्रम है, फिर भी आपके हिन्दीकार ने आपके उद्धरण-कथन का अभिप्राय निम्नरूप से निकालते हुए ऋषि के अभिप्राय की पुष्टि की है। यथा—"इसका अभिप्राय यह है कि जीव अपने पूर्वार्जित कर्मों के संस्कार के अनुसार जब प्रवृत्त होता है, तभी ईश्वर की प्रेरणा सार्थक हो सकती है और इससे ईश्वर पर उक्त दोषों की कोई सम्भावना भी नहीं रहती।" यह आप जानें कि आपके आशय के विरुद्ध हिन्दीकार क्यों लिखता है।

यहां आपने जो उद्धृत 'परात्तु तच्छ्रुतेः' और 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः' इन सूत्रों का आशय प्रकाशित किया है, यह तो भ्रान्तिजन्य है, नवीनवेदान्तियों का दृष्टिकोण अवैदिक होने से। क्योंकि ईश्वर जीवकृत कर्मों की अपेक्षा से ही फल देता है, अन्यथा विधि-निषेध की व्यर्थता तथा अकृताभ्यागम दोष ईश्वर पर आने लगेंगे। ईश्वर कदापि विना कर्मों के अपनी इच्छा से किसी को अन्धा और कुष्ठी, तथा सुन्दर अङ्गवाला वा अविकलाङ्ग नहीं बनाता, क्योंकि वह न्यायकारी है, और उसने पहले से ही कर्तव्याकर्तव्य कर्मों का प्रतिपादन कर रक्खा है।

पृ० ११८७, पं० १—यह जो कहा है कि—"यह कथन भी उचित नहीं है,

https://t.me/Dharmasamrat

चिकीर्षति। एतेन धर्मजिज्ञासासत्यचिकीर्षयोर्हेतुहेतुमद्भावो ज्ञायते। स च किं-प्रमाणक इत्याद्यनिश्चितमेव। धर्मसत्ययोरभेदे धर्मजिज्ञासाधर्मचिकीर्षयोः कार्य-कारणभावोऽधिगन्तुं शक्यः।" इदं सर्वमल्पधीत्वात् फलितम्, न्यायग्रन्थेषु ज्ञान-चिकीर्षयोर्हेतुहेतुमद्भावपोषकप्रमाणोपलब्धेः। तद्यथा—

'निर्दुःखत्वे सुखे चेच्छा तज्ज्ञानादेव जायते।
इच्छा तु तदुपाये स्यादिष्टोपायत्वधीर्यदि॥
चिकीर्षा कृतिसाध्यत्वप्रकारेच्छा च या भवेत्।
तद्धेतुः कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिर्भवेत्॥'
(न्यायसि० मुक्ता० १४६, १४७)

अनयोर्द्वयोरुपाये यदि जीवस्येष्टसाधनत्वप्रकारकं ज्ञानं जायेत, तदोपाय-विषयिणी इच्छाऽपि जायते। इच्छाभेदबोधे चिकीर्षां तत्कारणतत्प्रतिबन्धकांश्चा-ग्रिमकारिकायामिह प्रत्यपादयत्। कृति (प्रयत्न) साध्यत्वप्रकारिकेच्छा चिकीर्षा। कृतिसाध्यत्वप्रकारकज्ञानं तथेष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञानं हि चिकीर्षाकारणम्।

साम्प्रतमुच्यतां यद् धर्मजिज्ञासा सत्यचिकीर्षायां कारणं सिध्यति न वा? पुनरपि भवानस्मिन् विषयेऽनिश्चयवानेव, तत्कारणं च शास्त्रगहनाध्ययनाभावः।

क्योंकि जब मनुष्य धर्म की जिज्ञासा करता है, तदुपरान्त सत्य का आचरण करता है। इससे धर्म की जिज्ञासा और सत्य की चिकीर्षा का कार्यकारणभाव प्रतीत होता है। इसमें क्या प्रमाण है, यह बात आज तक निश्चित नहीं हो पायी है। धर्म और सत्य का अभेद मानने पर धर्मजिज्ञासा और धर्मचिकीर्षा का कार्यकारणभाव जाना जा सकता है।" यह सब अल्पबुद्धि का परिणाम है, क्योंकि न्यायग्रन्थों में ज्ञान और चिकीर्षा के हेतु-हेतुमद्भाव के पोषक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। जैसे कि—'निर्दुःखत्वे सुखे चेच्छा तज्ज्ञानादेव जायते।' इत्यादि।

इन दोनों के उपाय में यदि जीव का इष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञान हो जाये, तो उपायविषयिणी इच्छा भी होती है। इच्छा के भेद, चिकीर्षा और चिकीर्षा के कारण तथा प्रतिबन्धक अन्तिम कारिका में प्रतिपादित किए हैं। कृति (प्रयत्न) की साध्यत्वप्रकारिका इच्छा का नाम चिकीर्षा है। कृतिसाध्यत्वप्रकारक ज्ञान तथा इष्टसाधनत्वप्रकारक ज्ञान चिकीर्षा के कारण हैं।

अब कहिये, धर्म की जिज्ञासा सत्य की चिकीर्षा में कारण सिद्ध हुई, या नहीं? वस्तुतः कारण है। यह इसमें प्रमाण है, फिर भी आप इस विषय में अनिश्चित ही बने हुए हैं, कारण, गहराई से शास्त्राध्ययन का अभाव ही है। रही बात धर्म और सत्य को अभिन्न मानने की—इस विषय में आपको ज्ञात

धर्मसत्ययोरभिन्नत्वे तु धर्मपर्याय एव सत्यम् अस्ति। तथा व्यापकधर्मशब्दान्तर्गत-मेव सत्यं, यथा—

'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥' (मनु० ६।९२)

पृ० ११८७, पं० ३—"ज्ञानजन्या भवेदिच्छा' इति न्यायेन सत्यज्ञाने सत्य-चिकीर्षाया जन्यत्वसम्भवेऽपि सत्यचिकीर्षाया धर्मजिज्ञासाजन्यत्वाऽप्रसिद्धेः। सत्यचिकीर्षानन्तरं सत्यं विज्ञानमिति कथमुपपद्यते?"

महदाश्चर्यं यदयं वक्तुरभिप्रायं स्वमतिकौटिल्येन विपर्ययीकृत्य प्रस्तौति। महर्षेस्तु सरलोऽयमाशयो यत् 'यदा मनुष्यो धर्मं जिज्ञासते, धर्मान्तर्भूतं सत्यमप्या-चरणे अवतारयितुमिच्छति, तदा तज्जिज्ञासावशात् सत्यस्वरूपं वस्तुतो जानाति।

शङ्का—तत्रायमकृतार्थधीराक्षिपति यज्ज्ञानस्य इच्छा तदैव भविष्यति यदा पूर्वज्ञानं भविष्यति।

होना चाहिये कि धर्म का पर्याय भी सत्य है तथा व्यापक धर्म शब्द के भेदों के अन्तर्गत भी सत्य का परिगणन है। यथा—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ (मनु० ६।९२)

पृ० ११८७, पं० ३—"ज्ञान से इच्छा उत्पन्न होती है, फिर भी 'सत्य-चिकीर्षा धर्म-जिज्ञासा से उत्पन्न हुई' यह सिद्ध नहीं हो पाता" इत्यादि अनर्गल कथन का भी उपरितन उत्तर में समाधान निहित है।

बड़े आश्चर्य की बात है कि यह लेखक वक्ता के अभिप्राय को स्वमति-कौटिल्य से विपरीत करके प्रस्तुत करता है। महर्षि का तो सीधा अभिप्राय है कि जब मनुष्य धर्म की जिज्ञासा करता है, धर्मान्तर्गत सत्य को आचरण में उतारना चाहता है, तब तीव्र जिज्ञासा और चिकीर्षा से सत्य को वास्तव में जान लेता है।

शङ्का—इस पर यह अकृतार्थधी आक्षेप करता है कि ज्ञान की इच्छा तभी होती है जब पहले ज्ञान होगा, ज्ञानानन्तर तद्विषयक इच्छा होगी। सत्य का ज्ञान और उसके करने की इच्छा यह सब विचित्र है।

https://t.me/DharmaSamrat

समा०—महोदय ! इदं समग्रमपरिशीलितमेव बुद्ध्या (अर्थात् भवदभिप्राये मते तु) 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' (मनु० २।१३) अथवा 'ब्रह्म जिज्ञासितव्यम्' इति वचो नोपपद्येत, नहि धर्मब्रह्मज्ञानानन्तरं तज्जिज्ञासा भवति, किन्तु धर्मब्रह्मज्ञानोत्प्रेक्षितसुखमोक्षयोः श्रुतफलयोरपेक्षणादेव भवति, तथैव सत्याचरणे श्रुतसुखाद्युपलिप्सा एव सत्यचिकीर्षायां कारणं सम्भवत्येवेति ऋष्युक्तं तूपपन्नम्। भवदुक्तं च यत् कस्यचिद्वस्तुनो ज्ञानानन्तरमेव तद्विषयकेच्छा सम्भवतीत्यविमृष्टमेव।

पृ० ११८७, पं० ६—यच्चाह—"दीक्षापदस्योत्तमाधिकारार्थत्वे मानाभावः" तत् तत्त्वाविमर्शवशादेव। दीक्षां प्राप्नोद् अथवा दीक्षा संजाता इति समार्थक एव। दीक्षा शब्दो हि मौण्ड्येज्योपनयनाद्यर्थकाद् 'दीक्ष' धातोर्निष्पद्यते। योऽपि

समा०—आपने इस विषय का परिशीलन ही नहीं किया है। देखिए—

"सुखं तु जगतामेव काम्यं धर्मेण जायते।
अधर्ममजन्यं दुःखं स्यात् प्रतिकूलं सचेतसाम्॥"

अर्थात् सांसारिक प्राणियों का काम्य सुख, पुण्यरूप गुण अर्थात् धर्म से उत्पन्न होता है। सुख भी दो प्रकार का होता है। स्रक्चन्दनवनितासंभोगादिनिमित्तक तथा दूसरा ज्ञाननिमित्तक। तो दुःखाभाव ज्ञान और सुखज्ञान से इच्छा उत्पन्न होती है।

यह जो अर्थ आप समझकर प्रस्तुत कर रहे हैं कि 'जिस विषय के ज्ञान की इच्छा होगी वह उसे जानने के अनन्तर होगी' ऐसा मानना तो भ्रान्ति की पराकाष्ठा है। सुख या दुःख का ही स्वाभाविक ज्ञान ऊपर हमारे द्वारा ठीक व्याख्यात है। नहीं तो 'धर्मज्ञान में परम प्रमाण श्रुति है' 'ब्रह्म जानने की इच्छा करनी चाहिये' इत्यादि वचन उपपन्न नहीं होंगे, क्योंकि धर्म या ब्रह्मज्ञान के अनन्तर जिज्ञासा नहीं की जाती। किन्तु धर्म ब्रह्मज्ञान से उत्प्रेक्षित सुख और मोक्ष के श्रुत फलों की ही अपेक्षा की जाती है, उसी प्रकार सत्याचरण में श्रुतसुखाद्युपलब्धि ही सत्य की चिकीर्षा में कारण सम्भव है। इस प्रकार ऋष्युक्त समस्त सूपपन्न है। आपका यह कथन कि किसी वस्तु के ज्ञानानन्तर ही उस वस्तुविषयक इच्छा होती है, अविमृष्ट बना हुआ है।

पृ० ११८७, पं० ६—यह कथन कि "दीक्षापद का उत्तम अधिकार अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है" नितान्त ही तत्त्व को न समझने के कारण है। दीक्षा को प्राप्त किया अथवा दीक्षा हो गई, ये समानार्थक ही हैं। मौण्ड्येज्योपनयनाद्यर्थक 'दीक्ष' धातु से 'गुरोश्च हलः' (३।३।१०३) से 'अ' प्रत्यय तथा टाप् करने पर 'दीक्षा' शब्द सिद्ध होता है। किसी व्रत के अनन्तर दीक्षा दी जाती है, अर्थात् उस

मुण्डित इज्याशील उपवीतो वा जायते स तद्रूपेणोत्तमाधिकारसम्पन्न एव जायते। स च पुरुषैः सत्कृतो भवति सर्वत्र।

यदुच्यते—"नावश्यं सत्यब्रह्मचर्यादिभिः सत्कारलाभः" तन्मतिकौटिल्यजन्यं वचो विज्ञैरवश्यं तदुपलब्धेः, तदविज्ञानां लाभानपेक्षितत्वात्।

पृ० ११८७, पं० १०—यच्चाह—"तेनैव सत्यभाषणादौ श्रद्धा वर्धते। तथैव सत्यमोक्षादिकं प्राप्यत इति। तच्च न युक्तम्। क्वचिद् वैपरीत्यस्यापि दर्शनात्" इति चासमीक्ष्योक्तिः, असत्यभाषणादौ श्रद् सत्यं दधातीति श्रद्धाया अदर्शनात्, भयलोभादिवशान्न वास्तविकः सत्कारः, 'अपूज्या यत्र' इत्यादिदर्शनात्, असत्येन च मोक्षादिकस्यानधिगतेः, भ्रान्त्यापन्नबुद्धिवचस्त्वाच्च।

पृ० ११८८, पं० ७—"श्रमेणेत्यादिमन्त्रेषु धर्मस्य लक्षणानि प्रकाश्यन्ते, इत्युक्तम्, तदयुक्तम्, सर्वधर्मानुगतलक्षणस्येहादर्शनात्" इत्याक्षिप्तं, तदबोध-

---

व्रत के अनन्तर तत्सम्बन्धी अधिकार से सम्पन्न होता है। आप्टे के कोश में यही अर्थ किया है। यज्ञ में मुण्डित या इज्याशील उपनीत होता है, वह उस रूप के उत्तमाधिकार से सम्पन्न होता है, वह सत्पुरुषों से सत्कृत होता है।

यह कहना कि "पहले सत्य से और अब शुभ गुण आचरण से उसकी प्राप्ति कहना परस्पर विरोध है" श्रीमन् ! आपकी समझ में विरोध है, क्योंकि व्रत का अर्थ सत्य है, उसी प्रकार दीक्षा के ब्रह्मचर्य, विद्यादि सुशिक्षा, प्रज्ञा आदि अनेक अर्थ हैं।

पृ० ११८७, पं० १०—आप का यह कहना कि "यह आवश्यक नहीं है। कि सत्कार से सम्पन्न दक्षिणा से श्रद्धा तथा उससे मोक्ष-प्राप्ति होती है और सत्यादि से समाज में सत्कार होता है, पर इससे विपरीत भी देखा जाता है" समझदारी का नहीं, क्योंकि भय, लोभ, मोह आदि से उक्त गुणों के बिना जो सत्कार आपको देखने को मिलता है, वह वास्तविक नहीं। इसलिये कहा है—

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यपूजाव्यतिक्रमः।
त्रीणि तत्र भविष्यन्ति दुर्भिक्षं मरणं भयम्॥

अर्थात् जहां अपूज्यों की पूजा और पूज्यों का व्यतिक्रम होता है, वहां दुर्भिक्ष, मरण और भय होता है। आपका कथन मतिकौटिल्यपूर्ण है, अविज्ञ लोग जो बेसमझ हैं, इसके लाभ को नहीं जान सकते, क्योंकि ये भ्रान्तिपूर्ण हैं।

पृ० ११८८, पं० ७—'श्रमेण तपसा' यहां करपात्रीजी कहते हैं कि स्वामीजी ने मन्त्र में धर्म के लक्षणों का प्रकाशन माना है, यह ठीक नहीं, क्योंकि धर्मों में अनुगत होनेवाला कोई सामान्यलक्षण यहां वर्णित नहीं है। उनकी यह बात उनके

https://t.me/DharmaSanhita

प्रत्यायकम्, श्रमशीलतातपश्चर्यासत्याचरणानां मानवमात्रधर्मत्वात् । सर्वधर्मेति-वचनेन भवान् नाभिप्रैति ब्रह्मचर्यगृहस्थादिब्राह्मणक्षत्रियादिधर्मान्, तत्र श्रमादीनां घटितत्वात् । यश्चाभिप्रैति ईसाईयवनादिमतानि न तानि धर्मपदवाच्यानि सम्भवन्ति । एकस्यैव वैदिकसत्यसनातनधर्मस्यानादिकालात् प्रतिष्ठितत्वात् । ईसाई-आदीनपि धर्ममाह, तत्रैष हेतुः—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ।। गीता १८।३२ ।।

पृ० ११८८, पं० १४—पू० प०—यदुक्तम्—"परमेश्वरेण मनुष्या' इत्य-ध्याहारः किंमूलकः ? 'वित्त' इत्यस्य ज्ञानिनः स्युरिति कथमर्थः ?"

उ० प०—अहो ! अविचारशीलतायाः पराकाष्ठा यन्नोत्प्रेक्षते यद् ब्रह्मणा इति जानीथ इत्यर्थात् च ब्रह्मणो वेदस्य परमेश्वरस्य च मनुष्यस्यैव पात्रत्वात् मनुष्या इति आक्षिप्तत्वात् सर्वं युक्तियुक्तम् ।

अबोध की ज्ञापिका है। क्योंकि श्रमशीलता, तप तथा सत्याचरण मानवमात्र के सब धर्मों में अनुमत होनेवाले धर्म हैं। श्रम शारीरिक तथा तप प्रधानतया अन्तः-करण के धर्म तो ब्रह्मचर्य गृहस्थादि तथा ब्राह्मणादि सभी धर्मों में अनुगत हैं, पर आपका शायद यह अभिप्राय नहीं है। यदि ईसाई, यवनादि से अभिप्राय है, तो उनके वे मत धर्मपदवाच्य नहीं हो सकते, क्योंकि अनादिकाल से एक ही सत्य वैदिक सनातन धर्म ही प्रतिष्ठित था। आपके द्वारा ईसाई आदिकों के अधार्मिक मत को भी धर्म कहना तम से आवृत बुद्धि की मान्यता है। मनु के अनुसार तप तो व्यापक धर्म है—'तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम्' (६।७५), 'तपसा किल्बिषं हन्ति' (१२।१०४), 'तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम्। तपो-मध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः' (११।२३४) इत्यादि।

पृ० ११८८, पं० १४—पू० प०—"उक्त मन्त्रार्थ में 'परमेश्वर ने मनुष्यों को' रचा, यह कोष्ठान्तर्गत पद कहां से अध्याहृत हो गये ? इसका मूल क्या है ? तथा 'वित्त' इसका अर्थ ज्ञानी बने, यह कैसे हो गया ?"

उ० प०—यहां तो अविवेक की पराकाष्ठा ही है, जो कि 'श्रमेण तपसा ब्रह्मणा०' यहां पर 'ब्रह्मणा' का तो सीधा अर्थ 'परमेश्वर ने' है, यह आपको सूझा ही नहीं और आपकी पूरी १४ पुरुषों की बटालियन को भी नहीं दीखा। तथा 'वित्त' यह पद 'विद' ज्ञानार्थक धातु से बना। इसका अर्थ है जानो, या ज्ञानी बनो। मनुष्य ही ज्ञान का पात्र है, अतः मनुष्य पद सहज ही उत्प्रेक्षणीय है। तो ऋषिकृत अर्थ सर्वथा संगत है।

पं० १५—वस्तुतस्त्वित्यादिनोक्तोऽर्थः कूपमण्डूकताद्योतकः, नहि ब्रह्मगवी भौतिकी एव केवला गोमूत्रगोमयादिदात्री एवाऽभीष्टा, प्रत्युत ब्रह्मगवी वेदवाणी अपि प्राधान्येनाभीष्टेह। सायणभाष्यन्यासीकृतधियो नार्थं यथायथं प्रपद्यन्ते।

पृ० ११८९, पं० १३—'स्वधया परिहिताः' इति मन्त्रार्थे नैव देवदयानन्देन स्वातन्त्र्यमङ्गीकृतं, स्वशब्दस्य स्वकीयधनादिवाचकत्वात्। अत्र स्वधाशब्दस्य व्याख्यानम्, यन् मनुष्या हितकारिणः स्युः, स्वपदार्थानां शुभगुणानां च धारणेन। तेन 'मा गृधः कस्यस्विद् धनम्' इत्यस्याप्यर्थस्य व्यञ्जनात् सार्थकमेव समस्तं पदम्। न च स्वधाशब्दप्रयोगो मृतपितृतर्पणहेतोरत्र प्रायुञ्जि।

'स्वधया परिहिताः परितः सर्वतः स्वकीयपदार्थशुभगुणधारणेनैव सन्तुष्टाः सर्वे मनुष्याः सर्वेभ्यो हितकारिणः स्युः' इत्यत्रायमाक्षिपति यन्न स्वाहाशब्दस्य ज्ञानं स्वामिनः, केवलं शुभगुणधारणेनैव तुष्टिर्भविष्यतीति, अन्यद् व्यर्थम्, अतः समाधीयते। परकीयगुणधारणस्य कल्पना तु कपोलकल्पनाद्यन्यैव, अन्येन अन्य-स्वाभाविकगुणधारणस्यासम्भवात्, तत्सम्बन्धिगुणस्य तद्विशिष्टपदार्थसमवेत-

---

पं० १५—'वास्तव में परम्परा से यह सूक्त ब्रह्मगवीविषयक है' यह बात भी कूपमण्डूकता की द्योतक है। महाराज ! यह ब्रह्मगवी (ब्राह्मण की गौ) केवल भौतिकशरीरधारिणी गोमूत्र गोमय आदि देनेवाली नहीं है, प्रत्युत प्रधानरूप में यह ब्रह्मगवी अर्थात् वेदवाणी अभीष्ट है। वस्तुतः सायणभाष्य में न्यासीकृत बुद्धियां यथार्थ तक नहीं पहुंच पातीं।

पृ० ११८९, पं० १३—'स्वधया परिहिताः=सब ओर से स्वकीय पदार्थों के शुभगुणों के धारण करने से सन्तुष्ट होकर सब मनुष्य सबके लिये हितकारी होवें' इस अर्थ के करने में देव दयानन्द ने स्वतन्त्रता नहीं वरती। हां, यह भी कह सकते हैं कि स्व अधीनता ही वरती है, सायणादि की परतन्त्रता नहीं वरती। हां, आप की बुद्धि तो सायण, महीधर के अन्धानुकरण में ही निपुण है। आप कहते हैं कि देवतृप्तिहेतु स्वाहा और पितृतर्पणहेतु स्वधा शब्द के अर्थ स्वामी दयानन्द नहीं जानते, पर आप ही देव का अर्थ सूर्य-चन्द्रादि देव केवल, न कि 'विद्वान्' तथा मरे हुये पूर्वज, केवल इस अर्थ में पितृ शब्द का अर्थ जानते हैं। पितृ का अर्थ जीवित माता, पिता, ज्ञानी आदि नहीं जानते। शतपथ १३।८।१।४ देखिये, 'स्वधा वै पितृणामन्नम्' अर्थात् जीवित पितरों को अन्न विहित है।

महर्षि दयानन्द ने 'स्वधा' शब्द से व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ गृहीत किये हैं। उसी तरह यहां पर भी देखिये—'स्वधया—अन्नादिना'(यजु० ८।६१), 'स्वधाभिः अन्नैः' (यजु० १।२८), 'स्वधया स्वकीयया धृतया प्रज्ञया' (ऋ० ४।५८।४), 'स्वस्वरूप-धारणया क्रियया' (ऋ० १।१५४।४) इत्यादि जल आदि अनेक अर्थ लिये हैं।

https://t.me/Dharmadarshan

त्वात्। अपि च स्वं दधातीति त्वया स्वधया प्रज्ञया, अन्नादिना, स्वरूपधारणया क्रियया, अन्नादिपदार्थयुक्तया पृथिव्या सह इत्यादयोऽनेकेऽर्थाः स्वधाशब्दस्य यथा-प्रसङ्गं योजनीयाः।

'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' 'हितान्न यः संशृणुते स किं प्रभुः' इत्यत्र लाभकृन्मैत्रीपरामर्शकार्थयोः प्रयोगदर्शनात्, परिगतं हितं यैर्येषां वेति विग्रहेण 'परिहिता' इत्यस्य हितकारिण इति सर्वथा सिद्धम्। न केवलं शुभगुणधारणेनैव सम्यक्तुष्टिः, आवश्यकतानुसारं शुभपदार्थैरपि भवति, 'मा गृध' इत्यस्यापि व्यञ्जकत्वात्। अतः सरहस्यमृषिवचः।

पृ० ११९०, पं० २—यदुक्तम्—"श्रद्धया किं प्राप्नुवन्ति इत्यसङ्गतं, किं

व्युत्पत्ति इस प्रकार है—स्वं दधातीति 'आतोऽनुपसर्गे कः' (अष्टा० ३।२।३) इससे 'क' प्रत्यय, 'थाथघञ्' (अष्टा० ६।२।१४३) से अन्तोदात्त, टाप्, एकादेश 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (अष्टा० ८।२।५) से उदात्त स्वधा शब्द निष्पन्न होता है। यहां पर भी मनुष्य अपने शुभगुणधारण से परिहित अर्थात् हितकारी है, यह अर्थ अत्युत्तम है।

आप कहते हैं कि शुभ गुणों के धारण करने से ही मनुष्यों की सन्तुष्टि और सर्वहितकारिता सम्भव हो सकती है, अतः स्वकीय पदार्थकथन सर्वथा निरर्थक है।

अब आप महर्षि के पदार्थ की विशेषता सुनिये। महर्षि को यहां उभय अर्थ अभिप्रेत है, जैसे अपने पदार्थों और शुभ गुणों का धारण। पूर्व पद में 'मा गृधः कस्यस्विद् धनम्' के अर्थ की ध्वनि भी अभिप्रेत है, अतः यह पद अत्यन्त सार्थक है। यहां पर 'स्वधा' शब्द का प्रयोग मरे हुए आपके मान्य पितरों के लिये प्रयुक्त नहीं है। दूसरों के गुणों को धारण करने की बात अविवेकाश्रित कपोलकल्पना है, क्योंकि जिन पदार्थों के जो गुण होते हैं, वे उन्हीं में समवेत रहते हैं।

पृ० ११८९, पं० १६—यह कथन भी ठीक नहीं कि "स्वधा शब्द में स्वपद की सार्थकता के लिये ऐसी व्याख्या करने पर भी उसकी निरर्थकता का अपाकरण नहीं हो पाता, स्वकीय और परकीय सर्वसाधारण गुणों को धारण करना, उनसे भी अधिक श्रेयस्कर है।" आपने तनिक भी बुद्धि से नहीं विचारा, परकीय गुण जो पर में समवायसम्बन्ध से रहते हैं, उनका तो धारण करना सर्वथा ही असम्भव है। अन्य निर्लोभता आदि गुण किसी दशा में स्वकीय या परकीय व्यपदिष्ट नहीं। जो उन्हें धारण करेगा, उसी के कहलायेंगे, अतः आपका कथन अयुक्त और अनुचित है।

पृ० ११९०, पं० २—प्र०—"परिहिताः का हितकारी तथा श्रद्धा से प्राप्त

प्राप्नुवन्त इत्यनुक्तेः" तदप्रतिभानन्ते, सत्योपरिदृढविश्वासरूपया श्रद्धया इति वचनेनैव सत्यमेव प्राप्नुवन्तः सन्तु इत्युत्प्रेक्षणात्। सत्येह निर्मलोक्तिः—

विधिना दत्तनेत्राभ्यां पश्यन्नपि न पश्यति।
'सत्योपरि' यथा वाक्ये पठितं नैव दृश्यते॥

पृ० ११९०, पं० ३—एवं च "सद्भिः कृतः सत्योपदेशः' इत्यर्थेऽपि मूलम-पेक्ष्यते"। भवता तथा श्रूयताम्। योऽपि सत्योपदेशः क्रियते, स तु सद्भिरेवेति सत्सु भवत्वात् सत्यम्। अत्र श्रद्धया पर्यूढाः सन्त इति व्याख्यानम्।

पं० १—प्र०—"एवं परिहिता हितकारिणः श्रद्धया प्राप्नुवन्तः' इति कथम्?"

उ०—दीक्षया गुप्ता भवन्ति इति वेदे, तदेव चोक्तार्थे नूनम्। अन्यच्च कृत-सत्योपदेशया दीक्षया इति वचनेन क्रान्तदर्शिना मुनिना व्यञ्जितं यदाधुनिकैः पाखण्डिभिर्या मृषोपगूढा दीक्षापदलाञ्छिता दीक्षा दीयते सा सर्वथा अशास्त्रीया, यतो हि 'भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे' (अथर्व० १९।४१।१) इति भद्रं कामयमानानामेव दीक्षाप्राप्तत्वात्। 'स यः सत्यं वदति स दीक्षितो भवति' (कौषीतकि ७।३), 'एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्' (मनु०

किया, क्या प्राप्त किया, यह न कहने से अर्थ निराधार व असङ्गत है।" श्रीमन्! परिगतं हितं यैस्ते परिहिताः=जिन्होंने सबका हित करना स्वीकारा है, वे हित-कारी हैं ही। और 'प्राप्तवन्तः' किसकी प्राप्ति बता रहा है? समझिये, दृढ-विश्वासरूपया श्रद्धया सत्योपरि प्राप्तवन्तः सन्तु, अर्थात् दृढविश्वासरूप श्रद्धा से सत्य के ऊपर उठो अर्थात् प्राप्तिवाले हो। अतः यह यहां निर्मलोक्ति सत्य घटित होती है—

प्रभु द्वारा दिये नेत्रों से देखता हुआ भी नहीं देखता। जैसे वाक्य में पठित 'सत्योपरि' शब्द नहीं दीख रहा है।

पृ० ११९०, पं० ३—"सज्जनों द्वारा किया गया सत्योपदेश' इस अर्थ के करने का क्या आधार है?" देखिये, इसमें तो आपको भी कोई संशय नहीं होगा, कि दीक्षा जिनके द्वारा दी जाती है, वे सज्जन तो होते ही हैं। अब वे देते हैं, तो कोई वस्तु तो देते नहीं, फिर क्या देते हैं? तो मौण्ड्य, इज्या, उपनयन, नियम और व्रत इनका आदेश या उपदेश ही देंगे। अतः 'कृतसत्योपदेशया' यह विशेषण दीक्षा पद का ऋषि ने महान् विमर्शपूर्वक दिया है, क्योंकि इससे यह भी व्यञ्जित है कि आधुनिक पाखण्डियों के द्वारा जो झूठी छिपी हुई दीक्षापद-लाञ्छित दीक्षा दी जाती है, वह बाह्याडम्बरमयी है, वास्तविक दीक्षा नहीं है। अशास्त्रीय है, क्योंकि 'भद्रमिच्छन्त' (अथर्व० १९।४१।१) मन्त्र से कल्याण की कामना करनेवालों को ही दीक्षा प्राप्त होती है। कौषीतकि (७।३) में कहा है

https://t.me/DharmaSastra

६।२९) इति विहितदीक्षाविधानं सत्योपदेशान्तर्गतं सङ्गच्छते ।

पृ० ११९०, पं० ३—यदाह—'यज्ञपदेन प्रसिद्धो देवयजनरूपोऽर्थो ग्राह्यः' तदुच्यते रूढमते ! अनयैव बुद्ध्या वेदानां विनाशः कृतो भ्रष्टभाष्यकृद्भिः । तस्माद् धातूपलभ्ययौगिकार्थो ग्राह्यः, अतो यज्ञे व्यापके परमेश्वरे सर्वोपकारकेऽश्वमेधादौ शिल्पविद्याक्रियाकुशलत्वे च, इत्यात्मक उर्वरमस्तिष्कर्षिणोहितोऽर्थो वेदमहिमवर्धको वेदानां सर्वविद्यास्थानज्ञापकश्च । 'लोको निधनम्' इति पाठेन 'मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवम्' इति सारो लभ्यते । तदा यावज्जीवनं तावत् मनुष्येण कर्तव्यकर्म कर्तव्यमित्यर्थस्तपःपूतधिया ऋषिणोहितः । लोको हि निधनं यावदिति शेषः ।

कि 'मन्त्र से कल्याण की कामना करनेवालों को ही दीक्षा प्राप्त होती है' । और यह भी कहा है कि 'वह, जो सत्य बोलता है, दीक्षित होता है' । इससे सिद्ध है कि दीक्षा के लिये मुख्य उपदेश सत्य ही होता है ।

ऊपर कही गई 'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्' इत्यादि अन्य दीक्षाओं का वन में रहता हुआ विप्र सेवन करे । तथा आत्मा और परमात्मा के ज्ञान के लिये नाना प्रकार की उपनिषद् अर्थात् ज्ञान और उपासनाविधायक श्रुतियों के अर्थों का विचार किया करें, यह विहित दीक्षाविधान सत्योपदेश के अन्तर्गत ही आता है ।

पृ० ११९०, पं० ३—"यज्ञ पद का देवयजनरूप प्रसिद्ध अर्थ न कर इधर-उधर हाथ मारना व्यर्थ है" श्री करपात्रीजी का यह कथन रूढमतिप्रयुक्त है । इसी रूढ बुद्धि से भाष्य करनेवालों ने वेदार्थ का विनाश कर दिया । जैसे अभी आप ऊपर पितरों (मरे हुओं) के लिये 'स्वधा' शब्द का आरक्षण कर रहे थे । वस्तुतः प्रकरणानुसार धातूपलभ्य यौगिक अर्थ ही ग्रहण करना चाहिये । अतः 'यज्ञ अर्थात् विष्णु व्यापक परमेश्वर, सर्वोपकारक, अश्वमेधादि अथवा शिल्पविद्या की क्रियाकुशलता में उर्वरमस्तिष्क महर्षि द्वारा यह अर्थ ऊहित किया गया, जो वेदमहिमा का वर्धक तथा वेदों की सर्वविद्यावत्ता का ज्ञापक भी है । 'लोको निधनम्' अर्थात् 'संयोगो हि वियोगान्तः' इन लोकों का संयोजन (निर्माण) वियोगान्त है । अथवा प्राणियों की मृत्यु ध्रुव है, अतः बुद्धिमान् यही शिक्षा ग्रहण कर लेता है कि यावज्जीवन सत्कर्मानुष्ठान करने में सदा तत्पर हो जावे । क्योंकि 'न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्ति न वा कृतम्' मृत्यु प्रतीक्षा नहीं करती कि यह प्राणी कर्तव्य कर्म कर पाया है या नहीं । अतः तपःपूतमति ऋषि ने यह उत्तमार्थ किया है, यह लोक तो मृत्युपर्यन्त ही है । इस पद का यही तात्पर्य है ।

पृ० ११९०, अनु० २, पं० १४—यदुक्तम्—'ओजश्च तेजश्च सहश्च' इति मन्त्रस्य सर्वमेतद्व्याख्यानं यादृच्छिकं मन्त्राक्षरार्थसम्बन्धशून्यमिति, तत्तु अनूहात्मकबुद्धिशून्यद्योतकम्, ओज-आदिपदानां बुद्धिलभ्यव्यापकार्थग्रहणात् । कर्तृवाचकपदैश्च क्रियाभ्यूहनस्यौचित्ये वाक्यपूर्तिकरणावश्यकत्वाच्च क्रियापदाध्याहारोऽत्र ।

न ह्यत्र पञ्चममन्त्रार्थविरोधः, ओज-आदयो गुणाः क्षत्रियस्य क्षीयन्ते यो हि वेदवाण्युपासकं ब्राह्मणमुद्वेजयति इत्यर्थ-सङ्गतेः । भूमिकादर्शितोऽर्थस्तु सर्वथा साधीयान् ।

तथा हि ओजःशब्दस्य पराक्रमोऽर्थः, पराक्रमश्च सामर्थ्यम्, 'ओजो दीप्तावष्टम्भे प्रकाशबलयोरपि' (इति मेदिनी) इति बलमपि सामर्थ्यम् । परमयं पराक्रमः पराक्रम्यतेऽनेनेति व्युत्पत्तिबलात् क्वचिदपि अन्यायसङ्गतो न भवेदित्यर्थमवधार्य व्याख्यातो यत्सर्वत्र न्यायपालनान्वित एव पराक्रम आकलनीयः ।

पृ० ११९०, अनु० २, पं १४—"स्वामी दयानन्द ने 'ओजश्च सहश्च' इस मन्त्र का अर्थ पूरा मनमाना किया है, इसका मन्त्रों के अक्षरों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है ।" पारिजातकार का यह कथन ऊहा से रहित है तथा बुद्धिशून्य है क्योंकि यहां ओज आदि पदों का व्युत्पत्तिलभ्य व्यापक अर्थ लिया गया है । प्रत्येक के साथ 'करना चाहिये' क्रिया तो प्रथमान्त ओजः आदि कर्तृपदों से सहज आक्षिप्त हो ही जाएगी । आपने 'ओज' शब्द से शरीरस्थ अष्टम धातु ग्रहण की । सर्वत्र यह रूढ प्रसिद्धार्थ ग्रहण करने से निघण्टुपठित बल, उदक प्रकरणानुसार अन्यार्थ तो व्यर्थ हो जायेंगे । 'उब्जति अनेन वा' 'उब्ज' आर्जवार्थक से 'उब्जेर्बले बलोपश्च' (उणा० ४।१९३) से 'अ' प्रत्यय होने पर ओजः सिद्ध होता है ।

इस सूक्त के पञ्चम मन्त्र का इस अर्थ से कोई विरोध नहीं है । आप 'ब्रह्मगवी' इस शब्द से ब्राह्मण की भौतिक दूध देनेवाली गाय का ग्रहण कर रहे हैं । जिस व्युत्पत्ति से 'ब्रह्म जानातीति' ब्राह्मण बनता है, उसके सहचरित होने से ब्रह्मगवी का अर्थ वेदवाणी लेना अत्युत्तम है । इसलिए पांचवें मन्त्र का अर्थ हुआ कि उस क्षत्रिय के उक्त गुण नष्ट हो जाते हैं, जो ब्राह्मण की वेदवाणी को नष्ट करता है । इस प्रकार भूमिकार्थ सर्वथा सङ्गत है ।

इस प्रकार ओज का अर्थ पराक्रम अर्थात् सामर्थ्य हुआ । मेदिनीकोष में दीप्ति, अवष्टम्भ, प्रकाश, बल, ओजः के पर्यायवाची आये हैं । बल भी सामर्थ्य को कहते हैं, परन्तु यह 'पराक्रम' न्यायपालन से युक्त लिखा गया है । इनके द्वारा

https://t.me/DharmaCamra

अष्टमधातुरूपो रूढितः क्वचित् सोऽर्थोऽपि ग्रहीष्यते, परन्नेह तथात्वेऽपि वा एष एवार्थः ।

'तेजः' इत्यनेन न केवलं प्रागल्भ्यं, अपितु निर्भयता, निर्दीनता इत्यप्यर्थौ गृहीतौ । 'तेजो दीप्तौ प्रभावे च बले शुक्रेऽपि' इत्यमरः। 'अधिक्षेपावमानादेः प्रत्युक्त एव परेण यत् । प्राणात्ययेऽप्यसहनं तत्तेजः समुदाहृतम्' (इति भरतः) इत्यादि-प्रामाण्यात् । अल्पविचारशीलेन 'सह' इत्यर्थोऽनेन पराभिभवसामर्थ्यमेव गृहीतः, परं क्रान्तदर्शिमहर्षिणा तु सुखदुःखहानिलाभस्थितावपि 'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ' इत्यपि बोधयता हर्षशोकतन्निवारणार्थपरमप्रयत्नानुष्ठानं च सहनं व्याख्याय महानुपकारः कृतः ।

बलशब्देनानेन केवलं शारीरिक-सामर्थ्यमेव गृहीतम्, किन्तु महाप्रज्ञाधनेन भूमिकाकृता ब्रह्मचर्याद्युपदेशं प्रस्तुवता निश्छलबुद्धित्वसम्पादनमपि बलं प्रत्यपादि । एवमग्रेऽपि ध्यातव्याऽर्थसार्थकता ।

पृ० ११९१, पं० १—यदुक्तम् – "पञ्चममन्त्रस्य मन्त्रविरोधः कृतः, स च नानेन प्रदर्शितः। किञ्चान्यत् प्रकरणं तदपि नोदलेखि" वस्तुतस्त्वयं दम्भी पण्डित-

---

अष्टम धातु ग्रहण करने पर भी 'ओजः' का अर्थ पराक्रम ही होगा ।

ऋषि ने 'तेज' शब्द से न केवल प्रगल्भता, अपितु निर्भयता और दैन्याभाव अर्थ भी गृहीत किये हैं। 'तेज' की परिभाषा में भरत का भी प्रमाण है । यथा दूसरों से अधिक्षेप या अपमान होने पर प्राणों के नाशभय में भी न सहना तेज कहलाता है । अल्पविचारशील के द्वारा दूसरों से हुए अभिभव को सहने की सामर्थ्य को ही 'सहः' मान लिया । पर महर्षि ने उसका अत्युत्तम अर्थ किया है । दुःख, हानि-लाभ की स्थिति में भी गीता के 'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ' के उपदेश की ओर भी संकेत है । हर्ष-शोक न कर उसके निवारणार्थ परम प्रयत्न का अनुष्ठान करना ही सहन है । ऐसी व्याख्या महोपकारिका है ।

पारिजातकार ने 'बल' से केवल 'शारीरिक सामर्थ्य' लिया, जो कि पशुबल भी हो सकता है, पर भूमिकाकार ने ब्रह्मचर्यादि सुनियमाचरण, शरीर, बुद्धि आदि के रोग की निराकरणक्षमता, दृढ अङ्ग तथा निश्चल बुद्धिसम्पादन करना, भीषण कर्म भी करना 'बल' कहा है । इसी प्रकार भूमिकाकृत अर्थों की सार्थकता व उत्तमता समझनी चाहिए ।

इन्होंने इतना भर लिखकर छोड़ दिया कि पञ्चम मन्त्र से यह अर्थ सर्वथा विरुद्ध है, पर वह विरोध दिखाया नहीं । दूसरे वह प्रकरण भी स्पष्टतया विवेचित

म्मन्यो वेदार्थदूषणसामर्थ्यदर्पितो महर्षिमहेतुकमधिक्षिपन् न लजते । नैवेह प्रकरणा-सङ्गतता । वास्तविकतया त्वियमेव निर्मलोक्तिः सङ्गच्छते—

नैव पल्लवशालूरः पाथोनिधिगभीरताम् ।
ज्ञातुं क्षमः, क्षमस्त्वेकोऽचलो ब्रुडितविग्रहः ॥१॥
वेदोऽकूपारगाम्भीर्यं, दयानन्दस्तपोधनः ।
वेत्ति, पौराणकूपस्थो वेत्ति नो पारिजातकृत् ॥१॥

उक्तमन्त्रेषु ब्राह्मणादिवर्णगुणब्राह्मण्यादिवर्धनमेवाभीष्टं, यश्च ब्राह्मणस्य वेदवाणीमपहरति हिनस्ति वा तस्य सर्वं उक्तगुणा नश्यन्ति । अत्रैवम् ओज-आदिगुणानां वर्धनमेवाभीष्टं ध्वन्यतेऽन्यथा तन्नाशयतः कथं श्रीरुपगच्छेदिति बुद्धिमद्भिरुन्नेयम् ।

पृ० ११९१, पं० २—ऋषेर्भाषायास्तु आलोचना क्रियते, परं स्वयं लिखितं न विमृशति । यत् तानीति पदेन स्पष्टम्, ओज आदीनामपगम इह विवक्षितः, अतस्तानीति पदेन 'ओज' आदीनि एव गृह्यन्ते, 'अपक्रामन्ति' इति पदेनापगमो,

---

नहीं किया । वस्तुतः यह दम्भी पण्डितम्मन्य, वेदों के उत्तम अर्थों के दूषणकारक सामर्थ्य से दर्पित होकर विना कारण महर्षि दयानन्द की निन्दा करते हुए लज्जित नहीं हो रहा है । ऋषि के अर्थों में कोई प्रकरणासङ्गतता नहीं है । आपके तो प्रकरण भी कल्पित हैं । यहां तो यह निर्मलोक्ति सुघटित हो रही है—

तलैया का मेढक समुद्र की गम्भीरता नहीं जान सकता । केवल पाताल तक डूबा हुआ पर्वत ही उसका माप जान सकता है ॥१॥

इसी प्रकार वेदसमुद्र की गम्भीरता को तपोधन महर्षि दयानन्द ही जान सकते हैं, पुराणकूपस्थ पारिजातकर्ता नहीं जान सकता ॥२॥

उक्त मन्त्रों में ब्राह्मणादि वर्णों के गुण ब्राह्मणत्व आदि का ही वर्धन अभीष्ट है । अतः जो ब्राह्मण की वेदवाणी का अपहरण करता है, उसके उक्त गुण नष्ट हो जाते हैं । यहां पर ओज आदि वेदोक्त धर्मों का बढ़ाना उद्दिष्ट है, यही ध्वनित होता है । उनको नष्ट करनेवाले पर श्री कैसे आ सकती है । यह बुद्धिमान् समझ रहे हैं ।

पृ० ११९१,पं० २—आप ऋषि की भाषा की तो आलोचना कर रहे हैं, पर अपनी लिखित भाषा पर कोई विचार नहीं । जैसे देखिए पं० १४ में यहीं पर 'तानि' इस पद से ओज आदि तो ग्रहण होते हैं, पर इसी 'तानि' पद से अपगम कैसे विवक्षित हो जायेंगे ? वह तो 'अपक्रामन्ति' इस पद से ही विवक्षित है ।

https://t.me/Dharma Sanet

न तु 'तानि' पदेन, अतो वाक्यरचना अविमृष्टैव ।

साधूक्तं यद् दयानन्दो (विशिष्टं लक्षणमालोचनं यस्य स इति) विलक्षणो व्याख्याता परमयं तु कुलक्षण एव यो यथाप्रकरणं व्याख्यातारमपि प्रकरणविरुद्धमाकल्पयमानो न जिह्रेति ।

पृ० ११९१, पं० १६—यदुच्यते—"सद्गुणप्रचारकरणत्वं ब्राह्मणलक्षणम्, इत्यत्र प्रचारणमित्यनेनैव समीहितसिद्धौ करणपदवैयर्थ्यम्" इति । तत्तु तात्पर्यगाम्भीर्यमभिव्यातुमक्षमेण वक्तव्यमस्तीति सत्यं, परं तत्रायमाशय ऋषेर्यत् सद्गुणानां प्रचारे करणमन्तःकरणमिन्द्रियाणि वाऽपि यस्य स तस्य भावस्तत्त्वम् इति प्रचारकरणत्वं ब्रह्मकर्मस्वभावजमित्यर्थोऽभिव्यज्यते अथवा संज्ञाशब्दः प्रचार इति तस्य करणमित्यपि साधु प्रयोगः । विद्यागुणकर्मवानपि प्रकृतितः सद्गुणप्रचारे न प्रवर्तते केवलमभिनयपर एव, स ब्राह्मणलक्षणं नैव धारयतीति विवेकः ।

एवं करणपदस्यातितरां सार्थक्यम् । अपि च प्रचार एव करणं व्रतबन्धो यस्य तदभावस्तत्त्वम् । राष्ट्रविशशब्दयोरत्र धात्वाश्रितं व्याख्यानम् । धनवाचि-

---

अतः आपकी यह वाक्यरचना अविचारित है ।

आपने ठीक ही कहा है कि दयानन्द विलक्षण व्याख्याता हैं । इस अर्थ में तो ठीक है, या कि आप का आलोचन तो कुलक्षण है, जो प्रकरणानुकूल व्याख्याता को भी प्रकरणविरुद्ध बताते हैं या दयानन्द विशिष्ट लक्षणों से सम्पन्न हैं, अतः विलक्षण और सुलक्षण ही हैं ।

पृ० ११९१, पं० १६—आ०—सद्गुणों का प्रचारकरण यहां प्रचारण शब्द रखने से ही अभीष्टार्थ सिद्धि हो जाती है, फिर 'करण' पद अधिक रखना व्यर्थ है ।

समा०—प्रचारकरण शब्द-प्रयोग की तात्पर्य-गम्भीरता को समझना आपके बुद्धिस्तर से ऊपर की बात है । ऋषि का 'करण' शब्द पढ़ने में विशेष तात्पर्य है 'सद्गुणों के प्रचार में करण' अर्थात् जिसका अन्तःकरण और सारी बाह्य इन्द्रियां भी लगी हैं, उनके भाव का कथन है । केवल बाह्य प्रचार का प्रतिष्ठार्थ अभिनय करना मात्र ब्राह्मण-लक्षण नहीं हो सकता । इस प्रकार प्रचारकरणत्व का अर्थ हुआ, ब्राह्मणकर्म स्वभाव । इससे यह ध्वनि (व्यञ्जना) निकलती है कि विद्या, गुण कर्मवान् भी जो प्रकृति से सद्गुणों के प्रचार में प्रवृत्त नहीं है, वह ब्राह्मणलक्षणवान् नहीं है ।

इसलिये 'करण' पद की पूर्ण सार्थकता है । दूसरे प्रचार ही करण अर्थात् व्रतबन्ध स्वभाववाले यहां राष्ट्र के व्याख्यान में मनुस्मृति में पल्लवित राष्ट्र के

द्रविणशब्दप्रसङ्गे तत्प्राप्तिरक्षावृद्धिव्ययात्मकचतुर्विधसिद्धान्तोऽपि प्रतिपादितः । सिद्धिश्चास्य 'द्रु' धातोरिननि । यच्चाह 'सर्वमुदक्षरं' तन्नापरं च वेदसमुपबृंहणमेतत् स्वामिकृतं व्याख्यानम् ।

पृ० ११९२, पं० ५—यदुक्तम्—"प्राणापानशब्दयोः प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां शुद्धिबले कार्ये इति व्याख्यानमपि मूर्खजनप्रतारणमेव" इति तस्य योगशास्त्रविषयकमज्ञानमेव ख्यापयति, 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' (यो० १।३४) इति सूत्रविधानेन प्राणापानयोः निःसारणपूरणविधारणैर्बुद्धिशुद्धिः शरीरबलं तद्वृद्धिर्वा सम्पद्यते । शुद्धिसम्पादने समस्तदोषनाशे प्रमाणम्—'समस्तदोषक्षयकारित्वं चास्य आगमे श्रूयते' (व्या० भा० १।५९) । विषयविकारोत्पन्नमालिन्यपरिमार्जनाय प्राणायाम एव श्रेयान् ।

तथा च मनुः—'दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥' (६।७१)

योगिप्रत्यक्षापलापस्यानर्हत्वादत्र शुद्धिबलसम्पादने न काऽपि विप्रतिपत्तिः ।

अङ्ग व लक्षणों को समाविष्ट कर दिया गया है । तथा 'विश' वैश्यादि प्रजा व्यापारादि लक्षण से युक्त होने की व्याख्या की गई है । धनवाची द्रविण शब्द के प्रसङ्ग में धन की चारों निःश्रेणियां क्रमशः प्राप्ति, रक्षा, वृद्धि, व्ययरूप यहां बता दी गईं । इस शब्द की सिद्धि 'द्रु' धातु से 'द्रुदक्षिभ्यामिनन्' (उ० २।५१) से इनन् प्रत्यय करने पर द्रवत्यनेन जिससे गति होती रहे, इस अर्थ में होती है । स्वामीजी कृत अर्थ वेद का समुपबृंहक है ।

पृ० ११९२, पं० ५—"प्राण और अपान शब्द का प्रच्छर्दन और विधारण के द्वारा इनकी शुद्धि और सबलता सम्पादन करना चाहिये, इस प्रकार अर्थ से केवल मूर्खों को ठगा जा सकता है" इस पारिजातकर्ता का यह कथन योगशास्त्रविषयक अज्ञान का ही ख्यापक है । योग सू० (१।३४) में प्राण और अपान के निःसारण, पूरण और विधारण द्वारा बुद्धि शुद्धि तथा शरीरबलवृद्धि सम्पादित करने का विधान है । शुद्धिसम्पादन में समस्त दोषों के नाश में व्यास-भाष्य प्रमाण है । यथा सारे दोषों का क्षय इसमें सुना जाता है (यो० १।५९) । मनु ने भी कहा है, जिस प्रकार ध्यान करनेवालों के धातुगत मल जल जाते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों के दोष प्राणों के निग्रह करने से जल जाते हैं (मनु० ६।७१) ।

योगियों के द्वारा प्रत्यक्ष किये तथ्य का अपलाप भी नहीं किया जा सकता । इस तरह शुद्धि और बल के सम्पादन में कोई सन्देह नहीं रहा ।

https://t.me/DharmaSanra

पृ० ११९२, पं० ७—यदुच्यते—"चक्षुःश्रोत्रशब्दयोश्चाक्षुषं श्रौत्रं च प्रत्यक्षं कथमर्थः। मुख्यार्थपरित्यागगौणार्थाश्रयणयोः किं बीजम्?" तदत्रोच्यते यद् चक्षुरत्र दर्शनं तच्च प्रत्यक्षानुमानोपमानोपलक्षकं चक्षुर्हि पार्थिवोदकावयवैरप्रतिबद्धसामर्थ्यास्तेजोऽवयवास्तैरारब्धम्। तद्रूपप्रत्यक्षे कारणं चाक्षुषकार्यस्योपलक्षणकम्। श्रोत्रं हि शब्दः शब्दैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रमाणार्थकम्। एतदुत्प्रेक्षणं पारिजातकृन्मतिस्तरावुच्चकैस्तराम्।

पृ० ११९२, पं० ८—यच्चाह—"तथात्वेऽपि त्वाचरासन-प्रत्यक्षादीनां कथं बोधः स्यात्?" इति तदल्पाध्ययनफलम्। मतोहि श्रौत्रं प्रत्यक्षमिति ब्रुवता ऋषिदयानन्देन तु चकारेण सर्वेन्द्रियग्राह्यज्ञानमपि प्रत्यक्षं कथ्यत इति बोधितं तदा त्वग्रसनादीनां बोधो भविष्यत्येव। यथाह 'प्रत्यक्षं स्यादैन्द्रियकम् अप्रत्यक्षमतीन्द्रियम्' अक्षमिन्द्रियं प्रतिगतं हि प्रत्यक्षं न केवलं चक्षुषा गृहीतमेव प्रत्यक्षं भवति।

एवमृषेः प्रतारणपाटवं कथयन् कथमत्र न जिह्रेति, स्वयं तमुत्कृष्टाशय-

---

पृ० ११९२, पं० ७—प्र०—"यह कि 'चक्षुः' पद का अर्थ चाक्षुष प्रत्यक्ष या श्रोत्रपद का श्रौत प्रत्यक्ष अर्थ कैसे हो जायेगा। मुख्यार्थ को छोड़कर गौण अर्थ का आश्रय लेने में क्या कारण है?"

उ०—कारण सुनिये, यहां चक्षु का अर्थ दर्शन अर्थात् देखनेवाला, वह प्रत्यक्ष चकार से अनुमान, उपमान तथा 'श्रौत्रं च' यहां पठित चकार से शब्द, ऐतिह्यादि का उपलक्षण है। तेज के जिन अवयवों का सामर्थ्य पार्थिव और जलीय अवयवों से नष्ट हुआ है, उन तैजस अवयवों से इस चक्षु इन्द्रिय की सृष्टि होती है। यह इन्द्रियरूप प्रत्यक्ष में कारण है। इसलिये कार्य का भी उपलक्षक है। अतः चाक्षुष और श्रौत्र भी मुख्यार्थ ही हैं, गौणार्थ नहीं। यह सब विचारना आपकी बुद्धि के स्तर से ऊपर की बात है, जिसे योगी दयानन्द ने समझा था।

पृ० ११९२, पं० ८—प्रश्न—यदि ऐसा किया भी जाता, तो फिर इससे त्वगिन्द्रिय, रसनेन्द्रिय आदि का बोध कैसे होगा? और त्वग् रसना आदि का बोध क्यों न होगा? अपि च, इनसे सत्यविज्ञान का सहारा लेना चाहिये, यह अर्थ कैसे निकलता है?

उत्तर—यह कथन आपकी अल्पज्ञता का सूचक है, क्योंकि वेद में चकार पढ़ने से सब इन्द्रियों का ग्रहण होगा। तब स्पर्श आदि का बोध हो जायेगा। इन्द्रियजनित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं तथा अप्रत्यक्ष अतीन्द्रियज्ञान का बोधक है। तब ऋषि का प्रतारणपाटव कहना भी पाटव का प्रतारण है। यहां यथार्थ

मप्रपन्नः सन्। इह निर्मलोक्तिरियं घटते—

उच्चबल्लरिशाखाग्रे लग्नद्राक्षाप्रगुच्छकान्।
मधुरान् खिङ्गुरी चाम्लान् अप्राप्य मनुते ध्रुवम्॥

अथवा 'अशक्तस्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते' इत्यनुरुध्य माहीधराद्यनर्थकर्दमान् महर्षेस्तारणपाटवमयं हतबुद्धिः प्रकृष्टतारणपाटवमाकलयते।

पृ० ११९३, अनु० १—यदुक्तम्—"ब्राह्मणानां परतःप्रामाण्याभ्युपगमे तन्मूलभूतानि मन्त्रवचनानि प्रदर्शनीयानि" तत्रोच्यते यद् ऋषिणा 'ये स्वतः प्रमाणभूता मन्त्रभागसंहिताख्याश्चत्वारो वेदा उक्तास्तद्विज्ञास्तद्व्याख्यानभूता ब्राह्मणग्रन्था वेदानुकूलतया प्रामाण्यमर्हन्ति'(ऋ० भा० भू० ग्रन्थप्रामाण्या०) इत्यभिदधता वेदानुकूलानि (तं०) प्रमाणान्युदध्रियन्त। वेदवैपरीत्यं किमत्रेति श्रोयुतोट्टङ्कनीयमासीत्।

पृ० ११९४, पं० ७—कोविदा अग्रे विदाङ्कुर्वन्त्वेतस्य पाण्डित्यगाम्भीर्यं यदयं विविनक्ति यत्—

में निर्मलोक्ति घटित होती है—

"ऊंची लता की शाखा के अग्रभाग पर लगी हुई द्राक्षाओं (अङ्गूरों) के मधुर गुच्छों को लोमड़ी पा नहीं सकती। अतः कहती है, अङ्गूर खट्टे हैं।"

अथवा यह कहिये कि—उस स्थान तक पहुंचने की क्षमता नहीं है। तब उस पद की निन्दा करने में ही प्रवृत्त हो गये। इस उक्ति के अनुसार महीधरादि के अनर्थ कीचड़ से निकालने अथवा तारण के पाटव को आप हतबुद्धि से प्रतारण पाटव कह रहे हैं।

पृ० ११९३, अनु० १—"ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च' इत्यादि बचन ब्राह्मणभाग के हैं। वेदोक्त धर्म की व्याख्या के प्रसङ्ग में स्वामी दयानन्द ने इनको उद्धृत किया है, वे ब्राह्मणभाग का प्रामाण्य नहीं मानते। जब ब्राह्मणों का प्रामाण्य वेदाधारित है, तो इनके मूलभूत वेदवचन भी उनको प्रमाण के रूप में दिखाने चाहिये थे। इन वाक्यों का अर्थ भी उन्होंने मनमाना किया है" इस आक्षेप के विषय में हमें यही कहना है कि ऋषि स्वतःप्रामाण्य वेदचतुष्टय तथा वेदानुकूल होने पर अन्य सभी का प्रामाण्य परतः मानते हैं। ब्राह्मण वेदव्याख्यान हैं, अतः परतःप्रमाण हैं। यह प्रामाण्याप्रामाण्यविषय में स्पष्ट कहा है। अतः तैत्तिरीय आरण्यक के वेदानुकूलतया प्रमाण दिये हैं। इनका वेदों में मूल है। वेदविरुद्ध इनमें क्या है? यह तो आपको बताना चाहिये।

पृ० ११९४, पं० ७—आगे विद्वान् लोग समझें इनके पाण्डित्य की गहराई

https://t.me/Dharmasastra

पू० प०—"ऋतं यथार्थज्ञानं' तन्न, ज्ञानस्य प्रमाणाधीनत्वेन विधेयत्वेनाकर्तव्यत्वात्"।

उ० प०—इदं तु सर्वमनर्गलं, ब्रूतां तावद् यद् 'ऋतम्' शब्दस्य सत्यज्ञानमर्थोऽस्ति न वा? नैवं चेत् कथमस्य सत्यनामसु पाठः? तेन सिद्धं यत् सत्यज्ञानमित्यर्थः। ज्ञानमपि कर्तव्यं भवति तदनुकूलकर्मणः कर्तव्यत्वात्। तस्य प्रमाणाधीनत्वादिति कथनमपि व्यर्थं, वेदस्य यथार्थज्ञानत्वात् स्वतःप्रामाण्यात्।

प्रथमं त्वत्र द्रष्टव्यं—वेदोक्तधर्मोऽथवा वेदानुकूलो धर्मः प्रामाणिकः पुनः कथं स्यात् तज्ज्ञानं प्रमाणाधीनम्? यच्च स्वतःप्रमाणम्।

अपरं च भूमिकायां पाठोऽस्ति 'यथार्थस्वरूपं वा ज्ञानम्'। इह विकल्पात् पूर्वं वास्तविकस्वरूपम् ऋतमुच्यते, तदेव यथार्थवस्तुचिन्तनमिति शङ्करेण निगद्यते, नेह किमप्यन्तरम्।

पृ० ११९४, पं० ८—"अधर्माचरणादिन्द्रियाणि सर्वथा निवर्त्य तेषां धर्माचरणे प्रवृत्तिः कार्या, तदपि न, कस्याञ्चिदपि प्रवृत्तौ इन्द्रियोपरमलक्षणस्य दमस्यासम्पत्तेः" इत्यपि असत्यम्। स्वामिना तु मनने, भाषणे, करणे च सर्वत्र सत्याचरणं मतम्। दमशब्दार्थः कुल्लूकभट्टेन 'विकारहेतु-विषयसन्निधानेऽपि

को, जो कि यह कहते हैं कि "ऋत यथार्थ ज्ञान को कहते हैं' यह कहना गलत है, क्योंकि ज्ञान का विधान प्रमाण के अधीन होता है, यह कर्तव्य कोटि में नहीं आ सकता है" आपकी यह अप्रासङ्गिक बकवास है। अच्छा तो, आप बताइये, क्या ऋत का अर्थ यथार्थ या सत्यज्ञान है? यदि कहो नहीं है, तो 'ऋतम्' को सत्यनामों में पढ़ना व्यर्थ है। दूसरे यह कहना कि ज्ञान कर्तव्य में नहीं आ सकता। इसको स्पष्ट कीजिये कि क्या कभी यथार्थ ज्ञानानुकूल कर्म नहीं किया जा सकता? अवश्य ही किया जाता है। तीसरे इस प्रमाणाधीन कहने से यदि आप यह कहना चाहते हैं कि इसके लिये प्रमाण चाहिये, तो बिल्कुल गलत है, क्योंकि वेद में यथार्थज्ञान है, जो स्वतः प्रमाण है। जिसको अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

वैसे भूमिका में 'यथार्थस्वरूप का ज्ञान' यह पाठ है। यहां पर विकल्प अर्थात् ज्ञान शब्द से पूर्व वास्तविक स्वरूप को ऋत कहा है। इसी को शङ्कर ने यथार्थवस्तुचिन्तन कहा है। कोई अन्तर नहीं।

पृ० ११९४, पं० ८—"अधर्माचरण से इन्द्रियों को सर्वथा हटाकर उसकी प्रवृत्ति धर्माचरण में करनी चाहिये' यह अर्थ भी गलत है, क्योंकि किसी प्रवृत्ति के रहते इन्द्रियों के उपरमरूप 'दम' की निष्पत्ति नहीं हो सकती" यह करपात्रीजी का कथन अविचारित है। स्वामीजी ने दमन की उक्त परिभाषा की है। यदि

अविक्रियत्वं मनसो दमः' (मनु० ६।९) इति मतः। शङ्करेण (बाह्यकरणोपरमः) इति व्याख्यातः। महर्षिणा च 'अधर्माचरणादिन्द्रियाणि सर्वथा निवर्त्य तेषां सत्यधर्माचरणे प्रवृत्तिः कार्या' इति दमः परिभाषितः। विचार्यतां किञ्चित् क्रियाद्वयप्रयोजनम्। शङ्करव्याख्याने तु प्रश्नः पुनरप्युद्भावयितुं शक्यते यद् बाह्यकरणानामुपरमः कुतो भवेत्? इति पृच्छाशेषात्। परं भूमिकोक्तौ न शङ्काक्लेशावकाशः। यच्चोच्यते (पं० ९) कस्याञ्चिदपि प्रवृत्तौ इन्द्रियोपरमलक्षणस्य दमस्यासम्पत्तेः? तत्त्वज्ञानमूलकं, यतो हि प्रवृत्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानं भवति।

तदा कस्याञ्चिदिति पाठोऽदूरदर्शिताद्योतकः। अथ चेत् प्रवृत्तिशब्देन सा समाख्या न गृहीता, धर्माचरणं प्रति प्रवर्तन-निषेधोऽभीष्टश्चेत् तथापि न शास्त्रसङ्गतम्।

'शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्'

आपने अपनी संकुचित बुद्धि से थोड़ा सा भी काम लिया होता और स्वामीजी के वाक्य पर विचार करते, तो समझ जाते।

अच्छा अब सोचिये—स्वामीजी के वाक्य में दो क्रियात्मक आदेश हैं। एक 'निवर्त्य' हटाकर, दूसरी 'प्रवृत्ति करना'। आप कहते हैं कि किसी प्रवृत्ति के रहने पर 'दम' नहीं हो सकता। बात ठीक है, पर यह बताइये कि यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है या नैमित्तिक। मानना पड़ेगा प्रवृत्ति की गई है, अतः नैमित्तिक है, तो करनेवाला निमित्त उसे हटा भी सकता है। या इसको इस रूप में समझिये—

आपकी इन्द्रियां भूमिका के खण्डन में प्रवृत्त हुईं तो यह कभी निवृत्त होंगी या नहीं? यदि होंगी तो आपने उस प्रवृत्ति को हटाकर इधर से दम की निष्पत्ति की नहीं, जैसा कि सत्य है। अतः कुतर्क-कीचड़ से बाहर निकलिये। आपका यह भी कथन अज्ञानमूलक है। क्योंकि यहां ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का सङ्गम के माध्यम से योगी द्वारा सूक्ष्म व्यवहित भी दूरदेशवर्ती पदार्थों का अपरोक्षज्ञान करने के लिये न्यास किया जाता है, तब उक्त वाक्य में प्रवृत्ति के विशेषण के रूप में 'कस्यांचित्' पाठ का करना अदूरदर्शिता का द्योतक है। यदि आप कहें कि प्रवृत्ति शब्द से वहां 'समाख्या' (नाम) वांछित नहीं है, अपितु धर्माचरण के प्रति प्रवर्तन का निषेध किया गया है, तब भी शास्त्रसङ्गत नहीं है।

'शम, दम'—(वेदा० ३।४।२७) यहां शम, दम आदि से युक्त व्यक्ति को

https://t.me/Dharmasastra

(वेदा० ३।४।२७)इति सूत्रेण शमदमादियुक्तेनापि ब्रह्मविद्याया अङ्गत्वाद् यज्ञादि-धर्माचरणमवश्यं कर्त्तव्यमिति विधानादपि भवदुक्तिपराभवे भूमिकापुष्टिर्जायत एव।

न चेदं वक्तव्यं यत् पारिजातकृत्तु यद् व्याख्यानमेतत्सूत्रस्य न श्रद्धास्यति, अन्यप्रमाणप्रस्तुतौ इति वाच्यम् "स्मृतिष्वपि भगवद्गीताद्यासु अनभिसन्धाय फलमनुष्ठितानि यज्ञादीनि मुमुक्षोर्ज्ञानसाधनानि भवन्तीति प्रपञ्चितम्। तस्माद् यज्ञादीनि शमदमादीनि च यथा—श्रमं सर्वाण्येवाश्रमकर्माणि विद्योत्पत्तावपेक्षितानि" इत्येवमखिलशङ्करभाष्यमपि विमृश्य धर्माचरणे प्रवृत्तिः कार्यैवेति न संशयः। एवं भवदनर्गला गलोक्तिर्गलिताखिला। अतोऽयं निष्कर्षो यद् इन्द्रियाणामधर्माचरणाद् वारणं कृत्वा धर्माचरणे प्रवर्तनं दमः। मनसोऽधर्माचरणेच्छा-प्रतिबन्धः शमः। मनोऽत्रान्तःकरणोपलक्षणम्। नातो धर्माचरणस्येच्छायाः शमत्वापत्तिः।

पृ० ११९४, पं० १५—'अग्नय' इति सर्वत्र बोद्धव्या इत्यादयः क्रिया अध्याह्रियन्ते तदाऽग्निपदार्थतत्त्वबोधनेन पारमार्थिकादीनां सिद्धिर्भवत्येव। उक्तार्थानां बोधने नास्ति शक्तिः 'अग्नयः' इति पदे, इति तु प्रलाप एव। 'अग्नय

ब्रह्मविद्या के अङ्ग होने के कारण यज्ञादि धर्माचरण अवश्य कर्तव्य है, ऐसा विधान करने से भी आपकी उक्ति का पराजय होने पर ऋग्वे० भा० भूमिका की ही पुष्टि होती है।

शङ्का—यदि कोई यह कहे कि उक्त वेदान्तसूत्र की आपकी व्याख्या में भी क्या प्रमाण है ?

समा०—प्रथम बात तो यह है कि सूत्रगत शब्दों से ही यह स्पष्ट है। दूसरे भगवद्-गीता आदि स्मृतियों में भी फल का लक्ष्य न बनाकर यज्ञ आदि और शम दम आदि आश्रमानुसार सब आश्रम-कर्म विद्या की उत्पत्ति में अपेक्षित हैं। इस प्रकार शाङ्करभाष्य में है, जिसका विचार कर धर्माचरण में प्रवृत्ति करना चाहिये। इस कथन में कोई संशय नहीं रहा और आपकी अनर्गल उक्ति गलित हो गई। अतः निष्कर्ष यह निकला कि इन्द्रियों को अधर्माचरण से हटाकर धर्माचरण में लगाना 'दम' कहाता है। अधर्माचरण में मन की इच्छा का प्रतिबन्ध ही 'शम' है। मनः यह अन्तःकरण का उपलक्षण है, इसलिये धर्माचरण की इच्छा शम नहीं कहला सकती।

पृ० ११९४, पं० १५—'अग्नयः' आदि पदों का अर्थ 'वेदादि शास्त्रों और अग्नि आदि पदार्थों से धर्म,अर्थ,काम, मोक्ष को सिद्ध करो'। यह ठीक नहीं, क्योंकि इस पद में इस तरह का अर्थ कराने में सामर्थ्य नहीं है। अग्नि प्रभृति से उपकार

आधातव्या' इत्यनेन यज्ञवेद्यामग्न्याधानेऽर्थेऽपि इह अग्निः परमेश्वरः, विद्युदादयः पदार्था अपि हृदये बुद्धौ आधातव्या इत्यर्थेऽपि न भवद्वाणी प्रतिबन्धिका वा। 'अग्निहोत्रम्' इत्यनेन यज्ञस्य दृष्टफलमिह प्रतिपाद्यते।

यच्चाह—'दयानन्दाऽभिमतयज्ञप्रयोजनस्य खण्डनं कृतम्' तदुत्तरे एतदेव विलिख्यते यत् तन्मतं च मया सप्रमाणयुक्तिकं तत्रैव समाधीयत।

पृ० ११९५, पं० ६—'अतिथयः' इति व्याख्याने अतिथिलक्षणानि तदुपयोगश्चेति उभयं निर्दिश्यते। महोदय ! यदि एषा स्थितिरध्ययनाध्यापनादिभिः सम्पाद्यते, अत एवेहेङ्गितं यदतिथयस्तदुक्तलक्षणोपेताः स्युस्तदा तेभ्योऽपि सत्यशोधनं छिन्नसंशयत्वं च सम्पादयितुमर्हम्।

अग्रे 'मानुषं च' इत्यादीनामर्थाः सम्यक् प्रतिपादिताः। यदाह—'तत् सर्वत्र उक्तार्थानामन्यवचनैर्गतार्थत्वं' तत्तु अस्य विद्योपबृंहणबुद्ध्यभावत्वादेव वचः। तत्तच्छास्त्रे तत्प्रकरणस्येष्टप्रतिपत्तये तत्तद्वचनस्यावश्यकत्वात्। अन्यथा अनेके

ग्रहण करने में राग से ही प्रवृत्ति होगी, इस अवस्था में अप्राप्त की प्रापकतारूप विधि का लक्षण उसमें घटित न होने से शास्त्र निरर्थक हो जायेगा। इसलिये यहां पर अग्नियों का आधान करना चाहिये, यही अर्थ उचित है।

उ० प०—'समझना चाहिये' आदि क्रियाओं का उत्प्रेक्षण होना स्वाभाविक है। इसमें कोई संशय नहीं है कि अग्नि आदि पदार्थों से सब शिल्प विद्याओं की सिद्धि होती है। 'अग्नि' आदि पदों में उक्तार्थ बताने की शक्ति नहीं, यह कहना तो प्रलापमात्र है। वस्तुतः पारिजातकर्ता में तादृगर्थचिन्तनशक्ति का अभाव है। 'अग्नियों का आधान करना चाहिये' यह यज्ञवेदी में भौतिक अग्नि ली जायेगी। हृदयवेदी में आध्यात्मिक पक्ष में अग्नि शब्द से ईश्वरार्थ का आधान समझना चाहिये, तथा विद्युत् आदि अग्नि पद का अर्थ समझना चाहिये। इन अर्थों के ग्रहण करने में आपकी वाणी प्रतिबन्धिका नहीं हो सकती। अग्निहोत्र से यज्ञ के दृष्ट फल का ठीक-ठीक प्रतिपादन किया गया है।

यह लिखना कि ऋषि दयानन्द-अभिमत यज्ञप्रयोजन का आपने खण्डन कर दिया, उसके उत्तर में यही प्रतिपाद्य है कि वहीं पर हमारे द्वारा प्रबल युक्ति-प्रमाणों से मण्डन कर दिया गया है।

पृ० ११९५, पं० ६—'अतिथयश्च' इसके व्याख्यान में 'पूर्ण विद्यासम्पन्न संग और सेवा से सत्य का शोधन तथा संशयों का छेदन करना चाहिये' इस कथन द्वारा अतिथियों का लक्षण तथा उनका प्रयोग दोनों निर्दिष्ट कर दिये हैं।

आगे 'मानुषं च' इत्यादि के अर्थों का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है। प्रायः सर्वत्र यह कहना 'कि उक्त अर्थों की अन्य वचनों से गतार्थता हो जाती है' द्योतित करता है कि उपबृंहणात्मक बुद्धि के अभाव के कारण से इनकी विद्या की

https://t.me/DharmaSastra

विषया मनुस्मृत्यादौ प्रतिपादिताः। तत्र अन्यस्मृतिपुराणादीनां क्वचिद् वेदानुकूलानाम् अपि पूर्वग्रन्थेषु प्रतिपादितत्वाद् गतार्थत्वमस्यैव वचसा साधयिष्यते।

'वेदमनूच्य' प्रभृत्या समग्रोऽप्यर्थः सुसङ्गतः। तत्र हि 'अनुशास्ति' इत्यनेन सामान्यं धर्ममुपदिशति, सामान्ये सत्यस्वाध्यायादिसमस्तस्यान्तर्गतत्वम्। पुनः पृथक्-पृथक् नामसङ्कीर्तिपुरस्सरमुपदेशः कृतः, स च श्रुत्यनुगतः। न कापि विशृङ्खलता।

पैत्र्यं हि श्राद्धादिकर्म; परं नेह मृतानां श्राद्धमभिव्यज्यते, तेषां सन्निकर्षाभावेन सेवनाशक्यत्वात्। मृतकोद्देशेन यत् किमपि क्रियते, नेव तेषां तत्प्राप्तं भवतीति व्यर्थापत्तेः। तस्माद् विद्यमानाभिप्रायेण सेव्यसेवकसन्निकर्षात् कर्तुं शक्यते। तत्र सत्कर्तव्यास्त्रयो भवन्ति—देवाः, ऋषयः पितरश्च।

तत्र क्रमशः प्रमाणानि—१—'पुनन्तु मा देवजनाः' (यजु० १९।३९)।

२—'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये' (यजु० ३१।९)।

३—'ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं, पयः कीलालं परिस्रुतम्। स्वधाऽस्य तर्पयत मे

ही गतार्थता है। उस-उस शास्त्र में अमुक-अमुक अर्थ की स्पष्टता के लिये उन-उन वचनों का होना आवश्यक है, अन्यथा अनेक विषय जो मनुस्मृत्यादि में प्रतिपादित किये जा चुके हैं, वे अन्य स्मृति तथा पुराणों में क्वाचित्क वेद की अनुकूलता रखते हुए भी पूर्वग्रन्थों में प्रतिपादित होने से इस लेखक के वचन से ही गतार्थ मान लिये जायेंगे।

'वेदमनूच्य' प्रभृति का समग्र अर्थ सुसङ्गत है। वहां पर 'अनुशास्ति' शब्द से सामान्यार्थ का उपदेश किया जा रहा है। सामान्य में सत्य, स्वाध्याय आदि सबका अन्तर्भाव हो जाता है। फिर पृथक्-पृथक् नाम ले-लेकर उपदेश किया गया है, यह श्रुतिसम्मत है, उसमें कहीं भी विशृङ्खलता नहीं है।

श्राद्धादि कर्म पैत्र्य हैं, परन्तु यहां पर मरणोपरान्त उनके पास न रहने के कारण उनकी सेवा-शुश्रूषा सर्वथा असम्भव है। मरे हुओं के नाम से जो भी किया जाता है, वह उन्हें प्राप्त न होने से व्यर्थता रखता है। इसलिये सामने विद्यमान न होने पर सेव्य-सेवक भाव से पानी पिलाने तथा अन्नादि से सेवा नहीं की जा सकती है। वहां पर सत्कार योग्य तीन ही हैं। देवता, ऋषि, और पितर क्रमशः उनके होने में प्रमाण हैं। यथा—

१—मुझे देवजन पवित्र करें (यजु० १९।३९)।

२—ज्ञानी ऋषि लोग इत्यादि (यजु० ३१।९)।

३—ईश्वर सबको आज्ञा देता है कि सब मनुष्य ऐसा जानें कि मेरे पिता,

पितॄन्' (यजु० २।३४)। अर्थाद् ईश्वरः सर्वान् प्रत्याज्ञां ददाति, यत्सर्वे मनुष्या एवं जानीयुर्विद्युश्चाज्ञापयेयुरिति। ये पितॄन् मम पिता पितामहादीन् आचार्यादींश्च यूयं सर्वे मनुष्याः तर्पयत, सेवया प्रसन्नान् कुरुत, तथा (स्वधास्थ) सत्यविद्याभक्ति-स्वपदार्थधारिणो भवत। केन केन पदार्थेन ते ते सेवनीया इत्याह। ऊर्जं पराक्रमं प्रापिकाः सुगन्धिता हृद्या आपस्तेभ्यो नित्यं दद्युः।(अमृतम्) अमृतात्मकम् अनेकविधं रसम् (घृतम्) आज्यं (पयः) दुग्धं (कीलालम्) अनेकविधसंस्कारैः सम्पादितमन्नं माक्षिकं मधु च (परिस्रुतम्) कालपक्वं फलादिकं च दत्त्वा पितॄन् तृप्तान् कुर्युः (पञ्चमहायज्ञ)।

पृ० ११९७, पं० ७—यदुक्तम्—"एतेनाऽपि मनुष्येभ्यो भिन्ना देवा ज्ञायन्ते" इदमपि अल्पश्रुतज्ञापकं, यतो हि पूर्वमेव प्रत्यपादि यत् (सूर्यादयः) जडाश्चेतना देवा द्विविधाः। चेतनेषु विद्वांसो देवाः, परं ते विद्वांसो मनुष्ययोनिषु एव जायन्ते। यथा—'इदं वा इदं न तृतीयमस्ति। सत्यं चैवानृतं च। सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः।' 'इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति' (शत० का० १। अ० १। ब्रा० १। का० ४)। अत्र मनुष्याणां द्वाभ्यां लक्षणाभ्यां द्वे एव संज्ञे भवतः—देवा मनुष्याश्चेति। तत्र सत्यं चैवानृतं च कारणे स्तः।

पृ० ११९७, पं० १२—यदुक्तम्—"अस्मत्तः श्रेयांसः प्रशस्यतरास्ते च ब्राह्मणा न क्षत्रियादयस्तेषामासनदानादिना श्रमापनयः" तदपि रूढिग्रस्तमतेः

पितामह आदि को तृप्त करें। उनको अपनी सेवा से, अपने धन से तुम प्रसन्न करो। पराक्रमकारक सुगन्धित जल अमृतात्मक अनेकविध रस, घी, संस्कृत अन्न, मधु, कालपक्व फलों से पितरों को प्रसन्न करो (यजु० २।३४)।

पृ० ११९७, पं० ७—"इससे यह भी प्रकट है कि देव मनुष्यों से भिन्न होते हैं" यह कथन भी अल्पज्ञानसूचक है, क्योंकि पूर्व ही प्रतिपादित कर दिया है कि सूर्य आदि देवता जड़ हैं और चेतन देव विद्वान् होते हैं। लेकिन वे विद्वान् मनुष्ययोनि में ही होते हैं। यथा ये दो हैं, तीसरा नहीं। सत्य तथा झूठ! जो सत्यपालक हैं, वे देव तथा जो मनुष्य हैं, वे झूठ हैं। मैं मनुष्यपन से सत्य को प्राप्त कर देव बन रहा हूं (शत० का० १।अ० १।ब्रा० १।का० ४)। यहां पर दो लक्षणों से मनुष्यों की दो सज्ञाएं हैं—देव तथा मनुष्य, उसमें सत्य और असत्य कारण हैं।

पृ० ११९७, पं० १२—पू० प०—"माता, पिता और आचार्य वक्ष्यमाण प्रकार से पुत्रों और शिष्यों को उपदेश दें' यह भूमिका-व्याख्या भी सर्वथा निर्मूल है। हमारी पद्धति से बिना अध्याहार से ही ग्रन्थ की सङ्गति बैठ जाती है। जो कोई हमसे विशिष्ट है अर्थात् आचार्यत्व आदि की दृष्टि से हमसे उत्कृष्ट है और

https://t.me/DharmaSastra

परिणामः। अत्र हि ब्राह्मणशब्दस्य ब्रह्मविद् इत्येवार्थो गरीयान्, क्षत्रियादेरपि ब्रह्मवित्त्वसम्भवात्, तदुपदेशस्यापि ग्राह्यत्वात्। 'अस्मच्छ्रेयांस' इत्यत्र षष्ठीविग्रहं निराकृत्य 'अस्मद्' इति पञ्चम्यन्तस्यैव ग्रहणे मानाभावः। प्रश्वसितव्यम् इत्यस्य श्रमापनय इत्यर्थस्तु कपोलकल्पनाऽथवाऽनुकृतिमात्रः।

वस्तुतः श्वासो मुखद्वारा बहिः क्षिप्तप्राणः, प्रश्वासश्च तद्विपरीतस्तदा तेषां ब्राह्मणानां सङ्गे प्रश्वसितव्यम्, उपदेश्येन शान्तिप्रश्वासो ग्राह्योऽर्थाद् विश्वासः कार्य इत्येवम् ऋषिकृतोऽर्थो गरिमाणं बिभर्त्ति।

पृ० ११९८, अनु० १—यदुक्तम्—"प्रीत्याऽप्रीत्या श्रिया लज्जया भयेन देयमिति भूमिकोक्तं मन्दं, श्रद्धाऽश्रद्धाशब्दयोः प्रीत्यप्रीत्यर्थकत्वे मानाभावात्" इति, तदपि मन्दधियामेव कृते मन्दं, यतस्तैर्न महान् प्रयोगविषयोऽधीतः। वस्तुतः

कल्याणकारक है, इस तरह से ब्राह्मणों का, क्षत्रियादि का नहीं, आसन-दानादि से श्रम दूर करना चाहिए।"

उ० प०—आपका उक्त अर्थ रूढिग्रस्तमति का परिणाम है, क्योंकि वहां ब्राह्मण का अर्थ ब्रह्मविद् है, वह क्षत्रियवर्ण का भी हो सकता है, इस प्रकार नीचे-नीचे के लोग उत्तम-उत्तम का आसनादि से सत्कार करें और अपने से उच्च, उनका उपदेश ले सकते हैं। हां, सर्वोत्तम उपदेश ब्रह्मवेत्ता का ही होगा। 'अस्मच्छ्रेयांसः' में षष्ठी न मानकर पञ्चम्यन्त विग्रह करने में कोई प्रमाण व कारण नहीं। यह कहना कि 'प्रश्वसितव्यम्' का विश्वास अर्थ नहीं हो सकता, वैसा अप्रसिद्ध है, तो 'प्रश्वसितव्यम्' का श्रमापनयन अर्थ लेना चाहिये। यह कथन भी कपोलकल्पित है तथा आपके कथनानुसार 'प्रश्वास' का अर्थ श्रमापनयन भी अप्रसिद्ध है। इस भांति आपके शाङ्कर अर्थ का भी खण्डन आपके ही कथन से हो गया।

अतः समझिये। मुखद्वारा निःसृत वायु को प्राण कहते हैं, प्रश्वास उससे हुआ। इसलिये हमारा अर्थ है कि ब्राह्मणों के सङ्ग में उपदेश से शान्ति का प्रश्वास लेना चाहिये, अर्थात् विश्वास करना चाहिये। इस प्रकार ऋषिकृत अर्थ की गरिमा तो सिद्ध ही होती है। चैन से श्वास लेने का शङ्कर का अर्थ भी साध्य हो सकता है, क्योंकि श्रमापनयन की स्थिति भी यही होगी।

पृ० ११९८, अनु० १—पू० प०—यह कहना कि "प्रीति, अप्रीति, लज्जा और भय से देना चाहिये, यह भूमिका का कथन मन्द है।"

उ० प०—हां, मन्दबुद्धियों के लिये मन्द है, योगज्ञों के लिए अमन्दानन्द-प्रद है। श्रद्धा और अश्रद्धा शब्द का प्रीति और अप्रीति अर्थ करने में आप कहते हैं, प्रमाण नहीं है, इससे स्पष्ट है कि आपने प्रयोगविषय बहुत थोड़ा देखा है।

श्रद्धाशब्द उत्सुकता-प्रीत्याद्यर्थेषु प्रयुज्यते कोविदैः। यथा—'तथापि वैचित्र्य-रहस्यलुब्धा श्रद्धां विधास्यन्ति सचेतसोऽत्र।' एवमन्यत्र मृग्यम्।

यच्चोक्तम्—"यत्त्वत्र टिप्पणीकारेण मीमांसकम्मन्येनोक्तम्—'अश्रद्धया देयम्' इत्यस्य दानप्रशंसायामेव तात्पर्यं, तदतीव तुच्छम्" इति तत्तु तुच्छं ब्रुवता पण्डितम्मन्येनानेन न शास्त्रविवेचनपुरस्सरमालोचितम्, अपात्रेभ्योऽसत्कृतावज्ञातदानस्य तामसस्येति तृतीयकोटिगतस्याप्याकलनात्, यथा—

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥ गीता १७।२२॥

परं देशे काले पात्रेभ्यश्च असत्कृतमवज्ञातमश्राद्धमपि दानं न तामसं भविष्यति। लोके उपकारकर्मणि तु प्रायः श्रद्धयैव दीयते दानम्। प्रत्युपकारार्थं क्लेशानुभवत्वात् (परिक्लिष्टार्थत्वात्) राजसं दानं कथयिष्यते। तदनुपकारिणे अर्थाद् दानं दत्त्वा प्रत्युपकारो मे भविष्यति, इति यत्र नास्ति मतिः, तथा यद्दानम् अश्रद्धयाऽपि दीयते तत्र दानस्येह चतुर्थकोट्याकलने तस्मादवश्यदेयत्वाद् दान-प्रशंसायामेव तात्पर्यमस्तीति महाप्रज्ञेन मीमांसकशिरोमणिनोक्तं साधु निरुक्तम्।

देखिये—'तब भी वैचित्र्य रहस्य के लोभी विद्वान् पुरुष इस (मेरे कथन में) श्रद्धा अर्थात् प्रीति करेंगे।' (आप्टे-कोश)। इसी प्रकार अन्य प्रयोग भी हैं।

पू० प०—आपने कहा कि "यह जो पण्डितम्मन्य मीमांसक टिप्पणीकार ने कहा है कि 'अश्रद्धा से देना चाहिये, में दान की प्रशंसा में तात्पर्य है' यह अति तुच्छ है।"

उ० प०—तुच्छ वचन करते हुए इस पण्डितम्मन्य पारिजातकार ने शास्त्र-विवेचनपुरस्सर नहीं कहा है; क्योंकि अपात्रों के लिए जो असत्कृत व अवज्ञात दान दिया जाता है, वह दान भी तृतीय तामस कोटि का है। जैसा कि गीता (१७।२२) में कहा है—

देश, काल के विपरीत अपात्रों को जो दान दिया जाता है, वह असत्कृत, अवज्ञात, तासम दान होता है।

पर देशकालानुकूल पात्रों के लिए दिया दान तामस नहीं होगा। लोक में उपकार करनेवाले के लिए भी तो प्रायः श्रद्धा से दान दिया जाता है। क्लेशानुभव करके प्रत्युपकारार्थ वह राजस दान कहलाता है। उपकार न करनेवाले के लिए मेरा प्रत्युपकार हो, यह भावना भी जहां नहीं है, वह दान अश्रद्धा से भी दिया गया हो तो वह दान की चतुर्थ कोटि है। इस कोटि में भी दान अवश्य ही दातव्य है, उसका तो दान-प्रशंसा में ही तात्पर्य होगा। इस प्रकार यहां प्रज्ञावान्

https://t.me/DharmaSamrat

नहि पात्रेभ्योऽश्रद्धयाऽपि दत्तं दानं निष्फलमस्ति। 'अश्रद्धया देयम्' इत्यत्र यश्च अदेयमिति छेदः कृतोऽसावप्यसमीक्ष्यैव। यतो हि कश्चित् समृद्धः पुरुषो दान-पात्राणि विविच्य त्ववधास्यति, परं कार्पण्यदोषोपहतस्य तस्य दृढमुष्टिता नोन्मेष-मायास्यति, तदाऽपि सत्पुरुषैः प्रेर्यमाणो दानमवश्यं कुर्यादित्येव तात्पर्यम्।

पृ० ११९९, अनु० १-२—'कर्मणि वृत्ते वा आचार०' इहापि श्रुत्यक्षरा-सम्बद्धम् 'उदक्षरमेव' इति वा कथनमपि निराधारम्, ऋष्यर्थस्यैव मूलानुगत-त्वात्।

पृ० १२०१, पं० ११—यदाह—"ब्राह्मणभागस्य प्रामाण्यस्वतस्त्वमनङ्गी-कुर्वाणस्य (दयानन्दस्य) प्रमाणदारिद्र्यमेव सूच्यते" इति वचस्तु एतस्य विचार-शीलतादारिद्र्यमेव सूचयति। निर्मथ्य वेदकूपारं यानि तत्त्वानि ऋषिभिर्ब्राह्मणैः सङ्कलितानि तान्येव वैदिकत्वात् प्रस्तूयन्त इह। प्रामाण्यस्वतस्त्वं तु पूर्वमेव साधितं वेदानामन्यग्रन्थानामृषिप्रणीतानामपि परतःप्रामाण्यम्। 'विधीनां च ब्राह्मणभाग

मीमांसकजी ने उत्तम ही निर्वचन किया है, क्योंकि पात्रों के लिए अश्रद्धा से भी दिया दान निष्फल तो होता ही नहीं, अर्थात् उत्तम फलवान् होता है। 'अश्रद्धया देयम्' यहां पर 'श्रद्धयाऽदेयम्' यह 'अदेय' छेद करना भी अविचारित है, क्योंकि जैसे कोई समृद्ध पुरुष दान-पात्रों का विवेचन करके यह तो निश्चय कर ले कि यह पात्र है, पर कंजूस इतना बड़ा हो कि देने की उसकी तबियत न हो, ऐसी कृपणता से उपहत स्वभाववाले को भी सत्पुरुष बार-बार प्रेरणा करके दान दिलवा दे, यह भी उक्त कथन 'अश्रद्धया देयम्' का तात्पर्य है।

पृ० ११९९, अनु० १-२—"तब पूर्ण विद्वान्, पक्षपातरहित, धर्मात्मा, मनुष्यों से पूछ कर शङ्का का निवारण सदा करते रहो" इत्यादि स्वामीजी के अर्थ को अक्षरों से बाहर कर देने मात्र से आपने अपने कुछ न कुछ बोलनेवाला मुंह होने का प्रमाणमात्र दिया है, जबकि ऋषि ने मूल की ही व्याख्या ठीक-ठीक की है।

पृ० १२०१, पं० ११—पारिजातकार का महर्षि पर प्रमाणदारिद्र्य का आरोप इन्हीं की विचारशीलता के दारिद्र्य का सूचक है।

पृ० १२०१, पं० ११—इनका कहना है कि ऋषि दयानन्द ने ब्राह्मणग्रन्थों से जिन्हें परतःप्रमाण माना है, उनसे ऊपर प्रमाण दिये हैं, वेदमन्त्रों के क्यों नहीं दिये। वस्तुतः पारिजातकार का यह कथन हास्यास्पद है; क्योंकि आरण्यक या ब्राह्मणरचयिता ऋषियों ने वेद-समुद्र का मन्थन करके जो तत्त्व संकलित किये थे, वे ही वैदिक होने से यहां प्रस्तुत किये गए हैं। वेदों का स्वतःप्रामाण्य पूर्व ही सिद्ध किया है, तथा ऋषिग्रन्थों का परतःप्रामाण्य भी। 'विधियां तो केवल

एव सत्त्वात्' इत्यत्र एवकारस्तु अल्पश्रुतद्योतको वेदेष्वपि विधिप्रतिपादनात्। एवकारेण तु भवतोऽनुवादकोऽप्यसंहमतः—"विधिवाक्य ब्राह्मणभाग में ही ज्यादातर उपलब्ध होते हैं" अत्र 'ज्यादातर' शब्दनिवेशात्।

पृ० १२०३, अनु० ३—'तपो नाऽनशनात् परम्' इति वचस्तु क्वाचित्कम्, ऋतादीनां परं तपस्त्वात्।

पृ० १२०३, अनु० २, पं० ८—अत्र पौर्वापर्यानभिज्ञता तु श्रीकरपात्रिण एव। किं नास्ति सत्यं धर्मलक्षणम्? किं सत्येन संसारसुखं मोक्षाख्यं सुखं च न प्राप्यते? अथ च प्राप्यत एव।

पृ० १२०५, पं० १७—"न्यास इति ब्रह्मा····· ··तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्' इति वचनरहस्यमज्ञात्वैव स्वामिदयानन्दो यत् किञ्चिदसम्बद्धमेवोक्तवान्। यत्तु 'ब्रह्मवर्चसेन विद्याग्रहणं ब्रह्मोच्यते' इति, तत्तु निर्मूलमेव। यदपि 'विदुषो लक्षणं मानसो व्यापारः' इति, तदपि यत्किञ्चिदेव, निर्मूलत्वात्। तस्मात् सायणसम्मतं पूर्वोक्तव्याख्यानमेव युक्तम्।" इति निखिलो

ब्राह्मणभाग में ही हैं' यहां पर 'ही' कथन अल्पज्ञान का सूचक है। मूल के एव-कार से इनका हिन्दीकार असहमत है, इसीलिये उसने अनुवाद किया है, कि विधिवाक्य ब्राह्मणभाग में ही ज्यादातर उपलब्ध होते हैं। इस 'ज्यादातर' शब्द के रखने से 'वेद में भी विधि' ध्वनित है।

पृ० १२०३, अनु० ३—आपने सर्वोत्तम तप का लक्षण 'तपो नानशनात् परम्' उद्धृत किया है। परिभाषाओं ने जानबूझकर भूखे रहनेवालों को परम तपस्वी मान लिया। इससे बढ़कर तपस्वी नहीं हुए। जबकि ऋषि दयानन्द कहते हैं कि सत्यभाषण और सत्याचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई नहीं"। इस पर करपात्रीजी का कहना है, कि इसका मन्त्राक्षर से कोई सम्बन्ध नहीं और न पूर्वा-पर से। यहां धर्म के लक्षण का कोई प्रसङ्ग नहीं। दुर्जनतोषन्याय से थोड़ी देर आपकी बात मानकर ही हम आपसे पूंछते हैं कि बताइये, क्या कोई इससे उत्तम भी तप का लक्षण हो सकता है? अरे भाई! इस सत्य के द्वारा संसार में भी सुख और मोक्षसुख प्राप्त किया जाता है, भूखे रहनेमात्र से नहीं।

पृ० १२०५, पं० १७—"न्यास इति ब्रह्मा'·····इत्यादि वचन का रहस्य न जानकर ही स्वामी दयानन्द ने जो कुछ भी कहा है, वह असम्बद्ध है। वहां 'ब्रह्मवर्चस से विद्याग्रहण करना ही ब्रह्म है' यह कथन निर्मूल ही है और जो मानस व्यापार विद्वान् का लक्षण बताया है, वह भी निराधार होने से व्यर्थ है। उसका सायणसम्मत पूर्वोक्त व्याख्यान ही युक्त है" यह आपका समस्त लेख सायण

https://t.me/Dharmasamrat

लेखः सायणन्यस्तबुद्धेस्ते न सम्यक्, अतत्त्वज्ञत्वात् ।

तद् ब्रूतां भवान् पुराणेषु ब्रह्मस्वनेकेष्वयं हिरण्यगर्भ एव ब्रह्मा परमात्मा अथवाऽन्येऽपि ? किमयं ते ब्रह्मा देवत्रितयान्तर्गतो न वा ? किं कमलोत्पन्नः परमात्मनो भिन्नो ब्रह्मा ? यत् कमलविष्णोर्नाभेरुदपद्यत ? यश्च स्वस्वस्रा सरस्वत्या सम्बद्धः, किं स एव त्वन्मतः ? यस्य वा पञ्चमं शिरश्छिन्नं शिवेन दग्धं वा शिवतृतीयनेत्राग्निना ।

महाशय ! काचभवनस्थितस्य सुदृढशिलाचितप्रासादस्थितस्योपरि प्रस्तरक्षेपस्ते प्राकृतजनकृत्यम् अस्ति । महर्षिणा चतुर्वेदविदेव ब्रह्माऽत्र चर्चितो यः सर्वथा सङ्गतः । ब्रह्म चरन्तीति ब्रह्मचारिणोऽत्र ब्रह्मेति पदेन विद्याग्रहणमेव, तद्धि ब्रह्म वीर्य-रक्षणपूर्वकमेव अध्येतव्यम् । कात्र ते विप्रतिपत्तिः ?

इदं तु सर्वथा तर्कसङ्गतं यन्मानसव्यापारेणैव विद्वान् लक्ष्यते । आधारस्तु इहैव विस्पष्टो, यथा तस्माद 'विद्वांस एव मानसे रमन्ते' इति वचनात् । सायणापेक्षया ऋषिदयानन्दस्य व्याख्यानं व्यावहारिकं सङ्गततरञ्च ।

पृ० १२०६, पं० ७—यच्चाह—"सत्येन वायुरावाति' । योऽयं वायुरन्त-

के लिए गिरवी रखी हुई बुद्धि का ही परिणाम है; क्योंकि आपने ऋषि दयानन्द के लेख का तत्त्व समझा ही नहीं ।

अच्छा तो आप बताइये, पुराणों के अनेक ब्रह्माओं में यह ब्रह्मा हिरण्यगर्भ परमात्मा है अथवा अन्य ब्रह्म भी परमात्मा हैं या नहीं ? क्या वे सब ब्रह्मा देवत्रितय के अन्तर्गत हैं या नहीं ? क्या कमलोद्भव ब्रह्मा परमात्मा से भिन्न है ? जो कमलविष्णु की नाभि से उत्पन्न हुआ था और जो बाद में अपनी बहिन सरस्वती से सम्बद्ध है, क्या आपका वही ब्रह्मा है ? जिसका पांचवां सिर शिव ने काट दिया था या कि तृतीय नेत्र की अग्नि से दग्ध कर दिया था ।

महाशय ! आश्चर्य है, आप कांच के भवन में स्थित होकर सुदृढ़ शिलाओं से निर्मित प्रासाद में स्थित के ऊपर पत्थर फेंक रहे हो । यह प्राकृत (मूर्ख) जन-कार्य है । खैर, महर्षि ने चतुर्वेदविद् ब्रह्मा की ही चर्चा की है, जो सर्वथा सङ्गत है । ब्रह्म वेद को प्राप्त करने में ब्रह्म की चर्चा की है । यहां पर विद्याग्राहक को ब्रह्मचारी कहा गया है । वह ब्रह्म वीर्यरक्षा करने से ही प्राप्त किया जाता है, इसमें आपको भी क्या सन्देह हो सकता है ?

और यह तो सर्वथा तर्कसङ्गत है कि मानस व्यापार के द्वारा ही विद्वान् लक्षित होता है । इसके अर्थ का आधार यहीं पर स्पष्ट है । इसीलिए कहा गया है कि मानस में विद्वान् ही रमते हैं । सायणार्थ की अपेक्षा ऋषि दयानन्द का अर्थ व्यावहारिक और सङ्गततर है ।

पृ० १२०६, पं० ७— यह कहना कि सत्य से वायु बहता है, जो कि अन्तरिक्ष

रिक्षे वाति सोऽयं पूर्वजन्मनि मनुष्यः सन् सत्यवादित्वं परिपाल्य तेनैव सत्येन वायुदेवतात्वं प्राप्य इदानीं लोकानुग्रहायान्तरिक्षे वाति, तथैवादित्योऽपि" इति सर्वं कपोलकल्पितं बुद्धि व्यभिचरति, अशास्त्रीयत्वात् । एषा मतिस्तु संग्रहालये एव न्यसनीया आसीत् । एतयैव मत्याऽयं पृ० १२१० त्रयोदशपंक्तौ अनर्गलं दयानन्दवचनं कथयति, यद्वा च स्वयमेव प्रकरणमबुध्यमान उच्छृङ्खलं प्रलपति ।

१२११ पृष्ठे भवानुद्भावयति प्रश्नं 'किं धर्मोऽप्यसत्यो भवति ?' महोदय ! यदसत्यं भवान् धर्मत्वेन प्रतिपादयति स एव भवतो धर्मो भवितुमर्हेत् । तृतीयपंक्तौ विचित्रा मतिस्तु प्रदर्शिन्यामेव भवतः प्रस्तोतव्या, या 'सत्यम्' इत्यत्र न सत्यं धर्मत्वेन मनुते, न वाऽपि तदाचरणाय स्वीकुरुते, पुनः सत्यमिति किमर्थकं स्यात् ?

में चलता है । इससे पूर्वजन्म में मनुष्यरूप धर कर सत्यवादिता का पालन करके देवतापन को पाकर इस समय लोकों पर वायु अनुग्रह करने के लिए अन्तरिक्ष में बह रहा है । आर्यवृत्तों में (मनु० ४।१७५) इत्यादि प्रमाणों से सत्यभाषण व आचरण धर्म है । सत्य तो जीव का धर्म है जिससे वह मोक्ष को प्राप्त होता है फिर पतन को प्राप्त नहीं होता । सत्यभाषण और आचरण जीव में ही घटित है, परमेश्वर में नहीं । शाश्वत सत्य धर्म का परम आश्रय तो ब्रह्म ही है, जहां से समस्त सत्य प्रकाशित हुआ । जीव का सत्यधर्म स्वाभाविक गुण नहीं, प्रत्युत नैमित्तिक है । इस जीव के तुल्य ब्रह्म का धम नहीं । वह तो स्वयं ही नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभावरूप सत्यस्वरूप है । ईश्वर द्रव्य है । सत्य उसका नित्य गुण है । गुण और गुणी में अभेद है, अतः गुण का अधिकरण भी है । 'कैसे अधिकरण है' यह शङ्का आकाशकुसुमवत् समझनी चाहिये ।

उसी प्रकार अग्नि आदि भी सब कपोलकल्पित हैं और बुद्धिसङ्गत नहीं हैं, क्योंकि अशास्त्रीय हैं । क्या ही कमाल का सोचना है । इस बुद्धि को तो संग्रहालय में रखना चाहिये था । इसी बुद्धि से यह १२१० पृ० पर १३वीं पंक्ति में स्वामी दयानन्द के कथन को अनर्गल कहने का दुःसाहस कर रहा है । जब कि स्वयं ही प्रकरण को न समझकर ऊल-जलूल कहता है ।

पृ० १२११ पर आप प्रश्न कर रहे हैं कि 'क्या धर्म भी असत्य होता है ?' महोदय ! जिस असत्य मृतकश्राद्ध, मूर्ति-पूजादि को आप धर्मरूप में प्रतिपादित करते हैं, वह आपका असत्य भी कदाचित् धर्म हो सकता है । ऐसी कुतर्कशील मति तो अजायबघर में रखने योग्य है, जो सत्य को धर्म नहीं मानती और न उसे आचरण के लिये स्वीकार करती है । फिर 'सत्य' यह किस अर्थवाला है । अतः असत्य धर्मरूप में न मान लिया जाये, इसी से 'सत्य' पद का विनिवेश किया गया है ।

https://t.me/DharmaSanra

पृ० १२११, अनु० २—यच्चाह—"अयमर्थो मूलात् संस्कृतभाष्याच्च बहिर्भूत एव" इति, तत्र मक्षिकास्थाने मक्षिकानिपातशीलायास्ते मतेर्बहिर्भूतमेव। नैवाक्षरप्रत्यक्षरानुवादः कृत ऋषिणा, प्रत्युत भाष्यानुषङ्गि तदनुरूपमाख्येयमधिकमपि विशदीकृत्य क्वचिद् व्याख्यातमिव। नह्यसौ भवादृशो वेदगौरवनाशकृद् भाष्याभासविस्तरकृत्।

पृ० १२११, अनु० ३—यदुक्तम्—"सत्यमित्यस्य सत्यधर्मोऽर्थः सत्यभाषणं वा? नाद्यः प्रमाणविरहात्, नान्त्यः तथाऽव्याख्यानात्" इत्यपि शास्त्राप्रतिभानवशादेव शङ्कितम्। सत्यं सत्यधर्म इति कथन्न, एतद्विषये नहि प्रमाणमुपस्थापितं भवता।

सत्यस्य धर्मत्वं तु प्रशस्तपादभाष्येऽपि प्रतिपादितम्। 'तत्र सामान्यानि धर्मे श्रद्धा, अहिंसा, भूतहितत्वं, सत्यवचनम्' इत्यादि। भाषणमित्यर्थस्तु कृत इहैव 'सत्यं परम्' सत्यभाषणात् सत्याचरणादिति। एवं तथाऽव्याख्यानादिति प्रमाद-

---

पृ० १२११, अनु० २—"सो सब आत्माओं का भी आत्मा है, उसकी आज्ञा का पालन सब मनुष्यों को करना चाहिये" इस अर्थ को मूल और संस्कृतभाष्य से बहिर्भूत कहना मक्खी के स्थान पर मक्खी रखनेवाली अप्रतिभाशील आपकी मति से अवश्य बहिर्भूत है। ऋषि ने अपने भाष्य का अक्षर प्रत्यक्षर हिन्दी-अनुवाद करके नहीं रक्खा है अपितु भाष्यानुकूल इस अर्थ को विशदरूप में भी आख्येय बात को अधिक खोल दिया है। ऋषिवर तो आपके समान वेदगौरव-नाशक व भाष्याभास के विस्तारक नहीं हैं।

पृ० १२११, अनु० ३—यहां पर आप कहते हैं कि "आप (भूमिकाकार) बताइये कि यहां पर सत्य का अर्थ सत्यधर्म है या सत्यभाषण? प्रमाण के न होने से प्रथम अर्थ नहीं हो सकता। दूसरा अर्थ इसलिये नहीं हो सकता कि आपने व्याख्यान नहीं किया है। सत्यधर्म का अधिकरण ब्रह्म को नहीं बनाया जा सकता; क्योंकि परमात्मा तो सब धर्मों से परे है। वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव है।" इत्यादि समस्त कथन शास्त्रस्थल को न समझने के कारण है। सत्य अर्थ नहीं है, इसके विषय में आपने कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है।

सत्य को धर्म प्रशस्तपादभाष्य में भी कहा है। जैसे उन (सामान्यधर्म और विशेष धर्मों के साधनों में) धर्म में श्रद्धा, अहिंसा, प्राणियों का उपकार, सत्य-वचन आदि। सत्यभाषण तो यहीं पर बताया गया है, जैसे 'सत्यं परं परं सत्यम्' इत्यादि के भाष्य में सत्य के स्वरूप का व्याख्यान यहीं पर किया गया है। यथा सत्यभाषण और आचरण से उत्तम धर्म का कोई भी लक्षण नहीं है। अतः

प्रलाप एव। तथा 'तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये', 'नहि सत्यात्परो धर्मः', 'सत्यधर्मार्यवृत्तेषु' (मनु० ४।१७५) इत्यादिप्रमाणैः सत्यं धर्मत्वेन सिद्धं, तस्य भाषणमाचरणमुभयमपि तदन्तर्गतमेव।

सत्यं हि खलु जीवधर्मो येन स नित्यमोक्षसुखं प्राप्य न च्यवते, सत्यभाषणस्य सत्याचरणस्य जीव एव घटितत्वात्। नहि तथा सत्यं ब्रह्मणो धर्मः, तस्य ब्रह्मणो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावरूपसत्यस्वरूपत्वात्, ईश्वरस्य तद्गुणवत्वाच्च। तदा ब्रह्म सत्यस्य धर्मस्य कथमधिकरणम्? इत्युक्तिस्तु खपुष्पायते। एवं शाङ्करभाष्यपुच्छं गृहीत्वा शास्त्रार्थाम्बुधिं तितीर्षावतोऽस्य शैवालजालग्रहणवत् किञ्चित्करम्। परमार्थत एकस्यैव ब्रह्मणः सत्तावतस्तस्य स्वप्राप्तस्यात्मने प्राप्तव्यत्वानापत्तेः।

पृ० १२१३, पं० १—यदाह—"अत एव नात्र सत्यधर्माचरणं विधीयते, किन्तु सत्येनानृतत्यागेन लभ्यः प्राप्तव्य आत्मा" इत्यादि शङ्कराचार्येण सत्यार्थः

'व्याख्यान नहीं किया गया है' यह कथन प्रमत्तालाप है। सत्यधर्म में प्रमाण यह है—'नहि सत्यात्परो धर्मः' सत्य से श्रेष्ठ कोई धर्म नहीं। हे पूषन्! तुम सत्यधर्म और इष्टि के लिए अज्ञान को हटा दो। आर्यवृत्तों में (मनु० ४।१७५) इत्यादि प्रमाणों से सत्यभाषण व आचरण धर्म है।

सत्य तो जीव का धर्म है, जिसके द्वारा वह मोक्ष प्राप्त करता है, फिर पतन को प्राप्त नहीं होता। सत्यभाषण और आचरण जीव में ही घटित होता है, परमेश्वर में नहीं। शाश्वत सत्यधर्म का परम आश्रय तो ब्रह्म ही है, जहां से समस्त सत्य प्रकाशित हुआ। जीव का सत्यधर्म स्वाभाविक गुण नहीं, प्रत्युत नैमित्तिक है। इस जीव के तुल्य ब्रह्म का धर्म नहीं। वह तो स्वयं ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभावरूप सत्यस्वरूप है। ईश्वर द्रव्य है, सत्य उसका नित्यगुण है। गुण और गुणी में अभेद है, अतः गुण का अधिकरण भी है। 'कैसे अधिकरण है' यह शङ्का आकाशकुसुमवत् समझनी चाहिये।

पृ० १२१३, पं० १—"परमात्मतत्त्व का ज्ञान पहले बताया, अब यथार्थ-ज्ञान के सहायक निवृत्ति-प्रधान सत्यादि साधनों को बताया जा रहा है, क्योंकि विद्वान् और विविदिषुओं के सर्वकार्य संन्यास का विधान किया गया है, इस कारण 'सत्यधर्म के आचरण का विधान किया जा रहा है' यह नहीं कह सकते। किन्तु सत्य से अर्थात् अनृत (झूठ) भाषण के त्याग से आत्मा की प्राप्ति करनी चाहिये।" इत्यादि शङ्कराचार्य की छाया लेकर यह कहना कि उन्हीं का अर्थ

https://t.me/DharmaSamrat

प्रतिपादित एषोऽर्थः सत्यः, तत्तु अविचारितमेव, नहि केवलम् अनृताभावाद् आत्माऽऽचरणेन विना प्राप्तुं शक्यते। नहि दुष्टतात्यागमात्रेण सत्पुरुषा भवन्ति, प्रकाशाभावस्तु अन्धकारो भवति, न चान्धकाराभावः प्रकाशो भवति, प्रकाशस्य भावात्मकत्वात्।

ननु अद्वैतमते ब्रह्मणोऽतिरिक्तवस्तुनोऽभावे वास्तविके अनृताभावे तदेव ब्रह्म सत्यमवशिष्यते, तदा कथं न शाङ्करव्याख्यानं प्रश्रयणीयमिति चेन्न, तथात्वेऽपि त्याज्यान्यान्यप्रश्नानुद्भावे कस्य को वा प्राप्तव्यः? अस्मादयमद्वैतसत्तात्मकः सिद्धान्त एव न गरीयान्।

'समाहितो भूत्वाऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्' इति श्रुतावपि अयमेवार्थो यज्जीवात्मा सर्वेन्द्रियाणि संयम्य आत्मनि परमात्मनि आत्मन्येव वा स्थितः सन् आत्मानं पश्येत्। अद्वैते सति द्रष्टुर्दृश्यस्याभावे एकमात्रद्रष्टरि परमात्मनि सदात्मनो ज्ञाने सम्भवे न प्रयत्नस्य साधनाया वाऽवश्यकताऽस्ति।

सत्य है, यह आपका घोर अज्ञान है, कि झूठ के त्यागने मात्र से अर्थात् सत्य, शम, दम के आचरण के बिना ही आत्मा प्राप्त हो जायेगा। कोई व्यक्ति गुण्डापन छोड़ने मात्र से सज्जन नहीं हो सकता। जब तक वह उत्तम आचरण परोपकार आदि नहीं करता। प्रकाश का अभाव तो अन्धकार है, पर अन्धकार का अभाव प्रकाश नहीं होता; क्योंकि प्रकाश भावात्मक है। इसी प्रकार झूठ का अभाव सत्य का स्वरूप नहीं हो सकता।

शङ्का—नवीनाद्वैत सिद्धान्त में ब्रह्म के अतिरिक्त वास्तविक वस्तु के अभाव में अर्थात् अनृत के अभाव में ब्रह्म सत्य ही अवशिष्ट रह जाता है, तो फिर शङ्कर का व्याख्यान ही आश्रयणीय है।

समा०—तब एक ब्रह्म की सत्ता होने पर त्याज्य, अन्यान्य अर्थात् एक वस्तु को छोड़ने तथा दूसरी को ग्रहण करने का प्रश्न ही नहीं उठता और फिर कौन किसके द्वारा प्राप्त किया जायेगा? अतः यह अद्वैत सिद्धान्त ही असत्य है।

'समाहित होकर आत्मा में ही आत्मा को देखे' इस श्रुति का यही अर्थ है कि जीवात्मा सब इन्द्रियों का संयम करके आत्मा अर्थात् परमात्मा में अथवा अपने में ही स्थित होकर आत्मदर्शन करे। उक्त अद्वैत सिद्धान्त में द्रष्टा और दृश्य का अभाव है। एकमात्र द्रष्टा परमात्मा के होने पर सदा ही आत्मज्ञान सम्भव है। उसे फिर इस प्रयत्न और साधना के विधान की आवश्यकता ही नहीं होती।

न च जीवात्मपक्षेऽपि एवमवगन्तव्यं यत् स एव यमात्मनि समाहितः सन्नात्मानं पश्येदित्यप्यर्थो न सम्भवतीति वाच्यम्, जीवात्मनो मायाद्यावरणेनान्तःकरणस्यावृतत्वे दर्शनाभावे प्रयत्नपरत्वस्य सार्थक्यात्, परमात्मनः पुनस्तज्ज्ञानस्य तस्य च मध्ये मायाया अप्रवेश्यत्वात्।

पृ० १२१३—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इत्यस्य व्याख्यावयेष पा[illegible]तकृता यल्लिखितं तदपि विशृङ्खलम्। वेदद्वारा कीदृशी प्रेरणा? किं प्रामाणिका च सा इत्यादिप्रश्नाः पक्षपातशृङ्खलानिगडितधीजन्याः प्रतीयन्ते। नैकत्र समग्रमुल्लिखितुं शक्यते, यथास्थाने तत्तद्विषयस्य समुट्टङ्कनौचित्यात्।

तथापीह किञ्चिदुच्यते—'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः' इति (कुमारिलभट्टः)। एतदर्थं वेदे प्रायो लिङ्लोटादिलकाराणां प्रयोगो भवति। 'विषये च विधिरूपवाक्यं वेदे' इति नास्ति प्रमाणितम्। एतद्व्याख्यानेन मूर्तिपूजादिपौराणिकविषया निःसारा एव सिद्धाः। तत्र वेदविधेरनुपलब्धेः। सन्ध्याऽग्निहोत्रादिवैदिककर्मणां च विषये विधय उपलभ्यन्ते।

शङ्का—जीवात्मा के पक्ष में भी इस प्रकार नहीं समझना चाहिये कि वह स्वयं आत्मा में समाहित होकर आत्मा को देखे, यह अर्थ भी सम्भव नहीं हो सकता।

समा०—जीवात्मा अल्पज्ञ है। अतः माया आदि प्रपञ्च से अन्तःकरण के आवृत होने पर आत्मसाक्षात्कार के न होने पर उसे इस प्रयत्नविधान की सर्वथा आवश्यकता है। परमात्मा और उसकी नित्य सर्वज्ञता के मध्य में माया का प्रवेश नहीं हो सकता। अतः तुम्हारा तर्क (पूर्वपक्ष) सम्भव नहीं है।

पृ० १२१३—पू० प०—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' की ऋषिकृत व्याख्या के विषय में पारिजातकर्ता का कथन है कि यह व्याख्यान भी अस्त-व्यस्त है, क्योंकि इस व्याख्या में इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं बनता कि वेदों के द्वारा कैसी प्रेरणा मिलती है, इसमें क्या-क्या प्रमाण हैं।

उ० प०—ये सभी प्रश्न पक्षपात की शृङ्खला से निगडित-बुद्धिजन्य हैं। एक ही स्थान पर तद्विषयक समग्र कथन करना तो सर्वथा असम्भव है, तत्तद् विषय में उतना ही वांछित कहना उचित है।

तब भी कुछ लिखा जा रहा है—कुमारिलभट्ट ने कहा है कि 'चोदना, उपदेश तथा विधि एकार्थवाची हैं।' इसलिए वेद में प्रायः लिङ्, लोट् आदि लकारों का प्रयोग होता है। जिस विषय में वेद का विधान नहीं है, वह धर्म नहीं हो सकता। इसलिये मूर्तिपूजा आदि पौराणिक विषय निःसार सिद्ध हैं, क्योंकि इसमें वेद का विधान अनुपलब्ध है। सन्ध्या, अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों के विषय में विधियां उपलब्ध हैं।

https://t.me/Dharmadarshan

किं प्रामाणिका च सा चोदना इति विषये इदमेवोदीर्यते यत् सा वेदप्रमाणिका। न च तत्प्रमाणेऽपि अन्यत् प्रमाणमाकांक्षितम्, वेदानां स्वतःप्रामाण्यात्। कथं च तया धर्मबोध इति बालवचनमेव। नहि द्वारद्वारिणोरभेद इत्याक्षेपस्तु मीमांसाकारे एव भवतः, अन्यथा सत्रकृतो दिशयैवावगन्तव्यमखिलम्। अन्ये प्रश्नाश्च बालबुद्धिप्रेरिताश्चातो न विशिष्य आलोच्यन्ते, तथाप्येतत्त्वध्येतव्यमेव यदीश्वरः शास्त्रवेदमीमांसाद्वारा विधिनिषेधौ च प्रणिदधाति।

पृ० १११३, अनु० २—'यतोऽभ्युदय०' सूत्रार्थमपि अधिक्षिपन्नाहायम्—"तदपि न मनोज्ञम्, इष्टसुखस्यानिर्वचनात्। सुखं नाम नानिष्टं भवति।" एतस्य इदं वचस्तूपहासास्पदमेव यद् वक्ति यत् 'न किमपि सुखमनिष्टं भवति' इति।

महाशय! अस्मिन् सूत्रे अभ्युदय इति पदमस्ति, यस्यार्थोऽभ्युन्नतिः, साफल्यं सम्पत्तिर्वा भवति। स एव अभ्युदय इष्टः, यथा 'भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम्'। सांसारिकसुखमतिशयविषयसेवनजन्यं यच्च भवद्व्याख्यानुसारमिष्टं भवितुमर्हत् परं तन्नेष्टमिह परिणामे दुःखावहत्वात्। परं सांसारिकसुखमिह तदेवेष्टं यन्न निःश्रेयसबाधकं स्यात्, अन्यथा अभ्युदयनिःश्रेयसयोरुभयोर्विरुद्धार्थ-

---

चोदना में वेद ही प्रमाण है। इसके लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वेद स्वतःप्रमाण हैं। उस चोदना से धर्मबोध कैसे होता है, यह कथन अबोध बालक जैसा है। 'द्वार और द्वारी में अभेद नहीं होता।' यह आक्षेप तो मीमांसाकार पर ही है, अन्यथा आपको सूत्रकार की दिशा से ही इसे समझ लेना चाहिये। अन्य शेष प्रश्न बाल-बुद्धि-प्रेरित हैं, अतः विशेषरूप से उनकी आलोचना नहीं की जा रही है। तब भी इतना तो समझ ही लीजिये कि ईश्वर वेद के द्वारा विधि और निषेध प्रणिधान करता है।

पृ० १११३, अनु० २—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस०' इस वैशेषिक सूत्र की ऋषिकृत व्याख्या पर भी यह आक्षेप करते हुए कहते हैं कि "वह भी सुन्दर नहीं है; क्योंकि इष्ट सुख क्या है, इसका निर्वचन कर पाना कठिन है। सुख किसी को अनिष्ट नहीं होता।"

महाशय! इस सूत्र में अभ्युदय पद का अर्थ है—अभ्युदय, सफलता व सम्पत्ति। वही अभ्युदय इष्ट कहलाता है, जैसा कहा है कि 'वैसे लोगों का जन्म ही लोकाभ्युदयहेतु होता है।' सांसारिक सुख जो अतिशयविषयसेवनजन्य है, जो आप की व्याख्या के अनुसार किसी का इष्ट भी हो सकता है, पर वह इस स्थल पर अभीष्ट नहीं है। क्योंकि परिणाम में वह दुःखावह है, परन्तु सांसारिक सुख भी वही इष्ट है जो निःश्रेयस (मोक्षमार्ग) का बाधक न हो। अन्यथा

सम्पादनाद् धर्मपरिभाषाऽपि अनर्था स्यात्। शिष्टं यदाख्यातं भवता तन्मीमांसानुकृतिमात्रम्।

इति श्रीमद्बिहारीलालशास्त्रिशिष्येण श्रीयुतपण्डित-अयोध्याप्रसाद-
मिश्रात्मजेन श्रीमदाचार्यविशुद्धानन्दमिश्रेण श्रीयुतनिर्मला-
मिश्रा-सहधर्मिणीसहायेन विरचिते करपात्रिमतखण्डने
दयानन्दीयमतमण्डने 'वेदार्थकल्पद्रुम'नामग्रन्थे
'वेदोक्तधर्म-विषयः'
॥ सम्पूर्णः ॥

अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों का विरुद्धार्थ सम्पादन करने से धर्म की परिभाषा भी अनर्थक हो जायेगी। आपका शेष कथन मीमांसा की टीकाओं की नकलमात्र है।

श्रीमान् पण्डित बिहारीलालजी शास्त्री के शिष्य, श्रीयुत पण्डित
अयोध्याप्रसाद मिश्र के आत्मज, श्रीमदाचार्य विशुद्धानन्द
मिश्र द्वारा श्रीयुतनिर्मला मिश्रा सहधर्मिणी की
सहायता से विरचित करपात्रिमतखण्डन तथा
दयानन्दीय मतमण्डन करनेवाले इस
'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ
में 'वेदोक्तधर्म-विषय'
॥ सम्पूर्ण हुआ ॥

https://t.me/DharmaSamrat

अथ सृष्टिविद्या-विषयः

पृ० १२१६, पं० १४—यदुक्तम्—"तदपि न युक्तं, मन्त्राक्षराननुगमात्। तथाहि—'असद् आसीत्' इत्यत्र असदित्यस्य शून्याकाशं नासीदित्यर्थः कुतो लब्धः? शब्दगुणकस्याकाशस्यासत्त्वायोगात्।"

अत्रोच्यते—महोदय! पौर्वापर्यानवलोकनशील! न ध्यातं यत् 'यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीद्' इत्यनेन ध्वन्यते यत् तदा संयोगविभागादिकारणजन्योऽनित्यः शब्दोऽपि नासीत्, पुनः कः प्रश्न एवंविधाकाशस्थितेः, अत एव हेतुरेष उपन्यस्त ऋषिणा 'तद्व्यवहारस्य वर्तमानाभावादिति'।

तथा च 'आसमन्तात् काशन्ते सूर्यादयोऽत्रासौ आकाशः' इयं हि संज्ञा सृष्टेः पूर्वं सूर्यादीनामुत्पत्तेः प्राक् कथङ्कारं भवितुमर्हति? सदसद्भावविचिकित्सायां व्यवहारवर्तमानाभाव एवं चोपयुङ्क्ते। न कर्हिचित् परमार्थतोऽभावकथनमिह।

यच्चोक्तम्—"कारणस्वरूपनिरूपणपरेयं च श्रुतिः कथं सृष्टिनिरूपण-

---

पृ० १२१६, पं० १४—"किन्तु स्वामी दयानन्द की 'नासदासीन्नो' इस मन्त्र की व्याख्या सही नहीं है; क्योंकि इसमें मन्त्राक्षरों का सही अर्थ नहीं किया गया है। जैसे कि 'नासदासीत्' इस वाक्य में 'असत्' शब्द का अर्थ शून्य आकाश किस आधार पर किया गया है; क्योंकि शब्द गुणवाला आकाश असत् नहीं माना जाता।"

इसका समाधान यह है—महोदय! आपका स्वभाव पौर्वापर्य पर विचार नहीं करता। आपने यह भी लिखा हुआ नहीं देखा कि 'जब यह कार्यसृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी' इस वाक्य से ध्वनित होता है कि तब संयोगविभागादि कारणों से जन्य शब्द भी नहीं था। फिर इस गुणवाले आकाश की स्थिति का प्रश्न भी पैदा नहीं होता, इसलिए ऋषिवर ने यह हेतु प्रस्तुत किया है कि उस समय उस आकाश का व्यवहार नहीं था। वैसे आकाश तो सदा रहता है।

दूसरे 'जहां पर पूर्णरूप से सूर्यादि लोक प्रकाशित होते हैं, उसे आकाश कहते हैं। यह संज्ञा सृष्टि से पूर्व सूर्यादि की उत्पत्ति से पहले कैसे हो सकती है, सद्-असद्भाव की विचिकित्सा में व्यवहार-वर्तमान को अभाव ही कथन करना उपयुक्त है, न कि सर्वथा परमार्थरूप में अभाव का कथन करना।

तथा दूसरी बात यह कहना कि—"इस श्रुति में जगत् के कारण का निरू-

परेत्युच्यते" इति भवदाक्षेपो भ्रामकः; यतो हि एतस्य सूक्तस्य 'भाववृत्तम्' देवताऽस्ति। भावश्च—

> 'भावः सत्ता स्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु।
> क्रियालीलापदार्थेषु, आद्यर्थेषु प्रयुज्यते॥'

अतः कार्यकारणयोरुभयोरपि तदात्मकत्वात् (भावात्मकत्वात्) कारणस्य पूर्वभावत्वात् कार्यस्य च परभावत्वात्, परस्परापेक्षत्वात् स्वरूपनिरूपणे सृष्टि-विद्या-विषय इति शीर्षकत्वेन मन्त्रविनियोजनं सर्वथा तूपपद्यते।

पृ० १२१७, पं० १—पू० प०—यच्चाप्युक्तम्—"नहि व्यवहाराभावेऽपि वस्तुसतोऽसत्त्वं सम्भवति, सुषुप्तौ व्यवहाराभावेन प्रपञ्चस्यासत्त्वापातात्।"

उ० प०—विषमोक्तिरेषा, इह ऋषिणा वर्तमानताया अभाव उक्तो न तु भाविव्यवहारस्याधिकरणताऽभावः। सुषुप्तौ सर्वव्यवहाराभाव इति तु नोचितम् 'सुखमस्वाप्सम्' इत्यनुभूतेः सम्भवात्। आकाशस्य च व्यवहार उत्क्षेपणावक्षेप-णादिगमनागमनसंयोगवियोगादिजन्यशब्द एव। सुषुप्तौ तादृक् क्रियात्मकव्यव-

---

पण किया गया है, इसका सृष्टि के निरूपण में विनियोग कैसे किया जा सकता है?" सर्वथा भ्रामक है; क्योंकि इस सूक्त की देवता 'भाववृत्त' है। और भाव शब्द सत्ता, स्वभाव, अभिप्राय, चेष्टा, आत्मा, जन्म, क्रिया, लीला, पदार्थ आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। अतः कार्य और कारण दोनों ही भावरूप हैं। इनमें कारण का भाव पूर्ववर्ती और कार्यभाव परवर्ती है। ये दोनों परस्परापेक्ष हैं, अतः स्वरूपनिरूपण करने में 'सृष्टिविद्या-विषय' इस शीर्षक से मन्त्र का विनियोजन सर्वथा उपयुक्त है।

पृ० १२१७, पं० १—पू० प०—"व्यवहार न होने से किसी वस्तु का अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि ऐसा मानने पर तो सुषुप्ति अवस्था में जब किसी प्रकार का व्यवहार नहीं चलता, प्रपञ्च का अभाव मानना पड़ जायेगा।"

उ० प०—आपका कथन ठीक नहीं है; क्योंकि यहां पर आकाश में व्यवहार की वर्तमानता का अभाव कहा गया है। व्यवहार की भाविनी अधिकरणता का अभाव नहीं कहा गया है। आप कहते हैं 'सुषुप्ति में किसी प्रकार का व्यवहार नहीं होता', यह कथन गलत है, क्योंकि सुषुप्ति में 'मैं सुखपूर्वक सोया' यह सुख-अनुभूतिरूप व्यवहार होता ही है, जिसे जागने पर प्रकट करता है। सुषुप्ति में यह अनुभूति होना ही व्यवहार है। आकाश का व्यवहार उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन तथा संयोग वियोगजन्य शब्द हैं। सुषुप्ति में उक्त

https://t.me/DharmaSastra

हारस्य कल्पयितुमशक्यत्वम्; सुखानुभूत्यात्मक-भावात्मक-व्यवहृतेः सम्भवात्। एवं सुप्त्वा प्रबुद्धस्य जनस्य 'सुषुप्तौ नाहमासम्' इत्यात्मक-स्वभावपरामर्शविषयानुभवात् 'शून्यमात्मा' इति वादस्तु नास्तिकबौद्धानाम्।

किञ्च आकाशस्य व्यवहाराभावे ऋषिणा आकाशाभाव उक्तः; परं भवान् विपरीतमाह—सुषुप्तौ व्यवहाराभावे प्रपञ्चाभावः, तथा सुषुप्तौ वासनानां निद्रादोषेण कुण्ठितत्वात्। सर्ववृत्तिनिरोधरूपव्यवहारे जीवात्मना परमानन्दाभासानुभूतिः क्रियते। तथा च सुषुप्तावपि प्राणकार्यव्यवहारस्यानवरततैव सुषुप्त्यवस्थानुरूपो व्यवहारोऽयमेव। प्रपञ्चसत्त्व एव सुषुप्तिरवस्था तथात्वे वाऽपि समाधिः। तत्रात्मसाक्षात्कारे प्रपञ्चव्यवहारो निवर्तते; परन्न तथापि शरीराद्यधिकरणता, कार्यप्रपञ्चस्य सत्त्वाद् वस्तुतः सुषुप्तावेकस्य जीवस्य दृष्टेरभावोऽपि मन्येत नाम, परञ्चान्येषां समेषां जाग्रतां दृष्ट्या, परं कार्यजगदुत्पत्तावसत्यां तु

व्यवहार के प्रत्यक्ष करने की कल्पना नहीं की जा सकती। भावात्मक व्यवहार सुखानुभूति है। सुषुप्ति में द्रष्टा और दृश्य का अभाव हो जाता है। इस युक्ति से सोकर उठे हुए पुरुष का 'सुषुप्ति में मैं नहीं था' इस प्रकार आपके द्वारा अभाव के परामर्श को विषय करनेवाला अनुभव होने के कारण 'शून्य को भी आत्मा मानना' नास्तिक बौद्ध का सिद्धान्त है।

दूसरे आकाश का व्यवहार न होने से ऋषि ने आकाश का अभाव बताया पर आपका उल्टा तर्क देखिए। आप कहते हैं कि सुषुप्ति में किसी प्रकार का व्यवहार न होने से प्रपञ्च का अभाव मानना पड़ जाएगा। श्रीमन्! जब आकाश के व्यवहार न होने पर आकाश का अभाव कहा गया, उसी प्रकार सुषुप्ति का अभाव आ पड़ेगा, ऐसा कहना चाहिये, न कि प्रपञ्च का अभाव। प्रपञ्च का व्यवहार तो स्वयं सुषुप्ति है फिर उसका अभाव कैसे आ पड़ेगा? अतः ईश्वर द्वारा रचे जानेवाले आकाश का व्यवहार तो फैली हुई प्रकृति के घनत्व होने या रचना करने के लिए समेटने पर ही सम्भव है। तथा सुषुप्ति अवस्था में वासनाओं के निद्रादोष से कुण्ठित हो जाने पर सब वृत्तियों के निरोधरूप व्यवहार से जीवात्मा को आनन्द की झलक की अनुभूति होती है, तथा सुषुप्ति में भी प्राणकार्य कभी बन्द नहीं होता। सुषुप्ति अवस्था के अनुरूप यही व्यवहार है; क्योंकि प्रपञ्च के होने पर ही तो यह सुषुप्ति है और समाधि है। आत्मसाक्षात्कार में प्रपञ्च का व्यवहार न भी रहे तो भी शरीरादि के आधार तो प्रपञ्च है ही। यह सत्तात्मकता ही व्यवहार है तो अन्य से एक कोई को दृष्टि के अभाव भी मानते हो, तो अन्य जागते की दृष्टि में तो नहीं। पर कार्यजगत् के न होने पर आकाश

सर्वथैव व्यवहाराभावाद् आकाशाभाव एवेति तत्त्वम्।

किञ्च सुषुप्तिः स्वयं कार्यव्यवहारः प्रपञ्चस्य। तत्सुषुप्तिसत्त्वे तत्प्रपञ्चत्वमिति अन्वयः, प्रपञ्चाऽसत्त्वे सुषुप्त्यसत्त्वमिति व्यतिरेकः। आभ्यामस्मत्कथनं सिध्यति। न च तथा तवोक्तिः सत्या यत्सुषुप्तिव्यवहारासत्त्वे प्रपञ्चासत्त्वम्। सुषुप्तिस्वरूपनिरूपणे शङ्कराचार्योऽप्याह—"स्थानद्वयप्रविभक्तं मनः स्पन्दितं द्वैतजातम्, तथा रूपपरित्यागेनाविवेकापन्नं नैशतमोग्रस्तमिवाह सप्रपञ्चमेकीभूतमित्युच्यते"।

प्र०—ननु समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु आनन्दानुभूतत्वाद् एषु परस्परं किमन्तरम्?

उ०—अस्मिन् शरीरे सति ज्ञानसहितो जीवो ब्रह्मणः सम्बद्धः सन् समाधिमाधत्ते, स च ज्ञानरहितः सुषुप्तिमधिश्रयते। स शरीररहितो ज्ञानसहितो मुक्तिमाश्रयते।

प्र०—स्थूलशरीरविद्यमानतायां ब्रह्मणा सह जीवस्य कथङ्कारं सम्बन्धो भवितुमर्हेत्?

के व्यवहार का तो सर्वथा अभाव ही है।

दूसरे सुषुप्ति स्वयं भी प्रपञ्च का कार्यव्यवहार है। उस सुषुप्ति के होने पर प्रपञ्च का होना सिद्ध है, जैसे धूम्र होने पर अग्नि की सत्ता, यह अन्वयवृत्ति है। प्रपञ्च के होने पर सुषुप्ति का न होना व्यतिरेक है। इन दोनों से हमारा कथन सिद्ध है, तब आपकी यह उक्ति कि 'सुषुप्ति के व्यवहार न होने पर प्रपञ्च का अभाव हो जायेगा' सर्वथा अयुक्त है। सुषुप्ति के स्वरूपनिरूपण में भगवान् शङ्कर का भी कथन है कि जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार से दिन आच्छादित हो जाता है, उसी प्रकार दोनों स्थानों (जाग्रत्+स्वप्न) में विभिन्नरूप से प्रतीत होनेवाला मन का स्फुरणरूप द्वैतसमूह इस अवस्था में प्रपञ्च के सहित अपने उस विशिष्ट स्वरूप का त्याग न कर अज्ञान से आच्छादित हो जाता है। इसलिये इसे एकीभूत कहा जाता है।

प्र०—समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष तीनों में ही आनन्द की अनुभूति होने से इनमें परस्पर अन्तर क्या है?

उ०—इस शरीर के रहते हुए जीवविशेष के ज्ञानसहित हो जाने पर ब्रह्म से सम्बन्ध प्राप्त होने से 'समाधि' कहाती है और शरीर में जीवात्मा के ज्ञानरहित होने पर 'सुषुप्ति' तथा शरीर छूटने पर ज्ञान से युक्त होकर आनन्दानुभूति करना 'मोक्ष' है।

प्र०—स्थूलशरीर होने पर ब्रह्म से सम्बन्ध कैसे हो सकता है?

https://t.me/DharmaSamrat

उ०—यावद् हि जीवः स्थूलशरीरस्याभिमानं न त्यजति, नहि तावदाप्नोति ब्रह्मसम्बन्धं, परन्तु समाधिसुषुप्त्योर्निरभिमानस्तमाप्नोति। बाह्यवस्तुसम्बन्धकारकाभिमानाभावे तज्ज्ञानाभाववृत्तिरेव योगे निद्रा।

सुषुप्तेर्हि प्रपञ्चसत्ताधारो न विनिवर्तते, तदाधारत्वात्तस्याः सुखानुभूतिरूपव्यवहारस्य सत्त्वात्। नहि प्रपञ्चाभावे सुषुप्तिसम्भावना, सुषुप्तौ तु इन्द्रियाणामपि सत्ता भवति। तत्र सुखमस्वाप्समित्यनुभूतिव्यवहारः। हृदयसम्बन्धिन्यः शरीरगता अपि नाड्यस्तिष्ठन्ति, यत्र रक्तसंचारः। एतत् सर्वं प्रपञ्चगतमेव। तथाहि—

'अथ यदा सुषुप्तो भवति, यदा न कस्यचन वेद, हिता नाम नाड्यो द्वासप्तति सहस्राणि हृदयात् पुरीततमभि प्रतिष्ठन्ते, ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीततिशेते।' बृहदारण्यक० २।१।१९॥

यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीदिति तु 'सृष्टेः प्राक्' इत्यस्यैव विशिष्य व्याख्यानमस्ति, यतो यथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्युक्ते अपि तद्व्याख्यानार्थं 'नेह नानास्ति किञ्चन' इति अथवा उत्पत्तुमासीदिति भावः। 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्' इति भावः।

पृ० १२१७, पं० ३-६—इदमज्ञानवचः 'विडालः स्वप्ने जालकान्येव पश्यति' इति लोकोक्त्या "निर्विशेषाद्वैतवाद एवाभिप्रेतः स्याद् दयानन्दस्य" इति

उ०—जब तक जीव स्थूलशरीर के अभिमान को नहीं छोड़ता, तब तक ब्रह्मसम्बन्ध को प्राप्त नहीं होता; परन्तु समाधि और सुषुप्ति में अभिमानरहित होकर जीव इस सम्बन्ध को पा लेता है। क्योंकि बाह्य वस्तुओं के सम्बन्धकारक अभिमान के अभाव में बाह्य ज्ञान की अभाववृत्ति को योगदर्शन में 'निद्रा' कहते हैं।

आप लोगों द्वारा गढ़े वाक्यों में जब 'सब कुछ ब्रह्म ही है, और यहां नाना कुछ नहीं है' यहां पर प्रथम वाक्य से ही काम चल जाता, तो दूसरा लाकर फिट करना गलत है। वैसी स्थिति ऋषिवाक्यों में नहीं है। दूसरे उत्तम शास्त्रों में पुनरुक्तिदोष नहीं होता। जैसे "पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्" सर्व शब्द से उत्तरार्ध का अर्थ यत् किञ्चित् आ जाने पर भी आपसदृश बालबुद्धियों के लिए व्याख्यान या विस्पष्ट प्रतिपत्ति आवश्यक होने से ऋषि ने भी व्याख्या कर दी। जिससे यह अलक्षण न समझ लिया जाये।

पृ० १२१७, पं० ३-६—"उस समय जगत् का कारण प्रकृत्यात्मक अव्यक्त, जिसको सत् भी कहा जाता है, विद्यमान नहीं था, परमाणु भी विद्यमान नहीं थे,

कथयन् मनोमोदकानास्वदिति अयम्। नात्र समग्रपाठोऽधीतो नाभिप्रायश्च हृदयङ्गमीकृत एतेन। यद्यथा सृष्टेः प्राग् अव्यक्तपरमाणु-विराट् संज्ञा अपि नाभूवन्। अव्यक्तादीनामुत्पन्नजगतो व्यक्तमहदादिशब्दापेक्षणात्; किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसंज्ञकमेव तदानीं समवर्तत। सामर्थ्यं हि विकृतिशब्दापेक्षिता प्रकृतिरेव।

प्र०—कथं तदा कारणसंज्ञकमासीत्, कारणशब्दस्यापि कार्यशब्दापेक्षत्वात्?

समा०—'तत्र ब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं परमकारणसंज्ञकं समवर्तत' इति सुस्पष्टं ब्रह्मणो भिन्नस्य परमकारणस्य तु प्रतिपादितत्वान्न निर्विशेषाद्वैतवादोऽभिप्रेतः। 'केवलं ब्रह्मैवाभूत्' इति स्वीयं पदजातं विनिवेश्य महर्ष्यभिमतमिव मायावादं प्रतिपादयताऽनेन नूनमद्यतनगुप्तचरायितम्। यथा ह्यद्ययुगीनः प्रणिधिरभियोक्तव्यनिकेतने किंचित्तादृशमनासादयन् स्वहस्तलाघवेन यत्र तत्र वा स्वीयं तादृशमपराधसाधकं किञ्चित् प्रनिहृनवं संस्थाप्य क्षणानन्तरं तदेव सव्याजं

और न उस समय विराट् की कोई सत्ता थी, इस प्रकार से इस प्रथम मन्त्र की व्याख्या करते हुए दयानन्द केवल शुद्ध ब्रह्म की ही सत्ता मानते हैं। इस व्याख्या के अनुसार वे निर्विशेष अद्वैतवाद को स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत सत्यार्थप्रकाश में वे त्रैतवादी हैं" यह कथन आपके अबोध का सूचक है। सच यह है कि 'विलौटे को स्वप्न में भी छीछड़े ही नजर आते हैं' इस लोकोक्ति के अनुसार उक्त कथन केवल मनोमोदक खाना ही है। करपात्रीजी ने यहां पर ऋषि का समग्र पाठ भी नहीं पढ़ा और न उसका अभिप्राय ही समझा है, जो कि इस प्रकार है—

सृष्टि से पूर्व अव्यक्त, परमाणु, विराट् संज्ञायें भी नहीं थीं, क्योंकि अव्यक्त आदि तीनों शब्द व्यक्त, महदादि (उत्पन्न जगत् में) शब्दों की अपेक्षाकृत हैं। किन्तु परब्रह्म का सामर्थ्य नामक अतीव सूक्ष्म इस सबका परम कारण संज्ञक उस समय था। कारण शब्द का प्रयोग वेद में नहीं है, जो वह कार्यशब्दापेक्षी होता। स्वामीजी ने वेद शब्द के तत्त्व को समझाने के प्रयास में इनका प्रयोग किया है। इससे भी ब्रह्मातिरिक्त परमकारण प्रकृति की सत्ता व्याख्यात है। अतः 'निर्विशेष अद्वैतवाद अभिप्रेत है' यह कथन निराधार है। 'केवल शुद्ध ब्रह्म था' यह पाठ स्वयं बढ़ाकर महर्षि के मत को मायावादवाला प्रतिपादित करने की चेष्टा निश्चय ही आजकल के गुप्तचर जैसा कार्य है। जैसे आज के युग का जासूस अभियुक्त बनाने के लिये घर में कुछ वैसी बात न पाकर अपनी हाथ की सफाई से यत्र-तत्र वैसा ही अपराधसाधक पदार्थ कुछ चोरी छिपे रखकर क्षणान्तर में

https://t.me/DharmaSansar

विनिगृह्य प्रकाश्य च प्रघोषयति साधयति वा सागसं, तथैवायमपि स्वीयां पदावलीं विनिवेश्याभियोजयति महामनो महर्षि लेखनीलाघवेन। परम्—

साधुवेशधरः कश्चिद् वञ्चनाहस्तलाघवः।
अत्रपः करपात्रोऽयं निगृहीतो मयाऽधुना॥

इदं हि महत्त्ववत्—'यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत्' इत्यनेन कारणरूपे सत्तास्वीकृतेः। व्यवहारस्य वर्तमानताऽप्यत उक्ता। सत्यार्थप्रकाशादिषु च तेन जीवेश्वरप्रकृत्यादीनां सत्यत्वमुक्तं 'तदेतत् परस्परविरुद्धमेव' इत्यत्र ब्रूमः।

नन्वत्र प्रसङ्गप्राप्तमिदमप्युच्यतां यत् सत्तासम्बन्धः सतोऽसतो वा? सतश्चेत् प्राक्सत्तासम्बन्धात् सन्नेवासावनर्थ इति व्यर्था सत्ता? अथासतः सम्बन्धः? खरविषाणादिष्वपि सत्तोपलब्धिर्मन्यतामिति चेन्न, नित्येषु तावत् पूर्वापरभावानभ्युपगमात्। अनित्येषु च प्रागसत एव सत्ता कारणसामर्थ्यात्। न च खरविषा-

---

सव्याज रख और प्रकाशित कर उसे अपराधी सिद्ध कर देता है, उसी प्रकार यह भी अपनी रचित पदावली को लेखनी लाघव से प्रविष्ट कर महर्षि को अभियुक्त बना रहा है। परन्तु—

साधुवेशधारी वञ्चना में हस्तलाघव दिखानेवाले त्रपारहित करपात्रजी को मैंने पकड़ लिया है।

अब यहां सत्यार्थप्रकाश के लेख से कोई विरोध नहीं है। ऊपर यह शब्द विशेष महत्त्व के हैं कि 'जब यह कार्य-सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी' अर्थात् कारण-रूप में सत्ता तो स्वीकार्य है ही। इसीलिए व्यवहार के वर्तमान में होने का अभाव कहा गया। 'सत्' 'असत्' के परस्पर अपेक्षी होने से इन शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। 'कार्य से अनिवार्यतया पूर्वभावी होने से कारणसंज्ञक था' ऐसा प्रयोग करना सर्वथा तर्कानुगत है। सत्ता कारण की है ही।

यहां पर यह भी लगे हाथों विचार किया जाता है कि सत्ता जाति का 'सत्' अर्थात् पहले से विद्यमान वस्तुओं के साथ सम्बन्ध होता है, या असत् वस्तुओं के साथ? अगर सत्ता सद्वस्तुओं के साथ सम्बद्ध होती है, तो सत्ता जाति की कल्पना ही व्यर्थ हो जाती है, क्योंकि सत्ता सम्बन्ध के बिना भी सत् है ही। अगर असत् वस्तुओं के साथ सम्बद्ध होती है, तो फिर गधे और शशक के सींग प्रभृति की भी सत्ता माननी पड़ जायेगी।

उ०—नित्य वस्तु 'ईश्वर, जीव, प्रकृति' में तो पहले और पीछे की बात ही नहीं उठती है। अनित्य वस्तुओं के प्रसङ्ग में पहले से अविद्यमान वस्तुओं के साथ ही कारणों के विशिष्ट बल से सत्ता सम्बद्ध रहती है। गधे, खरगोश के सींग

णादिष्वतिप्रसङ्गः स्यादिति वाच्यं, तदुत्पत्तौ कस्यचित् सामर्थ्याभावात्। एवं त्रैतवादस्तु सिद्ध एव शास्त्रात्।

पृ० १२१७, पं० ५—अपरं च "शुद्धं ब्रह्म वासीद् इति वचनेन निर्विशेषाद्वैतवाद एवाभिप्रेतः स्याद् दयानन्दस्य, इत्येव कथं न मन्येत"। तत्रोच्यते—'न मृत्युरासीत्' इति मन्त्रे तृतीयाविभक्त्यन्तेन 'स्वधया' इति पदेन पठितेन सह 'आनीद्' इति क्रियायाम् 'एकम्' इति कर्तृपदस्यापि अन्वये न सिध्यति यत् स्वधयेति तृतीयान्तं पदं मुख्यं प्रथमान्तमेकम् (ब्रह्म) इति च मुख्यं यच्च कर्तरि। कर्तृ हि चेतनब्रह्म मुख्यम्, अचेतना 'स्वधा' तु अमुख्या।

न च लोकमान्यतिलकेन स्वधाशब्देन ब्रह्मणः शक्तिरेव स्वीकृता सा च गुणो न पृथगिति वाच्यम्, अग्रिमायां 'तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम्' (ऋ० १०। १२९।४) इति ऋचायां पठितस्य 'स्वधा'शब्दस्य शक्त्यर्थकत्वेऽसामञ्जस्यात्, इति पदानां प्रकृतेरपकृष्टत्वस्य, ब्रह्मणश्चोत्कृष्टत्वस्य प्रतिपादनं सङ्गच्छते। अतो-

---

आदि अलीक पदार्थों की आपत्ति का भी प्रसङ्ग नहीं आता; क्योंकि किसी भी वस्तु में उनके उत्पादन की शक्ति नहीं है। इस प्रकार त्रैतवाद तो शास्त्रसिद्ध है।

पृ० १२१७, पं० ५—तथा च 'केवल शुद्ध ब्रह्म की ही सत्ता मानते हैं' इस आपके बढ़ाये हुए पाठ से "स्वामी दयानन्द को निर्विशेष या अद्वैतवाद की ही सत्ता अभिप्रेत है" इसका उत्तर यह है कि 'न मृत्युरासीद्' इस मन्त्र में तृतीयान्त 'स्वधा' के साथ 'एकम्' इस कर्ता पद का भी 'आनीत्' क्रिया में अन्वय है। इससे सिद्ध होता है कि 'स्वधया' यह साधनभूत तृतीयान्त अमुख्य है और एक चेतन ब्रह्म मुख्य है, जो कि कर्ता है। वैसे भी चेतन ब्रह्म ही मुख्य है और अचेतन स्वधा अर्थात् उपादान प्रकृति अमुख्य है।

यह कहना भी तर्कपूर्ण नहीं होगा कि श्री लोकमान्यतिलक 'स्वधा' शब्द से ब्रह्म की शक्ति (गुण) का ग्रहण करते हैं, जो ब्रह्म से पृथक् नहीं है, क्योंकि 'तिरश्चीनो विततः' इस ऋचा में पठित स्वधा का शक्ति अर्थ करने में सामञ्जस्य नहीं बैठता।

शक्ति को ब्रह्म का रूप मानने पर 'स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्' में प्रकृति की अपकृष्टता और ब्रह्म की उत्कृष्टता का प्रतिपादन असङ्गत होने लगेगा। अतः निःसन्देह 'स्वधा' पद का प्रयोग मूल उपादान प्रकृति के ग्रहणार्थ

https://t.me/DharmaSamrat

ऽसंशीत्या स्वधापदप्रयोगोऽचेतनमूलोपादानार्थमेव ।

पृ० १२१७, पं० ८—यदाह—"टिप्पणीकारस्य इह सामर्थ्यशब्देन सर्वशक्तिमतः शक्तिरेवोच्यते, इत्यादि तदप्यपास्तं, यतो नैव शब्देनैव, सदादिपदैरपि प्रकृत्यादीनां निषेधात्"इति समस्तमसम्बद्धं भवतोक्तं तदिहावगम्यताम् ।"टिप्पणीकारेण सामर्थ्यपदस्य शक्तेरित्यर्थप्रतिपादनेन न मूलोपादानस्याभावो व्याख्यायते, तेन सर्वत्र नित्यवस्तुत्रय-सत्ताप्रतिपादनस्य सिद्धान्ततत्वात् ।

किञ्चास्मिन् सन्दर्भे 'किमावरीव आवरकमाच्छादकं भवति, नैव कदाचित्' इत्यतोऽतिरिच्य न 'नैव' शब्दप्रयोगः क्वापि कृतः । प्रकृते तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मम्, परमकारणसंज्ञकमेव' पाठः । यद्यत्र सामर्थ्यपदेन गुणरूपशक्तिरभिप्रेताऽभविष्यत्तदा अतीव सूक्ष्ममित्यपि अपरं विशेषणं न प्रयोक्तव्यमभविष्यत्, ब्रह्मणः शक्तिगुणस्यापि अतिसूक्ष्मस्यैव सम्भवात् । अतः सामर्थ्यं, शक्तिः, स्वधा, माया इत्यादयः शब्दा मूलोपादानद्योतका एव । भवत्कृतनूतनो 'नैव' पाठप्रक्षेपस्तु छलमेव । वस्तुतो यथा सम्राजो भूमिः सेनाकोषादिरपि सामर्थ्यं तथैव मूलकारणम्

है । इससे टिप्पणीकार पर किया हुआ आक्षेप भी निरस्त हो जाता है ।

पृ० १२१७, पं० ८—"टिप्पणीकार मीमांसक जी का 'यहां पर सामर्थ्य शब्द से सर्वशक्तिमान् की शक्ति ही कही जाती है' यह कथन भी उचित नहीं है, जबकि 'नैव' शब्द के द्वारा सदादि पदों से गृहीत होनेवाले प्रकृति, परमाणु आदि का निषेध स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि यह उन्हीं से सम्बद्ध है ।" आपका यह कथन प्रथम तो बेसमझी का है, क्योंकि टिप्पणीकार के द्वारा सामर्थ्य शब्द का शक्ति अर्थ करने पर भी मूल उपादान प्रकृति का अभाव विवक्षित नहीं है, उन्होंने ऋषि दयानन्द की भांति सर्वत्र नित्य तीनों वस्तुओं की सत्ता का सिद्धान्तरूप में प्रतिपादन किया है ।

दूसरे इसी सन्दर्भ में यह वर्तमान जगत् भी अनन्त शुद्ध ब्रह्म का आच्छादक नहीं है । केवल यहीं पर 'नैव कदाचित्' शब्द पढ़ा गया है, अन्यत्र नहीं; सदादि पद से गृहीतव्य प्रकृति आदि का निषेध करनेवाला 'नैव' शब्द स्वामीजी ने नहीं पढ़ा है, अतः यह आपका छलपूर्ण कथन है । प्रकृत विषय में 'परब्रह्म की सामर्थ्य नाम की अत्यन्त सूक्ष्म परमकारणसंज्ञक ही' यही पाठ है । यदि यहां पर सामर्थ्य शब्द से गुणरूप शक्ति अभीष्ट होती तो 'अतीव सूक्ष्म' यह विशेषण (करण शब्द का) प्रयुक्त नहीं करना चाहिये था, क्योंकि ब्रह्म का शक्ति गुण स्वयं ही अतिसूक्ष्म होता है । अतः सामर्थ्य, शक्ति, स्वधा, माया इत्यादि शब्द मूल उपादान के द्योतक ही हैं । आपका 'नैव' पाठप्रक्षेप छलमात्र है । वास्तव में जैसे राजा की भूमि, सेना, कोष आदि सभी सामर्थ्य कहलाते हैं, इसी प्रकार मूलकारण (उपा-

अपि परमेश्वरस्य सामर्थ्यम् ।

पृ० १२१८, पं० ४—यदुच्यते—"किमावरीवः' इति मन्त्रपदे कुहकमित्येकं पदमभिप्रेत्य कुहकस्येति षष्ठ्यन्तरूपं मत्वा शीतकाले प्रभाते पतनीयस्य तुषारस्य 'कुहक' इति संज्ञा कृता दयानन्देन, एषोऽर्थो निराधार एव, तादृशेऽस्य प्रयोगादर्शनात् ।"

तत्र हि प्रथमाक्षेपः 'कुहकस्य' इति पदद्वयं, न चैकपदम् । तत्रोच्यते—

'अरुणो मासकृद् वृकः' (ऋ० १।१०५।१८) अस्मिन् मन्त्रे 'मासकृत् मासानां चार्धमासानां कर्ता चन्द्रमाः' इत्येवं व्याख्यातवान् आचार्ययास्को मासकृदित्येकं पदं मत्वा, यदा हि शाकल्यकृतपदपाठे 'मा सकृद्' इति पदद्वयं वर्तते । आचार्यस्कन्दो लिखति (टीकाभा० २, पृ० ३६६) 'मासकृदिति यस्यैकं पदं तदभिप्रायेणैतदेवं भाष्यकारेण व्याख्यातम् । शाकल्यस्य द्वे एव पदे' ।

यास्कोऽपि पदपाठविषये (निरु० ६।२८) स्वसम्मत्या शाकल्यमपि प्रत्याख्यौ, "वेति च य इति च चकार शाकल्यः । उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यत् । असुसमाप्तश्चार्थः" । यदा ऋषिः (१।१०५।१८) इत्यत्र पदद्वयं मेने ।

दान) भी परमेश्वर का सामर्थ्य है ।

पृ० १२१८, पं० ४—"किमावरीवः कुह कस्य' मन्त्र के इस अंश में कुहक को एक पद मानकर उसको षष्ठी विभक्ति के एकवचन में प्रयुक्त कर दयानन्द ने उसका शीतकाल में प्रातःकाल छा जानेवाला तुषार 'कुहरा' अर्थ किया है, किन्तु इस तरह का अर्थ सर्वथा निराधार है, क्योंकि 'कुहक' शब्द का कुहरा अर्थ कहीं भी देखने को नहीं मिलता ।" यह कथन अविचारित है । क्रमशः उत्तर देखिये—

उसमें प्रथम आक्षेप है कि 'कुहकस्य' ये दो पद हैं, न कि एक पद । इस विषय में समाधान है 'अरुणो मासकृद् वृकः' (ऋ० १।१०५।१८) इस मन्त्र में आचार्य यास्क ने 'मास और अर्धमासों का कर्ता चन्द्रमा, यह अर्थ 'मासकृत्' यह एक पद मानकर किया है, जब कि शाकल्यकृत पदपाठ में 'मा सकृत्' यह दो पद माने हैं । आचार्य स्कन्द अपनी टीका में लिखते हैं कि 'मासकृत्' यह एक पद मानकर भाष्यकार ने व्याख्या की है और शाकल्य ने दो-दो पद माने हैं । यास्क ने भी पदपाठ के विषय में शाकल्य का प्रत्याख्यान कर दिया । जब कि ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेद (१।१०५।१८) में दोनों पक्ष दिखाये हैं । 'मन्त्रार्थनिश्चयाभावस्तत्राबग्रहः' (महाभा० ६।१।१०९, कैयट) जहां अर्थ निश्चय न हो सके वहां अवग्रह करते हैं ।

https://t.me/DharmaSamrat

परमत्रायं प्रश्नः किं पदपाठातिक्रमणं दोषावहम्? यदा हि वेदभाष्येषु भाष्यकारो मन्त्रार्थसङ्गत्यै पदपाठोल्लङ्घनमावश्यकं मनुते। तथा च (ऋ० १०।२७। २४) अत्र उद्गीथः 'मा स्मैतादृक्' 'मा स्म एतादृक्' इत्यस्य स्थाने 'मा। अस्मै। तादृक्' इति पाठं मत्वा व्याख्यातवान्।

किञ्च, पदपाठानामपि विविधशाखासु भिन्नैव स्थितिः। यथा यजु० (५। ७) 'एष्टा' इति तैत्तिरीयसंहितायामेकं पदं माध्यन्दिन्यां च 'आ इष्टा' इति पदद्वयम्। वस्तुतः पदपाठो नाऽपौरुषेयस्तस्या प संक्षिप्तव्याख्यारूपत्वादेव। कस्य अपि भाष्यकृतस्तेन पदपाठेन सह मतिर्भवेन्न वेति नावश्यकं, न च दोषावहम्। आह च भगवान् पतञ्जलिरपि—'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्'। नैतेन भगवतः पाणिनेरनेकसूत्राणि निष्पत्तिदृष्ट्या पदपाठविपरीतानि। नहि पाणिनिः पतञ्जलिनाऽऽक्षिप्तस्तदर्थम्।

सायणात् प्राचीनतरो वेङ्कटमाधवः 'मा सकृद्' पदद्वयं मत्वा व्याचख्यौ। सायणोऽप्येतमनुससार, परं वैकल्पिकत्वेन यास्कमतमपि सादरं प्रास्तावीत्।

एवमृषिदयानन्दो मन्त्रसङ्गत्यै एकपदं मत्वा व्याख्यातवान्। न दोषास्पद-

---

पर यहां प्रश्न यह है कि पदपाठ का अतिक्रमण करना क्या दोषावह है? जबकि वेदभाष्यकारों ने मन्त्रार्थों की सङ्गति लगाने के लिए पदपाठ का उल्लङ्घन भी आवश्यक मान लिया है।

जैसे उद्गीथ ने 'मा स्मैतादृक्' में 'मा। स्म। एतादृक्' इसके स्थान पर 'मा। अस्मै। तादृक्' ऐसा पाठ मानकर व्याख्या की है।

तथा पदपाठों की भी विविध शाखाओं में भिन्न स्थिति पाई जाती है। जैसे यजु० (५।७) मन्त्रगत 'एष्टा' एक पद है, वहीं माध्यन्दिन में 'आ+इष्टा' इस रूप में दो पद हैं। वस्तुतः पदपाठ अपौरुषेय नहीं है। यह पाठ भी एक प्रकार से संक्षिप्त व्याख्यारूप ही है। किसी भाष्यकार की उस पदपाठ से सहमति हो या नहीं, इसमें आवश्यक प्रतिबन्ध नहीं है और न यह दोषावह है। भगवान् पतञ्जलि ने भी कहा है—'लक्षण के द्वारा पदकार अनुवर्तनीय नहीं है, प्रत्युत पदकारों के द्वारा लक्षण अनुवर्तनीय है'। इस प्रकार भगवान् पाणिनि के अनेक सूत्र निष्पत्ति की दृष्टि से पदपाठ के विपरीत नहीं माने जाते और न पतञ्जलि के द्वारा पाणिनि पर इसके लिये कोई आक्षेप लगाया गया है।

सायण से प्राचीनतर वेङ्कटमाधव ने 'मा सकृद्' पदद्वय मानकर व्याख्या की है। सायण ने भी इसका अनुसरण किया है; परन्तु वैकल्पिकरूप में यास्क के मत का भी सादर प्रस्ताव किया है।

इस प्रकार ऋषि दयानन्द ने मन्त्रसङ्गति के लिये एक पद मानकर उत्तम

मेतत्। स्पष्टप्रतिपत्तये स्कन्दस्वामिवचनमुदाह्रियते—

"शाकल्यात्रेयप्रभृतिभिर्नावगृहीतम्, पूर्वनिर्वचनाभिप्रायेण। गार्ग्यप्रभृतिभिरवगृहीतं, तदेव कारणम्। विचित्रा पदकाराणामभिप्रायाः। क्वचिदुपसर्गविषये नावगृह्णन्ति। यथा शाकल्यन 'अधीवासम्' नावगृहीतम्। आत्रेयेण तु 'अधि। वासम्' इत्यवगृहीतम्। तस्मादवग्रहोऽनवग्रहः।" अर्थादवग्रह ऐच्छिकोऽस्ति, एवनेवावगन्तव्यम्।

द्वितीयाक्षेपः—'तादृशेऽर्थे (तुषारार्थे) प्रयोगादर्शनात्'।

इहोच्यते महान् हि शब्दप्रयोगविषयस्तदन्विष्यताम्। परमनेके वैदिकाः शब्दा लोकेऽप्रयुक्ताः। लोकेऽप्रयुक्तो व्युत्पत्तिलभ्यो नार्थो भवितुमर्हतीति न नियमः। भवताऽप्यप्रसिद्धो व्योमशब्दार्थो गृहीतः। व्योमनि विशेषेण तृप्ते निरतिशयानन्दरूप इत्यर्थः। 'कुहक' शब्देन 'कुहरा' इति लोकप्रसिद्ध एव गृह्यते। कुह कुत्र किमस्तीति यत्र न प्रतिभातीति तद्व्युत्पत्तेः।

अथ च विस्मापनार्थक'कुह' धातोः 'क' इति जलवाचकशब्देन समासे कृते कुह इत्यस्य च 'क' इत्यस्य विशेषणत्वे कुह च तत् कम् इति सिद्धे सन्देहकारकं

व्याख्या की है। वह कदापि दोषास्पद नहीं है। स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये स्कन्द स्वामी का कथन उदाहरणरूप में प्रस्तुत है—

"शाकल्य, आत्रेय आदि ने पूर्व निर्वचन के अभिप्राय से अवग्रह नहीं किया है। गार्ग्य प्रभृति ने अवग्रह किया है। पदकारों के अभिप्राय विचित्र होते हैं। कहीं-कहीं पर तो उपसर्ग-विषय में भी अवग्रह नहीं किया है। जैसा शाकल्य ने 'अधीवासम्' इसमें अवग्रह नहीं किया, पर आत्रेय ने तो 'अधि। वासम्' यह अवग्रह किया है। इसलिये अवग्रह भी अनवग्रह ही है।" अर्थात् अवग्रह करना ऐच्छिक ही जानना चाहिये।

द्वितीयाक्षेप—'कुहक' शब्द का तुषार अर्थ में कहीं भी प्रयोग नहीं देखा जाता।

समा०—शब्दप्रयोग-विषय महान् है, उसका लोक में अन्वेषण करना चाहिये; परन्तु अनेक वैदिक शब्द लोक में अप्रयुक्त हैं। लोक में अप्रयुक्त होने से व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ वेद में न लिया जाये, ऐसा कोई नियम नहीं। 'कुहक' का कुहरा अर्थ लोकप्रसिद्ध लिया जा रहा है। इसकी व्युत्पत्ति निम्न है—'कुह' अर्थात् कहां क्या है, यह प्रतिभान न हो, उसे 'कुहक' या 'कुहरा' कहते हैं।

तथा विस्मापनार्थक 'कुह' धातु से जलवाचक 'क' शब्द के साथ समास करने पर तथा कुह शब्द को 'क' शब्द का विशेषण मानने पर सन्देहकारक या

https://t.me/DharmaSastra

विस्मापकं जलम्, इदं जलमस्तीति न वेति 'कुहरा' इत्यर्थः सिध्यति। 'कुहरा' गहनं गम्भीरं च न भवति नावरकं चाऽपि।

पृ० १२१८, अनु० ३—यदुच्यते—"यतः परमेश्वरादियं प्रत्यक्षा विसृष्टिराबभूव तां स एव दधे' इत्यादिमतेन ब्रह्मण उपादानकारणत्वमेवायाति, उत्पत्तिस्थितिलयाधारत्वस्यैवोपादानत्वात्।"

इदं भवत्कल्पितमविचारितम्। तत्र तु एषा शब्दावली 'दधे, धारयति, रचयति, यदि वा विनाशयति, यदि वा न रचयति।' अत्र क्वास्ति ध्वनिरीश्वरस्य उपादानकारणत्वस्य ? नान्यत्राऽपि च।

ईश्वरस्य निमित्तकारणत्वे उपादानयोगत्वे च प्रथमखण्डेऽलं व्याख्यातम्। तथापि किञ्चिद् वक्ष्यते। यदि उपादानं मत्वा ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिर्मन्येत तदा समग्रपरिणामी भविष्यति। यतो न ब्रह्म अवयवि येन तत्कश्चिदवयवः परिणामी कश्चिच्चापरिणामी तिष्ठेत्। अथ चेदखिलं ब्रह्म परिवर्तनशीलं, कथङ्कारं श्रुत्युक्तं निर्विकारत्वं तस्य सार्थकं स्यात्, तथात्वे त्वैकरसत्वं तस्याजन्यत्वं वा ? अत एव

विस्मापक जल अर्थात् क्या यह जल है ? अर्थात् 'कुहरा' है ? यह अर्थ निकलता है। कुहरा गहन और गम्भीर नहीं होता और न आच्छादक होता है। इस प्रकार करपात्रीजी का आक्षेप थोथा व सारहीन है।

पृ० १२१८, अनु० ३—"जिस परमेश्वर के रचने से यह नाना प्रकार का जगत् उत्पन्न हुआ है। वही इस जगत् को धारण करता है, नाश करता है और मालिक भी है, इत्यादि भूमिकाकथन से ब्रह्म को उपादानकारण ही माना जा सकता है, क्योंकि जो उत्पत्ति, स्थिति और लय का आधार है, उसको उपादान माना जाता है।"

समा०—आपका यह कथन कल्पित है तथा बुद्धिसङ्गत नहीं है। मूल में तो परमेश्वर को रचयिता, धारण करनेवाला, नाशकर्ता तथा स्वामी कहा गया है। यहां पर ईश्वर के उपादानकारण होने की तो गन्ध तक नहीं है; प्रत्युत धारण, नाश करना आदि निमित्तकारण को ही प्रकट करते हैं।

इस विषय में प्रथम खण्ड (वे० कल्प०) में विस्तार से विचार किया गया है, तब भी किञ्चित् लिखा जा रहा है। यदि ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानी जायेगी, तो सम्पूर्ण ब्रह्म परिणामी हो जायेगा; क्योंकि ब्रह्म सावयव तो है नहीं, जिससे उसका कुछ भाग परिणामी हो जाये और शेष अपरिणामी बना रहे। यदि समग्र ब्रह्म परिणामी मान लिया जाये, तो श्रुतिकथित निर्विकारता, एकरसता कैसे रह सकेगी और न अजन्मता ही रह सकेगी। इसलिये ब्रह्म की उपा-

नोपादानत्वं ब्रह्मणः, उपादाने सृष्टिप्रवर्तने संयोगवियोगगुणयोरन्यतरस्यानिवार्यत्वात्।

यत्र हि कारणस्यानेकत्वं, सावयवत्वं, न्यूनपरिमाणत्वं वा तदा संयोगगुणात् सृष्टिः। अथ च कारणस्यैकत्वं, बृहत्त्वं वा तदा वियोगगुणात् सृष्टिः। यथा इष्टिकासंयोगेन गृहनिर्मितिरिति संयोगः। वृक्षस्य च विदारणे फलकादिनिर्मितिरिति वियोगः। परं न ब्रह्मणोऽनेकत्वं येन संयोगसम्भूतिर्न वा व्यापकत्वात् स्थानरिक्तत्वाभावे वियोगसम्भवः। सामर्थ्यशब्देनात्र प्रकृतिरपेक्षिता। परं जगद्रचनाभावे विकृत्यपेक्षत्वात् प्रकृतिशब्दस्य न संज्ञाविहितेत्यवगम्यते। सत्यं यन्न कुलालादौ घटादयो विलीयन्ते। एवमुपादानप्रकृतौ विलीयन्ते, प्रकृतेरप्याधारः

दानता किसी प्रकार भी नहीं है। उपादानकारण में दो प्रकार से सृष्टि सम्भव है—एक संयोग गुण से तथा दूसरे वियोग गुण से।

जहां पर उपादानकारण में अनेकता, सावयवता और न्यूनपरिमाणता होगी, वहां संयोग से सृष्टि होगी और जहां पर कारण की एकता और बृहत्ता होगी, वहां एक के भाग करके सृष्टि वियोग से होगी। जैसे अनेक ईंटों के संयोग से घर का निर्माण होता है और एक विशाल वृक्ष को चीरकर तख्ते आदि बनाकर वियोग गुण से सृष्टि होती है। चेतन ब्रह्म न तो अनेक है और न उससे कोई स्थान रिक्त है, क्योंकि वह सर्वव्यापक है, अतः उसमें संयोग और वियोग सम्भव नहीं।

आपका यह कथन कि 'कुलाल (कुम्भकार) के सामर्थ्य में घड़े विलीन नहीं हो सकते; अतः परमेश्वर की सामर्थ्य में प्रपञ्च का विलय नहीं हो सकता।' सामर्थ्य-शब्दार्थ को न समझने के कारण है। कुम्हार की सामर्थ्य से आपका अभिप्राय उसके समर्थवान् गुण से है, पर आदिकारण सामर्थ्य से महर्षि दयानन्द परब्रह्म के सामर्थ्य गुण को न लेकर प्रकृति को ले रहे हैं, क्योंकि गुण से द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती। लेकिन जगद्रचना के वर्तमान में अभाव होने के कारण से विकृति शब्द की अपेक्षा से ही प्रकृति शब्द का प्रयोग किया जा सकता था, पर जगद्रूप विकृति तो अभी है ही नहीं, अतः आदिकारण व सामर्थ्य इन शब्दों का प्रयोग किया गया है।

कुलालादि में घटादि इसीलिये विलीन नहीं होते, क्योंकि वह निमित्तकारण है उपादानकारण नहीं। निमित्तकारण कभी उपादानकारण नहीं हो सकता। उपादानभूत मृत्तिका में घटादि विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रपञ्च उपादानप्रकृति में विलीन होता है। प्रकृति का भी आधार तो परमेश्वर ही है,

https://t.me/DharmaSamrat

परमेश्वरस्त्वेव । कः खलु नाऽनल्पप्रज्ञ आकलयेदित्थम् ?

पृ० १२१६, पं० १—अङ्गशब्दस्य सम्बोधनार्थत्वादिह वेदनशक्तिवान् जीव एव सम्बोधयितुं युज्यते न तु जडा प्रकृतिरिति । गत्यर्थकत्वाद् 'अगि' धातो-निष्पन्नत्वादङ्गशब्दस्य अङ्गति जानातीति तत्सम्बोधने अङ्ग ! अतो भूमिका-न्तर्गतः सर्वोऽप्यर्थो साधु व्यक्तः ।

पृ० १२२०, पं० १४—यदुक्तम्—"प्रलयदशायां भोक्तारो जीवा उपाधि-प्रलयात् प्रलीना इति भोक्तारो न सम्भवन्ति" तदसत्यम् । अयमेतेन जीवानां नित्यसत्तामपि खण्डयितुमभिप्रैति । परमयं नित्योऽविनाशी वर्तते । यथा—"स होवाच—'न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा" (बृहदा० ४।५।१४) । बादरायणोऽपि न जीवोत्पत्तिं समर्थयति । गीतायाः (२।१८-२०) प्रमाणेन शरीराणामनित्यता, शरीरिणां जीवानां नित्यताऽनुत्पत्तिर्वा प्रत्यपादि ।

कौन अल्पबुद्धि होगा, जो ऐसा नहीं समझेगा ।

पृ० १२१६, पं० १—यह कथन कि 'अङ्ग' पद से यहां जीव कैसे सम्बोधित हो गया ? सरासर अचिन्तन का फल है; क्योंकि मन्त्र में स्पष्ट है, 'हे अङ्ग ! वेद यदि वा न वेद' अर्थात् हे अङ्ग ! वह जीव उसे और कोई जीव नहीं जानता। सोचने की बात है यदि कहीं जड़ को भी सम्बोधन किया गया है । जैसे 'स्वधिते मैनं हिंसीः' । वहां पर भी स्वधितिधारी से ही अभिप्राय लक्षित होगा, क्योंकि सम्बोधन के श्रवण या ज्ञान की योग्यता जड़ में नहीं होती । अतः मुख्यार्थ का बाध होने पर लक्षणा से अर्थ निष्पन्न होगा । प्रकृत में भी वेदनशक्ति चेतन जीव में होने के कारण जड़ प्रकृति सम्बोधित न होकर जीव ही सम्बोध्य है । और 'अङ्ग' शब्द गत्यर्थक 'अगि' धातु से बनता है । अतः भूमिकागत प्रत्यक्षर व शब्दार्थ सार्थक, सुसङ्गत, तर्क-निकष पर खरा उतर रहा है ।

पृ० १२२०, पं० १४—यह कहना भी सर्वथा शास्त्रविरुद्ध है कि "प्रलया-वस्था में भोक्ता जीवों की उपाधि के लीन हो जाने से भोक्ता जीव भी लीन हो जाते हैं ।" क्योंकि वह यहां पर जीवों को नश्वर सिद्ध करना चाहता है, किन्तु जीवात्मा किसी उपादान से नहीं बनता । बादरायण कहते हैं कि जीवात्मा की उत्पत्ति असम्भव है । गीता के (२।१८-२०) श्लोकों में भी कहा है कि 'अन्तवन्त इमे' 'न जायते म्रियते वा' अर्थात् ये देह तो अन्तवाले हैं; किन्तु इनमें निवास करनेवाला ही नित्य व अविनाशी है । न यह कभी उत्पन्न होता, न कभी मरता है । ऐसा भी नहीं कि वह होकर न रहे । यह तो अजन्मा, शाश्वत और पुरातन व सनातन है ।

पृ० १२२१, अनु० १ तः १२२६ पृष्ठं यावत् 'न मृत्युरासीद्' इत्यादि-मन्त्राणां सायणकृतोऽर्थ उपन्यस्तः, न सोऽस्त्यस्माकं खण्डनीयविषय इह । यद्यपि तत्र प्रतिपादितनवीनवेदान्तसिद्धान्तस्य बहुत्राऽस्मिन् ग्रन्थे खण्डनं कृतमास्ते, तथापि स्थालीपुलाकन्यायेन किञ्चिदुद्ध्रियते पुनरपि—

यथा—"ननु तर्हि जीवभावापन्नस्यैव ब्रह्मणोऽस्तित्वं सिध्यतीति चेत्तत्राह—अवातम्, अप्राणं, शुद्धं ब्रह्मेत्यर्थः, 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (मु० उ० २।१।२)" इति, तदभ्रान्तमेव, जीवस्य नित्यत्वात् । नहि कदाचिदपि ब्रह्म जीवत्वमापद्यते । मुण्डकोपनिषदि च यद् ब्रह्मणो वर्णनमस्ति तेन त्वस्य मूर्त्तिकल्पनाऽपि ध्वस्ता जायते । यच्च स्वरूपमिह वर्णितं तद्धि शाश्वतिकम् । तथाहि—

'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥'

परमात्मा दिव्यस्वरूपोऽमूर्त्तः स्वयं मूर्तित्वमनापन्नः, प्रत्येकमूर्त्तेः स्वामित्वेऽर्थ मूर्त्तिमानिति प्रयोक्तुं शक्यते । नित्यचेतनोऽपि न श्वासप्रश्वासक्रियां श्रयते ।

पृ० १२२१, अनु० १ से लेकर १२२६ पृष्ठ तक, 'न मृत्युरासीद्०' इत्यादि मन्त्रों का सायणकृत अर्थ उपन्यस्त किया गया है । वह हमारा खण्डनीय यहां पर नहीं है । यद्यपि वहां प्रतिपादित नवीनवेदान्त-सिद्धान्त का इसी ग्रन्थ में बहुत स्थलों पर खण्डन किया गया है, तथापि स्थालीपुलाकन्याय से कुछ प्रस्तुत किया जा रहा है—

जैसे—"इस प्रकार श्वास-प्रश्वास लेकर जीनेवाले जीवभावापन्न ब्रह्म का ही अस्तित्व सिद्ध होगा, यह बात भी नहीं कही जा सकती; क्योंकि उस प्रलया-वस्था में शुद्ध ब्रह्म की ही स्थिति रह सकती है । मुण्डकोपनिषद् (२।१।२) में इसे अप्राण, अमन, और शुभ्र कहा गया है" इस रूप में लिखना समग्र भ्रान्त है । कारण है कि जीव नित्य हैं, ब्रह्म कभी भी जीव नहीं बनता । मुण्डकोपनिषद् में जो ब्रह्म का वर्णन है, उससे तो इनकी मूर्ति-कल्पना भी ध्वस्त हो जाती है । यह वर्णित स्वरूप सदा शाश्वतिक (सदा एकसा रहनेवाला) है । देखिये—

वह परमात्मा दिव्य, अमूर्त्त, सबमें व्यापक बाहर तथा भीतर रहनेवाला अजन्मा है, अप्राण, अमन, शुभ्र तथा अक्षर प्रकृति से भी पर अर्थात् सूक्ष्म है । परमात्मा स्वयं मूर्तिरूप में परिणत नहीं होता । प्रत्येक मूर्ति का स्वामी होने से हम उसे मूर्तिवाला तो कह सकते हैं । वह नित्य चेतन, श्वास-प्रश्वास क्रिया से

https://t.me/DharmaSamrat

अस्मदादिवत् प्रकृत्युपादानसम्भूतमनोरहितश्च। अक्षराम्नाशरहितायाः प्रकृतेरपि परो वर्तते।

एतद्विपरीतं १२२६ पृष्ठे उद्धरत्ययम्। यथा—"मनसोऽन्तःकरणस्य सम्बन्धिवासनाशेषेण मायायां विलीनेऽन्तःकरणे समवेतम्" इति तु पूर्वलेखविपर्यय एव, ब्रह्मणोऽपि सवासनस्यान्तःकरणस्योहितत्वात्। अस्येदमुच्चकैरुड्डयनम्।

१२२३ तमे पृष्ठे—"ब्रह्मणि प्रपञ्चोत्पादनानुगुणाः शक्तयः सन्ति। तासां समष्टिरेव माया भवति। सा च न जीवादिकार्याश्रया, कारणस्य कार्याश्रयत्वानुपपत्तेः। नाऽपि स्वाश्रया, आत्माश्रयत्वायोगात्" इत्यपि असमीचीनमीक्षितं, ब्रह्मणो गुणत्वे मायायाः स्वीकृते दृश्यमानसंसारद्रव्यस्योत्पादनाऽसम्भवात्। न च ब्रह्मण उपादानत्वं, तथात्वे विश्वस्य चैतन्यापत्तेः। ब्रह्मणः सुखस्वरूपत्वे; न कस्याऽपि दुःखिनोऽभ्युपगमः स्यात्, सर्ववेदशास्त्राणां व्यर्थत्वापत्तेश्च सर्वज्ञानमयत्वात्। इदं हि नामोत्कटमविवेकत्वं, यज्जीवस्य मायायाः कार्यत्वं प्रतिपाद्यतेऽनेन।

रहित है। हमारी भांति के प्रकृति-उपादानभूत मन से भी रहित है।

इससे विपरीत १२६६वें पृष्ठ पर ये उद्धृत करते हैं। यथा—"मन अर्थात् अन्तःकरण में विद्यमान वासना का अवशेष इसमें कारण था, जो कि माया में विलीन अन्तःकरण में समवेत था।" यह पूर्वोक्त लेख से विपरीत है। इनकी यह उड़ान ऊंची है।

१२२३ पृष्ठ पर कहा है कि 'ब्रह्म में प्रपञ्च को उत्पन्न करनेवाले गुणों के अनुरूप शक्तियों का समूह माया है। वह माया जीव आदि कार्य के आश्रय नहीं रहती, क्योंकि कारण कभी कार्य के आश्रय नहीं रहता।' आगे इनका हिन्दीकार कहता है कि 'स्वाश्रय भी इसको नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब इसकी आत्माश्रयता न बन पायेगी। यह तो अच्छी बात हुई, अन्यथा तो आत्माश्रय दोष सम्भावित हो जाता।' इत्यादि सब अयुक्त सोचा गया है। माया को ब्रह्म का गुण मानने पर गुण से दृश्यमान द्रव्यात्मक जगत् उत्पन्न नहीं हो सकता, और ब्रह्म को भी उपादान मानने पर समस्त संसार की चैतन्यापत्ति हो जायेगी। तथा ब्रह्म के सुखस्वरूप होने से कोई फिर दुःखी भी नहीं होना चाहिये। साथ ही ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, उसे उपादान मानने पर समस्त वेद, शास्त्रों की व्यर्थता आ पड़ेगी, क्योंकि तब सभी ज्ञानमय होंगे, फिर वेदादि की आवश्यकता भी क्या रहेगी? यह तो आपका उत्कट अविवेचन ही ठहरता है, जो जीव को माया का कार्य बता रहे हैं।

पृष्ठे १२२४ तमे—"सृष्टेः प्राक् प्रलयदशायां भूतभौतिकं सर्वं जगत् तमोभावरूपमज्ञानमासीत्, मायाऽपरनामकतमःशबलितं ब्रह्मासीदित्यर्थः। यथा नैशं तमः सर्वं पदार्थजातमावृणोति तद्वत्तदज्ञानात्मकं तम आत्मतत्त्वस्यावरकत्वाद् मायाऽपरनामकं भावरूपं तम आसीदित्यर्थः।" इत्यपि समग्रं तर्काऽप्रतिष्ठितं, पौर्वापर्यानालोचनसमुत्थम्। प्रागाह—प्रपञ्चोत्पादनानुगुणाः शक्तयः, सम्प्रति भावरूपमज्ञानं मायापन्नम् आत्मतत्त्वं परब्रह्माऽप्याच्छादयति। स्वाऽभिन्नत्वे कथमावरकं स्याद् अज्ञानम्? महाशय! तद् ब्रह्म तु न कदाचिदावृणोति भवन्तमेवाऽवृणुते, येनैव भवान् भवतामाचार्यः सायणोऽपि वदति। एवमन्यदुक्तं तत् समस्तमन्यत्र मयैव विशदीकृत्य समाहितं, ततो नात्र प्रपञ्च्यते पिष्टपेषणभिया।

शाङ्करभाष्यमपि (२।३।१६) पश्यन्तु—

"न जीवस्योत्पत्तिविनाशौ स्तः, शास्त्रफलसम्बन्धोपपत्तेः। शरीरानुविनाशिनि हि जीवे शरीरान्तर्गतेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थौ विधिप्रतिषेधावनर्थकौ स्याताम्। श्रूयते च—'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' (छा० ६।११।३)।"

पृ० १२२४ पर—"सृष्टि के पूर्व प्रलय-दशा में भूत भौतिक सब जगत् तम अर्थात् भावरूप अज्ञान था। इसी का दूसरा नाम माया था। जैसे रात्रि का अन्धकार सब पदार्थों को ढक लेता है, उसी प्रकार अज्ञानात्मक तम ब्रह्मात्मतत्त्व का आवरक होता है" इत्यादि कथन सारा ही तर्क की कसौटी पर खोटा ठहरता है, तथा पौर्वापर्य कथन का भी विरोधी है। पहले आपने कहा—प्रपञ्चोत्पादनाऽनुगुणशक्ति माया है और अब उसी को भावरूप अज्ञान कहा है, जो कि आत्मतत्त्व पर ब्रह्म को भी ढक लेता है। जब ब्रह्म से पृथक् भावरूप कुछ है ही नहीं तो यह अज्ञान ब्रह्म को कहां से ढक लेता है? महाशय! अज्ञान ब्रह्म को तो नहीं आपको ढके हुए है, जिससे आप और आपके साथ सभी एक ही स्वर में बोल रहे हैं। इस प्रकार अन्य का भी अन्यत्र समाधान हमारे द्वारा कर दिया गया है।

शाङ्करभाष्य (२।३।१६) भी देखिये—

"जीव की उत्पत्ति और प्रलय नहीं होती, क्योंकि शास्त्रों के फल की उपपत्ति होती है। शरीर के विनाश के साथ यदि जीव का विनाश हो तो अन्य शरीरगत इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के लिये विधि और निषेध व्यर्थ हो जावेंगे और 'जीवरहित यह शरीर मरता है, जीव नहीं मरता' ऐसा छान्दोग्य में कहा है।" इत्यादि प्रमाणों से पारिजातकथन अनर्गल तर्कहीन बकवास है।

https://t.me/DharmaSamrat

पृ० १२३०, अनु० १—यदुक्तम्—"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा-दृष्टान्तानुरोधात्' (वेदा० १।४।२३) इति बादरायणेन ब्रह्मणः प्रकृतित्वस्यापि प्रतिपादनेनाऽभिन्न-निमित्तोपादानत्वमुक्तम्" इति वचनन्त्वस्य शाङ्करभाष्यानुकरणमेव, यन्न युक्तम्। परन्नैव सूत्रस्यैषोऽभिप्रायः। इह पुनश्च यथायथं विशदीक्रियते—

प्रश्नः— ब्रह्म सृष्टेर्निमित्तकारणं तु सिद्धम्, उपादानमपि कथन्न तदेव स्वीक्रियते, कावश्यकता पृथक् प्रकृतिस्वीकृतेः ?

तदुत्तरमस्ति—'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात्'। यथा घटरचयिता कुलालः, आभूषणनिर्माता सुवर्णकारः, घटस्याभूषणस्य चानयोस्ताभ्यां पृथक् सत्ताऽप्यस्ति। तथा 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति, सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन' इति प्रतिज्ञा-दृष्टान्तोपमासामञ्जस्यं प्रकृतिसत्तायामेव सम्भवति।

तद् वैयासिकं सूत्रं ब्रह्मोपादानकारणत्वेनोपन्यस्तं तदपि न रमणीयम्। प्रकृतिसहायस्य ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वन्तदसहायस्य वेति विचिकित्सायां तदसहायस्य केवलस्य कारणत्वे परिणामित्वाद्यनेकदोषप्रसङ्गात् तत्सहायमेव

पृ० १२३०, अनु० १—"बादरायण ने 'प्रकृतिश्च०' इस सूत्र में ब्रह्म को प्रकृति भी माना है। इस प्रकार उसमें उपादानकारणता और निमित्तकारणता अभिन्नरूप से प्रतिपादित है"। यह कथन केवल शाङ्करभाष्य का अनुकरणमात्र है; परन्तु सूत्र का उक्त अभिप्राय नहीं है। यहां पर फिर यथायथ प्रश्नोत्तर करके स्पष्ट किया जा रहा है।

प्रश्न—ब्रह्म सृष्टि का निमित्त कारण तो है ही, इसी को उपादानकारण भी क्यों न माना जाये ?

उत्तर—यदि ब्रह्म निमित्तकारण है, तो उक्त दृष्टान्त से उपादानकारण तो ब्रह्म से भिन्न प्रकृति ही हो सकती है। जिस प्रकार घट-रचयिता कुम्भकार और आभूषण-निर्माता स्वर्णकार की सत्ता घट तथा कुण्डलादि के उपादान मिट्टी और स्वर्ण से भिन्न है। इसी प्रकार 'येनाऽश्रुतं श्रुतं भवति' अर्थात् 'जिसके जान लेने पर सब जान लिया जाता है' यह प्रतिज्ञा है और 'हे सौम्य ! एक मृत्पिण्ड से यह सब घटादि बनते हैं' इस दृष्टान्त में वैषम्य आ जायेगा और न इन दोनों में उपमा-सामञ्जस्य बन सकेगा; जब तक उपादान की सत्ता पृथक् न मानी जावे। अतः एक ब्रह्म को उभयकारण मानना अयुक्त है।

इस सूत्र को इस प्रकरण में रखना भी उचित नहीं है। विचारिये—प्रकृति को लेकर ब्रह्म जगत् का जन्मादि कारण है या उसके बिना भी ? तो ब्रह्म में

जगज्जन्मादिकारणं ब्रह्मेति तत्र सिद्धान्तितत्वात्। तथा हि श्रूयते—

'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः'।
'तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥'

एतद्वै तदिति प्रतिज्ञा। यः सुप्तेषु स्वप्नावस्थापन्नेषु चराचरात्मकेषु पदार्थेषु जागर्ति = जागरणशीलो न स्वपितीत्यर्थः। यः कामं कामं सङ्कल्पं सङ्कल्प्य विविधात्मकं जगन्निर्मिमीते। यश्च तेषां निर्मितपदार्थानामाश्रयोऽधिष्ठानं वा सोऽयममृतत्वादिगुणोपेतः पुरुषो ब्रह्मेति समासतस्तदर्थः।

पृ० १२३०, अनु० २—यदुक्तम्—"जनिकर्तुः प्रकृतिः' (अष्टा० १।४।३०) इत्यपादानसंज्ञायां 'यतः' इत्यत्र पञ्चम्यास्तसिल्। यस्मात् परमात्मन उपादान-भूतात् सर्वं जगदाविर्बभूव, तं परमात्मानं को वेद, न कोऽपीत्यर्थः। प्रकृतितः परमाणुभ्यो वा जगज्जन्मेति बहवो भ्रान्ताः" इति भवतस्तत् समग्रं भ्रान्त्योक्तम्। जनिकर्तुरिति सूत्रमुदाहृत्य जनिधातोः कर्तुः प्रकृतिरतु उपादानभूता एव भवतीति व्यञ्जितं भवता। एतेन च परमेश्वरस्य उपादानता साधिता। परमिदमेतस्य व्याकरणसूक्ष्मानध्ययनसूचकम्। नहि प्रकृतिरिह उपादानमेव किन्तु हेतुर्निमितमपि

परिणामी होने आदि दोष प्रसङ्ग होने लगेंगे, अतः प्रकृति को साथ मानने का सिद्धान्त ठीक है।

तब यह भी घटित होता है कि जो सोते हुओं में जागता है, जो सङ्कल्प कर विविध जगत् का निर्माण करता है, जो निर्मित पदार्थों का आश्रय अधिष्ठान है, वही अमृत पुरुष ब्रह्म है।

पृ० १२३०, अनु० २—"जनिकर्तुः प्रकृतिः' (अष्टा० १।४।३) इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार अपादान संज्ञा होने पर यहां (यतः) पञ्चमी विभक्ति का बोधक तसिल् प्रत्यय विहित है। जिस उपादानभूत परमात्मा से यह सारा जगत् पैदा हुआ, उसको कौन जानता है ? कोई भी नहीं। प्रकृति अथवा परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति होती है, ऐसा बहुत लोगों का भ्रम है।" यह सब कथन शाङ्करभाष्य की अनुकृतिमात्र है। यह बहुत लोगों का भ्रम नहीं अपितु यह भ्रम-कथन ही आपका भ्रम है। 'जनिकर्तुः' इस सूत्र को उद्धृत कर 'जन्' धातु के कर्ता की प्रकृति तो उपादानभूत है, यह आपने अभिव्यक्त किया है और इससे परमेश्वर की उपादानता सिद्ध की है। इससे इस लेखक की व्याकरण-शास्त्र के रहस्य की अनभिज्ञता ही व्यक्त होती है, क्योंकि यहां पर प्रकृति उपादान ही नहीं किन्तु हेतु (निमित्त) भी है। जैसा तत्त्वबोधिनीकार ने कहा है—

https://t.me/Dharmadarshan

भवति । तथा चाह तत्त्वबोधिनीकारः—"इह प्रकृतिग्रहणं हेतुमात्रपरमिति वृत्तिकृतमतम् 'पुत्रात् प्रमोदो जायते' इत्युदाहरणात् । उपादानमात्रमिति तु भाष्यकैयटमतं, तदुभयसाधारणमुदाहरणमाह - 'ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते' ब्रह्मा हिरण्यगर्भः स च हेतुरेव न तूपादानम् ।" अतो 'यतः' परमेश्वराद् हेतोर्निमित्तकारणदत् सर्वं जगदाविबभूव । नात्र परमेश्वरस्योपादानताऽनिवार्या ।

ननु प्रकृतिर्यदि उभयकारणवाचिका तदा वेदान्तिनोऽभीष्टार्थसिद्धौ भवदुक्त्याऽपि पुष्टिरेवेति वाच्यमिति चेन्न, उभयार्थकत्वेऽपि प्रकृतिशब्दस्य नानिवार्यता उपादानार्थस्य, तथा सति सङ्गदोषापत्तिर्ब्रह्मणः परमेश्वर्यापत्तिश्च जगति । अतोऽत्रापि सांख्यादिकथितप्रकृतेरेव ग्रहणम् ।

अपि च प्रकृतिर्यदि ब्रह्मणो गुणस्तर्हि न गुणाद् द्रव्योत्पत्तिसम्भवः । 'कर्तुः प्रकृतिः' इति सम्बन्धे च कर्तृत्वं तत् प्रकृतित्वं चेति द्वयमापन्नमेव । तथाऽपि प्रकृतिशब्देन सांख्यपरमाणुवादिनामेव मतं ग्राह्यम् । नहि प्रकृतिवादिनः सांख्याः

"यहां पर प्रकृति शब्द हेतुमात्रपरक है, ऐसा वृत्तिकार का मत है । 'पुत्र से प्रमोद पैदा होता है' इस उदाहरण से सिद्ध है । प्रकृति अर्थ उपादानमात्र है ऐसा भाष्य और कैयट का मत है । इसलिये उभयत्र घटित उदाहरण दे रहे हैं कि 'ब्रह्म से प्रजायें उत्पन्न होती हैं । ब्रह्म हिरण्यगर्भ है वह हेतु अर्थात् निमित्त है, न कि उपादान लोग मानते हैं ।" इस प्रकार प्रकृति का अर्थ केवल उपादान मानना ठीक नहीं । इसलिये 'यतः' अर्थात् निमित्तकारण परमेश्वर से सब जगत् उत्पन्न हुआ, यहां पर परमेश्वर की उपादानता अनिवार्य नहीं ।

प्र०—यदि कोई कहे कि प्रकृति के जब दोनों निमित्त और उपादान अर्थ होते हैं, तो वेदान्ती तो यही कहते हैं कि ब्रह्म दोनों ही कारण है । तथा इससे भी उसी की पुष्टि हो गई ।

उ०—ऐसा नहीं है । एक प्रकृति शब्द के दोनों अर्थ होने पर कौन सा अर्थ ग्राह्य है, यह बुद्धि से विवेच्य है । ब्रह्म परमेश्वर को उपादान मानने पर सङ्गदोष के कारण प्रकृति की भांति ब्रह्म को भी परिणामी मानना पड़ेगा तथा ब्रह्म का समग्र व निश्चय आदि जगत् में भी अनिवार्यरूप से आना चाहिये । अतः प्रकृति शब्द से 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' ही ली जायेगी ।

अपि च प्रकृति यदि ब्रह्म का गुण है; क्योंकि आप दूसरी वस्तु की सत्ता नहीं मानते, तो गुण से जगद्रूप द्रव्य उत्पन्न नहीं हो सकता; और 'कर्ता की प्रकृति' इस सम्बन्ध अर्थ में कर्त्ता उसकी प्रकृति ये वस्तुद्वय अवश्य माननी पड़ती हैं । तब भी प्रकृति शब्द से सांख्य और परमाणुवादियों का ही मत ग्राह्य है । महोदय !

परमाणुवादिनो वैशेषिका वा भ्रान्ताः; प्रत्युत शास्त्राणां सामञ्जस्यसाधनेऽक्षमा भवन्मतिरेव भ्रान्ता ।

प्रकृतिशब्दो यद्यत्रोपादानकारणमेवोपादीयेत, तर्हि 'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि०' (यजु० ३१।७), 'आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' (मनु० ३।७६), 'सुपुत्राज्जायते मोदः, सुधनाच्च परं सुखम्' (स्फुटम्) एवंविधा सर्वे प्रयोगा नोत्पद्येरन् । नहि यज्ञादीनि ऋगादीनामुपादानकारणानि ।

प्रकृतिलक्षणेभ्य आदित्यादिभ्योऽप्यपादान एव पञ्चमी भवति । तत्र प्रकृतिपदं हेतुपरम् । अतो नैव नियमो यत् पञ्चम्या उपादानकारणमेव ग्रहीष्यते । वृत्तिकारोऽप्याह—"असति प्रकृतिग्रहणे उपादानस्यैवापादानसंज्ञा स्यात् प्रत्यासत्तेर्नेतरस्य । प्रकृतिग्रहणात् कारणमात्रस्य भवतीति प्रकृतिपदमनुपादानेऽप्यपादानसंज्ञासिद्ध्यर्थम्" इति ।

पुनरपि विज्ञाप्यते तस्मात् पञ्चमीविधानमुपादानकारणस्यैवानुमापकमिति व्याहरणं कथमपि न युज्यते । न च प्रकृतिः शब्दः सर्वत्रोपादानकारण एव प्रसिद्ध इति वाच्यं, तदितरपरत्वस्याऽपि तद्दर्शनात् । तथा हि—'तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ'

वे भ्रान्त नहीं हैं, प्रत्युत शास्त्रों की सङ्गति लगाने में आपकी अक्षम बुद्धि ही भ्रान्त है ।

यदि यहां पर प्रकृति शब्द उपादानपरक ग्रहण होगा, तो 'उस यज्ञ सर्वहुत से ऋगादि उत्पन्न हुए', 'आदित्य (सूर्य) से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न, अन्न से प्रजायें उत्पन्न होती हैं' (मनु० ३।७६), 'सुपुत्र से मोद होता है, उत्तम धन से भी सुख होता है' इत्यादि प्रयोग उपपन्न नहीं होंगे; क्योंकि यज्ञादि ऋगादि के उपादानकारण नहीं हैं ।

प्रकृतिलक्षणादि आदित्यादि से भी अपादान में ही पञ्चमी होती है । वहां प्रकृति शब्द हेतुपरक है । अतः यह नियम मान्य नहीं है कि पञ्चमी से उपादानकारण ही गृहीत होगा । वृत्तिकार का भी कथन है—"जनिकर्तुः०' सूत्र में प्रकृति ग्रहण न करने पर उपादान की ही अपादानसंज्ञा होगी प्रत्यासत्ति के कारण, इतर की नहीं । प्रकृतिग्रहण से कारणमात्र की होती है, अतः प्रकृति पद अनुपादान में भी अपादानसंज्ञासिद्धि के लिये पढ़ा गया है ।"

पुनरपि यह कहना कि प्रकृतिग्रहण से पञ्चमीविधान उपादानकारण का ही अनुमापक है, किसी प्रकार युक्त नहीं है । प्रकृति शब्द सर्वत्र ही उपादानकारण का ही सूचक है, यह भी नहीं कहना चाहिये; क्योंकि इतर अर्थों में भी प्रयुक्त होता है । जैसे 'तदर्थ०' (अष्टा० ५।१।१२) इस सूत्र पर काशिकाकार ने

https://t.me/DharmaSanskrit

(अष्टा० ५।१।१२) इति सूत्रे काशिकाकृदपि प्रणिजगाद—"विकृतेरिति किम् ? उदकार्थः कूपः। विकृतिग्रहणेऽक्रियमाणे या काचित् प्रकृतिर्गृह्यते नोपादानकारणमेव। भवति च कूप उदकस्य प्रकृतिस्तत्रोत्पादनात्। न तूदकं तस्य विकृतिः, अत्यन्तभेदाद्" इति। तस्मान्न सर्वत्रोपादानकारणपर एव प्रकृतिशब्द इति सुस्थिरम्।

यदि कथ्येत यत् किं बहुनाऽस्माकं नवीनवेदान्तिनां स्वयमेवार्थोऽभिमतो यत् 'उपादानभूतात् परमात्मन इयं विसृष्टिराबभूव' इति, तदपि नितरामसङ्गतमेव, जडसृष्टेश्चेतनस्योपादानकारणत्वासम्भवात्। चेतनस्य निमित्तकारणत्वमेव सम्भावयितुं शक्यम्। न जातूपादानकारणत्वं परिणामित्वप्रसङ्गात्। यत्खलु कार्याकारेण परिणमते तदुपादानं, यत् समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणमिति लक्षणात्। यदधिष्ठितञ्च तत् परिणमते तन्निमित्तकारणमिति सर्वसम्मतम्।

एवं सति भगवतो ब्रह्मणो जगदुपादानत्वस्वीकृतौ तत्परिणामित्वं प्रसज्येत। सकलशिष्टाभिप्रेतं तस्य कूटस्थनित्यत्वञ्च व्याहन्येत। नहि यत् परिणामि तदेव

भी कहा है—"विकृति यह क्यों पढ़ा गया ? उत्तर है कि 'उदक के लिये कुआं' यहां पर विकृति न ग्रहण करने पर जो कोई भी प्रकृतिग्रहण की जायेगी, वह उपादानकारण ही नहीं होगी। कुआं उदक की प्रकृति माना जाता है; क्योंकि उससे जल उत्पन्न होता है, पर उदक उस कूप की विकृति नहीं है। वह जल कूप से अत्यन्त भिन्न है।" इसलिये सर्वत्र प्रकृतिशब्द उपादानपरक ही नहीं है, यह मत निश्चित हो गया।

यदि कहा जाये कि हमें आपके उक्तार्थ से क्या लेना देना, हम नवीन-वेदान्तियों को तो यही अर्थ अभिमत है कि 'उपादानभूत परमात्मा से' तो यह असङ्गत है; क्योंकि जड़ सृष्टि का चेतन उपादानकारण हो ही नहीं सकता। चेतन तो निमित्तकारण ही हो सकता है, उपादानकारण तो कदापि नहीं, अन्यथा परिणामित्व प्रसङ्ग आ जायेगा। जो कार्य के आकार में परिणत होता है, वह उपादान होता है, जिसमें समवेत होकर उत्पन्न होता है, वही तो समवायिकारण कहा जाता है, यह उसका लक्षण है, जिसमें अधिष्ठित होकर परिणत होता है, वह निमित्तकारण होता है, यह सर्वसम्मत है।

इस प्रकार ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानने में ब्रह्म का परिणामित्व और सकल शिष्ट जनों को अभिप्रेत ब्रह्म की कूटस्थ नित्यता का व्याघात (नाश)

कूटस्थनित्यमपि स्यादिति कस्याऽप्यनुभवपोचरम्।

अपरं चेदमपरिहार्यं दूषणमापद्यते—'सानुरूप्याऽनुपलम्भात्' लोके हि यदुपादानकं तत्तस्य सारूप्यमुपलभ्यते, यथा मृदुपादानकस्य च कटकरुचकादेः सुवर्णसारूप्यम्। एवमेव ब्रह्मसारूप्ये जगतोऽप्युपलभ्येत, न च तत्तथोपलभ्यते। नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपं हि चेतनं ब्रह्म। जगच्च सर्वथा तद्विरुद्धमविशुद्धम्, अबुद्धमचेतनमनित्यञ्च। न च तयोः सारूप्याभावे ब्रह्मोपादानकत्वं जगतः प्रयत्नसहस्रेणापि व्यपदेष्टुं शक्यम्। तस्मान्निमित्तकारणमेव ब्रह्म जगतो नोपादानकारणम्।

पृ० १२३२, अनु० १—'हिरण्यगर्भः०' इत्यस्य अर्थे भान्योक्तिर्निन्द्या, अर्थस्य सर्वथास्पष्टत्वात्। यथा तत्र हविषा योगाभ्यासेनातिप्रेम्णा आत्मना अन्तःकरणेन सकलोत्तमसामग्र्या सर्वसामर्थ्येन वेत्यन्यत्र व्याख्यास्यमानत्वात्।

वेदविषयविचारे 'ज्योतिर्विज्ञानं वै हिरण्यं ज्योतिः प्रकाशोऽमृतं वाऽपि' इत्यादयोऽर्थानां पल्लवितत्वात्, शतपथादिप्रमाणपोषितत्वान्नेहाधिकमुक्तम्। परमेश्वरार्थे चेदमेव बीजम्।

यच्चोक्तं 'हविषा किं विधेम' तत्र हविरिति विभक्तिव्यत्ययो मान्योऽथवा

होने लगेगा। परिणामी होते हुए कूटस्थ नित्य होता है, ऐसा किसी ने साक्षात् नहीं किया है।

दूसरे यह भी अपरिहार्य दोष आने लगेगा कि लोक में जिस कार्य का जो उपादान होता है, उसके अनुरूप ही वह कार्य होना चाहिये, जैसे मिट्टी के उपादान से घट की (अनुरूपता)। ब्रह्म तो नित्य शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वरूप है और जगत् अनित्य, अशुद्ध, अज्ञान, अचेतन और बद्ध है। सहस्रों प्रयास करने पर भी सारूप्य के अभाव में जगत् का ब्रह्म उपादान हो ही नहीं सकता। अतः ब्रह्म जगत् का निमित्तकारण ही है, उपादानकारण नहीं है।

पृ० १२३२, अनु० १—यह कहना भी ठीक नहीं कि "हिरण्यगर्भः०' इस मन्त्र का व्याख्यान मन्द है; क्योंकि इस व्याख्या में कोई स्पष्ट अर्थ प्रतीत नहीं होता।" इसमें आपकी अल्प समझ का दोष है। वास्तव में आपको यहां यह लिखना चाहिये था कि यह व्याख्यान अस्पष्टार्थ है, समझने की बुद्धि मन्द होने से। हिरण्य के अर्थ ज्योतिर्मय सूर्यादि पदार्थ हैं। 'हिरण्यानि सूर्यादीनि ज्योतींषि गर्भे मध्ये यस्य सः' अर्थात् जिसके अन्दर सूर्यादि ज्योति हैं, इस अर्थ का बीज बिल्कुल स्पष्ट है।

'विधेम' का अर्थ 'परिचरेम' अर्थात् सब लोग होतव्य, दातव्य, श्रद्धा,

https://t.me/Dharmadasanat

भक्तिमित्याक्षेप्तव्यम्। जात इत्यस्य प्रसिद्धार्थत्वान्निमित्तकारणेश्वरे सूपपत्तिरेव। उक्तमन्त्रे 'पतिरेक' इति पाठेन मुख्य ईश्वर एव पतित्वेन घटते, न ब्रायण-कृतोऽर्थः।

पृ० १२३२, पं० १३—यदाह—"हिरण्यगर्भः०' इति व्याख्यानं मन्दम्, अस्पष्टार्थत्वात्, तथाहि—हिरण्यगर्भः परमेश्वर इत्यत्र किं बीजम्? हविषा किं विधेमेति सापेक्षम्। 'जात' इत्यस्य च कारणेश्वरपक्षे कथमुपपत्तिरिति चिन्त्यम्" इति वस्तुतश्चिन्त्यमेव चिन्त्यं शास्त्राऽचिन्तनात्। तस्मात् तद्व्याख्यानमस्पष्टार्थं मन्दत्वादिति लेख्यमासीत्। हिरण्यशब्दो हि सूर्यादिज्योतिरर्थकः। विधेम परिचरेम चापेक्षम्। 'जातः' इत्यस्यार्थः प्रसिद्ध इत्यपि। अन्यच्च स सृष्टेः पूर्वं प्रादुर्भूतोऽप्रकाशितो नासीत्।

पृ० १२३४, पं० ३ यदुक्तम्—"सामाजिकसम्मतवेदेषु नायं (नि० २।३—'यस्मात् परं नापरम्' इति) मन्त्र उपलभ्यते" इति तु अविदित्वैवोच्यते वेदानुकूलानामुपनिषदादीनामपि प्रामाणिकत्वात्, अथवा ऋषिदयानन्देनात्रैव लिखितं यन्नात्र मन्येत निगमशब्दो वेदार्थकस्तदा 'निगमो निगमनम्' इत्येवार्थः श्रेयान्।

पृ० १२३५, पं० ८—यदयं "यदीश्वरस्य सर्वव्यापकत्वेन तत्त्वं तर्हि जीवा-

---

भावना आदि पदार्थों से परिचरण करें। यहां किसी भी कर्म की अपेक्षा है ही नहीं। 'ईश्वर को जगत् का कारण मानने पर वह व्युत्पन्न कैसे माना जा सकता है' आपका यह आक्षेप 'जातः' शब्द के अर्थ पर है। वह भी अविचार के कारण है; क्योंकि 'जातस्य' के स्थान पर वह षष्ठी के अर्थ में प्रथमा है। दूसरे 'जातः' का अर्थ प्रसिद्ध भी है। तीसरे सृष्टि के पूर्व से वह प्रादुर्भूत था, अर्थात् सृष्टि में इससे पूर्व उसका प्रादुर्भाव कभी नहीं होता, वह एकरस है।

पृ० १२३४, पं० ३—आपका यह भी भ्रान्त कथन है कि "आर्यसामाजिक सम्मत वैदिक संहिताओं में यह वचन नहीं मिलता, जो कि (यस्मात् परम्) निरुक्त (२।३) में उद्धृत है; परन्तु कोई मन्त्र इस रूप में उपलब्ध नहीं है, फिर इसे निगम क्यों कहा गया है" क्योंकि आपने विचारा नहीं। निरुक्त में निगम शब्द का अर्थ न केवल वेद ही गृहीत होता है, अपितु नियमानुकूल उपनिषदों को भी औपचारिकता से निगम माना है और उनकी प्रामाणिकता है। (आप्टे-कोश में निगम का अर्थ Auxileary to, Explanation of Vedas) कहा है, अर्थात् वेद का सहायक, उपकारी, व्याख्यात्मक वाक्य भी निगम कहलायेगा। ऋषि की सूक्ष्म प्रज्ञा ने इसीलिये इस स्थल पर 'निगमनम्' वेद का सम्बन्धबोधन करनेवाला निगम कहा है, न कि वेदसंज्ञक या वेदपर्यायवाची, यह ध्वनित किया है।

पृ० १२३५, पं० ८—"यदि सर्वव्यापकता के आधार पर ईश्वर में ये हजार

काशादीनां कुतो न तत् स्यात्" इति शङ्कामुद्भावयति। अनेन स्वमतिः क्वापि तमसि न्यासीकृता यन्नैव विवेचितं यत् शिरस्तूत्तमाङ्गं तत्र हीन्द्रियाणां बुद्धेश्च स्थानं, तदाकाशे न सम्भवति तस्य जडत्वात्। अस्मदादीनां शिरांसि तु परमात्मनि पूर्णे वर्तन्त एव तत्र न काचिद् विप्रतिपत्तिः सम्भवति।

यदुक्तम्—'जीवस्याऽपि कथं न सम्भवन्ति' तत्त्वविचारितकथनम्, एकस्य जीवस्य सहस्रशिरसामसम्भवात्, बहूनां जीवानाञ्च सहस्रशीर्षादिशब्देषु एकवचनपरकबहुव्रीहेरसङ्गतत्वाच्च।

१२३५ तमे पृष्ठे त्रयोदशपङ्क्त्यां शीर्षआदेशविधानं तु प्रामादिकम्। 'शीर्षन्' इति नान्तादेशो भवति, अकारान्तस्तु 'कुमारशीर्षयोर्णिनिः' (अष्टा० ३।२।५१) इति ज्ञापकाच्छिरःशब्दस्य शीर्षादेशो जायते।

भूमिशब्दो भूतानामुपलक्षणं तु दर्शितमेव, परं भवति सत्तात्मकत्वेन भूतेषु विपरिणमते अथवा भवत्यस्यां सकलं जगदिति प्रकृत्यर्थोऽपि सम्यग् घटते। येन स्थूलसूक्ष्मभूतानि व्याप्यापि ततोऽपि सूक्ष्मतरां प्रकृतिं सूक्ष्मतमः परमपुरुषोऽभिव्याप्य वर्तते। यथा भूमिशब्देन भवता मायोपलक्ष्यते तथैव स्वामिना प्रकृतिरपि उपलक्षिता।

सिर आंख आदि माने जाते हैं तो आत्मा और आकाश भी तो सर्वव्यापक हैं, इनमें ये क्यों न माने जाएं?" यह शङ्का उदभावित करते हुए आपने पहले अपनी बुद्धि को किसी तम (अज्ञान) में न्यास कर दिया है; जो कि आपने इतना भी विचार नहीं किया कि उत्तमाङ्ग शिर जिसमें ज्ञानेन्द्रियों का निवास है, वह जड़ आकाश में कैसे सम्भव है। हम सबके सिर तो व्यापक परमात्मा के अन्तर्गत सम्भव हैं। इसमें कोई संशय नहीं।

यह जो कहा कि जीव में भी क्यों नहीं सम्भव है? यह कथन भी घोर अज्ञानजन्य है, क्योंकि हजारों शिर आदि जीव के सम्भव नहीं। सहस्रशीर्षादि बहुव्रीहिसमासवाले पदों में एकवचन है और जीवात्मा अनेक हैं। अतः आपका कथन असङ्गत है।

पृ० १२३५, पं० १३ में शिर शब्द को 'शीर्षश्छन्दसि' (अष्टा० ६।१।६०) सूत्र से शीर्ष आदेश होता है, यह प्रामादिक लेख है। 'शीर्षन्' नान्त आदेश है।

भूमि शब्द ('भुवः कित्' उ० ४।४५ से) भूतों का उपलक्षक है। 'भू सत्तायाम्' धातु से बनने से सत्तात्मकरूप से जो प्रकृति भूतों में परिणत हो जाती है अथवा जिसमें सकल जगत् होता है, इस रूप में प्रकृति का उपलक्षक है। जिस सूक्ष्मभूत सूक्ष्मतर प्रकृति को व्याप्त कर सूक्ष्मतम परमात्मा है। जसे भूमि शब्द से आपने माया भी उपलक्षित की है वैसे ही प्रकृति भी उपलक्षित है।

https://t.me/Dharmasastra

पृ० १२३६, अनु० १—यदुक्तम्—"दशाङ्गुलमिति ब्रह्माण्डहृदययोरुपलक्षणम्' इति, तदपि चिन्त्यं, निर्मूलत्वात्।" तदिदं सर्वमबोधपरिष्कृतमेव, स्वामिना जगतः प्रकृतिपर्यन्तस्य परिभाषितत्वात्। 'सहस्रशीर्ष' इति मन्त्रभाष्ये दयानन्दं त्वन्महीधरकथनमप्यत्र पुष्णाति—'भूमिशब्दो भूतोपलक्षकः। "पञ्चभूतानि व्याप्य दशाङ्गुलदेशमध्यतिष्ठद् अतिक्रम्यावस्थितः। दशाङ्गुलमित्युपलक्षणम्। ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः, यद्वा नाभेः सकाशाद् दशाङ्गुलमतिक्रम्य हृदि स्थितः।" इत्येवं सर्वं तव चिन्तामूलं, भूमिकोक्तेः समूलत्वात्। इमे प्रहारास्ते गेहस्थे महीधरे जायन्ते न भूमिकायां, मया समाहितत्वात् शङ्कानाम्।

सायणोऽपि दशाङ्गुलमित्यर्थं हृदयाकाशं यज्ञपक्षे आत्मपक्षे बहिर्देशमर्थमकरोत्। उव्वटशौनकभट्टभास्करा अपि तथा श्वेताश्वतरोपनिषदि आचार्यशङ्करोऽपि तथा व्याख्यातवान्।

पृ० १२३६, अनु० १—'दशाङ्गुलम्' ब्रह्माण्ड और हृदय का उपलक्षक है, यह स्वामीजी का कथन गलत है; क्योंकि पांच स्थूल, और पांच सूक्ष्ममहाभूत ही सारा जगत् नहीं बन जाते। अतः यह भी निर्मूल होने से चिन्त्य है।" पारिजात का यह निर्मूल चिन्तन अबोधपरिष्कृत है। स्वामीजी ने प्रकृतिपर्यन्त जगत् का परिभाषण किया है। स्वामीजी के बहुत से कथन की पुष्टि तुम्हारे पूज्य वाममार्गी महीधर आचार्य भी कर रहे हैं। जैसे भूमि शब्द भूतों का उपलक्षक है। "पांच भूतों को व्याप्त करके दशाङ्गुल देश का अतिक्रमण करके (वह परमेश्वर) अवस्थित है। 'दशाङ्गुल' भी उपलक्षक है कि 'ब्रह्म' उससे बाहर भी व्याप्त होकर वहीं स्थित है, अथवा नाभि के समीप दशाङ्गुल का अतिक्रमण करके स्थित है।" इस प्रकार आपका कथन तो अवश्य चिन्तामूलक है। महर्षि का कथन सर्वथा समूल है। आपको अपने घर की सुधि है नहीं, भूमिकालेख पर प्रहार कर बैठे। ये सब प्रहार महीधर पर तो बने रहेंगे। हमारे द्वारा तो समाधान हो रहा है।

सायणाचार्य ने भी 'दशाङ्गुलम्' का अर्थ यज्ञपक्ष में हृदयाकाश तथा आत्मपक्ष में 'बहिर्देश' अर्थ ग्रहण किया है। उव्वट भी लिखता है (महाराष्ट्र पाठ में) इसका भाष्य शौनक ऋषि ने किया। यथा—दश चल अङ्गुल अर्थात् इन्द्रियां कुछ अन्यथा पसन्द करते जैसे दशाङ्गुल प्रमाण हृदयस्थान है। भट्टभास्कर (तै० आ० ३।१२।१ में) ने सामर्थ्य से हृदयाकाश का ग्रहण किया है। यह 'दशाङ्गुल' आख्या हृदयाकाश की है। 'ब्रह्माण्ड से बाहर भी सब ओर नाभि के ऊपर दश अङ्गुल हृदय' (श्वेताश्वरतर शा० भा० ३।१६)।

यदुच्यते "नहि पञ्चस्थूल-पञ्चसूक्ष्म-भूतान्येव जगत्। प्रकृतिमहदहङ्कारादीनां ततो भिन्नत्वात्" इति, तत्त्वतितरामज्ञानविजृम्भितं, सूक्ष्मभूतेषु परमाणुरू प्रकृतेरप्यन्तर्भावत्वात्, महदहङ्कारादीनामपि तदन्तःपातित्वात्। महत्तत्त्वादिसर्वकार्यपदार्थानां परमं कारण प्रकृतिरेव। जडरूपत्वादियं हि जीवेश्वरभिन्ना। तस्याश्च नान्यत् कारणम्।

अत आह 'सदकारणवन्नित्यम्' (वै० ४।१।१)। इयं तु परिणामिनित्या जीवेश्वरौ च कूटस्थनित्यौ। 'तस्य कार्यं लिङ्गम्' (वै० ४।१।२) इत्यनेन महदादयोऽन्येषां कारणभूता अपि स्वयं प्रकृतेः कार्याण्येव।

तथा सृष्टिसंहारविधौ प्रशस्तपादभाष्यम्—"तेषामारम्भकपरमाणुविनाशः। तथा भूम्युदकज्वलनपवनानामपि महाभूतानामनेनैव क्रमेणोत्तरस्मिन् सति पूर्वस्य पूर्वस्य विनाशः, ततो विभक्ताः परमाणवोऽवतिष्ठन्ते" इति।

आप थोड़ा बुद्धि से काम लेते। यह कथन कि "स्थूल और सूक्ष्म महाभूत ही सारा जगत् नहीं बन जाते। इसके अतिरिक्त प्रकृति, महद्, अहङ्कार जैसे तत्त्वों की भी अलग से सत्ता मानी जाती है" अत्यन्त अज्ञान का है; क्योंकि 'पञ्चसूक्ष्माणि' शब्द से पञ्चभूतों के सूक्ष्म परमाणुओं का ग्रहण ऋषि ने किया है। जो जगत् अवयव परमाणु या प्रकृति के अन्तर्गत है। महदादि का भी प्रकृति में अन्तर्भाव है। महत्तत्त्वादि सब कार्य पदार्थों का उपादानकारण प्रकृति है। जड़रूप होने से यह जीवों से भिन्न है। उस प्रकृति का कोई कारण नहीं है।

इसीलिये कहा है कि जिसकी उत्पत्ति का कोई कारण न हो, अर्थात् जो सबका मूलकारण है, यह प्रकृति परिणामी नित्य है, जीव तथा ईश्वर कूटस्थ नित्य हैं। प्रकृति की सिद्धि में वैशेषिक (४।१।२) में लिङ्गकथन किया है—'तस्य कार्यं लिङ्गम्' अर्थात् कार्य की सिद्धि में कारण तथा कारण की सिद्धि में कार्य लिङ्ग होता है। इससे महदादि अन्य आगे के कार्यजगत् के कारण होते हुए भी प्रकृति के तो कार्य ही हैं तथा भूमि का अर्थ प्रकृति भी है। भू अर्थात् सत्ता का जिसके द्वारा मापन हो। रामानुज ने भी कहा है 'भूमि जगत् का उपादान है और यहां भूमि शक्ति का भी वाचक है।' इत्यादि कथन से भूमि कार्य की ही पुष्टि होती है।

उसी प्रकार सृष्टि-संहार विधि में प्रशस्तपादभाष्य है—"उन शरीर और इन्द्रियों के आरम्भक परमाणुओं के संयोगों का नाश होता है। इसी प्रकार पृथिवी, जल, तेज और वायु का इनमें से आगे-आगे के रहते हुए पहले-पहले का विनाश होता है। इसके बाद उतने ही समय तक अपने में परस्पर असम्बद्ध परमाणु एवं धर्म-अधर्म संस्कार से मुक्त जीव ही रह जाते हैं।"

https://t.me/DharmaSamrat

भूमिरिति भूतानामुपलक्षणमित्यत्र भूतानां कार्यकारणभूतानां समेषामुपलक्षणमित्यर्थस्तदा प्रकृत्यादीनां सर्वेषां ग्रहणं भविष्यतीति नास्ति काचिद् विचिकित्सा। प्रकृतिमहदहङ्कारादौ ततो भिन्नत्वाद्युक्तिस्तु तत्त्वानधिगतफलम्। यतो हि सांख्ये जगदुपादानं प्रकृतिन्यायिकारस्तामेव कारणं द्रव्यं मत्वा पञ्चभूतेति संज्ञां व्यदधात्। सांख्यप्रणेता तु १।६१ सूत्रे 'स्थूलभूतानि' इति पाठे स्थूलपदन्यासेन कार्यरूपाणि पञ्चभूतानि इति व्यवाच्छिनत्। यथा विज्ञानभिक्षुरगादीदत्र—"एकतत्त्वे द्रव्यतत्त्वान्यन्तर्गतानि मत्वाऽनेकधा व्याख्यातम्" इत्यादि।

पृ० १२३८, अनु० १—पू० प०—"पुरुष एवेदं सर्वं यदित्यादि व्याख्यातम्, तदपि न युक्तम्, अध्याहारादिदोषग्रस्तत्वात्। वस्तुतस्तु कृतवानिति पदाध्याहारनैरपेक्ष्येण सामानाधिकरण्यमेवाऽभिप्रेतम्। इदमहङ्कारास्पदं फलचैतन्यव्याप्तिविषयत्वेनानुभूयमानं सर्वं स्थूल-सूक्ष्म-कारणात्मकं जगद् भूतं जातं भव्यमुत्पत्स्यमानं वर्तमानं च पुरुष एव पुरुषानतिरिक्तमेव, सर्वस्य तदात्मकत्वात्। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (छां० उ० ६।८।७) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छां० उ० ३।१४।१)

भूमि यह शब्द कार्य-कारणभूत समस्त भूतों का उपलक्षण है। तब तो प्रकृत्यादि सभी का ग्रहण हो जायेगा। इस प्रकार कोई सन्देह शेष नहीं रहता। 'प्रकृति, महत्, अहङ्कार आदि सबसे भिन्न है' यह कथन करना भी तत्त्व को न समझने के कारण है; क्योंकि जिसे जगत् का उपादान प्रकृति सांख्यकार कहते हैं, उसी को न्यायकार कारणद्रव्य मानकर पञ्चभूत संज्ञा से व्यवहृत करते हैं। सांख्यप्रणेता ने १।६१ (सत्त्वरजस्तमसामित्यादि) सूत्र में 'स्थूलभूतानि' शब्दों से कार्यरूप पञ्चभूतों का व्यवच्छेद किया है। जैसा कि विज्ञानभिक्षु ने भी कहा है—"एक तत्त्व में अन्य तत्त्वों के अन्तर्गत मानकर अनेक ऋषियों ने तत्त्वों की अनेक प्रकार की संख्या बताई है। जो सभी युक्तियुक्त होने से न्याय्य है। विद्वानों को क्या अशोभनीय है, वे सब प्रकार निरूपण कर सकते हैं। यह उनके बुद्धि के वैभव का फल है।"

पृ० १२३८, अनु० १—पू० प०—"भूमिका में 'पुरुष एवेदम्' इत्यादि का जो व्याख्यान किया है, वह भी ठीक नहीं; क्योंकि इसमें अध्याहारादि दोष हैं। वास्तव में 'कृतवान्' इस पद का अध्याहार किये बिना सामानाधिकरण्य से ही यहां अन्वय अभिप्रेत है। यह सारा कर्मफल और चैतन्य की व्याप्ति के रूप में अनुभूयमान सारा स्थूल-सूक्ष्म-कारणात्मक जगत् जो कुछ हो चुका है, जो कुछ होनेवाला है, अथवा जो कुछ है, वह सब कुछ पुरुष ही है। इससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ये छान्दोग्य-

इत्यादिश्रुतिभ्यः। मृदेव घटः, समुद्र एव तरङ्गादिकम् इत्यादिवत् कार्यकारणभावेन, रज्जुरेव सर्प इत्यधिष्ठानाधिष्ठेयभावेन च सामानाधिकरण्योपपत्तेः। तेनैव सोऽमृतत्वस्येशानोऽपि सम्भवति, अमृतत्वस्य तदधीनत्वात्। नहि मोक्षः फलादिवद्दातुं शक्यः, स्वरूपभूतत्वात्। अधिष्ठानसाक्षात्कारेण कल्पितदेहाद्युपाधिबाधेनाधिष्ठानावशेषत्वस्यैव मोक्षपदार्थत्वात्।"

उ० प०—भूमिकोक्तं तु तर्कशक्तिविहीनस्य दृष्टौ न युक्तं, नवीनवेदान्तकीलकबद्धबुद्धित्वात्। अध्याहारो हि न दूषणमपि तु भूषणमेव, स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थत्वात्तस्य। तथा च अध्याहारस्तर्क ऊह इत्यमरेऽपि। तस्मात् कृतवानिति तर्कः सम्यगूहितः।

सामानाधिकरण्येन योऽर्थो निष्पीड्यते जगदेव पुरुष इति, तत्तु शास्त्रतत्त्वानवगाहनशीलतायाः फलम्। यतो भगवता शङ्करेणाऽपि शक्तिरूपप्रकृतेः पृथक् सत्ताऽङ्गीक्रियते। यथा—"यदि वयं स्वतन्त्रां कांचित् प्रागवस्थां जगतः कारणत्वेनाभ्युपगच्छेम, प्रसज्जयेम तथा प्रधानकारणवादम्। परमेश्वराऽधीना

श्रुति के वचन इसमें प्रमाण हैं। 'मिट्टी ही घड़ा है' 'समुद्र ही तरङ्ग है' इसी तरह ये कारण ही कार्य हैं। रज्जु ही सर्प है, इस तरह से अधिष्ठान और अधिष्ठेय के आधार पर सामानाधिकरण्य बन जाता है। इससे यह अमृतत्व का स्वामी भी हो जाता है; क्योंकि अमृतत्व इसी के अधीन है। आम, अमरूद की तरह मोक्ष किसी को दिया नहीं जा सकता। क्योंकि वह तो अपना स्वरूप ही है। अधिष्ठान का साक्षात्कार हो जाने पर कल्पित देहादि उपाधि का बाध हो जाने से अधिष्ठानमात्र की स्थिति रह जाना ही मोक्ष पद का अर्थ है।"

उ० प० आप सदृश तर्कशक्तिविहीन पुरुष के लिये भूमिकाकथन अयुक्त हो सकता है; क्योंकि यह बुद्धि नवीन वेदान्त के खूंटे से बन्धी हुई है। स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये अध्याहार दूषण नहीं, अपितु भूषण होता है। अमरकोष में अध्याहार के पर्याय में तर्क और ऊह पढ़ा गया है। इसलिये यहां पर पुरुष कर्ता और 'इदं भूतं च भव्यं च' कर्म के उपस्थित हो जाने पर 'कृतवान्' का ऊह कर लेना प्रतिभावानों को सहज है।

सामानाधिकरण्य से जो अर्थ आप निष्पीडित कर रहे हैं कि 'जगत् ही पुरुष है' यह नित्यप्रतिपादक शास्त्र के सही चिन्तन न करने का ही फल है; क्योंकि नवीनवेदान्ती भगवान् शङ्कर को यत्र-तत्र यथार्थ को स्वीकृत करने के लिये विवश होना पड़ा है। जैसे वे १।४।३ सूत्र के भाष्य में कहते हैं—"परमेश्वर के

https://t.me/Dharmasamrat

त्विममस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते, न स्वतन्त्रा। सा चावश्यमभ्युपगन्तव्या। अर्थवती हि सा। नहि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिध्यति; शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः।"

अग्रे यदाह विद्यया तस्या बीजशक्तेर्हानाद् इति नोपपद्यते।

ये च सांख्ये वेदान्ते च भेदमाकलयन्ति ते सांख्यस्य ब्रह्मसूत्रं विचारयन्तु यस्मिन्नुपपादितं यन्न कर्म जगतः कारणं तस्योपादानकारणयोग्यताऽभावात्। एवेन स्पष्टं यत्सांख्ये तूपादानं निरूप्यते वेदान्ते च निमित्तकारणम्।

'मृदेव घटः, समुद्र एव तरङ्गादिकम्' इति उदाहरणं नैव घटतेऽत्र। यथा घटे मृदो गुणस्तरङ्गेषु च जलगुणजडत्वादयो विद्यन्ते, परं न तथा, विषमोऽयं दृष्टान्तः। जगतो हि उपादानभूतब्रह्मणः शरीरत्वे मते सुखदुःखभोगेन्द्रियराहित्यं न कल्पयितुं शक्यते। भोगसाधनेन्द्रियैः शरीरस्य भोगायतनत्वापत्तेश्चात्मनः सुखदुःखानुभवापत्तिरपि स्यात्।

अधीन जगत् की प्रागवस्था (कारणावस्था) हम भी स्वीकार करते हैं, परन्तु उन्हें भय है प्रधान कारणवाद के अनुयायी होने का। अतः यह सत्ता स्वतन्त्र नहीं।" यह तो हम (आर्यसमाजी) भी मानते हैं कि प्रधान सत्ता अपनी स्थिति में स्वतन्त्र होकर भी जगत्-रचना के लिये चेतन ईश्वर के अधीन है। आचार्य शङ्कर यह भी कहते हैं कि उसे अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि उसके बिना सृष्टि नहीं हो सकती। वह सर्वथा अर्थवती है। उसके बिना भगवान् भी सृष्टि-रचना में प्रवृत्त नहीं हो सकता।

पर वे आगे कहते हैं कि 'विद्या के द्वारा वह बीजशक्ति दग्ध हो जाती है' बस यह कथन सर्वथा अनुपपन्न है, क्योंकि ब्रह्मातिरिक्त जब अन्य नहीं; तो अविद्या किसको हुई? जिससे यह बीज-शक्ति उपस्थित हो गई।

जो लोग सांख्य और वेदान्त में भेद मानते हैं, उनको सांख्य के (१।८१) सूत्र का मनन करना चाहिये, कि उपादानकारण के न होने पर सृष्टि नहीं हो सकती। प्रधान (प्रकृति) वादी न हो जायें। यह आचार्य शङ्कर का नये वाद को जन्म देने की छाया में पला है। अतः सांख्य में बीज-शक्ति उपादानकारण और वेदान्त में निमित्तकारण का वर्णन किया गया है, ऐसा समझना चाहिये।

'मिट्टी ही घट है, समुद्र ही तरङ्ग है' यह उदाहरण यहां घटित नहीं होता। जैसे घट में मिट्टी के और समुद्र में जल के जडत्वादि गुण विद्यमान हैं; परन्तु इसी प्रकार कार्यात्मक जगत् में उपादानभूत ब्रह्म का शरीर होने पर सुख-दुःख भोगेन्द्रिय के राहित्य की भी कल्पना नहीं कर सकते। तब तो भोगायतनत्वापत्ति और सुखादि की अनुभवापत्ति होने लगेगी।

'रज्जुरेव सर्पः' इति दृष्टान्ते तूभयोरेव वास्तविकी सत्ता संसारेऽस्ति। तदैवाधिष्ठाने रज्जुरूपे अधिष्ठेयस्य सर्पस्य भ्रमः। अत्राधिष्ठाने ब्रह्मणि अङ्गीकृते जगद् वास्तवे च कथङ्कारमुपपद्येत? ज्ञेयस्य ज्ञातृत्वावच्छिन्नत्वे तु (ज्ञेयं ब्रह्म, ज्ञाता जीवः) एकयोगतो हि आत्माश्रयो दोषः स्यात्।

भवान् लिखति—"जगदेव पुरुषः' इति सामानाधिकरण्येन सोऽमृतत्वस्येशानोऽपि सम्भवति, अमृतत्वस्य तदधीनत्वात्।" इति। अत्रोच्यते—यदि सामानाधिकरण्येन अर्थाद् जगत्स्वरूपत्वेन ब्रह्मणो मोक्षस्येशानता, तदा जीवस्य वास्तविकसत्ताभावे कस्मै कस्मान् मोक्षं प्रदास्यतीति प्रश्नः, न भवेन्नाम मोक्ष आम्रामरोधफलादिवत्, स्वरूपभूतत्वात्, तदापि एष प्रश्नो यद् भवदुक्ता वास्तविक(कल्पित)देहाद्युपाधिबाधेन अधिष्ठानावशेषमात्रेऽपि तदधिष्ठानस्य साक्षात् कर्ता को भविष्यति? तस्मादिदं सर्वमपि तर्कबाह्यं प्रलपितमेव, शास्त्राननुगतत्वात्।

पृ० १२३८, अनु० २—"अन्नेन पृथिव्यादिना जगता सहातिरोहति व्यति-

'रज्जु ही सर्प है' इस दृष्टान्त में विचार कर देखिये तो रज्जु और सर्प दोनों की सत्ता संसार में वास्तविकरूपेण वर्तमान है। तभी अधिष्ठानरूप रज्जु में अधिष्ठेय सर्प की भ्रान्ति हो सकती है। इसी प्रकार अधिष्ठान ब्रह्म में अधिष्ठेय जगत्, जिसे आप अवास्तविक मानते हैं, उसकी उपपन्नता कैसे होगी? ज्ञेय ब्रह्म ज्ञाता जीव से अवच्छिन्न एकरूप मानने पर आत्माश्रय दोष आ जायेगा।

आप लिखते हैं—"जगत् ही पुरुष है' इस सामानाधिकरण्य से वह परमेश्वर अमृतत्व का स्वामी भी हो सकता है, क्योंकि अमृत उसके अधीन है।" इस विषय में हमारा कथन है कि यदि सामानाधिकरण्य अर्थात् ब्रह्म के जगत्-स्वरूप मानने पर ब्रह्म मोक्ष का स्वामी है, तो जीव की वास्तविक सत्ता मानने पर किसके लिये, किससे मोक्ष (छुट्टी) देगा? यह प्रश्न उठेगा। चलो, माने लेते हैं कि आम और अमरूद के समान मोक्ष किसी को दिया नहीं जा सकता, क्योंकि वह (मोक्ष) भी स्वरूप (ब्रह्मरूप) है, तब भी यह प्रश्न उठेगा कि आपके कथित अवास्तविक देहादि उपाधि के बाध होने पर अधिष्ठान (ब्रह्म) के अवशेषमात्र हो जाने पर भी इस अधिष्ठान का साक्षात्कर्ता कौन होगा? इसलिये आपका समस्त कथन तर्क से बाह्य है, प्रलापमात्र है, इसमें कहीं भी शास्त्र का अनुगमन नहीं किया गया है।

पृ० १२३८, अनु० २—"अन्न अर्थात् पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक

https://t.me/DharmaSansar

रिक्तः सन् जन्मादिरहितोऽस्ति' इति, तदपि मन्दं सहेत्यध्याहारे मानाभावात्। अतिरोहतीत्यस्य व्यतिरिक्तार्थताऽसिद्धेश्च। तस्मादन्नेन निमित्तभूतेन प्राणिनां भोग्येनातिरोहति, कारणावस्थामतिक्रम्य जगदवस्थां प्राप्नोतीत्येवार्थः। जगदवस्थाप्राप्तिमन्तरा प्राणिनां भोग्यान्नलाभासम्भवात्।" इति, अत्र निर्मलोक्तिः स्मृतिपथमवतरत्येषा—

स्वकीयबुद्धेः कुटिलस्वभावतः, असत्पथे यातुमिह प्रवर्तितम्।
निर्बन्धसन्ध्यात्तकुपक्षसंश्रयम्, सुमार्गमानेतुमपि क्षमेत कः॥

देव! एषा खलु भवतो मन्दोक्तिः, सहेत्यध्याहारस्य तर्कप्रमाणितत्वात्। रूढिन्यासीकृतधिया व्यतिरिक्तार्थता असिद्धिः कथयितुं पार्यते। वस्तुतस्तु 'रोह' विकासमतिक्राम्यति इति तदव्यतिरिक्त एव। यश्च न विकासं न वा सङ्कीर्णतां गच्छति अर्थाद् जन्मादिरहितोऽस्ति। परं सृष्टिकाले जगद्विकासं कुरुते प्रलयकाले चोपसंहरति। स्वसामर्थ्यात् शक्तेः प्रकृतेर्मायाया वा कारणात् कार्यं जगद् उत्पादयति।

भवत उपर्युक्तप्रकारेण प्रकृतेः प्राणिनां च सत्तायामवास्तविक्यां स्वयं च

होकर स्थित है और जन्मादि से रहित है' यह भूमिकोक्त व्याख्या भी उचित नहीं है, क्योंकि 'सह' पद के अध्याहार करने में कोई प्रमाण नहीं है। व्यतिरोहति (अतिरोहति) पद इस अर्थ में प्रयुक्त होता भी नहीं है। इसलिये इसका यही अर्थ करना पड़ेगा कि निमित्तकारणभूत प्राणियों के भोग्य कर्म के कारण यह कारणावस्था को छोड़कर जगदवस्था को प्राप्त करता है। जगदवस्था की प्राप्ति के बिना प्राणियों को भोग्य वस्तुओं की प्राप्ति नहीं हो सकती।"

यहां पर निर्मलोक्ति स्मृतिपथ पर उतरती आ रही है, यथा—

अपनी बुद्धि के कुटिल स्वभाव के कारण असत्य मार्ग पर जाने के लिये अतितरां प्रवृत्त, दुराग्रह के कारण कुपक्ष का संश्रय लेने के लिये कृतसङ्कल्प व्यक्ति को सुमार्ग पर लाने में कौन समर्थ हो सकता है।

श्रीमन्! यह आपकी मन्दोक्ति है; क्योंकि अर्थानुकूल 'सह' शब्द का अध्याहार करने के लिये बुद्धि ही प्रमाण है। रूढार्थ में बुद्धि को गिरवी रखने के कारण आप 'अतिरोहति' का व्यतिरिक्त अर्थ असिद्ध बताने लगे हैं। वास्तव में 'रोह' अर्थात् जगत् के विकास का अतिक्रमण करनेवाला भी हो सकता है, अर्थात् जगत् के विकास के साथ विकसित नहीं होता, अर्थात् उससे सर्वथा व्यतिरिक्त है। जन्मादिरहित है, किन्तु सृष्टिकाल में जगत् का विकास करता है तथा प्रलयकाल में उपसंहार करता है और अपनी सामर्थ्य, शक्ति, प्रकृति या माया कारण से कार्य जगत् को उत्पन्न करता है।

आपके कहे प्रकार से यदि प्रकृति और प्राणियों की वास्तविक सत्ता नहीं

जगत्स्वरूपावस्थां प्राप्नोति तदा केषां किमर्थं च कर्मणां व्यवस्थया केषां वा फलभोग एष कल्पितो भविष्यति? यदुच्यते 'जगदवस्थाप्राप्तिमन्तरा प्राणिनां फललाभासम्भवात्' तत्तु मन्दम्।

भवत्कल्पितजगदवस्थां प्राप्तेऽपि परमेश्वरे जीवानन्तरा फललाभस्य प्रश्न एव नोद्भवति। भवन्मते स्वयमेव जगज्जीवरूपतामवाप्नोति, समग्रमतर्कं सद्बुद्धिबाह्यं च। त्रैतवादे तु सर्वं समाधानमुपपन्नं भवति। भवता तु महीधरभाष्यमेवाक्षरश उद्धृतम्, नेह कश्चित् स्वमतिव्यापारस्तेऽनुकृतिकृतिनः।

पृ० १२३८, अनु० ३—पू० प०—"यद्वा पुरुष एव चेत् सर्वं तर्हि प्राप्तं तस्य प्रकृतेरिव परिणामित्वमित्याशङ्कायामाह—'अमृतत्वस्य'। मरणधर्मस्येशानो मुक्तेरपीशः, यो हि मोक्षेश्वरो न स म्रियते। न परिणामो हि 'अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः' (व्या० भाष्य० ३।१३) किन्तु विवर्त्तोपादानत्वमिह विवक्षितं। तेन न तस्य परिणामित्वं किन्तु कूटस्थनित्यत्वम्।" इति।

उ० प०—इदमपि महीधरोच्छिष्टं यथा यद्वा सर्वं पुरुषश्चेत् तर्हि परि-

---

हैं और स्वयं जगत् बन जाता है, तो बताइये, किन कर्मों की, किसलिये और किनके कर्मफल की व्यवस्था कल्पित की गई है? यह कहना कि प्रभु जब तक जगदवस्था को स्वयं प्राप्त नहीं होगा, तो प्राणियों का फलभोग असम्भव हो जायेगा, अतितरां मन्द है।

आपकी कल्पना से कदाचित् आपका ब्रह्म जगद्रूप हो भी जावे, तो जीवों की वास्तविकता के अभाव में फललाभ का प्रश्न ही नहीं उठता। आपके मत में वह ब्रह्म स्वयं जगद्रूप हो जाता तथा जीवरूपता को भी प्राप्त कर लेता है, तब तो सारा तर्कशून्य और बुद्धिबाह्य है। त्रैतवाद में समस्त प्रश्नों का समाधान ठीक-ठीक हो जाता है। आपने अक्षरशः महीधर-भाष्य की यहां नकल कर दी, अपनी अक्ल को कहीं पर कष्ट भी नहीं दिया।

पृ० १२३८, अनु० ३—पू० प०—"यदि पुरुष ही सब कुछ है, तब वह भी प्रकृति के समान परिणामी हो जायेगा? नहीं, क्योंकि वह तो अमृतत्व अर्थात् अमरणस्वभाव मुक्ति का भी स्वामी है। मोक्षावस्था के ईश्वर का जो स्वरूप, है, वह कभी मरता नहीं, वह परिणमनशील उपादानकारण नहीं है, किन्तु विवर्त्तस्वभाव का उपादान है। इसलिये वह परिणाम स्वभाव का न होकर कूटस्थ नित्य हो जाता है।"

उ० प०—उक्त समग्र कथन तर्क की कसौटी पर खोटा सिद्ध हो रहा है;

https://t.me/Dharmadasa

णामीत्याशङ्क्याह इति ।

इदं हि समग्रं तर्कनिकषकर्षणेऽशुद्धं सिद्ध्यति । ब्रह्मणो जगत उपादान-कारणत्वे मते परिणामित्वापत्तेः, तद्दूरीकरणाय महीधरः पारिजातकृतश्चापि विवर्त्तोपादानत्वं ब्रह्मणः प्रतिपादयतः । यथा हि भ्रमेण रज्ज्वां सर्पः प्रतीयते, न च रज्जुः सर्पत्वे परिवर्तते, एवमेव ब्रह्म जगद्रूपे न परिवर्तते; प्रत्युत भ्रमवशाज् जगद्रूपं ज्ञायते, इत्याशयः श्रीकरपात्रिणः ।

सिद्धान्तपक्षः—एवं मतमपि न समीचीनम्, यतो हि विवर्त्तः समानाकृतौ समानधर्मे वा भवति समानवस्तुनश्च पूर्वज्ञानमप्यावश्यकम् । तदैव भ्रमोऽपि भविष्यति । भिन्नाकृतौ भिन्नगुणे वा न भ्रमो जायते । रज्ज्वामेवाहिभ्रान्तिर्जायते न तु गजाश्वादौ । शुक्तौ रजतभ्रमो भवितुं शक्यते न तु लोहसुवर्णभ्रमः ।

परं यदा हि ब्रह्मणो जगतश्च नाकृतिसाम्यम्, न च धर्मसादृश्यम्, तदा ब्रह्मणि जगद्भानं कथं स्यात् ? किञ्च विवर्तो हि स यत्र कश्चित् कस्मिंश्चित् कस्यचिद् भ्रममनुजानाति । यथा—मनुष्यः रज्ज्वां सर्पस्य भ्रममनुजानाति परम्

क्योंकि जैसे आपके कथनानुसार भी ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण मानने पर परिणामिता दोष आ जायेगा । उसे दूर करने के लिये आप महीधर के अनुचर के रूप में ब्रह्म का विवर्त्तोपादान स्वीकार करते हैं । जैसे भ्रम से रज्जु में सर्प प्रतीत होता है, रज्जु सर्परूप में बदलती नहीं । इसी प्रकार ब्रह्म जगद्रूप में परिवर्तित नहीं है; प्रत्युत भ्रमवश जगद्रूप ज्ञात होता है । अर्थात्—

'अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदीर्यते ।'

इस वचन के अनुसार श्री करपात्री का उक्त आशय है । अवस्थित द्रव्य के पूर्वधर्म की निवृत्ति होने पर धर्मान्तर की उत्पत्ति होना परिणाम होता है (व्या० भा० ३।१३) । वे इस परिणाम को नहीं मानते ।

सिद्धान्त पक्ष—इस प्रकार का मत समीचीन नहीं; क्योंकि विवर्त्त तो दो समान आकृति और समानधर्म में होता है । उस समान वस्तु का पूर्वज्ञान भी आवश्यक है । तभी तो भ्रम भी सम्भव है । भिन्न आकृति और भिन्न गुण में भ्रम होता ही नहीं । इसीलिये रस्सी में ही सर्प की भ्रान्ति होती है, गज, अश्व आदि में नहीं । सीप में रजत भ्रम होता है, लोहे या सुवर्ण का भ्रम सीप में नहीं होता ।

पर जब ब्रह्म और जगत् का आकृतिसाम्य व धर्मसादृश्य नहीं है, तब ब्रह्म में जगत् का भ्रम क्योंकर होगा ? तथा विवर्त्त वह होता है जहां तीन चीजें हों—(१) कोई भ्रमकर्ता, (२) किसी वस्तु में भ्रम, (३) किसी वस्तु का भ्रम । जैसे मनुष्य को रस्सी में सर्प का भ्रम होता है, परन्तु चौथा अज्ञान तथा झुटपुटा भी

अन्धकार एव जायते भ्रमः । एतस्यायं निष्कर्षो यदेतच्चतुष्टयविद्यमानतायामेव भ्रमो विवर्तो वा भवति; किन्तु विवर्तवादिनां पार्श्वे न ब्रह्मातिरिक्त किमपि वस्त्वन्यत् । पुनः कथं विवर्त्त उपपद्येत ?

अत्र ब्रह्म निराकारं चेतनं च जगत् साकारं जडं च । पुनरसमानाकृताद-समानधर्मे च कोऽवकाशो भ्रमस्य ? न च सर्वज्ञब्रह्मणो भ्रमसम्भवः । यतो न मध्याह्नप्रकाशे रज्जौ सर्पभ्रमः सम्भवति, रज्जुस्पष्टदर्शनात् । घोरान्धकारेऽपि न तथा भ्रमः, प्रकाशाभावे दृगविषयत्वात् । भ्रमस्तु ज्योतिःक्षीणतायामेव भवति ।

शास्त्रसम्मतत्रैतवादस्वीकारे तु न काऽपि विचिकित्सा । वस्तुतस्तु विवर्त्त-वादो न वेदान्तसिद्धान्तः, तत्र जीवब्रह्मणोः सत्तायाः स्पष्टसिद्धत्वात् । न तु कथमिदमुचितं मन्येत यदा—

'श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि, यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः ॥'

इति चेन्न । वेदान्तिभिर्यद् ब्रह्मस्वरूपं प्रतिपाद्यते तदेव तयोर्भेदवादे प्रमाणम् । यतो

होना चाहिये । इसका यह निष्कर्ष निकला कि इस चतुष्टयी की विद्यमानता में ही भ्रम या विवर्त्त होता है; किन्तु विवर्त्तवादियों के पास ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं । तो बताइये, यह विवर्त्तवाद कैसे उपपन्न होगा ?

यहां ब्रह्म निराकार और चेतन है, पर जगत् साकार और जड़ है, फिर असमान आकृति और असमान धर्म होने पर इस विवर्त्त (भ्रम) के लिये कहां अवकाश है ? मध्याह्न के प्रकाश में रस्सी में सर्प का भ्रम नहीं होता; क्योंकि रस्सी का स्पष्ट दर्शन होता है । और घोर अन्धकार में भी भ्रम नहीं होता; क्योंकि प्रकाश के अभाव में आंख काम ही नहीं करती । भ्रम ज्योतिःक्षीणता में ही होता है ।

शास्त्रसम्मत त्रैतवाद स्वीकार कर लेने पर कोई सन्देह ही नहीं रहता । वास्तव में तो विवर्त्तवाद वेदान्त का सिद्धान्त नहीं है । जीव और ब्रह्म दोनों की ही स्पष्टरूप में सत्ता वहां स्वीकृत है ।

प्र०—उक्त त्रैतवाद को कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? जब कि आधे श्लोकमात्र से कहा जा रहा है कि ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है । जीव ब्रह्म ही है ।

उ०—वेदान्तियों के द्वारा जो ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादित किया जा रहा है, वही उनके भेदकथन में भी प्रमाण है; क्योंकि 'ब्रह्म' यह 'ब्रह्म' का लक्षण तो

https://t.me/DharmaSamrat

न सत्यमिति ब्रह्मलक्षणम्, प्रकृतेरपि सत्यत्वादतिव्याप्तेः। तद्वारणाय ब्रह्मणः सच्चिदिति लक्षणमेतल्लक्षणस्य च जीवेऽतिव्याप्तित्वात् सच्चिदानन्देति लक्षणम्। एवमिदं लक्षणं न जीवप्रकृत्योरतिव्याप्तं भवति, तयोरानन्दरहितस्वरूपत्वात्।

उक्तश्लोकभावार्थस्त्वेवमवगन्तव्यो यन्मुक्त्यर्थं ब्रह्म सत्यं साधनमस्ति, जगद्धि मिथ्यासाधनम्,आनन्दस्य असाधकत्वात्। एतेन श्लोकेन मतत्रयं खण्ड्यते। एकतो जडप्रकृतेरुपासकनास्तिकानाम्, अपरतो ब्रह्म एकदेशि मत्वा तदुपलब्ध्यै दूतमाध्यममन्तॄणाम्। जीवानां ब्रह्मरूपपरिणतिं मन्वानानां बौद्धजैनादीनां तृतीयमतमपि खण्ड्यते।

"प्रध्वंसनशीलजगदवस्थां प्राप्याऽपि अमृतत्वान्न म्रियते" इति वचनं तु बालिशतायाः परां काष्ठां दिशति, एकस्मिन् ब्रह्मणि मरणशीलाऽमरणशीलविरुद्धधर्मोपदेशस्यासम्भवात्।

प्र०—ननु यदि ब्रह्मणो जगतश्च न समानाकृतिरित्यतो न जगद् विवर्त्तस्तदा एवं मन्तव्यं यत् साकारं जगदस्ति मायापरिणामो निराकारश्च जीवात्मा

नहीं हो सकता। हां, ब्रह्म का विशेषण हो सकता है; क्योंकि सत्य तो जगत् भी है। अतः उस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष हुआ। इसके वारण के लिये सत्+चित् लक्षण किया; पर यह लक्षण जीव में भी घटित होने से अतिव्याप्ति दोष से युक्त है। तब सच्चिदानन्द लक्षण किया गया। यह लक्षण प्रकृति और जीव में अतिव्याप्त नहीं होता, अतः निर्दुष्ट लक्षण है।

ब्रह्म सत्यम्—इस श्लोक का अर्थ भी निम्न प्रकार करना चाहिये कि मुक्ति के लिये ब्रह्म सत्यसाधन है, और जगत् मिथ्यासाधन है, क्योंकि यह आनन्द की सिद्धि नहीं कर सकता। उक्त श्लोक से इस प्रकार तीनों मतों का खण्डन हो जाता है। एक तो जड़ प्रकृति के उपासक नास्तिकों का मत, दूसरे ब्रह्म को एकदेशी मानकर उसकी प्राप्ति के लिये दूत को माध्यम माननेवालों का मत और तीसरे 'जीव ब्रह्मरूप में परिणत हो जाता है' ऐसा माननेवाले बौद्ध, जैन आदियों का मत भी खण्डित हो जाता है।

"प्रध्वंसनशील जगदवस्था को प्राप्त करके भी अमृत होने के कारण वह मरता नहीं है" यह कथन बालिशता की पराकाष्ठा का सूचक है; क्योंकि एक ब्रह्म में मरणशील जगद्रूप में आना तथा अमरणशीलता के दो विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते।

प्र०—यदि ब्रह्म की और जगत् की समान आकृति नहीं है; अतः जगत् ब्रह्म का विवर्त्त नहीं हो सकता, तब इस प्रकार मान लीजिये कि साकार जगत्

ब्रह्मणो विवर्त्तः। एवं हि जगतो मायाया जीवस्य ब्रह्मणश्च समानाकृतिधर्मत्वे व्यवस्थायां न कापि विप्रतिपत्तिः स्यात्।

उ०—नैतत् सम्यक्, यदि भवान् मायां नित्यां मत्वा एतत्परिणामं जगन् मनुते, तदा भवतः सिद्धान्तहानिः स्यात्, द्वितीयवस्तुनो नित्यत्वात्। अथ चेन् मायामनित्यां मत्वा जगत्परिणामस्तर्हि मायायाः किमन्यदुपादानकारणमित्युदीर्यताम्। न च ब्रह्मैव मायाया उपादानकारणम्, जगदुपादानकथितदोषाणां पुनरापत्तेः।

पृ० १२३८, अनु० ४—अयं दर्शितो वास्तविकोऽर्थ उक्तप्रवचनेनासंदिग्धमवास्तविक एव सिद्धोऽर्थः, भवन्मते जीवानां त्रैकालावच्छेदेन असत्वात्।

'अजाज्जातस्य भूतस्य मनुष्यादेरकारणात्।
निर्वाणदायी भवति, कृपया पुरुषोत्तमः॥'

एवं तव मते शुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपस्य जीवस्य नित्यसत्ताभावे कृपया मोक्षप्रदानं प्रलाप एव सेत्स्यति।

पृ० १२३९, अनु० ३—"पुरुषस्य भूतभविष्यद्वर्तमानावस्थो यावान् संसारो-

---

माया का परिणाम है और निराकार जीवात्मा ब्रह्म का विवर्त्त है। इस प्रकार जगत् माया का और जीव ब्रह्म के समान आकृति और धर्म में व्यवस्था हो जायेगी, फिर कोई उलझन नहीं रहती।

उ०—उक्त कथन भी ठीक नहीं। यदि आप माया को नित्य मानकर जगत् को उसका परिणाम मानते हैं, तो अद्वैत सिद्धान्त की क्षति होती है। यदि माया को अनित्य मानकर उसका परिणाम जगत् को मानते हैं, तो माया का भी अन्य उपादानकारण बताना होगा। ब्रह्म माया का उपादान नहीं माना जा सकता; क्योंकि जगत् के उपादान प्रश्न पर उठाये पूर्वोक्त सभी दोष पुनः उपस्थित हैं।

पृ० १२३८, अनु० ४—आप यह जो कह रहे हैं कि यह वास्तविक अर्थ है, निर्विवादरूप में यह अवास्तविक है; क्योंकि आपके मत में जीव तीनों कालों में नहीं है।

'अज से उत्पन्न हुए मनुष्यादि को बिना कारण ही पुरुषोत्तम कृपा से निर्वाणदाता है' इस प्रकार एक ओर शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप जीव कहा गया, साथ ही उसकी नित्य सत्ता का अभाव होने पर उसे कृपा से मोक्षप्रदान की बात तो सर्वथा प्रलाप ही है।

पृ० १२३९, अनु० ३—"तीनों कालों में जितना संसार है, वह सब इस

https://t.me/DharmaSangrat

ऽस्ति तावान् महिमा वेदितव्यः।" इत्यत्र पारिजातकृत् पृच्छति—"यावान् संसारः ....." ।

अत्रेयं शङ्काशृङ्खलायुक्तिप्रमाणैश्छिद्यते—यच्चाह—'कोऽयं संसारः ?' यः संसरति, उत्पद्यमाने प्रलयं प्रयाति स संसारः, यस्य प्रवाहेणानादिता।

यः संसरत्येव न तिष्ठतीह, उत्पद्यमानं च लये प्रयाति।
अनादिता यस्य प्रवाहरूपा, जीवप्रकृत्योः खलु नित्यतैव ॥

एवं कार्यमात्रं जगत् सुतरामभीष्टम्। सर्वेश्वरत्वमेव माहात्म्यं परमात्मन ईश्वरस्य।

पृ० १२४०, पं० ६—यदुच्यते—"न वा कार्यमात्रं सृष्टिं प्रति स्वतन्त्रस्य निरपेक्षस्य परेशस्य महिमतेशितृते च सम्भवतः, उच्चावचमध्यमसुखदुःखभेदवत् प्राणभृत्प्रपञ्चं सुखदुःखकारणं सुधाविषादिमयं चानेकविधं विरचयतः कर्मसापेक्षस्यैव युक्तत्वेन वैषम्यनैर्घृण्यानापातात्" इति। तदविचार एव। कार्यमात्रसृष्टिकरणे न ब्रह्मणः स्वातन्त्र्यविघातः, अन्यप्रेरणाऽभावे तन्निरपेक्षताऽपघातापत्तिर्न,

---

पुरुष की ही महिमा है।" इस पर पारिजातकर्ता प्रश्न करता है—

"यावान् संसारः' इस वाक्य में आये संसार पद से किसका ग्रहण होता है ? नित्य और अनित्य, दृश्य और अदृश्य साधारणतः सारा ब्रह्माण्ड इससे गृहीत होता है, अथवा केवल कार्यजगत् ही ? इत्यादि नित्य प्रकृति महिमा नहीं हो सकती।"

यहां आपकी समस्त शङ्काशृङ्खला युक्ति और प्रमाणों से छिन्न की जा रही है। देखिये—यह जो कहा कि 'संसार क्या है ?' संसार जो निरन्तर गतिशील है, उत्पन्न होकर प्रलय को प्राप्त करता है। जिसकी प्रवाह से अनादिता है।

इस प्रकार जितना भी कार्यमात्र है वह सब संसार है। सब जगत् कार्य-कारण की ईश्वरता ही उसका माहात्म्य है।

पृ० १२४०, पं० ६—यह कहना कि "कार्यमात्र की सृष्टि के प्रति स्वतन्त्र निरपेक्ष, परमेश्वर कारण ही नहीं माना जा सकता और ईश्वर की महिमा और ईशितृता भी सिद्ध नहीं होती; क्योंकि ऊंचा-नीचा, मध्यम श्रेणी का सुख-दुःख आदि भेदवाले संसार की कर्मसापेक्षता माननी पड़ेगी।" यह भी अविचारित है। कार्यमात्र सृष्टि के करने से कर्म की सापेक्षता में ब्रह्म की स्वतन्त्रता का विघात नहीं होता, क्योंकि उसका कोई प्रेरक नहीं है। वह सृष्टिरचना में तो स्वभावतः प्रवृत्त होता है। विविध सृष्टि की रचना में कर्मों की अपेक्षा होने पर भी उसके

अनादिसृष्टिप्रवाहे जीवानां विविधकर्मोपलब्धेः। तत्र हि प्रमाणं चापि—"वैषम्य-नैर्घृण्येन०" (वे० द० २।१।३४) इति। अथवा नित्यानित्यादिसाधारणब्रह्माण्डमपि महिमा भवति।

यदुक्तम्—"नित्यानां जीवानां नित्यायाः प्रकृतेश्च परमात्ममहिमत्वायोगात्" तदज्ञानमात्रम्। न ह्युत्पाद्यमानेषु एव महैश्वर्यः; किन्तु जडत्वात् स्वतन्त्रतया किमपि कर्तुमशक्यतया प्रकृतेः। अल्पज्ञतया सांसारिकसुखं परमानन्दं मोक्षं वा भोक्तुमसमर्थतया जीवानां तथा सामर्थ्योत्पादनक्षमत्वादपि ब्रह्मणो महिमाऽङ्गीकरणीय एव।

पृ० १२४०, पं० ५—अत्रोच्यते—"न च निर्धर्मके ब्रह्मणि सत्यधर्मापादनं सम्भवति वदतोव्याघातात्।" तदप्यविचार्यैवोक्तम्। यदा हि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यनेन वेदान्तिनो मते द्वैतापत्तिभिया सत्यज्ञानत्वादयो गुणा वाचा न स्वीक्रियन्तेऽत एव निर्धर्मकं निर्विशेषं ब्रह्म स्वीक्रियते। तादृशेऽपि निर्धर्मके ब्रह्मणि

स्वातन्त्र्य का विघात नहीं माना जा सकता। अनादि सृष्टि-प्रवाह में जीवों के विविध कर्म तो उपस्थित ही होंगे। उसमें प्रमाण वेदान्तसूत्र (२।१।३४) है। अथवा नित्यानित्य साधारण ब्रह्माण्ड भी उस परमेश्वर की महिमा है।

यह कहना कि—"नित्य जीव और नित्य प्रकृति परमात्मा की महिमा नहीं हो सकती" अज्ञानमात्र है, क्योंकि ऐसी बात नहीं। किन्तु प्रकृति की जड़ता से उसके द्वारा स्वतन्त्रतया कुछ भी कार्य बिना निमित्तकारण ईश्वर के नहीं हो सकता। जीव भी अल्पज्ञ होने से सांसारिक सुख या परमानन्द भी परमेश्वर की सहायता के नहीं भोग सकता। जीवों में वैसी सामर्थ्य उत्पन्न करने से ब्रह्म की ही महिमा स्वीकृत करनी चाहिये। जड़ प्रकृति को क्रिया देने व अल्पज्ञ जीवात्मा को ज्ञान देने से परमेश्वर होने पर अपनी महिमा रखता है। वह परमेश्वर सर्व-व्यापक स्वयं क्रियाशील होकर दूसरों को गति नहीं देता, किन्तु ज्ञानरूपी ईक्षण से ही गति देता है।

पृ० १२४०, पं० ५—और "धर्मरहित ब्रह्म में सत्यधर्म की स्थिति मानना परस्पर विरुद्ध बात हुई" यह कथन भी अज्ञानमय है। जब कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्य से वेदान्तियों के कथन में द्वैतापत्ति आने लगेगी। इससे वे सत्य तथा ज्ञानगुणों का अधिकरण ब्रह्म को नहीं मानते, प्रत्युत उसे सत्यस्वरूप व ज्ञानस्वरूप मानते हैं, तो ब्रह्म को वेदान्ती निर्धर्मक ही स्वीकार करते हैं। ऐसे

https://t.me/Dharmadosmat

सत्यत्व-ज्ञानत्व-नित्यत्वादिधर्माणामसत्वेऽपि तद् ब्रह्म सत्यस्वरूपमिति स्वीक्रियते।

यद्यस्मिन् कश्चिद् वेदान्ती कथयेद् 'ब्रह्म सत्यम्' इति कथनस्य अयमाशयो यदधिकरणे ब्रह्मणि वर्तमानमिथ्यात्वाभावे सत्यत्वमतिः, अर्थात् सत्यत्वाभिधेयो भावरूपो धर्मो नास्ति तस्मिन्, प्रत्युत अभावात्मक एव। तदा न्यायवैशेषिकानुसारमिदमपि प्रवक्तुं शक्येत यद् व्यक्तिद्वये वर्तमानो यदेकत्वाभावस्तदेव द्वित्वम्। तच्च द्वित्वनामकोऽभावात्मकधर्मो ब्रह्मणि ईश्वरे वापि वर्तते। यथा व्यक्तिद्वयदर्शने एकत्वाऽभावप्रतीतौ द्वित्वमवगन्तुं शक्यते, एवमेव भावात्मकद्वित्वधर्मो ब्रह्मणि अविद्यमानोऽपि अभावात्मकद्वित्वधर्मे अभावात्मकसत्यत्वादीश्वरेऽपि कल्पयिष्यते (धर्मेन्द्रनाथ न्या० द० टीका, पृ० २६५)।

तस्मात् कुतर्कजन्याः प्रश्नततय इमास्ते वचसां केलिरेव, न तत्त्वमवगाहन्ते। अन्यथा पक्षपातपङ्ककलङ्कलिप्तमनसा भवता पूर्वं महीधरोक्तावेव इयं प्रश्नावली कथन्नोदभावि? यतो हि असावपि 'अतीतानागतवर्तमानं जगद् यावद्

निर्धर्मक ब्रह्म में सत्यत्व, ज्ञानत्व, नित्यत्व आदि गुणों के न होने पर भी वह ब्रह्म सत्यस्वरूप है; ऐसा मानते ही हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जावे, तो ऐसा कहने पर भी ब्रह्म द्रव्य सत्यादि गुण का आश्रय ही मानना ठीक है। यह दृष्टि न्याय तथा वैशेषिक की है।

यदि इस पर कोई वेदान्ती कहे कि ब्रह्म को सत्य कहने का अर्थ यह है कि अधिकरण अर्थात् ब्रह्म में रहनेवाला तो 'मिथ्यात्व का अभाव' वही सत्यत्व है, अर्थात् सत्यत्व कोई भावरूप धर्म नहीं, किन्तु वह अभावात्मक है। तब न्याय और वैशेषिक का कथन है कि हम भी तो यह कह सकते हैं कि 'दो व्यक्तियों में रहनेवाला जो एकत्व का अभाव है' वही द्वित्व है और वह द्वित्व नामक गुण दो व्यक्तियों में उत्पन्न होता है और यदि उन व्यक्तियों को एक-एक करके लें, तो इनमें एकत्व धर्म रहता है; परन्तु दोनों व्यक्तियों को मिलाकर देखें, तो यह कहना ही पड़ेगा कि ये दोनों एक नहीं हैं। जैसे दो व्यक्तियों के दर्शन में 'एकत्वाभाव' की प्रतीति में वहीं 'द्वित्व' समझा जा सकता है। इसी प्रकार भावात्मक द्वित्व धर्म ब्रह्म और जीवात्मा में न होने पर भी 'अभावात्मक' द्वित्व धर्म अभावात्मक सत्यत्व के समान ईश्वर और मोक्षावस्था के जीवात्माओं में भी रह जायेगा।

अतः कुतर्कजन्य आपकी प्रश्नमाला वचन का खिलवाड़मात्र है, यह तत्त्व का अवगाहन नहीं करती, अन्यथा पक्षपात के पङ्क-कलङ्क में लिप्त मन से आपने महीधर के ही तथाविध कथन में यह प्रश्नमाला क्यों नहीं उद्भावित की; जब

अस्ति' इत्यादि भाष्यं कुरुते।

पृ० १२३९-४०, षष्ठपङ्क्तौ 'महिमत्व, महिमता' प्रयोगयोः त्वतलोर्विधानं व्याकरणानभिज्ञत्वम्, महतो भाव इत्यर्थे महिमशब्दोद्भावार्थकादिमनिच्-प्रत्ययात् पुनर्भावे तयोरनिष्टत्वात्।

पृ० १२४०, अनु० १—"अतो ज्यायांश्च पूरुषः' इत्यनेन समाधानावसरे नैतावन्मात्र एव महिमा। किन्तर्हि? अतोऽप्यधिकतमो महिमाऽनन्तस्तस्यास्तीति, तत्तु वेदार्थानभिज्ञस्यैव शोभते, तत्र पुरुषस्यैव ज्यायस्त्वोक्तेः। न च महिम्नोऽपि पुरुषत्वमेव, तथात्वे पुरुषद्वयप्रसङ्गापातात्" इति सर्वं वेदज्ञत्वाडम्बरविजृम्भणमात्रभूतम्, यतः पुरुषस्य महिमा ह्यत्र न पुरुषरूपे कथिता। कथमेतत्प्रश्नोद्भवः? मूलाच्च विपरीतम्।

इयं चावोधस्य सीमैव, यदाह महिम्नि गुणे पुरुषद्वयं प्रसज्येतेति। नहि महिमा द्रव्यम्। एवं सोऽनन्तस्तर्हि तस्य महिमाऽप्यनन्त एव सुतराम्। एतावन्-

---

कि वे भी तो इसके भाष्य में अतीत, अनागत और वर्तमान जगत् जितना भी है, इत्यादि लिखते हैं।

१२३९-४० पृ० की छठी पंक्ति में 'महिमत्व या महिमता' में त्व-तल् प्रत्ययों का विधान करना व्याकरण की अनभिज्ञता है। 'महतो भावः' इस अर्थ में भावार्थक इमनिच् प्रत्यय करने के बाद पुनः भावार्थ में त्व या तल् प्रत्यय नहीं होते।

पृ० १२४०, पं० ९—पू० प०—"स्वामीजी ने शङ्का उठाकर कहा कि उस पुरुष की इतनी ही महिमा नहीं है, किन्तु उसकी महिमा अनन्त है; परन्तु यह कहना तो वेदार्थ को न समझनेवाले को ही शोभा देता है; क्योंकि इस मन्त्र में पुरुष की इयत्ता प्रतिपादित की गई है। वहां पर पुरुष की ही महिमा गाई गई है। महिमा को ही पुरुष नहीं माना गया है, क्योंकि ऐसा मानने पर पुरुष में द्वैत मानना पड़ेगा।"

उ० प०—पारिजातकार का यह कथन अपना वेदज्ञता का मिथ्या आडम्बर का विजृम्भणमात्र है। यहां पर स्वामीजी ने नहीं लिखा कि यह जगत् ही पुरुष है। आपको इस प्रश्नोद्भावन का प्रलाप कैसे हुआ?

अब इस लेखक का छलकथन देखिये। स्वामीजी लिखते हैं—'जो यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है, सो इस पुरुष के एक देश में बसता है' और आप उसे निम्नरूप में परिवर्तित कर उतार रहे हैं 'क्योंकि इस मन्त्र में पुरुष की

https://t.me/DharmaSamrat

महिमापेक्षया पुरुषस्य ज्यायस्त्वप्रतिपादनेन तन्महिम्नोऽपि ज्यायस्त्वं सुतरामापतितम्।

पृ० १२४०, अनु० २—"यदपि च—'विश्वानि प्रकृत्यादीनि पृथिवीपर्यन्तानि सर्वाणि भूतानि एकः पादोऽस्ति, एकस्मिन् देशांशे सर्वं जगद् वर्तते' इति, तदपि विशृङ्खलम्, प्रकृतिमहदादीनां भूतत्वाभावात्। न च प्राणिपदेन प्राणिन एव विवक्षिता इति वाच्यम्, तथात्वेऽपि प्रकृत्यादिपृथिवीपर्यन्तानामिति पदोपन्यासप्रयासवैयर्थ्यात्।" इति समस्तमज्ञानसन्ततमेव ते। क्वचित् परमाणुशब्देन, क्वचित् प्रकृतिशब्देन अन्यत्र पञ्च त्वमकस्त्वेम ईश्वरजीवातिरिक्तसमस्तकार्यकारणसृष्टेर्ग्रहणार्थत्वात्। महात्मन्! कुतोऽयमनिराकरणीयमतिविभ्रमविलासो

ही इयत्ता प्रतिपादित है।' स्वामीजी यहां पर महिमा को पुरुष नहीं कह रहे, प्रत्युत पुरुष के एकदेश में यह जगत् है, ऐसा लिख रहे हैं।

यह कथन तो आपके घोर अज्ञान का भण्डाफोड़ कर रहा है कि महिमा (गुण) को पुरुष पर दो पुरुष मानने पड़ेंगे। श्रीमन्! थोड़ा तो समझ से काम लेते। महिमा कोई द्रव्य नहीं है; किन्तु गुण है। यहां पर इस संसार को प्रभु की महिमा कहा गया है, अर्थात् प्रभु की यह संसार-रचना उसकी महिमा का प्रकाशन कर रही है। जब वह प्रभु अनन्त है, तो उसकी महिमा भी अनन्त है। इस संसार की अपेक्षा पुरुष वा ज्यायस्त्व प्रतिपादन करने में उसकी महिमा का भी स्वतः ज्यायस्त्व-प्रतिपादन हो जाता है।

पृ० १२४०, अनु० २—पू० प०—"प्रकृति से लेकर पृथिवी पर्यन्त सभी जगत् उसका एक पाद है, वह इस पुरुष के एकदेश में बसता है' यह स्वामीजी का कथन असङ्गत है, क्योंकि प्रकृति महदादि को भूत नहीं कहा जाता। भूत पद को प्राणियों का वाचक मानने पर भी 'प्रकृति से लेकर पृथिवी पर्यन्त' इन पदों को व्याख्या में रखना व्यर्थ हो जायेगा।"

उ० प०—महाशय जी! उक्त सारा कथन आपके द्वारा बिना विचार किये 'मुखमस्तीति वक्तव्यम्' के अनुसार बक दिया गया। आपने तो अपने गुरु महीधर की भी वाक्यावली देखी होती, तब भी ऊल-जलूल न बकते। देखिये, वे क्या कहते हैं—'अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्तीनि प्राणिजातानि पादश्चतुर्थांशः।' अस्तु, महर्षि के एक पद की सार्थकता प्रस्तुत है।

देखिये—प्रकृति, महदादि को भी भूतों के परमाणुभूतों में कहीं-कहीं पर गिना जाता है, कहीं पर प्रकृति के नाम से ईश्वर और जीव से अतिरिक्त समस्त कार्य-कारण सृष्टि का ग्रहण करना योग्य है। महात्मन्! आपमें यह अनिराकरणीय मति-विभ्रम-विलास क्योंकर आ गया? हम मान रहे हैं कि आप कुछ

भवति विलसति? मन्ये न किमपि निपीय प्रवृत्तो लेखने। परमयं वाचो भङ्गो योऽन्यथा सम्भावयितुमीरयति।

पृ० १२४०, पं० १५—यदुच्यते—"एकस्मिन् देशांशे सर्वं विश्वं वर्तते' इति निरर्थकम्, एकदेशानखिलार्थबोधकदेशसर्वशब्दाभ्यामेवोपपत्तौ 'अंश' 'विश्व' प्रयोगवैयर्थ्याच्च।" इति भवतः कथनमेव निरर्थकम्। यतो हि भवता 'देशांश-सर्व-विश्व' शब्दानां सूक्ष्ममाकलनं नैव कृतम्। अत्र महर्षिदयानन्देन देशशब्दो 'दिश अतिसर्जने' धातोर्दिशति दिश्यते इत्यर्थे प्रयुक्तो निष्पद्यते। तस्याप्यंशे 'अंशो विभाजने प्रोक्त एकदेशेऽपि वस्तुनः' इति हेमचन्द्रनिर्देशेन ब्रह्मण एकदेशस्यार्थादेकदेशनिर्दिश्यमानाया अपि स्थितेरंशे विभागे सर्वं विश्वं वर्तते। एतेन ब्रह्मणोऽनन्तस्याल्पिष्ठांशे समस्तविश्वस्य एतावद्विशालस्य स्थितिर्बोध्यते।

सर्वशब्दो हि सर्वनामत्वेऽप्यत्र विशेषणम्, 'विश्वम्' हि विशेष्यम्। 'विश्वे कृत्स्ने च भुवने विश्वे देवेषु नागरे' इति विश्वकोषनिदर्शनेनेह तस्य भुवनवाचकत्वमत्र। नह्यत्र सर्वपर्यायत्वे प्रयोगः। तस्मात् चतुर्णामपि प्रयोगोऽतितरां सार्थकः। भवतो हिन्दीकारस्य मतिरेव पथभ्रष्टा सा सन्दृब्धमनपेक्ष्य लिखति 'तब एक मन्त्र में अंश और विश्व पदों का ग्रहण करना व्यर्थ हो जायेगा।' यदा नात्र मन्त्रे शब्दाविमौ स्तः, अस्मिन्मन्त्रे 'अंश'पदप्रयोगादर्शनात्। 'एकत्वे दिशति दिश्यते

पीकर ऐसा विशृङ्खल लिखने में प्रवृत्त नहीं हुए हैं, किन्तु यह वाणी की भङ्गिमा है, जो आपको अनर्गल कहने में प्रेरित कर रही है।

पृ० १२४०, पं० १५—"एक देश और सम्पूर्ण अर्थ के बोधक 'सर्वदेश' शब्दों से ही इसकी उपपत्ति हो सकती थी" यह कथन निरर्थक है; क्योंकि आपने 'देश, अंश, सर्व और विश्व' इन चारों शब्दों के सूक्ष्मार्थ का आकलन नहीं किया। यहां महर्षि दयानन्द ने 'दिश अतिसर्जने' धातु से निष्पन्न देश का प्रयोग किया है, जो यौगिक है। उस एकदेश के भी एक अंश अर्थात् भाग में यह सारा विश्व वर्तमान है। ऐसा कहने से ब्रह्म की अनन्तता और असीमा तथा इतने समस्त विश्व(जगत्) की अत्यल्पता अभिव्यञ्जित की है।

महोदय! सर्व शब्द यहां विशेषण है और 'विश्व' विशेष्य है। भुवनवाचकता में हमने विश्वकोष का प्रमाण उद्धृत कर दिया है। आप 'विश्व' को भी 'सर्व' के समान सर्वनाम ही समझ बैठे हैं। इसीलिये भूमिका में प्रयुक्त चारों के प्रयोग की अतितराम् उपयुक्तता है। आपके हिन्दीकार की मति तो पटरी से उतर चुकी है, जो यह कहता है कि 'तब एक मन्त्र में अंश और विश्व पदों का ग्रहण करना व्यर्थ हो जायेगा।' यहां पर 'सर्व, देश' पद पढ़े ही नहीं हैं, ये आपके कपोलकल्पित हैं। आपके कहने से तो सर्व देश आदि अपठित शब्द नहीं बढ़ाये जा

https://t.me/Dharmasastra

वा देश स एवांशो ब्रह्मण एकपात्, विश्वं च पृथिव्यादिभूतात्मकं जगत्' इति सर्वमुक्तम् ।

पृ० १२४१, पं० २—पू० प०—यदुक्तम्—"अस्य दिवि द्योतनात्मके स्वरूपे अमृतं मोक्षसुखमस्ति, तथाऽस्य दिवि द्योतके संसारे त्रिपाज्जगदस्ति, प्रकाश्यमानं जगदेकगुणमस्ति प्रकाशकं च तस्मात् त्रिगुणमस्ति' इति, तदपि व्यामोहविजृम्भितम्, दिवीत्येकस्यैव शब्दस्यार्थद्वैविध्ये प्रमाणाभावात्, वाक्यभेदप्रसङ्गाच्च । एवम् अमृतमित्यस्य त्रिपाद्विशेषणत्वे सम्भवति प्रधानद्वयानुपपत्तेः । त्रिपादित्यस्य त्रिगुणत्वमर्थ इत्यत्रापि बीजं मृग्यम् ।" इति ।

उ० प०—इह समग्रं शङ्कनं तत्त्वबोधानधिगमादेव । तदिह महर्षेरभिप्रायो विशदीकृत्य प्रकाश्यते ।

वेदो हि नामोत्तमकाव्यम्, श्लेषाद्यलङ्कारव्यञ्जनादिशक्तिसमभिव्यञ्जनात् । तथा हि 'दीव्यन्ति अस्यां लोकास्तस्यां दिवि प्रकाशस्वरूपे सर्वप्रकाशके अमृताख्ये ब्रह्मणि अमृतं मोक्षसुखं त्रिपादस्ति, एकपात् संसारो यश्च द्योत्यः प्रकाश्यः ।' इत्यध्यात्मपक्षे दिवि शब्दार्थः । 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इत्यादि प्रमाणम् ।

सकते हैं । महर्षि ने एकदेश शब्द का प्रयोग एकत्व से निर्देशन करने अर्थ में किया है । शेष ठीक-ठीक व्याख्यात है ।

पृ० १२४१, पं० २—पू० प०—"इसके द्योतनात्मक स्वरूप में मोक्षसुख विद्यमान है । इसके इस स्वरूप में तीन पादवाला जगत् है । प्रकाश्यमान जगत् एक अंशवाला है और प्रकाशक उससे तिगुना है' इसको आप अज्ञान को उजागर करनेवाला कहते हैं; क्योंकि 'दिवि' इस एक शब्द के दो अर्थ करने में कोई प्रमाण नहीं है । इसमें वाक्यभेद दोष की भी प्रसक्ति होगी ।"

उ० प०—उक्त कथन वस्तुतः पारिजातकार के अज्ञान का द्योतक है, क्योंकि वह महर्षि के अभिप्राय की गहनता को नहीं समझ पाया, अतः महर्षि का अभिप्राय विशदीकृतरूप में प्रस्तुत है ।

वस्तुतः वेद एक उत्तम काव्य है । इसमें श्लेषादि अलङ्कार, व्यञ्जनादि शक्तियों से अभिव्यञ्जन प्रायः है । जैसे 'दीव्यन्ति अस्यां लोकास्तस्याम्' अर्थात् जिसमें लोक प्रकाशित होते हैं । इसमें दिव् धातु में अनेकार्थ भी घटित हो सकते हैं । प्रकाशस्वरूप सर्वप्रकाशक अमृताख्य ब्रह्म में अमृत अर्थात् मोक्षसुखस्वरूप त्रिपाद् है, एकपाद् यह द्योत्य संसार है । ऊपर अध्यात्मपक्ष में 'दिव्' शब्द का अर्थ ब्रह्म है ।

आधिभौतिकपक्षे संसारस्यापि भागद्वयम् । एको भागो द्योतकः सूर्यादिरितरश्च चन्द्रपृथिव्यादिर्द्योत्यः । एवंविधे 'दिवि' द्योतके संसारे जगत् त्रिपात् त्रिगुणम्, द्योत्ये संसारे एकपाद् जगत् । नह्यत्र त्रिपात् शब्दः परिमाणे संख्यायां वा ३/४ इत्यस्य वाचको न वा एकपाद् इत्यस्यार्थः १/४ अंशो भागः, प्रत्युत अधिकांशे अल्पांशे वा क्रमशस्त्रिपाद् एकपात् शब्दौ स्तः । एवमेव त्रिगुणैकगुणौ बोधितव्यौ ।

महोदय ! शास्त्रार्थबोधने तु व्यामोहो भवत एव न ऋषेः । यदुक्तम्—"एकस्यैव शब्दस्यार्थद्वैविध्ये प्रमाणाभावः ।" महाशय ! क्वास्त्येष नियमो यदेकशब्दस्य अर्थद्वैविध्यं न भवेत्, एकस्य शब्दस्य प्रकरणभेदे प्रतिपाद्यमानेऽन्याभीष्टे वादेऽनेकार्था भवन्त्येव । न वाऽस्ति वाक्यभेदशेषस्तथा । अमृतविशेषणमेकत्र, अन्यत्र संसारपक्षेऽपि त्रिपादेवमेव सङ्गच्छते । "शब्दा हि यथाप्रज्ञं पुरुषाणामर्थाभिधानेषु विपरिणममानाः सर्वतो मुखाननेकार्थान् ब्रुवन्ति" इति दुर्गाचार्यवचनादपि सिध्यति ।

एवं भवतो मिथ्याज्ञानेन न सम्यग्ज्ञानबाधो भविष्यति धर्मकीर्त्तिवार्तिकप्रमाणात्—

आधिभौतिक पक्ष में संसार के भी दो भाग हैं । एक भाग द्योतक प्रकाशक सूर्यादि और दूसरा चन्द्र या पृथिवी आदि प्रकाश्य । इस प्रकार द्योतक संसार में त्रिपात् त्रिगुणात्मक तथा गुण से क्षीण जगत् का ग्रहण होगा । यहां पर त्रिपात् शब्द को परिमाण या संख्यावाचकता में नहीं माना जाये और न एकपाद् का अर्थ १/४ है, किन्तु त्रिपात् तथा एकपाद् शब्द अधिकांश और अल्पांश अर्थ में प्रयुक्त मानना चाहिये ।

महोदय ! शास्त्रार्थ के समझने में तो व्यामोह आपका है, ऋषि का नहीं । इसमें प्रमाण दीजिये कि विविध अध्यात्म आदि पक्ष में धातु के अनेकार्थ होने पर भी व्यञ्जनादि से एक से अधिक अर्थ नहीं किये जा सकेंगे । किसी नियम का उल्लेख करना चाहिये था । एक शब्द के बहुत्र प्रकरणादि से अनेकार्थ होते ही हैं । एकत्र त्रिपात् शब्द अमृत का विशेषण है, अन्यत्र संसार पक्ष में उक्त प्रकार से घटित होता ही है । अतः वाक्यभेददोष आपके वाक्य में है; भूमिकालेख में नहीं ।

देखिये, दुर्गाचार्य भी कहते हैं कि "पुरुषों की प्रज्ञानुसार शब्द अर्थों के कहने में विपरिणत होते हुए भी सर्वतोमुख अनेक अर्थों को कहा करते हैं ।" बस, महर्षि की ऐसी प्रज्ञा थी, पर क्या किया जावे कि वह आपको न मिल सकी ।

इस प्रकार आपके मिथ्या ज्ञान से सम्यक् ज्ञान का बाध नहीं हो सकता ।

https://t.me/DharmaSamrat

निरुपद्रवभूतार्थः स्वभावस्य विपर्ययैः।
न बाधो यत्नवत्त्वेऽपि बुद्धस्तत् पक्षपाततः ॥ ३।२२२ ॥

पृ० १२४२, अनु० २—किञ्च यत्सायणीयभाष्यमुल्लिख्य—"अतीतानागतवर्तमानरूपं जगद् यावदस्ति एतावान् सर्वोऽप्यस्य पुरुषस्य महिमा स्वकीयसामर्थ्यविशेषः, न तु तस्य वास्तवं स्वरूपम्। वास्तवस्तु पुरुषः, अतो महिम्नो जगज्जालाज्ज्यायान्" इत्यादिकम्, तदपि नितरामसमञ्जसम्, तर्कविरोधात्, नहि तर्केण तादृक् सूपपद्यते। तथा च तस्य स्वसामर्थ्यविशिष्टो महिमा कीदृशः? किं वास्तवो मिथ्या वा? वास्तवश्चेद् द्वैतापत्त्या अद्वैतविघातः। साधारणजनस्येव सोऽपि भवतो नित्यशुद्धबुद्धस्वरूपः पुरुषः सदा तनबन्धननिबन्धनेन व्याकुली भवेत्।

अवास्तवश्चेत् मन्येत तदीयसामर्थ्यस्य तत्त्वापत्त्या (अवास्तवत्वापत्त्या) सोऽपि तादृशोऽवास्तवोऽस्तीति प्रसज्यते। इत्युभयतःपाशा रज्जुः। तद् रज्ज्वा गलान्निःसारणाय श्रीमद्दयानन्दीय एवार्थ आश्रयणीयः स्याद्भवता।

१२४१ पृष्ठे ये वैकल्पिका अर्थाः प्रकल्पिता उद्धृतास्ते मन्त्राननुगता एवेति बोध्यम्।

इसमें धर्मकीर्तिकृत वार्तिक का प्रमाण है।

पृ० १२४२, अनु० २—यह जो सायण के भाष्य का उल्लेख करके कहा है कि "भूत-भविष्यद्-वर्तमान जितना भी जगत् है, वह सब इस पुरुष का अपना विशिष्ट सामर्थ्य है, वह उसका सच्चा स्वरूप नहीं है। वस्तुतः पुरुष तो अपनी इस महिमा से भी कहीं अधिक श्रेष्ठ है।" इत्यादि कथन भी नितराम् अनुपयुक्त हैं, क्योंकि यह तर्क-तुला पर खरा नहीं उतरता। इसी परिप्रेक्ष्य में आप बताइये कि उसका स्वसामर्थ्य विशिष्ट महिमा कैसी है? वह वास्तविक है या मिथ्याकल्पित? यदि वह द्रव्यरूप वास्तव में है तो द्वैतापत्ति का निवारण कैसे होगा? यह अवास्तविकरूप जगत् दृश्यमान कैसे हुआ? क्योंकि ईश्वरस्वरूप के परिणामी न होने से जगद्रूप वह हो नहीं सकता। साधारण जन की भांति वह आपका ईश्वर भी जो नित्य, शुद्ध, बुद्धस्वरूप है, सदा से बन्धन के चक्र में व्याकुल रहनेवाला बन जायेगा।

यदि इस जगत् को अवास्तव मानें, जिसे आप ईश्वर का रूप मानते हैं, अर्थात् विवर्त्त कहते हैं, वह उसका सामर्थ्य होने से ईश्वर भी अवास्तव होने लगेगा। इस प्रकार आप उभयतः रज्जुपाश में बन्धे हैं। उस रस्सी से अपना गला निकालने के लिये ऋषि दयानन्द के अर्थ का आश्रय लेना पड़ेगा।

१२४१ पृष्ठ पर दिये आपके अर्थविकल्प उदक्षर हैं।

१२४२ तमे पृष्ठे सम्प्रदायविदस्त्वित्थं वर्णयन्तीति कृत्वा अनेकार्थविकल्पा येऽन्यग्रन्थेभ्य उद्धृताः, नास्माकमिह समालोच्याः।

पृ० १२४३, पं० ८—यदुच्यते—"'त्रिपात्' 'पुरुषः' इत्युभयोः सामानाधिकरण्यमेव युक्तम्" इत्यादि पूर्वमेव समाहितम्, सदृशप्रश्नस्य समानसमाधानत्वात्। भवान् स्वकीयकृतं विपरिणाममुचितम्, महर्षिकृतमुचितमप्यनुचितं मनुते, किञ्चैतन्नानुचितम्? नैतदिह किञ्चिदुदक्षरम्, जगतो व्यतिरिक्तत्वात्, पुरुषस्य ऊर्ध्वशब्देन उदुपसर्गेण व्यक्तत्वात्।

अयं हि अभिधाधीः सर्वत्र वेदेऽपि लोकरूढमेवार्थं गृह्णाति; परं यौगिकार्थकरणे प्रकरणानुसारं "भूयोविद्यस्तु प्रशस्यो भवति"। यथा वेदे 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' अत्र न केवलमग्नेर्वह्निरेवार्थो भौतिकः; प्रत्युत विशिष्टार्थो ग्रहीष्यते। यथा हन्तीति हिमः, अर्थात् प्रगतिहन्ता। तत्र 'अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति, अग्रे नयति' इत्यस्यायमर्थश्छात्रमुपदेष्टुमुचित एव। यद् हिमस्य आलस्यस्य प्रमादस्य

१२४२ पृ० पर—"सम्प्रदायविद् तो ऐसा कहते हैं" यह कहते हुए अन्य ग्रन्थों से जो अनेक विकल्पार्थ उद्धृत किये हैं, वे यहां पर हमारे समालोच्य नहीं हैं।

पृ० १२४३, पं० ८—महर्षि के 'त्रिपाद्' यहां पञ्चमर्थ-कल्पन में अर्थ में उत्तमता तथा सिद्धान्त का स्पष्टीकरण हो जाता है। अर्थात् ऊपर तृतीय मन्त्र में पठित 'त्रिपात्' शब्द से प्रकाशात्मक संसार लिया गया था, परमेश्वर उससे भी ऊपर अर्थात् व्यतिरिक्त है। आपका यह कथन ऊहा के अभाव का द्योतक है, जब कि त्रिपात् से ऊर्ध्व अर्थात् ऊपर (व्यतिरिक्त) यह अर्थ सर्वथा अस्पष्ट है। महर्षि के उचित अर्थ को अनुचित कहना बिल्कुल अनुचित है। अतः व्यतिरिक्त अर्थ को उदक्षर न कहकर १२४१ पृ० पर आपके दिये वैकल्पिक अर्थ ही उदक्षर हैं।

अभिधाधी पुरुष वेद में भी लोकरूढ अर्थ को ही ग्रहण करता है; परन्तु भूयोविद्य पुरुष प्रकरणानुसार यौगिक अर्थ करने में प्रशस्त होता है। जैसे—अग्नि हिम की ओषधि है। स्थूलबुद्धि केवल यही अर्थ पकड़ कर कुण्ठित हो बैठ जायेगा, परन्तु यौगिकार्थवित् 'जो हनन करे उसका नाम हिम है' अर्थात् जो प्रगति का हन्ता है व हिम है और जो अग्रणी हो या आगे उन्नति-पथ पर ले जाये, वह अग्नि ती है। तो छात्र को उपदेश करते हुए यह अर्थ निकलेगा। हिम अर्थ जड़ता,

https://t.me/DharmaCommand

मूढताया वा, अग्निः उत्साहः, पौरुषेयं ज्ञानं वेति सम्यक् परं रूढिलीनमतये सर्वमुदक्षरमेव प्रतिभाति ।

पृ० १२४३, पं० ११—यदुच्यते—"प्रकृतिप्रत्ययानपेक्षेण ....सर्वत्राराजकतैव प्रसज्येत । .....चतुष्पात् पुरुषो भवति न तु चतुष्पात् संसारः । अयं सर्वः संसार इह परमात्मनि वर्तत इत्यस्यापि मूलम् 'इहाभवत्' इति । न च उभयमपि तदर्थः, 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयति' इति शाब्दन्यायविरोधात् ।"

तत्र समाधीयते यत् कः खलु प्रतिबध्नाति यत्र पुनः पुनः उच्चार्यते शब्दः द्वितीयं तृतीयं वार्थं गमयितुम् ? अत एव गानविद्यार्थविशिष्टानां मन्त्राणां विविधप्रकरणवत्सु स्थलेष्वसकृत् पाठः क्रियते । सकृद् उल्लिखितेऽपि अनेकार्थव्यञ्जकत्वे

आलस्य, प्रमाद, मूढता की ओषधि, अग्नि अर्थात् उत्साह, पुरुषार्थ, उद्योग या ज्ञान है । परन्तु जिनका मति रूढ़ि ने चाट ली है, उन्हें सब उदक्षर ही मालूम पड़ता है ।

पृ० १२४३, पं० ११—यह कहना कि "प्रकृति प्रत्यय की अनपेक्षा से अराजकता हो जायेगी" सच है । पर आपने इसका कोई उदाहरण यहां नहीं दिया । अपितु स्वयं आपने 'महिमता' शब्द में अराजकता उत्पन्न की है, उदाहरण हमने अभी दिया है । स्वामीजी ने 'अस्यानन्तसामर्थ्येश्वरस्य' इस अनन्त-सामर्थ्य ईश्वर का एकपाद और त्रिपाद बताया है; परन्तु उससे उपलक्षित यह संसार दो रूपों में एकपाद और त्रिपाद व्याख्यात किया गया है । इस परमात्मा में यह संसार है, इसका मूल भी 'इह अभवत्' यह प्रत्येक आंखवाले को दीख रहा है । अर्थ-सङ्गति के लिये 'इह' अर्थ भावानुरूप 'संसार' और 'परमेश्वर' दोनों ओर लगेगा । आप बाधक नियम प्रस्तुत कीजिए ।

तथा यह कहना कि 'एक बार बोला हुआ शब्द एक बार ही अर्थ को बताता है' इससे विरोध होगा, परन्तु आप यह बताइये कि एक ही शब्द, पद या श्लोक के अनेकार्थ करने के लिये प्रतिबन्ध क्या है ? कि वह शब्दादि पुनः दो-तीन बार उच्चारित न किया जावे । जैसा कि प्रतिभाषा में जहां भी अनेकार्थ निकल सकते हैं, वहां अनेक बार उच्चारण कर, संस्कृत में तो विशेषरूपेण—'चेतो न लङ्कामयते मदीयम्' से चार अर्थ करने के लिये एक बार ही लिखा गया, चार बार उच्चारण किया ही जाता है । इसीलिये गान-विद्या और अर्थों से विशिष्ट मन्त्रों का विविध प्रकरणवाले स्थलों पर असकृत् पाठ किया ही जाता है । एक बार लिखा हुआ भी होने पर अनेकार्थ व्यञ्जक होने पर तत्तद् अर्थ

सति तत्तदर्थविद्योतनाय पाठः क्रियत एव, श्लेषालङ्कारसिद्धिश्च भवति ।

निदर्शनं च यथा—'चेतो न लङ्कामयते मदीयम्' एषा खलु दमयन्त्युक्तिः । प्रथमेऽर्थे—मदीयं चेतो नलं कामयते । द्वितीयार्थे—तद्विरहे मदीयं चेतः (स्वर्णमयीमपि) लङ्कां न अयते । तृतीयार्थे—नलस्याप्राप्तिसम्भावनायां 'मदीयं चेतः अनलं कामयते' । तथैव 'सायङ्कालो जातः' इति वाक्येन गोचारक-वृद्ध-चौरादीनां पृथगर्थाः सङ्गता जनिष्यन्ते ।

पृ० १२४३, पं० १३—यदुक्तम्—'चतुष्पात् पुरुषो भवति न तु चतुष्पात् संसारः' इति तु अव्याकृतधियो परिणतिर्नहि महर्षिणा ब्रह्मणश्चतुष्पात्त्वं व्याहन्यते यदन्यत्र व्याख्यातमपि ।

कारणरूपसत्त्वरजस्तमोरूपपादत्रितये कार्यजगतश्चैकपात्त्वे संसारस्य चतुष्पाद्व्याख्याने नान्यकथनविरोधः, पृथक् प्रकरणप्रतिपादनात् । 'तत' इति पदेन च तस्मात् कारणात् सामर्थ्यरूपादित्येव प्रकृतम्, प्रकृत्यभिधायकत्वात् सामर्थ्यस्य, परमेश्वरस्योपादानत्वेन ग्रहणे परिणामित्वादिदोषापत्ते ।

पृ० १२४४, पं० ६—यच्चाह—"मूले तु 'व्यक्रामत्' इत्येव पाठः । 'अभि-

---

द्योतन के लिये पाठ किया ही जाता है । इससे श्लेषादि अलङ्कारों की सिद्धि होती है ।

'चेतो नलं कामयते मदीयम्' के प्रथम अर्थ में दमयन्ती कहती है कि मेरा चित्त नल को चाहता है । उस नल के विरह-दुःख में मेरा चित्त स्वर्णमयी लङ्का को भी नहीं चाहता, यह द्वितीयार्थ है । नल की अप्राप्ति की आशङ्का में मेरा चित्त अनल (आग) चाहता है, यह तृतीयार्थ किया जायेगा । उसी प्रकार 'सायङ्काल हो गया' इस एक वाक्य से गोचारक अर्थ लगायेगा कि गायें वापस गांव को ले चलना चाहिये । वृद्ध 'दीपक जलाना चाहिये' यह अर्थ तथा 'पुजारी' आदि 'अब संध्या करना चाहिये' इत्यादि अर्थ लगायेगा ।

पृ० १२४३, पं० १३—यह कहना कि 'चतुष्पात् पुरुष होता है, संसार नहीं' यह अव्याकृत मति का परिणाम है । महर्षि के कथन से ब्रह्म के चतुष्पाद होने का विरोध नहीं होता, जैसी कि अन्यत्र भी व्याख्या की गई है ।

संसार के कारणरूप सत्त्व, रज तथा तम रूप त्रिपाद कार्यजगत् के एकपाद होने से संसार का चतुष्पाद व्याख्यान हो ही सकता है । 'ततः' इस पद से 'उस सामर्थ्यरूप कारण से' प्रकृति अर्थ सिद्ध है । परमेश्वर का उपादानत्व सङ्ग आदि दोषापत्ति के कारण नहीं माना जा सकता ।

पृ० १२४४, पं० ६—आपका यह कहना कि "मूल में 'व्यक्रामत्' पाठ है ।

https://t.me/DharmaCamet

व्यक्रामत्' इति पाठस्तु भूमिकाकृतः।" तत्कथनं व्याकरणानभिज्ञानमूलकमेव, 'व्यवहिताश्च' (अष्टा० १।४।८१) इति पाणिनिसूत्रेण 'अभि' इत्यस्य उपसर्गस्य व्यवहितत्वेऽपि पूर्वान्वयसम्भवस्यौचित्यात्।

'विष्वङ्' इत्यर्थस्तु उव्वटेन 'भुवनकोशम्', 'व्यक्रामत्' इत्यस्य उत्पन्नमित्यर्थः कृतः। महीधरेण 'विषु सर्वत्राञ्चतीति व्यक्रामत्, व्याप्नवानित्यर्थो विहितः, परमृषिणा भूमिकाकारेण विविधतया सुष्ठुतया सर्वात्मतयाऽञ्चतीति 'विष्वङ् व्यक्रामत्' इत्यस्य उत्पाद्य व्याप्नवान् इति समुपात्तः। प्रत्यक्षमिदं यद् ऋष्यर्थः सर्वथा पूर्णः।

तत्रायमाक्षिपति यदेवं 'विष्वङ्' 'व्यक्रामत्' इत्युभयं समानार्थकं तत्त्व(तु+अ) चन्तनफलम्, 'विष्वङ्' इत्यस्य सर्वप्राणिन आनन्ददायिकत्वात्, 'अभिव्यक्रामत्' इति च सर्वव्यापकत्वात्। उभाभ्यामपि भिन्नार्थप्रतिपादकत्वान्नैव कस्य अपि केनचिद् गतार्थता।

पृ० १२४६, अनु० १—यदुच्यते—"ततो विराडजायत' इति भाष्ये 'तत' इति विशेषनिर्देशो युक्तः। 'विराट् पुरुषश्च क' इत्यपि वक्तव्यमासीत्।" तदसम्प्रज्ञम्, तत इत्यनेन सामर्थ्यस्य भाषायाम् इहापि मूलप्रकृतेरुक्तत्वात्, विराट्-

---

'अभिव्यक्रामत्' पाठ की कल्पना किस आधार पर की?" सरासर आंख बन्द करके ही हुआ। श्रीमन्! 'ततो व्यक्रामत्' यह पाठ है तथा 'साशनानशने अभि' यहां पर 'व्यवहिताश्च' (अष्टा० १।४।८१) अर्थात् 'अभि' उपसर्ग का प्रयोग व्यवधान में भी होता है, अतः 'अभिव्यक्रामत्' यह आवृत्ति करके पाठ लिखा गया।

उव्वट ने 'विष्वङ् व्यक्रामत्' का 'भुवन को उत्पन्न किया' अर्थ किया और महीधर ने 'सर्वत्र व्याप्तवान्' अर्थ किया। परन्तु महर्षि ने विविधतया सर्वात्म रूप से अर्थ किया। यह प्रत्यक्ष है कि ऋषि का अर्थ सर्वाङ्ग तथा अतितरां पूर्ण है। 'विष्वङ्' और 'व्यक्रामत्' के एक अर्थ नहीं; प्रत्युत सब प्राणी में व्याप्त है, ये क्रमशः अर्थ हैं।

पृ० १२४६, अनु० १—आपका यह कहना भी ठीक नहीं कि "ततः' अर्थात् तस्मात् इस सर्वनाम के विशेषबोधक पद का भी निर्देश देना चाहिये। तथा विराट् पुरुष कौन है? यह भी स्वामीजी को बताना चाहिये था।" पर क्या करें; जब आप लिखे हुए को भी न पढ़ सके। अभी पूर्व मन्त्र में 'ततो विष्वङ् व्यक्रामत्' में ततः का अर्थ उसकी सामर्थ्य किया और इस मन्त्र की हिन्दी-व्याख्या में 'उसी पुरुष की सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ जिसको मूलप्रकृति कहते हैं' ऐसा लिखा है।

शब्देन च समस्तशरीराणां समष्टिदेहस्य व्याख्यातत्वाच्च।

पृ० १२४६, पं० ५—महोदय! नहीश्वरः केनाप्युपहितो भवति, समस्तवस्त्वन्तर्बहिश्च व्यापकत्वात्तस्य। नाऽपि जीवस्तथेह भवतोक्तो विविधैः पदार्थैः राजमानो विराट् समष्टिदेहरूप एव जायते। इह हि प्रकृतेः सर्गोन्मुखायाः पश्चात् प्रधानद्वयविकारोल्लेखोऽस्ति।

ब्रह्माण्डं हि परमात्मन आलङ्कारिकशरीरम्। पुरि शेते इति विग्रहाद् ब्रह्माण्डरूपपुरि परमात्मा, अस्मिन् शरीरे पुनर्जीवात्मा शेते। तथा च—

"अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥"
(मु० २।१।४)

अयं हि रूपोपन्यासः (वे० १।२।२३) इत्यत्र प्रतिपादितः। अग्रे आचार्यशङ्करो लिखति "न शरीरस्य तनुमहिम्नः ... " इत्यादि।

और 'सर्वशरीराणां समष्टिर्देहः' विविधपदार्थों से राजमान, विराट् बताया गया है।

पृ० १२४६, पं० ५—प्र०—यह समष्टि स्थूलशरीर से उपहित चेतन रूपवाला ईश्वर है या समष्टि प्रपञ्च का अविनाशी विराट् जीव है?

उ०—महाशय! आप नवीन वेदान्तियों के वाक्य बीहड़ अरण्य में भटक रहे हैं, वह सर्वव्यापक बृहत्तम ब्रह्म किसी के द्वारा उपहित नहीं होता। वह तो सबके बाहर और अन्दर व्याप्त है। आपका कल्पित जीव भी सर्वथा अमान्य है। यहां तो विविध पदार्थों से राजमान समष्टि देह ही विराट् कहा गया है। यहां पर सर्वोन्मुखी प्रकृति (प्रधान) के दो विकारों की ओर संकेत है।

ब्रह्माण्ड परमात्मा का आलङ्कारिक शरीर है, ब्रह्माण्डरूपी पुरी में शयन करनेवाला परमात्मा और इस शरीररूपी पुर में सोनेवाला जीवात्मा है। मुण्डक उपनिषद् (२।१।४) में इसी परमात्मा के आलङ्कारिक शरीर का वर्णन किया है—"अग्नि द्युलोक जिसका सिर है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, दिशायें श्रोत्र हैं, प्रसिद्ध वेदवाणी है, वायु प्राण हैं, विश्व हृदय है और जिसके चरणों से पृथिवी प्रकट हुई है, अर्थात् पृथिवी पाद है, यह देव सर्व भूतों का अन्तरात्मा है।" यह उद्धरण वे० सू० (१।२।२३) के शाबरभाष्य में उद्धृत है।

आगे शङ्कर लिखते हैं—"न शरीरस्य तनुमहिम्नः, नाऽपि प्रधानस्यायं रूपोपन्यासः सम्भवति, सर्वभूतान्तरात्मत्वाऽसाम्यत्वात्।" अर्थात् अल्प महिमावाले जीवात्मा में उक्त वचन घटित नहीं हो सकता और सर्वभूतों की अन्तरात्मा न होने से प्रकृति में भी घटित नहीं हो सकता।

https://t.me/DharmaSamrat

पृ० १२४६, पं० ८—यस्मिन् शरीरे प्राणाः सन्ति तत्रैव जीवाधिवासो न तु प्राणरहिते देहे। एकस्मिन् स्थाने अर्थद्वयकरणे ऊहैव कारणम्।

यस्माद्धि उपादानाद् यः पदार्थो जायते तस्मिन्नेव च लीयते इति नियमः शाश्वतिकः। तदित्यस्य पूर्वपरामर्शकत्वात्, 'स जातः' इत्यनेन 'स देहः' एवाभीष्टः। 'अत्यरिच्यत' इत्यत्र परमात्मा उत्प्रेक्ष्यते। यदि जात इत्युपस्थितपदस्य 'प्रसिद्धः' इत्यर्थो मंस्यते, तदा स प्रसिद्ध ईश्वरोऽत्यरिच्यत, सर्वपदार्थेभ्यः पृथग्भूत इत्यर्थः सेत्स्यति।

पृ० १२४६, पं० १२ – 'भूमिम्' इति द्वितीयान्तभूमिमभिलक्ष्य भवदर्चनीयो महीधरोऽपि 'ससर्ज' इत्याक्षिपति। परं यदा भूयोविद्यो महर्षिरुत्प्रेक्षते तदा-

---

पृ० १२४६, पं० ८—विद्वान् लोग इस लेखक का छल देखें कि "पुरुषशब्दस्यात्र जीवाधिकरणो जीवोऽर्थ इत्यत्रापि बीजं वक्तव्यम्।" जब कि ऋषि की वचनावली यह है कि "सर्वप्राणिनां जीवाधिकरणो देहः" सब प्राणियों का यह देह ही तो जीव का अधिकरण है। जीव का अधिकरण जीव पाठ ही नहीं है। यह आपकी प्रतारणा भी आपको शोभा दे रही है, धन्य हैं आप। जिस शरीर में प्राण हैं, वही शरीर जीव का अधिकरण है, प्राणरहित देह नहीं, यह बात 'सर्वप्राणिनाम्' पद से अभिव्यञ्जित होती है। एक स्थान पर दो अर्थ करना ऋषि की ऊहात्मक प्रतिभा का परिणाम है।

प्र०—'स जातः' इस पद से 'बढ़ता है और नष्ट होकर उसी में लीन हो जाता है' यह अर्थ कैसे सम्भव हुआ ?

उ०—यहां पर 'जातः' पद से 'षड् भावविकारा भवन्ति' अर्थात् पैदा होने वाली वस्तु में 'जायते, अस्ति' आदि छः विकारों का निर्देश कर देने से असङ्गतता कहीं नहीं है। और यह शाश्वतिक सिद्धान्त है कि जिस उपादान से जो पैदा होता है, उसी में विलीन होता है। यहां पर 'सः' अर्थात् 'तत्' पद के पूर्वपरामर्शक होने से उस देह का संकेत है। दूसरे प्रकार वह परमात्मा प्रसिद्ध होकर 'अत्यरिच्यत' अर्थात् प्रकृति कार्य तथा जीव से व्यापक होता हुआ भी अपने सर्वज्ञादि गुणों के कारण पृथग्भूत है।

पृ० १२४६ पं० १२—आप पूछते हैं कि 'भूमिम्' में 'उत्पन्न करके धारण किया' यह अर्थ कहां से हो गया ?

महोदय ! 'भूमिम्' द्वितीयान्त है, तो यहां 'उत्पन्न किया' यही क्रिया अध्याहृत करना उचित है। आपके पूज्य महीधर ने भी लिखा है कि 'ससर्जेति शेषः'। उन पर आपको यह आक्षेप नहीं सूझा। बनाई हुई उस भूमि का क्या

ऽऽक्षिपतीति पक्षपातपनतस्य पराकाष्ठा। परमात्मा सृष्ट्वा धारयति नान्यः कुलालादिरिति प्रथमभागे पल्लवितम्। 'चतुर्मुखरूपोऽजायत' इत्यादि भवदर्थस्तु निराधारः, तस्याऽप्रामाण्यात् शास्त्रबहिर्भूतत्वात्।

पृ० १२४८, अनु० २—शङ्का—"तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत" इत्येषां शब्दानां पुरुषसामर्थ्यमित्यर्थः कुतो गृह्यते ?"

समा०—क्षुन्निवृत्त्यादिकारकमन्नादिवस्तु तत् पृषत्, मधुदुग्धादिकमाज्यम्। नहि तद् ब्रह्मण उत्पद्यते, किन्तूपादानभूतप्रकृतेर्जायते, तस्मात् पुरुषसामर्थ्यं प्रकृतिरजोत्प्रेक्ष्यते। 'अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः' इतिलोकोक्तिचारितार्थ्यात्।

यदुच्यते—"तत् सर्वमीश्वरेण स्वल्पं जीवैश्च धारितमित्यप्युदक्षरम्" इति विभ्रमन्ते वचः, 'सम्भृतम्' इति शब्देन तदभिव्यक्तत्वात्। यथा—दध्यादिमिश्रकेन सम्भृतमिति प्रश्ने जायमाने सर्वमीश्वरेण स्वल्पं जीवैश्चेति समाधानस्य सङ्गतत्वात्। 'सर्वहुत' इत्यनेन सर्वैर्हूयमानत्वात् परमेश्वरस्य उपास्यत्वं ध्वनितमिति निःशेषितं सर्वमप्रतिभोद्गतशङ्कनं भवतः।

अथवा "तस्माद् यज्ञात्' सङ्गतिकरणेन निर्मितविराट्पुरुषरूपयज्ञात्। यथा

हुआ ? इस आकांक्षा की पूर्ति में स्वामीजी ने 'धारण किया' यह बुद्धिगम्य अर्थ और बढ़ा दिया, परमात्मा ही एकमात्र ऐसा निमित्तकारण है कि वह अपने सृष्ट जगत् को धारण भी करता है, पर अन्य कुलालादि घटादि को धारण नहीं करता। 'चतुर्मुख सृष्टि' अर्थ यदि मानते हो, तब अप्रामाणिक है, यदि चतुर्विध जरायुजादि वांछित हों, तो सह्य है।

पृ० १२४८, अनु० २—शङ्का—"तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः' इन शब्दों का अर्थ आप पुरुष और पुरुष का सामर्थ्य किस आधार पर करते हैं ?"

समा०—भूख की निवृत्तिकारक अन्नादि वस्तु पृषत् तथा मधु दुग्ध आदि को आज्य कहते हैं। इनका उपादानकारण प्रकृति है, ब्रह्म नहीं। इसलिये पुरुष की सामर्थ्यरूप अजा प्रकृति की उत्प्रेक्षा की गई है, क्योंकि पण्डितजन अनुक्त का भी ऊहन करने में समर्थ होते हैं।

यहां पर आपका यह कथन कि स्वामी दयानन्द ने "ईश्वर के द्वारा सब कुछ और जीवों के द्वारा स्वल्प धारित किया जाता है।" कहा है, यह अक्षरबाह्य है, भ्रमपूर्ण है, क्योंकि मन्त्रगत 'सम्भृतम्' इस शब्द से उसका ध्वनन स्पष्ट है। शेष आपकी शङ्का निस्सार है।

अथवा 'तस्माद् यज्ञात्' अर्थात् सङ्गतिकरण से निर्मित विराट् पुरुषरूप यज्ञ से। उसे अध्यात्मपक्ष में वेदज्ञ विद्वान् इस प्रकार वर्णन करते हैं कि भुवनपति

https://t.me/Dharmaeanrat

हि—'विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुह्वाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुह्वाञ्चकार' (नि० १०।२६)। 'विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।' (ऋ० १०।८१।६) अर्थाद् यदन्तर्गता वर्तमानाः प्रकृत्यंशाः सर्वेऽपि हुतीभूता आसन्, कार्यरूपे परिणतिमवाप्नुयुरित्यर्थः। तस्माद् दधिसहिताज्यं पृषदाज्यम्, क्वचिदन्धकारः क्वचिच्च प्रकाशो धारितोऽभूत्।

तस्मादेव च वायौ विचरणशीला ग्राम्या आरण्याश्च पशवो लोकलोकान्तररूपा उत्पेदिरे।

वायौ विचरणशीला ग्राम्यपशव इव लोकाः 'असौ वा आदित्यो यूपः' इति सूर्यरूपयूपे आकर्षणरूपरश्मिरज्जुभिर्निबद्धाः स्वस्वकक्षायां भ्रमन्तो बुधशुक्रादयो ग्रहाः, स्वतन्त्रविचरणशीला धूमकेत्वादयश्च आरण्यपशव अभिप्रेता अस्मिन् पक्षे।

यतो हि आधिदैविकव्याख्यानपक्षेऽपि वाग्वह्निसूर्यादिपदार्थाः पशुशब्देनाऽप्यभिधीयन्ते। यथा चाश्वमेधप्रकरणे—

'अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त। वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त। सूर्यः पशुरासीत् तेनाऽयजन्त।' (शुक्लयजु० २३।१७)।

विश्वकर्मा परमेश्वर ने सर्वमेध यज्ञ अर्थात् सृष्टिसंहार किया। यज्ञ में प्राणी और अप्राणी सर्वभूतों की आहुति दे दी, अर्थात् सब भूतों का संहार कर दिया और उसमें मनुष्य शरीर की भी आहुति दे दी। इस प्रलय को बतानेवाली ऋचा 'य इमा ऋचा०' (ऋ० १०।८१।१) है। इसके बाद की ऋचा 'विश्वकर्मन् हविषा' में उक्त तथ्य में प्रलय और सृष्टि का वर्णन किया है कि संहार करनेवाला प्रभु प्रलयकाल में लोक-लोकान्तरों का संहार करता है। उस समय प्रकृति, जीव और परमात्मा इन तीन सत् पदार्थों के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सत्ता नहीं थी। इनके अन्तर्गत वर्तमान प्रकृति के अंश सभी हुत हुए फिर कार्यरूप में आये। उससे दधिसहित आज्य अर्थात् कहीं अन्धकार और कहीं प्रकाश हुआ।

उसी से वायु में विचरणशील ग्राम्य पशु, आरण्य पशु लोक-लोकान्तररूप उत्पन्न हुए।

'वह आदित्य यूपरूप है।' सूर्यरूप यूप में आकर्षणरूप रश्मियों से नियमित अपनी-अपनी कक्षाओं में बुध, शुक्र आदि ग्रह स्वतन्त्र विचरणशील धूमकेत्वादि आरण्य पशु उत्पन्न हुए।

आधिदैविक व्याख्यानपक्ष में भी वायु, अग्नि, सूर्यादि पदार्थ भी पशु शब्द से अभिहित होते हैं, जैसा कि शुक्ल यजु० (२३।१७) अग्नि, वायु और सूर्य को पशु बताया।

एतेन सृष्टिमययज्ञे साधनभूता इमेऽग्न्यादयः पशवो न तु लौकिद्रव्यमययज्ञे एषां सम्भवः।

'द्युस्थानो देवगणः' इति नैरुक्तवचनमभिध्यायतो व्याख्याने 'यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः' इत्यत्र साध्यदेवा आदित्यरश्मयोऽभिप्रेताः। तेन यत्र कुत्राऽपि वेदशाखासु ब्राह्मणग्रन्थेषु वा पशुयागवर्णनं पुराकल्पे (प्राचीनसर्गकाले) अर्थवादनिर्देश एवाऽवगन्तव्यः। एवं दिग्दर्शनमात्रम्।

पृ० १२५०, अनु० ३—शङ्का—"के उत्तमगुणा येषां प्रकाशनार्थोऽयमारम्भः? उभयादत इति दैर्घ्यं तु कथम्?"

समा०—अनेन मत्यपरिष्कृतमिदमुच्यते। न ह्यत्र उत्तमगुणप्रकाशनार्थोऽयमारम्भः, प्रत्युत उत्तमगुणवत् प्रकाशनार्थः। तात्पर्यमदो यद् वनस्थग्रामस्य पशूनां वर्णनेन पूर्वमन्त्रेण सर्वपशूनां गणितत्वात् किमर्थकोऽयमारम्भः? तत उच्यते, पशुषु विशेषेण उत्तमगुणवन्तः पशवोऽश्वादयो भवन्ति, बहूपयोगित्वात्।

'उभयादतः' इत्यत्र दैर्घ्यं तु छान्दसमेव। भूमिकायां तु 'गुणवत्त्वप्रकाश-

---

इससे सृष्टियज्ञ प्रवर्तमान रक्खा। यज्ञसाधनभूत ये लौकिक पशु इस पक्ष में (आ० दैवि०) अभिप्रेत नहीं।

'देवगण द्युस्थानीय हैं' इस निरुक्तवचन का ध्यान करनेवाले की दृष्टि में 'यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः' यहां पर साध्य देव आदित्यरश्मि माने गये हैं। इससे यत्र-कुत्रापि वेदशाखाओं या ब्राह्मणग्रन्थों में पशुयाग वर्णन आया है, प्राचीन सृष्टिकाल में उसे अर्थवाद का निर्देश ही समझना चाहिये। इस प्रकार वेद-व्याख्या में आध्यात्मिकादि सभी पक्ष अभिध्यातव्य हैं। यहां पर प्रसङ्गवश हमने कुछ दिग्दर्शन कर दिया।

पृ० १२५०, अनु० ३—शङ्का—"तस्मादश्वा अजायन्त' इस मन्त्र में वे कौन से उत्तम गुण हैं, जिनके प्रकाशन के लिये उद्यम किया जा रहा है? 'उभयादतः' में दीर्घ कैसे हुआ?"

समा०—ऊपर आपने बुद्धि से सर्वथा अपरिष्कृत कथन किया है। आपका यह लिखना कि गुणों के प्रकाशन के लिये इस मन्त्र का आरम्भ है, सब मूल के विपरीत है; क्योंकि भूमिका में गुणवत्ता-प्रकाशनार्थ पाठ है। पशुओं में उत्तम गुणवाले पशु अश्वादि होते हैं, क्योंकि इनका विशेष उपयोग होता है।

'उभयादतः' में छान्दस दीर्घ है। आश्चर्य है कि आपको वैदिक प्रयोग की

https://t.me/Dharmadaarat

नार्थः' इति पाठः, परं 'गुणत्वप्रकाशनार्थः' इति पाठो भ्रष्टस्तथानेन परिकल्पित इति अतितरां त्रपाकरं श्रीकरपात्रिणः, तस्माद्दयानन्दीयोऽपरित्याज्योऽर्थः।

पृ० १२५१, पं० १४—अहो मन्दोक्तिरेषा यत् "त्वद्रीत्या जगत्कर्त्ता कदा केन रूपेणाविर्भूतः, निराकारस्य तस्य सर्वदैकरूपत्वात्।" इति तन्न, विदुषां ज्ञानिनामृषीणां च हृदयान्तरिक्षे एकरसेन एकज्ञानानन्दरूपेण सर्वदाऽऽविर्भूतत्वात्।

पृ० १२५१, पं० १४-१५—"अभिषेकश्च दुग्धजलादिभिर्भवति। सोऽपि कथं निराकारस्य सम्भवति ?" इति कथनं वापि 'अव्यक्ताद् व्यक्तम् आपन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः' इत्यनुसृत्य मूर्तिरूपेण परेशमाकल्पयतां स्थूलधियामेव मतम्। न च स्थूलतामापद्यते कदापि परमात्मा, निराकारस्य तस्य सर्वदैकरसत्वात्। तस्याभिषेचनं नाम दयादिगुणार्द्रताप्रीतिभक्त्यादिभिरापद्यते। अत्र हि दुग्धजलादिस्थानीयं प्रीतिभक्तिसत्यादिकमेव। यथाहि शङ्कराचार्यः 'परा पूजा' नामकस्तोत्रेऽभिव्यनक्ति तत्त्वम्—

सिद्धि में भी शङ्का है। आप लिखते हैं कि इसमें दीर्घ कैसे हुआ ? इस प्रश्न के परिणाम में आप कहते हैं कि इसलिये दयानन्द के अर्थ को छोड़कर अन्यार्थ का अनुसन्धान करना चाहिये। यह आपका अनोखा तर्क है। आपने भूमिका के 'गुणवत्व' शब्द का 'गुणत्व' यह भ्रष्ट पाठ परिकल्पित कर लिया, यह अत्यन्त त्रपा-(लज्जा) कर है, अत. ऋषि का अर्थ ग्राह्य है।

पृ० १२५१, पं० १४—आपका यह कथन मन्दमतित्व का सूचक है कि "तुम्हारी रीति से जगत्कर्ता कब, किस रूप से आविर्भूत हुआ? वह तो निराकार है, सदा एकरस है।" महाशय ! आप प्रादुर्भूत का अर्थ केवल शरीरधारण करने अर्थ में समझ रहे हैं। प्रादुर्भूत का अर्थ प्रकट या प्रकाशित होगा। जैसा कि ऋषि ने स्वयं लिखा है कि वह हृदय के अन्तरिक्ष में सर्वदा प्रादुर्भूत है। एकरसता में कोई अन्तर नहीं आता।

पृ० १२५१, पं० १४-१५—प्र०—"अभिषेक तो दूध-जल आदि से होता है, वह निराकार का कैसे सम्भव है ?"

उ०—अभिषेक शब्द का अर्थ लोक में राजा को स्नान कराने या राजतिलक करने अर्थ में रूढ है, परन्तु हृदय के भी सिंहासन पर विराजमान प्रभु का प्रेम, भक्ति सत्याचार के द्वारा अभिषेक (पूजन) सम्भव है। परन्तु 'अव्यक्त से व्यक्त रूप (स्थूल शरीर) में मुझे अबुद्धि लोग मानते हैं' गीता की इस उक्ति से मूर्तिरूप में तो स्थूलबुद्धि ही कल्पना करते हैं। जैसा कि शंकराचार्य ने 'परा पूजा' नामक स्तोत्र में निराकार का पाद्य, अर्घ्य, आचमन, अभिषेक (स्नान), वस्त्र,

"पूर्णस्यावाहनं कुत्र सर्वाधारस्य चासनम्।
स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यं च शुद्धस्याचमनं कुतः ॥१॥

निर्मलस्य कुतः स्नानम्, वस्त्रं विश्वोदरस्य च।
अगोत्रस्य त्ववर्णस्य कुतस्तस्योपवीतकम् ॥२॥

स्वयं प्रकाशमानस्य कुतो नीराजनं विभोः।
अन्तर्बहिश्च पूर्णस्य कथमुद्वासनं भवेत् ॥३॥ इत्यादि।

न चैकरसे प्रीत्यादिभिरपि दयादिगुणप्रादुर्भूतिः कर्तुं शक्येति वाच्यम्, एकरसात्मनि परिवर्तनस्यासम्भवात्। तत्स्वाभाविकदयादिगुणानां जीवैरेव ध्यानेऽनुभूयमानत्वात्।

पृ० १२५३, अनु० २—'यत्पुरुषं व्यदधुः' इत्यस्य भाष्ये विदधाति इति पदस्य यजुर्वेदभाष्ये 'विविधप्रकारेण दधति विद्वांसः' इत्यर्थः कृतः, अत्र व्याख्यानं कुर्वन्ति इति उभयथाऽपि एक एवाशयः। विद्वांसो नहि तं पुरुषं भारवत् पोटलिकामिव धारयन्ति वहन्ति, प्रत्युत तस्य व्याख्यानमेव कुर्वन्ति। भवान् वक्ति यन् मूर्खत्वादयो गुणाः परमेश्वरस्यैव इति तु न कश्चित् पामरोऽपि कल्पयितुमर्हति। परमन्वयमबुद्ध्वा भवांस्तु कुरुते।

उपवीत, गन्ध, पुष्पमाल्य, आरती आदि की इस प्रचलित प्रथा की असम्भावना व्यक्त की है।

यदि कहें कि एक रस में प्रीति, दया, सत्य, भक्ति आदि तो उत्पन्न नहीं किये जा सकते, यह ठीक है; पर ईश्वर में उत्पन्न करने के लिये यह प्रयास नहीं है; प्रत्युत जीव के अन्दर प्रभु की सामीप्यानुभूति से प्रीत्यादि द्वारा आनन्दानुभूति होती है। इसके आगे वस्तुतः जो अर्थ लिखा गया है, उसको स्वयं भी आप नहीं समझे हैं। ग्रन्थविस्तार-भय से यहां तदर्थ नहीं लिखा जा रहा है।

पृ० १२५३, अनु० २—"यत्पुरुषं०" के दयानन्दकृत अर्थ में 'विदधाति' का व्याख्यान अर्थ कैसे हो गया ?" यह शङ्का भी अल्पश्रुत के सदृश है; क्योंकि विविध प्रकार से धारण करने का अर्थ ही यह है कि उसके स्वरूप का विविध प्रकार से व्याख्यान करते हैं। एक ही अर्थ है। विविधरूप से धारण-पोषण का यह अर्थ तो है नहीं, कि उसे सिर पर पोटली के समान धारण करते हैं। यह आप कहते हैं 'कि मूर्खता आदि परमेश्वर के गुण हैं, ऐसा कोई पामर भी नहीं कह सकता' इससे आप यह ध्वनित करना चाहते हैं कि स्वामीजी ने ये माने हैं, पर यह ध्वनन भी कोई बेसमझ पामर ही करेगा।

https://t.me/DharmaSamrat

अत्र भवता वेदभाष्यस्य सूक्ष्मता न ध्याता, तत्र मुखबाहूत्पत्तौ 'मुख्यगुणेभ्यः' बलवीर्यादिगुणेभ्य इति पञ्चमी प्रयुक्ता।

वैश्यशूद्रोत्पत्तौ व्यापारादिमध्यमगुणैर्मूर्खत्वादिनीचगुणैरित्यत्र करणं प्रयुक्तम्। पञ्चम्यां गुणानां हेतुत्वं न चोपादानत्वम्। करणत्वेन तु साधकतमत्वम्। ब्रह्मणो हि उत्तमगुणवत्त्वम्। प्रकृतेर्मध्यमनीचगुणवत्त्वमिति। यथा तत्त्वबोधिन्याम्—'ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते'। अत्र ब्रह्मा हिरण्यगर्भः, स च हेतुरेव न तूपादानम्। किञ्च 'मायोपहितं चैतन्यं ब्रह्म' तद्धि सर्वकार्योपादानमिति वेदान्तसिद्धान्तः। तेन भवत्पक्षे एव ब्रह्मण उपादानत्वे मध्यमनीचगुणवत्त्वं प्रसिद्ध्यति। ऋषिदयानन्दसिद्धान्तपोषकास्तु मायोपहितं चैतन्यमित्यस्य व्याख्यानं कुर्वते, मायायाः प्रकृतेरुपहितं सान्निध्यगतं चैतन्यं हि कारणम्, न तु मायया कदाप्यावरीतुं पिधातुमर्हति ब्रह्म, तदपेक्षया बृहत्तमत्वाद् ब्रह्मणः।

करणे तृतीयायां 'बाणेन हतः' इत्यत्र बाणव्यापारसाध्यप्राणवियोगाश्रयः, इत्येवं तत्राऽपि वैश्यशूद्रभवनव्यापारनिष्ठत्वेन प्रकृतेर्मध्यमनीचगुणानां विवक्षायां हेतुत्वाऽविवक्षणात् 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इति करणे तृतीयाया विवक्ष्यमाणत्वात्। परमद्वैतपक्षे ब्रह्मण उपादानत्वे मूर्खत्वादिगुणानामनिवर्तनादाक्षेपोऽयं त्वत्पक्ष एव

यहां आपने महर्षि के भाष्य की सूक्ष्मता पर ध्यान नहीं दिया। मुख, बाहु के उत्पत्ति-रूपक में 'मुख्यगुणेभ्य.' पञ्चमी भी प्रयुक्त है।

वैश्य-शूद्रोत्पत्ति रूपक में व्यापारादि मध्यम गुण प्रकृति के सहयोग से जीव के हैं, यह बात करण कारक प्रयुक्त कर ध्वनित की गई है। यहां पञ्चमी हेतु में ईश्वर-गुणों का उपादानत्व विवक्षित नहीं है। करण यहां साधकतम है। ज्ञान, बल, वीर्यादि उत्तम गुण प्रभु-साहचर्य से जीव के बढ़ते हैं, जैसा कि सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी में लिखा है कि 'ब्रह्म से प्रजायें उत्पन्न होती हैं'। यहां ब्रह्म हिरण्यगर्भ है। वह हेतु है, उपादान नहीं। वेदान्ती लोग माया से उपहित चैतन्य को सब कार्य का उपादान मानते हैं। तब आपके ब्रह्म के उपादान मानने से मूर्खत्वादि गुण ब्रह्म के ही मानने पड़ेंगे। ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तज्ञ माया से उपहित अर्थात् सान्निध्यगत ब्रह्म यह अर्थ या व्याख्या करते हैं, तो सभी प्रश्न समाहित हो जाते हैं; क्योंकि ब्रह्म बृहत्तम है, अतः माया से आच्छादित नहीं हो सकता। इस प्रकार उपहित का अर्थ 'ढका हुआ' करना मूर्खता है।

'बाण से मारा' यहां पर बाण के व्यापार से साध्य व्यापारनिष्ठता के समान उक्त भाष्य में तृतीया में साधकतम करण है, हेतु की विवक्षा नहीं है। परन्तु अद्वैतपक्ष में आपका ब्रह्म तो उपादान है, तो मूर्खत्वादि गुणों से युक्त ठहरेगा।

घटते। एवं स्वमुखे स्वचपेटाप्रहार एव ते।

तत्रैवं बोद्धव्यम्—पुरुषस्य मुखं किमस्ति? यद्धि मुख्यगुणेभ्य उत्पन्नमस्ति। पादस्थानीयं किम्? यद्धि न च गुणेभ्य उत्पन्नम् आसीद् अस्ति वा। परं भवानत्र उत्तमनीचगुणानामन्वयं पुरुषेण सह विदधाति। बहिरिमे गुणाः पुरुषस्य जीवस्यैव। नवीनवेदान्तिमते पुरुषस्य ब्रह्मण उपादानत्वे भवितुमर्हेयुः।

पृ० १२५४, अनु० २—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' इति मन्त्रे परमात्मनो मुखाद्यङ्गाभावाद् विद्यागुणसम्पन्ना ब्राह्मणादिवर्णा एव तस्य मुखाद्यङ्गरूपत्वेन मन्यन्त इति लाक्षणिकार्थाश्रयणं भूषणमेव न दूषणम्।

ब्राह्मणो हि "ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्योपासनेन च सह वर्तमानो विद्याद्युत्तमगुणयुक्तः पुरुषो ब्राह्मणो भवितुमर्हति" (ऋग्वेदादिभा० भू० वर्णाश्रमविषयः) इति। छन्दसि भूतकालो वर्तमाने भविष्यति वा युज्यते, तेन शङ्कनं निरस्तम्।

इस प्रकार आपकी यह आक्षेपरूप चपेटिका आपके अपने मुख पर ही लग रही है।

प्र०—उस स्थल को आप इस रूप में समझिये कि उस पुरुष का मुख क्या है?

उ०—जो मुख्य गुणों से उत्पन्न है, जिसमें उत्तम गुण (अध्ययनादि) वर्तमान हैं।

प्र०—पादस्थानीय क्या है?

उ०—जो नीच गुणों से उत्पन्न है, परन्तु कमाल है कि आप उत्तम-नीच गुणों का अन्वय पुरुष के साथ कर रहे हैं। पर ये गुण उस पुरुष के नहीं हैं, किन्तु जीव के हैं। नवीन वेदान्ती के मत में उस पुरुष के उपादान माने जाते होंगे।

पृ० १२५४, अनु० २—'ब्राह्मणोऽस्य मुखम्' इस मन्त्र में परमात्मा के मुखादि अंग (अस्मदादिवत्) न होने से विद्यादिगुण-सम्पन्न ब्राह्मणादि वर्ण उसके मुखाद्यङ्गरूप में माने जाते हैं। श्रीमन्! यह लाक्षणिक अर्थ करना भूषण ही है, दूषण नहीं।

इसीलिये ऋषि ने इस भूमिका के वर्णाश्रमविषय में लिखा है कि वेद से परमेश्वर की उपासना और उपदेश के साथ विद्यादि उत्तमगुणवाला पुरुष ब्राह्मण होने योग्य है। भूतकाल की क्रिया का प्रयोग क्यों किया? इसका समाधान यही है कि वेद में भूतकालिकादि क्रिया भी तीनों कालों के लिये नियमानुसार घटित हो जाती है।

https://t.me/DharmaSarnal

पृ० १२५४, अनु० ३—यदुक्तम्—"कृत, आज्ञप्त उत्पन्न' इति किमर्थमेकस्मिन्नर्थे शब्दत्रयप्रयोगः ?" तदविचारितम्, विशेषार्थत्वाद् । यथा – बलवीर्यादिलक्षणान्वितः कृतः, अर्थात् तथा वेदोपदेशानुकूलमाचरितुमाज्ञप्तम्, इत्यर्थः ।

पृ० १२५५, पं० २ –यदुक्तम्—"तत्तज्जन्मानन्तरं शुभगुणकर्मादिभिर्ब्राह्मण्यादिषु न व्यवस्था स्यात्" तदपि अनालोडितमेव, यतः शुभगुणकर्मादिभिर्ब्राह्मण्यादिव्यवस्था मन्वादिभिः प्रतिपादिता । तथा च—'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।'(१०।६५), 'धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ', 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' इति । प्रक्षिप्तमपि 'शूद्रायां ब्राह्मणात्' (१०।६४) इति भवतां प्रमाणम् । उदाहरणम् –

'आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा ॥'

प्रमाणं कवषैलूषः । अत्र टीकाकृत् कुल्लूकभट्ट आह—'आचार्यः पुनर्वेदज्ञो-

---

पृ० १२५४ अनु० ३—कृत, आज्ञप्त और उत्पन्न इन तीनों क्रियाओं का प्रयोग महर्षि ने साभिप्राय किया है। उनका संकेत है, कि सृष्टि के आदि में ब्राह्मण ही उत्पन्न होते हैं । क्षत्रिय और वैश्य उत्पन्न किये जाते हैं, अर्थात् वे आज्ञप्त या गुण, कर्म, स्वभाव की प्रवृत्ति से कालान्तर में उद्दिष्ट होकर बनते हैं और शूद्र कृत और आज्ञप्त होने पर भी अपने रूप में कृत अर्थात् प्रयत्न व आज्ञप्त होने पर भी, शिक्षाऽभाव में प्रादुर्भूत होता है ।

पृ० १२५५, पं० २—"उन-उन व्यक्तियों का जन्म होने के बाद शुभ गुण, कर्म आदि से ब्राह्मण्य आदि की प्राप्ति में व्यवस्था नहीं बन पायेगी, क्योंकि व्यक्ति के गुण-कर्म आदि में परिवर्तन हो जाने पर ब्राह्मण्य आदि में परिवर्तन मानना पड़ेगा ।" आपका यह कथन भी अन्वेषण पर आधारित नहीं है । शुभ गुण-कर्मादि से ब्राह्मणादि व्यवस्था मन्वादि ने मानी है । जैसे—'शूद्र ब्राह्मणता और ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त हो जाता है ।', 'धर्मचर्या से जघन्य वर्ण पूर्व वर्ण को और अधर्मचर्या से पूर्व वर्ण जघन्य वर्ण को प्राप्त होते हैं ।' यद्यपि जात्या इसे हम प्रक्षिप्त मानते हैं, पर आपके लिये जाति से वर्णपरिवर्तन में प्रमाण है ।

देखिये—मनु० (१०।६४)—'ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न सन्तान यदि ब्राह्मण से विवाह कर कन्या उत्पन्न होवे, तो इस प्रकार सातवीं पीढ़ी में उत्पन्न होनेवाली सन्तान निम्न जाति से उच्च जाति को प्राप्त कर लेती है । उदाहरण कवष ऐलूष नामक व्यक्ति की घटना का है, जो वर्ण-परिवर्तन में प्रमाण है । 'ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत' (ऐतरेयब्राह्मण २।१९) इत्यादि अर्थात् ऋषियों ने सरस्वती के तट पर यज्ञ का आयोजन किया । यज्ञ में आये हुए कवष, ऐलूष को ऋषियों ने

ऽस्य माणवकस्य यां जातिं यज्जन्मविधिवत् सावित्र्येति साङ्गोपनयनपूर्वकं सावित्र्यनुवचनेनोत्पादयति, सा जातिः सत्या अजरा अमरा च ।'

'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ (मनु० २।१६८) इति ।

नहि परमात्मनः साकारमूर्तिर्यस्य मुखाद्यङ्गेभ्यो ब्राह्मणाद्युत्पत्तिसम्भवः । इदं चतुर्मुखत्वमप्यालङ्कारिकं वेदचतुष्टयरूपमेव, नान्यथा सम्भवति ।

पृ० १२५६, अनु० २—'चन्द्रमा मनसो जातः' इति मन्त्रव्याख्याने यदाह अयं यन्मननदर्शनावकाशरूपसामर्थ्याच्चन्द्रादीनामुत्पत्तिर्मन्तव्या । तथापि नार्थविपर्ययः, समानार्थत्वात् । भवता तु उव्वटादिकृतोऽर्थ उपन्यस्त इहानुकृतिमात्रः ।

पृ० १२५८, पं० २—'नाभ्या०' अवकाशमयत्वं कथमित्याक्षेपः ।

समा०—'अन्तरिक्षमुतोदरम्' इति उदरस्यैकदेशोपलक्षिता नाभिः । नह्यन्ते, बध्यन्ते परमाणवो यत्रेति नाभिः । आकाशरचनातः प्रागवकाशमवकाशे

सोम नहीं दिया, क्योंकि वह दासीपुत्र अब्राह्मण था । वह चला गया, उसने 'अपान्नपात्' देवता-वाले सूक्त का अर्थदर्शन किया । फिर ऋषियों ने वेदार्थद्रष्टा होने के कारण उसे पुनः अपने मध्य बुलाकर दीक्षित किया । आचार्य के द्वारा की हुई जाति अजर अमर है । कुल्लूकभट्ट (म० २।१४८) की टीका भी इसकी पोषिका है । (योऽनधीत्य) यह श्लोक जीते हुए ही शूद्रत्व प्राप्त करने की पुष्टि कर रहा है ।

परमात्मा की साकार मूर्ति से ब्राह्मणादि वर्णों की उत्पत्ति असम्भव है । चतुर्मुख (ब्रह्म) नाम भी चार वेदों के जानने के कारण आलङ्कारिक है । अन्यथा चार मुखवाली सृष्टि जीवित नहीं रह सकती ।

पृ० १२५६, अनु० २—'चन्द्रमा मनसो०' इस मन्त्र के व्याख्यान में ऋषि द्वारा मनन ज्योतिर्मय, श्रोत्राकाशमय, वायुमय····· से मन, चक्षु, श्रोत्र, प्राण की उत्पत्ति ठीक कही है । आपने दर्शनादि शब्द परिवर्तन किये हैं ।

पृ० १२५८, पं० २—'नाभि' अर्थात् 'आकाशमय सामर्थ्य से अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ ।' इस पर आपका आक्षेप है—नाभि का अर्थ अवकाशमय कैसे हो गया ? नाभि से उपलक्षित पेट में अवकाश माना जा सकता है ।

इसको समझिये, 'नाभि' शब्द का अर्थ है कि जिसमें परमाणु बंधे रहते हैं, अर्थात् रहते हैं । अवकाश न होता तो परमाणु कहां रहते ? उससे अगली सीढ़ी है—अन्तरिक्ष, अर्थात् लोकों के निर्माण होने के बाद जो हो या अनेक लोकों के बीच के अवकाश को कहते हैं । जसे—'नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्ते, इत्याहुस्त-

https://t.me/DharmaSanrat

एव परमाणवः तिष्ठन्ति। अतो नाभिशब्देनावकाशमयं सामर्थ्यमुत्प्रेक्षितम्, सामर्थ्यस्य च प्रकाशमयत्वं तस्य पुरुषस्य प्रकाशत्वादेवोपपन्नम्। एवमग्रेऽपि प्रकाशरूपाद्याधायकत्वाद् वेद्यम्।

पृ० १२६०, अनु० २—'यत् पुरुषेण०' इति मन्त्रेऽयं पुरुषस्य हविष्पदेन प्रोक्षणादिसंस्कारं प्रतिपादयति, अभिषेकं च मूर्तिमत्त्वकल्पनया, तत्सर्वमलीकम्,

---

स्मादेव ज्ञातीन् सनाभम् इत्याचक्षते' अर्थात् नाभि से सम्बद्ध गर्भ होते हैं; इसीलिये ज्ञातियों को सनाभि कहते हैं। नाभि गर्भ की स्थिति को बनाये रखती है और गर्भ अन्तरिक्ष में फैलता है। संक्षेप में यहां पर नाभि और अन्तरिक्ष में यही अन्तर है।

वह (अवकाश) आकाश नित्य है। फिर जिसमें शब्द की प्रादुर्भूति होती है, वह आकाश बनता है, अर्थात् घनत्व को (लोक बनने पर) प्राप्त होने पर रिक्त स्थान में शब्द संयोगादि से उत्पन्न होता है। सूर्यादि लोक भगवान् की प्रकाशमय स्थिति से बनते हैं, अर्थात् इनमें प्रकाश प्रधान होता है। परमेश्वर की वह सामर्थ्य (प्रकृति) भी पद शब्द से उपलक्षित है, उसी से पृथिवी की रचना हो सकती है। आप कहते हैं कि इससे पूर्व मन्त्र में 'श्रोत्रात्' का अर्थ 'आकाशमयत्वम्' आकाशमय किया और अब शब्दाकाशमय यह अर्थ किया।

महाराज! आपकी समझ का फेर है। समझिये—कार्य आकाश का कारण आकाश तो आकाशरूप होगा, जो श्रोत्रशक्ति से प्रकट किया गया। वैसे तो दिशायें नित्य ही होती हैं, पर जीव की दृष्टि में पूर्वादि की रचना कही गई है।

'यतः आकाश का गुण शब्द होता है, यह प्रसृत (फैलता) है तो दिशाओं का बोध होता है।' आपका यह कथन मिथ्या है, स्वामीजी ने 'श्रोत्रात्' का अर्थ 'सर्वलोककारणमयत्व' किया है। देखिये, भूमिकालेख—'तया तेनैव प्रकारेण सर्वलोककारणमयात् तत्सामर्थ्यात्' अर्थात् जैसे ऊपर आलङ्कारिकरूप अर्थ में भगवान् के विराट् शरीर की कल्पना में नासादि अङ्गों की कल्पना कर तत्तद् की उत्पत्ति कही है, उसी प्रकार सब लोकों की रचना का कारण (प्रकृति) सामर्थ्य से अन्यान्य लोक बने। थोड़ी सी भी सदसद्विवेकिनी बुद्धि यदि आप रखें, तो मन्त्रों का अनर्थ करने में उतारू न होवें।

पृ० १२६०, अनु० २—'यत्पुरुषेण' इस मन्त्रांश में ऋषिदयानन्द कहते हैं कि पुरुष अर्थात् ईश्वर द्वारा दत्त हवि के द्वारा विद्वान् लोग अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ और शिल्पविद्यामय यज्ञ करते हैं। पारिजातकर्ता का कहना है कि "पुरुषरूप द्रव्य हवि है, उससे इन्द्रादि देवताओं ने यज्ञ किया।" दोनों में अन्तर यह है कि पहले विद्वान् देव हैं, जो चेतन हैं। पर आपके कहे इन्द्रादि देव

सर्वव्यापकपुरुषस्य जलादिना प्रोक्षणाभिषेकयोरसम्भवात्।

अत्र उव्वटस्तु वसन्तग्रीष्मशरच्छब्दैः सत्त्वरजस्तमोगुणेति लाक्षणिकार्थग्रहणं कृतवान्, नेदं दूषणं मन्ये। यतो हि मे तोषायेदमेवालं यदयमत्र किञ्चिदूहया मार्गयते तत्त्वम्, रूढिपरिधेर्बहिर्भूत्वा तत्रासौ कल्पयते तदायं दूषणं मनुते। अहो पक्षपातपराकाष्ठैषा। ऋषिणा 'हविः'शब्देन 'हृदयान्तरिक्षे' इत्यर्थो यः कल्पितः, स एव साधु सङ्गच्छते।

ऋषिदयानन्दकृत एवार्थः सम्यक्। यज्ञस्य कर्त्तारस्तु विद्वांसः। यज्ञशब्देन अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं तथा शिल्पविद्यामपि कल्पयन्ति। शुल्वसूत्रादौ यज्ञद्वारा तद्विद्याशिक्षणसम्भवात्। जीवात्मनो ब्रह्मणः पृथक् सत्ताया वास्तविकत्वेनास्वीकाराद् यज्ञः पुनः कस्य विमोक्षायारभ्येत?

पृ० १२६१, पं० १०—यदाह—"कर्तारस्त्वत्र देवा विद्वांस एव। यद्येवं तर्हि त एव ग्रहीतारोऽपि स्युः, किमन्तर्मतेन पुरुषेण ग्रहीत्रा? ये यज्ञमतन्वत त एव हविर्गृह्णन्ति। यदि तु पुरुषेण दत्तेनेत्येवोच्यते तदापि प्रत्यक्षविरोधः। नहि

तो जड़ हैं, ईश्वर ही चेतन देव है, जो वास्तविक कर्तृकता चेतन में ही रहती है। हां, कुठार काटता है, इसमें चेतन हस्तगत कुठार यह अर्थ लिया जायेगा। कुठार स्वतन्त्ररूप से छेदनकार्य नहीं कर सकता। आप हवि से मूर्ति का प्रोक्षण आदि संस्कार लेना चाहते हैं, यह सब अशास्त्रीय व अयुक्त है। सर्वव्यापक पुरुष का जलादिप्रोक्षण या अभिषेक असम्भव है।

उव्वट ने यहां वसन्तादि से सत्त्वादि प्रकृतिगुणों को ग्रहण किया है। चलो, अच्छी बात है, बुद्धि या ऊहा से काम लिया गया है। रूढि की परिधि से बाहर आकर वे आत्मयज्ञ में योगियों द्वारा हवन करना मानते हैं। वे हवि से तमोगुण (शरद् हविः) लेते हैं। आपकी दृष्टि से तो यहां पर भी 'उपस्थितं परित्यज्य०' परिभाषा के माध्यम से हवि को प्रसिद्ध यही द्रव्य सामग्री ही लेना होगा। अतः ऋषि के द्वारा 'हृदय से अन्तरिक्ष में' यह अर्थ करना सर्वथा सङ्गत है। उव्वट के अनुरूप आध्यात्मिक पक्ष में यह यज्ञ जीवात्मा की सत्ता ब्रह्म से पृथक् अर्थात् द्वितीय सत्ता मानने में ही है, अन्यथा किसके मोक्ष के लिये यह यज्ञ होगा।

पृ० १२६१, पं० १०—"यज्ञ करनेवाले देव विद्वान् ही हैं, यदि ऐसा है, तो उन्हें ग्रहीता भी होना चाहिये। बीच में यह लेनेवाला पुरुष कहां से आयेगा? जो यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं, वे ही हवि को ग्रहण करते हैं। यदि यह सब हवि पुरुष

https://t.me/Dharmasansar

क्वचिदपि यजमानेभ्यः पुरुषो हविर्यच्छन्नुपलभ्यते ।"इत्यादिकं सर्वं बुद्ध्यसङ्गतम् । यतो हि नास्ति नियमो यद् दातार एव ग्रहीतारः स्युः ।

पुरुषेण परमात्मना दत्तं हविरिति प्रत्यक्षं कर्तुकामेन भवता चक्षुः-प्रत्यक्षत्वमेव नास्तिकवद् गृह्यते, नान्यत्प्रमाणमिति विस्मयः । इमे सांसारिकपदार्थाः प्रभुणा दत्ता जीवेभ्य इत्यपि विना चाक्षुषप्रत्यक्षं भवान् मंस्यते । यतो हि न गोमाध्यमेन लब्धा घृतादिपदार्थाः । परमात्मना दीयमानं न चक्षुर्भ्यां दृश्यत इति तथात्वे न प्रमाणं स्यात् । रूढिकीलकनिबद्धमतेस्ते न च यज्ञस्य धातुलभ्यव्यापकोऽर्थो ग्रहीतुं पार्यते ।

पृ० १२६२, पं० ९-१०—यदुक्तम् – "याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा' (नि० १।१९) इति निरुक्तवचनोपस्थानं तु धूलिप्रक्षेपेण मूर्खजनवञ्चनमेव । अत एव २० इति स्थाने १९ इति सङ्केतितम् ।" तत्तु प्रलापमात्रमेव । नहि टिप्पणीकारस्य लक्ष्यमेतत्सङ्केतदानस्य यन्मूर्खजनवञ्चनमेव भवेत्, न वाऽपि भवानत्र वञ्चितस्तथा । भवद्भिस्तु विद्वज्जनप्रतारणाय परश्शतागुद्धसङ्केतदानेन प्रयासोऽनुष्ठितोऽस्मिन् ग्रन्थे । यथा पृ० १२६६, पं० १५ (नि० १२।४१) स्थाने (११।

द्वारा प्रदत्त है, ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष विरोध है, क्योंकि कहीं भी देखने में नहीं आता कि घृतादि हवि यजमान के लिये पुरुष देता हो ।" यह आपका सारा कथन बालकसदृश प्रलाप है; क्योंकि बुद्धि से असङ्गत है । आप कोई नियम नहीं बता सकते कि जो वस्तु का दाता है वही ग्रहीता भी हो । हां, कर्मफल का ग्रहीता तो अवश्य दाता भी होगा और ईश्वर उस कर्मफल का दाता होगा ।

परमात्मा द्वारा हवि को प्रत्यक्ष देते हुए आपने नहीं देखा,तो क्या नास्तिकवत् आप केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानते हैं अन्य प्रमाणों को नहीं ? ये समस्त सांसारिक पदार्थ जीव के लिये प्रभु ने ही दिये हैं, पर आपको आंखों से दिखाई नहीं दिया, अतः आप प्रभुप्रदत्त तो मानेंगे नहीं । जो घी आदि गो के माध्यम से मिले हैं, उन्हें आप परम्परा से भी प्रभु-प्रदत्त नहीं मानेंगे । तब तो सवशास्त्र-विरोध ठहरता है । रूढ़ि के खूंटों से बद्ध बुद्धि धातुसंगत अर्थ शिल्प-विद्या कर्म को यज्ञ शब्द का अर्थ नहीं मान सकती, क्योंकि अग्नि में दी आहुति को ही यज्ञ-प्रक्रिया मानते हैं । फिर यज्ञ के अर्थ विष्णु प्रजापति, प्रजा आदि अर्थ भी आपको स्वीकृत नहीं होंगे । तब तो ब्राह्मणादि-लभ्यार्थ आपकी दृष्टि में अमान्य है ।

पृ० १२६२, पं० ९-१०—"टिप्पणीकर्त्ता ने 'याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा' (निरु० १।१९) इसका ग्रन्थ-सङ्केत वञ्चन के लिये गलत कर दिया है ।" तो क्या पूर्व दिखाये गये आपके अनेक ग्रन्थ-सङ्केत इसीलिये गलत कर दिये गये हैं? वस्तुतः हो सकता है । क्या इसीलिये आपने भी पृ० १२६६, पं० १५ पर निरुक्त

४१) लिखिता संख्या इत्यादि ।

१२६३ पृष्ठे, "स जातश्चतुर्मुखः स्वयम्" इत्याद्यर्थस्तु कपोलकल्पितः । अनल्पप्रज्ञावता महामनसा महर्षिणा त्वस्य यज्ञस्य (द्रव्यमयस्य) ब्रह्माण्डमयस्य वेत्युभयात्मकार्थोहनाद् अस्माकं प्रायोगिकपन्थाः प्रदर्शितः ।

पृ० १२६४, अनु० १—यदुक्तम्—"सप्तास्यासम्०' इति मन्त्रभाष्ये 'अस्य' इति पदेन ब्रह्माण्डस्येत्यर्थः कुतो गृहीतः" इति । अयमाक्षेपोऽकिञ्चित्करः । एतत्पूर्वमन्त्रे ब्रह्माण्डमयस्य वा यज्ञस्योक्तत्वात् । अथवा यथाप्रकरणं यथाबुद्धि बहवोऽर्था उत्प्रेक्षणीयाः । "तदक्षीणशक्तयो हि वेदशब्दा यथाप्रज्ञं पुरुषाणामर्थाभिधानेषु विपरिणममानाः सर्वतोमुखाननेकार्थान् ब्रुवन्ति" (नि० टी० १।२) । पुनश्चोक्तम् —"त एते वक्तुरभिप्रायवशादन्यान्यमर्थं द्योतयन्ते । महार्थाश्चैते दुष्परिज्ञानाश्च ... .तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् .....आधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः, नात्र विरोधोऽस्ति" (नि० टी० २।८) ।

पृ० १२६४, अनु० १—यदुच्यते—"अहो धाष्टर्यं दयानन्दस्य यदयं सर्वथा

के १२ वें अध्याय के सङ्केत को ११ वां कर दिया है ? आपके तो ग्रन्थ में ग्रन्थ-सङ्केतों की भ्रष्टता की भरमार है ।

पृ० १२६३, पं० १—"वह चतुर्मुख स्वयं हो गया ।" हिन्दीकार चतुर्भुज लिख रहा है । दोनों के मुख और भुजाओं की गणना की विषमता उपहासास्पद है । अनल्पप्रज्ञावान् महामना महर्षि दयानन्द ने तो इस यज्ञ तथा ब्रह्माण्डमय यज्ञ दोनों की ऊहा करके हमें प्रयोगात्मक मार्ग दिखाया है ।

पृ० १२६४, अनु० १—"सप्तास्य आसन्०' इस मन्त्र के भाष्य में 'अस्य' इस पद से 'ब्रह्माण्ड को' यह अर्थ स्वामीजी ने कहां से ले लिया ?" यह आक्षेप तुच्छ है; क्योंकि इस से पूर्व मन्त्र में ब्रह्माण्डमय यज्ञ की बात कही गई है, अथवा यथाप्रकरण और यथाबुद्धि बहुत से अर्थों की कल्पना कर लेनी चाहिये । जैसा कि निरुक्त-व्याख्या में कहा है कि "वेद के शब्दों की शक्तियां तो कभी क्षीण नहीं होतीं । पुरुषों की प्रज्ञानुसार अर्थ कहने में परिणत होती हैं और सर्वतोमुख होकर अनेक अर्थ बनाती हैं" (निरुक्त टी० १।२) । आगे भी कहा है—"वे मन्त्र वक्ता के अभिप्रायवश अन्यान्य अर्थ को भी देते हैं । इन मन्त्रों के अर्थ में इयत्ता (सीमा) का निर्धारण नहीं किया जा सकता । ये महान् अर्थ साधारण व्यक्ति का दुष्परिज्ञान है । इसलिये इन मन्त्रों में जितने अर्थ आधिदैव, अध्यात्म और अधियज्ञ के आश्रय में उपपन्न हो सकें, उनका योजन करना चाहिये, इसमें कोई अपराध नहीं" (नि० २।८) ।

पृ० १२६४, अनु० १—"दयानन्द किस तरह से मन्त्रों का मनमाना अर्थ

https://t.me/Dharmasastra

स्वैरं व्याख्याति" एतदुत्तरे किं वदाम ?

महानुभाव ! भवतस्त्वेषा पुराणपरम्परा प्राप्ता गालीप्रदानप्रशस्तिर्भवत एव शोभताम् । अत्र सुघटितनिर्मलोक्तिसमुद्धरणलोभं संवरीतुं न शक्नोमि; सैषा—

धिक् तं मन्त्रं 'गणानाम्' इति कृतविविधाश्लीलगह्यर्थिगर्भम्,
मान्यं माहीधरं यो घृणितमपि च नो दूषितं मन्यते हा ।
भूयोविद्यं प्रशस्तं ह्यनुगतधिषणं स्वैरवृत्तिं ब्रुवाणः,
धृष्टो धार्ष्ट्यं स्वकीयं वितरति सुतरां स्वैरवृत्त्या कदर्यः ।।

'सप्तास्यासन्' इति मन्त्रस्य बहुप्रज्ञेन ऋषिणा यजुषि मानसयज्ञपरा, अत्र च ब्रह्माण्डगतलोकपरा कृता व्याख्या । ब्रह्माण्डान्तर्गतलोकस्य परिधयः समुद्रादयः । न च सप्तसमुद्राः परिकल्पिताः परिधित्वेनात्र विनिवेश्यास्तेषामयथार्थत्वात् ।

यदुक्तम्—"न हि समुद्रपरिधिर्भवितुमर्हति तद्ब्रह्माण्डान्तर्गतत्वात्" तदपि

करते हैं, उसकी धृष्टता देखने योग्य है" इसके उत्तर में हम कहना चाहते हैं कि—

महानुभाव ! आप तो गाली दे रहे हैं, यह कोई नई बात नहीं है । आपके पूर्वजों की पुराणों की परम्परा से प्राप्त गाली देने की प्रशस्ति आपके लिये शोभावर्धिका है । इस अवसर पर सुघटित निर्मलोक्ति के उद्धरण के लोभ को हम नहीं रोक सकते । वह निर्मलोक्ति निम्न है—

प्रथम तो आपके 'गणानाम्' इस मन्त्र को धिक्कार है, जिसमें आपने विविध अश्लील अर्थ भर दिये । जो यह परिजातकर्ता अपने महीधर को घृणित होते हुए भी मान्य मानता है, दूषित नहीं मानता, परन्तु स्वामीजी को स्वैरवृत्ति कहता हुआ धृष्ट स्वैरवृत्ति के द्वारा निरन्तर अपनी धृष्टता का विस्तार कर रहा है ।

'सप्तास्यासन्' इस मन्त्र की यजुः में ऋषि ने मानसयज्ञपरक व्याख्या की है, तथा यहां पर ब्रह्माण्डगत लोकपरक भी की है । ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत लोकों की परिधियां समुद्रादि बताई हैं । यहां पर कुछ लोगों ने क्षीरसमुद्र आदि ७ की परिकल्पना की है, वह ठीक नहीं ।

यह कहना कि "समुद्र ब्रह्माण्ड की परिधि नहीं माना जाता, क्योंकि समुद्र तो स्वयं ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत है" विचारशून्य है, क्योंकि वे लोक जो ब्रह्माण्ड के

विचाररहितम् । तदन्तर्गतत्वे क्रमिकोपरितनभागस्य परिधित्वम् अव्याहतम् ।

पृ० १२६४, पं० १०—यदुक्तम्—"सप्तावरणानि तु ब्रह्माण्डस्योपर्येव सम्भवन्ति, न सर्वलोकानाम्" इति तु चिन्तनमनाधारमेव । प्रत्येकलोकस्याऽपि सम्भवन्ति । यथा हि पृथिवीलोकस्य वैज्ञानिकगवेषणयाऽपि समर्थ्यन्ते आवरणानि । यथा धरातलोपरिदशमीलपर्यन्तं 'टोनी स्फीयर' तदुपरि विंशतिमीलपर्यन्तं 'स्ट्रैटो स्फीयर' नामकं सर्वोपरि च 'आयनो स्फीयर' नामकमावरणं विद्यते । इदं खलु तृतीयमावरणं सूर्यस्य विस्फोटजनितहाइड्रोजनकारणानां पृथिवीं प्रत्यागमनं वारयति । वस्तुतो वेदे वर्णनं वर्तते सप्तपरिधीनां वैज्ञानिकरहस्यमयम् । अदम्यदम्भिनायक ! ध्यातव्यं यद् ऋषिदयानन्दः तस्मिन् काले ह्यवेदयत् तानि सृष्टितत्त्वानि, यानि 'आइंस्टीन' प्रभृतयः पश्चादाविरकार्षुः ।

पृ० १२६६, पं० २०—'देवा विद्वांसः' इति विशदीकृत्य पूर्वखण्डे व्याख्यातम् । यज्ञशब्दस्य आत्मयागो मानसयागो वाप्यर्थः । सर्ववेदानां केवलद्रव्यमययज्ञपरकव्याख्यानं तु वेदगौरवहानिरेव, या खल्विहान्यभाष्यकृद्भिः कृता । रूढिग्रस्तमूढधीभिरन्योपास्यदेव-कल्पना व्यधायि; अतः वैदिकपदानां यौगिकत्वात् साध्याः

अन्तर्गत हैं, उनमें प्रत्येक लोक का उपरितन भाग परिधि कहलाता है, अतः परिधित्व तो अव्याहत रहेगा ।

पृ० १२६४, पं० १०—यह कथन भी निराधार व अविचारित है कि "सात आवरण ब्रह्माण्ड के ऊपर ही माने जायेंगे, सभी लोकों के ऊपर नहीं ।" यह आपकी मनगढ़न्त बात अप्रामाणिक होने से अमान्य है । ये आवरण प्रत्येक लोक के सम्भव हैं, जैसे पृथिवीलोक के भी । ये आवरण वैज्ञानिक गवेषणा से पुष्ट हैं । जैसे धरातल के ऊपर १० मील पर्यन्त 'टोनी स्फीयर' नामक आवरण, उसके ऊपर २० मील पर्यन्त 'स्ट्रैटो स्फीयर' नामक आवरण और सबके ऊपर 'आयनो स्फीयर' नाम का आवरण है । यह तृतीय आवरण सूर्य के विस्फोटजन्य हाइड्रोजन के कारणों को पृथिवी के प्रति आने से रोकता है । वास्तव में वेद में वर्णित परिधियों का वैज्ञानिक रहस्य है । हे दम्भिनायक ! इस बात को भी ध्यान में रखिये कि ऋषि दयानन्द ने जिन तत्त्वों की व्याख्या उस समय वेदभाष्य में की थी, उन तत्त्वों को आइंस्टीन आदि वैज्ञानिकों ने आविष्कृत भी नहीं किया था ।

पृ० १२६६, पं० २०—यह कहना कि 'देव' शब्द से विद्वान् न लिये जायेंगे तथा यज्ञ से केवल अग्निष्टोमादि का ग्रहण होगा, कूपमण्डूकता है । पूर्वखण्ड में देव शब्द पर पर्याप्त व्याख्यान किया गया है । यज्ञ शब्द से आत्मयाग व मानसयाग का अर्थ लेने से वेद का गौरव बढ़ता है । यज्ञ को केवल द्रव्यत्यागयज्ञ तक सीमित कर देना मन्दधी व्यक्ति का विचार है, जैसा कि अन्य भाष्यकारों ने किया है ।

https://t.me/Dharmasastra

साधनवन्तः 'साध्या देवाः साधनात्' (नि० १२।४०) ते मुक्तिं साधयन्ति। अत एव मुक्तिसाधनवन्तः, इत्येवार्थो गरीयान्। योगरूढित्वं प्रयोगानन्तरमृषिभिर्ज्ञातम्। 'यत्र' मोक्षाख्यपरमे पदे सुखिनो भवन्ति, ते निर्धारितकालं यावदच्युताः सन्त आनन्दमनुभवन्त्येवेति सम्यगर्थः।

पृ० १२६७, पं० १४—यदुक्तम्—"एवमग्निना जीवेनान्तःकरणेन वाग्नि परमेश्वरमित्यपि स्वैरचारितैव, निर्मूलत्वात्" इति, तदविचार्य शास्त्रं प्रलपितमिव। यतो हि 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निम्', 'तदेवाग्निस्तदादित्यः', 'अग्निर्होता कविक्रतुः' (ऋ० १।१।५), 'ब्रह्म अग्निः' (शत० १।५), 'आत्मा अग्निः' (शत० ७।२) इत्यादिषु विभिन्नस्थलेषु अग्निशब्देन परमेश्वरो गृह्यते। अग्रणीः परमात्मा, उपासनाप्रकरणे जीवो वापि। एवमग्निरग्रणीभूतेन सर्वकार्येष्वन्तःकरणेन परमात्मा उपास्य इत्यर्थः। एवं निरुक्तोद्धरणं सर्वथा सङ्गच्छते। सर्वोपकारकमग्निहोत्रादिकं भवत्येवेत्यसन्दिग्धम्, खण्डितमिव कथयन् मनोमोदकैः क्षुधाशमनाय यतते। इदं ह्यर्थनिर्वचनं न विशृङ्खलम्। भवादृशा एव निरुक्तार्थं निर्वचनं वा स्वैरिताप्रेरितं प्रतियादयन्ति।

'द्युस्थानः प्रकाशमयः परमेश्वरः स्थानं स्थित्यर्थं यस्य सः' इति न विशृ-

---

पुराणरूढधी ने ईश्वर के स्थान पर अन्योपास्य देवों की कल्पना कर डाली। इस लिये ये यौगिक पद मानने से साध्य का अर्थ साधनवान् अर्थात् 'मुक्ति के साधनों से युक्त' यह अर्थ गरीयान् है। शब्दों की वेद में योगरूढ़िता ऋषियों द्वारा लोक में प्रयुक्त होने पर हुई। जीव अर्थात् मोक्षनामक परमपद में सुखी होते या निर्धारित काल तक अच्युत रहकर आनन्द की अनुभूति करते हैं।

पृ० १२६७, पं० १४—"इसी तरह 'अग्निना' इत्यादि निरुक्तवाक्य का 'अन्तःकरण में परमात्मा की उपासना की' अर्थ भी मनमाना किया है" ऐसा आपका कथन अविचारित है। क्योंकि अध्यात्मपक्ष में 'इन्द्रं मित्रं', 'तदेवाग्निः', 'अग्निर्होता', 'ब्रह्म अग्निः', 'आत्मा अग्निः' आदि स्थलों में अग्नि शब्द से 'परमेश्वर' अर्थ गृहीत होता है। अग्रणी परमात्मा है और उपासनाप्रकरण में इसी प्रकार जीव भी अग्नि है। सब कार्यों में अग्रणीभूत अन्तःकरण के द्वारा उपास्य परमात्मा ही है। इस प्रकार उक्त अर्थ में निरुक्तोद्धरण सर्वथा सङ्गत है। लोक में सर्वोपकारक अग्निहोत्रादिक होता ही है, यह तो असन्दिग्ध है। आपका यह कथन कि 'वह इससे खण्डित हो जाता है' मनोमोदक से क्षुधाशमन करने का निष्फल प्रयास है। ऋषि का निर्वचन व अर्थ बिल्कुल सङ्गत है। आपसदृश लोग ही निरुक्त के अर्थ व निर्वचन को मनमाना कर डालते है।

इसी प्रकार 'द्युस्थान' का प्रकाशमय परमेश्वर ही जिनके लिये स्थिति है,

ङ्गलम्, देवपदस्य चेतनस्य विदुषोऽपि वाचकत्वात्, परमेश्वरः 'स्थानम्' यस्येत्यर्थस्याऽपि सङ्गतार्थत्वात्।

प्रतिभाप्रदीप्तेनोर्वरमतिना स्वामिना नूतनोऽपि अध्यात्मपक्षीयोऽर्थ उद्भावित इति वैशिष्ट्यम्।

अतः १२६८ पृष्ठे तृतीयचतुर्थपङ्क्त्योरुद्धरणं दुर्गटीकाया न तु निरुक्तात्। (नि० १०।२१) इति सङ्केतो मलिमतामपि भ्रमाय स्याद् इति प्रवञ्चनैवास्य।

पृ० १२६९, पं० १—"यज्ञं यजनीयदेवतारूपं परमपुरुषम्" इत्यस्य "उक्त प्रकार के मानसयज्ञ के द्वारा यजनीय देवतारूप भगवान् ने यज्ञरूप परमपुरुष का यजन किया।" इत्येष हिन्द्यनुवादस्तु बुद्धिबाह्यः।

पृ० १२६९, पं० १४—"दीव्यन्ति क्रीडन्ति भगवत इति देवाः ···· ते भगवदनुभवं कुर्वन्ति" इति वचनमेव भवतः, 'द्युः परमेश्वरः स्थानं स्थित्यर्थं यस्य सः' इत्युक्तमृषिवचनं पुष्णाति, यतो हि चेतना विद्वांसो देवा एव भगवदनुभवं कर्तुं शक्नुवन्ति, नाऽचेतनाः। अत्र 'क्रीडन्ति भगवत' इत्यत्र का विभक्तिः?

पृ० १२७२, पं० ३—यदुक्तम्—"न पूर्वस्मिन् मन्त्रे पुरुषः प्रकृत इति तेन

यह अर्थ सङ्गत है।

प्रतिभा से प्रदीप्त मतिमान् स्वामीजी ने नया अध्यात्मपक्षपोषक अर्थ उद्भावित किया है, यह उनका वैशिष्ट्य है। अतः १२६८ पृष्ठ की ३,४ पंक्तियों में दुर्ग-टीका का उद्धरण दिया है। निरुक्त मूल उद्धृत न करना बुद्धिमानों को भी भ्रान्त करने के लिये प्रवञ्चना ही है। क्योंकि वहां आप 'जांगल पशु की आहुति से' यह हिन्दीटीका प्रस्तुत कर रहे हैं। तथा रूढि से आरण्यक पशु की आहुति आपको इष्ट होगी।

पृ० १२६९, पं १—आपके हिन्दीकार की बुद्धि भी संग्रहालय में रखने योग्य है, जो लिखता है—"उक्त प्रकार के मानसयज्ञ के द्वारा यजनीय देवतारूप भगवान् ने यज्ञरूप परम पुरुष का यजन किया।"

पृ० १२६९, पं० १४ में "दीव्यन्ति क्रीडन्ति भगवत इति देवाः" भगवान् का अनुभव करते हैं, यह आपका कथन 'परमेश्वर जिसका स्थान है' इस ऋषिवचन की पुष्टि कर रहा है। क्योंकि चेतन विद्वान् देव ही भगवान् का अनुभव करते हैं, अचेतन नहीं। पर 'क्रीडन्ति भगवत' यहां पर भगवत् शब्द में कौनसी विभक्ति है।

पृ० १२७२, पं० ३—पू० प०—"इससे पूर्व मन्त्र में पुरुष का कोई उल्लेख

https://t.me/DharmaSanna

पुरुषेणेत्यस्य कथं परामर्शः ? न चात्र पृथिवीरचनोक्ता, मूले सृजे रचेर्वाऽदर्शनात् ।" इति अविचारितोक्तिः, 'अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै' इत्यस्य खण्डान्वये केन सम्भृतः ? इति प्रश्नस्योत्तरं स्वत एव आयाति यत् तेन पुरुषेण परमेश्वरेणेति । यथा 'यूपाय दारु' इत्यत्र प्रकृतिविकृतिभावे यूपनिर्माणाय दारु इत्यर्थो गम्यते, तथैव 'पृथिव्यै' इत्यत्र तादर्थ्ये चतुर्थ्याः सत्त्वाद् अद्भ्यः सम्भृतो रसः, पृथिवीरचनायै इत्यर्थो भोत्स्यत एव ।

यच्चाह—"नाद्भ्यः सम्भृताद् रसादुत्पत्तिस्तत्र मानाभावात् । एवमग्नेराप इत्यग्नेरप उत्पत्तिः श्रुता, नाग्निरसात् । अग्न्याकाशादीनां नामाप्यत्र न श्रूयते ।" इति सर्वमनध्यायफलम् । रसशब्दस्यार्थस्तत्त्वसारावुत्तमांशार्थग्रहणात् । आप्टेकोशेऽपि एषोऽर्थः रसशब्दस्य । अपरं च महीधरस्ते—'भूतपञ्चकादयो रसः सम्भृतः' इत्याह । अग्न्यादीनामुपलक्षकन्तु पृथिव्यपां ग्रहणम् । रसाच्चेति चकारेणापि वा

नहीं तब यहां पर पुरुष का परामर्श कैसे हुआ ? न यहां पृथिवी की रचना का उल्लेख है । मन्त्र में सृज् या रच् धातु भी नहीं है । फिर स्वामीजी का अर्थ ठीक नहीं ।"

समा०—आपमें यह कमी है कि आप ऋषि के कथन पर कुछ भी विचार नहीं करते और न स्वल्प बुद्धि का प्रयोग कर पाते हैं । अब समझिये, मन्त्र में है 'अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै' अर्थात् जलों से पृथिवी के लिये रस इकट्ठा किया । यहां सहज प्रश्न है—किसने ? तो उत्तर होगा प्रकरण में—पुरुष ने । इसी प्रकार 'यूपाय दारु' यहां पर चतुर्थी प्रकृति से विकृति के लिये है । उसी प्रकार पूर्व कारण उपादान की विकृति अर्थात् 'पृथिव्यै' में चतुर्थी उक्तार्थ में है, तो स्वतः अर्थ होगा कि पृथिवी की रचना के लिये । यहां भी तादर्थ्य में चतुर्थी है ।

यह कहना कि "जल के सारांश रस को ग्रहण करके पृथिवी की उत्पत्ति में कोई प्रमाण नहीं है । इसी प्रकार अग्नि से जल की उत्पत्ति कही गई है, अग्नि के रस से नहीं । अग्नि, आकाश आदि का यहां नाम भी नहीं सुनाई पड़ता ।" यह सब अनध्याय का फल है । इसी प्रकार (आगे भी) आपके द्वारा शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन न करने का फल है । 'रस' शब्द यहां पर तत्त्व व सार का वाचक है । आप्टे-कोश में भी 'रस' का यही अर्थ है और आपके गुरु महीधर भी 'भूतपञ्चक से जो रस इकट्ठा किया' यह लिख रहे हैं । उन पर कभी आपको यह आक्षेप प्रस्फुटित नहीं हुआ । आप कहते हैं "यहां अग्नि और आकाश आदि का नाम भी नहीं है" इस विषय में समझिये कि पृथिवी और जल यहां पञ्चभूतों के उपलक्षक हैं । आपने अपने गुरु महीधर का भाष्य भी देखा होता तो

ग्रहणम् । इह निर्मलोक्तिः सङ्गता—

भूमिकायां प्रहाराय शपथोऽनेन वै कृतः ।
वाक्प्रयोगं करिष्यामि बुद्धियुक्तो भवेन्न वा ॥

पृ० १२७२, पं० ९—यदुक्तम्—"ब्रह्मोपादानकत्वेन प्रपञ्चस्य ब्रह्माभिन्नत्वापत्त्याऽद्वैतमतप्रवेशस्तवापसिद्धान्तः ।" इति, तदनुशीलनफलम् । प्रकर्षेण क्रियते सर्वं जगदनया सेति प्रकृतिः, तच्छब्दस्य विकृतिसापेक्षत्वे तदसंज्ञात्वे सामर्थ्याभिधानत्वात् । न च ब्रह्म स्वयम्भूरेतज्जगद्रूपे परिणमते; प्रत्युत एवंविधे स्थले सर्वत्र ब्रह्मणो मूलोत्पादनत्वे भेद एव स्पष्टं प्रतिपाद्यते । तत्र एकं ब्रह्म प्रेरपितृ उपादानं च प्रेर्यम्, एकं प्रकाशकमपरं च प्रकाश्यम्, एकं चेतनमितरच्च जडम्, एकं चान्तर्यामित्वेन नियन्तृ अन्यच्च नियम्यम् । एतत् समग्रमभिध्याय मनुरप्याह—

इसका समाधान हो जाता । यहां पर निर्मलोक्ति घटित है—

आपने तो कसम खाली है कि ऊटपटाङ्ग ही सही, भूमिका पर आक्षेप करते रहेंगे । चाहें बुद्धिसङ्गत हो या नहीं ।

पृ० १२७२, पं० ९—प्र०—"प्रकृतिवादी प्रकृति को उपादान मानते हैं, उसी तरह से प्रकृत स्थल में भी परमेश्वर की सामर्थ्य से सबकी उत्पत्ति मानने पर और सामर्थ्य को परमेश्वर का स्वरूप मानने पर ब्रह्म ही सबका उपादानकारण होगा । इस स्थिति में प्रपञ्च ब्रह्म से अभिन्न ही रहेगा और इसको यदि आप स्वीकार करेंगे तो आपका अद्वैत मत में अगत्या प्रवेश हो जायेगा, जिसको कि आप सही नहीं मानते ।"

उ०—यह लेख भी आपके शास्त्र का अनुशीलन न करने से है । प्रकर्ष से जिसके द्वारा बनाया जाता है, उसका नाम प्रकृति है, किन्तु यह शब्द विकृति की अपेक्षा से अभिधान पाता है । उस समय उस संज्ञा के न होने पर सामर्थ्य शब्द का प्रयोग किया गया है । यह सामर्थ्य प्रकृति का वाचक है । पर सृष्टि और प्रलय के साथ परमेश्वर का सम्बन्ध होने से उसे सामर्थ्य कहते हैं । यह ब्रह्मस्वरूप नहीं है, और न ब्रह्म ही जगद्रूप में परिणत होता है, प्रत्युत ऐसे स्थलों पर सर्वत्र ब्रह्म अर्थात् मूल प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति में भेद का ही प्रतिपादन किया जाता है । वहां पर एक ब्रह्म प्रेरक और उपादान (प्रकृति) प्रेर्य है । एक ब्रह्म प्रकाशक है और दूसरा प्रकाश्य है । एक चेतन और दूसरा जड़ है, एक ब्रह्म अन्तर्यामी होने से नियन्ता है जबकि अपर (उपादान) नियम्य है । यह समग्र ध्यान करके महाराज मनु ने भी कहा है—

https://t.me/DharmaSamrat

ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूताद्यवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥१।६॥

प्रक्षिप्तमपि—

यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट् ।
तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः ॥१।१७॥

यद्येवमुच्यते यत् 'तस्माद्वैतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० ब्रह्मानन्दवल्ली, अनु० १४) इत्यादिकाभ्यैरात्मा परमेश्वर एव निर्दिश्यते न तु प्रकृतिः, तन्न युज्यते ।

'प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याध्यासद्धिः" (सां० २।५) प्रकृतेरुपादानत्वे परमेश्वरस्य निमित्तकारणत्वं सिद्ध्यति । अध्यासो नाम प्रकृतेरधिष्ठातृत्वम् ।

यद्येवमुच्येत यदतीन्द्रियो मुक्त ईश्वरो जगद्रचनादिरागकार्ये प्रवृत्तः सन्

तब (स्वयम्भू) स्वकार्य करने में स्वयं समर्थ, किसी अन्य की सहायता की अपेक्षा न करनेवाला, (अव्यक्त) स्थूलरूप में प्रकट न होनेवाला, (तमोनुदः) प्रकृति को प्रकट अवस्था की ओर प्रेरित करनेवाला, महाभूतादि को भी (उद्वहाऽऽत्मनश्चैव यतः सदसदात्मकम्) उत्पन्न करनेवाला भगवान् इस सारे संसार को व्यक्त अवस्था में लाते हुए प्रकट हुआ ।

'तस्माद् वा०' इस प्रकरण के आधार पर यह कथन कि परमेश्वर ही उपादान है, भ्रान्ति है, क्योंकि यहां 'तस्मात्' से परमात्मा और 'एतस्मात्' से प्रकृति का ग्रहण है ।

सांख्य (२।५) के सूत्र के अनुसार प्रकृति के होने पर ही पुरुष अर्थात् ईश्वर अध्यास अर्थात् अधिष्ठान होने पर उपादान की ही सिद्धि होती है । प्रकृति के सम्बन्ध से ईश्वर में तो उपादानकारण प्रतीत होता है; वह अधिष्ठानरूप से है । तात्पर्य यह है कि ईश्वर की शरीरभूत प्रकृति उपादानकारण है । उक्त उपनिषत्-प्रमाण से कोई लोग ईश्वर से आकाशादि की उत्पत्ति कहने लगते हैं, वह ठीक नहीं है । महाराज मनु ने परमात्मा का शरीर प्रकृति के सूक्ष्मावयवों को बताया है (किन्हीं के मत में यह प्रक्षिप्त है), क्योंकि प्रकृतिरूपी मूर्ति के ६ सूक्ष्म अवयव और उनकी कार्यभूत इन्द्रियां और पञ्चमहाभूत, ये उस परमात्मा के आश्रित रहते हैं । कारण, मनीषी जन उस परमात्मा की प्रकृतिरूपी मूर्ति को उसका शरीर कहते हैं ।

यदि यह कहा जाये कि अतीन्द्रिय मुक्त ईश्वर जगद्रचना के रागकार्य में

कथमधिष्ठाता भवितुं शक्यते, तन्न । "तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्" (सां० १।९६) मुक्तस्वभावो रागादिरहित ईश्वरश्चुम्बकवत् सामीप्येन व्यापकतया अधिष्ठातास्ति । तथा च महादेववेदान्तवृत्तौ—

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्तते ।
सत्तामात्रेण देवेन तथैवेयं जगज्जनिः ॥१॥
अत आत्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम् ।
निरिच्छित्वादकर्त्ताऽसौ, कर्त्ता सन्निधिमात्रतः ॥२॥

इत्यादियुक्तिभिः प्रमाणैश्च तदैवापसिद्धान्तापत्तिः, न तु ऋषिदयानन्दस्य, सर्वत्र त्रित्वप्रतिपोषणाद् विरुद्धसिद्धान्तानवलम्बनाच्च ।

पृ० १२७२, पं० १०—यदाह—"विश्वकर्मणः परमेश्वरसामर्थ्यस्य मध्येऽन्ते वा जगद् वर्तत इत्यपि प्रमाणसापेक्षम् । सामर्थ्यमपि ब्रह्मणो मध्येऽन्ते वा वर्तत इत्यपि वक्तव्यम्" इति, तन्मत्तप्रलपितमिव, तथापि वच्मि । परं ज्ञानं हि गुणः, जिज्ञासुमानसपात्र एवोचितं निधातुम्, न तु करपात्रे । नह्यत्र मध्यशब्दः केन्द्रवाची, प्रत्युत सामर्थ्ये तदन्तरे इति यथापूर्ववत्त्वात् ।

प्रवृत्त होकर अधिष्ठाता क्योंकर हो सकेगा ? तो ठीक नहीं, क्योंकि मुक्तस्वभाव रागादिरहित ईश्वर के सान्निध्यमात्र से जगद् रचने के लिये प्रकृति में चेष्टा होती है, जैसे अयस्कान्त मणि की समीपता से लोहे में चेष्टा होती है (सां० १।९६) । ऐसा अन्यत्र महादेववेदान्ती-कृत वृत्ति में भी कहा है । यथा—

इच्छारहित रत्न (चुम्बक) के प्रति लोहा (अचेतन) आकृष्ट होता है, उसी प्रकार प्रकृति में भी परमेश्वर के सामीप्य से गति होती है । इसलिये आत्मा (परमात्मा) में कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों ही घटित हो जाते हैं । निरिच्छ होने से अकर्ता और सन्निधिमात्र से गति देने से कर्ता है—इत्यादि युक्ति और प्रमाणों से अपसिद्धान्तापत्ति आपके पक्ष में उपस्थित होगी, ऋषि दयानन्द को नहीं, क्योंकि ईश्वर का निमित्तत्व और प्रकृति का उपादानत्व शास्त्रसिद्ध है ।

पृ० १२७२, पं० १०—"विश्वनिर्माता उस ईश्वर के सामर्थ्य के मध्य अथवा अन्त में इस जगत् की स्थिति है, इसमें भी प्रमाण देना पड़ेगा । सामर्थ्य भी ब्रह्म के मध्य या अन्त में रहती है, इसको भी बताना पड़ेगा ।" यह कथन उन्मत्त-प्रलाप जैसा है, फिर भी हम तो आपको अवश्य बतायेंगे । परन्तु जिज्ञासा से पूर्ण मानसपात्र में यह ज्ञान रखना ठीक होता है, करपात्र में नहीं; क्योंकि यह मनसा ग्राह्य है, गुण होने से करग्राह्य नहीं है । यहां 'सामर्थ्यमध्ये' में मध्य शब्द आधाराथक अर्थात् भीतरवाचक है ।

https://t.me/Dharmasansar

यदा हि प्रसुप्तां प्रकृतिमुपादानकारणं सामर्थ्याख्यं सर्गोन्मुखं विदधाति क्रियादानेन, तदा सूक्ष्मातिसूक्ष्मकणाश्चञ्चला जायन्ते। स त्वष्टा रचयिता पुनस्तदन्तरमिदं विश्वं रूपगुणवत् करोति। तदा मरणधर्मकस्य मनुष्यस्यापि दिव्यकर्मकरणक्षमं शरीरमुत्पद्यते।

'तन्मर्त्यस्य रूपमेति, तदग्रे मर्त्यस्य देवत्वम् आजानम्' इत्यन्वयं विधाय, मर्त्यस्य रूपवत्त्वं शरीररचनं स एव विदधत् करोति, कृतवान्, करिष्यतीति वा, स एव च मर्त्यस्य सृष्टचादौ (अग्रे) देवम् आजानाति, इत्येव समस्तं विस्पष्टमेव। तत्प्रतिभावतां च न बुद्ध्यगोचरमिति नैष स्थाणोरपराधो यदसौ प्रतिहन्यते।

दयानन्दीयभाष्यं बुद्धिपूर्वं कृतमुप समीपे गत्वा ईक्षणीयम्, मननं कृत्वा नित्यमभ्यसनीयं वेदतत्त्वार्थमनुसन्धित्सुभिः। वेदगौरवनाशकारणमहीधरादीनां त्याज्यम् एवेत्युपेक्षणीयशब्दार्थो योज्य इह। प्रयोगश्चार्थेऽस्मिन् निरुक्ते। वस्तुतस्तु इति लिखित्वा उव्वटमहीधरभाष्यमुद्धृतं न स्वप्रज्ञयोहितं किमपि।

जब प्रसुप्त प्रकृति उपादानकारण, जिसकी संज्ञा उस समय सामर्थ्य है, उसे क्रियादान के द्वारा सर्गोन्मुख करता है, तब सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण चल हो जाते हैं। वह रचयिता इस प्रकृति को विकृति में लाकर विश्व के रूप में गुणयुक्त करता है, तब मरणधर्मा मनुष्य का भी दिव्य कर्म करने में सक्षम शरीर उत्पन्न होता है।

'वह मर्त्य के रूप को प्राप्त होता है, उसके आगे मर्त्य को कर्मों द्वारा देवत्व प्राप्त होता है' ऐसा अन्वय करके मनुष्य के रूपवाले शरीर की रचना करता है। वही मर्त्य को देवत्व का उपदेश देता है। यह पूर्णतया स्पष्ट है। अतः 'आजानम्' का यह अर्थ नहीं हो सकता, यह कथन निराधार है। ऋषि का कथन प्रतिभाशाली बुद्धियों में सर्वथा स्पष्ट हो जाता है, यह ठूंठ या खम्भे का अपराध तो है नहीं, जो उसी में टकराता रहे।

यह कथन ठीक कहते हैं कि दयानन्दीय भाष्य का उपेक्षण करना चाहिये। परलोकारोपित अर्थ में इस उपेक्षा को न मानकर यौगिक आर्ष अर्थ कर उपेक्षा अवश्य कीजिये। अर्थात् उप समीपे ईक्षण (मनन, आलोचन) कीजिये। इसी अर्थ के ग्रहण में प्रमाण है—"एवमुच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति, न उपेक्षितव्याः" अर्थात् इस प्रकार से निपात अनेक अर्थों में गिरते हैं, प्रयुक्त होते हैं। उनका भली प्रकार विचार करना चाहिये। अनुसन्धान के इच्छुकों को ऋषि का भाष्य अभ्यसनीय है और वेदगौरवनाशक महीधरादि का भाष्य उपेक्षणीय व त्याज्य है। वास्तव में उव्वट महीधर के नकलची ने अपनी बुद्धि से नवीन कुछ भी विचार नहीं किया है।

पृ० १२७५, अनु० १—"किञ्च" इत्यादि बालबुद्धिजल्पितमिव। मोक्षविषयः पूर्वमेव व्याख्यातः।

अग्रे भवता सनातनिसम्मतव्याख्यानं (१२७६ पृष्ठे, ३-४ पङ्क्त्योः) प्रस्तुतम्। "प्रत्यगात्मतत्त्वेन साक्षात्कृत्य अधिकृतः साधको मृत्युमेति" इति विजयां सेवित्वा लिखितम्। महात्मन्! एवंविधः साधकस्तु मृत्युं नैति परमात्मानमेति, इत्येवार्थो गरीयान्, परं नैतदपि तव मते सम्भवति।

पृ० १२७६, पं० १२—यदुक्तम्—"तत्सामर्थ्यादिदं सकलं जगद् भवतीमेंऽशाः स्वाभ्यूहिता मन्त्राक्षराऽसस्पृष्टा एव।" सत्यम्, स्वाभ्यूहितोऽयमर्थः। अस्मिन् मन्त्रे प्रजायाः जीवस्य स्वामी जडस्य जगतो यत् तत् सामर्थ्यादेवोत्पन्नं तस्य पतिः स्वामी अस्ति।

भवानिह आक्षिपति 'अन्तर्' 'गर्भे' इत्यनयोरेकार्थत्वादन्यतरस्य वा पाठः स्यात्, एकस्य वैयर्थ्यम्, तदज्ञानम्, उभयोर्भिन्नार्थद्योतकत्वे सार्थक्यात्। प्रजा हि

पृ० १२७५, अनु० १—"आपका मोक्ष क्षयिष्णु है" इत्यादि कथन बालबुद्धिवत् है। यदि सदा के ही लिये प्राप्त मोक्ष को कोई कहे कि 'आजीवन काला पानी है' तो यह कोई मोक्ष की व्याख्या तो नहीं कही जा सकती।

पृ० १२७६, पं० ३-४ 'साधको मृत्युमेति' अर्थात् 'प्रत्यगात्मतत्त्व के रूप में साक्षात्कार कर साधक मृत्यु को प्राप्त करता है' यह विजया की तरङ्ग में लिखा गया है। यहां 'साधको न मृत्युमेति' लिखना चाहिये था, क्योंकि साधक मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। फिर भी नवीन वेदान्त में सब कुछ ब्रह्म होने से साध्य-साधक भाव बन नहीं सकता। यह तो परमात्मा और जीवात्मा दोनों के होने पर ही बनेगा।

पृ० १२७६, पं० १२—आप लिखते हैं कि "शाब्दिक प्रक्रिया से यह 'प्रजापतिरिति' इस मन्त्र का अर्थ भी अशुद्ध है, उसकी सामर्थ्य से यह सारा जगत् उत्पन्न होता है, यह सब अपनी कल्पना है।" तो आप बताइये कि उसे कल्पना बताना क्या आपकी कल्पना नहीं है? यह कहना सच है कि स्वामी जी का स्वयम् ऊहित है। अन्य आपसदृश में इस ऊहा शक्ति का अभाव है। अरे महाराज! कुछ तो सोचा होता। जब इस मन्त्र में 'प्रजापति' शब्द पढ़ा गया है, तो प्रजा 'जीवात्मा और प्रकृति' के न होने पर वह किसका पति अर्थात् स्वामी होगा। आपकी ही निराधार कल्पना में वह बेमुल्क का नबाब ठहरता है।

आगे आप कहते हैं कि 'अन्तः और गर्भ' एकार्थक दो शब्द वेद में नहीं पढ़ने चाहिये; क्योंकि अन्योऽन्य से अन्योऽन्य का अर्थ निकल आता है। पर यहां पर

https://t.me/DharmaSanrat

उभयविधा जीवरूपत्वेन गर्भे एका जायते । द्वितीया जडात्मिका, एवं द्वयोरप्यन्तरन्यन्तरे यमयन् अन्तर्यामिरूपेण अजायमानोऽनुत्पन्नः सन् नित्यं चरति । किञ्च गर्भे 'गर्भस्येऽपि प्राणिनि तदन्तर्हृदि वर्तमानः' एष एवाभिप्रायः 'जगतो गर्भे मध्ये अन्तर्यामिरूपेण' इति पदैः प्रकाशितो महर्षिणा । मन्त्रगतशब्दवैयर्थ्याशङ्कनं नास्तिक्यमेवास्य ।

'योनिम्' इत्यस्य सत्यधर्मानुष्ठानवेदविज्ञानप्राप्तिकारणमित्यर्थस्तु ऋषेः ब्रह्मसूत्रस्य 'शास्त्रयोनित्वात्' इति सूत्रेणैव समर्थितः । तत् शास्त्रं सर्वज्ञतान्वितं विज्ञानं तच्च सत्यधर्मानुष्ठानवत् तदुक्तत्वादेव ब्रह्मप्राप्तेः कारणं प्राप्तव्यमस्ति । 'योनिः कारणं ब्रह्म' इति शाङ्करभाष्यम् । यौति संयोजयति पृथक् करोति वा स योनिः = जगत्कारणम् । अयमर्थो न उदक्षरः, शास्त्ररहस्यार्थप्रतिपादनात् । 'कारणं नाशकारणं वा नार्थः' इत्यवगल्भम् आक्षिपति । तदुत्तरे योनिशब्ददर्शितेयं निष्पत्तिरेव समाधानम् ।

पृ० १२७६, पं० १७ –यदुच्यते—"धीरा इत्यस्य ध्यानवन्त इत्यपि नार्थ, प्रमाणविरहात् ।" अत्र भवद्बुद्धिविरहादिति हेतुर्गरीयानभविष्यत् । अदोषेऽपि

'गर्भे' का अर्थ गर्भ में आनेवाले जीवात्मा से तथा 'अन्तर्' का अर्थ अन्य प्रकृति आदि जड़ के भीतर नित्य प्राप्त या गति देता से है । वह परमात्मा है । अथवा यजुर्भाष्य में 'अन्तर्' से हृदय अर्थ लिया है । अर्थात् जीवात्मा और प्रकृति में व्यापक होते हुए भी हृदय में प्राप्तव्य है । ऐसा ध्वनिसंकेत भी है । अतः उक्त दोनों पदों की भिन्नार्थ होने से सार्थकता है । वेदमन्त्रगत एकतर शब्द के व्यर्थ होने की आशङ्का करना नास्तिकता ही है ।

प्रसिद्ध अर्थ ग्रहण के पक्षधर आपने प्रश्न किया है कि 'योनि' शब्द से स्वामी जी ने सत्यधर्मानुष्ठान और वेदविज्ञान का 'प्राप्तिकारण' यह अर्थ कहां से ले लिया । श्रीमन् ! यह अर्थ 'शास्त्रयोनित्वात्' इस ब्रह्मसूत्र से ले लिया । दूसरे 'यु' धातु प्राप्ति, कारण, स्वरूप आदि अर्थों में प्रसिद्ध है । उसकी प्राप्ति का कारण वेद-विज्ञान सत्यधर्मानुष्ठान का विधायक है, जो संयोजनकर्ता व पृथक्कर्ता है, उसे योनि कहते हैं । वही जगत् का निमित्तकारण है । यह अर्थ शास्त्र के रहस्य का प्रतिपादक सर्वथा शब्दप्रक्रियानुसारी है । अतः यह कथन विलक्षण है कि योनि शब्द के उत्पत्तिकारण और नाशकारण अर्थ नहीं हैं । ऊपर की शब्दनिष्पत्ति ही समाधान है ।

पृ० १२७६, पं० १७ में यह कथन कि "प्रमाण-विरह से 'धीराः' शब्द का ध्यानवान् यह अर्थ नहीं है" अविचारित है । यहां प्रमाण-विरह तो नहीं है, आपका

दोषगवेषणा भावपरस्यास्य व्याकरणज्ञानमपि अपूर्णमेव प्रतिभाति, यतो हि दधाति धीयते वा इति विग्रहे 'सुसूधाङ्गृधिभ्यः क्रन्' (उणा० २।२५) 'घुमास्था०' (अष्टा० ६।४।६६) इतीत्वे कृते धीरशब्द एकतः । विशिष्टोहावताम्, 'ध्यायतेः सम्प्रसारणं च' (वा० ३।२।१७८) क्विपि 'हलः' (६।४।२) इति दीर्घे कृते धी शब्दसिद्धिः । ताम् ईरयन्ति ददति वेति ध्यानवन्त इत्यर्थः सूपपद्यत एव, नात्र काचिद् विप्रतिपत्तिः ।

पं० १७—लगुडं गृहीत्वाऽयं स्वबुद्धिमनुधावति यदयं वक्ति—"पूर्वं मोक्षस्य सच्चिदानन्दरूपत्वमुक्तम्, इदानीं मोक्षं प्राप्य तस्मिन् स्थितिरुच्यते । तदपि न सम्यक्, तस्य गृहादिवदधिकरणत्वेन विकारित्वापत्तेः ।" महाशय ! मोक्षस्योक्तरूपं पुरस्कृत्य नहि ऋषिशब्दावलिः पीडयितुं शक्यते महतापि छलेन । अत्रास्ति पाठः "तस्मिन् लोकाः स्थिति चक्रिरे, धीरा ज्ञानिनो मोक्षानन्दं प्राप्य स्थिरा भवन्ति ।" निर्मलोक्तिः सत्या घटते—

नहि सत्यमसत्येन बाधितुं क्वापि शक्यते ।
नैव घोरं तमः सूर्यमाच्छादयितुमर्हति ॥

बुद्धि-विरह हेतु अवश्य है । दोष न होने पर भी दोषारोपण करने से असूयादोष के साथ-साथ आपका व्याकरणविषयक अज्ञान भी इसमें हेतु है । क्योंकि धारण करता है या धारण किया जाता है, इस विग्रह में उणादि (२।२५) से क्रन् प्रत्यय तथा 'ई' आदेश करने पर 'धीर' शब्द बना । दूसरे 'ध्यै चिन्तायाम' धातु से 'धी' शब्द बनाकर उसको देनेवाले या 'ईरयति' प्रेरित करनेवाले को भी धीर कहते हैं । इस प्रकार ध्यान करनेवाले यह अर्थ 'धीर' शब्द का सूपपन्न है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

पं० १७—यह तो अपनी बुद्धि के पीछे लठिया लेकर दौड़ना है, जो यह कह रहे हैं कि—"पहले मोक्ष को सच्चिदानन्दस्वरूप माना गया है । अतः आप कहते हैं कि मोक्ष को प्राप्त कर उसमें स्थिति होती है । यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि मोक्ष को गृह आदि की तरह अधिकरण माना जायेगा तो वह विकारी हो जायेगा ।" महाशय ! मोक्ष के उक्त रूप के द्वारा आप ऋषि की शब्दावली को पीडित करना चाहते हैं । देखिये, यहां पर पाठ है कि "जिसमें सब लोक ठहर रहे हैं, उसी परमेश्वर में ज्ञानी लोग भी सत्यनिश्चय से मोक्षसुख को प्राप्त होकर जन्म-मरण आदि आने-जाने से छूट के आनन्द में सदा रहते हैं ।" यहां पर निर्मलोक्ति घटित हो रही है—

असत्य से सत्य कदापि बाधित नहीं हो सकता । घोर अन्धकार कदापि सूर्य का आच्छादन नहीं कर सकता ।

https://t.me/Dharma_Granth

पृ० १२७७, पं० ८—यदुच्यते—

कृपणधीः परिणाममुदीक्षते, क्षपितकल्मषधीस्तु विवर्तताम् ।
स्थिरमतिः पुरुषः पुनरीक्षते, व्यपगतद्वितयं परमं पदम् ॥

इति तु अशास्त्रीयम्, तथा श्रूयताम्—

प्रकृतितो यदि नो जगदुद्भवः, उभयकारणभूतविभोर्यदि ।
निशितधीः परिणामितया तदा, प्रकृतिहेतुमुपाददते सदा ॥१॥
अपि विवर्तमुदीक्षत एव यत्, समनुपश्यति रज्जुभुजङ्गमौ ।
जगति वस्तुत एव सुदृग्गतौ, परमवाद इतोऽस्ति न कश्चन ॥२॥
बुद्धेर्या ज्यायसी नूनम्, महिषी चानुमन्यते ।
दोषस्तस्य न मन्तव्यो, विधिनाऽसौ प्रतारितः ॥३॥

पृ० १२७७, अनु० १, पं० ३—एतत्कल्पितमन्त्रार्थे 'महाव्यापकः' (पुरुषः) इति नूनमेव महाप्रयोगः किंप्रयोजनकः ? असमासे महान् शब्दः पृथक् स्यात् ।

पृ० १२७७, पं० ८—संक्षेपशारीरक का निम्न उद्धृत श्लोक भी तर्क-कसौटी पर खरा नहीं उतरता कि "मन्दबुद्धि पुरुष परिणामवाद को ही देख पाता है, क्षीणपाप निर्मलबुद्धि विवर्त्तवाद को भी समझ सकता है, किन्तु स्थितप्रज्ञ पुरुष तो परिणाम और विवर्त से परे विद्यमान परमवाद को ही देखता है।" यह सब शास्त्रविरुद्ध है। सुनिये—

प्रकृतिरूप उपादान से यदि जगत् की उत्पत्ति न मानकर विभु परमात्मा को अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानते हैं तो तीव्रबुद्धि ब्रह्म के परिणामी होने की आशङ्का से प्रकृति को ही उपादान मानता है ॥१॥

जो रज्जु में सर्प की भांति ब्रह्म में जगत् देखता है, वह भी संसार में रज्जु और भुजङ्गम की वास्तविक सत्ता को दृग्गोचर करता है, तब इसके अतिरिक्त और कोई परमवाद है ही नहीं ॥२॥

भला जो व्यक्ति बुद्धि से बड़ा भैंस को समझता है, इसमें उस व्यक्ति का दोष नहीं, क्योंकि विधि ने ही उसे बुद्धि से वंचित कर दिया है ॥३॥

पृ० १२७७, अनु० १—इस कल्पित मन्त्रार्थ में 'महाव्यापक पुरुष' यहां पर 'महाव्यापक' शब्द का प्रयोग इस महाब्राह्मणमण्डली ने न जाने किस महानिद्रा में किस महाप्रयोजन के लिये किया है, यह अविदित है। समस्त न होकर यह 'महान्' शब्द पृथक् होता तो शरीर को पुरुष जीवात्मा से व्यतिरिक्त करने के लिये किंचित् प्रयोजनक हो सकता था।

'हृदि स्थितः गर्भं प्रविशति, जीवरूपेण' इति चिन्तयन्ती बुद्धिस्तु प्रदर्शिन्यामेव सुरक्षयितव्याऽऽसीत्। ब्रवीतु तावद्, गर्भे च सोंऽशेन सर्वांशेन वा प्रविशति ? हृदि केन रूपेण तिष्ठति ? यदि गर्भे जीवरूपेण, जीवरूपे अन्तर्यामिरूपेण व्यापकत्वे द्वयोः स्वरूपभेदः कीदृक् ? न च ब्रह्मण्यंशांशिभावकल्पना कर्तुं शक्या, अनित्यत्वापातात्। 'अंश इवांशो नहि निरवयवमुख्योंऽशः सम्भवति' इति शङ्करः।

न वा तदेव रूपं धारयति। एकत्वे कस्य कस्मिन् वाऽन्तर्यामिता सम्भवेत्? नाप्यसौ कार्यकारणप्रपञ्चरूपे विपरिणमते। विवर्त्तभाव उपरि एव परीक्षितस्तत्र द्रष्टव्यः। अतो नैषा वैदिकी सनातनपद्धतिः; प्रत्युत पुराणपङ्कपरिलिप्तेदानीन्तनैव।

पृ० १२७७, पं० १०—रामकृष्णादिरूपेण जायमानत्वं न सम्भवति, अजस्य जन्मग्रहणासम्भवात्, शरीरधारित्वे सुखदुःखादिभोगापत्तेरानन्दस्वरूपस्य। जीवस्य

'हृदय में स्थित होकर गर्भमध्य में प्रवेश जीवरूप से करता है' ऐसा चिन्तन करनेवाली बुद्धि तो प्रदर्शिनी में सुरक्षित रखनी चाहिये थी। यहां बताइये, वह गर्भ में अंशरूप से प्रवेश करता है या सर्वात्मना ? यदि गर्भ में जीवात्मरूप से प्रवेश करता है, तो हृदय में उसी रूप से या उससे भिन्न रूप से ? जीव में तो अन्तर्यामिरूप से, तो वह पूर्व से व्यापक था। अब कृपया इन दोनों के स्वरूप का भेद बताइये, कैसा था या है ? ब्रह्म में अंशांशिभाव-कल्पना तो हो नहीं सकती; क्योंकि अनित्यत्व की आपत्ति होने लगेगी। शङ्कराचार्य तो इस विषय में 'अंश के समान अंश' निरवयव ब्रह्म का मुख्यांश हो नहीं सकता, ऐसा कहते हैं।

'वही ब्रह्म जीवरूप को धारण कर लेता है, ऐसा भी कहना नहीं बन सकता। क्योंकि एक ही होने पर किसकी किसमें अन्तर्यामिता सम्भव होगी। और न वह कार्यकारण प्रपञ्चरूप में परिणत होता है। विवर्त्तभाव के विषय में ऊपर कहा जा चुका है, वहीं समझना चाहिये। अतः इसे वैदिकी सनातन पद्धति कभी नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत पुराणपङ्क में परिलिप्त इदानीन्तन कहना चाहिए।

पृ० १२७७, पं० १०—रामकृष्णादि रूप में अजन्मा की जायमानता अर्थात् जन्म लेना असम्भव है। शरीर धारण करने पर सुख-दुखादि भोग अवश्यम्भावी हो जायेंगे, जब कि वह आनन्दरूप है। जीव की आनन्दमयता हो नहीं सकती।

https://t.me/DharmaSamrat

च नानन्दमयत्वं नित्यम्। 'न जीव आनन्दमयः शब्देनाभिधीयते' इति शङ्करोक्तेरपि। 'भेदव्यपदेशाच्च' (वेदा० १।१७) जीवस्यान्तरिकत्वाज् ज्ञानस्य। अपरं च ब्रह्मणो निष्कामकर्तृत्वम्, जीवस्य सकामकर्तृता च। ब्रह्मणः सर्वकारणमेकरूपत्वम्, जीवस्याऽनियमिततयाऽनेकरूपत्वं सापेक्षत्वं च। तथा हि स्पष्टं बृहदारण्यके—'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मन्यन्तरोऽयमात्मा यस्यात्मा शरीरम्' इति।

पृ० १२७७, अनु० ३ यदुच्यते—"समानसत्ताकयोर्भावाभावयोर्विरोधान्नैकत्र सन्निवेशः सम्भवति, तत एव विषमसत्ताकयोर्भावाभावयोः सामञ्जस्यं वक्तव्यम्। व्यावहारिकसत्ताकरूप्यात्यन्ताऽभाववत्यां शुक्तिकायां व्यावहारिकसत्ताकरूप्यत्वस्यासम्भवदुक्तिकत्वेऽपि प्रातिभासिकसत्ताकस्य रूप्यत्वस्य सत्त्वे बाधा न बाधः, तथैव प्रकृतेऽपि परमेश्वरे समानसत्ताकयोर्जायमानत्वाजायमानत्वयोरसम्भवेऽपि विषमसत्ताकयोस्तयोर्विरोधाभावात्।" इयं भवतो वाक्यावली वागाडम्बरमात्रम्। एकवस्तुनो वास्तविकसत्तायां कुतस्तावद् विषमसत्ताकवस्तूनामुपस्थितिर्भविष्यति?

तात्पर्यमिदमेव यद् ब्रह्मणि जायमानत्वाजायमानत्वरूपविरोधिगुणद्वयस्य सत्तैव न सम्भवति। शुक्तौ रजतप्रातिभासिकसत्ताभानं ज्ञाने जाते ज्ञातुर्भवत्येव;

'जीव आनन्दमय है, ऐसा शब्दों में नहीं कहा जाता' यह शङ्कराचार्य की उक्ति है। वेदान्त के (१।१७) सूत्र से जीव के आन्तरिक और बाह्य दो ज्ञान होते हैं, परन्तु ब्रह्म का केवल आन्तरिक ज्ञान है। दूसरे ब्रह्म सदा निष्कामकर्ता है, पर जीव सकामकर्त्ता भी है। ब्रह्म सर्व कार्यों में एकरूप है, जीव के अनियमतया अनेक रूप हैं तथा वह सापेक्ष है। जैसा कि बृहदारण्यक में है—'जो आत्मा में निवास करता तथा आत्मा जिसका शरीर है।'

पृ० १२७७, अनु० ३—'समान सत्तावाले पदार्थों का भाव और अभाव परस्पर विरुद्ध होने से एक साथ नहीं रह सकता, इसलिये विषम सत्तावाले भाव और अभाव को मानकर इनमें परस्पर समन्वय करना पड़ेगा। व्यावहारिक सत्तावाली चांदी का जहां अत्यन्त अभाव है, ऐसी शुक्तिका में व्यावहारिक सत्तावाली चांदी की स्थिति बताना यद्यपि अत्यन्त असम्भव है, परन्तु प्रातिभासिक चांदी की सत्ता मानी जा सकती है। उसी प्रकार परमेश्वर में समान सत्तावाले जायमानत्व और अजायमानत्व में कोई बाधा नहीं होगी।" आपकी यह वाक्यावली केवल वागाडम्बर है। एक वस्तु की वास्तविक सत्ता होने पर आप विषम सत्तावाली वस्तुएं कहां से ले आयेंगे?

तात्पर्य सर्वथा यही निकलेगा कि ब्रह्म में दो विरोधी गुण जन्यत्व और अजन्यत्व नहीं हो सकते। शक्ति में चांदी की प्रातिभासिक सत्ता का भान ज्ञाता को

किन्तु वास्तविकसत्ताया एकत्वे ज्ञातृज्ञेययोरभेदे सति कस्य भ्रमवतो द्विविधसत्तयोर्ज्ञानं भविष्यति? यदा हि एकस्यैव ब्रह्मणः सर्वत्र निर्भ्रान्तसत्ताऽङ्गीक्रियते; अतो भवतः समग्रं प्रलपनं कपोलचालनफलितम्।

पृ० १२७८, अनु० १—यदप्युक्तम्—"यथा काष्ठकुड्यमेघादिव्यवहितस्य सूर्यस्य प्रावृतत्वेऽपि सूक्ष्मदूरवीक्षणयन्त्रव्यवधानव्यवहितस्य तस्य न स्वरूपमाव्रियते, किन्तु केवलनेत्राऽदृष्टस्यापि महामहिमवैभवस्याभिव्यक्तिर्भवति; तथैव कार्यकारणात्मकप्रपञ्चोपहितस्य ब्रह्मणः सच्चिदानन्दादिस्वरूपस्यावरणं जायते। रजस्तमोलेशानुविद्धविशुद्धसत्त्वोपाधिकस्य अचिन्त्यदिव्यलीलाशक्त्युपहितस्य ब्रह्मणस्तेन व्यवधानेन न स्वरूपमाव्रियते।" इत्यपि न तर्कसङ्गतम्, उपधायकस्य विजातीयस्य वस्तुनोऽसत्त्वात्; यद् ब्रह्मणो विरोधि आवरकं जायेत। न वा स्वतः स्वस्यावरणं सम्भवति, एकरूपत्वात्।

पृ० १२७८, अनु० २—"अहं ब्रह्मास्मि' इति महावाक्यजन्यामखण्डाकारां

हो जाता है। पर वास्तविक सत्ता एक होने पर ज्ञेयता और ज्ञाता अर्थात् ज्ञान करने योग्य और जाननेवाले में अभेद होने से किस भ्रमवान् के लिये पारमार्थिकी और व्यावहारिकी सत्ता का ज्ञान होगा? जब कि एक ही ब्रह्म की सर्वत्र निर्भ्रम सत्ता स्वीकार की जाती है। अतः आपका समस्त कथन कपोलचालन की उपज है।

पृ० १२७८, अनु० १—"जैसे लकड़ी, दीवाल, बादल आदि से व्यवहित सूर्य, नक्षत्र आदि ढक जाते हैं, दिखाई नहीं देते, परन्तु दूरबीन से व्यवधान होने पर भी नक्षत्रादि दीख जाते हैं।" यहां पर आपका दृष्टान्त विषम है। इसमें नक्षत्रादि के अदर्शन में लकड़ी, दीवाल, बादलादि के समान दूरबीन यन्त्र का भी व्यवधान कहां पर प्रथम व्यवधायक है और दूसरी दूरबीन दर्शन में सहायक है। दूसरे यहां पर प्रपञ्च तो वस्तुतः सब आपकी दृष्टि में वस्तुस्थिति नहीं रखता, फिर बाधक कैसे होगा? साथ ही काजल आंख के सामने पास होने पर अल्पदर्शी जीवात्मा को नहीं देखने देता। पर द्रष्टा ब्रह्म और दृश्य भी ब्रह्म फिर व्यवधान कैसा? आपके मस्तिष्क पर शैतानमतावलम्बियों की छाप है, जो कि शैतान को परमात्मा से भी बलिष्ठ मान बैठे हैं। अतः कार्यकारणात्मक प्रपञ्च से ब्रह्म सच्चिदानन्द उपहित नहीं हो सकता। हां, अल्पज्ञ जीवात्मा का अन्तःकरण उपहित हो सकता है। उपधायक विजातीय वस्तु है ही नहीं, जो कि ब्रह्म का विरोधी आवरक बन सके। स्वयं से स्वयं का आवरण एकरूप होने से सम्भव नहीं है।

पृ० १२७८, अनु० २—"मैं ब्रह्म हूं' इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित महावाक्यों

https://t.me/DharmaSanskrit

वृत्तिं प्राप्य तयाऽसत्त्वापादिकामज्ञानापादिकां चाऽविद्यावृत्तिमपोह्य निरावरण-स्वप्रकाशात्मस्वरूपं परिपश्यन्ति।" इत्यपि अज्ञानसमुज्जृम्भितम्। प्रथमं तु 'महावाक्यम्' इति संज्ञैतस्याशास्त्रीया। द्वितीयम् अविद्यावृत्तेरपोहनं कस्मात् केन क्रियते? 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादीनामृषिवाक्यानां तात्पर्यानवबोधादनभिज्ञैर्ब्रह्मण्येवाविद्यायाः प्रवेशः स्वीकृतः। न कश्चिदपि व्यमृशद् यत् कथङ्कारं सूर्ये तमसः स्थितिः, सम्भवेच्चेत् कोऽपोहनं विदध्यात्? तथैवेह। तस्मान्नाविद्या प्रकृतौ न ब्रह्मणि; प्रत्युत जीवात्मन्येव तिष्ठति।

पृ० १२७९, अनु० २—'यो देवेभ्यः' इति मन्त्रे 'देवेभ्यः' इत्यस्य विद्वद्भ्य इत्यर्थः। पूर्वं साधितं नातः पिष्टपेषणं क्रियते। 'आतपति' इत्यकर्मकत्वे कर्म-निर्देशः। प्रकाशयतीत्यर्थ आत्मानमित्युत्प्रेक्षणीयं कर्म प्रज्ञावताम्। 'पुरः' इत्यस्य सरलार्थत्वादव्याख्यातमपीहान्यत्र व्याख्यानात्। यजुर्वेदभाष्ये च व्याख्या-नान्नूतनार्थकल्पनाद्वाऽपि अतिरोहितमेव वैदग्ध्यमृषेः। देवा विद्वांसः सूर्यादयो-ऽपि तेषामुत्पद्यमानत्वात् पूर्वजातत्वं प्रसिद्धमस्त्येव। न च स्थूलधिया 'जातः' 'उत्पन्नः' इत्यर्थः कल्पनीयः; प्रत्युत 'पूर्वतो जातः' इत्यनेनैव ब्रह्मणो नित्यत्वमभि-व्यज्यते। प्रतिवस्तुनः पूर्वमुत्पन्नः प्रादुर्भूतः प्रकटितः सिद्ध इत्येवार्थः।

के अभ्यास से उत्पन्न अखण्ड आकारवाली अन्तःकरण की वृत्ति को पकड़कर और उसकी सहायता से ब्रह्म की असत्ता, अज्ञान को पैदा करनेवाली अविद्या की वृत्ति को दूर कर यथार्थरूप से देख पाते हैं" इत्यादि कथन भी नवीन वेदान्तियों का कल्पित वागाडम्बर है। प्रथम तो यह है कि इन वाक्यों की महावाक्य संज्ञा करना ही अशास्त्रीय है। दूसरे यह बताइये कि अविद्या वृत्ति का अपोहन किससे, किसके द्वारा किया जाता है। 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इत्यादि ऋषिवाक्यों का तात्पर्य न समझने के कारण दुर्बोध लोगों ने ब्रह्म में ही अविद्या का प्रवेश कर दिया। ब्रह्म मे अविद्या का प्रवेश सम्भव होने पर उसका अपोहन फिर कौन करेगा? वैसा ही यहां समझिये। इसलिये अविद्या न प्रकृति में है और न ब्रह्म में, किन्तु अल्पज्ञ जीवात्मा में रहती है।

पृ० १२७९, अनु० २—'यो देवेभ्यः' इस मन्त्र में 'विद्वद्भ्यः' अर्थ 'देवेभ्यः' का किया है। इस विषय में प्रथम खण्ड में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है, अतः यहां पिष्टपेषण नहीं किया जा रहा है। 'आतपति' यह अकर्मक है, अतः कर्मनिर्देश नहीं है। 'प्रकाशार्थम्' यह क्रियाविशेषण है। 'पुरः' सरल शब्द है, अतः इसकी व्याख्या यहां नहीं की, अन्यत्र की है। यजुर्वेदभाष्य में नवीनार्थ उद्भावन करने से महर्षि का पाण्डित्य प्रकाशित है। 'देवेभ्यः' के सूर्य, पृथिवी आदि अर्थ किये हैं। वे पूर्व उत्पन्न हुए हैं, यह प्रसिद्ध भी है। स्थूलबुद्धि 'जातः' का अर्थ केवल 'उत्पन्न' करते हैं; परन्तु इसके प्रकटित, सिद्ध अर्थ भी हैं।

रोचते, रोचयते इति वा तस्मै रुचाय, रुचिकराय ब्रह्मणोऽपत्यम् इत्यर्थं तस्मै ब्राह्मणाय विदुषे ब्रह्मणः सन्तान-तुल्याय सूर्याय वा। एवं यो रुचिकरो ब्राह्मणविद्वानस्ति, स ब्रह्मरुचिमपि जनयिष्यतीति न संशय इति ध्वन्यते। अभिधाधीस्तु सदा व्यञ्जनां लक्षणां वा कथं नोपेक्षेत? तस्मादर्थेऽस्मिन्नुद्भाविताः सर्वाः शङ्काः समाहिताः। हिन्द्यां तु 'कोई कर्त्ता निर्दिष्ट नहीं है' इति प्रमादः, यदा मूलकारः 'कर्म निर्दिष्टं नास्ति' इति वक्ति।

पृ० १२८०, अनु० १—'रुचं ब्राह्मम्' इति मन्त्रार्थे कृताक्षेपो निर्मूलः। नैवार्थस्य गौणता। 'जनयन्त उत्पादयन्तो विकासमापादयन्तो विकसितं च ज्ञानं परेभ्य उपदिशन्तु' इत्येवं जनयन्तोऽब्रुवन्नित्यन्यतरस्य न वैयर्थ्यम्।

'ब्रह्मविदो ब्राह्मणस्येन्द्रियाणि वशे भवन्ति नान्यस्य' इति वाक्ये निषेध-वाक्यविधानवाक्यस्याथस्य सुपोषत्वात् सर्वथा अर्थावहमेव न रिक्तम्। एवं चेदत्र

'रुचाय' का रुचिकर अर्थ 'रोचते' या 'रोचयते' इससे सिद्ध होता है। ब्रह्म के पुत्र के समान विद्वान् रुचि को उत्पन्न करनेवाला भी होता है, यह अर्थ भी ध्वनित होता है। जो अभिधा मात्र को ही समझते हैं, वे भला लक्षणा और व्यञ्जना की उपेक्षा क्यों नहीं करेंगे? इस तरह ऋषि के कथ में उद्भावित समस्त शङ्काओं का निराकरण कर दिया है। पारिजातमूलकार ऊपर जहां कर्म निर्दिष्ट नहीं है, ऐसा कहता है, वहां हिन्दीकार लिखता है कि 'कोई कर्ता निर्दिष्ट नहीं है'।

पृ० १२८०, अनु० १—'रुचं ब्राह्मम्' इस मन्त्रार्थ में आक्षेप निर्मूल है। आप यहां कहते हैं कि वेदमन्त्र के आधार पर स्वामीजी ने ज्ञान की उत्पत्ति बताई। दूसरे उसका उपदेश कहा तो उपदेश के सिवाय ज्ञान की उत्पत्ति का कोई साधन नहीं। अतः एक को ही कहना चाहिये। श्रीमन्! आप शब्द और ज्ञान की सूक्ष्मता को नहीं समझे; अतः ऐसा कहते हैं। भाई! विद्या—अधीति, बोध, आचरण और प्रसार से उपयुक्त होती है। तो पहले ज्ञान, स्वाध्याय आदि से उत्पन्न व विकसित किया जायेगा; तब उपदेश द्वारा प्रसारित किया जायेगा, अतः दोनों ही शब्द 'जनयन्त' वा 'अब्रुवन्' सार्थक हैं।

आपका यह कहना भी बालभाषित है कि कर्मयोगी तथा योगाभ्यासी की भी इन्द्रियां वश में होती हैं। इसलिये केवल 'ब्रह्मवेत्ता की ही इन्द्रियां वश में रहती हैं', ठीक नहीं। थोड़ा विचार भी कर लिया होता कि वे दोनों भी पूर्ण ब्रह्मज्ञानी नहीं तो थोड़ा-बहुत तो ब्रह्मज्ञान रखते ही हैं; केवल कर्मयोगी ब्रह्म में विश्वास न रखनेवाला तो अपनी इन्द्रियों को आत्मचिन्तन के अतिरिक्त ही तो

https://t.me/DharmaSarni

निषेधमुखेन स्वकथितं पोषयतो भवतोऽनेकेषां वाक्यानां वैयर्थ्यमापद्येत इति भवतोऽनियन्त्रितवाच उक्तिरियं वाक्सिद्धा।

पृ० १२८२, अनु० १—"श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च' इति मन्त्रभाष्ये इववदादिप्रयोगाभावात् प्रसिद्धपरित्यागाप्रसिद्धकल्पनयोरसामञ्जस्याच्च श्रीलक्ष्मीपत्नीपदानां गौणार्थताश्रयणं न युक्तम्।" इत्याक्षेपस्तु काव्यसाहित्यमर्मानभिज्ञेनारसिकेनैव क्रियते, यतो हि इववदादिप्रयोगे तु श्रौती उपमा भवति, यथा साहित्यदर्पणे—

'यथेववदादयः शब्दा उपमानान्तरप्रयुक्ततुल्यादिपदसाधारणा अपि श्रुतिमात्रेणोपमानोपमेयगतादृश्यलक्षणसम्बन्धं बोधयन्तीति सद्भावे श्रौत्युपमा।'

एवं 'तत्र तस्येव' (अष्टा० ५।१।११५) इत्यनेनेवार्थे विहितस्य वतेरुपादाने इति वाचकशब्देवादिलोपे सा लुप्तोपमा। परं यत्र "रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे" इत्यात्मकोपमानस्यारोपो भवति, तत्र रूपकालङ्कारो भवति। एवमत्र श्रियां लक्ष्म्यां च पत्नीत्वमारोपितम्। तथा अग्रेऽप्यवगन्तव्यम्।

लगायेगा। तो उसके साथ 'इन्द्रियों के वश' का क्या अर्थ होगा? स्वयं ही विचारो। अतः 'अन्य की नहीं' कथन साभिप्राय है। ऐसे निषेध सदा पूर्वार्द्ध की सम्पुष्ट्यर्थ ही प्रयुक्त होते हैं। ऋषि ने यह कहीं नहीं कहा कि कर्मयोगी तथा योगाभ्यासी की इन्द्रियां वश में नहीं होतीं, इस तरह आपका कथन वाक्प्रयोगमात्र है।

पृ० १२८२, अनु० १—"श्रीश्च ते' इस मन्त्र के भाष्य में 'इव' तथा 'वत्' के प्रयोग हैं, मन्त्र में नहीं हैं पर भाष्य में किये हैं, अतः मुख्यार्थ को सर्वत्र गौण बना दिया। प्रसिद्ध के परित्याग और अप्रसिद्ध की कल्पना करने में कोई तुक नहीं। लक्ष्मी आदि पदों की गौणार्थता भी ठीक नहीं।" ये आक्षेप, काव्यसाहित्य का अध्ययन न करने के कारण किये गये प्रतीत होते हैं; क्योंकि 'इवादि' प्रयोगों में श्रौती उपमालङ्कार होता है, जैसा कि साहित्यदर्पण में कहा है—

'यथा, इव, वदादि शब्द उपमानान्तरप्रयुक्त तुल्यादि पद साधारण भी उपमानोपमेयगत अदृश्य लक्षण-सम्बन्ध को बताते हैं, उसे श्रौती उपमा कहते हैं।'

इस प्रकार इस अर्थ में 'तत्र तस्येव' सूत्र से वत् प्रत्यय होता है। वाचक इवादि शब्दों के लोप होने पर लुप्तोपमा कहाती है। यहां 'पत्न्यौ' और 'व्यात्तम्' में इवादि का शास्त्रकृत लोप है, ऐच्छिक लोप नहीं। परन्तु जहां पर उपमेय में उपमान का आरोप होता है, वहां रूपकालङ्कार होता है। इस प्रकार यहां पर श्री और लक्ष्मी में पत्नीत्व का आरोप किया गया है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये।

प्रसिद्धपत्न्यादिशब्दानां नात्र परित्यागः क्रियते न चाप्रसिद्धस्य कल्पनं विधीयते, एतन्निदर्शनेन स्पष्टीकर्तव्यमासीद् भवता। श्रीलक्ष्मीपत्नीपदानाम् आश्रयणं सर्वथोपयुज्यते।

यदि 'पत्नीवत् सेवमाने स्तः' इति भाष्यवचनेन भवान् अभिप्रैति, तदिह (पृ० १२८२, पं० ११) भवानपि अन्वकार्षीत्—'निराकारस्य भगवतो द्वे भार्ये भार्यावद् वश्ये' इति।

पृ० १२८२, पं० २—यच्चाह—"सौन्दर्यादिगुणयुक्तं वस्तु तदपि रूपं तवैव सामर्थ्याज्जातमित्यप्युदक्षरम्"। तदा पृच्छ्यते यत् १२८४ पृष्ठे पं० ५—"सौभाग्य-सौशील्य-सौकुमार्य-सौन्दर्य-सौस्वर्य-सौरस्य-सौगन्ध्यादिभिर्लाञ्छनैरपि लक्ष्मीवत्त्वं प्राप्यते।" इत्यादिव्याख्यादिव्यञ्जना वा उदक्षरा, सा कुतो लब्धा? एतत्त्रिष्टुप्छन्दसः ४५ पङ्क्त्यात्मकं व्याख्यानं किन्नोदक्षरम्?

यदि 'ध्येयः' 'सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।' इत्यादिश्लोकवर्णितासनकेयूरमकरकुण्डलकिरीटहारशङ्खचक्रादिमान्

प्रसिद्ध पत्नी आदि शब्दों का परित्याग नहीं किया गया है और न अप्रसिद्ध की कल्पना की गई है। आपको उदाहरण देकर अपनी बात तो स्पष्ट करनी चाहिये थी। यहां पर परब्रह्म की वास्तविक श्री और लक्ष्मी पत्नी न होने से गौणार्थ का ही आश्रय लेना उचित है।

यदि 'पत्नी के समान सेवा करनेवाली हैं' इस भाष्य-वचन से आप भी तो वही अभिप्राय मानते हैं, तो आपने (पृ० १२८२, पं० ११ में) भी अनुकरण किया है—'निराकार भगवान् की दो पत्नियां भार्यावद् वश्य हैं'।

पृ० १२८२, पं० २—"जो कुछ सौन्दर्य प्रभृति गुणों से युक्त वस्तुएं हैं, वे सब तुम्हारे ही सामर्थ्य से उत्पन्न हुई हैं, यह अर्थ भी मन्त्रबाह्य है" यह कथन आपका अपनी बुद्धि से बलात्कार है, क्योंकि जब उक्त दोनों पत्नीवत् सेवा करती हैं, तो वह श्री और लक्ष्मी हैं तो संसार में ही। संसार प्रभु द्वारा उत्पादित है तो सौन्दर्यादिगुणयुक्त समस्त वस्तु प्रभु की सामर्थ्य से उत्पन्न है। दूसरे आप पृ० १२८४, पं० ५ में देखिये—"सौभाग्य, सौशील्य, सौकुमार्य, सौन्दर्य, सौस्वर्य, सौरस्य, सौगन्ध्य आदि चिह्नों से भी लक्ष्मीवत्त्व है।" इतना अर्थ कहां से ले आये? इस त्रिष्टुप् छन्द की ४५ पंक्तियां आपकी इतनी बड़ी व्याख्या भी क्या मन्त्रबाह्य नहीं है?

यदि ध्येय सदा सवितृ-मण्डलमध्यवर्ती नारायण आदि वर्णन में केयूर, कुण्डल, किरीट, हार, शङ्ख, चक्रादिमान् नारायण अलङ्कारवर्णन है, तो यह सब

https://t.me/DharmaSamrat

नारायणोऽलङ्कारैकवर्णनस्तदा तु अवतारस्य वेदाऽप्रमाणितत्वाद् अप्रमाणमिदं सर्वम्, तथा चेदस्मत्सिद्धान्तविजयः।

पृ० १२८१, पं० १३—यच्च "इदमपि विशृङ्खलमेव, प्रकृतिः कथम् उत्पद्यते, यदि सा नित्या?" इति, तदविचारितम्, पक्षपातादिदोषशृङ्खलित-मतेरयथाव्याख्यानात्। 'प्रकृत्यादिकं जगत् प्रजापतिः ससृजे' इत्यस्याय भावः प्रकृतिरादिकारणं यस्य तत्, अथवा प्रकृतिसंज्ञाया विकृतिशब्दसापेक्षत्वे सर्गादौ तथाविधसंज्ञकत्वं वा प्रकृतेः। एवं सति प्रकृतेर्नित्यत्वं न क्वापि व्याहन्यते।

'तदन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (वे० द० २।१।१४) इति ब्रह्मसूत्रेण तु कार्यकारणयोरनन्यत्वं कथ्यते। कार्यं हि जगत्, कारणं च प्रकृतिर्न तु ब्रह्म, तस्य चेतनत्वे कार्यजगतोऽपि चेतनत्वापातात्।

स्वधायाः प्रकृतेः सत्ता सायणाचार्येणापि प्रतिपादिता। यथा—"स्वस्मिन् धीयते ध्रियते आश्रित्य वर्तते इति स्वधा माया, तया तद् ब्रह्म एकम् अविभागा-पन्नमासीत्। 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इति तृतीया सहशब्दयोगाभावेऽपि सहार्थयोगे

वर्णनवाला अवतारवाद वेदविरुद्ध होने से अप्रामाणिक है। इस प्रकार महर्षि का ही सिद्धान्त सत्य व विजयी है।

पृ० १२८५, पं० १३—"यत् परममवमं यच्च' (अथर्व० १०।७।८) इस मन्त्र का भाष्य भी असङ्गत है। प्रकृति को जब नित्य व अनादि मानते हो, तो उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है?" यह कथन स्वयं अविचारित है, क्योंकि यहां पर 'प्रकृत्यादिकं तत् त्रिविधं जगत् प्रजापतिरेव ससृजे' अर्थात् प्रकृति जिसके आदि में है, अर्थात् सत्त्व, रज व तम जिसके मूल में है, अत एव त्रिविध उत्तम, मध्यम व नीच स्वभाव के जगत् को बनाया, यह अर्थ है। आप प्रकृति को बनाना सिद्ध कर रहे हैं, यह छल ही है। अथवा प्रकृति शब्द विकृति शब्द की अपेक्षा से प्रयुक्त होता है। प्रकृति की अनादिता और नित्यत्व कदापि क्षत नहीं हो सकता।

ब्रह्मसूत्र (२।१।१४) का यह अर्थ अनर्थ ही है कि सब प्रपञ्च ब्रह्मरूप है, इसमें तो कार्य और कारण की अनन्यता बताई गई है। कार्य जगत् है और कारण प्रकृति है। न कि चेतन ब्रह्म ही जगत् हो गया; क्योंकि जगत् में चेतनत्वादि दोषापत्ति का आप त्रिकाल में निराकरण नहीं कर पायेंगे।

स्वधा प्रकृति की सत्ता का प्रतिपादन तो सायणाचार्य ने भी किया है। जैसे—"जो अपने में धारण की जावे वह स्वधा माया, उस के साथ ब्रह्म अवि-भक्त था। तृतीया सह शब्द के प्रयोग के अभाव में भी होती है, जहां केवल सह

भवति। अत्र प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां तस्याः स्वातन्त्र्यं निवार्यते।" (ऋ० १०।१२९। २ भाष्ये)।

पृ० १२८६, अनु० १—'देवाः पितरो मनुष्याः' (अथर्व० ११।९।२५) इति व्याख्याने द्योतनाद्वा देवाः, पान्ति ज्ञानेनेति पितरः, मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति इति मनुष्याः। 'गन्धर्वा दिव्यगानगायकाः' इति शब्दार्णवाद् गानविद्याविशारदाः, चन्द्रलोकसूर्यलोकादिशब्दास्तु प्रसिद्धा एव। अप्सरस एतेषां स्त्रिय एव।

ब्राह्मणादीनां स्त्रिय अप्सरसः कथमिष्यन्ते? अत्र भवान् 'अप्सरा' शब्दस्य वेश्या इत्यर्थमुपादाय उपहसति, तत्रैव ध्यातव्यं यल्लोकप्रचलितार्था एव भवादृशैव वेदेष्वारोपितास्तदा वेदार्थविध्वंसो जातः। लोके तु वैश्यस्य स्त्री वेश्या इत्यपि शुद्धः प्रयोगः कर्तुं न शक्यते, वेश्यार्थ प्रयुक्तत्वात्। नहि देवपदे पठिते पित्रादि-विशिष्टार्था उपलभ्यन्ते, यथा न मनुष्यकथनेन ब्राह्मणक्षत्रियादिगुणविशिष्टा अर्थाः प्रकाशयितुं शक्यन्ते।

का अर्थ निकलता हो। यहां पर प्रकृति और प्रत्यय से उसकी स्वतन्त्रता का निवारण किया जा रहा है" (ऋ० १०।१२९।१२)

पृ० १२८६, अनु० १—"देवाः पितरो मनुष्याः' (अथर्व० ११।९।२५) इस मन्त्र का व्याख्यान भी ठीक नहीं। 'देवाः' का अर्थ विद्वान् कैसे?" श्रीमन्! यह पूर्व ही कहा जा चुका है कि जो ज्ञान से रक्षण करे, उसका नाम पितर तथा जो मननशील है, उसकी संज्ञा मनुष्य है। शब्दार्णव में दिव्य गान करनेवाले गन्धर्व, चन्द्रादि लोक तो प्रसिद्ध हैं, 'अप्सरा' इनकी स्त्रियां कही गई हैं।

आप यहां पर कह रहे हैं तो ब्राह्मणों की स्त्रियां अप्सराएं होंगीं? हां होंगीं, महाराज! आपको क्या चिन्ता है? कठिनाई यह है कि 'अप्सरा' का अर्थ आप वेश्या समझ रहे हैं। इस विषय में ही हमें कहना है कि आपसदृश पण्डितम्मन्यों ने लोकप्रसिद्ध अर्थ वेद के सिर मढ़ दिये, इसलिये वेदार्थों का ध्वंस हो गया। इस प्रकार तो वैश्य की स्त्री वेश्या हुई। लोक में उसका अर्थ 'वेश्या' के अर्थ में प्रसिद्ध है, तब वेश्या (वैश्य की स्त्री) इस अर्थ में प्रयोग नहीं किया जा सकेगा। देवपद के पाठमात्र से जो पितृ आदि विशिष्ट शब्दों से उपलभ्यमान हैं, वे अर्थ नहीं निकल सकते। इसी प्रकार मनुष्य देवादि हैं, मनुष्य कहने पर मननशीलता का विशेष गुण यहां वाच्य है। जैसे मनुष्य कहने से ब्राह्मणादि वर्णों के विशिष्ट गुण नहीं कहे जा सकते।

https://t.me/Dharmasarrat

यदुच्यते -"अत्र अपूर्णा एव विद्या उक्ताः" तत् सत्यम्, यथास्थाने प्रकाशयिष्यमाणत्वात्। सृष्टिवर्णने तद्विद्यैव प्रयोजनम्। सृष्टिज्ञानस्य प्रयोजनं तु परमात्मनो महामहिमख्यातिरेव, तया नश्वरसृष्टेर्वैराग्यमाधाय प्रभुं प्रति निष्ठाप्रतिष्ठावर्धनमपूर्वफलम्।

पूर्वं ब्रह्मविद्यां प्रतिपाद्य तत्सन्निधावेव सृष्टिविद्यावर्णने नातितरां श्रद्धा जायते जिज्ञासोरिति विषयक्रमोऽपि तात्पर्यवान्।

पृ० १२८७, पं० ७—यच्चाह—"यथा समुद्रादुत्पन्नानां तरङ्गफेनबुद्बुदादीनां समुद्रादन्यत्वं तथैव ब्रह्मण उत्पन्नानां ब्रह्मान्यत्वमित्यद्वैतात्मब्रह्मसाक्षात्कारे एव तस्या उपयोगः।" इति, तस्या उपयोगस्तु ऋष्यनुकूलः, परं यथा समुद्र उपादानं तत्परिणामश्च तरङ्गाद्युद्भावो न तथा ब्रह्म सृष्टि प्रत्युपादानकारणम् इत्यसकृद् विभिन्नयुक्तिप्रमाणैः साधितत्वान्नाधिकं प्रपञ्च्यतेऽत्र।

ननु केचन ब्रुवन्ति यद् वेदानां महाविद्वान् अयं वेदविरोधिचार्वाक-जैन-बौद्ध-पाश्चात्य-मैक्डानल-ग्रिफिथादीनां सिद्धान्तानां खण्डनं विधाय वेदमहत्त्वं

यहां पर ग्रन्थ-विस्तारभय से सम्पूर्ण विद्या प्रस्तुत नहीं की जा रही है। सृष्टि-विद्या का प्रयोजन भी प्रभु की महिमा जानना ही है। इस सृष्टि-विद्या को जानकर, वैराग्य प्राप्त कर, प्रभु के प्रति निष्ठा और प्रतिष्ठावर्धन ही अपूर्व फल है। पहले ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन करके उसके पास ही सृष्टिविद्या के वर्णन से जिज्ञासु में महान् महिमा देखकर अतितरां श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, अतः भूमिका का विषयक्रम भी विशेष महत्त्वपूर्ण है।

पृ० १२८७, पं० ७—यह कहना भी भ्रान्तिपूर्ण है कि "जैसे समुद्र से उत्पन्न तरङ्ग, फेन, बुदबुद प्रभृति समुद्र से भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से उत्पन्न सारी सृष्टि ब्रह्म से भिन्न नहीं है। इस प्रकार अद्वैत ब्रह्मात्मतत्त्व के साक्षात्कार में सृष्टिविद्या का उपयोग है।" अस्तु, उपयोग तो ऋषि के भावों के अनुकूल है; परन्तु जैसे समुद्र उपादान है और परिणाम तरङ्ग फेनादि है, वैसे ब्रह्म सृष्टि के प्रति उपादान नहीं है। हमने इसे पीछे बहुत से युक्ति-प्रमाणों से अनेकशः समझा दिया है, अतः यहां प्रपञ्चित नहीं किया जा रहा है।

शङ्का—कई कहते हैं कि श्री करपात्रीजी ने चार्वाक, जैन, बौद्ध, पाश्चात्य मैक्डानल-ग्रिफिथ आदियों के सिद्धान्तों का खण्डन करके वेद के महत्त्व की स्थापना इस वेदार्थपारिजात को लिखकर की है।

स्थापितवान् एतं महाग्रन्थं विलिख्य, तदसत्यम्, यथा कश्चित् स्वशत्रुकथितं दूषणमवैदिकं प्रतिपादयेत् परं वेदरक्षककपटवेशधारयितॄणां महीधरादीनामश्लील-गोवधमांसादिभक्षणमहादूषणानि 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' इति वाक्यं प्रमाणीकृतं पोषयेद् तद्वदेवेह। अनेन खलु महाशयेन स्वविद्वत्तापूर्ण-प्रतिभा रूढि-कीलकबन्धनान्नोन्मोचिता। वेदास्तावद् उच्चस्थानात् प्रच्यावितां एवानेन नूनमिति महापापम्।

न च पाणिनेरपि श्रद्धावता महाभाष्यकृता भगवता पतञ्जलिना 'अगमकं ते शास्त्रं प्रमादकृतम्' इति कथयित्वा भारतीयपरम्परा 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' इत्यनुरुध्यानेनाऽपि करपात्रिणा भूमिका खण्डितेति कथयन्तः सविवेकमानन्दमनुभवन्तीति नेदं साधु, प्रत्युत द्वेषबुद्ध्या छलादिपुरस्सरमयं व्याचष्टे सर्वत्र। न चानेन वादस्तत्त्वज्ञानार्थमङ्गीकृतः। वितण्डैवाधिकृता हेत्वाभासाश्च। इदमेव वक्तुमिहोचितं यत्—

समा०—यह असत्य है; क्योंकि जैसे कोई अपने शत्रु के आरोपित दूषण को तो अवैदिक कह दे; परन्तु वेद-रक्षक का कपटवेश धरनेवाले महीधरादि के अश्लील तथा गोवध, मांसादि-अर्थपरक महादूषण को 'वैदिकी हिंसा हिंसा नहीं होती' इस वाक्य को प्रामाणिक मानकर पोषित करे, उसी के समान यहां भी समझना चाहिये। इन महाशय श्री करपात्रीजी ने भी अपनी विद्वत्तापूर्ण प्रतिभा को रूढ़ि के खूंटे के बन्धन से खोला ही नहीं और वेदों को सिंहासन के उच्च स्थान से नीचे गिराकर महापाप किया है।

शङ्का—इस विषय में तो यह भी कहा जा सकता है कि भगवान् पाणिनि के भी श्रद्धा रखनेवाले भाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने भी 'अगमकं ते शास्त्रं प्रमादकृतम्' अर्थात् 'आपका शास्त्र अगमक तथा प्रमादकृत है' यह कहकर आचार्य का प्रत्याख्यान कई स्थलों पर किया है, तथा भारतीय परम्परा भी यही रही है कि 'वाद वाद में तत्त्वबोध होता है'। इस उक्ति के अनुरोध से करपात्रीजी ने भी भूमिका का खण्डन किया है, ऐसा कहकर कतिपय विवेकी विद्वान् भी आनन्दानुभूति करते हैं।

समा०—पर यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि इन्होंने पतञ्जलि के समान श्रद्धा रखते हुए नहीं, प्रत्युत द्वेषपूर्ण पक्षपातिनी बुद्धि से छलादिपुरस्सर प्रत्याख्यान किया है और न उन्होंने वाद ही किया है; क्योंकि वाद में तत्त्वज्ञान की अभिलाषा होती है। इन्होंने अधिकतर वितण्डा और हेत्वाभासों का आश्रय लिया है। यही यहां पर कहा जा सकता है कि—

https://t.me/Dharmasastra

कनकभूषणसङ्ग्रहणोचितो यदि, मणिस्त्रपुणि प्रणिधीयते ।
न स विरौति न चापि हि शोभते, भवति योजयितुर्वचनीयता ।।
(पञ्चतन्त्रे १।८१)

इति दिङ्मात्रम् ।

इति श्रीमद्बिहारीलालशास्त्रिशिष्येण श्रीयुतपण्डित-अयोध्याप्रसाद-मिश्रात्मजेन श्रीमदाचार्यविशुद्धानन्दमिश्रेण श्रीयुतनिर्मला-मिश्रा-सहधर्मिणीसहायेन विरचिते करपात्रिमतखण्डने दयानन्दीयमतमण्डने 'वेदार्थकल्पद्रुम'नामग्रन्थे 'सृष्टिविद्या-विषयः'
।। सम्पूर्णः ।।

स्वर्ण आभूषणों में जड़ने योग्य मणि यदि रांगे में जड़ ली जाती है, तो वह मणि विरोध और विलाप नहीं करती, पर योजयिता इसमें अवश्य निन्दनीय होता है।

श्रीमान् पण्डित बिहारीलालजी शास्त्री के शिष्य, श्रीयुत पण्डित अयोध्याप्रसाद मिश्र के आत्मज, श्रीमदाचार्य विशुद्धानन्द मिश्र द्वारा श्रीयुतनिर्मला मिश्रा सहधर्मिणी की सहायता से विरचित करपात्रिमतखण्डन तथा दयानन्दीय मतमण्डन करनेवाले इस 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में 'सृष्टिविद्या-विषय'
।। सम्पूर्ण हुआ ।।

अथ पृथिव्यादिलोकभ्रमण-विषयः

पृ० १२८८, अनु० १ —यदुक्तम्—"स्वाच्छन्द्यायैवायं व्याख्याता पारम्पर्यं ब्राह्मणानि सूत्राणि याज्ञिकपद्धतीश्चोपेक्ष्य स्वैरचारितां प्रदर्शयति।" इति तु सत्यम्, स्वं छन्दोऽभिलाषो यस्य तस्य भावस्तस्मै स्वाच्छन्द्याय एव, अर्थाद् अयं स्वाभिलषितार्थं न तु पराभिलषितार्थं गतानुगतिकतया व्याख्याति मन्त्रम् ।

वेद-विवेचने महर्षेः स्वः (आत्मा भूयोविद्यः) आर्ष(तर्क)प्रतिभासम्पन्नश्च आसीत् । येनासौ वेदविवेचनेऽनन्यदृशमभ्यपद्यत । यथा हि निघण्टौ (१।१) पृथिवीनामसु 'गोत्रा' इति पदमपाठीत्, परम् ऋग्वेदभाष्ये न क्वापि सायणाचार्योऽस्मिन्नर्थेऽपश्यदेतत्पदम् । निघण्टुटीकामाटीकमानो देवराजयज्वाऽपि 'निगमोऽन्वेषणीयः' इत्येव विलिखन् निववृते चिन्तनात् । प० सामश्रमी ऽपि सायणाचार्यमधिक्षिपन् व्यलेखीद् यद् बहुमन्त्रेषु श्रूयते गोत्रा पदं परं न तत् क्वापि पृथिवीपरम् । एवं च गोत्रेत्यस्य पृथिवीनामसु पाठः किं मुधैव ? नो चेदवश्यं सायणादि-

---

पृ० १२८८, अनु० १—महर्षि दयानन्द ने 'सब लोक भ्रमण करते हैं' यह बात वेदादि शास्त्रों के प्रमाण और युक्ति-तर्कों से सिद्ध की है। 'आयं गौः' मन्त्र को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है। जिसे आप पाश्चात्यों का प्रभावमूलक बता रहे हैं। तथा इनके भाष्य को आप विशृङ्खल बताते हुए लिखते हैं कि "व्याख्याकार परम्परा, ब्राह्मणग्रन्थ, सूत्रग्रन्थ और याज्ञिक पद्धति की सर्वथा उपेक्षा कर स्वतन्त्र अर्थ करने लगता है।" आपका यह कथन सत्य है कि ऋषि दयानन्द अपनी पवित्र अभिलाषा के लिये मन्त्र की स्वतन्त्रता से व्याख्या करते हैं। आपकी भांति गतानुगतिकता या अन्धानुकरण से व्याख्या नहीं करते।

महर्षि का स्व अर्थात् आत्मा भूयोविद्य आर्षप्रतिभासम्पन्न था। जिससे वे वेदविवेचन में अनन्य दृष्टि पा सके। उदाहरणार्थ—निघण्टु (१।१) में पृथिवी-पर्यायों में 'गोत्रा' शब्द आया है, परन्तु ऋग्वेद का भाष्य करने पर आश्चर्य है कि सायणाचार्य को 'गोत्रा' शब्द पृथिवी के अर्थ में कहीं नहीं दिखाई पड़ा। निघण्टु की टीका करनेवाले देवराज यज्वा ने भी केवल यह लिख दिया कि इसके प्रयोग के लिये निगम का अन्वेषण करना चाहिये। पं० सामश्रमी ने भी यही आक्षेप सायणाचार्य पर किया है कि बहुत से मन्त्रों में 'गोत्रा' पद आया है, पर सायण ने पृथिवीपरक अर्थ कहीं नहीं किया, तो क्या निघण्टु में पृथिवी-

https://t.me/DharmaSamrat

व्याख्यातृणामेव तत्र तत्र मन्त्रेषु दूषणमुररीकार्यम्—इति (देवराजटीकाटिप्पणी); परन्तु महर्षिर्दयानन्दः 'इदा हि त उषो अद्रिसानो गोत्रा' (ऋ० ६।६५।५) अस्य मन्त्रस्य भाष्ये 'गोत्रेति पृथिवी नाम' इति निर्दिशत्रवान्।

निष्कर्षोऽयं यद् ऋषिः समाधिनिर्धूतमलचेतसि पारम्पर्यादपि विशिष्टं यमर्थं पश्यति नवीनं तदनु व्याचष्टेऽयम्, न चोपेक्षते ब्राह्मणं न वा सूत्राणि, न चाऽपि यज्ञपद्धतीश्च। प्रतिज्ञाविषये प्रमाणं चात्र—

"परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यं तत्तदत्र विस्तरशो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेय-शतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसा-श्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्। पुनस्तत् कथने-नानृषिग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति।" अतएव न पिष्टपेषणं कृतम्।

यदुक्तम्—"गौरिति पदेन कथञ्चित् पृथिवी ग्रहीतुं शक्यते न पृथिवी-लोकः" इतीयं का खलु वाचो युक्तिः? कथञ्चिदिति शब्देन किं काठिन्यमुद्-घोष्यतेऽनेन? पृथिव्यर्थग्रहणे यश्चाधारः स एव पृथिवीलोकग्रहणेऽपि कथन्न सम्भवति?

वाचकों में इसका पाठ व्यर्थ है? परन्तु ऋषि दयानन्द ने 'इदा हि त उषो अद्रिसानो गोत्रा' (ऋ० ६।६५।५) इसके भाष्य में पृथिवी अर्थ किया है।

निष्कर्ष यह है कि ऋषि समाधिद्वारा निर्मल बनाये चित्त में परम्परा से भी विशिष्ट जिस अर्थ को देखते थे, उस रूप में व्याख्यान करते थे। तथापि वे कहीं भी ब्राह्मणग्रन्थ, और यज्ञपद्धतियों की उपेक्षा नहीं करते। वे प्रतिज्ञाविषय में लिखते हैं—

"परन्तु कर्मकाण्ड में लगाये हुए वेदमन्त्रों में से जहां-जहां जो-जो कर्म अग्निहोत्र से ले के अश्वमेध के अन्त तक करने चाहिये, उनका वर्णन यहां नहीं किया जायेगा, क्योंकि उनके अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग ऐतरेय शतपथ आदि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा श्रौत और गृह्यसूत्रादिकों में कहा हुआ है। उसी को फिर कहने से पिसे को पीसने के तुल्य अल्पज्ञ पुरुषों के लेख के समान दोष इस भाष्य में भी आ सकता है। इसीलिये जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल युक्ति-प्रमाण-सिद्ध है, उसी को मानना योग्य है, अयुक्त को नहीं।"

"गौः पद से किसी तरह पृथिवी का ग्रहण किया, जा सकता है; किन्तु पृथिवीलोक का नहीं।" यह कहने का ढंग भी अयुक्त है। 'कथञ्चित्' इस शब्द से आप क्या कठिनता प्रकट करना चाहते हैं, यह नहीं बताया। जो आधार पृथिवी के ग्रहण करने का है, वहां पृथिवीलोक ग्रहण करने में भी क्यों नहीं हो सकता?

यदुदाह्रियते—"यथा व्रीहिपदेन व्रीहित्वजातिविशिष्टमन्नं ग्रहीतुं शक्यते, न तन्निर्मितास्तण्डुला वा ओदना वा।" तन्न सङ्गच्छते। यतो हि एतत्प्रदेशीयो जनो व्रीहिपरिपुष्टः, एतस्य कुट्टितव्रीहिनिःसृततण्डुल-पक्वौदनभक्षणेन परिपुष्टः, इत्येवार्थोऽवगम्यते, व्रीहीणां सतुषाणामशनाऽसम्भवात्। व्रीहिपदेनान्नं ग्रहीतुं शक्यते चेद् भवदुक्त्यैव, तदा तण्डुलानान्तु ग्रहणमनिवार्यत्वेन सम्पत्स्यते। यथा चोक्तम्—

शस्यं क्षेत्रगतं प्रोक्तं सतुषं धान्यमुच्यते।
निस्तुषस्तण्डुलः प्रोक्तः स्विन्नमन्नमुदाहृतम्॥

अन्नात् पूर्वस्थितिगतास्तण्डुलाः कथं न ग्रहीतुं शक्यन्ते? एवं 'गो'शब्देन पृथिव्या ग्रहणे पृथिवीलोकोऽपि ग्रहीष्यते। महीधरोऽपि 'द्यौः पिता पृथिवी माता' इत्यत्र प्रस्तौति द्युलोक-भूलोकयोर्माता। पितृत्वमन्यत्राऽपि श्रूयते इति। एवं गो-शब्दस्य पृथिवीवाचकत्वे पृथिवी(भू)लोकस्याऽपि ग्रहणं भवत्येव। एवमेव 'भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव' (यजु० ३।५) मन्त्रे पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोका अभिधेयाः, इति व्याहृतम् उव्वटाचार्येणापि।

यह उदाहरण कि "व्रीहि पद से व्रीहित्व-जाति-विशिष्ट अन्न ग्रहण किया जा सकता है और उनसे निर्मित तण्डुल या भात ग्रहण नहीं होंगे" संगत नहीं है, क्योंकि इस देश के जन व्रीहि से परिपुष्ट हैं, इस अर्थ में कुटे हुए व्रीहि से निःसृत चावल और उसके भात से परिपुष्ट हैं, यही अर्थ होगा। कारण यह है कि भूसी सहित व्रीहि का खाना असम्भव है। 'व्रीहि' पद से यदि 'अद्यते तद् अन्नम्' अन्न का ग्रहण किया जा सकता है, तो उनसे निर्मित तण्डुल या भात ग्रहण अवश्य होंगे। आपके ही कथन से तब अनिवार्यतया 'तण्डुल' अर्थ निकलेगा ही। जैसा कि कहा है—

क्षेत्रगत को शस्य कहते हैं। निष्तुष को तण्डुल और पकाने पर अन्न कहते हैं।

अन्न से पूर्व स्थिति में तण्डुल होते हैं, तब स्वतः ही उनका ग्रहण होगा। इस प्रकार 'गो' शब्द से 'पृथिवी' ग्रहण होने पर 'पृथिवीलोक' का भी ग्रहण हो जायेगा। जैसे 'द्यौः' शब्द से द्युलोक का ग्रहण हो जाता है। आपके आराध्य मही-धर ने भी 'द्यौः पिता' यहां पर द्युलोक और पृथिवीलोकों की माता ऐसा लिखकर केवल 'पृथिवी' शब्द से पृथिवीलोक का ग्रहण किया है। इसी प्रकार 'गो' शब्द के पृथिवीवाचक होने पर पृथिवीलोक का भी ग्रहण हो जायेगा। इसीलिये 'भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव' मन्त्र में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक कहने चाहिये, यह उव्वटाचार्य ने भी लिखा है।

https://t.me/Dharmadaamrat

विद्वेष विष-दूषित-दृशा ऋषि-भाष्ये तु प्राहार्षीदयम्, न परं माहीधरे मनोहरे वेददीपे भाष्ये। यत्रासौ 'घर्मोऽसि०' (य० १।२) मन्त्रे घर्मशब्देन लोकेऽप्रसिद्धदीपकार्थम्, पुनः पारम्पर्येणान्तरिक्षलोकं गृह्णाति। यथा—'घर्मः दीपकः संचारस्थानप्रदानेन वायोर्दीपकोऽभिव्यञ्जकोऽन्तरिक्षलोकः' इति। कोशे तु घर्मार्थाः—'घर्मः स्यादातपे ग्रीष्मेऽप्युष्णस्वेदाम्बुनोरपि' इति।

पृ० १२८८, पं० ३-४—यदप्युच्यते—"पृथिवीवाचको गोशब्दस्तु न पुल्लिङ्गः, किन्तु स्त्रीलिङ्गः, अत्र त्वयमिति पुल्लिङ्गनिर्देश एव तद्व्याख्यानमुपहन्ति।" इति, तदप्यविचारफलम्। यतो हि—

(१) नहि लौकिकैर्नियमैर्वेदो निगडयितुं शक्यते।

अथवा

(२) लोकेऽपि नाम मतभेदो लिङ्गलिङ्गतोऽर्थप्रयोगे—

(क) 'नृस्त्रियोः स्वर्गवज्राम्बुरश्मिदृग्वाणलोमसु' इति केशवः।

(ख) 'स्त्री सौरभेयी दृग्वाणदिग्वाग्भूष्वप्सु भूम्नि च' इति मेदिनी।

विद्वेष-विष से दूषित दृष्टि से आपने ऋषि के भाष्य पर तो असफल प्रहार किया है; परन्तु मन का हरण करनेवाले वेददीप भाष्य पर कोई प्रहार नहीं किया, जब कि वे 'घर्मोऽसि' इस मन्त्र में 'घर्म' शब्द से लोक में अप्रसिद्ध दीपक अर्थ लेते हैं, फिर परम्परा से अन्तरिक्ष लोक अर्थ लेते हैं। यथा—घर्म अर्थात् दीपक संचारस्थान प्रदान करने से वायु का दीपक अभिव्यञ्जक अन्तरिक्षलोक है। जब कि कोश में घर्म के अर्थ 'आतप, ग्रीष्म, उष्ण और स्वेद जल' हैं।

पृ० १२८८, पं० ३-४—आ०—"पृथिवी अर्थ का वाचक 'गो' शब्द पुल्लिङ्ग न होकर स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। इस मन्त्र मे 'गो' शब्द का प्रयोग पुल्लिङ्ग में हुआ है, क्योंकि उसका विशेषण 'अयम्' यह पुल्लिङ्ग है। इससे दयानन्द की व्याख्या गलत है।"

समा०—यह कथन भी विचारशून्यता का द्योतक है, क्योंकि—

(१) लौकिक नियमों की बेड़ियां वेद के पगों में नहीं डाली जा सकतीं।

अथवा

(२) लोक में भी लिङ्गानुसार अर्थबोधकता में भेद पाया जाता है, जैसे—

(क) गो शब्द स्त्रीलिङ्ग और पुल्लिङ्ग दृग् और वाण अर्थ में केशव के मत में प्रयुक्त है।

(ख) विश्वकोश और मेदिनीकोश के अनुसार केवल स्त्रीलिङ्ग गो शब्द दृग् वा वाण अर्थ में प्रयुक्त है।

(ग) 'स्वर्गेषु पशुवाग्वज्रदृङ्नेत्रघृणिभूजले। लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि' इत्यमरः।

न वास्ति पाणिनीय प्रतिबन्धोऽमुकलिङ्गकशब्दस्यामुकार्थे प्रयोगस्य।

पृथिवीनामधेयेषु निघण्टौ 'गौः' इति पठ्यते। एवं गौः गोसम्बन्धिगव्यं पयो दध्यादिकम्, पृथिवी तत्सम्बन्धी तद्रूपपृथिवीगोलोऽपि गौरस्त्येव। यतो हि तद्धितार्थेन निगमो भवति। लक्ष्यगोलदृष्ट्या अत्र 'अयम्' इति प्रयोगसार्थक्यम्; अतो महर्षिव्याख्यानं सर्वथोपपन्नम्। अथवा पृथिवीदेवतामन्त्रेऽपि लिङ्गवचनमतन्त्रम्।

'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० ९।४६।४) इत्यत्र गोसम्बन्धिपयोऽर्थेऽन्यत्रापि तत्सम्बन्धि-विभिन्नार्थेषु गौः शब्दो युज्यते। अत्र हि गोललोकयोरेकतरापेक्षया 'अयं' पदप्रयोगो विद्यते।

अथवा लिङ्गं धातुं विभक्तिं यथार्थं सन्नमयेत्। 'पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ' (यजुः १।१२) अत्र पवित्रे इति नपुंसकलिङ्गे, वैष्णव्यौ इति च पुल्लिङ्गे।

(ग) अमरकोश के अनुसार लक्ष्यदृष्टि से स्त्रीलिङ्ग या पुल्लिङ्ग में शब्द-वाचक होगा; परन्तु पाणिनि ऋषि का कोई प्रतिबन्धक नियम इस विषय में नहीं है। लक्ष्यार्थ पर भूलोक या भूगोल है। पुल्लिङ्ग गो शब्द इस अर्थ का बोधक होगा।

पृथिवी के नामों में निघण्टु में 'गौः' यह शब्द पढ़ा जाता है। और गौ शब्द का अर्थ प्रकरणानुसार गोसम्बन्धी दूध, दही आदि हो जाते हैं। उसी प्रकार पृथिवी तथा तत्सम्बन्धी पृथिवीरूप, पृथिवीगोल आदि भी 'गौ' कहला सकते हैं। क्योंकि तद्धितार्थ में निगम होते हैं, अतः लक्ष्य गोल या लोक को दृष्टि में रखकर 'अयम्' शब्द विशेषण सर्वथा सङ्गत है। फलतः महर्षि-व्याख्यान सर्वथा उपपन्न है, अथवा पृथिवी देवता मन्त्र में लिङ्गवचन अतन्त्र हैं, यह समझना चाहिये।

'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० ९।४६।४) इसमें गो शब्द से 'गो' सम्बन्धी दूध अर्थ लिया जाता है।

अथवा लिङ्ग, धातु वा विभक्ति को अर्थानुसार कर लेना चाहिये। लिङ्ग को वाक्यवशात् कर ही लें। 'पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ' इस यजुर्वेद (१।१२) के मन्त्र में 'पवित्रे' नपुंसकलिङ्ग है और 'वैष्णव्यौ' यह पुल्लिङ्ग है। तो वहां जैसे

https://t.me/DharmaSamrat

तत्र वैष्णव्यावित्यस्य सन्नतिस्तथाऽत्रापि ।

पृ० १२८८, अनु० २—यदुक्तम्—"स्वः पृश्निर्नाक इति षट्सु साधारणनामसु पृश्निरित्यन्तरिक्षस्य नामोक्तं निरुक्ते, तदपि तुच्छम्, अन्तरिक्षनामसु न रुक्ते पृश्ननामानुपलम्भात् ।"

महोदय ! पुरोभागिता भवतो न गुणबहुलां शब्दावलीं निभालयति इति विस्मयः । ऋषिस्तु स्पष्टं ब्रूते—षट्सु साधारणनामसु पृश्निरिति अन्तरिक्षस्य नाम उक्तं निरुक्ते । अर्थाद् अन्तरिक्षवाचकं नाम षट्सु साधारणनामसु उक्तं भवति । न ऋषिरुक्तवान् यद् अन्तरिक्षनामसु पठितमिति । तस्मान् निरुक्तेऽन्वेषणीयम् ।

वस्तुतो भवान् साधारणशब्दस्य तात्पर्यं न विचिनोति, अतोऽत्र तुच्छमुक्तं भवता । कृपया ध्यायतु—तथाहि—सह आधारणेन वर्तन्ते इति साधारणानि, 'वोपसर्जनस्य' (अष्टा० ६।३।८१) इति 'सह'शब्दस्य 'स' आदेशः । अपि वा समानमाधारणं येषु तानि । स्वरादीनां षण्णाम् आधारणमाधारस्तु अन्तरिक्षमेव, तेन सहैवैतेषां स्थितिरित्येवं न काऽपि विप्रतिपत्तिरवशिष्यते । अथवा—"समानं

वैष्णव्य में तदनुसार लिङ्ग मान लेते हैं, उसी प्रकार प्रकृत में भी समझना चाहिये ।

पृ० १२८८, अनु० २—पू० प०—"स्वः, पृश्निः, नाकः आदि छः साधारण नामों में वहां 'पृश्नि' नाम अन्तरिक्ष का दिया गया है, यह भी निराधार है; क्योंकि अन्तरिक्ष के नामों में 'पृश्नि' शब्द कहीं भी उपलब्ध नहीं होता ।"

उ० प०—महोदय ! आपकी दृष्टि दोषों को ही देखने की है, अतः वह गुणबहुल शब्दावली को देख ही नहीं पाती, यह विस्मय है । किसी ने सच कहा है—'जिस सिक्त देखती है उधर देखती ही नहीं,अफसोस यही काम तुम्हारी नजर का है ।" ऋषि ने तो स्पष्ट लिखा है कि छः साधारण नामों में 'पृश्नि' यह अन्तरिक्ष का नाम निरुक्त में कहा है । ऋषि ने यह तो नहीं कहा है कि 'अन्तरिक्ष' नामों में निघण्टु में पढ़ा गया है । फिर आपको अन्तरिक्ष के पक्षियों में कैसे मिल जाता । अब खोजना यह है कि निरुक्त में कहां कहा है ? सो आगे बतायेंगे ।

वस्तुतः आप साधारण शब्द का अर्थ ही नहीं जानते, अतः यहां तुच्छ कहा है । कृपया साधारण शब्द पर ध्यान दीजिये—आसमन्तात् धारण, आधारण, इसके साथ वर्तमान 'साधारण' कहलाता है, अर्थात् जो समस्त वस्तुओं को धारण करता हुआ सदा रहता है । सभी वस्तुओं के साथ रहनेवाला है, अथवा जो समानरूप में धारण किये जावें, वे उत्तर छः स्वः, पृश्निः, वाक् आदि हैं । उत्तर शब्द प्रकृत

ध्रियन्त इति साधारणानि । उत्तराणि प्रकृतमपेक्ष्य । किं वाऽत्र प्रकृतम् ? अन्तरिक्षनामानि, तेभ्य इमान्युत्तराणि ।" (दुर्गाचार्यवृत्तिः २।१३)

निरुक्तनाम्ना ह्यत्र सनिघण्टु एव निरुक्तमभीष्टमृषेरिति व्यज्यते । तथा च 'इमानि नैघण्टुकानि संसृष्टरूपाणि द्युनामभिः साकमिह नैघण्टुकप्रकरणे निरुच्यन्ते' इति दुर्गोऽपि । 'दिवश्चादित्यस्य च' इत्यत्र दिव्शब्देनान्तरिक्षं गृह्यते । यथा स्वः, पृश्निः, वाक् आदिशब्दानामादित्यार्थेऽपि दिवोऽर्थः (अन्तरिक्षार्थः) सर्वत्र निरुक्ते सुघटितस्तात्स्थ्यात् । 'दिवं जिन्वन्त्यग्नयः' (ऋ० १।१६४।५१) एतादृशश्रुतिषु द्युशब्दो नूनमन्तरिक्षस्योपलक्षकः । 'सुपर्णो धावते दिवि' (यजु० ३३।९०) इति सूर्यस्य द्युस्थत्वम् । 'दिवि पृष्टो अरोचत' (य० ३३।९२) "योऽग्निर्वैश्वानरो दिवि पृष्टो द्युलोके स्थित आदित्यात्मना अरोचत ।" इत्युव्वटेनाऽपि दिव्शब्देनान्तरिक्षमेव ध्वनितम्, द्युपर्यायस्य सूर्यस्यान्तरिक्षस्थत्वात् । एवं समेषां लोकानामन्तरालप्रदेशोऽन्तरिक्षम्, बुधशुक्रादीनामपि भू-स्वरूपत्वात् ।

यद् भवान् ब्रूते—यत्र दिव्शब्देनान्तरिक्षग्रहणम्, तदा भवतैव बोद्धव्य आसीद् ग्राह्योऽन्योऽर्थः । अत ऋषिदयानन्दप्रतिपादित एवार्थो विज्ञानानुकूलः, सर्वलोकानामन्तरिक्ष(आकाश)स्थत्वात् । इयं च महीधरस्य भवन्मुखे चपेटिका यदत्रावलेखीत् (यजु० १७।६५) 'दिवोऽन्तरिक्षस्य' तथा (यजु० २९।१७) दिवा

की अपेक्षा में प्रयुक्त होता है, प्रकृत यहां पर अन्तरिक्ष नाम है । अतः इससे ध्वनित होता है कि विशिष्टरूप में अन्तरिक्षवाचक ऊपर नाम है, पर ये छः सामान्यतया हैं । ये छः दिव् तथा आदित्य के सामान्यतया वाचक हैं ।

निरुक्त शब्द से यहां पर ऋषि को सनिघण्टुक निरुक्त अभीष्ट है । दिव् शब्द से भी यहां पर अन्तरिक्ष का ग्रहण होता है । उक्त छः शब्दों का आदित्य तथा दिव् में अर्थ है । ऋ० १।१६४।५१ में दिव् शब्द का निश्चितरूपेण अन्तरिक्ष अर्थ है । तथा यजु० ३३।९० में भी सूर्य द्युस्थत्व है । आदित्यरूप में सूर्य द्युलोक में प्रकाशित है । इस प्रकार उव्वट ने भी दिव् शब्द से अन्तरिक्ष का ग्रहण किया है । अन्तरिक्षस्थ होने से 'दिव्' का पर्याय सूर्य भी है । इस प्रकार सभी लोकों का अन्तरालप्रदेश अन्तरिक्ष है । भूस्वरूप बुध, शुक्रादि का भी है ।

यह तो आप कह रहे हैं कि 'दिव्' शब्द से अन्तरिक्ष का ग्रहण नहीं हो सकता, तो आप ही बताइये अन्य कौन सा ग्रहण होगा । अतः ऋषि दयानन्द का अर्थ विज्ञानानुकूल है, क्योंकि सारे लोक अन्तरिक्ष में ठहरते हैं । इस पर भी आपके मुंह पर यह महीधराचार्य का चपत है । वे स्पष्ट ही 'दिव्' का अर्थ अन्तरिक्ष कर रहे हैं । देखिये—'क्रमध्वमग्निना०' (यजु० १७।६५) इस मन्त्र में

https://t.me/Dharmasamrat

नभो मार्गे पतङ्गं सूर्यं प्रति, इति च। आदित्यस्थत्वात् पृश्निरन्तरिक्षम्। प्रकाशमयोऽपि यदि द्युलोकः, सोऽप्यन्तरिक्षान्तर्गतः। महीधरस्तु यजुषि २४।४, २।१६, ७।१६, १७।६० मन्त्रेषु क्रमशः विन्दुः, पृश्निः, भूमिः, आदित्यो, द्युलोको वा, विचित्रवर्ण इत्यर्थांश्चकार।

महाशय! परिवर्त्तिनि संसारे भूमि(पृथिवी)सूर्यचन्द्रनक्षत्रादयः समेऽपि भ्रमन्तश्चलन्ति। यथा पृथिवी सूर्यं परितः तथा पृथिवीं परितश्चन्द्रमा भ्रमति। सामश्रमीमहोदयोऽपि (ऐतरेया० २१७ पृष्ठे) लिखति—"वस्तुतः सौरजगन्मण्डलस्थितानामस्मदादीनां दृष्ट्या सूर्यस्य गतिराहित्येऽपि सौरजगन्मण्डलस्य न तथात्वमिति सर्वसिद्धान्तः। अतः सर्वतोऽधिकविस्तृता भवत्यस्य कक्षा (भ्रमणमार्गः)।"

तत्रैव २१६ पृष्ठे च—

"त्रिकद्रुकेभिः पतति षडुर्वीरेकमिदं बृहत्।
त्रिष्टुब्गायत्रीछन्दांसि सर्वा ता यम आहिताः॥"
(ऋ० १०।१४।१६)

'ततो दिवोऽन्तरिक्षस्य पृष्ठम्' तथा 'आत्मानं ते मनसा०' (यजु० २९।१७) में 'दिवा नभो मार्गे पतङ्गं सूर्यं प्रति'। अब कहिये, यहां आकाश अन्तरिक्ष द्यौ से सर्वथा पृथक् कहां रहा? अतः पृश्नि का अर्थ द्युलोक या अन्तरिक्ष है, और आदित्यस्थान होने से धातुसंगत अर्थ अन्तरिक्ष हो ही जायेगा। महाराज! प्रकाशमय लोक को 'द्युलोक' कहते हैं। आपने कभी यह भी पढ़ा कि पृश्नि का अर्थ अन्तरिक्ष तो दूर रहा, आपके आराध्य महीधर ने तो यजु० २४।४, २।१६, ७।१६, १७।६० में तो क्रमशः विन्दु, पृश्नि, पृथिवी, आदित्य, द्युलोक और विचित्रवर्ण अर्थ किये हैं, उन पर आपको आक्षेप की नहीं सूझी।

महाशय! इस परिवर्त्तनशील संसार में पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि सभी घूमते हुए चलते हैं। जैसे कि पृथिवी सूर्य के और चन्द्रमा पृथिवी के चारों और घूमता है। सनातनधर्मी सामश्रमी महोदय ने भी ऐतरेयालोचन में पृ० २१७ पर लिखा है कि "वास्तव में सौरजगन्मण्डल में स्थित हम लोगों की दृष्टि की अपेक्षा से सूर्य के गतिरहित होने पर भी (यहां 'हम लोगों की दृष्टि की अपेक्षा से' यह ध्यान देने योग्य है) सौर जगन्मण्डल की गतिरहित स्थिति नहीं है, यही सभी का सिद्धान्त है। इसलिए इसकी कक्षा अर्थात् भ्रमणमार्ग अधिक विस्तृत होता है।"

वहीं पर पृष्ठ २१६ में ऋग्वेद के (१०।१४।१६) मन्त्र के 'पतति' का अर्थ

इत्यत्र 'पतति' स्वस्वकक्षासु भ्रमति इत्यर्थः। पृश्निरित्यपि द्वितीयान्तं भविष्यति, अर्थपरिसाधनस्येष्टत्वात्।

पृ० १२८९, पं० १३—आ०—यदुक्तम्—"अद्भ्यः पृथिवी' इति श्रुत्याऽपां पृथिव्याः कारणत्वात् पृथिवी मातरं समुद्रजलमसदत् प्राप्ता स्वः सूर्यं पितरमग्निमयं च पुरः पूर्वं पूर्वं प्रयन् सन् सूर्यस्य परितो यातीति, तदपि निर्मूलम्। 'अद्भ्यः पृथिवी' इति रीत्या अपञ्चीकृतानामपां पृथिव्याः कारणत्वेऽपि न समुद्रजलं कारणम्, तस्य पञ्चीकृतरूपत्वात्।" इति।

समा०—प्रेक्षावन्तो विचिन्वन्त्वत्र तत्त्वम्—यन्नात्र प्रपञ्चीकृताऽप्रपञ्चीकृतानामपां प्रश्नः। जलमस्ति पृथिव्याः कारणमित्यस्ति शास्त्रानुगतः सिद्धान्तः। हिन्द्यां तु—"पृथिवी जल के परमाणुओं के साथ अपने परमाणुओं के संयोग से ही उत्पन्न हुई है और मेघमण्डल के जल के बीच में गर्भ के समान रहती है।" इति स्पष्टं प्रत्यपादि महर्षिणा। नास्ति तत्र काचिद् विप्रतिपत्तिः, शास्त्रानुकूलत्वात्। समुद्रजलं त्वत्र कारणत्वेन न प्रतिपादितम्। कल्पितपदावलीप्रस्तुत्या प्रवाचकानां भ्रान्त्युत्पादनमात्रमेवैतस्य लक्ष्यम्।

अथाप्यनेन बोद्धव्यं यदाकाशमपि 'समुद्र' इत्युदीर्यते, 'समभिद्रवन्त्य-

---

अपनी-अपनी कक्षाओं में भ्रमण करना सिद्ध है।

पृ० १२८९, पं० १३—आक्षेप—"जल से पृथिवी की उत्पत्ति बतानेवाली श्रुति के अनुसार पृथिवी अपने कारणभूत, अत एव मातृस्थानीय समुद्र के जल को प्राप्त करती है और अग्निमय सूर्य उसके पिता के समान है, इसलिये यह सूर्य के चारों और घूमती है, यह (भूमिका का) कथन भी सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि उक्त श्रुति के अनुसार अपञ्चीकृत जल यद्यपि पृथिवी का कारण है, किन्तु समुद्र का जल उसका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो पंचीकृत प्रक्रिया के अन्तर्गत आ जाता है।"

समा०—बुद्धिमान् जन तत्त्व का विवेचन करें कि वहां पञ्चीकृत और अपञ्चीकृत जलों का प्रश्न ही नहीं उठाया गया है। साधारणरूप में जल पृथिवी का कारण है, यह कहा गया है और यह शास्त्रीय सिद्धान्त है। इस समुद्र के जल को तो कारण नहीं कहा गया है। हिन्दी में भी स्पष्ट किया गया है कि "पृथिवी मेघमण्डल के जल के बीच में गर्भ के समान सदा रहती है।" आपने कल्पित पदावली प्रस्तुत करके पाठकों के लिये भ्रान्ति उपस्थित की है।

संस्कृत में आया हुआ 'समुद्रं प्राप्ता सती' का अर्थ है कि समुद्र के जल को

https://t.me/DharmaSamrat

स्मादापः' इति निरुक्तवचनात् । तथा सत्याकाशे भवन्त्येवापञ्चीकृतानि जलानि, परमत्र तु ससमुद्रा पृथिवी भ्रमतीत्येवाशयः ।

यदाह "पृथिव्यामेव समुद्रजलं भवति न पृथिवी जलं प्राप्नोति, तस्य तदाश्रितत्वेन नित्यप्राप्तत्वात् ।" इत्यपि न सम्यक् । लोके यथा पुत्रः पितरं प्राप्तस्तद्वज्जडवस्तुष्वपि लोकव्यवस्थार्थं जलस्य कारणस्याभ्यर्हितत्वात् पृथिवी जलं प्राप्ता एतीति प्रयोगः, पृथिवी-तले जलस्य अधिकक्षेत्रव्याप्तत्वात् ।

वस्तुतः 'आयं गौः' इति मन्त्रे पृथिव्याः स्वाक्षोपरि प्रात्यहिकं भ्रमणं सूर्यमभितश्च वार्षिकप्रदक्षिणमावर्तनम् इति द्विविधा गतिः प्रव्यक्त प्रतिपाद्यते । इह 'पृश्निः' इत्यनेनायमप्यर्थ ऊहनीयो यत् पृश्निर्भूतानां प्राणरक्षिका गौः असदत् । अविरतं मातरं मानदण्डभूतं स्वाक्षदण्डमक्रमीद् भ्रमति । पुनः पितरं भूतानां पातारं सूर्यमित्यर्थः । पुरः पुरतश्च स्वः प्रयद् द्युलोकं प्रयन् आक्रमन्ती सती आसमन्तात् प्रदक्षिणां पुर एव आवर्तत इति भावः । अतएव ४२१ मितशाकोद्भवेन आर्यभट्टेनापि स्वीये 'आर्यसिद्धान्ते'—

साथ-साथ लेकर सूर्य के चारों ओर घूमती है, अथवा समुद्र का अर्थ जिससे जल गिरते हैं, अर्थात् आकाशस्थ मेघमण्डल भी होगा । सृष्टिरचना के समय तो वे जल जो कारण हैं, वे अपञ्चीकृत ही हैं ।

यह कथन कि "पृथिवी में ही समुद्र का जल होता है, न कि पृथिवी जल को प्राप्त करती है, क्योंकि वह जल तो पृथिवी के आश्रित होने से नित्य प्राप्त है ।" आपका यह कथन भी ठीक नहीं है । पृथिवी का कारण भी जल है तथा पृथिवीतल के अधिक क्षेत्र को जल घेरे हुए है, अतः जड़ वस्तुओं में भी चेतनवत् सम्मानक्रम रक्खा गया । जसे लोक में पिता और पुत्र के मिलने पर दोनों एक-दूसरे को प्राप्त होते हैं; तथापि आदरार्थ पुत्र ने पिता को प्राप्त किया यह कथन लोक-व्यवस्था के लिये अधिक उपयुक्त है, उसी प्रकार यहां पर भी है ।

वस्तुतः 'आयं गौः' इस मन्त्र में महर्षि दयानन्द ने पृथिवी का भ्रमण दिखाया है, अर्थात् पृथिवी अपने अक्ष (धुरी) पर प्रतिदिन तथा सूर्य के चारों ओर वर्ष भर भ्रमण करती है, इस दो प्रकार के भ्रमणसिद्धान्त का उद्घाटन किया है । यहां पर 'पृश्नि' से प्राणियों की प्राणरक्षा का भाव है । निरन्तर मानदण्डरूप अपने अक्ष पर भ्रमण करती है, तथा प्राणियों के पाता उस हिरण्यसूर्य पिता की भी परिक्रमा करती है, तथा प्रत्येक अन्तरिक्ष में आक्रमण (भ्रमण) करती हुई आती है । इसलिये ४२१ शाके में उत्पन्न आर्यभट्ट ने भी 'आर्यसिद्धान्त' में लिखा है—

अनुलोमगतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत् ।
अचलानि भान्ति तद्वत् समपश्चिमगानि लङ्कायाम् ॥

इत्यादिना भूमेर्गतिद्वैविध्यमभिव्यक्तीकृत ।

मातृपितृत्वरूपके त्वेवमवगन्तव्यं यद् यत्र तिष्ठति आश्रयते तत्र मातृत्वम्, तदाश्रितरूपं पोषकं पोषण-सहायकं वा तत्र पितृत्वमिति विवेकः । एवं पृथिवीं प्रति माता, समुद्रजलं मेघमण्डलजलमपि वा सूर्यश्च पिता । एवं सूर्यस्याऽपि आकाशः समाश्रयत्वेन माता वायोस्तु तत्पोषणत्वात् पितृत्वमुपमितम् । चन्द्रमसोऽपि जलाश्रयत्वेन मातृत्वम् अग्नेश्च पितृत्वं मन्यते । नह्यत्र कार्यं कारणत्वेन कारणस्य परिभ्रमणं कुरुत इत्यभिप्रयणमिष्टम्; प्रत्युत लघुर्ज्यायांसम्, ज्यायान् ज्येष्ठं वा, परमेशविहिताकर्षणसिद्धान्तानुरोधाद्वा पर्येति । न चाऽपि अलङ्कारनिवेश इह कार्यकारणभावमभिनिविशते ।

पृ० १२९०, पं० ५—यच्चोक्तम्—"पाश्चात्यानां दृष्ट्या बलात्तत्पुच्छग्राहकत्वेन तद् भ्रमणसाधनम् ।" तत्त्वलीकटीकम्, अबल्गास्यगलितं वचः ।

अहो ! मौग्ध्यदग्धवैदग्ध्यम् ! अहो रूढिकीलकीलितकल्पनाकलाबलीय-

"अनुलोम गतिवाली नौका में स्थित पुरुष पर्वत को विपरीत दिशा में जाता हुआ देखता है ।" इत्यादि से भी गति की द्विविधता स्पष्ट है ।

माता और पिता के रूपक में इस प्रकार समझना चाहिये कि जहां पर आश्रय करे, वह 'माता,' माता के आश्रित का पोषक सहायक 'पिता' कहलाता है । इसी प्रकार पृथिवी के प्रति जल, समुद्रजल अथवा मेघमण्डलगत जल भी माता और सूर्य पिता है । इसी रूप में सूर्य का पिता वायु और आश्रय आकाश को माता कहा गया है । चन्द्रमा का भी जल माता और अग्नि पिता माना जाता है । कार्य, कारण का कारण होने से नहीं, प्रत्युत छोटा बड़े का, और बड़ा अपने से बड़े का परिभ्रमण करता है । इसमें परमेश्वर द्वारा किया हुआ आकर्षण का सिद्धान्त काम करता है । यह अलङ्कारनिवेश कार्य-कारण भाव का प्रकाशन नहीं करता ।

पृ० १२९०, पं० ५—यह कहना कि "सारा प्रयत्न पाश्चात्यों की दृष्टि के अनुसार उनकी पूंछ पकड़ कर चलनेवाली उस बुद्धि का परिणाम है, जिससे मन्त्रों का जबरदस्ती इस तरह का अर्थ कर पृथिवी के भ्रमण की बात सिद्ध की जाती है ।" यह सब मिथ्या टिप्पणी और बेलगाम बकवास है ।

अहो ! इनका वैदग्ध्य भी मुग्धताग्नि से दग्ध हो गया । आश्चर्य है, रूढ़ि

https://t.me/Dharmasamrat

स्त्वम् ! तदेष एकतः साम्प्रतिकविज्ञानप्रत्यक्षीकृतमपि भ्रमणसिद्धान्तममन्वान-स्त्रिकालदर्शियोगिविदुषामनधिगतमनभिध्यातं चावधार्य पाश्चात्यप्रदत्तं तदप्रति-हतमतितत्कीर्तिलता-कलाप-कर्त्तने प्रवृत्तः, अपरतश्च महर्षिर्दयानन्दः सर्वविद्या-निधानवेदे भ्रमणादिविज्ञानमूलकत्वं प्रतिपादयन् ऋषीणामार्यसंस्कृतेश्च वरिमाणं गरिमाणं च गृणीते ।

अस्मिंश्चापरं प्रमाणमतिस्पष्टं वेदे पृथिव्या भ्रमणे—

अहस्ता यदपदी वर्धत क्षाः शचीभिर्वेद्यानाम् ।
शुष्कं परि प्रदक्षिणिद् विश्वायवे नि शिश्नथः ॥
(ऋ० १०।२२।१४)

"क्षा हि पृथिवीनाम, सा अपदा पदरहिता हस्तरहिता अवलम्बनरहिता ज्ञातव्य-तत्त्वानां कर्मभिः प्रज्ञाभिश्च धनधान्यवृद्धिं प्राप्ता भवति । शुष्णं शोषयितारं सूर्यं पर्यवेष्टच प्रदक्षिणां कुरुते । अवर्षणकृतधनधान्यादिराहित्येन हे ईश्वर ! पृथिव्याः त्वमेव हिंसनं कुरुषे ।" इति ।

पृ० १२९०, पं० ६—यदुच्यते—"सूत्रानुसारेण मन्त्रोऽयमग्न्युपस्थाने विनि-युक्तः।" भवतु नाम याज्ञिकैः परिकल्पितो विनियोगः, परं विनियोगान्नान्यार्थोहने

के खूंटे से कल्पना-कला का निरुद्ध हो जाना । यह पारिजात-लेखक एक ओर तो साम्प्रतिक विज्ञान द्वारा प्रत्यक्षीकृत (परीक्षित) भी पृथिवीभ्रमण के सिद्धान्त को नहीं मानते हुए 'त्रिकालदर्शी योगि-विद्वानों का यह सिद्धान्त अद्यावधि अनधिगत व अचिन्तित रहा है और यह पाश्चात्यों की देन है ।' ऐसा मानकर यह अप्रति-हत मतिवाले पूर्वजों की विस्तृत कीर्तिलता समूह के काटने में प्रवृत्त हो रहा है । दूसरी ओर महर्षि दयानन्द सब विद्याओं के कोश, वेद में भ्रमण आदि विज्ञानों के मूल का प्रतिपादन करते हुए ऋषियों और आर्य संस्कृति की श्रेष्ठता तथा गौरव का बखान कर रहे हैं ।

इस विषय में दूसरा प्रमाण अतिस्पष्ट है, जो पृथिवी का भ्रमण सिद्ध करता है—

"जो हस्तरहित तथा पादरहित पृथिवी आदित्य के चारों ओर घूमती है । हे ईश्वर ! आपकी ही प्रेरणा से कर्मानुसार अवर्षण से व धन-धान्य के अभाव से पृथिवी का हिंसन होता है ।" (ऋ० १०।२२।१४)

पृ० १२९०, पं० ६—यह कहना कि "यह मन्त्र अग्नि के उपस्थान में विनि-युक्त है ।" याज्ञिकों के द्वारा इसका कल्पित विनियोग होने दो, पर यदि यह

प्रतिबन्धः शाश्वतो भवितुमर्हेत् । स च विनियोगोऽन्यत्रापि कर्तुं युज्यते (विनि-योगविषयः पूर्वभागे विचारितः) । परमेतद्-विज्ञानसम्मत-सङ्गतार्थोहने कः खलु शास्त्रीयप्रतिबन्धः ?

वस्तुतो गच्छति गौरिति, यत्र गमनादन्यस्थानादिकप्राप्तिर्भवति, तत्रैव गतिप्रयोगो युज्यते । निघण्टौ पृथिवीवाचकोऽस्त्येव गोशब्द एतदर्थकः । अत एव सूर्याद् दूरं पृश्निमन्तरिक्षं क्रमत एवं पादविक्षेपार्थक-क्रमधातुनाऽपि पुरुषीकरणा-लङ्कारेण चाऽभिव्यज्यते स्थानान्तरप्राप्तिः ।

न च पादसम्बन्धि-विक्षेपस्तु गवि पशावेवात्र सम्भवति, पादवत्त्वान्न तु पृथिव्यामिति वाच्यम्, पादशब्देन गतिमात्रबोधने पृथिव्यामपीहोपचार-प्रयोगः । यथा लोकेऽपि—"मेरे मन समुझि-समुझि पग धरिये" इत्यत्र मनसोऽपि पाद-वत्त्वप्रयोगः ।

निम्नमन्त्रेऽतिस्पष्टं पृथिव्या भ्रमणवर्णनम्—

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात् ।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात्क्व स्वित्सूते नहि यूथे अन्तः ॥
(ऋ० १।१६४।१७)

अर्थानुगत नहीं है, तो उनका यह विनियोग मन्त्र के समुचित अर्थ के ऊहन करने में प्रतिबन्ध कैसे हो सकता है ? यह विनियोग तो अन्यत्र भी हो सकता है । इस विषय पर हमने प्रथम खण्ड में विचार किया है । अतः विज्ञानसम्मत संगत अर्थ के ऊहन में कोई बाधा नहीं हो सकती ।

वस्तुतः जो जाती है, वह गौ होती है । जहां गमन करने से अन्य स्थान की प्राप्ति होती है, वहीं पर गति का प्रयोग ठीक है । निघण्टु में पृथिवीवाचक शब्द इसी अर्थ में हैं । इसीलिये सूर्य से दूर अन्तरिक्ष में भ्रमण करती है, यहां पाद-विक्षेपकार्थक क्रम धातु से भी 'मानवीकरण' अलङ्कार द्वारा स्थानान्तरप्राप्ति अभिव्यक्त है ।

'पादसम्बन्धी विक्षेप तो गो पशु में ही घटित हो सकता है, पृथिवी में नहीं' यह कहना भी ठीक नहीं । पाद शब्द से यहां गतिमात्र अभिलक्षित है, इसका औपचारिक प्रयोग पृथिवी में भी हो जायेगा । जैसा लोक में भी कहते हैं कि 'मेरे मन तुम समझ समझ कर पग रखना' । यहां पर मन के साथ पादवत्ता का प्रयोग किया गया है ।

निम्न मन्त्र में भी अति स्पष्टरूप में पृथिवी का भ्रमण वर्णित है—'अवः

https://t.me/Dharmasamrat

अर्थाद् इयं पृथिवी सूर्यस्य नीचैरुपरि उत्तरतो दक्षिणतश्च गच्छति। एतस्या गतिं विद्वद्भ्यो नान्यः पश्यति। अत्र नेयं दुग्धदात्री गौः पशुः, कद्रीची (अप्रत्यक्षगमनकर्त्री इति तद्ग्रहणबाधकशब्देन गोशब्देन पृथिवी लक्षिता।

पृ० १२९१, पं० ४ आ०—यदुच्यते—"या पूर्वोक्ता गौः' इति निरर्थकं वचः, अस्मान् मन्त्रात् पूर्वसु प्रकृतसूक्तमन्त्रेषु पृथिवीलक्षणाया गोरनुक्तेः। अत्र गौरिति पदेन पृथिवी गृह्यत इत्यत्र किं बीजम्? गोपदस्य बहुष्वर्थेषु प्रसिद्धत्वात्। वर्तनिपदस्याऽपि भ्रमणमार्गोऽर्थ इत्यपि निर्मूलम्, 'वृतु वर्तने' इति धातोरर्थाननुगमात्। अवारत इत्यस्य निरन्तरं भ्रमतीति कथमर्थः? पर्येति विवस्वते इत्यत्रापि चतुर्थ्यन्तस्य षष्ठ्यन्तविपरिणामे हेतुर्वक्तव्यः।" इति।

तत्र समाधीयते—'पूर्वोक्ता' इति पदमत्र स्वामिनः स्वाभिहितमभिलक्ष्य उक्तम्, यन् मया इहैव पूर्वमुक्ता इति यावदर्थः। अत एव हिन्द्याम् "जिस का नाम गौ कह आये हैं" इति लिखितम्। गौरिति पदेन पृथिवीग्रहणे गोपदस्य बहुष्वर्थेषु पृथिव्यर्थेऽपि सिद्धत्वमत्र इत्येव बीजम्। 'वृतु वर्तने' इति धातोरर्थेन वृत्तं

परेण' (ऋ० १।१६४।१७)। यहां यह पृथिवी नीचे, ऊपर, उत्तर और दक्षिण से चलती है। इसकी गति को विद्वानों के अतिरिक्त कोई नहीं देखता है। यहां पर यह दूध देनेवाली 'गौ' अभीष्ट नहीं है, वरन् 'अप्रत्यक्ष गमन करनेवाली' इस अर्थ को ग्रहण करनेवाली पृथिवी ही यहां लक्षित है।

पृ० १२९१, पं० ४—आक्षेप—"या गौर्वर्त्मनि पर्येति' (ऋ० १०।६५।६) मन्त्र के भाष्य में 'जो यह पहले कही गई गौ है' यह वाक्य व्यर्थ है। इस मन्त्र से पूर्व प्रकृत सूक्त व मन्त्रों में 'पृथिवी' लक्षणवाली 'गौ' नहीं कही गई है। यहां पर 'गौ' इस पद से पृथिवी का ग्रहण करने में भी क्या बीज है? क्योंकि गोपद के बहुत से अर्थ प्रसिद्ध हैं। 'वर्तनि' पद का भी भ्रमणमार्ग अर्थ करना निर्मूल है; क्योंकि 'वृतु वर्तने' धातु का अनुगमन नहीं हो रहा है। 'अवारतः' का निरन्तर भ्रमण करती है, यह अर्थ कैसे हुआ? 'पर्येति विवस्वते' में चतुर्थ्यन्त का षष्ठ्यन्त कर लेने में क्या हेतु है? बताना चाहिये।"

समा०—इन सब शंकाओं का समाधान समझिये। आपकी समझ में अन्तर है। स्वामीजी ने 'पूर्वोक्ता' यह पद अपने कथन को अभिलषित करके किया है कि मैंने यहीं पर अभी कहा है। आपका तो वही हाल है कि 'कहे खेत की सुनै खलिहान की'। इसलिए तो स्वामीजी ने हिन्दी में भी लिखा है कि "जिसका नाम गौ कह आये हैं"। गोपद के बहुत से अर्थों में पृथिवी भी तो एक अर्थ है, यही इस अर्थ के ग्रहण करने में बीज है, जो सुघटित भी है। वर्तनार्थक वृतु धातु

वर्तुलं यद्योर्गोलाकृतिः किन्नार्थः? 'वृत्तेश्च' (उणादि २।१०६) इत्यनेन अनि प्रत्यये निष्पद्यते एव वर्त्तनिः, यदर्थो मार्गः सर्वत्र प्रयुक्त एव।

इदं पदार्थ-गति-स्वभावाश्रितं यत्तद् गतिर्भ्रमणरूपा वक्राऽन्या वा भवेत्। पृथिवीगतिस्तु सूर्यं परितो गोलाकारेणैव जायते। पर्येति शब्देनापि परित एति इत्येवार्थो ध्वन्यते। अतस्तदर्थमपलपितुं प्रयासो नूनं निष्फल एवैषः। यथा हि—अनवरतम् इत्यस्य निरन्तरमित्यर्थस्तथैव अव+अरतम्=अवारतम् इत्यस्यापि अस्ति, इहापि रतस्य निषेधनात्। यथा रतम् आरतमित्यभिन्नार्थोऽस्ति, अविद्यमानमारतमनारतं भवति, तथवेहाप्युन्नेयं मतिमद्भिः।

पारम्पर्यपूजापरोऽयं पाणिपात्रः प्रज्ञावान् पूर्वकृतसायणमहीधराद्यनुसृतपद्धतिहतिहतमतिको न तिलमपि स्वतन्त्रानुशीलनं कर्त्तुमुत्सहते। तदर्थनाम कियानपि महाननर्थो जायेत परम्। यथा—

'दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः' (यजु० ५।१६, ऋ० ७।९९।३) अत्र सायणमहीधरौ पुराणानुमत-विष्णुदेवतामभिमत्य 'मयूखैः पर्वतैः पृथिवीं धारितवानसि'

से ही 'वृत्तम्' और 'वर्त्तुलम्' शब्द बनते हैं, जिनका अर्थ गोल या गोला होता है और 'वर्त्तते अनया' अर्थ में वृतु धातु से 'अनि' प्रत्यय करके वर्त्तनि और वर्त्तनी शब्द बनते हैं। हेम तथा अमरकोश के अनुसार वर्त्तनि का अर्थ मार्ग है।

यह पदार्थ के गति-स्वभाव पर आश्रित है कि उसकी गति भ्रमणरूप, वक्र या अन्य प्रकार की है, जैसे आपकी बुद्धि की गति कुटिल है। पृथिवी की गति सूर्य के चारों ओर घूमने पर तो सूर्य के गोल होने से भी गोलाकार होगी। यह बात 'पर्येति' अर्थात् 'चारों ओर चलती है' इससे ध्वनित होती है। जिसके अपलाप का आपका सारा प्रयास निष्फल ही है। जैसे 'रतम्' से अवपूर्वक फिर नञ्पूर्वक 'अनवरतम्' शब्द अर्थ निरन्तर होता है, उसी प्रकार 'रतम्' का नञ् के साथ समास करके 'अरतम्,' उससे पूर्व अव उपसर्ग लगाकर 'अवारतम्' बनेगा। इसका भी निरन्तर अर्थ होगा। अनवरतम्, अवारतम्, अनारतम्—तीनों ही शब्दों में 'रतम्' का निषेधार्थ है।

परम्परा (रूढि) का पुजारी प्रज्ञावान् यह पारिजातप्रलेखक, पूर्वकृत सायण और महीधर आदि की अनुसृत पद्धति के गमन से हतमति होकर तिलभर भी स्वतन्त्र अनुशीलन का उत्साह नहीं करता; चाहे उसके वेद-गौरव-नाशक अर्थों से कितना ही अनर्थ क्यों न हो जाये?

जैसे—'दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः' (यजु० ५।१६, ऋ० ७।९९।३) यहां पर सायण और महीधर दोनों ने ही पुराणानुगत विष्णु देवता को मानकर 'मयूख

https://t.me/Dharmasastra

इत्यर्थं व्यधाताम्। इदमस्ति अनयोर्विपश्चितोर्भूगोलविज्ञानम्। कुरानमतास्त्ववश्यमेवं-विधधारणाः सन्ति। यथा—'और किये बीच जमीन के पहाड़ ऐसा न हो कि हिल जायें' (कुरआन मंजिल ४, सिपारा १७, सूरत २१ की २० वीं आयत)।

सायणस्यैतदर्थे श्रीसामश्रमिमहाभागा विलिखन्ति—"तदत्र मयूखशब्दस्याश्रुतपूर्वः पर्वतार्थस्तत्र प्रकृतार्थसमन्वयासमर्थतयैव तेनाऽश्रितः" इति। महीधरेण मयूखरूपवराहार्थेऽङ्गीकृतः। तत्रापि श्रीसामश्रमिभिः—"नानाजीवानां वराहाद्यनेकावताराणां च तेजोरूपकल्पनं सर्वमेतत् तत्कालस्य गाढतमसावच्छन्नविज्ञानत्वमेवावेदयति"। परमशेषशेमुषीजुषा ऋषिदयानन्देन लिखितम्—"ज्ञानप्रकाशादिगुणे रश्मिभिर्वा, मयूख इति रश्मिनामसु पठितम्" (नि० १।५)। विष्णोर्दार्शनिकार्थः परमेश्वरो दैविकपक्षे सूर्यः, इति।

वस्तुते लोकप्रबन्धे शक्तीनां द्विविधप्रवर्तनम्। एकतः प्राकृतिकक्रियारूपेण, अपरतः परेशस्य ज्ञान-गति-प्रदानेन।

अवैदिक-विदुषामयोगिनामीक्षणं बाह्यं जगद् यावद् याति, वैदिकयोगिनां

अर्थात् पर्वतों को धारण किया है' यह अर्थ कर डाला। यह है उन दोनों का भूगोलज्ञान। कहिये, ऋषि पर पाश्चात्यानुगमन का लांछन लगानेवाले, तुम्हारे इन पूज्यों ने तो मुसलमानों के कुरआन की धारणा ही वेद पर लाद दी, कि 'और किये बीच जमीन के पहाड़ ऐसा न हो कि (जमीन) हिल जायें'।

सायण के इस अर्थ पर सामश्रमी जी लिखते हैं कि "यहां पर 'मयूख' शब्द का पर्वत अर्थ तो अश्रुतपूर्व है। प्रकृतार्थ में समन्वय (संगति) करने में असमर्थ होने के कारण ही उन्होंने यह अर्थ लिया"। महीधर ने 'मयूख' वराह अर्थ में लिया है। इस पर सामश्रमीजी ने आक्षेप किया है कि "नाना जीव वराहादि अनेक अवतारों के तेजोमय रूप की कल्पना है, जो कि उस समय के गाढ़ तम से आच्छन्न विज्ञान को बता रहे हैं"। परन्तु अशेष-शेमुषी-(बुद्धि सम्पन्न ऋषि दयानन्द ने 'मयूख' का अर्थ ज्ञान, प्रकाश आदि गुण व रश्मियों से लिया, क्योंकि निघण्टु (१।५) में रश्मि-नामों में 'मयूख' शब्द पढ़ा गया है। विष्णु का दार्शनिक अर्थ परमेश्वर और दैविक अर्थ सूर्य है।

वास्तव में बात तो यह है कि लोक-प्रबन्ध में शक्तियों का द्विविध प्रवर्तन होता है। एक तो प्राकृतिक क्रियारूप से, दूसरे परमेश्वर की ज्ञानमय गतिप्रदान से होता है।

अवैदिक अयोगी विद्वानों की दृष्टि बाह्य जगत् तक जाती है और वैदिक

च निर्धूतकल्मषमनीषावतामन्तरङ्गावगाहिनी सूक्ष्मातिसूक्ष्मम् अन्वीक्षते। प्रकृतेऽपि ऋषिः गोपदेन पृथिव्यर्थमपश्यत्। 'विवस्वते' इत्यत्रार्थदृष्ट्या विपरिणामः। अत्र चतुर्थ्यर्थे षष्ठी।

पृ० १२९१, पं० ७—आ०—यदुच्यते—"निष्कृतमित्यस्य परमेश्वरनिष्पादितमित्यपि निर्मूलम्, सर्वस्यैव विश्वस्य परमेश्वरनिष्पादितत्वेन विशेषायोगात्। 'पयो दुहाना' इत्यत्र पयःशब्दस्यानेकरसफलाद्यर्थोऽपि बलात्कार एव, गो-सम्बन्धेन पयःशब्दस्य क्षीरादन्यत्राऽप्रवृत्तेः। व्रतनीत्यस्यापि व्रतं स्वकीयभ्रमणादिसत्यनियमं प्रापयन्तीत्यपि निर्मूलम्। प्रकृताः पदार्था वायुसूर्यसमुद्रनद्यादयः सर्वेऽपि स्वीयं प्राकृतं नियमं पालयन्तीति तेऽपि किन्न 'व्रतनी' शब्देनोच्यन्ते? किञ्च, व्रतनीशब्देन व्रतनेतेत्यर्थो युक्तः, प्रापकत्वार्थस्य प्रकृतेऽसङ्गतेः। किञ्च, पृथिवीदाशुषेऽदाशुषे विद्वद्भ्योऽविद्वद्भ्यः सर्वेभ्योऽपि हविर्दानेन सुखानि दाशति। ततो दाशुषे देवेभ्य इति विशेषवचनं निरर्थकमेव। 'प्रब्रुवाणा' पदमपि पृथिव्या. पक्षे नोपपद्यते, तस्या व्यक्तवाण्या हेतुत्वे मानाभावात्। ततोऽस्मादपि मन्त्रात् पृथिव्या भ्रमणं

योगियों की निर्धूतकल्मष बुद्धि अन्तरङ्गतम का अवगाहन करती हुई सूक्ष्मातिसूक्ष्म को देखती है। प्रकृत में ऋषि ने 'गो' पद से पृथिवी अर्थ देखा है। 'विवस्वते' में विभक्ति-विपरिणाम अर्थ की दृष्टि से किया गया है। तथा च 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' (२।३।६२) से षष्ठी तथा वार्तिक (चतुर्थीति वाच्यम्) से षष्ठी अर्थ में चतुर्थी हो जाती है। अतः (विवस्वते) का 'सूर्यस्य' पर्याय वेना सर्वथा सङ्गत है।

पृ० १२९१, पं० ७—आक्षेप—"निष्कृत' पद का अर्थ परमेश्वर द्वारा उत्पादित करना सर्वथा निर्मूल है; क्योंकि यह सारा जगत् परमेश्वर की ही तो रचना है, तब यहां उसका पुनः निर्देश निरर्थक है। 'पयो दुहाना' यहां 'पयः' शब्द का अनेक प्रकार के रस और फल अर्थ करना जबर्दस्ती ही है। 'गो' शब्द के साथ यह शब्द दूध के सिवाय अन्यत्र प्रयुक्त नहीं होना चाहिये। 'व्रतनीः' इस पद का भी 'व्रत' अर्थात् अपने भ्रमण प्रभृति सत्य नियमों को बताती हुई, यह अर्थ करना सर्वथा निर्मूल है। वायु, सूर्य, समुद्र, नदी प्रभृति सभी प्राकृत पदार्थ अपने-अपने प्राकृत नियमों का पालन करते हैं, उनको भी 'व्रतनी' क्यों नहीं कहा जाता? 'व्रतनी' शब्द का अर्थ व्रत ही धात्वर्थ के अनुकूल हो सकता है। इस का अर्थ प्रापक कहना प्रकृत में सगत नहीं होता। यह पृथिवी अविद्वान् और विद्वान् सभी को उत्तम पदार्थों को देकर सुखी बनाती है, तब 'दाशुषे' इस पद का विद्वान् के साथ सम्बन्ध जोड़ना निरर्थक है। 'प्रब्रुवाणा' यह विशेषण भी पृथिवी के पक्ष में नहीं बनता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि पृथिवी स्पष्ट वाणी बोलती है।

https://t.me/DharmaGranth

न सिद्ध्यति ।'' इति ।

समा०—निष्कृतमित्यस्य परमेश्वर-निष्पादितमित्येवार्थो युज्यते । तद्-गमनार्थमर्थात् तस्याः पृथिव्या गमनार्थं व्योममार्गं तु ईश्वर एव निर्मिमीते, परं दुग्धदातृ-गो-पशु-गमनार्थं मार्गं मनुष्योऽपि निष्पादयति । यदुक्तम्—'सर्वस्यैव विश्वस्य परमेश्वरनिष्पादितत्वेन विशेषाऽयोगात्' इति कथनमेवंतस्य निरर्थकम् । यावदसौ (यजु० ३४।२७) मन्त्रे मार्गा अन्तरिक्षे सुकृता वर्तन्ते इति ।

यथा गोपशुसन्निधानात् पयोदधितक्रादिकमुपलभ्यते, तथैव गो-शब्दाभिहित-पृथिव्या ग्रहणे तत्सन्निधानात् 'पय' उपलक्षणाद्यनेक-रसफलादीनां ग्रहणं भवत्ये-वेति । दुह् धातुस्तु प्रपूरणार्थकः । तथा—'भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च, पृथूप-दिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्' इति तत्पुष्टौ निदर्शनम् । प्रापयन्तीत्यत्र स्वार्थे णिच्त्वात् प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । अथवा सर्वे लोका अन्योन्याकर्षण-सिद्धान्त-नियमबद्धा एव अन्योन्यमपि भ्रमणादिसत्य-नियमे स्थापयन्ति, तथेयमपि अस्ति । अतः प्रकृते

इस तरह इस मन्त्र से भी पृथिवी का भ्रमण सिद्ध नहीं हो पाता ।''

समा०—महाशय ! थोड़ासा भी बुद्धि से काम लिया होता, तो आपकी समझ में आ जाता । अस्तु, अब समझिये—'निष्कृतम्' इसका 'परमेश्वरनिर्मित' ही अर्थ होगा; क्योंकि पृथिवी के गमन के लिये व्योम मार्ग का निर्माण तो केवल ईश्वर ही करता है । परन्तु दूध देनेवाली गाय के जाने-आने के लिये मार्ग मनुष्य भी बनाता है । यह आक्षेप कि 'सारा जगत् ईश्वर ने बनाया है, फिर उसका (मार्ग का) सारा जगत् ईश्वररचित कहना सर्वथा निरर्थक है' आपका यही कथन सर्वथा निरर्थक है, क्योंकि प्रभु की भ्रमणादि की व्यवस्था का पुनः-पुनः स्मरण करना, उसके प्रति श्रद्धा और महिमा का बखान करना है । देखो यजु० (३४।२७) में अन्तरिक्ष में मार्ग धाता ने बनाये हैं । ऐसा आपके महीधर ने भी लिखा है ।

गो शब्द के अनेकार्थों में गो से जहां गाय (पशु) का ग्रहण होगा वहां दूध, दही आदि अर्थ ग्रहण करना उचित है । पर गो शब्द से जब पृथिवी का अर्थ गृहीत होगा, तो उसके सन्निधान व साहचर्य से पय आदि के स्थान पर रस, फल आदि का ग्रहण होता ही है । 'दुह्' धातु से कालिदास ने भी रत्न औषध फलादि का ग्रहण करना ही अभिव्यक्त किया है । जैसे 'पृथूपदिष्ट भूमि को दुहा' यहां 'रत्नादि पदार्थ ग्रहण किये' यही अर्थ संगत है । 'व्रतनी' व्रत उपपद 'णीञ् प्रापणे' धातु से भी व्रतं नयतीति अर्थात् अपने भ्रमणादि सत्यनियम को प्राप्त होती हुई ('प्राप-यन्ति' से स्वार्थ में 'णिच्' प्रत्यय होकर) भी सिद्ध होती है, अथवा समस्त लोक अन्योन्य के आकर्षण सिद्धान्त के नियम में बद्ध होकर एक दूसरे को भी सत्य-भ्रमणादि नियम में स्थापित करते हैं, उसी प्रकार यह पृथिवी भी करती है । अतः

सर्वथा सङ्गच्छते ऋष्यर्थः ।

किञ्च, इयं जडा पृथिवी विदुषोऽविदुषो भेदाऽनाकलनाद् उभावपि सुखयति, परं विद्वान् सम्यङ् मूल्याङ्कनं कर्तुं पारयते । अथ चेत् 'प्रब्रुवाणा' इति पृथिव्याः पक्षे नोपपद्यते तदा गोरप्युक्तप्रव्यक्तवाण्या अभावः । श्रीमन् !

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्, उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे, जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥
(ऋ० १०।७१।४)

'पश्यन्नपि न च पश्यति मूढः' इति च शङ्करोक्तिरपीङ्गयति तस्य शब्दस्य दर्शनाय श्रवणाय वा दिव्यदर्शनश्रवणयोः सम्प्रबुद्धबुद्धेरावश्यकता, एवं कल्पना-शक्तेरुर्वरत्वादेव निखिलमुत्पत्स्यते । यथा ममव घटोक्तेरन्यतमं पद्यं स्वीयं प्रस्तुतमिह—

"मृदनन् मृत्स्नां पुनरपि पुनर् हस्तजानुप्रहारैः,
चक्रभ्रान्ति-व्यवसितकरोऽताडयन् मुद्गरीभिः ।
निक्षिप्याग्नावदहदनिशं चेन्धनैः कुम्भकारः,
सोऽहं धन्यो यदुपकृतये जीवनं धारयामि ॥"

प्रकृत में ऋषि-व्याख्यान सर्वथा सङ्गत है ।

तथा यह जड़ पृथिवी, विद्वान् अविद्वान् का आकलन हवि के द्वारा सुख देने में नहीं कर पाती है, परन्तु विद्वान् सम्यक् मूल्याङ्कन कर सकता है; क्योंकि पृथिवी में 'हविः' अर्थात् आप्तव्य (ग्राह्य) साधन, द्रव्य आदि विशेषरूप से विद्वान् प्राप्त कर सकता है, अविद्वान् नहीं । आप कहते हैं कि पृथिवी के पक्ष में 'व्यक्त बोलती हुई' विशेषण नहीं घट सकता, तो गाय के विषय में भी तो नहीं घट सकता, क्योंकि गाय भी प्रव्यक्त नहीं बोल सकती ।

महाराजजी ! सच तो यह है कि यह वाणी किसी-किसी को ही अपना स्वरूप खोलती है । कुछ ही लोगों को कवियों की भांति सभी जड़ द्रव्य भी कुछ कहते हुए सुनाई देते हैं । 'मूढ़ व्यक्ति' तो देखते हुए भी नहीं देख पाता 'अनुर्वर-मस्तिष्कवत्' । शङ्कराचार्य की उक्ति भी इङ्गित करती है, कि उस दृश्य या शब्द को देखने और सुनने के लिये दिव्यनेत्र तथा श्रवण और सम्प्रबुद्ध बुद्धि की आवश्यकता है । इस प्रकार की कल्पनाशक्ति के उर्वर होने पर ही सब कुछ उप-पन्न होगा । जैसी कि हमारी निम्न रचना है, जिसमें से घट-वचन का एक पद्य प्रस्तुत है । घड़ा कहता है—

"मिट्टी को बार-बार हाथ और घुटेलियों के प्रहारों से तथा चाक के

https://t.me/Dharmasamrat

अथवेदमपि चक्षुषोः प्रवचनं हिन्द्यामुररीक्रियतां सरसैः—

"प्राण बोले—पीर अन्तर में छिपाना जानते हैं,
अधर बोले पीर को, हम गुनगुनाना जानते हैं।
प्रथम तो सकुचे, मगर, फिर यों लजीले नयन बोले,
हम धधकती आग को पानी बनाना जानते हैं।।"

अपरं चेदमवगन्तव्यम्—"प्रातिप्रदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति, न काञ्चित्प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति। यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या" इति 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (१।१।५६) सूत्रे भाष्यम्। अनेन पृश्निरित्यादावर्थप्राधान्यं न विभक्तेरिति। यथा महीधरेण (३४।२५) सूर्यः द्यावापृथिव्योरिति विभक्तिविपरिणामः कृतः। सूर्यम् इत्यस्य सूर्यः, द्यावापृथिवी इत्यस्य द्यावापृथिव्योरिति।

घुमाने में हाथ लगाकर मुद्गरियों से इस कुम्हार ने हमें पीटा। फिर यह अग्नि में डालकर मुझे निरन्तर ईंधन से जलाता रहा। इतनी कठिनाइयां सहन करने के बाद मैं धन्य हो गया, जो कि परोपकार के लिये पिपासुओं की पिपासा बुझाने के लिये जीवन (जल) को धारण कर रहा हूं।"

हिन्दी में भी सरस हृदय आंखों के प्रवचन को निम्नरूप में सुनते हैं—

"प्राण बोले पीर, अन्तर में छिपाना जानते हैं,
अधर बोले पीर को, हम गुनगुनाना जानते हैं।
प्रथम तो सकुचे, मगर फिर यों लजीले नयन बोले,
हम धधकती आग को, पानी बनाना जानते हैं।।"

वास्तव में वेद उत्तम व्यञ्जनाओं का धनी काव्य है, अरसिक हृदय व अनुर्वर मस्तिष्कवाले अनृषियों को वह अपने रहस्य का प्रस्फुटन नहीं करता।

'पृश्नि' में द्वितीया तथा 'विवस्वते' का षष्ठ्यन्त करने में जो आक्षेप आपने किया है, उस में इतना अधिक और जानिये कि "प्रातिपदिकनिर्देश अर्थतन्त्र हुआ करते हैं, प्रधानरूप से किसी विभक्ति का आश्रय नहीं करते। जिस-जिस विभक्ति का आश्रय लेने के लिये बुद्धि उपजती है, उसी उसी विभक्ति का आश्रय लेना चाहिये।" यह बात 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (अष्टा० १।१।५६) सूत्र के भाष्य में कही गई है। अच्छा, आप ही बताइये, महीधर ने यजु० (३४।२५) में 'द्यावापृथिवी' में षष्ठ्यर्थ में द्वितीया कैसे मानली?

आश्चर्य है, पक्षपातान्धता की पराकाष्ठा है कि आपको ऋषि की भूमिका

तदा भट्टपादकुमारिलोक्तिरेवात्र संघटते—

"न चाप्यतीव कर्त्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः।
दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते।।"

पृ० १२९१, अनु० २—यदुक्तम्—"वस्तुतस्तु सायणरीत्या मन्त्रस्यायमर्थः—वसुकपुत्रस्य वसुकर्णस्यार्षम्, वैश्वदेवमिदं पञ्चदशर्चं सूक्तम्। या मदीयेयं पयः-क्षीरादिकं दुहाना व्रतनी पयःप्रदानेन कर्मरूपस्य व्रतस्य नेत्री गौर्धेनुः··· ····· स्वयमेव पुनः पुनरागच्छति·····। किन्तु वेदेष्वाधुनिकविज्ञानसाधनायैवायम-सफलप्रयासो दयानन्दस्य।"

तत्रेदमुच्यते—सायणाचार्य-कृतोऽर्थस्तु साधारण एव। तत्रापि वक्तव्यम्, भवतेहैवोक्तम्—'कथन्न व्रतशब्देन वायुसूर्यादय उच्यन्ते एतेषामपि प्राकृतनियम-पालनात्' एतदुक्तिमनुरुध्य 'कर्मरूपस्य व्रतस्य नेत्री गौर्धेनुः' इति। अनेनाऽपि कर्मरूपस्य व्रतस्य यज्ञे काष्ठ-सामग्री-कुश-जलासन-पात्राद्याहरणेन तक्षादयः

में भाष्यांश में कहीं गुण नहीं दीखा। अतः यहां भट्टपाद कुमारिल की उक्ति से शिक्षा लेनी चाहिये—

"किसी भी व्यक्ति को अतिमात्रा में दोषदृष्टिपरक मन नहीं बनाना चाहिये, क्योंकि जब दोष नहीं मिलता, तो उनके चित्तों का दोष प्रकट होने लगता है।"

पृ० १२९१, अनु०२—"वस्तुतः सायण की रीति से मन्त्र का अर्थ इस तरह से होगा—वसु के पुत्र वसुकर्ण इस सूक्त के द्रष्टा ऋषि हैं।····· मेरी यह गाय दूध आदि देती हुई मेरे यज्ञ-यागादि व्रतों को सम्पन्न करने के लिये मेरे संस्कृत आवास-स्थान में विना प्रार्थना किये अपने-आप बार-बार चली आती है।····· पर पृथिवी के भ्रमण को सिद्ध करना, दयानन्द का आधुनिक विज्ञान सिद्ध करने का असफल प्रयास है।"

इस विषय में हमारा कथन है कि सायणकृत अर्थ साधारण तथा उसकी दूध देनेवाली गाय तक सीमित मानना, मानो चिन्तनशक्ति को कुण्ठित कर लेना है। इसमें आप बताइये, आपने अभी-अभी कहा है कि व्रत शब्द से वायु, सूर्य आदि क्यों नहीं लिये जाते; क्योंकि ये भी प्रकृति के नियम का पालन करते हैं। इसी के अनुसार सायण की इस शब्दावली 'कर्मरूपव्रतनेत्री' इसमें कर्मरूप व्रत के यज्ञ में काष्ठ, सामग्री, कुश, जल, आसन पात्र आदि के आहरण करने से तक्षा

https://t.me/Dharmasastra

कथन्नोच्यन्ते ? 'वर्तनिम्' इत्यस्य कोशेषु मार्गोऽर्थः, स कथन्नोपादीयते ? प्रब्रुवाणा इति कर्तृवाचकस्य कर्मवाचकत्वे प्रकर्षेण स्तूयमाना इति व्यत्यये किं बीजम् ? आधुनिक-विज्ञान-साधन-दिशायां त्वेवमवधार्यम्—

यदूनविंशतिशताब्द्या मध्यं यावद् ब्रह्माण्ड-सम्बन्धित-कतिपय-तथ्यानां येषामाविष्करणम् आइंस्टीनमहोदयो व्यदधात्, तद् विज्ञानं (यथा—वितार-तारकम्, विमानम्) विदितमासीदाधुनिकैः, स्वामिमहाभागस्तु समाध्यधिगता-ऽपूर्वप्रतिभाप्रकर्षाद् वेदेषु समैक्षिष्ट ब्रह्माण्ड-सम्बन्धीनि तथ्यान्यसौ श्रुतिमाश्रित्यैव व्याचख्यौ ।

वेदेषु पदार्थ-विद्या बीजरूपेण सन्ति । योगी अरविन्दस्तु तदग्रेऽपि प्रणि-जगाद यत् साम्प्रतिकवैज्ञानिकैरपि न ज्ञातानि तानि वेदमततत्त्वानि । सर्व-विद्यानिधानाम्नाये आधुनिकविज्ञानस्याऽपि आर्षप्रतिभाभासितार्थस्य प्रकाशने तु ऋषि-प्रयासः सर्वथा सफल एवासिध्यत् । परं पुराणमतवैकुण्ठाधिष्ठित-

---

(बढ़ई) आदि का ग्रहण क्यों न किया जावे ?

श्रीमन् ! कोशों में 'वर्तनी' का अर्थ मार्ग है, वह क्यों न लिया जावे ? कदाचित् आप यह कहने लगें कि पर 'भ्रमण-मार्ग' अर्थ कैसे माना जाये ? यह तर्क वेतुका है; क्योंकि मार्ग शब्द में यह प्रतिबन्ध तो नहीं हो सकता कि वह पत्थर का, ईंटों का, मिट्टी का या मणियों का बना है और न यही निर्धारित है कि वह भ्रमण का है, दौड़ने का है, या रेंगने आदि का है ।

वर्तनि का आवासस्थान और 'प्रब्रुवाणा आकर्षेण स्तूयमाना' यह कर्तृ-वाचक का कर्मवाच्य बनाने में क्या बीज है ? बताइये ! रही आधुनिक विज्ञान साधन की बात, सो स्वामी दयानन्द ने इधर प्रयास किया, वह बहुत सफल और सुपरीक्षित सिद्ध हुआ । जैसे कि १९ वीं शताब्दी के मध्य तक ब्रह्माण्ड से सम्बन्धित कतिपय तथ्य, जिनका आविष्कार आइंस्टीन महोदय ने किया, वह विज्ञान तो अविदित था । जैसे बेतार का तार, विमान विद्या आदि । स्वामी महाभाग ने समाधिप्राप्त अपूर्व प्रतिभा के प्रकर्ष से वेदों को देखा और ब्रह्माण्डसम्बन्धी अनेक तथ्यों की श्रुति का आश्रय लेकर व्याख्या की ।

वेदों में पदार्थविद्या बीजरूप से है । योगी अरविन्द ने तो इसके आगे भी कहा कि इस समय के वैज्ञानिकों ने अभी तक वे वेदमत तत्त्व नहीं जान पाये हैं । सर्वविद्याओं के कोश वेद में आधुनिक विज्ञान को भी आर्ष प्रतिभा से प्रकाशित अर्थ से प्रकट करने में ऋषि का प्रयास सर्वथा सफल रहा है; परन्तु पुराणों से

सविग्रहेशाराधन-धन-धियां विवेचनरुचि-कुण्ठितानाम्, वेदेषु सर्वविद्याविज्ञानमूलम्-मन्वानानामेव परमप्रयास एव फलेग्रहितां नाभजदिति तत्त्वबुभुत्सवः सुविशदं विदन्त्येव । तत्तथ्यं पुष्णन्तीमे विद्वांसः । यथा जेकालियट् फ्रांसदेशीयः—

"Astonishing fact, The Hindu Revelation (Veda) is of all revelations the only one whose ideas are in perfect harmony with modern science, as it proclaims the slow and gradual formation of the world."

अर्थात् कियदाश्चर्यजनकं तथ्यम्, हिन्दूनामीश्वरीयज्ञानमेव, यल्लोकानां मन्दं क्रमिकरचनं च वेदयते, सर्वेश्वरीयज्ञानानामेकमेवेदृशम्, यस्य प्रकल्पना आधुनिकविज्ञानेन पूर्णतया सङ्गच्छते ।

अमेरिकनविदुषी महिला (कु० ह्वीलर विल्लोबस) कथयति—

"We have all heard and read about the religion of India, It is the land of the great Vedas—the most remarkable works containing not only religious ideas for a perfect life. but also facts which are the science has since proved true. Electricity, Protinum, Electrons, Airship, all seem to be khown to the seers who found the Vedas."

अर्थाद् वयं प्राचीनभारतधर्मविषयेषु गतबहूनि तत्त्वानि सम्प्रत्यति न बिन्दामहे, यानि अश्रौष्म अपठिष्म च । इयं तेषां महतां वेदानां भूमिरस्ति, ये-

---

माने गये वैकुण्ठ में अधिष्ठित सशरीर ईश्वराराधनरूप धन की पुजारिनी बुद्धियों वाले तथा विवेचन में कुण्ठित रुचिवाले, जो कि वेदों में सब विद्याओं का मूल नहीं मानते, उनका ही प्रयास सफल नहीं हुआ, इस बात को तत्त्वजिज्ञासु जन जानते ही हैं । इसी तथ्य की पुष्टि विद्वानों ने की है । उनमें एक फ्रांसदेशीय जेकॉलियट् का स्थान है—

"आश्चर्यपूर्ण तथ्य है कि हिन्दुओं का ईश्वरीय ज्ञान ही लोकों की क्रमिक रचना प्रकट कर रहा है । सारे ईश्वरीय ज्ञानों में वह एक है, जिसकी प्रकल्पना आधुनिक विज्ञान से पूर्णतया संगत है ।"

अमेरिकन विदुषी कु० ह्वीलर कहती है—

"हम प्राचीन भारत के धर्म के विषय में सुन व पढ़ चुके हैं । यह उन महान् वेदों की भूमि है, जो अत्यन्त अद्भुत ग्रन्थ हैं । जिनमें न केवल पूर्ण जीवन के

https://t.me/DharmaSamrat

ऽत्यन्ताद्भुतग्रन्थाः सन्ति। येषु न केवलं पूर्णजीवनोपयोगीनि तत्त्वानि प्रत्यपाद्यन्त, प्रत्युत तेषां तथ्यानामपि प्रतिपादनमस्ति, यानि समस्तविज्ञानं सत्यं प्रमाणयति। विद्युत्, रेडियम, इलेक्ट्रांस, विमानादिकं समग्रं वेदद्रष्टृभिर्ऋषिभिर्ज्ञातं प्रतीतं भवति।

ब्रूनो-गेलीलियो-बर्मिङ्घम-आदिका विद्वांसोऽपि पृथिवीं गोलाकृतिकां प्रतिपादयन्तस्तद्भ्रमणं च मन्वाना दण्डे निर्धारितं मृत्युमपि समाश्लिष्यन् प्रसन्नाः सन्तः। करपात्रिसदृशास्तु तस्मिन् युगे तैर्बाइबिलनिष्ठान्धविश्वासैर्नृपतिभिः पुरस्कृता एवाभविष्यन्। किं बहुलमालप्येत, एतादृग्भिस्तु वेदगौरवध्वजमम्बरादाकृष्य धराशायि धूलिसाद् अक्रियत।

पृ० १२९२, पं० ९—यदुच्यते—"सोमेति सम्बोधनपदं चन्द्रलोके कथं सङ्गच्छते? जडस्य लोकस्य सम्बोधनानर्हत्वात्। त्वमिति पदस्यापि न तत्र सङ्गतिः। पृथिवीभ्रमतीत्यंशोऽपि निर्मूलः, ऽनूपसर्गसंसृष्टस्य पृथिवीपदस्याभावात्। न च द्यावापृथिवीति समस्तपदगतेन पृथिवीशब्देन तत्सम्बन्धः, शब्दन्यायविरोधात्।"

तत्रोच्यते—प्रभो! जडस्य सम्बोधनाकरणे कश्चित् शब्दशास्त्रनियम

उपयोगी तत्त्व प्रतिपादित किये गये हैं. प्रत्युत उन तथ्यों का भी प्रतिपादन किया गया है, जो सारे विज्ञान को सत्य प्रमाणित करते हैं। बिजली, रेडियम, इलेक्ट्रांस विमान आदि को समस्त वेदद्रष्टा ऋषियों ने जाना था।"

ब्रूनो-गेलीलियो-बर्मिङ्घम आदि विद्वानों ने भी पृथिवी को गोलाकार प्रतिपादित करते हुए उसका भ्रमण माना है और इस सत्य के लिये मृत्यु का भी चुम्बन कर प्रसन्न रहे। श्री करपात्री जैसे यदि उस युग में हुए होते और बाइबिल की यही कहकर पुष्टि करते, तो पुरस्कृत होते। ऐसे ही लोगों ने वेद के ध्वजाम्बर को आकाश से खींचकर धराशायी और धूलिसात् कर दिया।

पृ० १२९२, पं० ९—आ०—लेखक का आक्षेप है कि "त्वं सोम०' मन्त्र में 'सोम' इस सम्बोधन पद से चन्द्र नहीं लिया जा सकता! 'त्वम्' इस पद की भी वहां संगति नहीं। 'पृथिवी के चारों ओर घूमता है' इस अर्थ में क्या मूल है? क्योंकि मन्त्र में 'अनु' उपसर्ग से सम्बद्ध पृथिवी पद विद्यमान नहीं है और 'द्यावापृथिवी' इस समस्त पद में विद्यमान पृथिवी शब्द से भी उसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता; क्योंकि यह शाब्दिक नियमों की परम्परा के विपरीत पड़ेगा कि समस्त पद में से एक के साथ सम्बन्ध जोड़ा जाये और दूसरे के साथ नहीं।"

समा०—सुनिये प्रभो! जड़ का सम्बोधन नहीं होता, इस विषय में

उद्धर्तव्य आसीत्। किन्न भित्तिपाषाणशय्याजलादिजडानां सम्बोधने रूपाणि भवन्ति? सोमस्य च पृथिवी-परिभ्रमणराद्धान्तस्तु सर्वस्वीकृतस्तदा सोमस्य पृथिवीं परितः सम्भवति भ्रमणम्, न त्वनन्तद्युलोकं परितः।

एतदाराध्यमहीधरस्तु—'हिरण्यपाणिः सूर्यः अस्तमयसमये अन्धकारलक्षणेन रजसा द्युलोकमभिव्याप्नोति' (यजु० ३४।२५ भाष्ये)। अहो पृथिवीभ्रमणममन्यमानः सूर्यस्य गमनागमनं वैज्ञानिकं मनुते, प्रकाशमयं द्युलोकं तमः कथमावृणोति? अत्र एकपादस्तंगत आदित्य उच्यते। स हि एकेन पादेन पाति, रक्षति, पिबति। आदित्यः स्वपरिधावेव भ्रमन् रक्षति। आचार्ययास्कोऽत्रोदाहरति मन्त्रमिमम्—

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न
रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदा चन॥ (अथर्व० ११।४।२१)

एतेन सूर्यस्य स्वपरिधिभ्रमणमेव सिध्यति। तत्त्वतो द्युशब्देन आकाशं

आपको व्याकरण का कोई प्रमाण प्रस्तुत करना चाहिये था! बताइये क्या भित्ति, पाषाण, शय्या, जल आदि जड़ पदार्थों के सम्बोधन में रूप नहीं होते? 'सोम' का पृथिवी के परिभ्रमण करने का सिद्धान्त तो सर्वतन्त्रसिद्ध है, तभी तो 'सोम' का पृथिवी के चारों ओर भ्रमण सुघटित है। अनन्त द्युलोक के चारों ओर असम्भव है, अतः केवल पृथिवी के साथ भ्रमण अन्वित है।

इधर अपने आराध्य महीधर की विचित्र बुद्धि भी देखिये। वे (यजु० ३४।२५ में) लिखते हैं—'जब सूर्य अस्तमय समय में जाता है तो द्युलोक को अन्धकार रूप 'रजः' ढक लेता है'। महोदय! जो द्युलोक (प्रकाशलोक) है, उसे अन्धकार कैसे ढक लेता है? यह तो कृपया स्पष्ट करिये। देवराज यज्वा ने 'अत एकपाद' पर लिखा है कि 'अस्तभावस्थ आदित्य उच्यते'। यह अस्तङ्गत आदित्य (सूर्य) एक पैर से अर्थात् स्वपरिधि मे घूमता है, सबकी रक्षा करता है, और रसाहरण करता है। आचार्य यास्क ने 'आदित्य का एक पर है' इसकी सिद्धि में अथर्ववेद का यह मन्त्र प्रस्तुत किया है—

'एकं पादं नोत्खिदति' (११।४।२१) अर्थात् गतिशील सूर्य अन्तरिक्ष से उदय होता हुआ एक पैर को नहीं उठाता। हे मनुष्यो! यदि वह सूर्य उस एक पैर को उठाले, तो न आज हो, न कल हो, न रात हो, न दिन हो, और नाही कभी उषा हो।

इससे सूर्य का अपनी ही परिधि में घूमना सिद्ध होता है। आश्चर्य है कि

https://t.me/DharmaSamrat

गृह्यते, यद्वाह समासगतपृथिवीति एकेन सम्बन्धो न सम्भवतीति न सार्वत्रिको नियमः। देवदत्तेन सह सम्बन्धः केवलं गुरोः परं समासेऽपि 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' इत्यत्र न वार्यते। यद्यपि न तस्य देवदत्तस्य कुलेन कश्चित् सम्बन्धः।

पृ० १२९२, अनु० २—यदुक्तम्—"अपाम सोममृता अभूम' (ऋ० ८।३८।३) इति मन्त्रेण तत्पानावगमात्। नहि चन्द्रलोकस्य पानं सम्भवति।" इति, तन्न, एतद्विषयगहनाननुशीलनात्। सोमशब्दस्य अधियज्ञपक्षे सोमलतार्थः, आधिदैविके च चन्द्रः, आध्यात्मिके चार्थे सोमस्य परमेश्वरस्यानन्दरसः, इत्येवमर्था ग्रहीष्यन्ते। नहि सर्वत्र एकार्थग्रहाग्रहो ग्राह्यो गिरागाम्भीर्यावगमनरुचिरुचिभिः।

पृ० १२९२—पारिजातकृदेष प्रतिव्याख्यानं समुद्घोषयते यद् दयानन्दीयमुदक्षरं यथेहापि—"सर्वथाऽप्ययमर्थो मन्त्राक्षराननुगतः" इति। तत्रोच्यते—यदि ऋगादीनां भूमिकायां प्रसङ्गोपात्तो विषयस्तदनुकूलो विशेषतः स्पष्ट-प्रतिपत्तये व्याख्यातोऽपि। परमनेन न क्वापि सायणाचार्यकृत-भाष्यं समालोचितम्।

पृथिवी का भ्रमण न मानते हुए सूर्य के गमनागमन को यह विज्ञानसम्मत मान रहे हैं और द्युलोक को आकाश से घिरा हुआ। वस्तुतः 'द्यु' शब्द से आकाश ही अभिप्रेत है। अथवा यह समझिये कि समासगत 'पृथिवी' शब्द का एक के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है, ऐसा कोई सार्वत्रिक नियम नहीं है। 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' यहां पर गुरु के समासगत होने पर भी देवदत्त का सम्बन्ध है, जब कि देवदत्त का कुल से कोई सम्बन्ध नहीं।

पृ० १२९२, अनु० २—"सोम पीकर हम अमर हो जायें', इस तृतीय मन्त्र से सोमपान की बात ज्ञात होती है। फिर चन्द्रलोक का तो पान नहीं किया जा सकता।" यह कथन भी आपकी विमर्शन-शीलता के कुण्ठित होने का द्योतक है। जहां अधियज्ञ में सोम का अर्थ सोमलता है और अधिदेव अर्थ में चन्द्र, वहीं आध्यात्मिक पक्ष में सोम का अर्थ परमेश्वर का आनन्दरस गृहीत होगा। सर्वत्र एक ही अर्थ के ग्रहण करने का आग्रह वाणी की गम्भीरता के समझने में सुन्दर रुचिवाले नहीं करते।

पृ० १२९२—पारिजातकार का स्वभाव है, कि वह सर्वत्र पहले यही उद्घोषित करता है कि स्वामी दयानन्द का व्याख्यान मन्त्राक्षरबाह्य है, जैसे यहां पर भी (पं० ८) कहा है। इस विषय में हमारा कहना है यह ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में प्रसङ्गतः प्राप्त विषय और उसके अनुकूल विशेषरूप से स्पष्ट व्याख्यान कर दिया है। परन्तु आश्चर्य है, इन्होंने कहीं पर भी सायणाचार्यकृत भाष्य की

यत्र न केवलं मन्त्राक्षराण्येवोपेक्षितानि, अपितु सर्वथा मन्त्रार्थविरुद्धो वेदगरिमविलोपकोऽप्यनर्थोऽर्थीकृत्योपस्थापितः। प्रेक्षावन्तो निभालयन्तु तत्।

यथा—काल्पनिकविनियोगपुच्छं गृहीत्वा—

यत् संवत्समृभवो गामरक्षन् यत् संवत्समृभवो मा अपिंशन्।
यत्संवत्समभरन् भासो अस्यास्ताभिः शमीभिरमृतत्वमाशुः।
(ऋ० ४।३३।४)

एतस्या आश्वलायनसूत्रमनुसृत्य ऋभूणां प्रशंसने विनियोगोऽमन्यत। अस्मिन् मन्त्रे ऋभूणां शुभकर्म प्रशस्यते। यत्ते एकां गां हत्वा खण्डशः कृतवन्तः। पश्चादनुप्राणयन्तस्ते देवत्वमगमन्। पुनः कर्मफलसिद्धान्तेन गोहत्यापापात् कथमुन्मुक्तिः?

सायणभाष्यम्—"संवसन्ति भूतान्यस्मिन्निति संवत्सः संवत्सरः। संवत्सरपर्यन्तम् (ऋभवो) (गाम्) मृताम् (अरक्षन्) अपालयन्। स्वसामर्थ्यादिति (यत्) यदेतत् कर्माऽस्ति। तथा (संवत्सम्) संवत्सरम् (ऋभवो) (माः) तस्या एव गोर्मांसम् (अपिंशन्) अवयवान् अकुर्वन्निति (यत्)। किञ्च (संवत्सम्) संवत्सरपर्यन्तम् (अस्या भासः अभरन्) दीप्तीः अवयवशोभा अकुर्वन्निति (यत् ताभिः शमीभिः) मृताया गोर्नवीकरणविषयैः कर्मभिः (अमृतत्वमाशुः) देवत्वं प्राप्ताः। 'धेनुः कर्त्वा' इति देवत्वप्राप्तिसाधनत्वेन देवैः प्रतिश्रुतत्वात्। अत्र संवत्समित्येतद्वत्सेन सहेति व्याख्येयम्।" 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' इति नियमाद् गोघातपापफलस्याप्यवश्यभोक्तृत्वमापद्यते।

आलोचना नहीं की, जिसमें न केवल मन्त्राक्षरों की ही उपेक्षा की गई है, अपितु मन्त्रार्थ के विरुद्ध वेद की गरिमा का विलोपन करनेवाला अनर्थ ही वास्तविक अर्थरूप में उपस्थित किया है। बुद्धिमान् जन देखें—

काल्पनिक विनियोग की पूंछ पकड़कर ऋ० ४।३३।४ इस ऋचा का आश्वलायनसूत्र का अनुसरण कर ऋभुओं की प्रशंसा में विनियोग है—"मन्त्रार्थ में एक गौ को मारकर खण्ड-खण्ड कर दिया गया, फिर उन्होंने जीवित किया और स्वर्ग को गये।" सायणभाष्य यह है—ऋभुओं ने एक वर्ष तक गाय को मार कर रखा। फिर जिलाकर स्वर्ग को गए। यहां सायण गोघातक सम्प्रदाय का अनुगमन करते हैं—

"संवत्सरपर्यन्त गोमांस के टुकड़े करके रक्खे, और इस गाय को पुनः सप्राण कर ऋभुगण देवत्व को प्राप्त हुए।" यहां पर गाय को मारकर और उसे पुनः जिलाना, देवत्वप्राप्ति का साधन बताया जा रहा है। कर्मफल-भोग-सिद्धान्त के नियम से गोघात का पाप तो भोगना ही पड़ेगा।

https://t.me/DharmaSangrahat

सायणस्यायमर्थो यज्ञार्थं गोघातकस्य सम्प्रदायम् अन्वेति । अपरतो महर्षिदयानन्दभाष्यं तु एवम्—"(यत्) ये (संवत्सम्) संगतं वत्समिव (ऋभवः) मेधाविनः पितरः (गाम्) वाणीम् (अरक्षन्) रक्षन्ति । यत् (संवत्सम्) एकीभूतं वात्सल्येन पालितं सन्तानम् (ऋभवः) (माः) मातृः सावयवाः कुर्वन्ति । याः संवत्सं धरन्ति पुष्णन्ति (भासः) प्रकाशमानायाः (अस्याः) विद्यायाः (ताभिः) मातृपित्राचार्यसेवया विद्यां प्राप्तिभिः (शमीभिः) श्रेष्ठैः कर्मभिः (अमृतत्वम्) मोक्षभावमुत्तमानन्दं वा (आशुः) प्राप्नुवन्ति ।"

सायणाचार्यो हि 'माः' इत्यर्थं गोमांसमिति, यदा स्वामिदयानन्दः मातृरिति, विधत्ते । अपरत्र (ऋ० १।१६१।३) मन्त्रव्याख्याने सायणः—"(धेनुः) (कर्त्वा) चर्मरहिता मृता गौः नित्यदोग्ध्री पुनर्नूतना कार्या" इति आचष्टे । सायणाचार्यभाष्यमेव दृष्ट्वा मोनियरविलियम्सम्महोदयोऽपि 'पिश' इत्यर्थं 'to hew out, corve, prepare, (esp.) meat' व्यधात् । न जाने एतद्भाष्याधाराः कियन्तोऽप्यनर्था अङ्गीकृता अतत्त्वबोद्धृभिः ।

वक्तव्यं चात्र—'इन्द्रस्याङ्गिरसाम्' (ऋ० १।६२।३) इति मन्त्रे 'सरमानाम्न्या देवशुन्या यदाख्यानं सायणेन कल्पितम्, तदाधारः क्व ? घटना मन्त्रानन्तरं जाता चेत्, कथं मन्त्रेऽनुस्यूता ? तत्पूर्वं चेत्, ईश्वरोक्तत्वं नित्यत्वं वा वेदस्य कथं सङ्गच्छते ?

सायण का यह अर्थ यज्ञार्थ गोघातक सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता है। दूसरी ओर महर्षि दयानन्द भाष्य करते हैं कि मेधावी पितृजन संगतवत्स गौ के समान वाणीरूप गाय की रक्षा करते हैं और जो स्वसन्तान को उत्तम शिक्षा देते हैं, वे पालन-पोषण करते हैं। आचार्यों की सेवा और विद्याओं की प्राप्तियों से तथा श्रेष्ठ कर्मों से मोक्षभाव को प्राप्त करते हैं।

सायण 'माः' का अर्थ गोमांस और ऋषि 'माताओं को' अर्थ करते हैं। अन्यत्र भी देखिये—(ऋ० १।१६१।३) मन्त्रभाष्य में सायण गायों को काटकर पुनर्नूतन करने की बात कहते हैं। इसी भाष्य को देखकर मोनियर विलियम्स 'मांस तैयार करने की बात 'पिश' के अर्थ करता है। सायण के भाष्य का आधार लेकर वेदतत्त्व न समझनेवाले लोगों ने न जाने कितने अनर्थ किये हैं।

सायण ने (ऋ० १।६२।३ में) सरमा नाम की देवों की कुत्ती के आख्यान की कल्पना कर डाली। उसका क्या आधार है ? घटना यदि मन्त्र के अनन्तर की है, तो मन्त्र में कैसे अनुस्यूत हो गई ? यदि उससे पूर्व की है, तो मन्त्रों का ईश्वरोक्तत्व वा नित्यत्व कैसे सङ्गत होगा ?

तत्रापि ऋषिर्दयानन्दः 'सरान् विद्याधर्मबोधान् मिमीते सन्तानार्थं सा माता' इति विदधाति । सायणाचार्यकल्पिता कथा किं नोदक्षरा ? अपरं च—

'यः सुन्वन्तमवति' (ऋ० २।१२।१४) अत्र 'जनास इन्द्रः' इति लघुखण्डमनुसृत्य कथानकत्रितयं यत् कल्पितं किं तदपि मन्त्रानुगतम् ? 'ओजिष्ठं ते मध्यतो' (ऋ० ३।२१।५) इत्यत्र 'मध्यतः' इति पशोर्मध्यभागाद् अत्र किं पशोरिति मन्त्रानुगतः शब्दः ? इत्यादीनि बहूनि स्थलानि यानि दूषितानि, नात्र व्याकरणनिरुक्तज्ञानं वास्याधिक्षिप्यते, केवलं मिथ्याश्लीलकथाजालग्रस्तदृष्टिकोणस्यैवास्य दोषः ।

किमधिकं ब्रूमो—'अघायताम्' सूक्तमिदं च गोवधे विनिदिशन् पण्डितराजसायणः—

'अप्रलोपयद् यन् निगमप्रतिष्ठितिम्, गोरक्षका हाऽशरणाः क्व यान्तु ?'

यथाऽह अथर्व० (१०।९।५) भाष्येऽसौ—"अघायतामिति सूक्तम् आहुत्यर्थं गोवधे विनियुज्यते । या च बन्ध्या गौः शतौदनेत्युच्यते, तस्या वधेन तस्या मांसाहुत्या च यद्यजनं तदग्निष्टोमादपि अतिराजादपि श्रेष्ठम् ।" इत्यादि प्रशंसा !

सन्तान के लिये उक्त मन्त्र में भी ऋषि दयानन्द ने सर अर्थात् विद्या और धर्म के ज्ञान का मापन करनेवाली माता, यह अर्थ 'सरमा' शब्द का किया है, वह कितना श्रेष्ठ है ! बताइये, क्या सायणाचार्य की यह सारी कथा मन्त्राक्षरों से सर्वथा बाह्य नहीं है ? और भी—

'यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः' (ऋ० २।१२।१४) मन्त्र में छोटे खण्ड से तीन कथाओं की कल्पना करना सर्वथा मन्त्रबाह्य है। 'ओजिष्ठं ते मध्यतो' (३।२१।५) इस मन्त्र में 'मध्यतः' से 'पशु के मध्यभाग से' इस अर्थ में 'पशु' की कल्पना का क्या आधार है ? इत्यादि बहुत से स्थल अनर्थ से दूषित कर दिये हैं। इससे हम सायणाचार्य के व्याकरण और निरुक्त ज्ञान पर आक्षेप नहीं कर रहे हैं; प्रत्युत यह उनके मिथ्या अश्लीलकथाजालग्रस्त दृष्टिकोण का ही दोष है।

अधिक क्या लिखें ? 'अघायताम्' इस सूक्त को गोवध में विनिर्दिष्ट करने वाले सायण पण्डित ने वेद की प्रतिष्ठा का ही विलोप कर दिया। बताइये, ये अशरण गो-रक्षक सङ्कल्प अब कहां जायें ?

जैसा कि सायण अपने अथर्वभाष्य (१०।९।५) में कहता है कि "अघायताम्'—यह सूक्त गोवध में आहुति के लिये विनियुक्त है। ये बन्ध्या गौ शतौदना कहाती है, उसके वध और उसकी मांसाहुति से किया यज्ञ अग्निष्टोम से भी श्रेष्ठ

https://t.me/Dharmasanrat

निर्मलोक्तिरियमत्र सुघटते—

न्यासीकृता मतिमता धिषणा स्वकीया,
हा ! तेन पण्डितवरेण च सायणेन ।
तात्कालिकप्रचलिते विनियोगबन्धे,
बन्ध्या मतात इह गौर्यजनेऽपि वध्या ॥

महामते ! समग्र-संस्कृति-कर्त्तन-क्रमादन्धानुसरणान् निवर्त्तयतु सनातन-धर्मरक्षणकृत-सङ्कल्पाननल्पश्रुतप्रज्ञाधनान् संस्कृतगिराज्ञानलब्धप्रतिष्ठान् स्वानुचरानचिरमपरान् वाऽपि मनुजान् ।

स्वामिनि यदाक्षिपति किन्नोव्वटमहीधरयोरेतदुदक्षरं भवद्दृष्ट्या ? 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा०' (यजु० ३२।६) इत्यत्र 'प्राणिधारणाय, वृष्टिग्रहणाय, अन्ननिष्पादनाय च' इत्यर्थस्य क आधारः ? अहन्तु मन्ये साध्वेवार्थसाधनायोत्प्रेक्षणमदः । एवं 'दृढा' शब्देन भूमेरभ्रमणं यद् भवता प्रतिपाद्यते तत् खण्डितमेव महीधरवचसा, यथाऽसौ भूमेर्दार्ढ्यं व्याचष्टे—"सर्वप्राणिधारणं वृष्टिग्रहणम्, अन्ननिष्पादनं चेति भूमेर्दार्ढ्यमिति" ।

है ।" इत्यादि । यहां पर यह निर्मलोक्ति सुघटित हो रही है—

बड़े दुःख की बात है कि उस उत्तम पण्डित सायण ने अपनी बुद्धि उस समय के प्रचलित विनियोगों में गिरवी रख दी । इसीलिये इसने यजन में बन्ध्या गौ को वध करने योग्य कहा है ।

हे महामते ! समग्र संस्कृतिरूपी गाय के काटने के क्रमवाले अन्धानुसरण से बुद्धि को शीघ्र लौटाइये, उन्हें जिन लोगों ने सनातनधर्म की रक्षा का संकल्प किया है, तथा जो अनल्पप्रज्ञाधन संस्कृतज्ञान में लब्धप्रतिष्ठ आपके अनुचर व अन्य अनुज हैं ।

स्वामीजी पर जो मन्त्रों के अक्षरों से बाह्य होने का आक्षेप करते हो तो वह उव्वट और महीधर पर क्यों नहीं करते ? बताइये, 'येन द्यौरुग्रा' (यजु० ३२।६) इस मन्त्र में 'प्राणिधारण के लिये, वृष्टिग्रहण के लिये तथा अन्ननिष्पादन के लिये' ये अर्थ मन्त्र के किस शब्द के आधार पर इन्होंने कर दिये ? वैसे बुद्धि से उन्होंने उत्प्रेक्षण किया, अतएव हम तो इसे ठीक भी मान लेते हैं । पर आपकी क्या गति होगी ? इस प्रकार 'दृढा' शब्द से जो आप भूमि का अभ्रमण सिद्ध करते हैं, उसका खण्डन तो महीधर के वचन से ही हो जाता है । जैसा कि उन्होंने भूमि की दृढता की ही यह व्याख्या की है, अर्थात् सबका धारण, वृष्टि-ग्रहण और अन्न का निष्पादन ही भूमि की दृढता है ।

किञ्चैतदप्यवगन्तव्यं यत् सायणाचार्योऽन्धानुसरणन्यायेन न किमपि मौलिकं विचिन्वन् सूत्रग्रन्थकृतं रूढविनियोगरोगाक्रान्तस्तद्विनियोगसामञ्जस्यं गवेषयन् कालमयापयत्, इत्यसमञ्जसम् । एतद्धाराऽऽधारानर्थपारावारस्य परं पारमवगाहमानः 'सहृदयं साम्मनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः' (अथर्व० ३।३०।१) इति मन्त्रस्य मासत्रयगोवत्समांसाशने विनियोगस्य सङ्गमनायासौ स्वभाष्ये 'साम्मनस्यम्' इत्यस्य 'साम्मनुष्यम्' इति पपाठ ।

अहो ! असम्मर्षणीयः खलु तत्कालविचारितप्रचारितविचारधाराया दुष्प्रभावः, यो बहुशास्त्रज्ञमपि वशीकुरुते सायणाचार्यम् । किमेषैव मन्त्राक्षरानुगतता भवताऽतितरां प्रशस्यते ?

पृ० १२९३, अनु० १—यदुक्तम्—"'द्यावापृथिवी एजेते' इति कम्पनमुच्यते, तच्चेष्यत एव, 'एजृ कम्पने' इति स्मरणात् । न तावता पाश्चात्याभिमतं भूभ्रमणादिकं सिद्ध्यति । किञ्च, प्रत्यक्षानुमानाभ्यामवगतेऽर्थे न वेदस्य तात्पर्यम्, अधिगतगन्तृत्वाभावात् ।" इति ।

एतत्तु ते वाक्शक्तेरस्तित्वप्रमाणातिरिक्तं न चिन्तनमभ्यूहां वाऽनुबध्नाति ।

तथा यह भी जानना चाहिये कि अन्धानुसरणन्याय से सायणाचार्य ने कुछ भी मौलिक चिन्तन न करके सूत्रग्रन्थों के लिये विनियोग के रोग से आक्रान्त होकर केवल उन्हीं विनियोगों का सामञ्जस्य मिलाने में समय बिताया, यह असमञ्जसकर है । इस धारा के आधारभूत अनर्थ के पारावार के पार न पहुंचते हुए 'सहृदयम०' (अथर्व ३।३०।१) इस मन्त्र से तीन मास के बछड़े के मांसाशन में किये विनियोग की सङ्गति के लिये उन्होंने अपने भाष्य में 'साम्मनस्यम्' इसके स्थान पर 'साम्मनुष्यम्' पाठ कर दिया ।

अहो ! उस काल की विचारधाराओं का प्रसार-प्रचार कैसा बुरा प्रभाववाला था, जिसने बहुशास्त्रज्ञ सायण को भी स्ववश कर लिया । क्या ऐसी ही बुद्धि-बाह्य मन्त्रों के अक्षरों की अनुगमनशीलता आपके द्वारा प्रशंसनीय है ?

पृ० १२९३, अनु० १—पू० प०—"'द्यावापृथिवी एजेते' इस श्रुतिवचन से द्यावापृथिवी के कम्पन की बात हमें भी स्वीकृत है, क्योंकि 'एजृ' धातु कम्पन अर्थ में प्रयुक्त होती है । किन्तु इससे पाश्चात्यों के द्वारा स्वीकृत पृथिवी-भ्रमण की बात सिद्ध नहीं हो पाती । प्रत्यक्ष और अनुमान से अवगत हो सकनेवाले अर्थ में वेद की प्रवृत्ति मीमांसा-सिद्धान्त के अनुसार नहीं मानी जाती क्योंकि वेद तो किसी भी प्रमाण से अवगत न होनेवाले अर्थ की अवगति के लिये ही प्रवृत्त होता है, दूसरे प्रमाणों से अवगत अर्थ में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती ।"

उ० प०—उक्त बात से केवल यह तो सिद्ध होता है कि आप में बोलने की

https://t.me/Dharmesarai

प्रकृत एव गच्छतीति गौरिति निष्पत्त्या गमनकम्पनयोरभिन्नार्थत्वं भवन्मतेऽपि ध्वन्यते। गौरित्यर्थो निघण्टौ पृथिवीत्यपि, सा हि गम्लृधातोरिह सम्पन्ना, पृथिव्याः कम्पनमिह प्रतिपाद्यते। तद् गम्धातोर्भ्रमणार्थग्रहणे पूर्वमेव लिखितम्।

महामते! 'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा' इत्यादिवचनानां नैतत् तात्पर्यम्—यत् किमपि एताभ्याम् (प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्) अधिगतमस्ति, तत्सर्वं वेदे नैवाऽस्ति। तस्यैवमभिप्रायो यदलौकिकमुपायमिन्द्रियबुद्ध्यवगम्यमपि वेद एव बोधयितुं समर्थः, तस्य ईश्वरीयज्ञानमयत्वात्।

अग्रे 'योऽन्तरिक्षे रजसो विमानः' इत्यनेनाऽपि लोकलोकान्तराणां परेशेन पक्षिवद् भ्रामणं स्पष्टम्। तथा—'ग्मा गच्छतेः, गच्छन्ती हीयम्' इति माधवोऽपि। 'ज्मा' इत्यत्राऽपि—'जमतिर्गतिकर्मा' (निघं० २।१०) इति गतिर्निरूप्यते। एवं क्षित्यवनिरिपशब्दैरपि गतिर्बोध्यते।

पृ० १२९३, अनु० २—यदुक्तम्—"येन द्यौरुग्रा०' अनेन पृथिव्याः स्थिरता विज्ञायते" इति, तद्धि विरोधवचनम्। यदा हि कम्पनं प्रतिपाद्यते पृथिव्यास्तदा स्थिरत्वमपि कथमामन्येत? अतो 'दृढा' इत्यर्थस्तु कठोरा कठिनेति वा। तद्यथा

शक्ति है, कुछ भी कह सकते हो, पर यह आवश्यक नहीं है कि आपका यह कथन चिन्तन, तर्क या बुद्धि से भी सङ्गत होगा। प्रकृत विषय में 'गच्छति' जानेवाली 'गौ' इस शब्द की निष्पत्ति से ही आपके मत में भी गमन और कम्पन दोनों अभिन्नार्थक हैं, यह ध्वनित होता है। निघण्टु में 'गो' का अर्थ पृथिवी है, जो गम् धातु से बनता है। यहां पर पृथिवी का कम्पन प्रतिपादित है। यह बात 'गम्' के भ्रमण अर्थ करने में पूर्व ही लिख चुके हैं।

महाराज! 'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा' इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि जो कुछ भी प्रत्यक्ष या अनुमान से जाना जाता है, वह वेद में नहीं है। इस पद्य का यही अभिप्राय है कि अलौकिक उपाय, इन्द्रिय बुद्धि से अगम्य को भी वेद बताने में समर्थ है, क्योंकि वह ईश्वरीय ज्ञान है।

आगे भी 'योऽन्तरिक्षे रजसो विमानः' इससे भी ईश्वर के द्वारा लोक-लोकान्तरों का पक्षिवद् भ्रमण स्पष्ट है। और 'ग्मा' शब्द पर 'यह पृथिवी जाती हुई है' ऐसा माधव ने लिखा है। 'ज्या' भी गतिकर्मक जम् धातु से बना है। इसी प्रकार क्षिति और अवनि शब्दों से भी गति का बोधन होता है।

पृ० १२९३, अनु० २—यह कहना कि "येन द्यौरुग्रा०' इससे पृथिवी की स्थिरता विज्ञात होती है, यह कथन विरुद्ध है। जब पृथिवी का कम्पन प्रतिपादित है तो स्थिरता किस प्रकार मानी जा सकती है? अतः 'दृढा' इसका अर्थ

—'कक्खटं कठिनं क्रूरं कठोरं निष्ठुरं दृढम्' इत्यमरः। वैष्णवसम्प्रदायाचार्यः स्वामी भगवदाचार्योऽप्याह—'येन दृढा धारणसमर्था च पृथिवी कृता'। पाणिनिना 'दृढः स्थूलबलयोः' (अष्टा० ७।२।२०) इति विधानेऽपि न गतिहीनता द्योत्यते।

पृ० १२९३, अनु० ३—यदुच्यते—"आकृष्णेन०' इति मन्त्रेण सूर्यस्य रथेन गमनं प्रतीयते।" इति, इयं मतिस्तु सर्वथाऽप्रशस्या या मन्यते लौकिकरथवत् सूर्यस्यापि रथम्। इह तु तेजोरूपस्य आधिदैविकार्थो ग्राह्यः, अन्यस्याऽसम्भवात्। अस्मिन् मन्त्रे आकृष्णेन (आकर्षणगुणेन) इत्यस्यैव हिरण्मयेन ज्योतिर्मयेन रथेन रमणानन्दादिव्यवहारसाधनतेजोरूपेण सह परमात्मा सूर्यः सूर्यलोको वा वर्तमानोऽस्तीत्येवार्थः।

पृ० १२९४, अनु० १—यच्चाभिधीयते—"लल्लवराहमिहिरादीनां समक्षे आर्यभट्टस्य प्रतिष्ठा नाभूत्, तदा स्वप्रतिष्ठार्थमेवार्यभट्टिनाम्ना तेन ग्रन्थान्तरं लिखितम्। तत्र पैथागोरसादिरीत्या भूभ्रमणं साधितम्। लल्लवराहमिहिरादिभिश्च प्रबलयुक्तिभिस्तदीयः पक्षो धूलिसात् कृतः। तथापि केप्लरन्यूटनादीनां

कठोर या कठिन है, जैसा अमरकोष में दृढ के पर्यायों में कठोर आदि पढ़े गये हैं। वैष्णव-सम्प्रदाय के आचार्य स्वामी भगवदाचार्य भी कहते हैं—"जिसने धारणसमर्था पृथिवी बनाई है।" पाणिनि के 'दृढः स्थूलबलयोः' (अष्टा० ७।२।२०) सूत्र से भी गतिहीनता द्योतित नहीं होती।

पृ० १२९३, अनु० ३—"आकृष्णेन०' मन्त्र में सूर्य के रथ में बैठकर चलने की बात कही गई है।" ऐसा कहनेवाली बुद्धि प्रशंसनीय नहीं, जो कि लौकिक रथ के समान ही सूर्य का रथ भी समझ रही है। इस मन्त्र में तेजोमण्डल को ही रथरूप में समझना चाहिये। तथा (आधिदैविक-अर्थ) यह हिरण्मय रथ आकर्षणगुण से युक्त है। (आध्यात्मिक पक्ष में) रमण, आनन्द आदि व्यवहार के साधन ज्ञान, तेजोरूप के साथ परमात्मा, सूर्य तथा सूर्यलोक वर्तमान है, यह अर्थ होगा।

पृ० १२९४, अनु० १—पू० प०—"ईसा की १३वीं शताब्दी के बाद पैथागोरस, कैप्लर, न्यूटन प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने पृथिवी के भ्रमण का सिद्धान्त माना। भारत में आर्यभट्ट ने अपने ग्रन्थ आर्यभट्टि में पृथिवी को अचल और सूर्यादि ग्रहों को चल माना है। लल्ल, वराहमिहिरप्रभृति के सामने जब उसकी प्रतिष्ठा न जमी, तो उसने दूसरा ग्रन्थ लिखा, जिसमें पैथागोरस की पद्धति से ही पृथिवी के भ्रमण का सिद्धान्त सिद्ध किया है। लल्ल, वराहमिहिर प्रभृति ने उसके इस पक्ष को प्रबल युक्तियों के सहारे धूल में मिला दिया, तो भी बाद में कैप्लर,

https://t.me/Dharmadarshan

प्रयासात् तन्मतप्रचारो रूढिं गतः । तत्प्रभावितत्वाद् दयानन्देन वेदमन्त्रानवष्टभ्य तन्मत साधयितुं प्रयतितम् ।"

तत्सर्वं पूर्वाग्रहन्यासीकृतचिन्तनफलम् । पौर्वापर्यचिन्तामनवधार्यैवावल्गुजल्पितम् । आर्यभट्टजनुस्तु ४२१ तमेशवीयाब्दे पुनर्वराहमिहिरस्यानेन कदा मन्यते ? यदाह—'लल्लवराहादिभिश्च तदीयः पक्षो धूलिसात् कृतः' इत्यपि भवत्कपोलकल्पनैव । वराहमिहिरेण स्वग्रन्थे भूभ्रमणवादिनां पक्षे पञ्च दोषा उद्भाविताः—

(१) वायोर्वेगेन चलनसम्भावना, (२) वेगेन ध्वजादीनां पश्चिमां दिशां प्रति उड्डयनम्, (३) वारिदानां पश्चिमां दिशां प्रति गमनम्, (४) बाणादीनां पश्चिमदिशि पतनम्, (५) पक्षिणां कुलायानामभिज्ञानभ्रंशनं भविष्यति इति । तदिमे दोषा अज्ञानप्रभवा एव ।

(१) यथा धूम्रशकटी-मोटरयानादीनां सवेगचलनेन वायुरग्रतः पृष्ठं प्रति चलति, एवं यदि पृथिवी पश्चिमतः पूर्वदिशां प्रति भ्रमति, तदा वायुः पूर्वतः पश्चिमां प्रति चलेत्, परन्नैवं भवति । एतेन सिध्यति यन्न पृथिवी भ्राम्यतीति

न्यूटन आदि के प्रभाव से उसका मत जनता में पुनः प्रसिद्ध हो गया है । उनसे प्रभावित दयानन्द ने वेदशास्त्रों से उसी मत को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है ।"

उ० प०—उक्त समस्त कथन पूर्वाग्रह में गिरवी रखे हुए चिन्तन का फल है । पौर्वापर्य का बिना चिन्तन किये हुए बकवास की है । आर्यभट्ट का जन्म ४२१वीं ईसवी में हुआ । वराहमिहिर का यह कब मानते हैं ? जो कि ये लिख रहे हैं कि 'लल्ल, वराहमिहिर ने उसके पक्ष को धूलि में मिला दिया' यह कथन भी कपोलों की कल्पना है । वराहमिहिर ने अपने ग्रन्थ में भूभ्रमणवादियों के पक्ष में पांच दोष उद्भावित किये हैं । वे हैं—

(१) वायु के वेग से चलने की सम्भावना, (२) वेग से ध्वज आदिकों का पश्चिम दिशा के प्रति उड़ना, (३) बादलों का पश्चिम दिशा के प्रति चलना, (४) बाण आदि का पश्चिम दिशा में गिरना और (५) पक्षियों के घोसलों की पहचान-भ्रंश न होना । परन्तु ये दोष अज्ञानजनित हैं ।

(१) जैसे रेलगाड़ी, मोटर यान आदि के वेग से चलने से वायु आगे से पीछे को चलता है, इसी प्रकार यदि पृथिवी पश्चिम से पूर्व दिशा के प्रति चलती है, तो वायु पूर्व से पश्चिम के प्रति ही चलना चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं

कथनं भ्रामकम् । यतो हि पृथिव्या सह तस्या वायुमण्डलमपि सार्धमेव बद्धम् ।

पूर्वपश्चिमोत्तरदक्षिणोपरिनीचैः पृथिवीं परितश्च आकाशे सहस्राणि लोकलोकान्तराणि सन्ति, यान्यन्योन्याकर्षणेन अवस्थितानि विद्यन्ते । एषु कश्चिल्लोको दूरेऽपरश्च समीपे वर्त्तते । सर्वे स्वस्वपरिधौ भ्रमन्ति । पृथिव्यपेक्षया सर्वेषु लोकेषु कश्चिदुपरिष्टान्नीचैरधस्तादुपरि, कश्चित् कंचिदपि परितः, कश्चित् स्वाक्षे, सूर्योऽपि स्वपरिधौ, कश्चिद् वा पूर्वतः पश्चिमाम्, पश्चिमतः पूर्वामुत्तरतो दक्षिणाम्, दक्षिणतश्चोत्तरां प्रति भ्रमति । अतो वायुरपि स्वभावतः प्रतिदिशं वाति । सूर्यतापानुपातेन मन्दो वेगवान् वा जायते । अस्मिन् समाधाने द्वितीयाक्षेपोऽपि समाहितोऽन्येऽपि च समाहिताः ।

वस्तुतस्तु चतुर्थपञ्चमाक्षेपौ निर्मूलौ, यतो हि पृथिवी-पदार्था अपि तदाकर्षण-शक्त्यैव बद्धाः । सर्वपदार्थान् क्रोडीकृत्यैव पृथिवी भ्राम्यति । अतो न पक्षी कुलायाच्च्युतो भवति, न च बाणाः पश्चिमतो निपतन्ति । यथा वाष्पयाने स्थितेन उच्छालितो गेन्दुको न पृष्ठे पतति, विद्युद्दीपसमीप उड्डीयमानाः शलभा अपि न पृष्ठे निपतन्ति, तद्वातावरणस्यापि यानेन सह सम्बद्धत्वात् ।

होता । इससे सिद्ध होता है कि पृथिवी भ्रमण नहीं करती, यह कथन भ्रामक है, क्योंकि पृथिवी के साथ उसका वायुमण्डल भी बन्धा हुआ है ।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे पृथिवी के चारों ओर आकाश में सहस्रों लोक-लोकान्तर हैं, जो कि परस्पर आकर्षण से अवस्थित हैं । इनमें कोई लोक दूर, दूसरा पास है । सभी अपनी-अपनी परिधि में घूमते हैं । पृथिवी की अपेक्षा से सब लोकों में कोई ऊपर से नीचे, कोई नीचे से ऊपर, कोई किसी के चारों ओर और कोई अपनी धुरी पर, कोई पूर्व से पश्चिम, कोई पश्चिम से पूर्व, उत्तर से दक्षिण और दक्षिण से उत्तर को घूमता है । इसलिये वायु भी स्वभाव से प्रतिदिशा में चलता व सूर्य के ताप के अनुताप से मन्द व वेगवान् होता है । इसी समाधान में द्वितीय आक्षेप का भी समाधान हो जाता है तथा अन्य भी समाहित हैं ।

वास्तव में चौथे और पांचवें आक्षेप तो निर्मूल हैं, क्योंकि पृथिवी के पदार्थ भी उसकी आकर्षण शक्ति से ही बन्धे हुए हैं । पृथिवी समस्त पदार्थों को गोद में रख कर ही तो घूमती है । इसलिये पक्षी घोंसले से च्युत नहीं होता और न बाण पश्चिम की ओर गिरते हैं । जैसे ट्रेन में स्थित व्यक्ति के द्वारा उछाला हुआ गेंद पीछे नहीं गिरता, बिजली के दीपक के पास उड़ते हुए पतङ्गे भी पीछे नहीं गिरते, क्योंकि वह वातावरण भी तो उसी के साथ सम्बद्ध होता है ।

https://t.me/Dharmadarshan

"केप्लर-न्यूटनादिप्रभावितत्वाद् दयानन्देन वेदमन्त्रानवष्टभ्य तन्मतं साधयितुं प्रयतितम्" इति तु अलीकं प्रलपनम्, पूर्वत एव सर्वविद्यागारेषु मन्त्रेषु पृथिवी-भ्रमण-सूचक-मूलकत्वात् तेषां मन्त्राणां मूलभूततत्त्वस्यैव चान्यग्रन्थेषु वर्णनाच्च। यथा वाल्मीकिरामायणे—

या चेयं जगतां माता सर्वलोकनमस्कृता।
अस्याश्च चलनं भूमेर्दृश्यते कोसलेश्वर॥ (अरण्यका० ६६।१०)

सूर्यं परितः पृथिवी चेन्नाभ्रमिष्यत्, अहोरात्रं बहुवर्षाणामभविष्यत्।

ननु 'निर्ऋति' शब्देन भूमिपर्यायवाचकेन गमनराहित्यम्, 'ध्रुवा' शब्देन चाचलत्वम्, तत्र निष्क्रान्ता ऋतेर्गतेरिति विग्रहात् सिध्यतीति चेन्न, भास्कराचार्येण 'निर्ऋतिर्निरमणात्' (२।७) इति व्याख्यानात्। न च स्कन्दस्वामिना 'निरमणादिति निश्चलत्वेनावस्थानात्' इत्यर्थकरणाद् गत्यभाव एवावगन्तव्य इति वाच्यम्, तत्र देवराजयज्वना वैयाकरणपक्षेण तु निरुपसृष्टादर्तेः क्तिनि निर्ऋतिः निष्क्रान्ता ऋतेर्गमनान् निश्चलवदवतिष्ठद् इति निर्वचनाद्वत्प्रत्ययप्रयोगेण

यह झूठ है कि महर्षि ने कैप्लर आदि के मत से प्रभावित होकर वेद-मन्त्रों से पृथिवी का भ्रमण सिद्ध किया है, क्योंकि सब विद्या के भण्डार वेदों में पृथिवी-भ्रमणादिसूचक मूल वर्तमान है। तथा इन्हीं वेदादि के मूल का ही अन्य ग्रन्थों में अनुकरण किया गया है। जैसा कि वाल्मीकिरामायण में लिखा है—"हे कोसलेश्वर! यह जो जगन्माता सबसे नमस्कृत भूमि है, इसका चलन दिखाई पड़ता है।" (अरण्यकाण्ड ६६।१०)

सूर्य के चारों ओर यदि पृथिवी न घूमती होती, तो रात और दिन बहुत-बहुत वर्षों के होते।

शङ्का—'निर्ऋति' शब्द जो भूमि का पर्यायवाचक है, उससे तो स्पष्ट ही पृथिवी का गत्यभाव सिद्ध है, क्योंकि जो ऋति अर्थात् गति से निष्क्रान्त हो, वह निर्ऋति कहलाती है और 'ध्रुवा' शब्द भी पृथिवी की अचलता का सूचक है।

समा०—यह शङ्का ठीक नहीं, क्योंकि भास्कराचार्य ने 'निर्ऋति' की रचना निर्+रम्+क्तिन् से कष्टार्थ में की है। अर्थात् जिस पृथिवी पर आकर जीव कष्ट भोगता है।

शङ्का—स्कन्दस्वामी ने तो 'निर्ऋति' का 'निश्चयरूप से अवस्थान करनेवाली' अर्थ किया है, अतः पृथिवी को गतिहीन ही मानना चाहिये।

समा०—वहां पर देवराज यज्वा ने व्याकरण की रीति से निर् उपसर्गपूर्वक 'ऋ' गतौ धातु से क्तिन् प्रत्यय करके 'निर्ऋति' शब्द बनाया है। वहां पर

भूमिगतेरननुभूयमानत्वान् निश्चलवती न तु निश्चला इत्यर्थध्वननात्।

वस्तुतस्तु भूमिपर्यायवाचकनिर्ऋतिशब्दः निर्पूर्वकरमधातोरेव निरुक्तेः सिद्धो यत् इति निरमणादित्यनेन सिध्यति। तत्र 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (अष्टा० ३।३।११३) इति कर्त्तर्यधिकरणे च 'स्त्रियां क्तिन्' (अष्टा० ३।३।९४) इति क्तिनि, अनुनासिकलोपः, 'रमेन तौ बहुलम्' (अष्टा० ६।१।३४ ग०) इत्यत्र बहुलवचनात् सम्प्रसारणम्। 'ध्रुवा' शब्देनाऽपि नियमानुकूलगामिनी इत्येवार्थो न तु गत्यभावः। यथा 'ध्रुवा पतिकुले भूयासम्' इत्यत्रापि न गत्यभावः, किन्तु पातिव्रतधर्मपालनमर्यादायां गामिनीत्येवार्थः।

(२) परं दूर-संस्थिता वृक्षा अर्धा एव प्रायेण दृश्यन्ते। एतेन सिध्यति वृक्षस्याधोभागो भुवो गोलतयाऽऽच्छादितो भवति।

(३) चत्वरवच्च कथं दृश्यते भूरित्यपि समाधीयते—

अल्पकायतया नूनं स्वस्थानात् सर्वतोमुखाम्।
पश्यन्ति वृत्तामप्येतां चक्राकारां वसुन्धराम्॥

(४) अपरा चेयमुक्तिर्यद् ब्रह्माण्डं गोलाकृतिरतस्तस्य प्रतिवस्तु गोलाकारमेव, भूरपि गोलाकृतिका।

वत् प्रत्यय के प्रयोग से भूमि की गति का अनुभव न होने से वह निश्चलवत् है, न कि निश्चल, यह अर्थ ध्वनित है।

वास्तव में निर्+रम् से 'निर्ऋति' शब्द निरुक्त में माना है। तथा 'ध्रुवा' शब्द से नियमानुकूल गमन करनेवाली अर्थ है, न कि गति के अभाववाली। जैसे 'पतिकुल में मैं ध्रुवा बनूं' यह अर्थ होता है। इस में भी गत्यभाव नहीं है, किन्तु 'पातिव्रत धर्मपालन की मर्यादा में चलनेवाली बनूं' यह अर्थ होता है।

(२) परन्तु दूरस्थित वृक्ष आधे ही प्रायः दीखते हैं, इससे सिद्ध होता है कि भू के गोल होने से वे ढक जाते हैं।

(३) पृथिवी चबूतरे की तरह क्यों दिखाई पड़ती है? इसका भी समाधान है कि अल्पकाय होने के कारण अपने स्थान से सर्वतोमुख गोल वसुन्धरा को चक्राकार देखते हैं।

(४) अन्य उक्ति यह भी है कि यह ब्रह्माण्ड ही गोलाकार है। अतः उससे जन्य प्रत्येक वस्तु ही गोल है, पृथिवी भी गोल है।

https://t.me/DharmaCamp

(५) दुर्जन-तोष-न्यायेन मन्येतेयं पृथिवी चत्वरवत्तदा सूर्यश्चैतां परितो भ्राम्येत् न तदा दिवसस्य रात्रेश्च एष क्रमोऽवस्थितिर्वा भवेत्।

घट इव निजमूर्त्तिच्छाययैवातपस्थः (सिद्धा० शिरो० गोलाध्यायः)। अन्यच्चास्मिन् सन्दर्भ—

भूग्रहमानां गोलार्धानि स्वच्छायया विवर्णानि।
अर्धानि यथासारं सूर्याभिमुखानि दीप्यन्ते॥

(६) भू-भ्रमणाभावे सूर्यचन्द्रग्रहणमपि (आर्यभट्टीयम्) न सेत्स्यति। अस्यां दशायां नान्यस्य छाया अपरमाच्छादयिष्यति। अतो भवत्सिद्धान्तोऽसिद्धः।

छादको भास्करस्येन्दुरधःस्थो घनवद्भवेत्।
भूच्छायां प्राङ्मुखश्चन्द्रो विशत्यस्य भवेदसौ॥ (सूर्यसिद्धान्ते ४।९)

(७) भवत्सिद्धान्ते तु ऋतुपरिवर्तनम्, शुक्लकृष्णपक्षः, अहोरात्रह्रासवृद्धी च न सम्भाव्येरन्। सूर्यं भुवं परितो भ्रामयतो भवतो बुद्धिरेव भ्रमावतप्रस्ता सती आत्मनेपदपरस्मैपदविवेकमपि त्यजन्ती 'भ्रममाणानाम्' इति अपाणिनीयं प्रयुजन्ती नहि चकास्ति। (नहीं हिचकी)

पृ० १२९४, अनु० ३—कथनाशयः--"समासां ताराणां भ्रमणे प्रमाणाभावः। कतिचिच्च तारास्तासु शतवर्षान्तरमपि पृथिव्यास्तत्स्थान एव दृश्यन्ते,

---

(५) दुर्जनतोषन्याय से मान भी लें कि यह भूमि चबूतरे की तरह है, तब सूर्यादि इसके चारों ओर घूमें, तो भी दिन और रात का यह क्रम हो ही नहीं सकता।

(६) भू-भ्रमण के अभाव में सूर्य-चन्द्र का ग्रहण भी सिद्ध नहीं होगा। इस दशा में अन्यतर की छाया दूसरे को आच्छादित न करेगी। इसलिये भूमि के अचल तथा सूर्य के भ्रमण करने का आपका सिद्धान्त सर्वथा असिद्ध है। सूर्यसिद्धान्त (४।९) में भी ऐसा ही कहा है।

(७) आपके सिद्धान्त से ऋतु-परिवर्तन, शुक्ल-कृष्णपक्ष, अहोरात्र-ह्रास-वृद्धि कुछ भी सम्भव नहीं है। वस्तुतः सूर्य को पृथिवी के चारों ओर घुमानेवाले आपकी बुद्धि ही भ्रम के आवर्त्त में पड़ी हुई 'आत्मनेपद' और 'परस्मैपद' तक का विवेक भी छोड़ बैठी है, जो कि 'भ्रममाणानाम्' यह अपाणिनीय प्रयोग भी करती हुई नहीं हिचकी। यह प्रयोग नहीं हो सकता।

पृ० १२९४, अनु० ३—"सभी तारों के भ्रमण में कोई प्रमाण नहीं है। कुछ तारे शतवर्षान्तर भी नहीं दिखाई पड़ते, अतः पृथिवी स्थिर है।" इत्यादि

अतः स्थैर्यमेव।" इत्याद्यपि कथनम् अविचारितमेव।

संसार उत्पन्न-समस्त-ग्रहोपग्रहतारादीनां लोकलोकान्तराणां च गतिशीलतैव। तत्रैव दर्शनकारणं च पृथिव्या भ्रमणम् अतिदविष्ठत्वं च तेषाम्।

विशेषः—पृथिवीभ्रमणविषये विशेषतोऽवधार्यम्। साम्प्रतं जिरास्कोपयन्त्रद्वारा पृथिव्या भ्रमणं स्पष्टं द्रष्टुं शक्यते। अस्मिन् यन्त्रे इयं विशेषता वद् यदि तत्कीलं कामपि तारकामभिलक्ष्य तदभिमुखी एव क्रियेत, तत्सरलरेखायां पृथिवीस्था अन्येऽपि पदार्थास्तिष्ठेयुस्तदा तत्कीलकं तत्तारकाभिमुखमेव स्थास्यति, परं पृथिवीस्थ पदार्थानां दिशापरिवर्त्तनं भविष्यति, यदि ध्रुवाभिमुखं क्रियेत न तदा पदार्थस्थितिपरिवर्त्तनं संजनिष्यते।

अस्माकं पृथिवी समानगत्या पश्चिमतः पूर्वां दिशं प्रति भ्राम्यति। यदि वयं कस्मिंश्चिद् गहनकूपे उपरिष्टादेकां घटीं (लोटा) पातयेम तदेयं जले निपतनात् पूर्वं कूपस्य पूर्वदिग्भित्तिं स्पर्क्ष्यति।

पृथिवी-भ्रमण-गमन-पोषकमिदमपि परीक्षणम्—यद् ये अन्तरिक्षयात्रिणश्चन्द्रमसं प्राप्तास्तैः कम्प्यूटर (काम्यपुत्र) द्वारा पृथिव्या गतिवेगो गणितस्तदेव

कथन भी अविचारित है।

संसार में उत्पन्न समस्त ग्रह, उपग्रह, तारा आदि की तथा लोकलोकान्तरों की गतिशीलता है, पर यह गति-भिन्नता भी है। उसी स्थान पर तारा दीखने का कारण पृथिवी का भ्रमण तथा उससे अति दूरी भी है।

विशेष—भूमि के भ्रमण के विषय में निम्न बात पर भी विशेष ध्यान देना चाहिये कि इस समय जिरास्कोप यन्त्र के द्वारा पृथिवी का भ्रमण स्पष्टरूप से देखा जा सकता है। इस यन्त्र में यह विशेषता है कि यदि उसकी कील को किसी तारा को अभिलक्षित कर उसके अभिमुख कर दिया जावे, तो इस सरल रेखा में पृथिवी के अन्य पदार्थ ठहरें, तो वह कील उस तारे के ही अभिमुख रहेगी, परन्तु पृथिवीस्थ पदार्थों का दिशापरिवर्तन हो जायेगा। यदि ध्रुव के अभिमुख किया जाये, तब पदार्थों की स्थिति में परिवर्तन नहीं होगा।

हमारी भूमि समान गति से पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है। यदि हम किसी गहरे कुंए में ऊपर से लोटा डालें, तब यह जल में डूबने से पूर्व कुंए की पूर्व दिशा की भित्तिको छुएगा।

पृथिवी की भ्रमणगति का पोषक यह परीक्षण भी है कि ये अन्तरिक्षयात्री जब चन्द्रमा पर पहुंचे, तो काम्यपुत्र (कम्प्यूटर) द्वारा पृथिवी का गतिवेग गिना

https://t.me/Dharmagalmat

तेऽभीष्टं स्थलमभ्यगमन् चन्द्रमसः। पृथिवीगतिमनुमायैव अभीष्टस्थले चावातरन्। तैश्च चित्रयन्त्रैः पृथिव्याश्चित्राण्यगृह्यन्त, तैरपि पृथिव्या गतिरेव सिद्धा।

पृ० १२९४, अनु० २—अत्र यदुच्यते—"यथा नौकाऽऽरूढानां नौः स्थिरा तटस्था वृक्षाश्च चलाः प्रतीयन्ते तथैव पृथिवीपक्षेऽपि, इति तु भ्रान्तानां दृशि एव नत्वभ्रान्तानाम्" इत्यपि न सम्यगालोचितम्। विद्वानविद्वान् कश्चिदपि नौकास्थो धूम्रशकटीस्थो वा भवेत्, नावो धूम्रशकटया वा गतिं पार्श्वस्थजलभूमी च न पश्येत् तदा सर्वस्यैव दूरस्था वृक्षाश्चलन्त इव प्रतीयन्त इति नात्र कश्चित् सन्देहः।

यदि नौकायां स्थिरताबुद्धिस्तटस्य वृक्षेषु च चलनबुद्धिर्भ्रान्त्या भवति इति, तथैव पृथिव्यां स्थैर्यबुद्धिः सूर्यादौ च चलनबुद्धिरपि भ्रान्ता जायते, इति कथयितुं पार्यते।

पृ० १२९४, पं० ९—"यथा वृत्ताकारे चत्वरे स्थिता मनुष्याः परितो धावमानानां हयानां भ्रमणमनुभवन्ति, तथैव भूमिष्ठा जनाः परितो भ्रममाणानां (भ्रमताम्) ग्रहाणां भ्रमणमनुभवन्ति। नात्र भ्रान्तिकल्पनाऽपि सम्भवति।" इति वचनमपि अज्ञानमूलकम्, वृत्ताकार-चत्वरदृष्टान्तस्यात्राघटितत्वात्। 'मध्ये

गया। तभी वे चन्द्रमा के अभीष्ट स्थल पर प्राप्त हो सके। पृथिवी की गति का अनुमान करके ही पृथिवी के अभीष्ट स्थल पर उतरे भी। इन विचित्र यन्त्रों के द्वारा पृथिवी के चित्र भी लिये गये, उससे भी पृथिवी की गति ही सिद्ध हुई है।

पृ० १२९४, अनु० २—यहां यह कहना भी भ्रान्तिपूर्ण है कि नौका पर आरूढों की नौका स्थिर और तटवृक्ष चलते दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकार पृथिवी पक्ष में भी मानना तो भ्रान्तों का ही काम हो सकता है; क्योंकि विद्वान् हो या अविद्वान् कोई भी नौका या ट्रेन पर स्थित हो, नौका या ट्रेन की गति और बिल्कुल पास का जल या भूमि न देखे, तब सबको ही दूरस्थ वृक्ष चल दिखाई पड़ते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

जैसे नौका में स्थिरताबुद्धि और तट के वृक्षों में चलनबुद्धि भ्रान्त है, उसी प्रकार पृथिवी में स्थिरताबुद्धि, सूर्यादि में चलनबुद्धि भ्रान्ति से ही होती है, यह कहा जा सकेगा।

पृ० १२९४, पं० ९—"जैसे गोल चबूतरे पर बैठे मनुष्य चारों तरफ दौड़ रहे घोड़ों को घूमते हुए देखते हैं, उसी तरह से भूमि पर रहनेवाले मनुष्य अपने चारों तरफ घूमते ग्रहों को सही रूप में देखते हैं; इसमें भ्रम की कोई बात ही नहीं है।"

पारिजातकार का उक्त कथन भी अज्ञानमूलक है, तथा वृत्ताकार चबूतरे

समन्तादण्डस्य भूगोलो—' इत्यादिभिर्वचोभिर्भुवो गोलाकारत्वम्, न तु वृत्ताकारगोलत्वमपि तु गेन्दुकाकारगोलत्वम्। तथा च लल्लसिद्धान्तेऽपि—

"समता यदि विद्यते भुवस्तरवस्तालनिभा बहूच्छ्रयाः।
कथमेव न दृष्टिगोचरं न रहो यान्ति सुदूर-संस्थिताः॥"

इति श्रीमद्बिहारीलालशास्त्रिशिष्येण श्रीयुतपण्डित-अयोध्याप्रसाद-मिश्रात्मजेन श्रीमदाचार्यविशुद्धानन्दमिश्रेण श्रीयुतनिर्मला-मिश्रा-सहधर्मिणीसहायेन विरचिते करपात्रिमतखण्डने दयानन्दीयमतमण्डने 'वेदार्थकल्पद्रुम'नामग्रन्थे 'पृथिव्यादिलोकभ्रमण-विषयः'
॥ सम्पूर्णः ॥

का दृष्टान्त यहां घटता ही नहीं। 'मध्ये' इत्यादि वचनों से भू की गोलाकारता है, वृत्ताकारता नहीं। गोलाकारता भी गेंद के समान है, इसीलिये लल्लसिद्धान्त में भी इसका उल्लेख किया गया है।

श्रीमान् पण्डित बिहारीलालजी शास्त्री के शिष्य, श्रीयुत पण्डित अयोध्याप्रसाद मिश्र के आत्मज, श्रीमदाचार्य विशुद्धानन्द मिश्र द्वारा श्रीयुतनिर्मला मिश्रा सहधर्मिणी की सहायता से विरचित करपात्रिमतखण्डन तथा दयानन्दीय मतमण्डन करनेवाले इस 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में 'पृथिव्यादिलोकभ्रमण-विषय'
॥ सम्पूर्ण हुआ ॥

https://t.me/DharmaSarna

अथाकर्षणानुकर्षण-विषयः

पृ० १३००, अनु० २—आकर्षणानुकर्षणसाधनाय सूर्येण सह समेषां लोकानाम् आकर्षणमस्ति, ईश्वरेण सह सूर्यादिलोकानां चेत्यत्र 'यदा ते हर्यता०' (ऋ० ८।१२।२८) इत्युद्धरणमप्यसङ्गतम्, मन्त्रस्य तदसाधकत्वात्।" इति त्वत्कथनमसङ्गतम्, तस्यैतस्य तदाकर्षणसाधकत्वात्, 'सप्त युञ्जन्ति' (ऋ० १।१६४।२) इत्यस्यापि प्रमाणत्वात्।

पृ० १३०१—यदुक्तम्—"यदा ते हर्यता०' इत्यस्य दयानन्दीयं व्याख्यानं कुश-काशावलम्बनमात्रम्, प्रकृते हरिपदस्याश्वे प्रवृत्तत्वात्। इन्द्रपदेनाऽपि मघवेन्द्रो ग्राह्यः, ऐन्द्रसूक्तस्य प्रकृतत्वात्। किञ्चात्र 'हरी' इति द्विवचनं कर्त्तृपदं 'वावृधाते' इत्यनेनान्वितत्वात् शान्ताकाङ्क्षम्। पुनश्च तद्बहुवचनेन विपरिणमय्य

पृ०—१३००, अनु० २—आ०—"आकर्षण और अनुकर्षण में सूर्य के साथ सभी लोकों का और ईश्वर के साथ सूर्य आदि लोकों का परस्पर आकर्षण और अनुकर्षण होता रहता है, इस बात को सिद्ध करने के लिये दयानन्द ने 'यदा ते हर्यता०' (ऋ० ८।१२।२८) इत्यादि मन्त्र उपस्थित किया है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह मन्त्र इस बात को सिद्ध नहीं करता।"

समा०—पारिजातकार का यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि मन्त्रगत श्लिष्ट पदों से यौगिक प्रक्रिया से ऋषिदयानन्द के अर्थों की पुष्टि होती है।

सात रश्मिवाले एक चक्र सूर्य में अखिल भुवन उसके आकर्षण से टिके हुए है, इसमें ऋ० १।१६४।२ तथा अथर्व० १०।८५।९ प्रमाण हैं। यथा—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥

तथा सूर्यादि लोक ईश्वराधार पर टिके हैं।

पृ० १३०१—पू० प०—"यदा ते हर्यता०' यह दयानन्दीय व्याख्यान 'मन्त्र से आकर्षण सिद्ध करना' कुश और काश का अवलम्बनमात्र (डूबते हुए को तिनके के समान) है। प्रकृत में हरिपद की प्रवृत्ति अश्व के अर्थ में हुई है। इन्द्र पद से भी देवराज इन्द्र का ग्रहण होता है, क्योंकि प्रकृत सूक्त इन्द्रसम्बन्धी ही है। यहां 'हरी' यह द्विवचनान्त कर्ता है, इसका सम्बन्ध 'वावृधाते' क्रिया से होने से इसकी आकांक्षा शान्त हो जाती है। फिर भी दयानन्द-भाष्य में द्विवचन को बहुवचन में

'येमिरे' इत्यनेन सम्बन्धापादनं बलात्कार एव। वस्तुतस्तु ते त्वया भुवनानि नियम्यन्ते स्मेत्येवार्थः। यदा हरी वावृधाते तदा।" इत्यादि।

इदमस्य पारिजातकृतो जल्पनं वदनास्तित्वद्योतनमात्रम्, जल्पितस्य चिन्तनशक्ति-सम्बन्धविरहितत्वात्।

महर्षिणा च योऽर्थ ऊहितस्तेन वेदगौरवमेव वर्धते। इन्द्रशब्देन परमेश्वरो, वायुः सूर्यो वार्थः कथङ्कारमग्राह्य इति नोपपादयदयम्। नह्यत्रेन्द्रपदेन भवद-भीष्टो मघवा ग्राह्यः। न चेन्द्राण्याः पतिः कश्चिदिन्द्रस्तदश्वो वा शरीरधारी ग्रहीतुं शक्यते, इति समग्रं पूर्वखण्डे निगदितम्।

हरिपदस्य घोटकार्थग्रहणग्रहिलप्रेक्षायां नूतनोत्प्रेक्षणाऽसामर्थ्यम् एवाभिव्यज्यते।

लोकेऽपि—'इन्द्रः शक्रादित्य-भेदयोगभेदान्तरात्मसु' इति कोशप्रमाणाद्

परिवर्तित कर इसका 'येमिरे' पद से अन्वय करना जबर्दस्ती ही है। वास्तव में यहां अर्थ यह होगा कि तुम सारे जगत् का नियमन करते हो, जब कि तुम्हारे घोड़े आगे बढ़ते हैं।" इत्यादि।

उ० प०—आपका यह कथन बोलने का साधन मुख होने का प्रमाणमात्र है, क्योंकि इस जल्पन का चिन्तन शक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है।

हम आपसे पूंछते हैं, क्या 'इन्द्र' शब्द के परमेश्वर, वायु, सूर्य अर्थ जो ऋषि ने किए हैं, नहीं होते? यदि होते हैं तो "ऐन्द्रसूक्तस्य प्रकृतत्वात्" इस हेतु से उन अर्थों का निराकरण कैसे हो सकता है? और देवों के राजा इन्द्र ही हैं, क्या परमेश्वरादि नहीं हैं? फिर आप जिस विशेष 'देवराज' का ग्रहण करने की बात कह रहे हैं, जिसकी पत्नी इन्द्राणी मानते हैं, यहां ऐसे खानदानी का ग्रहण कदापि नहीं है। शेष विवेचन प्रथम खण्ड 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' में देखिये।

'हरि' पद से केवल घोड़ा ग्रहण करने की बुद्धि में नवोन्मेष का सामर्थ्य ही नहीं है। घोड़ा अर्थ से वेदज्ञान की कोई गरिमा यहां सूचित नहीं होती। फिर 'हरि' शब्द 'हृ' धातु से निष्पन्न होने से हरणशील किरणों (जनों का आकर्षण करनेवाली) आकर्षण प्रकाशनशील परमेश्वर के तथा वायु के बल और पराक्रम (उद्योग) प्रकरणानुसार घोड़ा आदि अर्थ भी सम्भव हैं। वही ऋषि ने किये हैं। श्लेषालङ्कार के माध्यम से इस मन्त्र के तीनों अर्थ अतितरां सङ्गत है। कहीं-कहीं पर 'हरते वहते यथायोग्यं गृहाश्रमव्यवहारान् स हरिः' गृहपति अर्थ भी सङ्गत होता है।

इस प्रकार लोक में भी इन्द्र के शक्र, आदित्य, आत्मा आदि अनेक अर्थ

https://t.me/DharmaSanra

आत्मनो ग्राह्यत्वात्, इदि धातोः परमेश्वर्यार्थकत्वाच्च । हरिशब्दोऽपि —

"हरिश्चन्द्रार्कवाताश्वशुकभेकयमादिषु ।
कपौ सिंहे हरेऽत्रेंऽशौ शक्रे लोकान्तरे पुमान् ॥

वाच्यवत् पिङ्गहरितोः (इति मेदिनी) एतदर्थकः ।

महाशय ! एतद्वचोभिस्तु अध्येतॄणां चक्षुषो धूलिक्षेप एव क्रियते । आहोस्वित्, भावत्की पुरोभागितैव पौनःपुन्येन एवं प्रकल्पने प्रेरयति । न वा द्विवचनस्य बहुवचने विपरिणामः । अत्र मन्त्रगतन्ते (तव) पदं करपात्रेण न जातु चन्नेत्रपात्रीकृतम्, येनैवं प्रजल्पति । यैरेवाऽन्वयो 'येमिरे' 'ते' इति सम्बन्धद्योतकेन गुणा एवोह्यन्ते, इति प्राज्ञप्रज्ञाविभवेन तपोधनेन मुनिना दयानन्देन योऽर्थो दर्शितस्त्वया, स तु न कमपि भावं वहते । अत्र भवता कावश्वौ मतावित्यपि न व्याख्यातम् । यदाह हर्यतेत्यपि 'हर्य'धातोर्निष्पन्नस्तथापि तस्य कान्त्यर्थकत्वात् 'प्रकाशवन्तौ' इत्यर्थः सिध्यत्येव । अत ऋष्यर्थ एव मन्त्रपदानुगतो बुद्धिसङ्गतश्च, तत्र न काऽपि विप्रतिपत्तिः ।

पृ० १३०१—आ० 'यदा ते मारुतीः०' इत्यस्य व्याख्यानेऽनेनोच्यते—"प्रजा मरणधर्माणो मरुत्प्रधाना विशः । 'येमिरे' इत्यस्य आकर्षणविकर्षणनियमं प्राप्नुवन्तीति कथमर्थः ? उपरमार्थस्य यमेरुपसर्गपूर्वकस्यापि नार्थे स्वैरिता युक्ता ।

होते हैं । आप कहते हैं कि 'हरि' द्विवचन का बहुवचन बना लिया, यह भी आपकी भ्रान्ति है । क्योंकि 'ते' सम्बन्ध से उत्प्रेक्षित आकर्षण, प्रकाशन, हरणशील गुण 'येमिरे' क्रिया के कर्ता रूप में है । और यह इन्द्र को परमेश्वर न मानकर देवराज दूसरा कौन है, जो सारे विश्वों को धारण कर रहा है ?

यहां स्यात् आपको 'तव गुणा' में पद दिखाई नहीं पड़े । जो कि प्रज्ञाधन तपोधन महर्षि ने ऊहित किये हैं । 'येमिरे' क्रिया को कर्मवाच्य समझने में आपको भ्रान्ति हुई है, क्योंकि आप लोकवत् यम् धातु को आत्मनेपदी वेद में भी नहीं मानते पर अगले मन्त्रार्थों में तो आपको भी मानना पड़ा है । आपका दिखाया हुआ अर्थ तो निस्सार व भावहीन है । आपने इसमें कौन से दो घोड़े माने हैं ? कान्तिकर्मा 'हर्य' धातु से 'प्रकाशवाले' यह अर्थ भी तो सिद्ध है । अतः ऋषि का अर्थ ही सर्वथा बुद्धिसङ्गत तथा मन्त्रपदानुगत है ।

पृ० १३०१—आ०—'यदा ते मारुतीः०' इसकी व्याख्या पर आपका आक्षेप है कि "उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय धर्मवाली प्रजा, जिसमें कि वायु प्रधान है, वह आपके आकर्षण-विकर्षण नियम से स्थिर हो रही है, यह अर्थ आप किन शब्दों से निकालते हैं ? 'येमिरे' पद को तो उपराम अर्थवाली 'यम'

तथैव भुवनानि येमिरे स्थितिं लेभिरे इत्यप्यर्थः कथमिति चिन्त्यम् । तैर्वै गुणैर्नियेमिरे आकर्षणनियमं प्राप्नुवन्ति सन्तीत्युदक्षरमेव ।"

समा०—इत्युक्तम्, तदपि नूनमस्थाने बलाद् दोषारोपणमेव । यतो हि 'मारुतीः' इत्यस्य निष्पत्तिः—'म्रियन्तेऽनेन वृद्धेन विना वा इति मरुत् ।' 'मृग्रोरुतिः' (उणा० १।९४) इति 'उत्' प्रत्ययः । ततः 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (अष्टा० ५।४।३८) अथवा 'खण्डिकादिभ्यश्च' (अष्टा० ४।२।४४) इत्यञि स्त्रीत्वे ङीपि । अतएव विशो मरणधर्माणो मरुत्प्रधाना वा । 'विश्वानि भुवनानि स्थितिं लभन्ते' इत्यनेनैवार्थोन्मेषणशालिता लालिता न तु स्वैरिता चेति । न च परमात्मनः आकर्षणधारणनियमानि विना स्थितिः शक्या ।

भवत एवैषा स्वैरिता यन्मूलपाठेऽपठितानपि शब्दान् वर्धयति परिवर्त्तयति

धातु से उप उपसर्ग लगाकर बनाया जाता है । उससे इस तरह का अर्थ जबर्दस्ती नहीं निकाला जा सकता । उसी तरह 'भुवनानि येमिरे' का अर्थ सब लोक अपनी-अपनी कक्षा में घूम रहे हैं, यह करना भी विचारणीय है । तुम्हारे ही गुणों के कारण ये आकर्षण के नियम का पालन करते हैं; यह कहना भी अक्षरार्थ के अनुकूल नहीं है ।"

समा०—उक्त आक्षेप भी बलात् किया गया है, क्योंकि ऋषि की शब्दावली आपकी समझ से परे की है । 'मारुतीः' शब्द की निष्पत्ति मृङ् धातु से औणादिक उत् प्रत्यय फिर अण् या अञ् व स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय द्वारा होती है । जिसका महर्षि ने 'दो प्रकार की प्रभु की प्रजा होती है' इस अभिप्राय से अर्थ किया है कि उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय धर्मवाली (जड़ प्रजा) दूसरी 'मरुत्प्रधाना वा', यह 'वा' द्वितीय विकल्प चेतन प्रजा का भी द्योतक है, जो मरुत् वायु (प्राण) श्वास लेकर जीवित चेतन प्रजा है । जिसे आपने यहां आक्षेप में जबरदस्ती जानबूझकर उड़ा दिया । छलार्थ करने के लिये अथवा 'वा' का अभिप्राय समझ में न आने से हटा दिया । पर विद्वज्जन ऋषि की हिन्दी शब्दावली पढ़ेंगे, तो इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे, कि ऋषि की भाषा को छलपूर्ण बुद्धि से ही बिगाड़ा गया है । जब उत्पत्ति और विनाश, जो परस्पर विरुद्ध होते हैं पर तत्काल नहीं, उन दोनों के मध्य में पदार्थों की स्थिरता पाई जाती है, जो प्रभु के किसी नियम के बिना हो नहीं सकती । वे नियम आकर्षण-धारण ही हैं । यह अर्थ तर्कप्राप्त व सहज उत्प्रेक्षित है । इसमें मनमानी कहीं नहीं है ।

आपमें सबसे बड़ा गुण यह है कि जो शब्द ऋषि ने संस्कृत में नहीं दिये हैं,

https://t.me/DharmaSamrat

च स्वकल्पनया। यथाऽत्र विकर्षण' इति 'लभन्ते' इति स्थाने लेभिरे' इति च। एतेन भूतकालस्यैव द्योतनेन किं भवन्तो मन्वते यद् रचनाकाल एव स्थापितानि भुवनानि सम्प्रति विना साम्प्रतिकाकर्षणधारणनियमं तिष्ठन्ति इति? 'प्राप्नुवन्ति सन्ति' इति स्थाने 'प्राप्नुवन्ति' 'सन्ति' इत्यशुद्धमसम्भावितं च परिवर्त्तयते। नात्र किञ्चिदुदक्षरम् इति प्रत्युत्पन्नमतयो व्युत्पन्ना बोधन्त्येव।

भूमिस्थिरतामाकलयतोऽस्य महामतिरपि गतिनिवृत्तिमलभतेत्यनुमीयते। उपात्त-प्रकरणे वृत्र-वज्र-विष्ण्वादिशब्दैर्मेघ-विद्युत्-सूर्यादयोऽर्था असंशयं सङ्गच्छन्ते।

पृ० १३०२, अनु० २—यच्च—'यदा सूर्यम्०' इत्यस्य व्याख्यानमाक्षिपति यद् "रचितवानिति क्रियापदं काल्पनिकम्।" श्रीमन्! तव महामान्योव्वटो व्याख्याधर्मान् प्रागेवोल्लिखितवान्—'अतिरिक्तं पदं त्याज्यं हीनं वाक्ये निवेशयेत्' इत्यादीननुरुध्याऽपि सूर्यमिति कर्माभिलक्ष्य रचितवानिति क्रियापदं योज्यते।

पृ० १३०२, पं० १३—यदाह—"भगवदीयं प्रकाशमयं सामर्थ्यं भगवत्येव सुतरां तिष्ठति, दिवि तद्धारणोक्तिरपार्थैव। किञ्च, यथा परमेश्वरस्याकर्षणेन सूर्यादयस्तिष्ठन्ति, तथैव तेनैव पृथिव्यादयोऽपि स्थास्यन्त्येव। किं सूर्यगताकर्षण-

---

उन्हें आप अपनी ओर से गढ़ देते हैं। जैसे आपने आक्षेप में 'विकर्षण' तथा 'लेभिरे' ये शब्द बढ़ा दिये। महाशय! वेद-मन्त्रों में आया 'येमिरे' केवल भूतकाल का सूचक नहीं है, प्रत्युत तीनों कालों का सूचक है, पर आप केवल भूत का समझकर 'लेभिरे' दे रहे हैं। यदि भूतकाल में ही अर्थ होता, तो वर्तमान में क्या वे नियम धारण नहीं करते?

भूमि की स्थिरता माननेवाले इस व्यक्ति की मति भी गतिनिवृत्ति को प्राप्त हो गई है, ऐसा प्रतीत होता है। श्रीमन्! उपात्त प्रकरण में वृत्र, वज्र, विष्णु आदि शब्दों से मेघ, विद्युत्, सूर्य आदि अर्थ नि संशय संगत होते हैं।

पृ० १३०२, अनु० २—'यदा सूर्यम्०' इस मन्त्र के भाष्य पर पारिजातकार का आक्षेप है कि "सूर्यं भवान् रचितवान्' यहां रचितवान् क्रिया कल्पित है।" पर महाशय! तुम्हारे महामान्य उव्वट ने व्याख्याधर्मों का पहले ही उल्लेख किया है कि 'अतिरिक्त पद त्याज्य है, हीन हो तो वाक्य में रख लेवे।' इत्यादि कथनानुरूप 'सूर्यम्' इस द्वितीयान्त पद को अभिलक्षित कर स्वामीजी ने 'रचितवान्' पद का निवेश किया है।

पृ० १३०२, पं० १३—आ०—"भगवान् का प्रकाशमय सामर्थ्य निश्चितरूप से भगवान् में ही रहेगा। आकाश में उसके रहने की बात व्यर्थ है। जब परमेश्वर की आकर्षण-सामर्थ्य से सूर्यप्रभृति ठहरे रहते हैं, तो उसी सामर्थ्य से पृथिवीप्रभृति भी

कल्पनया? वचनं तु किमपि तादृशं नैवोपलभ्यते।" इति, तदप्यसन्दिग्धमविचारितमेव। न ह्यत्र भगवतः पृथक् द्यौरुक्ता, दिवि द्योतनात्मके त्वयि इति स्पष्टप्रतिपादनात्। एवं भवद्धारणोक्तिरेवापार्था। महानुभाव! सूर्यगताकर्षणं काल्पनिकं नैवाऽपि तु वास्तविकम्। प्रमाणं तु 'दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः' (यजु० ५।१६) इति प्राक् प्रत्यपादि।

एतन्मन्त्रालोचने सामश्रमिमहाभागोऽप्याह—"तत्त्वतस्त्विह रश्मिभिः साधनैर्विष्णुनाम सूर्यकर्तृकं पृथिव्याः सर्वतो धारणमिति विज्ञानमेवोपदिष्टम्। एतेनाकर्षणशक्तिविज्ञानं पुरा नासीदित्यद्यतनविज्ञानविदामास्फालितसिद्धान्तोऽपि नूनं गिर्युद्गीर्णाग्निप्रध्वस्तः।" इति। (ऐतरेयालो० पृ० १९२)।

पृ० १३०३, अनु० २—यदुक्तम्—'व्यस्तभ्नाद्रोदसी०' (ऋ० ६।८।३)

स्थिर रहेंगे फिर सूर्य के आकर्षण की कल्पना व्यर्थ है। आपकी बात का समर्थन करनेवाला कोई वचन वेद में उपलब्ध नहीं है।"

समा०—यह कहना भी निःसन्देह अविचारित है, क्योंकि यहां पर द्यौः लोक भगवान् से पृथक् नहीं कहा गया। ऋषि ने स्पष्ट लिखा है कि 'द्योतनात्मक तुम में'। अभी कुछ पूर्व आपने कहा कि द्युलोक है, यहां पर आकाश बता रहे हैं। इसलिये आपकी ही धारणोक्ति अपार्थक है। ऋषि की कोई धारणोक्ति अपार्थक नहीं है।

पू० प०—एक ओर आपका बेतुका तर्क भी देखिये कि जैसे परमात्मा के धारणादि गुण से सूर्य धारित है, वैसे सूर्य के द्वारा पृथिवी आदि धारित न होकर सीधे परमेश्वर द्वारा ही धारित हो सकती है, अतः सूर्य में आकर्षण शक्ति की कल्पना व्यर्थ है।

उ० प०—श्रीमन्! यह कल्पना नहीं, वास्तविकता है। परमेश्वर से धारित होने पर भी सभी लोकों में आकर्षण, गुरुत्वाकर्षणादि वर्त्तमान है; यह भी बताया जा रहा है। इन सबमें ये गुण प्रभु ने उत्पन्न किये, उन्हीं नियमों से संसार बद्ध है। प्रमाण 'दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः' (यजु० ५।१६) आदि पूर्व ही दे दिये गये हैं। इस मन्त्र की आलोचना में श्री सामश्रमी भी कहते हैं कि "वस्तुतः विष्णु अर्थात् सूर्य किरणों से पृथिवी का धारणकर्ता है, यह विज्ञान वेदों में बताया है। इससे पहले 'आकर्षणशक्ति विज्ञान नहीं था' यह आज के वैज्ञानिकों का घोषित सिद्धान्त भी निश्चय ही प्रध्वस्त हो जाता है।"

पृ० १३०३, अनु० २, आ०—"व्यस्तभ्नाद् रोदसी०' (ऋ० ६।८।३) इस

https://t.me/Dharmasastra

इत्यस्य व्याख्याने "वैश्वानरः सूर्यलोक इति न ह्यनुन्मत्तो वक्तुमर्हति।" इति। श्रीमन्! विश्वानरस्यादित्यस्य (नि० १२।२१) इति तु प्रमाणं प्रस्तुवन्तं महर्षि-यास्काचार्यमन्यथापलपन् वस्तुतः क उन्मत्तादन्यो भवेत्? परं 'नैष स्थाणोर-पराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति'।

यदुच्यते—"(ऋ० सं० ८।६४।४) इति मन्त्रे पृश्निशब्देनेन्द्रवाचिना व्यप-देशात्।" परमस्मिन् मन्त्रे लोचनविहीनेनोन्मत्तेनैव पृश्निपदं द्रष्टुमर्हम्। मन्त्र-पाठस्तु—

विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवसः।
एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम्॥ इति।

यच्चोक्तम्—"षष्ठ्यन्तस्य विश्वानरशब्दस्य द्युस्थानवाचित्वे सामर्थ्य-मुपपद्यते, इति दुर्गाचार्यः।" आश्चर्यं भवाननेन किमभिप्रैति तन्नोक्तम्। किं षष्ठ्यन्तोऽयमादित्यवाची, यथा हिन्दीकृत् प्राह। तदा विश्वानरसम्बन्धेन वैश्वा-नरोऽपि कथन्नादित्यवाची? निभाल्यताम् अयमेव तव दुर्गाचार्यः स्वयमेवाह—"इन्द्रादित्यवाय्वाकाशोदकपृथिव्यादयश्च पृथक् पृथगेव वैश्वानरत्वेन विज्ञायन्ते।"

मन्त्र का भी दयानन्दीय व्याख्यान 'वैश्वानर सूर्य लोक है' ऐसा कोई उन्मत्त ही कर सकता है।"

समा०—यह कथन भी आपका उन्मत्तप्रलाप ही है, जब कि निरुक्त में विश्वानर का आदित्य अर्थ स्पष्ट दिया है। एक रूप में आप दयानन्द को नहीं, वरन् आचार्य यास्क को उन्मत्त बता रहे हैं। यह भी स्थाणु का अपराध नहीं, प्रत्युत पुरुषापराध ही होता है।

ऋ० ८।६८।४ मन्त्र में कहीं 'पृश्नि' शब्द ही नहीं आया, वह किसी लोचन-विहीन उन्मत्त को ही मन्त्र में दीख सकता है, जो आपको दीख रहा है। मन्त्रपाठ इस प्रकार है—

विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवसः।
एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम्॥

यह जो कहा है कि "षष्ठ्यन्त विश्वानर आदित्यवाची है, ऐसा दुर्गाचार्य कहते हैं" परन्तु इससे क्या आप यह अभिप्राय निकालना चाहते हैं कि अन्य विभक्ति में कदापि आदित्यवाची नहीं होगा? यह तो आपका शब्दार्थ के साथ बलात्कार है। दुर्गाचार्य स्वयं ही कहते हैं कि "इन्द्र, आदित्य, वायु, आकाश, उदक्, पृथिवी आदि पृथक्-पृथक् वैश्वानररूप से जाने जाते है।" (नि० ७।२२),

(नि० ७।२२), "असौ आदित्यः' इति पूर्वे याज्ञिकाः, साक्षात्कृतधर्माण इत्यर्थः।" (नि० ७।२३)।

"दिवि पृष्टो अरोचत०' (यजु० ३३।९२) न च पुनरादित्यादन्यो दिवि पृष्टो रोचते, यत उच्यते।.....'वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्' (ऋ० १०।८८।१२) इति, नैव तावदादित्यादन्यस्याह्नां कर्तृत्वमुपपद्यते पार्थिवे मध्यमे वा, आदित्य एव हि उदयास्तमयाभ्यामहानि करोति, तेन वयमेतैर्हेतुभिः पश्यामः सूर्यो वैश्वानर इति।" (दुर्गनि० ७।२३) इत्यादीनि अन्यानि अपि भवत्प्रमाण-भूतस्याचार्यदुर्गस्योदाहरणानि सन्ति।

तदेतस्मिन् 'वैश्वानर'पदविचारप्रसङ्गे हविष्पान्तीयं सूक्तमुपक्षिप्य सूर्यो वैश्वानरः, अग्निर्वैश्वानर इति एकमेवेदं ज्योतिस्त्रिधा वर्तते, इति मन्त्रस्य भावोपदर्शनार्थमुपवर्णितम्।

यदुच्यते—"तव सामर्थ्येन' इत्यपि मन्त्राक्षरबहिर्भूतम्" इति, तत्रोच्यते। प्रभो यतिवर! तव बुद्धिश्चिन्तनसामर्थ्याद् एव बहिर्भूतम्, या हि रूढ्यगला-निगडम-गलित-चिन्तन सामर्थ्या। किं सूर्यादयो लोका अद्भुतसामर्थ्ययुक्ताः पर-

---

"वह वैश्वानर आदित्य है, ऐसा साक्षात्कृतधर्मा लोग मानते हैं।" (नि० ७।२३)

'दिवि पृष्टो अरोचताग्निर्वैश्वानरः' (यजु० ३३।९२) यहां उव्वट ने "'वैश्वानरः' द्युलोके स्थित आदित्यात्मना" द्युलोक में आदित्यात्मारूप से 'वैश्वानर' यह व्याख्या की। जब कि यह प्रथमान्त है। आदित्य से अन्य द्युलोक कोई देदीप्यमान नहीं है।

इसी प्रकार 'वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्' (ऋ० १०।८८।१२) मन्त्र पर (निरुक्त ७।२३) में दुर्गाचार्य लिखते हैं कि "आदित्य से अन्य किसी के दिन करने की कर्तृकता उपपन्न नहीं होती। आदित्य ही उदय और अस्त होकर दिन करता है। इन हेतुओं से हम देखते हैं कि सूर्य वैश्वानर है" इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी हैं।

यहां पर 'वैश्वानर' पद विचार के प्रसङ्ग में 'हविष्पान्तीय सूक्त' का उपक्षेप करके "सूर्य और अग्नि व विद्युत् वैश्वानर तीन ज्योति हैं" (नि० ७।२३ दुर्गवृत्ति) परन्तु हविर्दानप्रसङ्ग में इसी अग्नि का ग्रहण होगा।

यह कहना भी कि "तुम्हारे सामर्थ्य से' अर्थ मन्त्राक्षर से बहिर्भूत है।" यतिवर! आपकी ही बुद्धि चिन्तनसामर्थ्य से अवश्य बहिर्भूत है, जिसका सामर्थ्य रूढि की जंजीर से निगडित हो चुका है। बताइये, क्या अद्भुत सामर्थ्यवाले

https://t.me/DharmaCamp

मेश्वरस्यानन्तसामर्थ्यं नैव समर्थयन्ति ? 'अद्भुतः सूर्यो ज्योतिषा तमोन्तरकृणोत्' इत्यत्र अद्भुतशब्देन परमेशसामर्थ्यं ध्वन्यते। यतो हि जडः सन्नपि सूर्यः तमो निराकुरुते इति। मित्रशब्देन सूर्यपरमेश्वरयोरुभयोरपि ग्रहणम्। 'परमेश्वरस्तु नात्यन्तं क्वाऽपि त्यज्यते' इति सिद्धान्तेन सर्वत्र प्रकृतं व्याख्यानं सङ्गतम्।

पृ० १३०३, पं० १६—उद्धृते मन्त्रार्थे 'धिषणे' इति पदस्य धारयित्र्यौ इत्यर्थो दर्शितो महर्षिणा च धारणकर्त्र्यौ इति। एवमनयोः किमन्तरं तद् ब्रूताम्। यदाह "सर्वत्र उदक्षरमेतद्दयानन्दोक्तम्"। पुनरुत्तरेद् भवान् "यथा कश्चिच्चर्मकार्यकरः चर्मणी शोषणार्थं प्रसारयति" इति समग्रं तूदक्षरमेव तव। निर्मलोक्तिरेव सत्येह—

भवदङ्गीकृता नूनम्, पक्षपातदृगद्भुता।
प्रकल्पयति संयावम्, स्वकीयं गोमयं तु या॥

साम्प्रतं सुधीभिर्निर्णेतव्यं किं नाऽसाम्प्रतं यदयं "यथा कश्चिच्चर्मकार्यकरः चर्मणी शोषणार्थं प्रसारयति तथाऽयं वैश्वानरो द्यावापृथिव्यौ विवृते अकरोत्।"

सूर्यादिलोक प्रभु की अनन्त सामर्थ्य के द्योतक नहीं हैं? 'अद्भुत सूर्य अन्धकार का निराकरण करता है।' यहां पर पढ़े 'अद्भुत' शब्द से परमेश-सामर्थ्य ही ध्वनित होता है। जो कि जड़ होता हुआ भी सूर्य तमनाशक है। 'मित्र' शब्द से सूर्य और परमेश्वर दोनों का ग्रहण होता है। 'परमेश्वर का तो अत्यन्त त्याग कहीं भी सम्भव नहीं है' इस सिद्धान्त से प्रकृत व्याख्यान सर्वथा सङ्गत है।

पृ० १३०३, पं० १६—विचारशील लोग और भी आक्षेपकर्ता की बुद्धि का नमूना देखें। आप आक्षेप करते हैं कि 'धिषणे' पद का अर्थ 'धारण करनेवाले लोग' है, जब कि यह सरासर झूठ और छलयुक्त है। ऋषि ने ऐसा कहीं नहीं लिखा और आपने 'धारयित्र्यौ' लिखा। बताइये, फिर आप निरर्थक बक रहे हैं कि नहीं ?

आप झट से महर्षि के बुद्धिसङ्गत उत्प्रेक्षित अर्थ को मन्त्राक्षर से बाहर कहने लगते हैं। अब आप बताइये, आपके द्वारा प्रस्तुत अर्थ में "जैसे कोई चमड़े का काम करनेवाला शोषण के लिये चमड़े को फैलाता है" ये मन्त्र के किस पद के अर्थ हैं ? अतः यह सारा ही तो उदक्षर है। यहां यह निर्मलोक्ति घटित होती है—

आपके द्वारा अपनाई गई पक्षपात की दृष्टि अजीब है, जो अपने गोबर को भी हलुआ मानती है।

अब विद्वानों को निर्णय करना चाहिये कि क्या अनुचित नहीं है, जो यह लेखक लिखता है कि "जैसे कोई चर्मकार चमड़ों को फैलाता है, उसी प्रकार

इह हीनोपमा न द्यावापृथिव्योः सङ्गच्छते। ऋषिः पुनर्व्याचष्टे सूर्यादिलोको द्यावापृथिव्यौ धारणाकर्षणेन विविधतया वर्तमाने करोति। यथा चर्मणि प्ररूढानि लोमानि त्वचावता जनेन सहैव धारितानि भवन्ति तथा सूर्यः परमेश्वरश्च इमौ लोकौ धारयतः। न धारणाकर्षणे भारप्रतीतिर्न वा श्रमस्तस्मिन्ननुभूयते। एवं भूमिकार्थ एव बलीयान्।

पृ० १३०५, अनु० १—आ०—यच्च—"आकृष्णेन रजसा०' (३३।४३) इति व्याख्यानम्, तदपि विशृङ्खलमेव। 'व्यवहिताश्च' (अष्टा० १।४।८२) इति पाणिनीयाभिधानानुसारेण आङुपसर्गस्य वर्तमान इति क्रियापदेन सम्बन्धात्, कृष्णेनेत्यसम्बन्धात्, आकर्षणार्थाबोधकत्वाच्च। सविता परमात्मा सूर्यलोको वेति निर्मूलम्, सवितृदेवस्यात्र स्तूयमानत्वात्।" इति।

समा० इयं विचारपरम्पराप्रदोषारोपोच्छृङ्खलवृत्तिर्न कथमपि निगडयितुं शक्यते, स्वभावस्यानयत्वात्। वस्तुतोऽयं वराको दण्डी अत्रैतत्प्रतिपादने सर्वथाऽसमर्थः स्थितो सन् महर्षिदयानन्देन आकारं वर्तमानशब्देन सहानन्वितं कृत्वा अर्थसौष्ठवसंविधित्सया कृष्णपदेन सह सङ्गमय्य किमन्याहितम् ? इति

वैश्वानर ने द्यौ और पृथिवी को फैलाया।" यहां हीनोपमा द्यावापृथिवी की संगत नहीं होती। ऋषि दयानन्द तो कहते हैं कि सूर्यादिलोक द्युलोक तथा पृथिवी को धारण और आकर्षण से विविधरूप से वर्त्तमान करते हैं, जैसे त्वचा में जमे हुए लोम त्वचावाले जन के साथ-साथ धारित रहते हैं, उसी प्रकार सूर्य और परमेश्वर इन लोकों को धारण करते हैं। इस धारण और आकर्षण में न भार की और न श्रम की प्रतीति होती है। इस प्रकार भूमिका का अर्थ बहुत ही उत्तम है।

पृ० १३०५, अनु० १—आ०—"आकृष्णेन रजसा०' (यजु० ३३।४३) इस मन्त्र का व्याख्यान भी विशृङ्खलित है। 'व्यवहिताश्च' (अष्टा० १।४।८२) इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार आङ् उपसर्ग का वर्तमान क्रिया पद से सम्बन्ध होगा। कृष्ण के साथ सम्बन्ध नहीं होगा; क्योंकि आकर्षण अर्थ का बोधन नहीं है। सविता से परमात्मा और सूर्य तक दोनों के अर्थ लेने में कोई आधार नहीं है, क्योंकि केवल सविता की स्तुति की गई है।" इत्यादि।

समा०—यह भी अविचार की परम्परा से जुड़ा है, इनकी दोषारोपण की उच्छृङ्खल वृत्ति किसी प्रकार निगडित नहीं की जा सकती, क्योंकि स्वभाव नष्ट नहीं किया जा सकता। वास्तव में यह विचारा दण्डी इस बात के प्रतिपादन में सर्वथा असमर्थ है कि महर्षि दयानन्द ने आङ् को वर्तमान के साथ यहां अन्वित न कर अर्थ को और अधिक सुन्दर बनाने के लिये इच्छा से कृष्ण पद के साथ अन्वित

https://t.me/Dhamasana

न वक्ति स्वमतिपृष्ठे धावन् गृहीतदण्डोऽयं दण्डी।

कदाऽपि किं चिन्तितमस्ति मुण्डिन् !
माहीधरं सायणमौव्वटं च।
क्वाऽसङ्गतं भाष्यमिदं तथा क्व,
सुयुक्तियुक्तं मुनिवर्यभाष्यम् ॥

अत्र हि माहीधरं परीक्षन्तां विपश्चितः—'सविता देव आयाति' इत्यत्र देवशब्देन कतरो गृह्यते ? परमात्मा सूर्यो वा ? आद्यश्चेन्न सम्भवति, व्यापके परेशे गमनागमनानुकूलव्यापारस्यासत्त्वात्। चेदन्त्यस्सोऽपि न गृहीतुमर्हम्, कृष्णेन रजसा रात्रिलक्षणेन अन्धकारेण सह तस्य (सूर्यस्य) असामञ्जस्यात्।

नहि रात्रिलक्षणस्य रजसः सूर्येण समुपपद्यते सहभावः। आनन्तर्यं तस्य तयोर्वा श्रुतचरं न तु साहचर्यम्। नूनमनूनमेतद्भाष्यकृता तथात्वं प्रतिपादयता श्रुतिरहस्यानभिज्ञत्वमेवाविष्कृतम्।

पृ० १३०५, पं० १०—"सवितृदेवस्यात्र स्तूयमानत्वात्" इति कथनेन अपि चेत् सूर्य एव भवदभिमतस्तदा 'भुवनानि पश्यन्' इति पदं सर्वथाऽप्यसंश्लिष्टं

करके क्या अनर्थ ढा दिया ? जब कि यजुर्भाष्य में वर्तमान के साथ भी अन्वय किया है। अपनी बुद्धि के पीछे दण्ड लिये दौड़ते हुए इस दण्डी ने वह अनर्थ नहीं बताया।

हे मुण्डिन् ! क्या कभी आपने सोचा कि सायण, उव्वट और महीधर का किया हुआ भाष्य कहां-कहां असङ्गत है और कहां यह सुयुक्तियुक्त मुनिवर्य दयानन्द का भाष्य संगत है ?

यहां पर विद्वज्जन महीधरभाष्य की भी किञ्चित् परीक्षा कर लें—'सविता देव आता है' यहां पर देव शब्द से कौन सा गृहीत होता है ? परमात्मा या सूर्य ? प्रथम तो हो नहीं सकता, क्योंकि व्यापक परमात्मा में गमनागमनानुकूल व्यापार नहीं रहता। सूर्य के साथ भी घटित नहीं होता, क्योंकि रात्रिलक्षण अन्धकार के साथ सूर्य का सामञ्जस्य नहीं बैठता।

रात्रिलक्षित रजस् का सूर्य के साथ सहभाव नहीं है। अन्धकार और सूर्य की तो अनन्तरता होती है, अर्थात् सूर्य के बाद अन्धकार और अन्धकार के बाद सूर्य आता या प्रकट होता है। निश्चय ही इस महीधरभाष्यकर्ता ने अपनी श्रुति-रहस्य की अनभिज्ञता ही प्रकट की है।

पृ० १३०५, पं० १०—"सविता देव यहां स्तूयमान है" इस कथन से आपका 'सूर्य' अर्थ अभिमत है तो 'भुवनों को देखते हुए जाता है' इसमें देखना अर्थ घटित

जायते। प्रथमन्तु सूर्यस्येक्षणानुकूलव्यापारवत्तैव न सम्भवति, जडत्वात्। गौणत्वे कथञ्चित्तत्स्वीकृतावपि तदनुपदमेव 'कानि साधु कुर्वन् कान्यसाधु कुर्वन्निति विचारयन्' इत्यादि वचनेऽस्य (सूर्यस्य) कथङ्कारं विचारप्रचारत्वं युक्तं सञ्चरेत् ? तदित्थं सर्वं बुद्धिविरुद्धं भाष्यं दूषितमनादर्तव्यं च चारुविवेचनारचनाचतुरैर्विपश्चद्भिः। महर्षेरेव अर्थद्वयपरं वैज्ञानिकं तर्कनिकषोपलकषितं वर्णनमुररीकार्यमित्यतिपल्लवितेनालम्।

पुनर्भवानेव ब्रवीतु 'रूपं शुक्लं भास्वरं च' ज्ञानं गणितमयं विज्ञानमयं च इत्यादि विशेषणानि रूपस्य ज्ञानस्य च वैशिष्ट्यबोधकान्येव सन्ति न वा ? यथा प्रकाशगुणे शीतलत्वमुष्णत्वं वा तद्गुणादभिन्नमेव। अथवैकद्रव्यमनेकगुणाश्रयः। यथा आकाशे शब्द-परिमाणादिगुणा वर्त्तन्ते, तथैव परमेश्वरे सूर्ये वा द्रव्येऽनेकोक्तगुणा विद्यन्ते।

पृ० १३०६, अनु० १—यदुक्तम्—"किञ्च, त्वयाकर्षणं गुणं उच्यते। न च गुणस्य हिरण्यत्वं ज्योतिर्मयत्वं वा सम्भवति। अत एव रमणानन्दादिव्यवहार-

---

नहीं होता, क्योंकि सूर्य की ईक्षणानुकूल व्यापारवत्ता है ही नहीं, क्योंकि वह जड़ है। गौणत्वेन मान भी लिया जाये तो भी कौन भले काम में लगी है और कौन बुरे काम में प्रवृत्त है, यह जानना सूर्य में घटित नहीं हो सकता; क्योंकि जानना या विचार करना सूर्य में घटित नहीं। इस प्रकार यह सारा ही अर्थ बुद्धिविरुद्ध है, विवेचक पुरुषों को अनादरणीय है। अर्थद्वयपरक महर्षि का वर्णन वैज्ञानिक, तथा तर्क-कसौटी पर कसा हुआ हृदयङ्गम करने योग्य है, अतः और अधिक नहीं कहा जा रहा है।

अब आप ही बताइये कि 'रूप शुक्ल और भास्वर है' यहां पर रूप में शुक्लता व भास्वरता अभिन्न है या भिन्न ? ज्ञान गणितमय या विज्ञानमय में भी ज्ञान के विशेषण हैं या नहीं ? जैसे—प्रकाश में शीतलत्व या उष्णत्व उस गुण से अभिन्न हैं, उसी प्रकार आकर्षण गुण के साथ तेजोमयता की भी अभिन्नता है, अथवा एक द्रव्य में अनेक गुण रहते हैं। उसी प्रकार परमात्मा या सूर्य द्रव्य में अनेक उक्त गुण वर्तमान हैं। जैसे—आकाश में भी शब्द परिमाण आदि अनेक गुण रहते हैं।

पृ० १३०६, अनु० १—आ०—"स्वामीजी ने आकर्षण को गुण बताया है। तो गुण अनन्त ज्ञान, बल और तेज से युक्त नहीं हो सकता, क्योंकि गुण में गुण नहीं रहते। इसीलिये आकर्षण गुण को रमण, आनन्द आदि व्यवहारों के साधक

https://t.me/DharmaSamrat

साधकज्ञानतेजोरूपत्वमाकर्षणगुणस्य न सम्भवति। न च ज्ञानरूपमेवाकर्षणमिति वाच्यम्, तथा सति सूर्यादिलोकस्य ज्ञानवत्त्वेन चेतनत्वापत्त्या लोकत्वव्याघातात्। ज्ञानमनधिगतगन्तृ न त्वकृतकर्तृ, तथाऽदर्शनात्।" इति।

तदपि नाम यावदविचारितं चारु। भवता गुणेषु गुणसत्ता न मान्या। भवतु नाम, परं स्थूलप्रज्ञ! किञ्चित्तु सूक्ष्मं विचार्यताम्। यदिह आकर्षणगुणाऽस्ति पृथक्त्वम्, हिरण्मयतेजोरूपत्वात्तस्य, रमणानन्दादिव्यवहारसाधकं परमात्मपक्षे ज्ञानरूपं भौतिकसूर्यपक्षे च तेजोरूपमित्यन्वयात्। नहि सूर्यस्याकर्षणं ज्ञानरूपं परमात्मन एव तस्य तथात्वात्। नात्र उद्भवति शङ्कावलेशलवोऽपि।

यत्तु 'अनधिगतगन्तृत्वं' ज्ञानस्य परिभाषितम्, तद् हि भट्टमतानुयायिमीमांसकानां दिङ्नागादिबौद्धानां मतं प्रमाणितं तत्त्वसमञ्जसम्, एकस्मिन्नेव घटे घटोऽयं घटोऽयमिति धारावाहिकज्ञानानां गृहीतग्राहिणामप्रामाण्यप्रसङ्गात् (तर्क भा० पृ० ३९)।

ज्ञान और तेजोरूप भी नहीं माना जा सकता। आकर्षण को ज्ञानरूप मानने में यह भी दोष आवेगा। इस परिस्थिति में सूर्यादि लोक भी ज्ञानरूप होने से चेतन हो जायेंगे और इस तरह उनमें लोकत्व का व्यवहार न हो सकेगा, क्योंकि लोक तो जड़ होते हैं। अनधिगत वस्तु की अधिगति को ज्ञान कहा जाता है, प्राकृत वस्तु के निर्माण को नहीं।"

समा०—यह कथन भी जब तक विचार न किया जावे, तभी तक सुन्दर लगता है। आपके द्वारा गुणों में अन्य गुणों का अभाव माना जा रहा है। अच्छा ऐसा ही सही, परन्तु हे स्थूलप्रज्ञ! कुछ तो विचार करो। ऋषि ने 'सविता' से दो अर्थ लिये हैं—परमात्मा तथा सूर्य (हिन्दी में वायु भी)। अतः हिरण्मय अर्थात् अनन्त बल, ज्ञान और तेज परमात्मा में घटित होंगे और तेज सूर्य में घटित है। रथ अर्थात् रमण आनन्दादि साधक ज्ञान परमात्मा में तथा तेजोरूप रथ सूर्य के साथ घटित है। सूर्य का आकर्षण ज्ञानरूप नहीं है, वह तो परमात्मा का ही है। इस प्रकार यहां उक्त शङ्का को लेशमात्र भी अवकाश नहीं है।

और यहां आपने अनधिगतगन्तृता ज्ञान की परिभाषा प्रस्तुत की है, यह भट्टमतानुयायी मीमांसक दिङ्नाग आदि बौद्धों का मत प्रमाणित किया है, यह असमञ्जस है। एक ही घड़े में 'यह घड़ा है, यह घड़ा है' ऐसा धारावाही ज्ञान सदा होता रहेगा। प्रथम बार में जब घड़े का ज्ञान हो गया, तो दूसरी-तीसरी बार में उस घट का ज्ञान नहीं होना चाहिये, पर होता है, तो अप्रामाण्य का प्रसङ्ग होने लगेगा। अतः अनधिगतगन्तृज्ञान की परिभाषा ठीक नहीं है।

न चान्यान्यक्षणविशिष्ट-विषयीकरणादनधिगतगन्तृता, प्रत्यक्षेण सूक्ष्मभेदानाकलनात्। काल-भेद-ग्रहे हि क्रियादिसंयोगान्तानां चतुर्णां यौगपद्याऽभिमानो न स्यात्।

न च धारावाहिकज्ञानस्थले द्वितीयादिक्षणोत्पन्नस्य 'अयं घटः' इत्यादिज्ञानस्य प्रामाण्यप्रतिपादनस्य न्यायवैशेषिकमीमांसादिदर्शनेषु विचारः कृतोऽस्तीति प्रमाणमेतदपि स्याद् इति वाच्यम्, तत्र प्रतिपादन-शैल्या भिन्नत्वात्, अधिगतविषयस्य ज्ञानस्याऽपि प्रामाण्यात्। तथाहि वाचस्पतिराह—"अनधिगतार्थगन्तृत्वं च धारावाहिकज्ञानानामधिगतार्थगोचराणां लोकसिद्धप्रमाणाभावानां प्रामाण्यं विहन्तीति नाद्रियामहे" इति।

पृ० १३०६, अनु० २—यदुक्तम्—"किञ्च यः शब्दो यस्मिन्नर्थे प्रसिद्धः, तस्मिन्नेव कयाचिन्निरुक्त्या स शब्दो वर्तत इत्येव निरुक्तस्य कार्यम्।" अस्तु, भवतोषायेदमेव मन्येत, तदा 'प्रसिद्ध' शब्दस्य भवता कोऽर्थो गृह्यते? परं निरुक्तं तल्लक्ष्यवेदोऽपि न प्रसिद्धार्थमनुरुणद्धि, किन्तु वेदान्त्रप्रसिद्धि प्राप्तार्थाः शास्त्रेषु लोके विलुप्तिमप्यगुः, कदाचित् तदर्थप्रतिपादनायाऽपि निरुक्तम्।

यह कहना ठीक नहीं होगा कि प्रथम क्षण में गृहीत घट और था, तथा द्वितीयादि क्षण में ग्रहीतव्य और होगा। इसी को अनधिगतगन्तृता कहेंगे, तो प्रत्यक्ष से ऐसा भेद नहीं किया जा सकता। क्योंकि कालभेद ग्रहण करने में क्रिया आदि संयोगान्त चारों का एक साथ यौगपद्याभिमान नहीं हो सकता।

धारावाहिक ज्ञानस्थल में द्वितीयादिक्षणोत्पन्न 'यह घट है' इत्यादि ज्ञान के प्रामाण्य-प्रतिपादन का न्याय, वैशेषिक, मीमांसादि दर्शनों में विचार किया गया है। इसलिये यह भी प्रमाण होगा, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि वहां प्रतिपादन-शैली की भिन्नता है। वहां अधिगत विषयवाले ज्ञान का भी प्रामाण्य है। जैसा कि वाचस्पति ने कहा है—"अनधिगतार्थगन्तृत्व, धारावाहिक तथा अधिगतार्थ गोचर जो लोकसिद्ध प्रमाण हैं, उनका प्रामाण्य नष्ट करता है। इस लिये हम आदर नहीं करते।" विशेष प्रथम खण्ड में देखिये।

पृ० १३०६, अनु० २—"जो शब्द जिस अर्थ में प्रसिद्ध है, उसी अर्थ में किसी भी निरुक्ति से वह शब्द वर्तमान है, यही निरुक्त का कार्य है।" अच्छा आपके तोष के लिये हम यही अर्थ मान लें, तो आप बताइये, 'प्रसिद्ध' शब्द का अर्थ क्या लोक में प्रसिद्ध अथवा अन्यत्र कहीं, कौन सा अर्थ मानेंगे? निरुक्त का लक्ष्य तो वेद है, परन्तु वेद केवल लोक-प्रसिद्ध अर्थों के पीछे नहीं चलता, प्रत्युत वेद से लोक में प्रसिद्धि को प्राप्त अर्थों में, जो कि अन्य शास्त्रों में विलुप्त हो गये हैं; उनके बुद्धिसङ्गत अर्थ लगा सकने के लिये निरुक्त का उपयोग है।

https://t.me/Dharmaastra

किं भवन्मतौ ये प्रसिद्धा आहोस्विद् ब्राह्मणादिग्रन्थेषु ? यदि भवन्मति-प्रसिद्धा गृह्यरन् न तदा अहिवृत्रसमुद्रादिशब्दानां मेघान्तरिक्षादयोऽर्था ग्रहीतुं शक्यन्ते, भवन्मतेः पुराणादिप्रसिद्धरूढार्थग्रहणग्रहिलपक्षपातत्वात्। यथा रथ-शब्देन भवान् केवलं गमनसाधनं गृह्णाति। परं यत्र न संज्ञावाची, प्रत्युत रथ-शब्दरूपकत्वेन विशेषयिष्यते न केवलमयमेव रथः। रमते यस्मिन् येन वेति, यानं शरीरं पादो वेतसोऽपि रथः। रमणाद्यर्थवत्त्वे रूपकत्वेन सर्वं तदु(रथ)पादानस्थले सङ्गमयिष्यते यौगिकार्थ-प्रधाने वेदे।

यतिवर ! भवता संन्यासिना रमणादि-व्यवहारसाधनत्वाद् रथशब्देन योषिद्ग्रहणं बलान्न कार्यम्। लोके प्रयुक्ताः शब्दा न व्युत्पत्तिनिमित्तपूर्वकमर्थ-ग्रहणेन प्रवर्तन्ते, प्रत्युत रूढार्थत्वादेव। अन्यथा गमनकरणेन भवानपि गौरे-वोच्येत।

यदुक्तम्—"न चाकर्षणगुणे मनुष्यो रममाणः स्थातुं शक्नोति, गुणस्या-मूर्तत्वेन स्थित्याधारत्वायोगात्" इति, तदपि नाम स्थूल-धी-चिन्तनफलम्, प्रिय-तमाकर्षणे गुणलुब्धस्यात्मनः सदा दयाऽऽनन्दादिगुणेष्वेव सानन्दस्थितित्वात्। न च कदापि सुखानुभूतिर्मूर्तद्रव्ये तिष्ठति। बुद्धिसुखदुःखेच्छाप्रयत्नधर्माधर्म-

---

आप क्या अपनी मति में प्रसिद्ध मानते हैं या कि ब्राह्मणादि ग्रन्थों में ? यदि आपकी मति में प्रसिद्ध अर्थों का ही ग्रहण होवे, तो अहि,वृत्र, समुद्रादि शब्दों से मेघ, अन्तरिक्ष आदि अर्थ कभी ग्रहण ही नहीं किये जा सकेंगे। क्योंकि आपकी मति तो पुराणादि में रूढ इनसे सांप आदि का ही ग्रहण करेगी। उसी प्रकार आप सूर्य के पक्ष में तेजोरूप रथ नहीं मान सकते। रमण, आनन्द आदि अर्थवत्ता यौगिकार्थप्रधान वेद में घटित हो जायेगी।

आप कहते हैं, रमण आदि का साधन होने से 'योषित्' स्त्री का अर्थ ग्रहण होगा। यतिवर! इस स्त्री अर्थ के ग्रहण में बलात्कार न कीजिये। आप तो संन्यासी हैं, लोक में प्रवृत्त रूढ शब्द व्युत्पत्तिनिमित्तपूर्वक गृहीत नहीं होते, अन्यथा गमन करने से आप भी 'गौ' कहलायेंगे।

यह कहना कि "आनन्दयुक्त मनुष्य आकर्षण गुण में नहीं बैठ सकता, क्योंकि गुण अमूर्त है, अतः स्थिति का आधार नहीं हो सकता" भी स्थूल बुद्धि का परिणाम है, तब तो आकाश, वायु आदि किसी के आधार (स्थिति के) नहीं हो सकते। तथापि प्रियतम प्रभु के आकर्षण गुण में लोभी आत्मा सदा उसके दया और आनन्द आदि गुणों को स्थिति का आधार बनाता ही है और सुखानुभूति भी मूर्तद्रव्य में नहीं रहती। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना ये

भावनाख्यानाम् अमूर्तस्यात्मनो गुणत्वात्।

अथवा उपरि नैतदुक्तं यदाकर्षणगुणे मनुष्यस्य शरीरं तिष्ठति।

देवामृतशब्दयोरर्थं ऋषेरेव गरीयान्। ऋषिणा सूर्यशब्देन परमात्मदेवो व्याख्यातः। असौ सूर्यश्च अन्तर्भावितण्यन्तत्वात् सर्वं दर्शयन् प्रतिवस्तु रूपादिकं च प्रापयति। परमात्मपक्षे पश्यन् दर्शयन्नित्युभयमपि सम्यग् घटते।

'रथेना देवो याति' इत्यत्र 'आ' इति व्याख्यानं कृतम् (३३।४३) भाष्ये। 'द्युभिरक्तुभिरिति पदद्वयं ३४।३० मन्त्रे विद्यते, 'आकृष्णेन' इति मन्त्रः ३४।३१ तथा ३३।४३ उभयत्रापि पठितो व्याख्यानेऽत्रत्यश्चतुस्त्रिंशाध्यायो ज्ञेयः।

पृ० १३०७, पं० ३—यदुक्तम्—"भूमिकाखण्डनकारस्तु व्याख्यानेनानेन क्षुब्ध आह—'अहो धाष्टर्यं मुण्डिनः। धाष्टर्यं वा एतदुच्यते लोकप्रतारकत्वं वा प्रकीर्त्यते, सर्वथाऽपि मौर्ख्यं वा ख्याप्येत। वयं तु किं वदामः? सर्वत्राऽपि पाश्चा-त्यानां प्रभावादेव वेदार्थान्यथाकरणे प्रवृत्तोऽयमिति निश्चीयते।" इति।

सभी अमूर्त आत्मा में ही रहते हैं।

अथवा यह तो ऊपर भूमिका में कहीं नहीं कहा गया है कि मनुष्य का शरीर आकर्षण गुण में ऐसे ही बैठता है जैसे खाट या कुर्सी पर। अनुक्त शब्दावली अपनी ओर से बढ़ाकर शङ्का-प्रतिशङ्कायें करना अनुचित और निराधार है।

अध्यात्मपक्ष में अमृत का अर्थ मोक्ष तथा सूर्यपक्ष में जल आदि अर्थ ग्राह्य है। 'पश्यन्' का 'सूर्य देखता हुआ' अर्थ गौण है, अत अन्तर्भावित पदार्थ से 'दिखाता हुआ' यही अर्थ उत्तम है। परमात्मपक्ष में देखता हुआ और दिखाता हुआ दोनों ही अर्थ सुघटित हैं।

'रथेना देवो याति' इसमें 'आ' का व्याख्यान न करना भी दूषण है। इस पर हमें यह कहना है कि यजुर्भाष्य में इसकी व्याख्या की गई है। 'द्युभिः अक्तुभिः' ये दोनों पद (य० ३४।३०) मन्त्र में हैं, अतः 'आकृष्णेन०' (३४।३१) इसमें अनुवृत्ति आ जाती है। भूमिका में व्याख्येय मन्त्र ३४।३१ ही समझना चाहिये।

पृ० १३०७, पं० ३—आ०—यह कहना कि "भूमिका का खण्डन करनेवाले करपात्री तो इस व्याख्या से क्षुब्ध होकर कहते हैं कि माथा मुड़ा लेने के बाद भी दयानन्द की धृष्टता नहीं छूटी है। उसकी धृष्टता कहा जाये या लोगों को ठगने का व्यापार कहा जाये, अथवा यह सब दयानन्द ने किसी मूर्खता में पड़कर लिख दिया है? हमारा तो यह कहना है कि पाश्चात्यों के प्रभाव में आकर स्वामी दयानन्द ने इस तरह से वेदों का यह दूसरा ही परम्परा के विरुद्ध अर्थ किया है।"

https://t.me/Dharmasamrat

समा०—प्रतीयते कस्याऽपि भुजिष्यस्य (स्वाम्युच्छिष्टभोजिनः) भणितिरियमिव निर्णीयते। भूमिकाखण्डनकारः श्रीकरपात्रीप्रवाचकः, 'वयं किं वदामः?' इत्यनुवदन्तः केचिदन्ये चतुर्दशसंख्याकेषु गोप्यकेषु (गोप्यकायकेषु), नहि सर्वो लेखः श्रीकरपात्रस्यैव केवलम्। यदाहुरिमे 'भूमिकाखण्डनकारः क्षुब्धः'। महोदयाः! नाश्चर्यमिदम्, अनार्याः कुर्वन्त्येवान्ते क्षोभम्। अस्थिरता, भयम्, व्याकुलता वा प्रसन्दिग्धं जायते तेषाम्।

यथा वेदेषु प्राकृतिकशक्त्युपासना-हिरण्यगर्भ-अज एकपादादिशब्दार्थविषये पाश्चात्यानां प्रतिवादं सर्वप्रथमं महर्षिरेव संव्यधादिति प्रेक्षावतां लोचनगोचरम्।

पारिजातकृदयं महर्षिदयानन्दे लोकप्रतारकत्वप्रकीर्तनं कल्पयते, परं स्वयं वेदार्थं कदर्थयन्नात्मनः परलोकस्य चापि प्रतारणं कुरुते। पाश्चात्यप्रभावमारोपयद्भिर्युष्माभिर्नानुभूयतेऽत्र यैः करपात्रानुपात्रप्रेष्यैः। यतो ये आरोपा पवित्रतमेषु वेदेषु हूयूसनादिभिरारोपितास्ते खलु अनुपोष्यन्ते घोष्यन्ते च वेदसम्मतत्वेन भवद्भिः।

अन्ते वयं महर्षिदयानन्दस्य वेदोद्धारकस्य परोपकाराय हुतात्मनोऽमिताकर्षणगुणलुब्धा अनया निर्मलोक्त्या स्मरन्तः कृतज्ञतां प्रकाशयामो यत्—

समा०—ऐसा प्रतीत होता है कि यह किसी भुजिष्य (करपात्री के उच्छिष्टभोजी) की उक्त भणिति है। पारिजात का सारा लेख करपात्री का प्रतीत नहीं होता। 'हम क्या कहें' ऐसा कहनेवाला १४ पण्डितों में कोई और है।

हमें कोई आश्चर्य नहीं कि आप क्षुब्ध हो गये हैं, वास्तव में जो अकार्य करते हैं, उन्हीं को क्षोभ होता है। क्षोभ अर्थात् भय, अस्थिरता और व्याकुलता है।

श्रीमन्! वेदों में प्राकृतिक शक्ति की उपासना 'हिरण्यगर्भ' 'अज एकपाद' आदि शब्दों के अर्थ-विषय में पाश्चात्यों के अर्थों का प्रतिवाद तो सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द ने ही किया था, इस बात को सभी बुद्धिमान् जानते हैं।

महर्षि दयानन्द पर प्रतारकता का दोष मढ़ना तो गलत है, अपितु आपही स्वयं का प्रतारण कर रहे हो, जो कि पाश्चात्यों के अर्थों का स्वयम् अनुमोदन कर रहे हो।

अन्त में हम वेदोद्धारक, परोपकार में आत्माहुति देनेवाले अमित आकर्षण गुणों से लुब्ध होकर इस निर्मलोक्ति का स्मरण करते हुए कृतज्ञता का प्रकाशन कर रहे हैं—

मन्ये धृष्टधियाऽप्यनेन विततं धाष्ट्यं स्वकं मुण्डिना,
लोकानां हि प्रतारकत्वमितरस्त्वारोपयन्मे मुनौ।
स्वीयं वा परलोकनाशनमिदं कुर्वन्न वा लज्जते,
पाश्चात्याननुमोदयन् वितनुते स्वं बालिशत्वं ध्रुवम्॥

इति श्रीमद्बिहारीलालशास्त्रिशिष्येण श्रीयुतपण्डित-अयोध्याप्रसाद-मिश्रात्मजेन श्रीमदाचार्यविशुद्धानन्दमिश्रेण श्रीयुतनिर्मला-मिश्रा-सहधर्मिणीसहायेन विरचिते करपात्रिमतखण्डने दयानन्दीयमतमण्डने 'वेदार्थकल्पद्रुम'नामग्रन्थे 'आकर्षणानुकर्षण-विषयः'
॥ सम्पूर्णः ॥

सच है इन करपात्री मुण्डो ने इस कथन से अपना धाष्ट्यं प्रकट किया है, जो कि हमारे मुनिवर दयानन्द पर लोक-प्रतारकत्व का आरोप लगाया है। वस्तुतः यह अपने ही परलोक का बिगाड़ करता हुआ भी लज्जित नहीं होता और पाश्चात्यों के अर्थों का समर्थन करता हुआ अपनी ही ध्रुवमूर्खता को प्रकाशित कर रहा है।

श्रीमान् पण्डित बिहारीलालजी शास्त्री के शिष्य, श्रीयुत पण्डित अयोध्याप्रसाद मिश्र के आत्मज, श्रीमदाचार्य विशुद्धानन्द मिश्र द्वारा श्रीयुतनिर्मला मिश्रा सहधर्मिणी की सहायता से विरचित करपात्रिमतखण्डन तथा दयानन्दीय मतमण्डन करनेवाले इस 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में 'आकर्षणानुकर्षण-विषय'
॥ सम्पूर्ण हुआ ॥

https://t.me/DharmaSamrat

अथ प्रकाश्यप्रकाशक-विषयः

पृ० १३०९, अनु० १—आ०—"दयानन्दीयं व्याख्यानं न विचारचारु, मन्त्राक्षराननुगमात्। सत्येन ब्रह्मणा भूमिर्धारिता इत्युक्तिरपार्थैव, सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य ब्रह्मणा धारितत्वात्। वायुना सूर्येण धारितेति न मन्त्रार्थः, तादृश-पदाप्रयोगात्। द्यौः सर्वः प्रकाशः सूर्येणोत्तभित इत्यपि नार्थः, प्रकाशात्मकस्य सूर्यस्य तदात्मकत्वेन धारितत्वायोगात्। किञ्च, वेदेषु द्यावापृथिव्या इत्यादि-स्थलेषु पृथिवीवदेव द्यौरपि लोकविशेष एव, न प्रकाशमात्रम्। ऋतेन कालेनेत्यपि न सङ्गतम्, कालस्यादित्यात्मकत्वात्, सूर्येणैव दिनमासवत्सरादिव्यव-हारात्। मासरूपा आदित्या अपि कालात्मका एव। किरणास्त्रसरेणवः कथमा-दित्यपदवाच्याः? कथं वा ते कालेन बलवन्त इति तु लेखक एव विजानातु। दिवि सूर्यप्रकाशे इत्यपि नार्थः, पूर्वोक्तविरोधात्। 'अधिश्रित' इत्यस्य प्रकाशितो भवतीत्यपि नार्थः, निर्मूलत्वात्।" इति।

समा०—उपर्युक्तमखिलमनर्गलं गलोद्गलितमेतस्य, चारुविचारशील-बुद्धित्वाभावात्। मन्त्राक्षराननुगमजल्पनं तु एतदीयम् अनक्षरमेव, तस्य सङ्ग-

---

पृ० १३०९, अनु० १—आ०—'सत्येनोत्तभिता भूमिः' इत्यादि का दयानन्दीय व्याख्यान ठीक नहीं मालूम पड़ता; क्योंकि मन्त्राक्षरों से मेल नहीं है। सत्य-स्वरूप परमेश्वर से भूमि धारित है, यह अर्थ व्यर्थ है; क्योंकि पृथिवी ही क्यों यह सारा प्रपञ्च ही ब्रह्म से धारित है। वायु और सूर्य के द्वारा यह धारित है, यह भी मन्त्र का अर्थ नहीं है, क्योंकि मन्त्र में इन पदों का अभाव है। सारा प्रकाश सूर्य से धारित है, यह अर्थ भी ठीक नहीं; क्योंकि प्रकाशस्वरूप सूर्य कैसे धारण करेगा? और वेदों में 'द्यावापृथिवी' इत्यादि स्थलों में पृथिवी के समान द्यौ का भी एक लोक है, प्रकाशमात्र नहीं। ऋत का काल अर्थ भी ठीक नहीं, क्योंकि काल तो आदित्यरूप ही है। मासरूप आदित्य भी काल ही है। किरण भी यदि त्रसरेणु हैं, तब ये आदित्य पद से कैसे बोधित हो सकते हैं, और वे काल की सहायता से बलवान् कैसे होंगे? यह लेखक ही जाने। दिव् का सूर्य-प्रकाश भी अर्थ नहीं है। 'अधिश्रित' का भी 'प्रकाशित होता है' अर्थ नहीं है।"

समा०—ऊपर का यह समस्त गलोद्गलनमात्र अनर्गल है, क्योंकि सुन्दर विचारशील बुद्धि का योग इसमें नहीं है। अर्थ को अननुमत कहना तो अज्ञान है, क्योंकि यहां सर्वथा समस्त अर्थ का मन्त्राधार ऊहन किया गया है। 'सत्यं

तार्थोहनशीलत्वात्। सत्यशब्देन प्रथमं ब्रह्मणोऽर्थस्य ग्राह्यत्वात्। यदुच्यते 'सर्व-स्यैव प्रपञ्चस्य ब्रह्मणाधारितत्वादेषा वेदोक्तिर्निष्फलैव'। तद्धि बुद्धिबाह्यम्, प्रतिपदार्थविषयज्ञानस्य मूलरूपत्वेन वेदविषेलिमत्वात्।

न हि सत्यशब्देन 'सत्यवादिना' इत्यर्थ एव ग्रहीतुं शक्यः, सत्यनिष्ठायाः सत्याचरणस्य चापि पृथिवीधारणे समुचितत्वात्। प्रपञ्चधारणरूपनिष्कर्षार्थ-वचनं तु शास्त्रप्रतिपादितप्रत्येकपदार्थविवरणग्रहणानन्तरमेव सम्भवति, न तु ततः पूर्वम्। यथा केनाप्युच्यते नवीनवेदान्तिना—

श्लोकेनैकेन वक्ष्यामि, यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

ब्रह्म' (श० १४।८।५।१) 'असावादित्यः सत्यम्' (तै० २।११।११।१) इत्यादि प्रमाणों से 'सत्य' शब्द का अर्थ ब्रह्म, वायु और आदित्य है। जब 'सत्येन' इससे परमेश्वर द्वारा भूमि उत्तभित है, यह अर्थ होगा, तब भूमि शब्द समस्त प्रपञ्च का उपलक्षक होगा। अथवा हम भूमिस्थ प्राणियों के लिये यह शङ्का स्वाभाविक है कि यह पृथिवी किसने धारण की है, तो उसके उत्तर में सत्य के अर्थ दोनों ही उपयोगी हैं।

आपका विज्ञान आदि में प्रवेश न होने से इन अर्थों को आप उदक्षर कहने लगे हैं। 'सब प्रकाश सूर्य ने धारण किया है' इसमें अर्थ के असम्भव होने में आप हेतु प्रस्तुत करते हैं कि सूर्य प्रकाशस्वरूप है, तो प्रकाश को धारण नहीं कर सकता। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि आप पदार्थ-विज्ञान से शून्य हैं; क्योंकि गुण प्रकाश है और गुणी अर्थात् द्रव्य सूर्य है, गुण गुणी अर्थात् प्रकाश और प्रकाशी होंगे, उन का अभेद सम्बन्ध होने पर तथा गुण के द्रव्य का आधार होने से ऐसा ही कहना उचित है, न कि गुण के आधार पर गुणी को बताना उचित होगा। यहां पर प्रकाश्य और प्रकाशक विषय का उल्लेख किया गया है। इस विभाग में द्यौ प्रकाश-मय होने से प्रकाशक श्रेणी में आता है, पृथिवी के समान प्रकाश्य नहीं।

सत्यनिष्ठा और सत्याचरण भी पृथिवी अर्थात् पृथिवीस्थ प्राणियों के धारण के लिये समुचित और आवश्यक है। जो प्रपञ्च धारण करने का निष्कर्षार्थ आप ने निकाला है, वह तो शास्त्रप्रतिपादित प्रतिपदार्थ का विवरण ग्रहण करने के बाद ही सम्भव है, इससे पूर्व निष्कर्ष कथन सम्भव नहीं, जैसा कि किसी नवीन वेदान्ती ने कहा है—

"एक श्लोक ही से मैं उस तत्त्व को बता रहा हूं जो करोड़ों ग्रन्थों ने कहा

https://t.me/DharmaSamra

वास्तवं वचनं जगतोऽपि वस्तुस्थितेः ।

न किमपि कारणं प्रस्तूयतेऽनेन यन्न कथमपि ब्रह्मणो ग्रहणं कर्तव्यम्। प्रपञ्चमूलकभवदुक्त्या तु इदं सकलमवक्तव्यं स्यादधस्तनम्—

"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्रा अर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति ।" (बृहदा० ३।८।९)

इहापि सर्वस्यैव प्रपञ्चस्य तेनैवाक्षरेण ब्रह्मणा धृतत्वात् ।

अत्र शाङ्करभाष्यमपि पुष्णाति यदपूर्वं न कल्पनीयम् । यथा—"कल्पनाऽधिक्याच्च, ईश्वरः कल्प्योऽपूर्वं वा ?..... इह तु ईश्वरस्य सेव्यस्य सद्भावमात्रं कल्प्यम् ।" एवं प्रकृतेऽपि 'सत्येन' ब्रह्मणेत्येवार्थः पूर्वमुपतिष्ठति, अन्येऽर्थास्तु

है कि 'ब्रह्म सच्चा है और जगन्मिथ्या है'' इत्यादि यह निष्कर्ष वचन मिथ्या है; क्योंकि जगत् की वस्तुस्थिति है ।

यह लेखक इसमें कोई कारण या प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर रहा है कि सत्य शब्द से ब्रह्म का ग्रहण नहीं हो सकता । आप कहते हैं कि सूर्य, भूमि, चन्द्रमा, आदि को पृथक्-पृथक् कहना व्यर्थ है, वह तो सारे प्रपञ्च को ही धारण करता है । इनका ऐसा कथन मन्द बुद्धि का परिचायक है, अन्यथा समस्त शास्त्रों के विशद वर्णन की व्यर्थता होने लग जायेगी । महर्षि याज्ञवल्क्य का भी कथन व्यर्थ सिद्ध हो जायेगा । यथा—

"हे गार्गि ! इस अक्षर ब्रह्म के प्रशासन से सूर्य और चन्द्रमा धारित हैं । इस अक्षर के प्रशासन में मुहूर्त्त, अहोरात्र, अर्द्धमास, मास, ऋतु, संवत्सर यह सब धारित हैं ।''

यहां पर भी इस अक्षर ब्रह्म से प्रपञ्च धारित है । आपकी बुद्धि से यदि महर्षि याज्ञवल्क्य काम लेते, तो कहते 'सब प्रपञ्च धारित हैं' । 'सारे अच्छे काम करो' यह उपदेश तो फिर समस्त उपदेश-ग्रन्थों को व्यर्थ ठहरायेगा । महोदय ! फिर ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका के खण्डन में ही क्या, सभी ऋषिप्रणीत ग्रन्थों के विषय में इतना लिखना ही पर्याप्त होता कि 'स्वामी दयानन्द का समस्त लेख व्यर्थ है' फिर आपने इतना क्यों बका ?

इस पर आचार्य शङ्कर भी कहते हैं कि ऐसी अपूर्व कल्पना नहीं करनी चाहिये । यहां पर सेव्य ईश्वर का सद्भाव कल्पनीय है । इसी प्रकार प्रकृत में भी 'सत्येन' अर्थात् 'ब्रह्मणा' यह अर्थ पूर्व उपस्थित होता है, अन्यार्थों का सङ्गमन

यथास्थिति सङ्गमयितव्याः ।

सूर्येणाऽपि द्युलोकोऽन्ये वा लोका ब्रह्मप्रदत्तसामर्थ्येनैव धारिताः । एवमायातं यद् भूलोकोऽपि सूर्याकर्षणशक्त्या धारितो भवति । वातात् सूर्यस्योत्पन्नत्वात् तस्याऽपि धारकत्वम् । अथवा कालेन आदित्या द्वादश मासाः, सूर्येण किरणाः, वायुना त्रसरेणवो वैशिष्ट्येन सम्बन्धिताः सन्ति ।

'दिव्'शब्दस्य सूर्यार्थः प्रागपि निर्दिशितः । सोमस्य सूर्याधिश्रयणप्रकाशप्राप्त्युपलक्षकं न त्वाधारत्वबोधकम्, तदाधारत्वभाव एव । प्रकाशार्थे प्रमाणम्, अर्थात् चन्द्रमाः सूर्ये प्रकाशार्थमाश्रितः ।

ऋतेन कालेनादित्या द्वादश मासाः, सूर्येण किरणाः, वायुना त्रसरेणवो बलवन्तः सन्तो वा तिष्ठन्ति ।

अत्र कालस्यादित्यात्मकत्वं यदाह तत्र सूक्ष्मं भेदमाकलयामो वयम्, येनायं विषयः स्पष्टीभवेत् ।

तो यथास्थिति करना चाहिये ।

इसी प्रकार सूर्य के द्वारा द्युलोक तथा अन्य लोक ब्रह्मप्रदत्त सामर्थ्य के द्वारा ही धारित हैं । इससे निष्कर्ष निकला कि भूलोक भी सूर्य की आकर्षण-शक्ति से धारित होता है । वायु से सूर्य की उत्पत्ति होने से वह भी धारक है । अथवा काल से आदित्य, १२ मास तथा सूर्य के द्वारा किरणें और वायु के द्वारा त्रसरेणु विशेषरूप से सम्बन्धित हैं ।

'दिव्' शब्द का सूर्यार्थ पहले भी बताया जा चुका है । सोम का सूर्य पर अधिश्रयण प्रकाश-प्राप्ति मात्र का उपलक्षक है, आधार का बोधकमात्र अभीष्ट नहीं है ।

आप आदित्य को कालरूप कहते हैं और 'ऋतमसावादित्यः सत्यम्' (श० ६।४।४।२०) इस प्रमाण से ऋत का अर्थ काल होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं रहती ।

आपने काल के सूर्यात्मक होने पर भी वेद में 'काल के द्वारा' इस तृतीयान्त पद को हेतु और आदित्य अर्थात् द्वादश मास को एक रूप मान लिया है । यह आपका महा अज्ञान है । काल और आदित्य के भेद को अच्छी तरह समझिये—

काल के द्वारा आदित्य (द्वादश मास) सूर्य के द्वारा किरण, वायु के द्वारा बलयुक्त त्रसरेणु स्थित हैं । यहां पर काल यद्यपि उपचारत्वेन आदित्यात्मक कहा जा सकता है, परन्तु उन दोनों में जो सूक्ष्म भेद है, वह नीचे स्पष्टतया प्रतिपादित है—

https://t.me/Dharmasastra

यथा च काणादम्— "अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि" (२।२।६)। अत्र कनिष्ठो नामापरो ज्येष्ठो नाम परः। एवं ज्येष्ठकनिष्ठत्वव्यवहारे प्रयोजकं सूर्यस्याधिकन्यूनक्रियासम्बन्धः। परन्तु ज्येष्ठकनिष्ठपिण्डेन सह सूर्यक्रियायाः साक्षान्न कश्चित् सम्बन्धः। विना च तेन ज्येष्ठे परत्वज्ञानस्य कनिष्ठेऽपरत्वज्ञानस्वारम्भदः। अतो देवदत्तपिण्डे (शरीरे) सूर्यक्रियायाश्च मध्ये तत्सम्बन्धनिमित्तकश्चायं कालः।

अर्थान्नैयायिकभाषायाम्— स्वसमवायिसंयुक्तसंयोगसम्बन्धेन अथवा स्वसंयुक्तसंयुक्तसमवायसम्बन्धेन कारणं कालः। प्रथमसम्बन्धे स्वपदेन सूर्यक्रियाया ग्रहणं भवति, तस्याः समवायी सूर्यस्तेन च संयुक्तस्य स्वकालस्य द्वाभ्यां पिण्डाभ्यां सह संयोगेन स ज्येष्ठे परत्वज्ञानस्य कनिष्ठे चापरत्वज्ञानस्य निमित्तकारणं भवति। द्वितीयसम्बन्धे स्वपदेन पिण्डग्रहणे सति तेन सह संयुक्तः कालो विभुत्वेन सूर्यण सह संयुक्तः तथा कालसंयुक्तसूर्ये परिस्पन्दक्रियायाः समवायः, एवं द्वाभ्यामपि सम्बन्धाभ्यां परत्वाऽपरत्वज्ञानस्य निमित्तकारणं कालोऽस्ति। एवं कालस्य लक्षणम्— विभुत्वे सति दिगसमवेतपरत्वाऽपरत्वासमवायिकारणताधिकरणं

जैसा कणाद-सूत्र में वर्णन है—'अपरस्मिन्०' (२।२।६)। यहां पर कनिष्ठ नाम अपर और ज्येष्ठ नाम पर, इस प्रकार ज्येष्ठ कनिष्ठ व्यवहार में प्रयोजक सूर्य की अधिक व न्यून क्रिया का सम्बन्ध है, परन्तु ज्येष्ठ और कनिष्ठ पिण्ड के साथ सूर्य-क्रिया का साक्षात् कोई सम्बन्ध नहीं पाया जाता और विना किसी सम्बन्ध के ज्येष्ठ में परत्वज्ञान और कनिष्ठ में अपरत्वज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये पिण्ड और सूर्य क्रिया के मध्य जो पिण्ड के साथ सूर्य-क्रिया के सम्बन्ध का निमित्त है, वह काल है।

अर्थात् न्याय की भाषा में काल स्वसमवायि-संयुक्तसंयोग अथवा स्वसंयुक्त संयुक्तसम्बन्ध द्वारा कारण है। प्रथम सम्बन्ध में 'स्व' पद से सूर्यक्रिया का ग्रहण है, उसका (क्रिया) समवायी सूर्य तथा सूर्य के साथ संयुक्त हुए काल का दोनों पिण्डों के साथ सयोग होने से वह ज्येष्ठ में परत्वज्ञान का तथा कनिष्ठ में अपरत्वज्ञान का निमित्त है और दूसरे सम्बन्ध में 'स्व' पद से पिण्ड का ग्रहण है। उसके साथ संयुक्त हुआ काल विभु होने से सूर्य के साथ भी संयुक्त है और काल-संयुक्त सूर्य में 'परिस्पन्द' (चलनक्रिया) का समवाय पाया जाता है। इस प्रकार दोनों सम्बन्धों के द्वारा परत्वापरत्वज्ञान का निमित्तकारण काल है। इस प्रकार काल का लक्षण निष्पन्न हुआ—जो व्यापक हुआ दैशिक परत्त्व अपरत्त्व से भिन्न परत्त्व अपरत्त्व के असमवायिकारण संयोग का समवाय सम्बन्ध से आश्रयभूत द्रव्य है, उसका नाम 'काल' है। तथा जिसमें समवाय-सम्बन्ध से उष्ण स्पर्श रहे,

तेजस्त्वं यच्च आदित्ये तिष्ठति।

एतेन जानीमो मत्पाठकाः श्रीकरपात्रकुतर्कनिःसारतां सम्यगवगमिष्यन्त्येवेति।

पृ० १३१०, अनु० १—यत्तु—"सोमेनादित्या बलिनः' इत्यपि यत्किञ्चित्। सोमेन चन्द्रलोकेन सहादित्याः किरणाः संयुज्य ततो निवृत्य भूमिं प्राप्य बलं कर्तुं शीला इति कस्य शब्दस्यार्थः? आदित्यपदेन किरणाः केन प्रमाणेन गृहीताः?" इति सर्वं प्रज्ञापराधाराधितम्, ऋषेः सर्वार्थस्य बुद्धिगम्यत्वात्, शास्त्रप्रामाण्याच्च।

आदित्ये सूर्ये भवा आदित्याः 'किरणाः' पदेन गृहीता इति ग्रहणे व्याकरणं प्रमाणम्। 'तदेतदैन्द्रं कर्म रसानुप्रदानं वृत्रवधो बलकृतिरिति। बलकृतिश्चन्द्रे दृष्टा, रसात्मकत्वात् चन्द्रमसो रसानुदानसम्बन्धः' इति वचनमपि किरणानां बलवत्त्वे मानम्। शीतलाः किरणा बलप्रदायका भवन्त्येवेति निर्विवादम्, ओषधीनां तेषां रसाधायकत्वादपि तासां च बलवत्त्वमेव। शिष्टमशिष्टवचनमिवोन्मत्तप्रलपितमेव, ऋषिवचनतात्पर्यानभिज्ञानात्। चन्द्रमसं प्राप्य भूमिं प्रति निवर्तने किरणानामनुष्णत्वात्, 'तेषां स्वयमेवोष्णत्वात्' इत्युदितस्तु अविचारमेव प्रतीति भवतः। भूमिकालेखेऽन्यत् सुस्पष्टमेव।

भवदुद्धृतस्तु 'मन्त्रार्थो यज्ञमात्रपरकः' केवलानुकृतिरेव। न भवादृशशेमुषी

वह तेज है, जो कि आदित्य में ठहरता है।

अब पाठकों को श्री करपात्र के कुतर्क का खोखलापन प्रकट हो गया होगा।

पृ० १३१०, अनु०१—सोम का सूर्य में अधिश्रित होने से तात्पर्य स्पष्ट है कि सोम प्रकाश के लिये सूर्य के आश्रित है। इसी बात को स्पष्ट कह भी दिया है कि सूर्यादि लोकों से चन्द्र, पृथिवी आदि लोक प्रकाशित हैं। ऋषि का अर्थ बुद्धिगम्य व शास्त्रप्रभावित है। सूर्य की किरण चन्द्र से प्रतिवर्त्तित हो बल देनेवाली है, यह ऊहित अर्थ प्रत्यक्ष पुष्ट है। आदित्य में होनेवाली किरणें हैं ही, तो ग्रहण सहज है।

हमें तो आपकी बुद्धि पर तरस आता है जो सामान्य विवेचन भी नहीं कर सकती। महाराज! जब सूर्यकिरण चन्द्रमा को प्रकाशित करती है, वहीं से जब संपृक्त हो पृथिवी पर चन्द्रकिरणें शीतलता बिखेरती हैं, तो उनसे बल प्राप्त होता है। व्याकरण-वचन भी इसमें प्रमाण है। चन्द्रकिरणों का औषधोत्पादन से विशेष सम्बन्ध होने से रसाधान करना और बलप्रदान करना है। आपका शेष कथन प्रलाप है, क्योंकि ऋषि-तात्पर्य समझने की योग्यता आपमें नहीं है।

आपके द्वारा उद्धृत मन्त्रार्थ किसी विशेषार्थ को प्रकट नहीं करता, केवल

https://t.me/Dharmasamrat

आध्यात्मिकाधिदैविकाद्यर्थानामूहने क्षमा। यज्ञाहुत्यर्थसमुपलब्धलताया भौतिकेन रसेन अमृतपदप्राप्तिकल्पनात्तु अनाध्यात्मार्थं चिचीषतां मूढधियामेव काल्पनिकम् अमृतपदम्।

महदाश्चर्यं यदयमनुर्वरमस्तिष्क एतद्भौतिकलतायाः स्वर्गमुत्पत्तिस्थानं मनुते। सुश्रुतेऽवलोकयन्त्वालोचकाः २९तमेऽध्याये—

अंशुमान् मुञ्जवांश्चैव चन्द्रमा रजतप्रभः।
दूर्वा सोमः कनीयांश्च श्वेताक्षः कनकप्रभः॥

इत्यादि चतुर्विंशतिप्रकारा सोमलता। तत्तत्परिचयोपलब्धिस्थाने चापि तत्रैवोपदिष्टे। महामते! मोक्षपदप्रापकसोमस्त्वन्य एव। यद्विषये तत्रैवाथर्ववेदे—

'न ते अश्नाति पार्थिवः' (१४।१।४) त्वां पार्थिवो राजा भौतिकजनो धनिको वा न भोक्तुमर्हतीति स्पष्टमुच्यते।

वस्तुतस्त्वत्र ब्रह्मानन्दरसानुभूतिरेव सोमः। एवं भूतलस्य सोमः सोमलता, अन्तरिक्षस्य सोमश्चन्द्रमा, यस्य वर्णनं ज्योतिषशास्त्रे। द्युलोकसोमः सहस्रार-

---

पूर्व का अनुकरण मात्र है; क्योंकि आपसदृश लोगों की बुद्धि, जिसने वेदों में कभी श्रम नहीं किया है, वह आध्यात्मिक और आधिदैविक अर्थों का ऊहन करने में असमर्थ है। आपने अपने अर्थ में यज्ञ की आहुति के लिये समुपलब्ध भौतिक लता के रस से अमृत अर्थात् मोक्ष पद की प्राप्ति की कल्पना की है। वह तो सोमपद का आध्यात्मिक अर्थ न समझ सकने के कारण किन्हीं मूढधियों का ही यह अमृत पद हो सकता है।

महदाश्चर्य है कि यह अनुर्वरमस्तिष्क व्यक्ति इस भौतिक लता की उत्पत्ति का स्थान अपने कल्पित स्वर्ग को समझ रहा है, तथा जो यहां वास्तविक अर्थ का उत्प्रेक्षण नहीं कर पा रहा है। यदि यह स्वर्ग हिमालयादि स्थानों पर माना जाये, तब तो इस भौतिक सोमलता के साथ सङ्गति बैठ सकती है, जैसा कि सुश्रुत में कहा है।

अंशुमान् आदि २४ प्रकार सोमलता के हैं। उसका परिचय व उपलब्धि-स्थान भी वहीं पर वर्णित किये गये हैं। महाराज! मोक्ष पद को प्राप्त कराने-वाला सोम तो अन्य ही है। जिसके विषय में वहीं पर अथर्ववेद (१४।१।४) में कहा है कि तुमको पार्थिव भौतिकजन या धनिक नहीं भोग सकता है।

वास्तव में यहां पर ब्रह्मरस का पान ही सोमपान है। इस प्रकार भूतल की यह सोमलता ओषधि, अन्तरिक्ष का सोम चन्द्रमा, जिसका वर्णन ज्योतिष शास्त्र

चक्रब्रह्मरन्ध्रौ योगिभिः प्राणाधाने सति य आनन्दोऽवाप्यतेऽसौ हि सर्वोत्तमः।

इमं पवमानसोमं न लभन्ते पार्थिवाः। इमं तु कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः सन्तो दयानन्दसदृशा एवास्वदितुम् अर्हन्ति।

सहस्रारचक्रं हि स्वर्ग्यज्योतिषावृतं गायत्र्यनुष्ठानाधिगन्तव्यम्। स्वर्गस्य सोमस्याहरणं गायत्री एवाकरोत्। स्वर्णिम-कुशेषु दीक्षातपः स्वेवारक्षत्। तत एवेन्द्रोऽप्यतपत्। अवशिष्टबिन्दून् कतिचिच्च सर्पा अलिहन्, ते द्विजिह्वास्ततः प्रभृत्यैवाभवन्। एतत्कथानकस्याऽप्ययमेवाशयो यद् योगासने दम्भिनः पाखण्डिनो हि सर्पाः प्राश्नन् ते द्विजिह्वाः प्रत्यक्षपरोक्षजीवने भिन्नवक्तारो द्विजिह्वा अभूवन्। शिष्टं बुधैः स्वविद्याबुद्धिभिरवधेयं समाधेयं च।

पृ० १३११, अनु० २—यदुच्यते—'कः स्विदेकाकी चरति०' अस्मिन् मन्त्रे "एकाकी चरतीत्यस्य स्वयं प्रकाशमानः सन् अन्यान् प्रकाशयतीति कथमर्थः? चन्द्रमास्तत्प्रकाशेन प्रकाशित इत्यपि कथम्?" इति, हा! सर्वथाऽभिशप्तोऽयं बुद्ध्युपयोगाय, अथवा को नाम व्याजसुप्तं महाशब्देनाऽपि प्रबोधयेत्।

में है। द्युलोक का सोम वह है जब कि सहस्रार चक्र ब्रह्मरन्ध्र में योगी जन प्राणाधान कर लेते हैं, तब उन्हें जो आनन्द प्राप्त होता है, वही सर्वोत्तम है।

इस पवमान सोम को पार्थिव जन प्राप्त नहीं कर सकते। पार्थिव अर्थात् पृथिव्यादि स्थूल जड़ पदार्थों के आराधक उस सोम रस को नहीं पाते। इसको तो कौपीनधारी, भाग्यशाली दयानन्द के समान योगीजन ही प्राप्त कर सकते हैं।

सहस्रार चक्र स्वर्ग तथा उत्तम ज्योति से आवृत है, और गायत्री के अनुष्ठान द्वारा प्राप्तव्य है। स्वर्ग के सोम का आहरण पृथिवी पर गायत्री ने ही किया था। स्वर्णिम कुशों पर जो दीक्षा तप है, उन पर लाकर रक्खा तभी इन्द्र (जीवात्मा) ने तप किया। कुछ अवशिष्ट बिन्दुओं को सर्पों (कुटिलों) ने चाट लिया। उस समय से ही वे द्विजिह्व (अर्थात् कहीं मधुर और कहीं विष-वमन करनेवाले) प्रत्यक्ष तथा परोक्ष जीवन में हो गये। इस कथानक का भी यही आशय है कि योगासन में कुछ दम्भी और पाखण्डी भी बैठ गये। शिष्ट आशय विद्वानों को अपनी विद्या व बुद्धि से समझ लेना व कर लेना चाहिये।

पृ० १३११, अनु० २—'कः स्विद् एकाकी चरति'—इस मन्त्र में "स्वयं प्रकाशित होकर दूसरों को भी प्रकाशित करता है, यह अर्थ कैसे हो गया? चन्द्रमा उसके प्रकाश से प्रकाशित है, यह भी अर्थ कैसे हो गया?" ये सब शङ्कायें सुनकर ऐसा लगता है कि मानो आपको बुद्धि का सदुपयोग न करने के लिये अभिशाप मिला हुआ है। अथवा कौन है जो जान बूझकर सोये हुए आपको महाशब्द से भी जगा सकेगा?

https://t.me/DharmaSamrat

प्रेक्षावन्तोऽपेक्ष्यन्तेऽत्र समालोचयितुम्, यद् यथाह कश्चित्—'आर्यभट्टः सम्यक् पृथिवीं परितश्चरति'। तत्राभिधाधीस्तु वर्णविन्यासश्रुतिमात्रेणैव सन्तुष्टो विरमेत्, परं वैज्ञानिकस्तु समूहनं विधास्यति यद् यदर्थोऽर्थात् समाचारचित्र-प्रेषणादिप्रयोजनाय व्योम्नि प्रेषित आर्यभट्टस्तत्तत्स्वस्थयन्त्रः सप्तभीप्सितं पृथिवीं परितो भ्रमति। तथैवेहाऽपि प्रौढरूढिलीढधीस्तु सूर्यश्चरतीत्यनेनैव सन्तुष्टः, परमनवरताभ्यासप्रयासशीलमनीषी तु तापप्रकाशाकर्षणादिप्रयोजनानि पूरयन्नेव चरतीति अनुमास्यति सहजवृत्त्या।

तथैव ऋषेरूहित एवार्थः श्रेयान्। यश्च नाम कात्यायनेन प्रस्तुतो लेखोऽनूद्धृतस्तत्रैतस्य वराकस्य लेखकस्य किं वैशिष्ट्यम्?

'चन्द्रमा जायते पुनः' अत्र पौनःपुन्येन चन्द्रमसो जननं नाम सूर्यागत-किरणजनित्वादेवोत्प्रेक्ष्यम्। भवतां दृष्टौ तु मन्त्रसूत्रादिसर्वभाष्याणां मन्त्रशब्दान-नुगतत्वेन समेषामाप्तानां स्वेच्छाचारिताया अव्याहतप्रसरत्वमेव सिध्येत्, न तु

बुद्धिमानों से मेरा आग्रह है, कि वे देखें कि जैसे आज कोई कहे कि 'आर्य-भट्ट' नामक उपग्रह ठीक रूप में पृथिवी के चक्कर लगा रहा है। इस वर्णविन्यास-मात्र को देख या सुनकर सामान्यबुद्धि तो सन्तुष्ट होकर बैठ रहेगा, पर वैज्ञानिक उक्त वाक्य का विश्लेषण करेगा कि जिस प्रयोजन अर्थात् समाचार और चित्रादि प्रेषण के लिये आविष्कार किया है, यह आर्यभट्ट सर्वथा सारे यन्त्रों को स्वस्थ रखकर पृथिवी के चक्कर लगा रहा है। उसी प्रकार इस मन्त्र में भी जिसकी बुद्धि को प्रौढ रूढिवाद ने चाट लिया है वह, सूर्य चल रहा है, इतना भर सुनकर सन्तुष्ट हो बैठा रहेगा। परन्तु शास्त्र में अनवरत अभ्यास और प्रयास करनेवाला मनीषी तो ताप, प्रकाश, आकर्षण आदि समस्त स्वीकृत प्रयोजनों को पूरा करता हुआ ही चल रहा है, ऐसा सहज वृत्ति से अनुमान कर लेगा।

उसी प्रकार ऋषि का ऊहित अर्थ ही सर्वथा श्रेष्ठ है। जो कात्यायन आदि के लेख आपने उद्धृत किये हैं, उनसे भी तो आपकी बुद्धि कुछ नवीन व अन्यथा बात नहीं सोच सकी।

'चन्द्रमा जायते पुनः' यहां पर बार-बार चन्द्रमा के जन्म से तात्पर्य सूर्य से आनेवाली किरण से चन्द्र-भ्रमण के साथ-साथ चन्द्रमा के प्रकाशित तथा आच्छादित भाग का देखना है। आपकी बुद्धि तो वेद-मन्त्रों के आधार पर ऊहित व निर्मित समस्त सूत्र, शास्त्र, भाष्यग्रन्थों को उदक्षर ही समझती और सारे आप्तों को व्याख्या की स्वेच्छाचारिता का ही प्रसार मानेगी, न कि आपकी बुद्धि की ही कुण्ठा स्वीकार करेगी। सारे वेदों में केवल यज्ञपरक अर्थ मानकर आप दूसरे रूप में वेदों को समस्त विज्ञान व विद्याओं का आकर नहीं मानते;

एतद्धियः कुण्ठा-काठिन्यम्।

संक्षेपतस्तु प्रोक्तोऽयं स्वप्रकाश्यप्रकाशकः।
ऋषिणा विषयोऽपि, मन्दस्तमसि तिष्ठति ॥१॥

विश्वप्रकाशकविभुस्त्वतनुप्रकाशम्,
प्राकाशयन्नियमनान् भुवि मानवेभ्यः।
चन्द्रोऽर्करश्मिपरिलब्धप्रकाशदीप्तः,
अर्कः प्रकाशकविभोः परिदीप्तिमाप्तः ॥२॥

इति श्रीमद्बिहारीलालशास्त्रिशिष्येण श्रीयुतपण्डित-अयोध्याप्रसाद-मिश्रात्मजेन श्रीमदाचार्यविशुद्धानन्दमिश्रेण श्रीयुतनिर्मला-मिश्रा-सहधर्मिणीसहायेन विरचिते करपात्रिमतखण्डने दयानन्दीयमतमण्डने 'वेदार्थकल्पद्रुम'नामग्रन्थे 'प्रकाश्यप्रकाशक-विषयः'
॥ सम्पूर्णः ॥

क्योंकि आप कहते हैं कि 'आविष्कृत विज्ञान वेदों में नहीं है'।

यह प्रकाश्य-प्रकाशक विषय संक्षेप से ऋषि दयानन्द सरस्वती के द्वारा कह दिया गया है। इस पर भी मन्दमति लोग अज्ञान-अन्धकार में ही बैठे रहेंगे ॥१॥

विश्वप्रकाशक प्रभु ने अतनु (बहुत) प्रकाश करनेवाला सर्व पदार्थों का नियमन (नियम) मानवों के लिये प्रकाशित कर दिया है कि सूर्य की किरण से प्राप्त प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित है और सूर्य ने सर्वप्रकाशक विभु परमात्मा से प्रकाश प्राप्त किया है ॥२॥

श्रीमान् पण्डित बिहारीलालजी शास्त्री के शिष्य, श्रीयुत पण्डित अयोध्याप्रसाद मिश्र के आत्मज, श्रीमदाचार्य विशुद्धानन्द मिश्र द्वारा श्रीयुतनिर्मला मिश्रा सहधर्मिणी की सहायता से विरचित करपात्रिमतखण्डन तथा दयानन्दीय मतमण्डन करनेवाले इस 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में 'प्रकाश्यप्रकाशक-विषय' ॥ सम्पूर्ण हुआ ॥

https://t.me/DharmaSamrat

गणितविद्या-विषयः

अगणित-गुण-गरिम-प्रज्ञया वेदमूला,
निगम-गणित-विद्याऽऽविष्कृता विज्ञवर्यैः ।
जगति सकललोका विस्मयं वाऽप्रपन्नाः,
तदनु च बहुकीर्तिः प्रास्तृता भारतीया ॥

महाशयाः ! पश्यन्तु यच्छान्दोग्योपनिषदि विज्ञानम्, राशिविद्या, कालक्रमविद्या, वाग्विद्यादीनां चर्चा वेविद्यते । इह नक्षत्रगणनमपि । एतेन आर्याणां कला-विज्ञानादिज्ञानं विशेषेण च गणितज्ञानं प्रमीयते ।

ग्रीकदेशीया दशसहस्रगणनां यावद् अजानन्, यत्प्रयोग ईसाचतुर्थशताब्द्याम्-भूत् । रोमजना एकसहस्रपर्यन्तमेवाऽगणयन्; परन्तु आर्यास्तु परार्धपर्यन्तगणनामवागमन् । ते संख्याबोधकपारिभाषितशब्दावलीप्रयोगमप्यकुर्वन् । यथा च यजुर्वेदे (१७।२) 'इमा मेऽअग्नऽइष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च ··· ' इत्यादि ।

आर्याश्च वर्णलिपिम् अङ्कचिह्नान्यपि अजानन् । अत एव (ऋ० १०।६२।

अगणित गुणों की गरिमावाली बुद्धि से भारतवर्ष में विज्ञ श्रेष्ठ लोगों ने वेद से गणितविद्या का आविष्कार किया था । जिसे देख संसार में सारे लोग आश्चर्य में पड़ गये । तब भारत की कीर्ति सर्वत्र फैल गयी ॥१॥

हे महाशय लोगो ! आप देखें कि छान्दोग्योपनिषद् में विज्ञान राशिविद्या, कालक्रमविद्या, वाग्विद्या आदि की चर्चा की है । यहां नक्षत्र-गणना भी है । इससे आर्यों की कला, विज्ञान आदि का ज्ञान और विशेषरूप से गणितविद्या का वर्णन किया गया है ।

ग्रीकदेशीय दश सहस्र तक गणना जानते थे, जिसका प्रयोग ईसा की चौथी शताब्दी में हुआ । रोम के लोग एक सहस्र तक गिनते थे, परन्तु आर्य लोग परार्धपर्यन्त अर्थात् १८ अङ्कों तक जानते थे । वे संख्या-बोधक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग भी करते थे । जैसे यजु० (१७।२) में 'इमा अग्न·····' इत्यादि है ।

आर्य लोग वर्णलिपि का ज्ञान और अङ्क-चिह्नों को भी जानते थे । इसीलिए

७) मन्त्रे 'अष्टकर्णी' इति प्रयोगेण साध्वनुमिन्वन्ति विपश्चितोऽङ्कचिह्नाङ्कनज्ञानम् । एवं विभूतिभूषणदत्तोऽलेखीत् ।

पृ० १३१३, पं० १-५—आक्षेपः—"एका च मे तिस्रश्च मे·····। चतस्रश्च मे ।' इत्यनयोः कण्डिकयोर्दयानन्दीयम् (गणितविद्यासाधनरूपम्) व्याख्यानं न सम्भवति, मन्त्रे संयोगगुणनादिशब्दाभावात् । अत्रोक्तसंख्या संख्येय-निष्ठा । 'मे'पदावृत्तेर्यज्ञेन कल्पन्तामित्यस्य च कथं सङ्गतिः ? 'यत्र द्वावेकेन सा त्रित्ववाचिका' इत्यप्यशुद्धमेव, 'द्वे एकेन युक्ते' इति हि भाव्यम् । किञ्च, यद्यत्र गुणनमिष्टं स्यात्तदा एका च द्वे इति सङ्कलनमुक्तं स्यात्, सङ्कलनं हि गुणनपर्यवसायि । एवमेकेन गुणितमेकमेव भवति । सङ्कलनान्तः पात्येव गुणनं संख्यान्तरमानयति एकसंख्यायाम् । इदं सर्वं विहाय मूले 'एका च' इत्येव पाठः । तथैव तिस्रः तिस्रः षड् इत्यपि स्यात्, न चैवं पाठः ।" इति ।

समाधानम्—इह तु मम स्मृतिपथं पण्डितराजजगन्नाथस्य सूक्तिरेषाऽवतरति यत्—

ऋ० (१०।६२।७) मन्त्र में 'अष्टकर्णी' प्रयोग किया है, जिससे अनुमान है कि ८ का चिह्न कान पर बना देते थे ।

आक्षेप—पृ० १३१३, पं० १-५—"एका च मे तिस्रश्च मे·····। चतस्रश्च मे ।' इन कण्डिकाओं का दयानन्द का किया (गणितविद्यासाधक) अर्थ हो ही नहीं सकता; क्योंकि मन्त्र में संयोग और गुणन आदि शब्दों का अभाव है । इसलिए इस मन्त्र के संख्यावाचक शब्द संख्येय द्रव्य के बोधक माने जाते हैं । इन मन्त्रों में 'मे' पद की आवृत्ति बार-बार होती है, उसकी 'यज्ञेन कल्पन्ताम्' से संगति द्रव्य-वाचकता में ही हो सकती है, आपके अर्थ के अनुसार इन पदों की परस्पर संगति नहीं बन सकती । 'द्वौ एकेन युक्तौ' यहां पर 'द्वौ' के स्थान पर 'द्वे' का प्रयोग करना चाहिए था; क्योंकि आप उनको संख्यावाचक मानते हैं और यह शब्द तब स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होगा । अपि च, यदि यहां गुणन अभीष्ट होता, तो उसको भी बताया जाता; क्योंकि संकलन का ही गुणन में पर्यवसान होता है । एक से एक को गुणा करने पर एक ही होगा । संकलन करने के बाद ही किसी संख्या का गुणन करने पर दूसरी संख्या आती है । इन सबको छोड़कर मूल मन्त्र में केवल 'एका च' यही पाठ है । इसी प्रकार तीन और तीन मिलाकर छः होते हैं, किन्तु मन्त्र में ऐसा पाठ नहीं है ।"

समाधान—आपके इन आक्षेपों को देखकर मेरे स्मृतिपथ पर पण्डितराज जगन्नाथ का यह श्लोक आ रहा है—

https://t.me/DharmaSamrat

"दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डाः करटिनः,
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलु मृगाः ।
इदानीं लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरिदम्,
नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन् मृगपतिः ।।"

सम्प्रति ऋषि प्रखरपाण्डित्यप्रतिपादितमप्यवबोद्धुं न समर्थः कश्चित् । कथं खलु वराकस्य पाण्डित्यदम्भाडम्बरविडम्बितमतेरेतस्य बोधस्तरः समर्थो भवेन्महर्षितीव्रतपःशाणनिशितकुशाग्रबुद्धिलब्धस्य विषयस्यावबोधने । मुखास्तित्वप्रमाणपाटवप्रकटनमात्रैवेयमाक्षेपरचनावचना रसनेति निश्चयनम् । अस्तु, गणितज्ञगम्यमिदं हि सर्वं विशदीकृत्येह व्याख्यायते मया महर्षिभाष्यम् । यथा—

सर्वज्ञातृत्वे सिद्धेऽपि संख्यास्वरूपे ये केचिदत्यन्तदुर्दर्शनाभ्यासतिरोहितमतयो विप्रतिपद्यन्ते तान् प्रति प्रशस्तपादभाष्ये आह—"एकादिव्यवहारहेतुः संख्या" अर्थाद् एकम्, द्वे, त्रीणीत्यादिप्रत्ययः शब्दप्रयोगश्च भवतस्तयोर्हेतुः संख्या विद्यते । प्रतीति (प्रत्यय) हेतुता च संख्यायामेव जायते । यथा—दण्डी पुरुषः । इति

"दिशाओं को थामनेवाले मदमलिन गण्डस्थलवाले दिग्गज सुने तो गये हैं; पर वे दृग्गोचर नहीं हुए और करिणियां (हथिनियां) करुणा की पात्र हैं, उनसे कोई जोड़ नहीं बनता। तो बताओ, अनुपम शिखावाले नखों का पाण्डित्य यह मृगपति अब किस पर दिखाये ?"

इस समय तो महर्षि के प्रखर पाण्डित्य से प्रतिपादित अर्थ को समझने में भी इनमें कोई समर्थ नहीं है। फिर पाण्डित्य-दम्भ के आडम्बर से विडम्बितमति बेचारे इन करपात्री की बुद्धि का स्तर, महर्षि के तीव्र तप के शाण पर तीक्ष्ण कुशाग्रबुद्धि से प्राप्त विषय के समझने में कैसे सक्षम हो सकता है ? मुख के अस्तित्वमात्र के प्रमाण-पाटव के प्रकटनमात्र को ही करने में इन आक्षेपवचनों की रचना है, यह निश्चित है। अस्तु,

महाशय ! प्रकृत विषय उत्कृष्टकोटि के गणितज्ञों द्वारा ही गम्य है। इस दृष्टि से महर्षिभाष्य की विशदरूपेण व्याख्या की जा रही है, आप भी इसे समझने का प्रयास कीजिये ! यथा—

संख्याओं को वर्तमान में यद्यपि सब जानते हैं, फिर भी अत्यन्त दुर्दर्शनों के के अभ्यास से जिनकी मति मारी गयी है, वे इसमें भी विवाद करते हैं, अतः उनको समझाने के लिए प्रशस्तपादभाष्य (२६७ पृ०) में कहा है कि "एक आदि व्यवहार की हेतु संख्या कहाती है।" अर्थात् एक, दो, तीन इत्यादि की प्रतीतियां एवम् एक, दो, तीन इत्यादि शब्दों के प्रयोग, इन दोनों की हेतु ही संख्या है। प्रतीति (प्रत्यय) की हेतुता संख्या में इस प्रकार है, जैसे—'दण्डी पुरुषः'। इस

विशिष्टप्रतीतौ केवलं दण्डोऽत एव कारणं यदसावपि प्रतीतिरर्थाद् विशेषणेन युक्ता विशेष्यप्रतीतिरस्ति । तथैव इदमेकम्, इदं द्वयम्, इदं त्रयम् इत्यादिप्रतीतयोऽपि विशिष्टप्रतीतित्वादेव एकत्वादिसंख्यारूपविशेषणेभ्य उत्पद्यते । एवं शब्दमपि पक्षीकृत्य विशिष्टशब्दत्वादिति हेतुरवगन्तव्यः ।

एवं संख्या, संख्येयं द्रव्यं पदार्थं वा सूचयति । तथा सति सर्वं सङ्गच्छत एव । संख्या हि मूर्त्तामूर्त्तद्रव्ययोरुभयोरपि तिष्ठति ।

यदुक्तम्—"संयोग-गुणनादिशब्दाभावाद् दयानन्दीयं व्याख्यानं न सम्भवति" इति अलीकम् । 'नान्धादृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः' इति सूक्तिमनुरुध्य ऊहनप्रखरप्रज्ञावन्तस्तु पश्यन्त्येव यत् चकारा हि समुच्चयेतरेतरयोगाद्यर्था इह सन्त्येव, तस्मादितरेतरयोगो ज्ञेय इह । स एव सङ्कलनम् । योगानन्तरं संख्यानां पूर्वस्थित्यामानयनं नाम व्यवकलनम् । तस्या एव च संख्याया असकृद् योग एव गुणनं कथ्यते । एवमेव भागादिकसंज्ञा अनुमेयाः । अथवा सङ्गति-दानार्थकरण-

---

विशिष्ट प्रतीति के प्रति दण्ड केवल इसीलिए कारण है कि वह भी विशिष्ट प्रतीति अर्थात् विशेषण से युक्त विशेष्य की प्रतीति है, वैसे ही यह एक, दो तथा तीन हैं—इत्यादि प्रतीतियां भी विशिष्ट प्रतीति होने के कारण ही एकत्वादि संख्यारूप विशेषणों से उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार शब्द को पक्ष बनाकर विशिष्ट शब्दत्व की संख्या का साधक हेतु समझना चाहिए, अर्थात् जिस प्रकार 'दण्डी पुरुषः' विशेष प्रकार के इस शब्द के प्रयोग में कारण है, उसी प्रकार एकम्, द्वौ, त्रीणि इत्यादि प्रयोगों का भी कोई कारण अवश्य है। वही संख्या है।

इस प्रकार कोई भी संख्या किसी सख्येय द्रव्य को ही बताती है। ऐसा होने पर 'मे' पद की आवृत्ति की यज्ञ के साथ सङ्गति होती ही है। यह सख्या मूर्त्त तथा अमूर्त्त दोनों द्रव्यों में रहती है।

यह कहना कि "मन्त्र में संयोग, गुणन आदि शब्द न होने से दयानन्दीय व्याख्यान अयुक्त है" ठीक नहीं। आपको नहीं दीखता, इसलिए 'नहीं है' यह उक्ति तो उक्त कहावत को जन्म देती है कि 'नान्धादृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः'। ऊहन से उर्वरमस्तिष्क या प्रखर प्रज्ञावाले तो यहां पर भी देख रहे हैं। देखिये, इस मन्त्र में चकारों का प्रयोग समुच्चय तथा इतरेतरयोग अर्थ में हुआ है। इसी को संकलन अर्थात् सयोग या जोड़ कहते हैं और कई-कई बार का जोड़ ही गुणन होता है। योग के अनन्तर संख्याओं को क्रम से पूर्व-पूर्व स्थिति में लाना व्यवकलन या घटाना कहाता है। उसी संख्या का बार-बार योग ही गुणा कहाता है। इसी प्रकार 'भाग' आदि संज्ञाओं का अनुमान करना चाहिए। अथवा 'यज्' धातु से

https://t.me/DharmaSamet

यज्धातोर्निष्पन्नयज्ञशब्देनाऽपि क्रमशः सङ्कलनव्यवकलनेऽवगन्तव्ये। एवं नात्र संयोगगुणनादिशब्दाभाव इति हेतुर्घटते; प्रत्युत तदवगमने ऊहात्मकबुद्धेरेवाऽभाव इति मन्तव्यम्।

महर्षिदयानन्देन तु एतन्मन्त्रार्थाय द्वितीये तृतीये पक्षे गणितविद्याया ऊहनेन चमत्कृतिरेवोत्पादिता। यथा—अस्मिन्मन्त्रे यज्ञेनेति पदेन योग-वियोगौ गृह्येते। कुतो यज्-धातोर्हि यः सङ्गतिकरणार्थस्तेन सङ्गतिकरणं कस्याश्चित् संख्यायाः कयाचिद् योगकरणं यश्च दानार्थस्तेनैवं सम्भाव्यं कस्याश्चिद्दानं व्ययीकरणमिदमेवान्तरमेवं गुणन-भाग वर्ग-वर्गमूल-घन-घनमूल-भागजाति-प्रभागजातिप्रभृतयो ये गणितभेदाः सन्ति, ते योग-वियोगाभ्यामेवोत्पद्यन्ते। कुतः, काचित्संख्यां कयाचित् संख्यया सकृत्संयोजयेत्, स योगो भवति। इत्यादि तत्रैवाधिकं द्रष्टव्यं जिज्ञासुभिः।

किञ्चानेन धीमता (यजु० १७।२) उव्वटमहीधरयोरपि नावलोकितं भाष्यम्, यत्र तावपि चकारेण गुणितार्थं कल्पयतः। तद्यथा—एवमेकाप्रभृति दशसंख्यागुणितं परार्धपर्यन्तम्। चकारा इतरेतरसमुच्चयार्थाः। तदा कथमयमल्पदृगाक्षिपति?

निष्पन्न यज्ञ शब्द के अर्थों से सङ्गतिकरण से जोड़ व दान से घटाना, गुणन आदि समझने चाहिए। इसलिए यहां मन्त्र में संयोगादि ज्ञापक का अभाव नहीं, अपितु इस प्रकार की ऊहाशील-प्रतिभा का ही आप पर अभाव समझना चाहिए।

महर्षि दयानन्द ने तो (१८।२४) मन्त्रार्थ के द्वितीय और तृतीय पक्ष में गणितविद्या के ऊहन द्वारा चमत्कार ही उत्पन्न कर दिया है। यथा—'यज्ञेन' इस इस पद से जोड़ना-घटाना लिये जाते हैं; क्योंकि जो यज् धातु का संगतिकरण अर्थ है, उससे संग कर देना अर्थात् किसी संख्या को किसी संख्या से योग कर देना वा यज्-धातु का जो दान अर्थ है, उससे ऐसी सम्भावना करनी चाहिए कि किसी संख्या का दान अर्थात् व्यय करना निकाल, डालना, यही अन्तर है। इस प्रकार गुणन, भाग, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, भागजाति, प्रभागजाति आदि जो गणित के भेद हैं, वे योग और अन्तर से ही उत्पन्न होते हैं; क्योंकि किसी संख्या को किसी संख्या मे एक या अनेक बार मिलादें तो योग कहाता है। इत्यादि जिज्ञासुओं को भाष्य में ही देखना चाहिए।

इस बुद्धिमान् आक्षेपक ने यजुर्वेद के १७।२ मन्त्र का उव्वट और महीधर तक का भाष्य नहीं देखा। जहां पर वे दोनों ही चकार शब्द से गुणितादि की कल्पना करते हैं। देखिये—इस प्रकार एक से लेकर अर्थात् एक को दश बार जोड़कर तथा दश से आगे दश गुणा करके परार्ध-पर्यन्त संख्या यहां प्रदर्शित है। मन्त्र में चकारों का प्रयोग इतरेतर और समुच्चयार्थक है।

'एका' 'एकार्थस्य या वाचिका सा संख्याऽस्ति' इति वचनेन सम्यक् स्पष्टं यद् वाच्यस्तु अर्थ एव संख्या तु वाचिका। 'सा एकेन युक्ता द्वौ' इत्यस्य अर्थः, सा एकार्थवाचिका संख्या अपरेण एकेन एकार्थेन पदार्थेन युक्ता सती द्वौ (पदार्थौ) भवतः। अथवा वेद एका इति लिङ्गमन्यत्र, सर्वलिङ्गोपलक्षकत्वात्। एकम् एका, एकः, एकम्, द्वे, द्वौ, द्वे इत्यादि प्रयोगाः सम्भवन्ति इति दर्शनार्थमिह स्वामिनाऽपि एकेन, द्वौ इति पुंस्त्वेऽपि निदर्शनं कृतमिति ध्वन्यते। तद्यथा—द्वौ एकेन युक्तौ इति।

इदं श्रीकरपात्र-दृष्ट्या अशुद्धम्, परं तत्राशुद्धेः स्वरूपं न प्रस्तुतम्। वस्तुत इह महर्षेर्व्याकरण-प्रतिभा विस्पष्टं प्रस्फुटति, यत् सा च एकेन युक्तार्थाद् एका च द्वौ इति अथवा 'पुमान् स्त्रिया' (अष्टा० १।२।६७) इत्यनेन 'द्वौ' इति।

'त्यदादितः शेषे पुंनपुंसकतो लिङ्गवचनानि' इति वाक्यार्थप्रधानत्वाद् द्वौ (पदार्थौ) इत्येव साधु। अग्रेऽपि द्वौ (पदार्थौ) एकेन (पदार्थेन) युक्तौ भवतस्तत्र त्रित्ववाचिका एव संख्या प्रयुज्यते। परं पक्षपातान्धधीरयं नाक्षिपन्महीधरम्।

'एका' यह एकार्थ अर्थात् एक पदार्थ की वाचिका है अर्थात् वाच्य अर्थ (पदार्थ) ही है। वह एकार्थवाचिका संख्या प्रायः विशेषणरूप में प्रयुक्त होने के कारण 'युक्ता' अर्थात् योग करने पर (एकेन अपरेण) एक दूसरे पदार्थ के साथ ही मिलकर दो पदार्थ होते हैं। जैसे अनेक विशेषणों का विशेष्यों के बिना प्रयोग निरर्थक होना है, इसी प्रकार संख्या भी गुण है, जो बिना संख्येय द्रव्य के नहीं रहती। यही सूचना देने के लिए ऋषि ने 'एकेन' 'द्वौ' ये पदार्थ विशेष्य की अपेक्षा से पुंलिङ्ग में प्रयुक्त किये हैं अथवा यह समझना चाहिए कि वेद में यह 'एका' प्रयोग सर्वलिङ्गोपलक्षक है। इस प्रकार एका, एकः, एकम्, द्वे, द्वौ, द्वे इत्यादि प्रयोग सम्भव हैं। इसीलिए स्वामीजी ने 'एका' से स्त्रीलिङ्ग, 'एकेन' से नपुंसकलिङ्ग व द्वौ से पुंल्लिङ्ग का प्रतीकमात्र प्रयोग कर दिया है। वस्तुतः तो एक संख्या एक अन्य पदार्थ से मिलकर 'दो' पदार्थ होंगे।

श्री करपात्रीजी ने अशुद्धि का यहां कोई स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया, जबकि एका संख्या एक अर्थ (पदार्थ) की वाचिका है और 'एकेन' एक अर्थ से संयुक्त होने दो अर्थ (पदार्थ) होंगे। अतः कोई अशुद्धि नहीं है। अथवा पाणिनि के 'पुमान् स्त्रिया' इस सूत्र से भी पुंल्लिङ्ग शेष रहने पर 'द्वौ' बन जायेगा।

वास्तव में यहां महर्षि दयानन्द की व्याकरण-प्रतिभा प्रकट हो रही है कि 'त्यदादितः शेषे पुंनपुंसकतो लिङ्गवचनानि' इससे 'सा च एका च इति तौ द्वौ' वाच्यार्थप्रधान होने से द्वौ प्रयोग पूर्णतया शुद्ध है। जब दो पदार्थ एक अन्य पदार्थ से युक्त होंगे तो वहां पर त्रित्ववाचिका संख्या का प्रयोग होगा। परन्तु पक्ष-

https://t.me/Dharmasamrat

योऽलिखत्—'एकामादाय द्वितीयां विहाय तृतीयामादाय चतुर्थं विहाय' इति। कथं चतुर्थम्?

अत्र विशिष्टमेवं व्याख्येयम् ऋषिभाष्यम्—अपठितसमद्विप्रकृतिसंख्यानां गुणनान्तःपातात्, तस्या एव संख्यायाः पौनःपुन्ययोजनेन, द्वितीयमन्त्रे च 'चतस्रश्च मे' इत्यस्मिन् सुविशदगुणननिदर्शनाच्च। योगश्चाप्युक्त एतेन भवति। सङ्कलनार्थे चकारनिदर्शनम्। यथा—

(क)

(च=+) एवम् १+(२)=३+(४) ३+(६) ५+(८) ५+(१०) ७+(१२)
समा संख्या समा समा समा समा समा

७+(१४) ९+(१६) ९+(१८) ११+(२०) ११+(२२)
समा समा समा समा समा इत्यादि-

कोष्ठान्तर्गतसंख्यासु द्विसंख्याया गुणनं निर्दिष्टम्। प्रतिलोमे २२, २०, १८ इत्यादिकं व्यवकलनं स्पष्टम्।

पातान्धमति ने महीधर के इसी पर किये अशुद्ध भाष्य पर आक्षेप नहीं किया; जिन्होंने लिखा है—'एकाम् आदाय द्वितीयां विहाय तृतीयमादाय चतुर्थं विहाय'। यहां पर 'चतुर्थम्' का प्रयोग तो सर्वथा अशुद्ध है, 'चतुर्थीम्' क्यों नहीं किया?

इस मन्त्र में जो संख्या नहीं पढ़ी गयी है, जैसे—दो, चार, छः, आठ आदि संख्या तो दो का गुणन ही ध्वनित करती है। उस संख्या का बार-बार जोड़ना भी गुणन कहलाता है। आगे द्वितीय मन्त्र 'चतस्रश्च मे' इसमें तो ४ का गुणन स्पष्टरूप में पढ़ा गया है। फिर भी आप को 'गुणन' शब्द का पाठ चाहिए। कैसी बुद्धि-विडम्बना है? इसी से योग भी उक्त हो जाता है। सङ्कलन-अर्थ में 'च' का निदर्शन देखिए। यथा—

(क) 'च' का अर्थ है+चिह्न।

एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च में पञ्च च मे
१+ (२) ३+(४) ३+(६) ५ +(८) इत्यादि

कोष्ठान्तर्गत संख्या 'दो' की गुणित या क्रमिक योग है और सीधे हाथ से बाईं ओर क्रमशः वापिस आने पर दो-दो का व्यवकलन (घटाना) ध्वनित है।

(ख) यच्चायं वक्ति "सैकेन युक्ता द्वे भवत इति भाव्यम्" इति कथनं त्वशुद्धं तद्वचनाऽमननात्। गुणरूपायाः संख्यायाः सर्वदा संख्येयद्रव्यनिष्ठात्वात्। संख्या हि वाचिका, वाच्यं हि द्रव्यं तत्पृथगवस्थितिरसम्भवा। 'एका संख्या एकेन युक्ता कथम्, संख्येति गुण एकोऽर्थो द्रव्यादिरूपः'। शिष्टमनुक्तमुक्तेन गतार्थमुन्नेयमूहाप्रधानमतिभिर्विपश्चिद्भिः।

(ग) 'चतस्रश्च मे पञ्च च मे' इति निर्देशस्तु द्वयोरपि मन्त्रयोः। बहूनां संख्यानां द्वयोरेकतरस्या वा परस्परं संयोगादिक्रिययाऽनेकविधाङ्कैर्गणितविद्यासाधनीयैव कृतेनेह अनेकचकारपाठेनाऽपि मनुष्यैर्मननशीलैः।

यदिदमुच्यते हिन्द्यां "प्रथमकण्डिकाया अर्थकरणसमये 'चतस्रः' पदस्योद्धरणमशुद्धम्, तथा पाठाऽभावात्" इति। तदपि नामाबल्गमुद्गीर्णम्। यतो हि

(ख) यह कहना भी भूमिका-वचनों का सही मनन न कर सकने के कारण है कि "'सैकेन युक्ता द्वे भवतः' ऐसा पाठ होना चाहिये"। इसका हमने पूर्व समाधान कर दिया है कि यहां वाच्यार्थ की प्रधानता से 'द्वौ' प्रयोग किया है। गुणरूप संख्या तो सदा संख्येय द्रव्यनिष्ठ रहती है, पृथक् रह ही नहीं सकती। विद्वानों को शेष अनुक्त का भी इसी विधि से समाधान कर लेना चाहिये। यह कहना कि संख्या में वृद्धि हुई पर यह आपका कथन गलत है; क्योंकि वृद्धि द्रव्य में ही होती है, संख्या में नहीं। संख्या उसकी अनुसारिणी मात्र है।

(ग) 'चतस्रश्च मे पञ्च च मे' इस उद्धरण से पूर्व दो और दो मिलकर ४ तथा तीन और तीन मिलकर ६ होते हैं। अब इसके आगे उदाहरण ४ और ४ मिलकर जोड़ने का आता है, जो अगले मन्त्र का अंश है, फिर इसके आगे ५ और ५ जोड़ने का उदाहरण क्रमशः दिया जाना उपयुक्त है। अतः यह 'पञ्च च मे' पूर्व मन्त्र में आया है। इसके आगे ६ किसी कण्डिका में नहीं पढ़ा गया, अतः 'इत्यादि' कहकर दोनों मन्त्रों के साथ-साथ व पृथक्-पृथक् अंकों के परस्पर संयोग, व्यवकलन, गुणन आदि क्रिया के द्वारा अनेक विद्या से (संयोगादिलब्ध) प्राप्त अङ्कों से गणितविद्या सिद्ध होती है। आगे भी ऋषि कहते हैं कि—अनेक चकारों के पाठ से मननशीलों (मनुष्यों) को अनेक प्रकार की गणितविद्या इंगित की गयी जाननी चाहिए।

यह कहना भी अनर्गल है कि "प्रथम कण्डिका का अर्थ करते समय 'चतस्रः' पद का उद्धरण अशुद्ध है, क्योंकि वहां यह पाठ उपलब्ध नहीं है"।

https://t.me/DharmaSansar

नह्यत्र प्रथमद्वितीयकण्डिकयोः पृथक् पृथग् भाष्यं कृतमृषिणा। द्वितीयमन्त्रोद्धरणान्ते च (यजु० अ० १८ मं० २४, २५) समुच्चयनिर्देशात्। तेनेदमप्यभिव्यज्यते 'चतस्रश्च मे' इति द्वितीयमन्त्रस्य, प्रथममन्त्रव्याख्यातशिष्टानां 'पञ्च च मे' इति प्रभृत्यात्मकमन्त्रनिर्दिष्टानां संख्यानां च परस्परं संयोगादिक्रियया ऽनेकविधाङ्कगणितविद्या सिध्यति। तदा श्रीकरपात्रस्य भूमिका-लेखाभिप्रायावबोधने भ्रान्तिरेव, अक्षमत्वात्।

संख्यानां चित्रम्

पठिताःप्रथममन्त्रे—	१	३	५	७	९	११	१३	१५
मुक्ताः—		२	४	६	८	१०	१२	१४	१६
पठिताद्वितीयमन्त्रे—	४	८	१२	१६	२०	२४	२८	३२

यथा—(१) योगनियमः — प्राकृतिकक्रमसंख्यायोगज्ञानस्य सूत्रम्

१,२,३,४,५,६ आदीनाम् यथा—$\frac{\text{अन्तिमा} \times (\text{अन्तिमा}+१)}{२}$ प्रारम्भिकसंख्या

महोदय ! यहां प्रथम, द्वितीय कण्डिका का पृथक्-पृथक् भाष्य करना उद्दिष्ट नहीं है। जबकि दोनों मन्त्रों को समुच्चय में लिखने के बाद ही (यजु० अ० १८। मं० २४,२५) यह संकेताङ्क भी समुच्चयरूप में दिया है और 'चतस्रश्च' के बाद 'पञ्च च मे' यह प्रथम मन्त्र का अंश जो इससे पूर्व व्याख्यात नहीं किया है, उसको भी साथ लेकर अनेक प्रकार की गणितविद्या सिद्ध होती है। इससे प्रतीत है कि श्री करपात्र भूमिका के लेख को समझने में अक्षम और भ्रान्त रहे हैं।

अनेक प्रकार की गणितविद्या

प्रथम मन्त्र में (१)

(क) पठित विषमसंख्या	१	३	५	७	९	११
(ख) मध्य मुक्त समसंख्य गुणन	२	४	६	८	१०	
	३	५	७	९	११	

३×३=९, ५×५=२५ उसी संख्या का गुणा उसका वर्गमूल वही संख्या होती है।

(१) क्रमिकसंख्यायोगसूत्र=$\frac{\text{अन्तिम संख्या} \times (\text{अन्तिम संख्या}+१)}{२}$

(२) विषमसंख्याया योगसूत्रं पदज्ञानसूत्रं च—$(\text{पद}) = \frac{(\text{अन्तिमा संख्या}+१)\times २}{२}$

पदज्ञानं यथात्र पदसंख्या—$\frac{(३३+१)}{२}$=१७ अतो वर्गः (१७) २=२८९

(३) यदि एका सङ्ख्या व्यवकलिता अर्थात् २८९ −१=२८८ (कृता), तदायं वर्गोऽपि निर्मीयते, कक्षयोगोऽपि समान एव।

३	५	७	९
१७	१५	१३	११
१९	२१	२३	२५
३३	३१	२९	२७
७२,	७२,	७२,	७२,

---

(२) विषमसंख्यायोगसूत्र=$\frac{(\text{अन्तिम संख्या}+१)\times २}{२}$

वैकल्पिक विधि (आल्टरनेटिव मैथड)—

अथवा ऊपर दिये सूत्रों के स्थान पर नीचे दी गयी सूत्रविधि सरल और उत्तम है। यथा—

किसी भी गणितीयक्रम श्रेणी (मैथेमैटिकल सीरीज्) का प्रयोग

=$\frac{(\text{प्रारम्भिक संख्या} + \text{अन्तिम संख्या})}{२}$ × श्रेणीय अंक संख्या से

उदाहरण—

अथवा विषम $\frac{\text{अन्तिमसंख्या}+१}{२}$ = (पदज्ञान)

उदाहरण—

https://t.me/DharmaSamrat

(ख) प्रथममन्त्रमध्यमुक्तसमसङ्ख्याया अपि एष नियमो निःसरति ।

$$\frac{\text{अन्तिमपदम्}}{२} \times \frac{\text{अग्रिमपदम्}}{२}$$

यथा $\frac{३२}{२} \times \frac{३४}{२}$ २७२

(१) $३३ \times \frac{(३३+१)}{२} = ५६१$

(२) $\frac{३३+१}{२} = १७$ पद का स्क्वायर $(१७)^२ = २८९$

(३) प्रथम मन्त्र में एक संख्या को छोड़ अन्य प्रत्येक विषमसंख्या दो बार ३ से ३३ तक पढ़ी गयी, तो १ से ३३ तक के प्रत्येक योग अर्थात् २८९ में से साधारण १ को घटाने पर २८८ शेष रहते हैं। इसका कक्ष वर्ग बन जाता है। क्रमशः १६ खानों में रखकर १ से ३३ तक की संख्याओं को रखने पर प्रत्येक का योग ७२ व सर्वयोग २८८ आयेगा।

३	५	७	९
१७	१५	१३	११
१९	२१	२३	२५
३३	३१	२९	२७
७२,	७२,	७२,	७२,

इसमें एका च (+) एका अर्थात् ११, इस मन्त्र में 'त्रयश्च मे त्रयश्च मे' (३३) 'पञ्च च मे पञ्च च मे' (५५) इत्यादि ११ का पहाड़ा भी है। पर यह है उन्हीं को 'जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ। वे बौरे खोजन गए, रहे किनारे बैठ'।

एवं द्वितीयमन्त्रे मध्ये मुक्तसंख्यानामपि यथा १, २, ३/५, ६, ७/९, १०, ११/१३, १४, १५/१७, १८, १९ आदीनां प्रत्येकमुक्तसमुदायस्य प्रथमादीनां विशेषविन्यासे पूर्वमन्त्रसंख्यायोगो निष्पद्यते, यथा—

मुक्तप्रथमा संख्या			मुक्तद्वितीया संख्या			मुक्ततृतीया सङ्ख्या		
१	५	९	२	६	१०	३	७	११
२१	१७	१३	२२	१८	१४	२३	१९	१५
२५	२९	३३	२६	३०	३४	२७	३१	३५
४५	४१	३७	४६	४२	३८	४७	४३	३९
९२,	९२,	९२	९६,	९६,	९६	१००,	१००,	१००

योगः $= ९२ + ९६ + १०० = २८८$

इसी प्रकार समसंख्यायोगसूत्र—

(ख) $\frac{\text{अन्तिम समसंख्या}}{२} \times \frac{\text{अन्तिम समसंख्या}+२}{२}$

प्रथम मन्त्र में—

यथा $१६ \times १७ = २७२$ योग। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानिये।

इस प्रकार द्वितीय मन्त्र 'चतस्रश्च मे' में मुक्तसंख्या—

१, २, ३/५, ६, ७/९, १०, ११/१३, १४, १५/१७, १८, १९ आदि प्रत्येक मुक्तसमुदाय के १, २, ३ आदि के विशेष विन्यास में प्रथम 'एका च मे' मन्त्र की संख्या का वर्गयोग निष्पन्न हो जाता है। जैसे—

https://t.me/DharmaSamrat

पाश्चात्यदेशीया विद्वांसस्तु वेदादाविरभावयन् गणितं कठिनश्रमं विधाय, किन्त्वयं केवलेष्टकाचयनं कुर्वाणोऽपि न गणयितुं ता इष्टकाः प्रवर्तते कामयते वा।

समीकरणं चाऽपि यथा 'एका च' इति मन्त्रेणाविष्क्रियते। यथा—

मुक्त प्रथमसंख्या

१	५	९
२१	१७	१३
२५	२९	३३
४५	४१	३७
९२,	९२,	९२

मुक्त द्वितीयसंख्या

२	६	१०
२२	१८	१४
२६	३०	३४
४६	४२	३८
९६,	९६,	९६

मुक्त तृतीयसंख्या

३	७	११
२३	१९	१५
२७	३१	३५
४७	४३	३९
१००,	१००,	१००

पाश्चात्यदेशीय विद्वानों ने तो वेदों से गणित का आविष्कार जाना तथा कठिन श्रम करके किया भी और आपकी कुण्ठित बुद्धि में अब भी गति नहीं आयी ?

किन्तु श्री करपात्र इनका उपयोग केवल वेदी-ईंटे चिनने में लगाते हुए ईंटों की गणना करना भी अभीष्ट नहीं मानते। आश्चर्य है, देखो इसी मन्त्र (प्रथम) से समीकरण का भी आविष्कार हुआ है। यथा—'एका च' मन्त्र में।

मन्त्रों के मनन में हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि इन शब्दपाठों के मध्य में विचारार्थ कुछ विशेष रहस्य भी रखे हुए हैं, जो प्रभु की ओर से जीव अपने कर्म-प्रयास द्वारा नवीन वस्तु प्रस्तुत करता है, जिसे हम आविष्कार कहते हैं। जैसे शिशु के पास यथास्थान खांचे बने खिलौने हैं जिन्हें पूर्वतः नहीं जानता, पर खेल-खेल में जोड़ते-जोड़ते पशु आदि की मूर्ति बन जाती है। उसी प्रकार प्रभु ने इन तथा अन्य मन्त्रों में संख्याओं की एक परिभाषणीय (मैथेमैटिकल सीरीज) गणितीय श्रेणियां रख दीं। रखी हुई श्रेणियां तो गणितीय विश्लेषण के ही लिये हैं, श्रेणी को केवल श्रेणीरूप समझकर छोड़ देना एक ठस बुद्धि का ही

एका+च = १+च = ३

१+च = ३−१ =

च+२

एतेन विविधसमीकरणानि (साइमल्टेनियस काड्रेटिक आदीनि) निर्मातुं शक्यन्ते। एवं च खण्डान्यपि। यथा—वर्गमूलम् = १६ = $(४)^{२}$। घनमूलमपि वा ८ = $(२)^{३}$।

यजु० १८।२४ तमे मन्त्रे एकं नियामकसूत्रमप्याविष्कृतं भवति, यत् कयोरपि द्वयोः संख्ययोर्मिथो योगापेक्षया तयोरेव संख्ययोर्मिथो गुणनफलम्, तद्गुण्यसंख्याया अर्धं (१/२) गुणितं भवति।

यथा—	योगः	गुणः
	३+३=६	३×३= ९ = ६×$\frac{३}{२}$ = २

काम है। जैसे प्रकाश को प्रकाश मानने के लिये कुछ तो सोचना भी आवश्यक है, अन्यथा प्रकाश-सम्बन्धी विद्या जो आजतक आविष्कृत हुई है, वह न हो पाती।

निष्कर्ष यह है कि प्रभु की वाणी वेद को समझने के लिए जिस व्यक्ति की जितनी अधिक दूरी हो वह उतनी ही कम अनुभूति करेगा। महर्षि दयानन्द एक योगी थे। जैसे बालक और बड़े के मध्य ज्ञान की यही दूरी अधिक होने के कारण बालक को छोटी बात भी निम्न स्तर पर उतर कर उसके बौद्धिक स्तर के अनुरूप समझाना पड़ता है, उसी प्रकार ऋषि के संक्षिप्त गणितीय वर्णन को श्री करपात्रीजी को समझाने के लिये मुझे इस विवरणात्मक स्तर पर उतरना पड़ा।

एका+च १+च=३

क्योंकि १+च=३ है

अतः (१+च)=३−१=२ के हुआ।

इससे विविध समीकरण (साइमल्टेनियस्, काड्रेटिक आदि) आविष्कृत किये गये हैं। इसी प्रकार खण्ड भी। जैसे—

वर्गमूल १६ = $(४)^{२}$ तथा घनमूल ८ = २)^{३} भी समझे गये। यजुः १८।२४ में से एक नियामकसूत्र भी आविष्कृत हो सका है, किन्हीं भी दो संख्याओं के आपसी योग से।

नियम—उन्हीं दो सङ्ख्याओं का आपसी गुणन-फल उनके योग का उस गुण्यसङ्ख्या का १/२ गुणा होता है।

https://t.me/DharmaSamrat

५+५=१० ५×५=२५ = १०×५/२=२५

७+७ १४ ७×७=४९=१४×७/२=४९

एवमग्रेऽप्यूह्यं प्रज्ञावद्भिः।

(ग) 'तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे' अस्मिन् मन्त्रे अन्तिमा सङ्ख्या 'त्रयस्त्रिंशत् च मे' इति अस्या वर्गसूत्रम्।

३३ अस्यां 'तिस्रश्च मे' व्यवकलयेत् = ३०

३३ ,, ,, सङ्कलयेत् ३६

तयोर्गुणने ३०×३६= १०८०

इत्यत्र व्यवकलितायाः सङ्कलितायाः त्रिसङ्ख्याया वर्गं (९) योजयित्वा १०८९ वर्गः सम्पन्नः। एवमेव सर्वत्र योजनीयं पञ्चादीनामपि।

(घ) ८१ गावः कस्यचिद् गोपस्य सन्ति। यत्सङ्ख्याका गावस्तत्सङ्ख्या-प्रस्थमितं सा प्रत्येका दुग्धं ददाति। नव च तस्य गोपस्य पुत्राः। वानप्रस्थकाले केन विधिना विभज्येत गाः? येन गोसङ्ख्या दुग्धमापश्च समानत्वेन भवेत्।

यथा— योग गुणा

३+३=६ ३×३=९=६×३/२=९

५+५=१० ५×५=२५=१०×५/२=२५

७+७=१४ ७×७=४९=१४×७/२=४९

इसी प्रकार ९, ११ आदि में समझिये। इसी प्रकार किन्हीं सङ्ख्याओं का मनन करके वर्ग भी बनाया जा सकता है।

(ग) इसका नियम है—सरल करने के लिये इकाई को उसी सङ्ख्या में एक बार जोड़ें और एक बार घटायें, फिर दोनों का आपस में गुणा करें। जो सङ्ख्या इकाई एक सङ्ख्या से निकाल दूसरी में जोड़ी थी, उसी इकाई का वर्ग उन दोनों सङ्ख्याओं के वर्ग में जोड़ दें।

जैसे—३३×३३=३०×३६=१०८०+(३) २=१०८९ वर्ग।

(घ) हमने मन्त्र १ के मननविस्तार (ग) में वर्ग का उदाहरण दिया है। उसी की छाया में कुछ फेर के साथ एक अन्य प्रश्न का भी समाधान किया है।

प्रश्न—८१ गौवें किसी गोप के थीं। जब वह संन्यास लेने लगा तो वह

प्रत्येकपुत्रः दुग्धमात्रां समानत्वेन प्राप्नुयात्।

८१×८२/२×९ = ३६९ प्रस्थमितं दुग्धम्।

चित्रम्, नव पुत्राः

पुत्राः—	१	२	३	४	५	६	७	८	९
	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१०
	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	१९	२०
	३१	३२	३३	३४	३५	३६	२८	२९	३०
	४१	४२	४३	४४	४५	३७	३८	३९	४०
	५१	५२	५३	५४	४६	४७	४८	४९	५०
	६१	६२	६३	५५	५६	५७	५८	५९	६०
	७१	७२	६४	६५	६६	६७	६८	६९	७०
	८१	७३	७४	७५	७६	७७	७८	७९	८०
योगः—	३६९	३६९	३६९	३६९	३६९	३६९	३६९	३६९	३६९

एवं प्रतिपुत्राय दुग्धपरिमाणं गवां च विभाजनसङ्ख्या निर्दिष्टा चक्रे।

अपने ९ पुत्रों में ८१ अर्थात् पुत्रसङ्ख्या के वर्गसङ्ख्या की गौवें बांटने लगा। जितनी सङ्ख्या की गौ थीं, वह उतने ही प्रस्थ दूध देती थीं, बताइये किस प्रकार

https://t.me/DharmaSamrat

विभाजन किया जावे कि गाय और दूध बराबर मिले ?

हमने यहां उसी सूत्र को जो क्रमिक सङ्ख्याओं के योग में दिया है, अपनाया है, पुनः ९ से विभाजित किया। यथा—

८१×४१=कुल दूधप्रस्थ÷९

इस प्रकार ८१×४१=३३२१ प्रस्थ दूध

प्रत्येक को ३३२१/९=३६९ प्रस्थ मिलेगा तथा गायें भी अमुक—

पुत्र—	१	२	३	४	५	६	७	८	९
	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१०
	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	१९	२०
	३१	३२	३३	३४	३५	३६	२८	२९	३०
	४१	४२	४३	४४	४५	३७	३८	३९	४०
	५१	५२	५३	५४	४६	४७	४८	४९	५०
	६१	६२	६३	५५	५६	५७	५८	५९	६०
	७१	७२	६४	६५	६६	६७	६८	६९	७०
	८१	७३	७४	७५	७६	७७	७८	७९	८०
योग—	३६९	३६९	३६९	३६९	३६९	३६९	३६९	३६९	३६९

=३३२१

अत्र पुत्रसङ्ख्याङ्कवर्गसङ्ख्याका गोकक्षाः कृताः। तदनु क्रमशो गोसङ्ख्याङ्का विनिवेशिता वामतो दक्षिणं हस्तं प्रति। अन्तिमसङ्ख्याया अनन्तरमुपरिष्टान्नीचै रक्षेत्। अन्तिमकक्षातो विनिवृत्य पूर्ववच्चलेत्। एवं द्वित्रादिसङ्ख्यानां वर्गसङ्ख्याकानां गवां तत्सङ्ख्याकप्रस्थमितस्य दुग्धस्य गवां च सम्यक् सरलतया विभाजनं सिद्धं भवति।

अन्योऽपि विभाजननियमो वर्तते सोऽप्यूह्यः।

इस प्रकार यहां प्रति पुत्र के लिए दूध का परिमाण और किस सङ्ख्या की गौ किसे दी गयी, चक्र में प्रदर्शित है। यहां पर पुत्रों की सङ्ख्या के वर्ग-सङ्ख्यावाली गौवें और उनकी उतनी ही कक्षाएं (कोटरियां) बनाईं। उसके बाद गायों की सङ्ख्या के अङ्क कक्षाओं (खानों) में बायें से दाहिनी ओर को रखते गये। अन्तिम कक्षा में नीचे उतरने व अङ्क लिखने पर यदि आगे कोई खाना नहीं है तो उस पंक्ति में प्रारम्भ से अङ्क भरने लगिये, पुनः यही विधि अपनायें। इस प्रकार दो, तीन, चार आदि सङ्ख्याओं की वर्गसङ्ख्यावाली गौओं का तथा अपनी सङ्ख्या के तोल का दूध का वितरण सरलता से हो जायेगा, जो कि क्रमशः १, २, ३, ४ चित्रों में दिखाया है।

२ का (१ चित्र)

१	२
४	३

५ ५

३ का (२ चित्र)

१	२	३
५	६	४
९	७	८

१५ १५ १५

४ का (३ चित्र)

१	२	३	४
६	७	८	५
११	१२	९	१०
१६	१३	१४	१५

३४ ३४ ३४ ३४

https://t.me/DharmaCommat

अन्योऽपि विभाजनविधिर्विषमसंख्याश्रितो विकल्पयोर्द्वयोरन्यतरस्वीकृत्यै

५ का (४ चित्र)

१	२	३	४	५
७	८	९	१०	६
१३	१४	१५	११	१२
१९	२०	१६	१७	१८
२५	२१	२२	२३	२४
६५	६५	६५	६५	६५

६ का (५ चित्र)

१	२	३	४	५	६
८	९	१०	११	१२	७
१५	१६	१७	१८	१३	१४
२२	२३	२४	१९	२०	२१
२९	३०	२५	२६	२७	२८
३६	३१	३२	३३	३४	३५
१११	१११	१११	१११	१११	१११

अन्य नियम भी विभाजन का है, उसका स्वयम् ऊहन कीजिये।

विषम संख्याओं पर आश्रित विभाजन-विधि दोनों (आगे दिये) विकल्पों

उपरिष्टाद् नीचैः (वर्टिकल=स्तम्भ) योजने वामतो दक्षिणे पंक्ति (होरिजोण्टल) योजने च प्रस्तूयते।

पञ्चपुत्रेभ्यः पञ्चविंशतिगवां तद्दुग्धपरिमाणस्याऽपि समविभाजने समाधानम्—

गावः २५, पुत्राः पञ्च, दुग्धपरिमाऽणं समम्, तत्र किंसंख्याका गावो दीयेरन् कियच्च दुग्धमिति प्रश्नः।

समाधन-चक्रम्

१७	२४	१	८	१५	=६५
२३	५	७	१४	१६	=६५
४	६	१३	२०	२२	=६५
१०	१२	१९	२१	३	=६५
११	१८	२५	२	९	=६५
६५	६५	६५	६५	६५	

में से किसी एक के ग्रहण करने में ऊपर से नीचे को (Vertical=स्तम्भविधि) जोड़ने, दूसरे बायें से दाहिनी ओर (Horizontal=पंक्ति) जोड़ने में प्रस्तुत की जा रही है। इसमें से गायों, कक्षों और दूध-परिमाण के बांटने में चाहे तो लड़के ऊपर से नीचे जोड़कर पसन्द करें या बायें से दायें जोड़कर पसन्द करें, गायें तो बराबर गिनती में मिलेंगी, पर उन गायों की नामाङ्कसंख्या बदल जायेगी, तथापि दूध बराबर मिलेगा।

https://t.me/DharmaSamrat

जैसे—२५ गायों को ५ पुत्रों में बांटना है। इस प्रकार बांटो कि चाहे किसी भी संख्यावाली गाय मिले, पर गायों की, घरों की गिनती बराबर तथा दूध भी नाप में बराबर मिले। जब कि जिस संख्या की गाय है, वह उतने ही सेर या किलो दूध देती है।

१७	२४	१	८	१५	= ६५
२३	५	७	१४	१६	= ६५
४	६	१३	२०	२२	= ६५
१०	१२	१९	२१	३	= ६५
११	१८	२५	२	९	= ६५
६५	६५	६५	६५	६५	

विशेष—इस गणित में विशेषरूपेण श्रेय श्री पं० रामप्रसादमिश्र बरेली, जिनका शुद्धि-आन्दोलन ही प्राण है, उनका तथा मेरे कनिष्ठ पुत्र चि० वेदव्रत मिश्र 'एम. टेक्' इंजीनियर का विशेष सहयोग रहा।

उक्त प्रक्रिया से पांचों पुत्र या तो बायें से दायें अथवा ऊपर से नीचे कोठरी संख्या तथा उसी संख्या की गाय ले ले—दूध, कोठरी, तथा गायें बराबर ही मिलेंगी।

मन्त्राधारे गणितोहनम्

द्वित्रिभाज्यां चतुःपञ्चषड्भाज्यां सप्तभिस्तथा।
एकादशत्रयोदशभाज्यां संख्यां वदाशु मे ॥१॥
ऐक्यं शून्यं समा संख्या, अङ्कयोगस्त्रिभाजितः।
ऐक्ये वा दशकं शून्यं चतुर्भाज्या तदा भवेत् ॥२॥
द्वितीयमन्त्रमुक्तानां संख्यानां त्रिकं द्विशः।
धृत्वा सप्तादिभिर्भागं गणितज्ञः समाचरेत् ॥३॥
(इमे मम श्लोकाः)

(१) द्विभाज्या संख्या—यत्र इकाई-स्थाने शून्यं समसंख्या वा भवेत्।
उदाहरणम् - १०, २० अथवा १२, १४ इत्यादि।

(२) त्रिभाज्या—अङ्कानां योगस्त्रिभाजितो भवेद् यदि।
उदाहरणम् — १२४६७१५६९७—योगः=४८÷३=१६
(श्री पं० रामप्रसादमिश्र-बरेली-द्वारा बोधितम्)

(३) चतुर्भाज्या—इकाई-दहाई-स्थाने शून्यमथवा चतुर्भाज्या संख्या तथा दशकेनैका भवेत्।
उदाहरणम्—९५७९९६७४८ इत्यादि।

(४) पञ्चभाज्या—एकस्थाने शून्यं पञ्च वा।

मन्त्र के आधार पर गणितविषय का ऊहन—

२, ३, ४, ५, ६, ७, ११, १३, से विभाज्य संख्याएं बताएं ?

(१) दो से विभाज्य संख्या—जहां इकाई के स्थान में शून्य हो वा सम संख्या हो।

जैसे—१०, २० अथवा १२, १४ आदि।

(२) तीन से विभाज्य संख्या—जहां अंकों का योग ३ से बट जावे।

यथा—१, २, ४, ६, ७, १, ५, ६, ९, ७ इनका योग ४८ तीन से बट जायेगा। अतः १ २ ४ ६ ७ १ ५ ६ ९ ७ संख्या तीन से विभाज्य है।

४ १ ५ ५ ७ १ ८ ९ ९ इनका योग ४९ है, जो कि ३ से नहीं कटेगा, अतः यह संख्या तीन से विभाज्य नहीं है।

(३) चार से विभाज्य—इकाई-दहाइ के स्थान पर शून्य अथवा इकाई-दहाई से बनी संख्या ४ से विभाज्य हो,

https://t.me/DharmaSamrat

(५) षड्भाज्या—द्वाभ्यां त्रिभिश्च भाज्या संख्या।

(६) अष्टभाज्या—एक-दश-शतस्थाने चतुर्भाज्यनियमः।

(७) षोडशभाज्या—एक-दश-शत-सहस्रस्थाने चतुर्भाज्यनियमः।

(आ) द्वितीयमन्त्रमुक्तसंख्यानां त्रिकं (शतं यावत्) वारद्वयं रक्षेत् तदा ७, ११, १३ आभिर्विभजेत्।

यथा—'चतस्रश्च मे'—अस्याः पूर्वं मुक्ताः संख्या या न्यस्यते सैवात्र शिष्यते, 'अष्ट च मे' इति पूर्वं मुक्ताः संख्याः।

(क) ७) १२३१२३
११) १७५८९
१३) १५९९
१२३

(ख) ७) ५६७५६७
११) ८१०८१
१३) ७३७१
५६७

(ग) ७) ९१०९१०
११) १३ १३०
१३) ११८३०
९१०

तिस्रश्च मे + चतस्रश्च मे ७
तिस्रश्च मे + अष्टौ च मे = ११
पञ्च च मे + अष्टौ च मे = १३

(४-६) इसी प्रकार ५, ६, ८ से बटने योग्य संख्या समझ लेनी चाहिये!

(७) १६ से विभाज्य—इकाई-दहाई-सैकड़ा-हजार के अङ्कों में ४ से विभाज्य नियम लगेगा।

(आ) दूसरे 'चतस्रश्च मे' इस मन्त्र से मुक्त संख्याओं के त्रिक (तिकड़े) को तीन-तीन स्थान तक शतपर्यन्त अर्थात् इकाई, दहाई, सैकड़ा तक रखे, दूसरी बार पुनः उसी क्रम में रखले। तब ७, ११, १३ से बंटती चली जायेगी।

यथा—'चतस्रश्च मे'—इससे पूर्व मुक्त संख्या रखे, तब ७, ११, १३ से विभाजित करने पर वही (आदिम) 'अष्ट च मे' से पूर्व छूटी संख्या अवशिष्ट रह जायेगी।

(क) ७) १२३१३
११) १७५८९
१३) १५९९
१२३

(ख) ७) ५६७५६७
११) ८१०८१
१३) ७३७१
५६७

अथवा कस्या अपि संख्यायास्त्रिकं द्विशो रक्षित्वा ७, ११, १३ एभिर्विभजेत्।

इदं निखिलं गणितमूहावद्भिः प्रखरप्रज्ञैर्विज्ञैरधिगन्तव्यम्।

महामते! एवमपि बोधनीयमिहासीद् भवता—यदि भवन्मते नैवंविधा मन्त्रा गणितविद्याया मूलं तदेयं विद्या कुतः प्रादुर्भूता? त्रपाकरमतितरामेतद् यद् वैदेशिका अपि यदा वेदं सर्वविद्यामूलं मन्वते, तदाऽयं तदभावं मनुते। श्रीमती ह्वीलरमहोदया यथाह आङ्गलभाषायाम्—तदनुवाद एषः—'वयमश्रौष्म अपाठिष्म च भारतस्य प्राचीनधर्मविषये। एतद् महतां वेदानां भूमिः। पूर्णजीवनाय न केवलं धार्मिकोत्कृष्टविचारा एव वसन्ति, प्रत्युत सर्वतथ्यानि, यानि विज्ञानं परीक्ष्य सत्यं सिद्धं व्यधात्। यथा—विद्युच्छक्तिर्विद्युद्विस्फुलिङ्गी (रेडियम) अतिसूक्ष्मपरमाणवो (इलेक्ट्रांस) वायुयानानि सर्वाणि वेदवन्त ऋषयोऽजानन्।'

पृ० १३१३, पं० ११-१२—"दयानन्दवचनं न किञ्चित्, एका चेत्यनेन

'द्वादश च मे' से पूर्व छूटी

७) ९१०९१०
११) १३०१३०
१३) ११८३०
९१०

यह निखिल गणित प्रज्ञावान् जान लेते हैं।

महामते! आप यह भी तो बताइये कि यदि वेद के ऐसे मन्त्रों में गणितविद्या का जड़-मूल ही नहीं है, और वेद सृष्टि का आदि ईश्वरीय ज्ञान है, तो फिर गणितविद्या कहां से आई? सृष्टि का नियम है कि बीज होने पर वृक्षादि हो सकते हैं। यह तो श्री करपात्र का अत्यन्त त्रपाकर कथन है कि गणितविद्या वैदेशिकों की उपज्ञा (उपज) है। जबकि ह्वीलर आदि पाश्चात्य वैज्ञानिकों का कहना है कि 'हमने पढ़ा है और सुना है भारत के प्राचीन धर्म के विषय में कि यह महान् वेदों की भूमि है। इनमें पूर्ण जीवन के धार्मिक उत्कृष्ट विचार ही केवल नहीं है; प्रत्युत सब तथ्य भी हैं, जो परीक्षण करके विज्ञान ने सत्य सिद्ध किये हैं। जैसे—विद्युत्शक्ति, विद्युत्-विस्फुलिङ्गी (रेडियम), अतिसूक्ष्म परमाणु (इलेक्ट्रांस) इन सब को वेदवाले ऋषि जानते थे।'

पृ० १३१३, पं० ११-१२—यह आप कहते हैं कि "दयानन्द का कथन

https://t.me/DharmaSansar

अ+क इति संकेतो विधीयत इत्यत्र मानाऽभावात्।" इत्यपि पारिजातकृतोऽज्ञानम्, निश्चितेषु संख्यातपदार्थेष्वेव लोके अङ्कसंख्याप्रवर्तनात्, अज्ञातसंख्येषु च बीजसङ्ख्यानाम् अ+कादीनां प्रयोगात्। तद्बीजगणितमपि 'एका च' इति अनेन विधीयते। यथा कल्प्यते काऽपि अज्ञाता सङ्ख्या 'क' अथवा एकाऽपि चेति एवम्। अ¹—क¹ इत्यादिसंकेतेनाऽपि अर्थाद् इतिसंकेतात्मकमपि बीजगणितं निर्दिष्टम्। अ आदिर्येषां तेभ्योऽपि मन्त्रेभ्यो निःसरति एका चेति, अत्र विराम-निर्देशः सार्थकः।

पृ० १३१३—यच्चाह—"एका चेत्यनेन अ+क इति सङ्केतो विधीयत इत्यत्र मानाभावात्।" तदपि न किञ्चित्, वस्तुतत्त्वमननाऽभावात्। खण्डनेऽनेन छलमाश्रितम्—"तदपि विधानम्, 'एका चेति' (मन्त्रे)। अ¹—क¹ इत्यादिसंकेतेनैतन्मन्त्रादिभ्यो बीजगणितं सिध्यतीत्यवधेयम्" इति शब्दावलीं विहाय रेखाङ्कितं विपरिवर्तितम्। ऋषेरभिप्राय एष यन्मन्त्रेभ्यो बीजगणितं निःसरति, तद् (अ¹+क¹), (अ²-क¹), (अ¹÷क¹) इत्यादिसंकेतरूपेण निःसरति। तदेवं वेदेभ्य एव ऋषिभिर्निःसारितम्।

यश्च हेतुः पूर्वमुक्तः—'नानयोः कण्डिकयोरयमर्थः, मन्त्रे संयोगगुणनादिशब्दाऽभावात्' इति (पृ० १३१५) असौ हेतुः किं भवदुक्तौ न घटिष्यते? यदाह

निःसार है। 'एका च' इस मन्त्र से (अ+क) यह संकेत बताया है, इस भूमिका के कथन में कोई प्रमाण नहीं है।" पारिजातकर्ता का यह कथन भी अज्ञानमय है; क्योंकि निश्चितसंख्यात पदार्थों में ही लोक में अङ्कसंख्या का व्यवहार देखा जाता है, तथा जिन संख्याओं का परिज्ञान नहीं है, उनको गणित के माध्यम से जानने के लिये बीजसंख्या, जैसे अ, क आदि का प्रयोग करते हैं। उस बीजगणित की कल्पना भी 'एका च' आदि मन्त्रों के आधार पर ही की गयी थी। जैसे कल्पना करते हैं कि वह अज्ञात संख्या मान लो 'क' है अथवा वह 'क' एकासंख्या के बराबर है। अ¹-क¹ इत्यादि संकेत से भी अथवा सामवेदमन्त्रों में जो उच्चारणार्थ संकेतरूप है, उनसे भी यह बीजगणित का निर्देश निकला है।

श्री करपात्र का यह कथन भी अज्ञान है कि 'अ+क' यह संकेत 'एका च' मन्त्र से नहीं हो सकता। आप में सब से बड़ा दूषण यह है कि आप ऋषि की शब्दावली को उलटकर छल से अन्यार्थ ध्वनित करने का प्रयास करते हैं। यथा—ऋषि की शब्दावली है "तदपि विधानं 'एका च' इति मन्त्रे"। (अ¹+क¹), (अ¹—क¹), (अ¹÷क¹) आदि ऋषियों ने वेदमन्त्रों से ही निकाला है। अतः सब गणित वेद से आविष्कृत हुआ है।

आपने अभी कहा है कि 'संयोगादि शब्दों के न होने से गणित नहीं निकल सकता' तो क्या यह प्रतिबन्ध आपके निकालने पर लागू नहीं है? जैसा

—"वेदत्रयी षड् दर्शनानीति नव वा। ततो दश प्राणास्तदाधारभूता सुषुम्ना चैका —इत्येकादश।...—प्रकृतिसहितैषा त्रयोविंशतिः क्षेत्रज्ञश्चेति पञ्चविंशतिः।" इति भवल्लेखे मन्त्रे संयोगादिशब्दाऽभावे कथं नव योगो जातः? कथं वा चकारेण योगार्थो गृहीतः? कुतो वा प्रकृतिसहिता (युक्ता) क्षेत्रज्ञं योजयित्वा पञ्चविंशतिः? स्वावसरे तवार्थे योजनयोजना कुत आयाता? महोदय! प्रगाढ-पक्षपातप्रलेपावलिप्तमतित्वान्न भवान् सत्यतत्त्वमवेक्षते।

'यथा वाजादयः पदार्था यज्ञेन यजमानं प्राप्नुवन्ति तथैव एकादिसंख्या अपि।' यन्महीधरमुद्धृतं तत्त्वनुकृतिमात्रम्।

पृ० १३१४, अनु० २—"'अग्न' 'आयाहि'०' इत्यादिस्वरसंकेताङ्कैर्बीजगणितं दयानन्देन साधितम्, तदपि न किञ्चित्"।

इत्यपि अस्य अनूहप्रज्ञायाः फलितम्। न ह्येतत्प्रतिज्ञामात्रम्, स्वरसङ्केतनाङ्कैरिति हेतुत्वात् तदेवं विमर्शनीयम्। यथा सामवेदस्वरो वर्णोपरिनिर्दिष्टद्वित्र्यादिसङ्केतेन उच्चारणकालस्य गुणितमवबोधयन्ति, तथा कादिष्वपि तत्तत्संख्यानां गुणित (वर्ग) मवगमयन्ति।

अनुर्वरधिषणा इमेऽधिक्षपन्ति यत् "एतस्य चातुर्यं दृष्ट्वा गणितज्ञास्तूप-

---

कि आप पृ० १३१५ अनु० १ में 'तीन वेद और छः दर्शन ये नौ हुए। फिर १० प्राण और उसकी आधारभूता सुषुम्णा एक, इस प्रकार ११, ये २३ तत्त्व प्रकृति और पुरुष को मिलाकर २५ हैं।' इत्यादि संयोग शब्द के न होने में आप मन्त्र की व्याख्या में कैसे जोड़ते चले जा रहे हैं? आपको ध्यान ही नहीं रहा कि इस प्रकार अज्ञानरूप में ही निग्रहस्थान में स्वयं आ गये? यहां 'च' से फिर योगार्थ भी स्वयं कैसे ले लिया? स्वयं तो नवार्थ में योजन (जोड़) की योजना मान लेते हैं। सत्य है आप प्रगाढ-पक्षपात-पङ्क के प्रलेप से अवलिप्तमति होने के कारण सत्यतत्त्व का चिन्तन नहीं कर पाते हैं। शेष महीधर का अनुकरण है।

पृ० १३१४, अनु० २—"'अग्न³ 'आयाहि¹' इत्यादि संकेत से दयानन्द ने बीजगणित सिद्ध किया है, यह भी ठीक नहीं।"

उत्तर—श्रीमन्! यह कथन तो आप की प्रतिभा का दिवालियापन है। ऋषि का स्पष्ट निर्देश है कि स्वरों के संकेत (१, २, ३) के अङ्कों से यह सिद्ध है। जैसे—वर्णों पर निर्दिष्ट २, ३ आदि संकेतों से सामवेद के स्वर उच्चारण-काल के गुणन का बोधन करते हैं, उसी प्रकार 'क' आदि पर भी उन-उन संख्याओं का गुणित अर्थात् वर्ग प्रकट करते हैं।

इस पर अनुर्वर-मस्तिष्क कहता है कि "इनके (दयानन्द के) चातुर्य को

https://t.me/DharmaSomat

हसन्त्येव"। के नाम देवानां प्रिया गणितज्ञास्ते, ये उपहसन्ति ? वस्तुतस्त एव उपहासपात्राणि सन्ति। येनैतेषां विकटकपटकपाटविजडितदुरूहरूढिभारस्खलितमतीनां प्रखरमौर्ख्यमनुमायोपहसन्ति, प्रत्युत नवनवोन्मेषशालिप्रतिभाविभूषितशेमुषीणां चातुर्यप्राचुर्यं प्रभाल्योपहसन्तीत्येवमेतदुपन्यास एव उपहासस्यास्पदम्। एतयोर्दर्शितोऽर्थस्तु संख्याधारे पदार्थादिगणनाऽनेन कृता, न कश्चित्प्रज्ञोन्मेषः।

सत्यमेतद् यद् भवादृशाल्पज्ञजनम् अज्ञानपारावारे निमज्जन्तं परं पारं प्रापयितुं परिव्राजकवर्यस्य भवत्प्रतारणे पाटवमेव। अथ प्रतारणं वञ्चनमभिमतं चेत्ते, किन्नैष सर्वविद्यानिधानस्य वेदस्य गणितादिविद्याममन्वानस्य धमतरोः कुबुद्धिकुठारच्छेदप्रयासः ? कश्चिद् वेदे शिल्पविद्याया अपि बीजमन्विष्यात्तदा कथं भवदुदरे पीडा ? परमप्रमाणभूतं मन्त्रमपि प्रमाणाभावकथने न त्रपामनुभवति इत्याश्चर्यम्।

पृ० १३१८, अनु० ४—भवादृशस्तु निम्नश्लोकप्रस्तुतदृश्यलुब्धा गणितस्य

देखकर गणित के विद्वान् उपहास ही करते हैं।" बताइये, वे कौन से देवानांप्रिय गणितज्ञ हैं, जो उपहास करते हैं ? जो कि इन विकट-कपट-कपाटों में जुड़े हुए दुरूह रूढि के भार से नष्टबुद्धियों की इस प्रखर जड़ता का अनुमान करके उपहास नहीं करते। पर नव-नव कल्पना से विभूषित प्रतिभा से सम्पन्नों की प्रचुर चतुरता को देखकर उपहास करते हैं ? वस्तुतः आपका यह लिखना ही उपहास के योग्य है। इन कण्डिकाओं का आपने जो अर्थ दिखाया है, वह तो पदार्थों की गणनामात्र है, कोई नवीन प्रतिभा का उन्मेष इसमें है ही नहीं।

जैसे आप कहते हैं कि ऋषि दयानन्द ने इस तरह प्रतारणा की है। यह सच भी है कि आप सदृश अल्पज्ञजन जो कि अज्ञान के महासागर में डूब रहे थे, उन्हें उस पार पहुंचाने में परिव्राजकवर्य ने आपके प्रतारण में पाटव ही किया है। यदि आपका प्रतारण से अर्थवञ्चन करना इष्ट है, तो हम आप से पूछना चाहते हैं कि क्या सर्वविद्याओं के खजाने वेद में गणित आदि विद्याओं के बीज तक को न मानते हुए आपने धमवृक्ष को अपनी कुबुद्धि के कुठार से काटने का यह प्रयास नहीं किया है ? स्पष्टरूप से गणित में परम प्रमाणभूत इस मन्त्र को प्रमाणाऽभाव कहने में आप लज्जा का भी अनुभव नहीं करते, यह आश्चर्य ही है।

पृ० १३१८, अनु० ४—आपका यह कहना कि "इन दोनों मन्त्रों का गणित से थोड़ा-सा भी सम्बन्ध नहीं है" कैसा सफेद झूठ है ? जबकि यहां सीधा ही गणना

में दूरतोऽपि सम्बन्धमनुमातुं समर्थाः। यथाऽऽह लीलावत्याम्—

"चक्रक्रौञ्चाकुलितसलिले क्वापि दृष्टं तडागे,
तोयादूर्ध्वं कमलकलिकाग्रं वितस्तिप्रमाणम्।
मन्दं मन्दं कलितमनिलेनाहतं हस्तयुग्मे,
तस्मिन् मग्नं जलमिति मियाद्धस्तपात्रोऽल्पधीः कः॥"

पृ० १३१८, पं० १९ तः—"पूर्वं तु प्रमाशब्दस्य बुद्धिरर्थ उक्तः, उत्तरे तु परमात्मा प्रमा यथार्थतया ज्ञाता, प्रतिमा परिमाणकर्ता इत्यर्थः कृतः। परिधिश्च पृष्ठावरणमुक्तम्। तत्कथं व्यापकं भवति ? वेद्यां क्रियमाणो ज्योतिष्टोमादिश्चेत् कथं स मध्ये व्यासाख्यो मध्यरेखाख्यो भवति ? भूगोलस्य ब्रह्माण्डगोलस्य वा स कथं नाभिः ? सर्वथापि पदवाक्यप्रमाणबहिर्भूतो गणितज्ञानामुपहासास्पदमेवाऽस्य भाष्यमिति विद्वांसो विचारयन्तु।" इति।

श्रीमन् ! व्युत्पन्नधिया व्युत्पत्तिमनुसृत्य एकस्य शब्दस्य यथाप्रकरणमनेकार्था ऊहितुं शक्यन्ते भवन्त्यपि च। प्रमीयते इति वा प्रमा ज्ञाता, पर-

---

आदि का उपदेश दिया है। तो आप जैसे निम्न श्लोक के प्रस्तुत दृश्य में तो गणित का दूर से भी सम्बन्ध न मानें, जब कि 'लीलावती' के ऊपर उद्धृत श्लोक में गणित-प्रश्न है।

पृ० १३१८, पं० १९—आक्षेप—"इयं वेदिः परोऽअन्तः पृथिव्याः' (यजु० २२।६२) तथा 'कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानम्०' (ऋ० १०।१३०।३) इन दोनों मन्त्रों का दयानन्द के किये अर्थों से कोई सम्बन्ध नहीं। अबोध व्यक्तियों को ठगने का यह अनोखा तरीका है। पहले प्रमा-शब्द का अर्थ बुद्धि किया था और अब यहां परमात्मा प्रमा अर्थात् यथार्थतया ज्ञाता, प्रतिमा परिमाणकर्त्ता, यह अर्थ किया है। परिधि का अर्थ पृष्ठावरण किया है। यह व्यापक कैसे हो सकती है ? चारों तरफ सूत्र से परिवेष्टित वेदि को परिधि कैसे कह सकते हैं ? वेदि में क्रियमाण ज्योतिष्टोम आदि यह है, तो वह मध्य में व्यास अर्थात् मध्यरेखावाला कैसे हो सकता है ? यह भूगोल अथवा ब्रह्माण्डगोल का नाभि कैसे होगा ? दयानन्द का यह भाष्य, पद, वाक्य और प्रमाण से बहिर्भूत है और गणितज्ञों की दृष्टि से सर्वथा उपहासास्पद है। इस पर विद्वद्गण स्वयं विचार करें।"

समाधान—श्रीमन् ! यह स्थल विद्वद्वेद्य है कि व्युत्पत्ति का अनुसरण करने पर एक शब्द के अनेकार्थ ऊहित किये जाते हैं, इसलिए कोषों में भी एक शब्द के अनेकार्थ दर्शाये गये हैं, तथा प्रकरणानुसार जो उस शब्द का ग्राह्य अर्थ होगा, उसी का ग्रहण किया जायेगा। जो मापनकर्ता अथवा जिससे मापन किया जावे,

https://t.me/DharmaSamrat

मात्मा, प्रमीयतेऽनया सा प्रमा बुद्धिः प्रमितिरपि प्रमा। एवं प्रतिमाति प्रतिमीयते इति वा प्रतिमा। एवमेक एवेश्वरः क्वाऽपि प्रमाता, क्वाऽपि प्रमेयः, अन्यत्रोपलब्धिरितरत्र प्रमितिरिति सम्भवति। अत एव वात्स्यायन (आर्यभा० पृ० ३१७) मुनिरप्याह—"अर्थविशेषत्वे समाख्या समावेशो योज्यः' (न्या० भा०) यथा च - आत्मा तावदुपलब्धिविषयत्वात्प्रमेये परिपठितः, उपलब्धौ स्वातन्त्र्यात् कर्त्ता, बुद्धिरुपलब्धिसाधनत्वात् प्रमाणम्, उपलब्धिविषयत्वात्तु प्रमेयम्, उभयाभावात् परिमितिरिति" इति, तथेहापि बोध्यम्।

परिधिस्तु गोलस्योपरिभागस्य यावता सूत्रेण परिवेष्टनं भवति। महीधरस्तु परिधिं मर्यादां लिखति (यजु० ३५।१५)। तत्पृष्ठावरणं भवत्येव। भवता व्यापककथनम्। वेद्याश्च सूत्रं वेष्टितायाः परिधिरिति वचनम्। अवारोप्यतेऽमूलं तद्धि छल-बल-कलाकलापविलसनं विकटकपटकपाटपरिघटिततार्ण्डवपाटवं वा भवतः।

वेदाधिगतवेदिविविधरचनाविदग्धा अस्माकम् ऋषयस्त्रिकोणवर्तुलाकार-

---

उस प्रमा का अर्थ परमात्मा, बुद्धि, ज्ञान, प्रमाण आदि अर्थ होंगे ही। इसी प्रति-उपसर्ग पूर्वक 'मा' धातु से प्रतिमा शब्द बनता है। इस प्रकार एक ही ईश्वर कहीं पर प्रमाता, कहीं पर प्रमेय और कहीं पर ज्ञानरूप होता है। इसीलिए वात्स्यायन मुनि ने भाष्य में कहा है कि "उपलब्धि का साधन होने से आत्मा प्रमेय, उपलब्धि में स्वतन्त्रतया प्रमाता बुद्धि भी उपलब्धि का साधन होने से प्रमाण, उपलब्धिविषय होने से प्रमेय, दोनों के अभाव होने पर प्रमिति है।" वैसे ही यहां भी उक्तार्थ समझना चाहिये। प्रतिमिमीते इति प्रतिमा अर्थात् परिमाणकर्ता, यह अर्थ भी ठीक है।

परिधि जो किसी वस्तु के पृष्ठ का आवरण (घेरा) करले। महीधर ने यजु० (३५।१५) में परिधि को मर्यादा लिखा है। 'तत्कथं व्यापकं भवति' वह परिधि व्यापक कैसे हो सकती है? यह बात तो ऋषि ने यहां नहीं कही, फिर आप सपना जैसा बड़बड़ा रहे हैं। तथाऽपि आप समझिये कि व्यापक और सर्वव्यापक शब्दों में भी अन्तर है। व्यापका का अर्थ है—जो अधिक स्थान को व्याप्त करे, उसकी अपेक्षा अल्पस्थान को व्याप्त करे, वह व्याप्य है। चारों तरफ सूत्र से वेष्टित वेदि को परिधि लिखना तो इस लेखक की खुराफाती मति की उपज समझनी चाहिये। ऋषि ने यहां यह शब्दावली नहीं लिखी। वहां पृथिवी के चारों ओर के घेरे को परिधि लिखा है। आपका यह लेख छल-बल-कलाकलाप का विलास तथा विकट कपट के कपाट से परिघटित ताण्डव के चातुर्य का द्वार है।

निःसन्देह हमारे ऋषि वेदों से प्राप्त वेदि की विविध रचना में विदग्ध थे,

प्रकारा वेदीरकल्पयन्। तत्र वर्त्तुलरेखासमीकृतसूत्रवेष्टनप्रमाणं हि परिधिः कथ्यते। पृथिव्याः परोऽन्तो हि द्विधा। एकश्च एकस्थानात्परितः सरलरेखया सूत्रपरिवेष्टनवत् तत्स्थानपर्यन्तागमने सा दूरी लम्बता वा परिधिर्भवति। द्वितीयः तत्स्थानादुपरिष्टाद् नीचैस्तलं यावद् दूरी लम्बता वा व्यासः कथ्यते। यश्चायं व्यास एवं सङ्गमनीयो विज्ञैः। एवं परिभाषितस्य परिधेर्व्यासस्य च प्रमाणम्। यथा—वृत्तक्षेत्रे करण-सूत्रम्—

"व्यासे भनन्दाग्नि (३९२७) हते विभक्ते,
खबाणसूर्यैः (१२५०) परिधिः स सूक्ष्मः।
द्वाविंशतिघ्ने (२२) विहृतेऽथ शैलैः (७)
स्थूलोऽथवा स्याद् व्यवहारयोग्यः॥"
(१९२ पृष्ठे लीलावत्याम्)

विदुषां सङ्गमेऽयं गणिताविष्करणरूपो ज्ञानयज्ञः, सः सङ्गमनीयः, मिलित्वा सम्पादनीय इत्यर्थः। रेखागणितेऽयं सङ्गतो यज्ञो व्यासबोधं कारयति।

बन्धनार्थक-णह्-धातोर्नह्यतेऽरा यत्र, हिंसार्थकाद् वा णभ्धातोर्नभ्यते ऽक्षेण नभ्यतेऽनया अस्यां वा नाभयतीति वा ह्रस्य भश्चेति, इत्रि कृते वा 'इञ्जा-

---

उन्होंने त्रिकोण, वर्त्तुल आदि आकार की वेदियों की कल्पना की थी। यहां वर्त्तुलरेखा के समान सूत्र से परिवेष्टन 'परिधि' कहाता है। पृथिवी का पर अन्त दो प्रकार से है। एक—एक स्थान से प्रारम्भ कर चारों ओर सरल रेखा से सूत्र-परिवेष्टन के समान उसी स्थान पर्यन्त आना, जिसे दूरी, लम्बाई या परिधि कहते हैं।

दूसरा अन्त ऊपर से नीचे तल तक दूरी या लम्बाई को 'व्यास' कहते हैं। यह परिधि और व्यास का ज्ञान विज्ञ पुरुषों को इस रूप में संगमनीय है। इस प्रकार परिभाषित परिधि और व्यास का प्रमाण ज्योतिष व गणित-ग्रन्थों में देखिए। जैसे—वृत्तक्षेत्रकरणसूत्र है—

"कल्पना किये हुये वृत्तक्षेत्र के व्यास को ३९२७ से गुणा कर, १२५० का भाग देने पर प्राप्त को परिधि का सूक्ष्म प्रमाण जाने और उसी कल्पित व्यास को २२ से गुणा कर ७ का भाग देने पर जो प्राप्त हो, उसे परिधि का स्थूल प्रमाण जाने, जो प्रायः व्यवहारयोग्य है।" विद्वानों के संग में यह गणित का आविष्करण-रूप-यज्ञ सङ्गमनीय अर्थात् सम्पादनीय है। यह उक्त यज्ञ आविष्कारार्थ रेखागणित में सारे भुवन, भूगोल या ब्रह्माण्ड की 'व्यास' नाम की मध्यरेखा नाभि के समान है। वैसे पृथिव्यादि के गुरुत्वाकर्षण आदि सिद्धान्तों से पृथिवीस्थ सारे जड़-जङ्गम

https://t.me/DharmaSamrat

दिभ्यः' (वा० ३।३।१०८) इत्यनेन नाभिरिति सिध्यति। सोऽयं वेद्यामनुष्ठितो यज्ञे भूगोलस्य ब्रह्माण्डस्य च नाभिस्थानीयः।

यथा—कश्चित्सभां गतं पृच्छेत् यदेतस्याः पृथिव्या अन्तः (छोर) कुत्राऽस्ति, केन्द्रस्थानं च किम्? तदपि एवं समाधातुमर्हति। इयं हि यज्ञवेदिरन्तः, अयञ्च यज्ञो नाभिः = केन्द्रस्थानम्। यथा नाभौ सिञ्चितं तैलं सर्वशरीरसेचकं तथा यज्ञाहुतपदार्थाः सर्वभूलोकस्य ब्रह्माण्डस्य च सेचनं यथाहुतद्रव्यपरिमाणं कर्तुमर्हन्ति। अथवाऽयं व्यासो हि नाभिः केन्द्रस्थानमस्ति।

यश्चोद्धृतोऽर्थः तत्त्वनुकृतिमात्रं सायणमहीधरादीनाम्। नाऽसौ मया समालोच्यः समालोचनापरिधेर्बाह्यत्वात्, कल्पद्रुमकलेवरस्थौल्यभीतेश्च।

काऽऽसीत्प्रमा वा प्रतिमा निदानम्,
किञ्चाज्यमासीत्परिधिश्च को वा।
स्वच्छन्दमासीत् किमु वस्तु लोके?
स्तोतव्यमासीद् वद किं न विज्ञैः?
यथार्थबोद्धा परिमाणकर्ता,
तत्कारणं ज्ञेयमिवाज्यमद्धा।
स धीयते वै परितः स्वतन्त्रः,
स्तुत्यः परेशः खलु विश्वदेवैः॥

टिके हैं। उसी प्रकार उस मध्यरेखा को वेद में 'नाभि' कहा है, जिसमें सभी लोक-लोकान्तर बधे अर्थात् नियमित हैं। वह नाभि-शब्द बन्धनार्थक नह-धातु से सिद्ध होता है। जैसे—चक्र की नाभि में आरे लगे रहते हैं। इसीलिये वेदि में अनुष्ठित यज्ञ भी ब्रह्माण्ड का नाभिस्थानीय है।

जैसे कोई किसी से पूछे कि इस भूमि की 'नाभि' क्या है, अर्थात् केन्द्रस्थान क्या है? तब भी यह समाधान दिया जा सकता है।

जब यज्ञ नाभि है, तो यह वेदि पृथिवी का पर अन्त अर्थात् परिधि है। यज्ञ-रूप नाभि में आहुत किया द्रव्य नाभि में सिञ्चित तल के समान सारे ब्रह्माण्ड को प्राप्य बन जाता है।

आपके द्वारा उद्धृत भाष्य तो सर्वत्र सायण, महीधरादि की अनुकृतिमात्र है। इसमें आपके मस्तिष्क का कोई ऊहापोह या विवेचन नहीं है। अतः वह हमारी समालोचना की भी परिधि से बाह्य अर्थात् अनुद्दिष्ट है, तथा कल्पद्रुम का कलेवरस्थौल्य बढ़ने का भी भय है।

'कासीत् प्रमा०' मन्त्र में प्रश्न किये गये हैं, जिनके उत्तर भी वहीं निहित

इदन्तूपरिष्टाद् बहुधा प्रस्तुतं यत् पूर्वसद्भाष्येषु यदाख्यातं तत्पिष्टपेषणं नात्र करिष्यते, परं नूतनं यास्कादिसम्मतं च गदिष्यते।

'सेयं विद्या, ज्योतिषशास्त्रे विस्तरश उक्ताऽस्ति। एवमेतद्विषयप्रतिपादका अपि वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्तीति' इति उक्त्वा महर्षिणा साधितं यद् वेदेभ्य एव ऋषिभिर्गणितादिविद्या आविष्कृताः।

पश्चात्या अपि बेली, लैप्लेस, प्लेफेयर, सर विलियम जेम्स, हरमन-आदिका विपश्चितोऽस्माकं पूर्वजान् ब्राह्मणानेव गणितविद्याया आद्याविष्कारकान् मन्यन्ते। तैत्तिरीय-मैत्रायणी-काण्वादिशाखास्वपि गणितमूलगणनाद्याः प्रमाणान्युपलभ्यन्ते। यूनानजनदशसहस्रमिता एव संख्या अन्तिमा आकलिताऽऽसीत्, परमस्माकं वेदेषु परार्द्धपर्यन्ता ऋषिभिराकलिता सा। यूनानिनो वास्तुवर्गमूलमपि नाऽजानन्। शुल्बसूत्रेषु वर्गायतरचनादिविधिरुपपिष्टः। इमे च ग्रन्था अतितरां प्राचीनाः। बेली अपि अमन्यत यद् ईसातो वर्षसहस्रेभ्यः पूर्वमेव आर्यैर्वैज्ञानिकरूपेण ग्रहगणना कृताऽऽसीत्। एवं योग-वियोग (घटाना) गुणन (गुण)-वर्ग-घन-वर्ग-मूलाद्यष्टाङ्गपद्धतिर्वेदेभ्य आर्यैराविष्कृता। किं बहुना। अथर्ववेदस्य (१०।८।२९)

हैं। जिसे महर्षि ने अपने भाष्य में प्रकाशित किया है तथा इन्हीं श्लेषार्थ प्रमा, प्रतिमा, परिधि आदि शब्दों से महर्षि तथा विद्वानों ने तीनों प्रकार की गणित-विद्या का आविष्कार किया, ऐसा ऋषि का आशय है।

इस विद्या के प्रतिपादक-मन्त्र वेदों में बहुत हैं। यहां तो हमने दिङ्मात्र दर्शन कराया है। पाश्चात्य बेली, लैप्लेस, प्लेफेयर, सर विलियम जेम्स, हरमन आदि विद्वान् भी हमारे ही पूर्वजों को गणित का आविष्कारक मानते हैं। तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काण्वशाखाओं में भी गणित की मूल गणना के प्रमाण हैं। यूनानियों ने जबतक दश सहस्र तक संख्या सीखी थी, तब हमारे वेदों में परार्द्ध पर्यन्त संख्या ऋषियों ने देखी थी। वे यूनानी वर्गमूल को भी नहीं जानते थे। शुल्बसूत्रों में वेदों का आधार मानकर ही वर्ग, आयतरचनाविधि का उपदेश किया गया है! ये ग्रन्थ अतितरां प्राचीन हैं। बेली महोदय भी कहते हैं कि ईसा से सहस्रों वर्षपूर्व आर्यों ने वैज्ञानिकरूप में ग्रहों की गणना की थी। इस प्रकार संकलन, व्यवकलन (गुणन, भाग, वर्ग, घन) उनका मूल आदि अष्टांगपद्धति वेदों से ही आर्यों के द्वारा आविष्कृत की गयी थी। और अधिक क्या लिखें, अथर्ववेद (१०।८।२९) (पूर्णात् पूर्णमुदचति) के मन्त्र का छायानुवाद उपनिषत् का निम्न पद्य आश्चर्यजनक रूप में गणित की पहेली को सुलझा देता है—

https://t.me/DharmaSamrat

मन्त्रस्य छायामृतमुपनिषत्-पद्यमाश्चर्यजनकरूपेण गणितपहेलिकां समाधत्ते । यथा—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

९८७६५४३२१=योगः ४५ पूर्णमदः | पूर्णात्
१२३४५६७८९=योगः ४५ पूर्णमिदम्, | पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय
———————
८६४१९७५३२=योगः ४५ पूर्णमेवावशिष्यते ।

(१) ऊहनम्—

(क) नवगुणितम्		(ख) इदमष्टगुणितम् एवमग्रेऽपि
०९	परस्परयोगः ९	०९—१=८
१८	१+८=९	१८—२=१६
२७	२+७=९	२७—३=२४
३६	३+६=९	३६—४=३२
४५	४+५=९	४५—५ ४०
५४	५+४=९	५४ ६ ४८
६३	६+३=९	६३ ७ ५६
७२	७+२=९	७२—८ ६४
८१	८+१=९	८१—९ ७२
		९०—१०=८०

प्रश्नकर्ता ने प्रश्न किया कि गणित का कोई ऐसा स्वरूप बताओ कि पूर्ण में से पूर्ण को घटा दिया जावे, फिर भी पूर्ण ही शेष रहे। इसका समाधान उपनिषद् के 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' पद्य से दिया गया है। देखिए—

९८७६५४३२१=इनका योग ४५ है। ४५ पूर्ण में से
१२३४५६७८९= ,, ,, भी ४५ है। पूर्णवाली संख्या घटी
८६४१९७५३२= ,, ,, ,, ४५ है। शेषसंख्या का योग भी ४५ आया, अर्थात् शेष भी पूर्ण है।

गणित में ऊहा का उदाहरण—

इसमें बड़ी विशेषता यह है कि १ से ९ तक की संख्या किसी भी पंक्ति में द्वितीय बार आवृत नहीं हुई। भाव यह है कि नित्य ब्रह्म ने नित्य प्रकृति से नित्य जीव के लिये सृष्टि बना दी। दूसरे प्रकृति पूर्ण, ब्रह्म भी पूर्ण, सामर्थ्य में

(२) ९८७६५४३२
×९
———
८८८८८८८८८

(३) १२३४५६७९ |
×९ | —८ संख्या
———————
१११११११११

समा जाने और रचना-समय में उपयोग में आने पर भी प्रकृति भी पूर्ण रहती है और ब्रह्म भी पूर्ण रहता है।

(१) क—नौ संख्या के पहाड़े के अंकों का परस्पर योग ९ ही आयेगा।

ख—नौ के पहाड़े या ८,७ आदि के पहाड़े में से उसकी अर्थात् गुणक के गुणनफल में से गुण्य के घटाने पर नीचे की संख्या और जोड़ने पर ऊपर की संख्या का पहाड़ा बन जायेगा।

(२) तथा (३) प्रत्यक्ष हैं।

वास्तव में गणित विद्या में तो ऊहन-शक्ति के उर्वरा होने पर बड़े-बड़े चमत्कार निकलते हैं। जैसे एक उदाहरण और देखिये—

गुप्त अंक प्रकाशनविधि

योगविधि में योगफल शुद्ध है या अशुद्ध, पता लगाना—

५३५४६
४२०५१
८९७६१
६२५४३
७८६२१
———
३१६५२२

यह योगफल अशुद्ध है। यह पता शीघ्र चल जायेगा। कैसे? देखिए—प्रत्येक पंक्ति के अंक बायें से दायें जोड़ते जाइये।

प्रथम पंक्ति—५+३+५+४+६=२३ तेईस अंक (२+३)=५
दूसरी ,, —४+२+०+५+१=१२ बारह ,, (१+२)=३
तीसरी ,, —८+९+७+६+१=३१ इकतीस ,, (३+१)=४

https://t.me/DharmaSansar

अङ्कगणितस्यापि प्रारम्भो वैदिककालादेव भवति। तस्मिन् समये लघिष्ठ-ज्येष्ठसंख्यानां ज्ञानमासीदेव। यथा यजु० (१७।२) मन्त्रे एकतः परार्धपर्यन्तं पाठः सृष्ट्यादावेव प्रदत्तः।

३० मई आर्यपुनर्गठने १९८७ विज्ञापितं यद् वैदिकगणितं नाम सर्वश्रेष्ठं पुस्तकमेतत् भारते प्रकाशितं परम् इङ्गलैण्ड-अमेरिकयोरनेकसंस्थानेषु पाठ्यते। 'लन्दनस्कूल आफ इकोनोमिक्स' संस्थाने पाठ्यपुस्तकेष्विदं तथाऽन्यदेशेष्वपि वर्तते।

वैदिकगणितविषये गहना गवेषणाऽपि क्रियते। डा० नरेन्द्रपुरी अस्योपयोगितां सर्वविध्यतिशायिनीं घोषयते। वैदिकगणितप्रणाल्यां प्रगणकस्य (कैलक्युलेटर) अपि वर्जनमस्ति। यतो हि तद्धि तद्गणनप्रणाली प्रगणकमपि पराजेतुं प्रभवति।

अधुनैव (मार्च १९८९) काङ्गड़ीविश्वविद्यालये 'भारतीयविज्ञानपरिषदः'

चौथी पंक्ति—६+२+५+४+३=२० बीस अङ्क (२+०)=२

पांचवीं ,, —७+८+६+२+१=२४ चौबीस ,, (२+४)=६

अब इन उक्त को जोड़ने पर ५+३+४+२+६=२० हुए।

ऊपर रक्खे योगफल के अंकों का जोड़ १९ आता है। अतः २०—१९=१ अंक कम किया या कम जोड़ा है, क्योंकि इसका योग भी बीस (२०) ही आना चाहिए। उक्त विधि से तत्काल गुप्त अर्थात् लुप्त अंक का पता लग गया।

अङ्कगणित का प्रारम्भ वैदिककाल से ही हुआ था। यजु० १७।२ में एक से परार्द्ध पर्यन्त गणना का पाठ सृष्टि के आदि में ही दे दिया गया। १३२० पृ० पर आप कहते हैं कि 'उक्त मन्त्रों से गणित का दूर का भी सम्बन्ध नहीं।' संख्या (सम तथा विषम) में ही गणित का मूलाधार यहां पर है। आपको यदि इन मन्त्रों में गन्ध तक नहीं आ रही है तो घ्राणेन्द्रिय या मन-बुद्धि का विकार ही समझिये या वह सड़ी-गली गन्धों के सूंघने में ही माहिर हो गयी है।

इधर (३० मई १९८७ आर्यपुनर्गठन अजमेर पत्रिका विज्ञापन) इङ्गलैण्ड, अमेरिका व आस्ट्रेलिया के विद्यालयों में पाठ्यक्रम मे वैदिकगणित निर्धारित कर दिया गया है। जैसे—'लन्दन स्कूल आफ इकोनामिक्स' में भी।

वैदिकगणित-विषय में गहन गवेषणा भी हो रही है। डा० नरेन्द्रपुरी का इस विषय में कहना है कि विविध सर्वातिशायी तथा कई प्रकार की गणनाओं में यह वैदिक प्रणाली कैल्क्युलेटर को भी पछाड़ सकती है।

अभी-अभी काङ्गड़ी विश्वविद्यालय में भारतीय विज्ञानपरिषद् के

दिवसद्वयाधिवेशने 'वैदिकगणितपरम्परा एवं तदनुपयोगः' तथा 'आधुनिक-विज्ञानम् एवं तकनालाजी' इति विषययोगणितानुपयोगे सङ्गोष्ठीद्वयमायोजितम्।

अस्यां सङ्गोष्ठ्यां वैदिकगणितज्ञो डा० पुरी वैदिकगणितसिद्धान्तप्रदर्शन-प्रयोगे दुरूहगणना प्रादर्शयत्। एकः शोधार्थी यावद् 'प्रगणकेन (कैल्क्युलेटर) सप्त सोपानानि अगणयत् तावतैव पुरीमहाभाग एकादशसोपानानि गणयितुं प्राभव-दिति चमत्कारेणैव सर्वेऽपि अतितरामाश्चर्यचकितीभूता अतिष्ठन्। पुरीमहोदयो वैदिकगणितं 'स्मितगणितम्' इति संज्ञया व्यवाहरत्।

अस्यामेव गोष्ठ्यां दिल्लीस्थजामियामिलियाविश्वविद्यालयस्य गणित-प्रधानाध्यापिका अरुणाकपूरमहोदया उक्तविचारान् पर्यपोषयत्। मेरठविश्व-विद्यालयस्य भूतपूर्वकुलपतिः, विज्ञानपरिषदोऽध्यक्ष एवं जवाहरलालविश्वविद्या-लयस्य गणितज्ञः प्रो० जगन्नारायणकपूरमहोदयो वैदिकगणितानुसन्धानाय सबलां प्रेरणामदात्। एकविशेषचर्चया मद्रासविश्वविद्यालयस्य न्यूक्लियर-भौतिक-विभागप्राध्यापकः पी० आर० सुब्रह्मण्यं महोदयो वैदिकगणिताध्ययनाय प्रेरयत्।

गणिते तु विशेषरूपेणोहात्मकबुद्धेरेव गतिर्भवितुमर्हति। यथा—'इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च शतञ्च' (यजु० १७।२) अत्र नैव शून्यं

द्विदिवसीय अधिवेशन में 'वैदिकगणित—परम्पराएं एवम् उनका अनुपयोग' तथा 'आधुनिक विज्ञान एवं तकनालाजी में गणित के अनुपयोग' पर दो संगोष्ठियां हुईं।

इस गोष्ठी में वैदिकगणितज्ञ डा० नरेन्द्रपुरी ने वैदिक गणित के सिद्धान्तों के प्रदर्शन में दुरूह गणनाएं प्रदर्शित कीं। जब तक कैल्क्युलेटर लिये एक शोधार्थी ने ७ सीढ़ियों तक की गणना की, तब तक श्री डा० पुरी ने ११ सीढियों तक गणना करके सब को आश्चर्यचकित कर दिया। उन्होंने वैदिक गणित को 'मैथमैटिक्स विद् स्माइल' की संज्ञा दी।

इसी गोष्ठी में जामिया मिलिया विश्वविद्यालय, दिल्ली की गणितज्ञ प्रो० अरुणा कपूर ने पुष्टि में विचार प्रस्तुत किये। मेरठ विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति, विज्ञानपरिषद् के अध्यक्ष एवं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के गणितविज्ञानी प्रो० जगन्नारायण कपूर ने वैदिक गणित पर विशेषानुसन्धान करने पर बल दिया। एक विशेष परिचर्चा में मद्रास विश्वविद्यालय के न्यूक्लीयर, भौतिकी विभाग के प्रो० पी० आर० सुब्रह्मण्यम् ने वैदिक गणित के अध्ययन पर पर बल दिया।

गणित में तो विशेषरूप से ऊहात्मक बुद्धि की ही गति हो सकती है। जैसे—'इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च शतञ्च' (यजुः १७।२)।

https://t.me/Dharmasamrat

लिखितं यद्विनिवेशे दशगुणिता संख्या जायते, परम् एकादश, दश, शताद्यः संख्या दर्शितास्तेन शून्यमूहनीयमस्त्येव ।

पुरीपीठाधीश्वरो जगद्गुरुः शङ्कराचार्यः स्व० श्रीभारतीकृष्णतीर्थमहाभागो 'वैदिकगणित' नामकमेकं महत्त्वपूर्णं ग्रन्थं रचितवान् । विज्ञानागारवेदाधारेऽसौ १६ सूत्राणि प्रणिनाय । तानि सूत्राणि निम्नानि सन्ति—

१. एकाधिकेन पूर्वेण ।	२. निखिलं नवतश्चरमं दशतः ।
३. ऊर्ध्वतिर्यग्भ्याम् ।	४. परावर्त्य योजयेत् ।
५. शून्य साम्यसमुच्चये ।	६. (आनुरूप्ये) शून्यमन्यत् ।
७. सङ्कलनव्यवकलनाभ्याम् ।	८. पूरणपूरणाभ्याम् ।
९. चलनकलनाभ्याम् ।	१०. यावदूनम् ।
११. व्यष्टिसमष्टी ।	१२. शेषाण्यंकेन चरमेण ।
१३. सोपान्त्यद्वयमन्त्यम् ।	१४. एकन्यूनेन पूर्वेण ।
१५. गुणितसमुच्चयः ।	१६. गुणकसमुच्चयः ।

सूत्रप्रणयनेन सुनिश्चितं समनुमीयते यत् श्रीभारतीमहाभागस्योर्वरमस्तिष्के उक्तसूत्राण्यवश्यं प्रयोगप्रत्यक्षेण सुव्याख्यान्यभूवन् । लेखबद्धव्याख्यानमप्येतेषां

इसमें शून्य नहीं कहा, पर वह ऊहनीय है, अर्थात् तर्कसाध्य है, क्योंकि एक के आगे शून्य रखने से १० तथा पुन. शून्य उत्तरोत्तर बढ़ाने पर १००, शतादि सख्याएं बनती हैं ।

पुरीपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्व० श्री भारतीकृष्ण तीर्थ ने 'वदिक गणित' नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की थी । विज्ञानभण्डार वेदों के आधार पर उन्होंने निम्न १६ सूत्रों की भी रचना की । वे सूत्र हैं—

१. एकाधिकेन पूर्वेण ।	२. निखिलं नवतश्चरमं दशतः ।
३. उर्ध्वतिर्यग्भ्याम् ।	४. परावर्त्य योजयेत् ।
५. शून्यं साम्यसमुच्चये ।	६. (आनुरूप्ये) शून्यमन्यत् ।
७. संकलनव्यवकलनाभ्याम् ।	८. पूरणपूरणाभ्याम् ।
९. चलनकलनाभ्याम् ।	१०. यावदूनम् ।
११. व्यष्टिसमष्टी ।	१२. शेषाण्यङ्केन चरमेण ।
१३. सोपान्त्यद्वयमन्त्यम् ।	१४. एकन्यूनेन पूर्वेण ।
१५. गुणितसमुच्चयः ।	१६. गुणकसमुच्चयः ।

इतना तो सुनिश्चित है कि सूत्र-प्रणेता श्री भारतीजी के उर्वरमस्तिष्क में उक्त (फार्मूला) सूत्र अवश्य ही प्रत्यक्ष-प्रयोग रूप में सुव्याख्यात थे । सम्भवतः

क्वाऽपि कदाऽप्यक्रियत । तदधिगन्तुमनुसन्धित्सुभिः श्रीभारतीपुस्तकालयस्य हस्तलेखाः समन्वेष्टव्याः । डा० श्रीबांकेलाल-उपाध्यायमहाभागस्यापि प्रशस्यश्रमोऽनुसन्धेयः ।

भारतीयगणितज्ञेन डा० एस० के० कपूरमहोदयेन वैदिकगणितसाहाय्येन गणितस्यैका पहेलिका समाहिताऽस्ति, या गतसार्धत्रिंशद्वर्षेभ्योऽसमाहिताऽवर्तत । डा० कपूरमहाभागः 'महर्षि वैदिक इंस्टीट्यूट आफ साइंस एण्ड टेक्नालाजी' संस्थया सम्बद्धो विद्यते । असौ जाबाल्युपनिषदो बह्वायामि-देशकाल-सीमासिद्धान्तं प्रयुञ्जानः १६३७ ईशवीये 'फ्रांसीसी गणितज्ञ पियरे डे फर्मट' द्वारा प्रस्तुतस्य प्रमेयस्य समाधानमगवेषयत । अस्मिन्नुक्तं यद् द्वित्रनाभ्यामेकघनेन अथवा अष्टफलकद्वयेन एकमष्टकं न साधयितुं शक्यम् ।

लेखबद्ध व्याख्या भी कदापि कहीं की हो । तदर्थ अनुसन्धित्सुओं को श्री भारती जी के पुस्तकालय के हस्तलेखों को खोजना चाहिए ।

इस विषय में प्रसङ्गतः जिज्ञासुओं के लिए यह भी बोधनीय है कि डा० बांकेलाल उपाध्याय, जिन्होंने कि संस्कृत में शास्त्री और गणित में एम० ए० परीक्षाएं उत्तीर्ण कर 'हिन्दू गणितशास्त्र' नाम से अनुसन्धान कर डाक्ट्रेट प्राप्त की है, के पास भारतीय गणितविषयक अनुसन्धान करने के लिए टेलर-नामक इङ्गलण्ड निवासी विद्वान् आया । श्री उपाध्यायजी ने अपने शोधग्रन्थ में प्राचीन गणितविद्या की वेद, शुल्बसूत्र, उपनिषद्, जैनग्रन्थ आदि का आधार बनाकर विस्तृत गवेषणा की है । उस ग्रन्थ में सं० ४७६-४९९ के उत्पन्न विश्व के महान् गणितज्ञ आर्यभट्ट के अलभ्य ग्रन्थ आर्यभट्टीय के ८५ श्लोक भी प्रकाशित कर लोपोन्मुख ग्रन्थरत्न की रक्षा कर अप्रतिम प्रशंसनीय कार्य किया है ।

सन् १-११-८९ को वार्त्ता-प्रसंग में उन्होंने बड़े वेदनाभरे शब्दों में कहा कि हमारे स्वतन्त्र भारत में भी आज प्राचीन गणित-गवेषणा के विषय में बड़ी उपेक्षा की जा रही है । 'नेशनल इंस्टीट्यूट आफ साइंसिज' द्वारा भी इस विषय पर कोई कार्य नहीं हो रहा है ।

भारतीय गणितशास्त्री श्री डॉ० एस० के० कपूर ने वैदिक गणित की सहायता से गणित की एक ऐसी पहेली का समाधान किया है, जिसे विश्व भर के गणितज्ञ साढ़े तीन सौ वर्षों से सुलझा नहीं पा रहे थे । डॉ० कपूर 'महर्षि वैदिक इंस्टीट्यूट आफ साईंस एण्ड टेक्नालाजी' से सम्बद्ध हैं । उनके अनुसार उन्होंने जाबाली उपनिषद् के बहु आयामी देश-काल-सीमा के सिद्धान्त का प्रयोग करते हुए १६३७ में फ्रांसीसी गणितज्ञ 'पियरे डे फर्मेट' द्वारा प्रस्तुत उस प्रमेय का हल ढूंढ निकाला है, जिसमें कहा गया था कि दो घनों (क्यूब्स्) एक घन अथवा दो अष्टफलक से एक अष्टक नहीं निकाला जा सकता ।

https://t.me/DharmaSamrat

डा० कपूरमहोदयस्येदं समाधानम् अमेरिकादेशस्य 'आधुनिकविज्ञानं तथा वैदिकविज्ञानम्' नामकपत्रके प्रकाशितम्। स्वकीयशोधेऽसौ प्रत्यपादयद् यन्नवीन-समाधानस्यानेकक्षेत्रेषु प्रयोगो भवितुमर्हति, यदा भौतिकजगतो बुद्धिक्षेत्रं न बोदधुं शक्नुयात्। इदं हि सूत्रमुपनिषदाधारे साधितम्। अहं स्वयमपि कपूरमहोदयं साक्षात्कृतवान्।

इति श्रीमद्बिहारीलालशास्त्रिशिष्येण श्रीयुतपण्डित-अयोध्याप्रसाद-
मिश्रात्मजेन श्रीमदाचार्यविशुद्धानन्दमिश्रेण श्रीयुतनिर्मला-
मिश्रा-सहधर्मिणीसहायेन विरचिते करपात्रिमतखण्डने
दयानन्दीयमतमण्डने 'वेदार्थकल्पद्रुम'नामग्रन्थे
'गणितविद्या-विषयः'
॥ सम्पूर्णः ॥

डा० कपूर का यह कार्य अमेरिका के एक जर्नल 'माडर्न साइंस एण्ड वैदिक साइंस' में प्रकाशित हुआ है। अपने शोध में उन्होंने कहा है कि नये समाधान का अनेक क्षेत्रों में प्रयोग हो सकता है, जब भौतिक जगत् का मानसिक क्षेत्र जवाब दे जाय। यह उपनिषद् से निकाला सूत्र है। उस विषय में मैं स्वयं भी श्री कपूर महोदय से मिला हूं।

श्रीमान् पण्डित बिहारीलालजी शास्त्री के शिष्य, श्रीयुत पण्डित
अयोध्याप्रसाद मिश्र के आत्मज, श्रीमदाचार्य विशुद्धानन्द
मिश्र द्वारा श्रीयुतनिर्मला मिश्रा सहधर्मिणी की
सहायता से विरचित करपात्रिमतखण्डन तथा
दयानन्दीय मतमण्डन करनेवाले इस
'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में
'गणितविद्या-विषय'
॥ सम्पूर्ण हुआ ॥

अथेश्वरस्तुति-प्रार्थना-याचना-समर्पण-विषयः

ईशस्तुत्याऽऽत्मनि गुणनिधिं स्थापयेत् प्रार्थनेन,
आत्माहङ्कृत्यपनयमियाद् याचनीयं च याचेत्।
तस्माल्लब्धं तदपि सुतरामर्पयेद् वोपयुञ्जन्,
भक्त्योपास्यस्तदनु जगति व्यापकोऽसौ समाधौ ॥१॥
धीरो दग्ध्वा कलुषजननीं भावनां योगवह्नौ,
हव्यं कृत्वा घृतमिव समं जीवनं सञ्जुहोतु।
सङ्कल्प्यालं सकलसमयं वन्द्यवेदप्रचारे,
नूनं ज्ञास्यत्युपकृतिपरं भूमिकाभाष्यमेतत् ॥२॥

पृ० १३२३—यदयमाह—"अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणोपासना-विद्याविषयः' इति प्रलम्बमानशीर्षकेण प्रार्थनायाचनयोर्भेदोऽङ्गीकृतः, स च निर्मूल एव, अर्थ-याचधातोरैकार्थ्यात्। ग्रन्थादौ निरूप्यमाणे प्रार्थनाविषये कुतो नैतद् व्यवस्थापितम्? प्रार्थनाप्रसङ्गे च 'तेजोऽसि' (यजु० १९।९), 'मयीदमिन्द्र'

ईश्वर की स्तुति के द्वारा आत्मा में गुणों की निधि का स्थापन करे। प्रार्थना से आत्मा के अहङ्कार को दूर करे, फिर याचनीय वस्तु की याचना करे। उससे प्राप्त सामग्री को उपयुञ्जन् अर्थात् प्रभु से ही लगन लगाता हुआ प्रभु को ही अर्पित कर दे। फिर जगत् में व्यापक प्रभु की समाधि में स्थिर हो श्रद्धा और भक्ति से उपासना करे ॥१॥

कोई भी धीर पुरुष कलुष अर्थात् पापों की जननी भावना को योग की अग्नि में दग्ध करके और सारे जीवन को हव्य और घृत बना करके आहुत कर दे। वह वन्दनीय वेदों के प्रचार में सम्पूर्ण समय का सङ्कल्प करके ही उपकार-परायण महर्षि दयानन्द के भाव को निश्चय ही जान सकेगा ॥२॥

पृ० १३२३, पू० प०—"ईश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणोपासनाविद्या-विषयः' इतना लम्बा शीर्षक देकर दयानन्द ने प्रार्थना और याचना में भेद किया है। यह सर्वथा निराधार है; क्योंकि 'अर्थ' और 'याच' दोनों धातुओं का अर्थ एक ही है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में, जहां लेखक ने प्रार्थना-विषय पर विचार किया, वहां इस बात को क्यों नहीं बताया गया? प्रार्थनाशब्द का विचार करते हुए

https://t.me/DharmaSamrat

(यजु० २।१०), 'यां मेधाम्' (यजु० ३२।१४) एतेषां मन्त्राणां कल्पनाबहुलो गौण एवार्थः प्रतिपादितः, मूलार्थाद् विप्रकृष्टत्वात्।" इति।

ततोच्यते यदेष आरोप एव निर्मूलः, पर्यायवाचित्वप्रतीयमानतायामप्येतत्सूक्ष्मार्थभेदाऽऽकलनाऽक्षमत्वाद् भवतः, विषयोपक्रमश्लोक एवार्थभेदजनितफलभेदस्य चेहोपन्यासाच्च। 'याच्'धातुर्हि (भ्वा० उ० से०) याञ्चायाम् 'अर्थ' (चु० आ० से०) धातुर्हि उपयाञ्चायां पठ्यते महर्षिपाणिनिना। किं नास्ति कश्चिदर्थभेदः सोपसृष्टानुपसृष्टयोः? भवत्येवेति निर्विवादम्।

तत्रैवं बोद्धव्यम्—(१) दयालुरस्तीति स्तुतिः। (२) दीने दयालुर्भवतीति प्रार्थना। (३) मयि दीने दयां कुरु इति याचना। (४) अहं तवास्मीति समर्पणम्। (५) अतस्त्वामुपासे इति उपासनेति विवेकः। अथवा 'यां मेधां देवगणाः' इति मन्त्रे प्रार्थना याचनयोर्भेदः।

दयानन्द ने 'तेजोऽसि,' 'मयीदमिन्द्र', 'यां मेधां' ये तीन मन्त्र उद्धृत किये हैं और उनका कल्पित गौण अर्थ किया है, जिसकी कि मूलमन्त्र के वास्तविक अर्थ से बहुत दूरी है।"

उ० प०—आपका यह कथन भी ठीक नहीं, क्यों कि यह आरोप ही थोथा और निर्मूल है। आपको प्रार्थना और याचना का पर्यायवाचित्व स्थूलबुद्धि से ही दीख रहा है; क्योंकि आप इसके भेद या अन्तर की सूक्ष्मता समझ नहीं सकते। हमने भी ऊपर दो श्लोकों में दोनों के अर्थ-भेदजन्य फल के भेद का उपन्यास किया है। 'याच' धातु याञ्चा अर्थ में भ्वादिगणी उभयपदी सेट् है, उपयाञ्चा अर्थ में 'अर्थ' धातु चुरादिगण में आत्मनेपदी सेट् है। महर्षि पाणिनि द्वारा ही यहां याञ्चा और उपयाञ्चा दोनों भेद-पाठ से भी भिन्नार्थ स्पष्ट है। सोपसृष्ट और अनुपसृष्ट में कुछ तो अर्थभेद है ही, यह निर्विवाद है।

इसे इस प्रकार समझिये—(१) प्रभो तुम दयावान् हो, यह स्तुति। (२) दीन पर दया करते हो, यह प्रार्थना (उपयाचना) (३) मुझ दीन पर दया करो, यह याचना। (४) मैं तुम्हारा हूं, यह समर्पण। (५) अतः तुम ही को भजता हूं, यह उपासना है।

अथवा 'यां मेधां देवगणाः' इस मन्त्र में जिस मेधाबुद्धि को प्राप्त करने को देवगण और पितर, अग्नि परमात्मा की उपासना करते हैं (प्रार्थना)। उस मेधा से मुझे मेधावी बनाइये (यह याचना है)। अतः प्रार्थना का अर्थ रिझाना और याचना का अर्थ रिझाने के बाद मांगना। जैसे गाय को पहले प्रस्तुत (पलुहाते) करते हैं, फिर दूध लेते हैं।

अथ च महाभाष्यकारेण 'अकथितं च' (अष्टा० १।४।५१) इति सूत्रे 'दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ' इत्यस्मिन् याचिभिक्षि-धातुद्वयस्य पाठे कैयटेन प्रदीपे उद्योतितः सारः। यथा—

"अथ याचिभिक्ष्योरेकार्थत्वात् किमर्थमुभयोरुपादानम्? उच्यते—अनुनयार्थस्यापि याचेर्ग्रहणार्थम्। तेनाविनीतं विनयं याचत इत्यत्रापि कर्मसंज्ञा भवति।" तथा ज्ञानेन्द्रसरस्वतीकृततत्त्वबोधिन्यामपि—

"अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा, तर्हि नीबह्योरन्यतरो न पठनीयः, उभयोरप्यैकार्थ्यादिति चेत् सत्यम्। भारं वहति भारं नयतीत्यत्र यदि विलक्षणोऽर्थोऽनुभूयते तदोभयमपि पठनीयमेव, यदि तु नानुभूयते··· ··।" तथैवेहाऽपि यदि कुशसूचीसुतीक्ष्णप्रतिराकलयते विलक्षणार्थं तदा भेद एव, अन्यथा स्थवीयोदृशां भृशमकुशलनिरङ्कुशवाचाशेमुषीकाणाम् इषीकासूच्योरभेद एव मन्तव्यः। वस्तुतस्तु सूक्ष्मेक्षिकाक्षमधिषणानां मते भेद एव। तद् उभयोः पाठोऽक्रियतर्षिणा।

पृ० १३२३, पं० ५—"ग्रन्थादौ निरूप्यमाणो प्रार्थनाविषये कुतो नैतद्

अथवा यह भी देखिये, महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने 'अकथितं च' (अष्टा० १।४।५१) सूत्र में दुह, याच्, रुधि, प्रच्छि, भिक्षि इत्यादि में याचि और भिक्षि दोनों धातुओं का पाठ किया है। जब याच् और भिक्ष दोनों धातुओं का एक अर्थ है, तो दोनों का उपादान किसलिए है? प्रयोजन बताया कि अनुनय का भी याच्-धातु से ग्रहण हो जावे। जैसे 'अविनीत से विनय की याचना करता है' यहां पर भी कर्मसंज्ञा हो जाती है। तथा ज्ञानेन्द्रसरस्वतीकृत तत्त्वबोधिनी में भी कहा है कि "यह संज्ञा अर्थ निबन्धन से है, तो नी और वह दोनों धातुओं में एक को ही पढ़ना चाहिए; क्योंकि दोनों एकार्थक हैं'। बात तो विचारणीय है, पर भारं वहति, और भारं नयति, इसमें यदि विलक्षण अर्थ का अनुभव होता है, तो दोनों ही धातु पठनीय हैं, यदि नहीं होता, तो इनमें से एक पठनीय है। दोनों ही तरह लक्ष्य में बाधा नहीं है।"

इसी प्रकार प्रकृत विषय में भी यदि कोई ऋषि दयानन्द जैसा कुशाग्रधी विलक्षण अर्थ का आकलन करता है, तो दोनों (प्रार्थना+याचना) पठनीय हैं, अन्यथा स्थूलदृष्टि तथा फूहड़ निरंकुश वाणी और बुद्धिवालों के लिए जो सींक और सूई की नोक में अभेद बुद्धि रखते हैं, उन्हें एक ही पढ़ना चाहिये। वस्तुतः सूक्ष्म ईक्षिका में समर्थ बुद्धियों के मत में तो अर्थ में भेद या विलक्षणता है, इसलिए ही महर्षि ने दोनों का पाठ किया है।

पृ० १३२३, पं० ५—"ग्रन्थ के आदि में निरूप्यमाण प्रार्थनाविषय पर

https://t.me/DharmaCamrat

व्यवस्थापितम् ? प्रार्थनाप्रसंगे च 'तेजोऽसि तेजो मयि' (यजु० १९।९), 'मयीदमिन्द्र' (यजु० २।१०), 'यां मेधां देवगणाः' (यजु० ३२।१४) एतेषां मन्त्राणां कल्पन.बहुलो गौण एवार्थः प्रतिपादितः, मूलार्थाद् विप्रकृष्टत्वात् ।" इति ।

विचार्यतेऽत्र गौणो गुणप्रधानोऽर्थः कृतः, अथवाऽमुख्यः कृतः । आद्यश्चेत् तेजोवीर्यादिपदानां गुणपरत्वात् समीचीन एवार्थः, अथ चेदमुख्योऽर्थो मन्यते, कोऽपरो मन्यते मुख्यार्थः । यश्च भवताऽनुकृतः, तस्य मुख्यत्वप्रतिपाद्यत्वमपेक्षते । तस्यापि कार्यस्य महर्षिदर्शितस्यार्थादन्यत्वम्, "देवतानां च परमात्मभिन्नत्वात् परमात्मप्रार्थनाऽपि (दयानन्दकृता) नानुपपन्ना" इति तवैव वचनात् ।

यो नाम कात्यायनसूत्रानुसारविधिरट्टङ्कितः, तस्यार्वाचीनसाम्प्रतिक-कालप्रतिष्ठितत्वात् कथं सृष्ट्यादिप्राप्तवेदेषु बन्धनं विदधीत । न क्वचिल्लोकेऽपि स्वामिनि निकृष्टानुचरदेशानुवर्तित्वं शस्यते । न च ज्ञानं स्थूलधीकृतकर्मणोऽनुचारि, कर्मनाम ज्ञानमनुगम्य प्रसरेदित्यनवद्यं गदितम् । न चोक्तमन्त्रार्थानु-

---

लेखक ने यह बात क्यों नहीं बतायी ? प्रार्थना-शब्द का विचार करते हुए दयानन्द ने 'तेजोऽसि०' आदि तीन मन्त्र उद्धृत किये हैं, उनके किये कल्पित गौण अर्थों का मूल से कोई सम्बन्ध नहीं है ।"

श्रीमन् ! इसका समाधान देखिये । वस्तुतः इन मन्त्रों का गौण अर्थात् गुणप्रधान अर्थ ही है । अथवा यही मुख्य अर्थ है, जिसे आप गौण कहते हैं । यदि प्रथम अर्थ मानते हो तो तेज आदि तो गुण ही हैं, तत्प्रधान अर्थ होना ही चाहिए । अब फिर उक्त से अन्य मुख्य अर्थ कौन सा है ? जो अर्थ ऋषि ने दिखाया है और देवता परमात्मा से अभिन्न है, तो परमात्म-प्रार्थना ही दयानन्द द्वारा की गयी है । यह कोई आवश्यक व सम्भव भी नहीं है कि समस्त कथनीय वस्तु ग्रन्थ के आदि में ही कर दिया जाता । वहां तो केवल मङ्गलाचरण किया गया है ।

सारे मन्त्रों का यज्ञ, कर्मकाण्ड के पात्र, दर्भ आदि के इधर-उधर के सन्निवेश के अतिरिक्त और कुछ उपयोग आपकी दृष्टि में है ही नहीं । जैसा कि आप कात्यायन श्रौतसूत्र का उद्धरण देकर आश्विन पात्र को लेकर सादन क्रिया के पूर्वदिशा में अग्रभागवाले दो दर्भों को रखकर उन सब पर यव और बड़े बेर के चूर्ण को जब एकसाथ छिड़का जाता है, तब ये मन्त्र पढ़े जाते हैं, यह विधि बता रहे हैं । यह विधि तो अर्वाचीन काल में प्रदिष्ट की गयी है, सृष्ट्यादि में प्राप्त वेदों के पदों में श्रौतसूत्रों की बेड़ी तो नहीं डाली जा सकती । ऐसा लोक में नहीं देखा जाता कि निकृष्ट अनुचर का कहीं स्वामी अनुवर्तन करे । ज्ञान कभी स्थूलधी

गतम् । मन्येत नाम जलदेवता एतेषां मन्त्राणामियम्, तथापि जलति अपवारयति उपासितः सन् दोषान् तज्जलमपि परमात्मा कथन्नव ?

पृ० १३२४, पं० ३ यदाह—"अनन्तपराक्रमवानसि । कृपया मय्यपि शरीरबुद्धिशौर्यस्फूर्त्यादिवीर्यं पराक्रमं धेहीति तु वेदार्थबाह्यमेव, शरीरबुद्धिपदवैयर्थ्यं च ।" इति ।

वेदबाह्यार्थचिन्तक ! तत्तु न वेदार्थबाह्यम्, प्रत्युत त्वद्बुद्धिस्तरबाह्यन्तु अस्त्येव, त्वत्सामर्थ्यागम्यत्वात् । ब्रवीतु च पराक्रमः कुत्र स्थास्यति प्रार्थ्यमानः ? यदि न बुद्धौ न वा शरीराङ्गभूतकरादिषु, तदा किं जडपात्र एव ? इह मे स्मृतिवर्त्मावतरति निर्मलोक्तिरियम्—

न्यासीकृता सपदि तत्त्वमगाहमानैः,
स्वा बुद्धिरस्ति करपात्रसदृक्षविज्ञैः ।
खेदो न मे परमनर्थपरम्परां ते,
माहीधरीं प्रजनयन्ति भृशं त्वसह्याम् ।।

से किये कर्म का अनुचर नहीं होता, कर्म ही ज्ञान का अनुवर्ती हो, प्रसूत हो, यही प्रशस्त है । मन्त्र के अर्थ से उक्त चूर्ण के छिड़कने की विधि मन्त्रार्थ के अनुसार नहीं है । आपने इन मन्त्रों का देवता जल बताया है, पर इन्द्र, सोम और अग्नि देवता है । दुर्जनतोषन्याय से मान भी लें, तो भी 'जल घातने' तथ 'जल अपवारणे' से दोषों का अपवारण करने से जल अर्थात् परमेश्वर देवता है ।

पृ० १३२४, पं० ३—"आप अनन्त पराक्रमवाले हो, अतः कृपया मुझे भी शरीर, बुद्धि, शौर्य, स्फूर्ति आदि पूर्ण पराक्रम दीजिये' इस तरह का भूमिका का अर्थ वेदार्थ से बाहर है, शरीर, बुद्धि पद व्यर्थ पढ़े गये ।"

यह कथन भी वेदार्थबाह्य तो नहीं है, आपके बुद्धिस्तर से अवश्य बाहर है । केवल बुद्धि में भी शौर्य और स्फूर्ति हो सकती है, परन्तु यहां पर ऋषि का आशय है कि ये गुण शरीर और बुद्धि दोनों में ही होने चाहिये । प्रार्थित पराक्रम तो इन्हीं दो में आयेगा । यदि वह पराक्रम न बुद्धि में रहेगा और न शरीर के अङ्गभूत 'कर' आदि में रहेगा, तो क्या केवल 'पात्र' जड़ में रहेगा ? यहां मेरी स्मृति में निर्मलोक्ति आ रही है—

करपात्रसदृश विद्वानों ने तत्त्व का अवगाहन न करके अपनी बुद्धि (महीधर को) गिरवी रखदी है । इस पर मुझे कोई खेद नहीं, परन्तु वाममार्गी महीधर की परम्परा को जीवित कर रहे हैं, यह अत्यन्त असह्य है ।

https://t.me/DharmaSanral

एतच्चाऽपि श्रीमन् ! तव उत्तमार्थस्य तु चिन्ता नैवाऽस्ति । केवलं गड्डलिकाप्रवाहमनुसृत्य तत्त्वार्थं चाऽविमृशन् वृकव्याघ्रादीनां केशैर्मिश्रैः सुराग्रहान् मिश्रयन् न जाने किमलौकिकमुपन्यस्तुं प्रवर्त्तते ।

दुष्टान् प्रति स्वाभाविकः क्रोधस्तस्येश्वरस्य न तु नैमित्तिकः । दुष्टसंहारकारक गुण एव मन्युः । यद् वा मन्यतेर्दीप्तिकर्मणो युचि स्वार्थेऽपि मन्तव्यः, अथवा 'मन ज्ञाने' इत्यस्मात् 'यजिमनिशुन्धि०' (उणा० ३।२०) इति युच्प्रत्यये । निरुपाधिकसोपाधिकविषयाऽऽलोचना तु पूर्वखण्डे द्रष्टव्या ।

वस्तुतस्तु 'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्षेयमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते' इति सिद्धान्तमनुरुध्य प्रथमस्य सोमः, द्वितीयस्य इन्द्रः, अन्तिमस्य मन्त्रस्य परमात्मा देवता अस्ति । अत ऋषिकृतं भाष्यमेव मौलिकं बुद्धिसङ्गतं वेदगौरववर्द्धकञ्च ।

पृ० १३२५, अनु० १—यच्चाह—"महीधरमन्वक्षरमुद्धृत्य 'हे इन्द्रपरमात्मन् ! मदात्मनि श्रोत्रादिकं मनश्च सर्वोत्तमं भवान् दधातु अर्थात् सर्वैः पदार्थैः

और महोदय ! यह भी है कि वेदों के उत्तम चिन्तनप्रसूत अर्थ हों, उसकी तो आपको बिलकुल चिन्ता नहीं है । केवल भेडचाल चलकर १९।९ यजु-मन्त्र में 'वृक और व्याघ्रों के केशों से मिला सुरापात्रों का मिश्रण करे' यह कहकर न जाने किस अलौकिक अर्थ का उपन्यास करने का प्रयास कर रहे हो । आगे भी बुद्धिशून्यता से नकल करके, बिना अभिप्राय का स्पष्टीकरण किये प्रस्तुत कर यह भ्रान्ति उत्पन्न की है कि आश्विन सारस्वत और ऐन्द्रपात्र का यथाक्रम वृक, व्याघ्र और सिंह के केशों से मिश्रण किया जाये, इन तीनों यजुर्मन्त्रांशों की देवता सुरा है, ऐसी नकल करने से आपने व्यर्थ बढ़ा डाला ।

आप लिखते हैं कि 'परमेश्वर को निरुपाधिक स्वप्रकाशमय माना जाये, तो कोप की सत्ता नहीं बन सकती' यह कथन बुद्धिशून्य है; क्योंकि सन्तों पर अपना अनुग्रह करना और दुष्टों पर मन्यु (कोप) से दण्ड देना स्वाभाविक है, नैमित्तिक नहीं । दुष्टों के संहार करने का यह प्रभु का गुण है । दीप्ति=कान्ति अर्थवाली 'मन्' धातु से औणादिक युच् करने पर मन्यु शब्द सिद्ध होता है । निरुपाधिक सोपाधिक विषय की आलोचना प्रथम खण्ड में कर दी गयी है ।

'यत्काम ऋषि.०' के अनुसार इन मन्त्रों के सोम, इन्द्र और परमात्मा देवता हैं । अतः ऋषिदयानन्दकृत भाष्य ही मौलिक, बुद्धिसंगत व वेदगौरववर्द्धक है ।

पृ० १३२५, अनु० १—"महीधर का अनुकरण करते हुए यह कहना कि 'हे इन्द्र परमात्मन् ! मुझ में श्रोत्रादि तथा उत्तम मन आप धारण करें अर्थात् सब

सह वर्तमानान् अस्मान् सदा कृपया करोतु पालयतु च' इति वेदबाह्यम्" इति ।

तत्तु कथनं बुद्धिशात्रवमेव । स्वयमिन्द्रियमिति पदस्येन्द्रियार्थमग्रहणात् । इन्द्रपदेन मघवेत्यर्थस्य गतार्थत्ववचनं मतेर्निष्कोशतैव ते । यतो हि मघं हि धनवाचकम्, तद्ध्यत्र विज्ञानादि एव ।

पृ० १३२५, अनु० ३—"यत्तु स्वाहाकृतयः०' इत्यादिनिरुक्तोद्धरणव्याख्यानम्, अविचारितरमणीयम्, प्रियभाषणादौ लोके स्वाहाशब्दाऽप्रयोगात् । स्ववागुक्त्यनुसारेण सदा वागिन्द्रियेण वक्तव्यमिति तु निरर्थकं वचनम् । वाचो वदनक्रियायाः करणत्वात्, कर्तृत्वस्य वक्तृनिष्ठत्वाच्च । वागुक्तिर्वाचानुसरणीयेत्यपार्थकम् । स्वपदार्थं प्रत्येव स्वत्वं वाच्यम्, इति स्वाहापदार्थोऽपि न युक्तः, तथा प्रयोगादर्शनात् ।" इति निखिलोऽपि विजयातरङ्गसङ्गप्रसूतप्रसङ्ग इव ।

यतो हि 'सु' शब्दस्य 'सुः पूजायां भृशार्थेऽनुमतिकृच्छ्रसमृद्धिषु' इति

पदार्थों के साथ वर्तमान हमको सदा अपनी कृपा से पालें' यह भूमिका का अर्थ वेद से बाहर है" । यह भी बुद्धि की शत्रुता करना है । महीधर का अनुकरण कर आपने भी इन्द्रिय अर्थ ग्रहण किया है । यह कथन कि मघवा का अर्थ तो इन्द्र-पद से ही गतार्थ है, पदार्थ को न समझ पाना ही है । ऋषिदयानन्द ने 'मघवानः' इस पद के दो पद तथा यजुर्वेदभाष्य में एकपद मानकर अर्थ किये हैं, जैसे 'मघानि बहूनि धनानि विद्यन्ते येष्वैश्वर्ययोगेषु ते मघवानः' अर्थात् जिन ऐश्वर्यों में बहुत से धन हों और जहां पर 'मघ विज्ञानादिक धनवाला परमेश्वर' यह अर्थ किया है । दोनों ही प्रकार उत्तम हैं । 'सचन्ताम्' को 'सचताम्' रूप में परिणत किया जायेगा ।

पृ० १३२५, अनु० ३—आ०—"स्वामी दयानन्द ने 'स्वाहाकृतयः' इत्यादि निरुक्त के वचन को उद्धृत करते हुए लिखा है कि इस शब्द का अर्थ निरुक्तकार यास्क मुनि ने अनेक प्रकार से कहा है, सो लिखते हैं—'सु आह, सब मनुष्यों को अच्छा मीठा कल्याण करनेवाला और प्रिय वचन सदा बोलना चाहिए ।' इत्यादि कथन अविचारित है; क्योंकि प्रियभाषण आदि में लोक में 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग नहीं होता । 'जैसी बात उनके ज्ञान के बीच में वर्तमान हो, जीभ से भी सदा वैसा ही बोलें' यह कहना भी निरर्थक है; क्योंकि वागिन्द्रिय तो वदन-क्रिया का साधन है और वक्तृत्व वक्ता का धर्म है । वागिन्द्रिय को वाणी का अनुसरण करना चाहिए, यह कहना भी गलत है । सब मनुष्य अपने पदार्थ को ही अपना कहें, यह भी स्वाहा-पद का अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा प्रयोग देखा नहीं जाता ।"

समा०—क्या कहें !! यह सारा ही आपका कथन ऐसा लगता है, जैसे

https://t.me/DharmaSanrai

मेदिन्याम् । उत्तमप्रियार्थयोः—'सुगन्धिः' इति । सुन्दरार्थे—सुमध्यमा, सुकेशी इति । श्रेष्ठपूर्णतासमुचितार्थेषु च—'सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः, सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः । ..... सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ।।' इति । सारल्य तत्परतायां च—सुकरः, सुलभ इत्यादि । अत्यर्थे—'सुदारुणः' इत्यादि-प्रयोगा दृश्यन्ते । तदा प्रियाद्यर्था ऋषिणा गृहीता ऋषेः पूर्णप्रज्ञात्वं सडिण्डिमं घोषयन्ति ।

'आह' इति च सामान्यकाले भाषणार्थे वेदे ग्रहीष्यत एव । वैखरी वाक् तु मनुष्यैरुच्चारिता भवति, परं ज्ञानमध्यस्थिता वाक् तु मध्यमा तदुत्तरा वा भवतीति सिद्धमेव । 'मनस्येकं वचस्येकम्' इति सारमाधाय तां मध्यमां पश्यन्तीं वा वाचमुच्चारणीया मुखेनाऽपीति सूक्ष्मभावमप्रपद्यमानो वक्तव्यां निरर्थकमेव वक्ष्यतीत्यसन्दिग्धम् । इत्थं विवेचकाः प्रपश्यन्त्येव एतत्प्रज्ञासामर्थ्यम् । 'प्राह' इत्यस्य एवं स्वकीयं पदार्थं प्राह कथयेदित्येवार्थो नान्य इति दिक् ।

आपका कथन विजया (भांग) की तरङ्ग के संग से पैदा हुआ है; क्योंकि 'सु' शब्द के पूजा, भृशार्थ अनुमति, कृच्छ्र, समृद्धि आदि अर्थ हैं। उत्तम और प्रिय अर्थों में—सुगन्धि। सुन्दर अर्थ में—सुमध्यमा, सुकेशी। श्रेष्ठ, पूर्णता, समुचित अर्थों में जैसे सुजीर्ण अन्न, सुविलक्षण सुत, सुशासित स्त्री, सुसेवित राजा, सुदीर्घ काल में भी विकृत नहीं होते। सरलता और तत्परता अर्थ में—सुकर, सुलभ आदि प्रयोग हैं। अत्यर्थ में सुदारुण आदि प्रयोग दिखाई पड़ते हैं। तब प्रिय-मधुर आदि अर्थों में 'सु' को ग्रहण करना ऋषि दयानन्द की पूर्णप्रज्ञता का द्योतक है।

'आह' शब्द 'ब्रुवः पञ्चानाम्' (अष्टा० ३।४।८४) इससे तिप् को णल् और ब्रू को 'आह' आदेश होने पर बनता है। 'सु+आह' पद का 'मयूरव्यंसकादयश्च' (अष्टा० २।१।७१) इससे समास व टाप् करने पर 'स्वाहा' शब्द की सिद्धि होती है। वेद में सामान्यकाल में इसका प्रयोग भाषण अर्थ में होता है। मनुष्य वैखरी वाणी का उच्चारण करते हैं। यहां पर ज्ञान के बीच में स्थित जो 'वाक्' होगी वह तो मध्यमा या इससे श्रेष्ठ होगी। महर्षि ने 'मन में तथा वाक् में एकता रहे' इस बात का उपदेश किया है। इसी सार के अनुरूप मध्यमा या पश्यन्ती के अनुकूल ही मुख से भी उच्चारण करना चाहिए। इस सूक्ष्म भाव तक न पहुंचने वाला तो इस वक्तव्य को निरर्थक ही कहेगा, यह निःसन्देह है। यहां विवेचकजन इन महोदय की प्रज्ञायोग्यता को समझ ही लेंगे। 'स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्' सूत्र से भी स्पष्ट है कि 'स्व' का अर्थ अपना धन या पदार्थ होता ही है, फिर 'स्वं पदार्थं प्राह वक्ति कथयेद् वा' यह कथन ठीक है।

पृ० १३२६—यदुक्तम्—"ये शब्दा यस्मिन्नर्थे प्रसिद्धा निर्वचनेन त एव तदर्थत्वेन निरुच्यन्ते।" महोदय! भवादृशदुःसाहसिकानां वेदभाष्यं चिकीर्षूणां मतौ तु 'मण्डूक-अहि-वृत्रादयः' शब्दा भेकसर्पाऽसुरादिष्वर्थेषु एव प्रसिद्धाः, परं न पण्डित-वारिदादिषु, फलतोऽनर्था एव समपादिषत वेदानाम्। असकृत् पूर्वमदो दर्शितं मया।

हे मण्डूकराज! पुराणकूपाद् विनिःसृत्य अर्थानां विशालं वारिधिं वीक्षताम्, सा च निःसरणनिःश्रेणिः स्वामिदयानन्देन सर्वसाधारणाय सुलभा कृता।

पृ० १३२८, पं० २—"ईश्वरो मनुष्यानुपदिशतीदमिति चिन्त्यम्। विजयाय च सन्त्विति तु शब्दार्थबाह्यम्।" इति सत्यम्, शब्दानामर्थेनैव बाह्यम्, वहनीयम्, अधिगन्तव्यमित्यर्थ एव न तु बाह्यम्।

चिन्तनशील! सर्व एव वेद ईश्वरोपदेशस्तन्नात्रापि काचिद् विप्रतिपत्तिः। न हि स्थिरशब्देनेह दृढार्थस्य गतार्थता, इह वीलूशब्देनाभञ्जनार्थस्याऽपि ध्वनि-

---

पृ० १३२६—"जो शब्द जिस अर्थ में (लोक में) प्रसिद्ध हैं, वे ही अर्थ उनके कहे जाते हैं" वेदभाष्य करने का इरादा रखनेवाले आपने यह शब्द कहकर तो सारी उत्तम आशाओं की कमर ही तोड़ दी। श्रीमन्! दया करो वेद पर जो लोक-प्रसिद्ध अर्थों को ही वेद के सिर मढ़ने को चले हैं। इस प्रकार तो आप मण्डूक, अहि, वृत्र आदि शब्दों के निघण्टुगत अर्थों को कतई न लेकर मेंढक, सर्प, असुर आदि अर्थ ही लेंगे और पण्डित, मेघ आदि अर्थों को कहीं न लेंगे; क्योंकि लोक में ये शब्द मेंढक आदि अर्थ में ही प्रसिद्ध हैं।

निष्कर्ष यह है कि फिर वेदों का तो पूरा अनर्थ ही हो जायेगा। ऊपर हमने इस भाव को असकृत् दर्शाया भी है। अतः कुएं से निकलकर समुद्र के मेंढक बनो। वह कुएं से निकलने की नसेनी महर्षि दयानन्द ने सब साधारण के लिये लगा दी है।

पृ० १३२८, पं २—आ०—"ईश्वर मनुष्यों को ऐसा करने का उपदेश देते हैं, यह अर्थ चिन्त्य है। 'तुम्हारे विजय के लिये हो।' यह अर्थ भी मन्त्रबाह्य है।"

समा०—वस्तुतः यह शब्द के अर्थ से बाह्य अर्थात् वहन करने योग्य है, बाहर नहीं है। आप जिसे चिन्त्य बताते हो, वह चिन्तन के योग्य ही है।

चिन्तनशील महाशय! समस्त वेद ही ईश्वर का उपदेश है, पर इस मन्त्र में 'वः' अर्थात् 'तुम सब के स्थिर हों' यह साक्षात् उपदेश है। धन्य है आपकी

https://t.me/DharmaSamrat

तत्वात् । वीलु, वीलमिति संस्तम्भकर्मा । भृमृशीङ्तृचरित्सरितनिधनिमिमस्जिभ्य उः (उणा० १।७) इत उप्रत्ययो बाहुलकादस्मादपि भवति । संस्तब्धो दृढो भवति अनेन, संस्तभ्यन्तेऽनेन शत्रव इति वा । एवं प्रशस्यते शस्त्रम् ।

'तविषी' इत्यत्र वृद्ध्यर्थः सौत्रो धातुः । ततष्टिषन् प्रत्ययः । अथवा 'स्तु' धातोरपि आद्यसकारलोपेऽपि सम्भवति ।

विपूर्वकात् स्तुत्यर्थकाद् वीलुधातोः शब्दसिद्धेः प्रशंसितानीत्यपि अर्थः । सामान्यतया स्थूलदृशा सेनाया बलस्य वा अन्योन्यस्याऽन्तर्भावः प्रतीयते, सूक्ष्मतयाऽऽकलनेन शेषाऽर्थोऽवगम्यते । यथा – सिनोतीति सेना 'षिञ् बन्धने' (भ्वा०) 'कृवृजसिद्रुपन्यनिस्वपिभ्यो नित्' (उणा० ३।१०) इति सिध्यति । बलो हि नाम बलति, (बल प्राणने, भ्वा० प० सेट्) अच् (अष्टा० ३।१।१३४) यद् वा बलते, 'बल संवरणे संचलने च' इति । स्वामिना राज्ञा सहिताऽपि नियमे बद्धा, परं राज्ञोपस्थितिरहितमपि बलं भवति । यद्धि प्राणिति, प्राणयति वा संवृणोति

मति ! एक ओर तो आप मन्त्रार्थ में लिखते हैं 'शत्रूणां पराणुदे अपनोदनाय पराजयाय' अर्थात् शत्रुओं के पराजय के लिये हों । इसमें विप्रतिपत्ति क्या है ? आप कहते हैं 'वीलू शब्द का प्रशंसित अर्थ नहीं है, किन्तु दृढ ही है' । हमें आपकी ऐसी बुद्धि पर तरस आ रहा है जो स्थिर और दृढ शब्दों के अर्थ में भी अन्तर नहीं समझ पाती, जब कि दृढ का अर्थ कठोर और कठिन भी होता है । इस रूप में भिन्नार्थता स्पष्ट है । अब 'वीलू' शब्दार्थ में जो गम्भीरता है, वह देखिये । वीलु धातु संस्तम्भकर्मा है । 'भृमृशीङ्०' (उणा० १।७) सूत्र से 'उ' प्रत्यय करने पर वीलु शब्द सिद्ध होता है । जिसके द्वारा शत्रुओं का संस्तम्भन हो सके अर्थात् स्थिर शब्द से स्वयं की स्थिरता और वीलु शब्द से शत्रुओं को रोक देना अर्थ भी ध्वनित है । 'वि' उपसर्गपूर्वक 'ईड' स्तुतिवाली धातु से बनने पर प्रशंसित अर्थ होता है ।

'तविषी' वृद्ध्यर्थक 'तव' सौत्र धातु से 'टिषच्' प्रत्यय करके अथवा 'स्तु' धातु से भी आदिसकार-लोप करने पर सिद्ध है, तथा 'तविषी बलनाम' (निघण्टु २।९) इस शब्द के सेना या बल अर्थ करने में आप आक्षेप करते हैं, दोनों एक ही हैं । फिर स्वामी जी ने दो अर्थ क्यों किये ? उसका उत्तर यह है कि पर्यायवाची होते हुए भी प्रति शब्द अपना एक विशेषार्थ भी धातु के आधार पर रखता है । जैसे 'षिञ् बन्धने' धातु से सेना तथा इन (स्वामी) के सहित सेना और संवरण वा संचलन अर्थवाली 'बल' धातु से 'बल' शब्द सिद्ध होता है ।

इस प्रकार स्वामी के सहित सेना व राजा से रहित भी प्राणन-संवरण आदि अर्थवाला बल कहाता है । अतः सेना का बल के अर्थ में अन्तर्भाव मानना

संचलति संचालयति वा राष्ट्रम् इति विशिष्टोऽर्थोऽभिव्यज्यते । तस्मात् 'सेनाया बलेऽन्तर्भावात्' इत्युक्तिः परास्तमतेरेव । अतो दयानन्दोक्तमेव प्रशस्यतेतराम् । "तविषीः सेनाऽत्यन्तप्रशंसनीया बलं चाऽस्तु" इति ।

पृ० १३२८, पं० ४—यदाह—"येन युष्माकं चक्रवर्तिराज्यं स्थिरं स्यादित्यादि न वेदार्थः" इति तु दास्यमनोवृत्तिपोषिकोक्तिः ।

श्रीमन् ! 'प्रयोजनं विना न मन्दोऽपि प्रवर्तते' इत्यनुसन्धाय धीमता ऋषिणा बलस्य लक्ष्यमपि निर्दिष्टम् । तत्र महर्षेः क्रान्तदृष्टेरेतत्प्रमुखतममुद्दिष्टं ध्वनितं मन्त्रव्याख्यानव्याजेनेह, मच्चक्रवर्तिराज्यं पुनः स्थापयितुं सन्नद्धा भवेयुराङ्गलानां पराधीनतापाशानुच्छिद्य । ये च दुष्टकर्मकारिणोऽस्मद्विरोधिनः शत्रव एव सन्ति, तेषां पराजयः करणीय इति ।

परम् 'अमनसभा'माध्यमेन स्वातन्त्र्यान्दोलनविरोधी अयम् 'अयं न वेदार्थः, वेदाक्षरबाह्यत्वात्' इत्येवानुर्वरमतिसुलभदृढरूढिशिवकबन्धनान्मोन्मोचयितुं यतते स्वीयमतिम् अन्यांश्च वर्जयति तथाविधप्रयासात् ।

महर्षिणा तु वेदव्याख्याने आस्तिक्यम्, वेदाध्ययनम्, दुराचारनाशनम्, देशस्वातन्त्र्यविधानभावश्चेति सार्वत्रिकोऽवसरो लभ्योऽतितरामभीप्सितः ।

पृ० १३२८, पं० ८—यदुक्तम्—"इषे पिन्वस्वेत्यस्य व्याख्यानमपि कल्पना-

---

अज्ञान है । अतः ऋषि का व्याख्यान अक्षरशः सारगर्भित है ।

पृ० १३२८, पं ४—आप कहते हैं कि—"जिससे तुम्हारा चक्रवर्ती राज्य स्थिर हो' यह सब मन्त्र से बाहर है ।"

महोदय ! यह तो महर्षि की अभिलाषा की पोषिकोक्ति है, तथा यह अभिव्यक्त करती है कि सेना के अखण्डित होने का प्रयोजन चक्रवर्ती राज्य प्राप्ति ही हो सकती है । मन्त्र-व्याख्यान-व्याज से परतन्त्र राष्ट्र में संकेतोद्बोधन ऋषि ने किया है कि 'हमारे विरोधी शत्रुओं का पराजय हो और हम चक्रवर्ती राजा बनें ।

परन्तु 'अमनसभा' के माध्यम से स्वतन्त्रता-आन्दोलन का विरोधी यह लेखक 'चक्रवर्ती राज्यादि की बात कहना वेदार्थ नहीं है' इत्यादि कहकर अनुर्वरमति सुलभ दृढ रूढि के खूंटे के बन्धन से अपनी मति को खोलना ही नहीं चाहता तथा औरों को भी वैसा स्वातन्त्र्य-प्रयास करने से रोकता है ।

महर्षि तो वेद के व्याख्यान में आस्तिकता, वेदाध्ययन, दुराचारनाश, देशस्वातन्त्र्यभावना के लिए सार्वत्रिक अवसर ढूंढ लेते हैं ।

पृ० १३२८, पं० ८—"स्वामी दयानन्द का 'इषे पिन्वस्व०' इस मन्त्र का

https://t.me/DharmaSamrat

बहुलमेव, हे भगवन् ! इति सम्बोधनपदस्य मन्त्रेऽभावात् ।" इति ।

अत्र पृच्छामि भवन्तं कल्पनाकीलबद्धबुद्धिं यत् 'इषे त्वोर्जे०' (यजु० १।१) इति मन्त्रे 'हे शाखे' इति सम्बोधनपदस्याभावः, अग्रे 'हे वत्साः ! मातृभूमेः सह गमने सति सायं दोहो न लभ्यते । यद्वा—यथा वायुः पादप्रक्षालननिष्ठीवनादिभिरुपहतां भूमिं शोषयित्वा पुनाति' इत्यादि-अनल्पमनर्गलं मन्त्राक्षराद् बहिः कल्पितं महीधरेण, तत् कुत आयातम् ? अहो ! असत्पक्षग्रहग्रहिलमहीधरानुकृतं तु क्षमते कल्पनम्, न परं सत्यकल्पनाशीलमतिमहर्षेर्भाष्यम् ।

पृ० १३२८, पं० १२—यदुक्तम्—"उत्तमेच्छायै परमोत्कृष्टायान्नाय चास्मान् (पिन्वस्व) स्वतन्त्रतया पुष्टिमतः प्रसन्नान् कुरु' इत्यपि काल्पनिकोऽप्रसङ्गतश्चार्थः, इच्छायाः सौन्दर्यज्ञानेन स्वयं जायमानत्वात् प्रार्थनीयत्वानुपपत्तेः, इच्छापेक्षयेष्यमाणस्यैव प्रार्थनीयत्वौचित्यात् ।" इति तून्मादगदितम् । यथाह चरकः—

व्याख्यान कल्पनाबहुल है; क्योंकि हे भगवन् ! यह सम्बोधन पद तो मन्त्र में है ही नहीं ।"

कल्पना के खूंटे से बद्धमति से मैं पूछना चाहता हूं कि 'इषे त्वोर्जे' (यजु० १।१) इस मन्त्र में 'हे शाखे' इस सम्बोधन-पद का अभाव है, आगे भी 'हे वत्साः ! माताओं के साथ जाने में गाय का दुहना नहीं हो सकता अथवा जैसे वायु पाद-प्रक्षालन, थूकना आदि से विकृत भूमि को सुखाकर पवित्र कर देता है' इत्यादि अनर्गल बहुत-सी कल्पना महीधर और आपने मन्त्राक्षरों से बाहर की कर डाली हैं, वे सब कहां से आगयीं ? असत्य पक्ष का ग्रहण करनेवाली आपकी मति महीधरादि को तो सहन कर रही है, पर ऋषि के संगत सम्बोधन की आलोचना कर रही है। आश्चर्य है !

पृ० १३२८, पं० १२—आ०—यह कहना कि "उत्तम इच्छा के लिए और परम उत्कृष्ट अन्न के लिए हम लोगों को स्वतन्त्रता से पुष्टिमान् करो' यह काल्पनिक और अप्रसङ्गार्थ है। सौन्दर्यज्ञान से इच्छा के स्वयं पैदा होने से प्रार्थना करना ठीक नहीं। इच्छा की अपेक्षा वाञ्छित वस्तु के ही लिए प्रार्थना की जा सकती है।"

समा०—ऐसा प्रतीत होता है कि आरोप उन्माद की अवस्था में किया गया है। जैसा आचार्य चरक ने कहा है—

धी-विभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च,
पर्याकुला दृष्टिरधीरता च ।
अबद्धवाक्त्वं हृदयं च शून्यम्,
सामान्यमुन्मादमदस्य लिङ्गम् ॥

इत्यनुसारं वाचोऽसंयमनादविचार्य यद्वा तद्वा प्रलपति एष लेखकः ।

अत्रैष ऋषेरभिप्रायः—हे भगवन् ! त्वमस्मान् पिन्वस्व परमुत्तमेच्छायै एव, स्वातन्त्र्य वातावरणे भुज्यमानपरमोत्कृष्टायान्नाय च इत्यस्माकं समेषां कामना । स्वतन्त्रताया अभावे भुज्यमानमन्नं नास्मद्दृष्टौ परममुत्कृष्टं च । एवंविधा प्रार्थना तु आवश्यकी ।

महाशय ! इह हि वेदमन्त्रे पदविन्यासक्रमोऽपि महत्त्ववान् । 'ऊर्ज' वेदविद्याविज्ञानग्रहणाय (इष्) उत्तमेच्छा आधारो बलाय चान्नं मूलकारणम् । एवम् 'इष' पदव्याख्यानमतितरां रहस्यवद्भाष्यमिदम् । 'इषम्' इति निघण्टौ अन्ननामसु पठितम् । यद्यपि निघण्टौ इषम् ऊर्क् चेदिति द्वयमपि बलनामसु पठितम् । परम् अन्नस्य बलाधायकत्वाद् 'इष्' अन्नम्, 'उर्क्' बलमित्यर्थो गरीयान् । उव्वट-महीधराभ्याम् इषे राये रमस्व' (यजु० १३।३५) इति मन्त्रे इष्-शब्देनान्नार्थस्य

धी-विभ्रम, दृष्टि की पर्याकुलता, झट से आरोप लगाने में अधीरता, वाणी का शास्त्र से अबद्ध होना और हृदय की शून्यता के लक्षण उन्माद के ही होते हैं।

इसके अनुसार वाणी में असंयम, बिना विचारे जो कुछ कह डालना, यह इस लेखक का स्वभाव है।

महोदय ! यहां पर ऋषि का अभिप्राय यह है कि हे भगवन् ! तुम हमें उत्तम इच्छा तथा स्वातन्त्र्य वातावरण में उत्कृष्ट अन्न के लिए पुष्ट करो। यह हम सब की कामना है। स्वतन्त्रता के अभाव में भुज्यमान अन्न हमारी दृष्टि में परम उत्कृष्ट अन्न नहीं है। जैसी कि कहावत है—

"मिले खुश्क रोटी जो आजाद होकर।
पराधीनता के वो हलुए से बेहतर ॥"

यह प्रार्थना तो आवश्यक है। आपने इस पर विचार नहीं किया।

इस मन्त्र का पद-विन्यासक्रम भी महत्त्वपूर्ण है। वैदिक पद अनेकार्थक हैं। ऊर्क् का अर्थ पराक्रम, वेदविद्या-विज्ञान, अन्न, बल, आदि हैं। इसी प्रकार 'इष्' के अर्थ इच्छा, अन्न आदि हैं। 'ऊर्जे पिन्वस्व' में जब 'ऊर्जे' का अर्थ वेदविद्या करें, तो इष् का अर्थ इच्छा तथा जब 'ऊर्ज्' का अर्थ बल करें, तब 'इष्' का अर्थ अन्न करें। इस प्रकार परस्पर हेतुता द्वारा उत्कृष्ट अर्थ निकलता है। महर्षि की यही दृष्टि में था। उव्वट महीधर ने (य० १३।३५) मन्त्र में 'इष्' से अन्न अर्थ भी लिया है।

https://t.me/Dharmasamrat

अपि प्रतिपादकत्वम् । अत एव सङ्गच्छां 'इषे एकपदी' 'ऊर्जे बलाय द्विपदी' इत्यादि पाठार्थो बुद्ध्या सङ्गच्छते । भवांस्तु महीधरगृहीतार्थम् ऊर्जे बलायेत्येव गृह्णाति नाधिकमूहते, यावत् शङ्करेण महाप्रज्ञेन 'ऊर्जममृतं चोऽजीवति' इत्यर्थ ऊहितः ।

पृ० १३२८, पं० १४ –"णिजन्ताभावादस्मानिति कर्मणश्चाभावाद् अध्याहारे मानाभावाच्च' इत्यत्रानेनोच्यते यत् 'पिन्वस्व' इत्यत्र 'अस्मान्' इति कर्म प्रयुक्तं तन्न युक्तम् ।"

तत्रोच्यते यदत्रान्तर्भावितण्यर्थो मन्तव्यः । अथ च उव्वटेन 'पिन्वस्व' विप्रुषो मुञ्च इति विप्रुषः कर्मत्वं कथं प्रयुक्तम् ? ऋषिणा 'अस्मान् पुष्टिमतः कुरु' इति प्रयुक्तं सम्यक् । सत्य व्याजबधिर आत्महितं समग्रं शृणुते, न परहितजनकम् ।

पृ० १३२९, पं० १ –"पराक्रमाय दृढप्रयत्नान् कृत्वा पिन्वस्व इत्यपि नार्थः, गौरवात्" इति ।

परन्तु आपको तो महर्षि के वचनों से एलर्जी है । उक्तार्थ के गाम्भीर्य को ध्यान में रखकर ही 'इषे एकपदी भव' में इष् का अर्थ अन्न और 'ऊर्ज द्विपदी भव' में ऊर्ज् का अर्थ बल लिया है । यह वैदिक शैली है कि कहीं पर कार्य का आधेय पूर्व में और कहीं पर कारण या आधार आदि कर कथनपूर्ति में किया जाता है । आप तो महीधर के खूंटे से बंधे केवल 'ऊर्ज अर्थात् बल के लिए' इतना भर अर्थ ग्रहण करते हैं, स्वतन्त्र प्रज्ञा का कोई प्रयोग नहीं । जबकि शंकर महाप्राज्ञ ने 'ऊर्जम्' का अर्थ अमृत भी ऊहित किया है ।

पृ० १३२८, पं० १४—"यहां णिजन्त प्रत्यय का अभाव है और साथ ही 'अस्मान्' इस तरह के कर्मवाचक पद का भी अभाव है । इसके अध्याहार करने में कोई प्रमाण नहीं है । अर्थात् 'पिन्वस्व' अकर्मक है तो स्वामीजी ने 'अस्मान्' कर्म कहां से गढ़ लिया ?"

इस पर हमारा समाधान है कि यहां अन्तर्भावित ण्यर्थ है । दूसरे 'पिवि' सेचने सेवने च (भ्वादि०) धातु से 'पिन्व' या 'पिन्वस्व' बनता है । यह सकर्मक है, अतः शंका निर्मूल है । साथ ही 'पिन्वस्व' का 'विप्रुषः सिञ्च' महीधर लिखते हैं । वहां पर 'विप्रुषः' अध्याहार में आपने प्रमाण नहीं मांगा, धन्य हो पक्षपात-पक्षाघात से पीड़ित आपकी प्रखर प्रज्ञा को ! सच है बहरा अपने मतलब की तो सुन लेता है और परहित की बात में बहरा ही बना रहता है ।

पृ० १३२९, पं० १—"हम को सदा उत्तम पराक्रम के लिए दृढ़ प्रयत्न करनेवाला कीजिये, ऐसा अर्थ करने में गौरव है ।"

इति सत्यमुच्यतेऽनेन यतिना येनार्थेन राष्ट्रस्य जनताया वेदस्य वा गौरवं वर्धते, असावर्थः करणीयः । यदि गौरवशब्देन ग्रन्थविशालतामभिप्रेत्याक्षिपति तदाऽपि न ज्यानिस्तद्वृद्धेः ।

पृ० १३२९, पं० २—"ब्रह्मणे इत्यस्य वेदविद्याग्रहणाय परमप्रयत्नकारिणो ब्राह्मण-वर्ण-योग्यान्, क्षत्राय साम्राज्याय क्षत्रियस्वभावयुक्तान् चक्रवर्तिराज्य-सहितानस्मान् कुरु' इत्याद्यर्थस्तु निर्मूलः, दुरभिसन्धिमूलकश्च ।"

इत्यपि अल्पाध्ययनमूलकत्वमस्य द्योतयति आक्षेप्तुः । ब्रह्मेति वेदस्तस्मै वेदविद्याग्रहणायेत्यर्थः साधीयानेव सर्वथा, परं जाने भवदाक्षेपस्त्वत्र यद्विना प्रयत्नेन ब्राह्मणयोग्यज्ञानकर्मस्वभावं विनैव च स्वामिदयानन्देन कथं न ब्राह्मणा मताः ? महाशय ! छलकपटदम्भविजृम्भाजिह्मवृत्तयो वेदद्वेषिणो वेदाध्ययनश्रम-विहीनाः केवलजातिजाताऽखर्वगर्वा अपि ब्राह्मणा न मन्येरन्नित्यभिप्रायेण

आपका यह कथन गौरव है, आप अच्छे सन्यासी हुए जो जिस अर्थ से राष्ट्र का, जनता या वेद का गौरव बढ़े, उससे आपके पेट में पीड़ा क्यों ? ओह ! कदाचित् गौरव पद से ग्रन्थविशालता आपादन की बात आप कह रहे हों, तो भी हमारी कोई हानि नहीं; क्योंकि वेद-रक्षा के लिए यह प्रयास स्तुत्य है ।

पृ० १३२९, पं० २—आ०—"ब्राह्मण, क्षत्रिय पदों में एकवचन ब्राह्मणजाति और क्षत्रियजाति का सूचक है । ब्राह्मण और क्षत्रिय पदों का अर्थ 'सत्यशास्त्र अर्थात् वेदविद्या के पढ़ने-पढ़ाने और उससे यथावत् उपकार लेने में इसको अत्यन्त समर्थ कीजिये, अर्थात् जिससे हम लोग उत्तम विद्यादिगुणों और कर्मों को करके ब्राह्मणवर्ण हों । हे परमेश्वर ! आपके अनुग्रह से हमलोग चक्रवर्तिराज्य और शूर-वीर पुरुषों की सेना से युक्त हों, इसके लिए क्षत्रियकर्म के अधिकारी हम को कीजिये' ऐसा अर्थ करना भी निर्मूल है । इस तरह का अर्थ करने में एक दुरभि-सन्धि भी छिपी है । ब्रह्म और क्षत्र जातिविशेषवाचक हैं इनके ये अर्थ नहीं" ।

समा०—उक्त आक्षेप से पता चलता है कि आपका अध्ययन अत्यन्त सीमित है । ब्रह्म वेद को कहते हैं । चतुर्थ वेद के लिए अर्थात् वेदविद्या के ग्रहण के लिए, यह सीधा-सा अर्थ है । पर आपके आक्षेप का लक्ष्य समझ में आ रहा है कि स्वामी दयानन्द ने ब्राह्मण के द्वारा कर्म और स्वभाव की योग्यता और प्रयत्न के बिना ही ब्राह्मण क्यों नहीं मान लिया ? महाशय ! छल-कपट और दम्भ की विजृम्भा (अकड़) से कुटिल वृत्तिवाले, वेदविद्वेषी, वेदाध्ययन के श्रम से पराङ्-मुख केवल जातिमात्र उत्पत्ति से अखर्व (बड़े) गर्ववाले भी ब्राह्मण न माने जावें, इसलिए ऋषि ने ऐसा व्याख्यान किया है । ब्रह्म शब्द ही इस व्याख्या में

https://t.me/DharmaSamrat

ऋषिणा एतद्व्याख्यानमकारि । अस्मिन्नर्थे ब्रह्मणो पिन्वस्वेति मूलं मुहुर्निर्मूलं प्रलपन्नाभिजित एव ।

यदत्राह 'दुरभिसन्धिमूलकश्च' इति मयाऽङ्गीक्रियते साधुवादश्च प्रदीयते आङ्गलदासताशासितमानसाय सूक्ष्मेक्षिकायै च ते । सत्यं महयानन्दस्यार्यसमाजस्तस्मिन् काले आङ्गलविद्रोहिश्रेण्यामेवागण्यत । अत्र प्रच्छन्न इव महर्षिः स्वदेशवासिमनःसिरासु स्वाधीनभावनारूपसञ्जीवनौषधम् एतद् व्याख्यानसूचीवेधकर्मणा प्रावेशयत् । तात्कालिकशासकविनियुक्तकिंकरदुरभिसन्धिरेवामन्तव्यः । परं सम्प्रति स्वदेशवासिसज्जनैस्तु स्वभिसन्धिरेवाख्यापयितुमर्हमेतत्कृत्यम् ।

नात्र ब्रह्मक्षत्रशब्दौ जन्मजातिवाचकौ, वेदे सर्वशब्दानां मूले यौगिकत्वात् ।

मूल है, बल्कि आपका कथन है कि केवल जाति का अर्थ ये ब्रह्म तथा क्षत्र शब्द देते हैं, निर्मूल व प्रमाणहीन है क्योंकि उव्वट, महीधर ने भी ब्रह्म का अर्थ जातिपरक न करके यजुः (१९।४१, २३।४८) में त्रयीलक्षण (सत्य, ज्ञान और अनन्त) किया है। यजुः (१८।७९) में ब्राह्मण का अर्थ—त्रयीलक्षणेन वेदेन (तीन लक्षणोंवाला वेद) आदि में ब्रह्म-शब्द जातिवाचक नहीं । इसी प्रकार क्षत्र का अर्थ भी ऋषिकृत प्रामाणिक है। इनका हिन्दीकर्ता तो न जाने किस स्वप्नलोक में विचरण करता है जो यहां (हिन्दी पं० ४) लिख मारा विना प्रसङ्ग के —"आकाश और पृथ्वी को भी आप तपाइये ।"

आपने "दुरभिसन्धि छिपी है" ऐसा लिखा है, पर वह दुरभिसन्धि स्पष्ट न की । यह भी आप की एक 'दुरभिसन्धि' ही है, अन्यथा अंग्रेजीदासता से ग्रस्त आपके मन के इस आरोप को हम स्वीकार भी करते हैं; क्योंकि ऋषि गुप्तरूपेण देश को स्वतन्त्र बनाने की सांकेतिक प्रेरणा दे रहे हैं, यह लिखते हुए कि 'हे परमेश्वर ! आपके अनुग्रह से हमलोग चक्रवर्ती राज्य और शूरवीर पुरुषों की सेना से युक्त हों'। आप की इस सूक्ष्म दृष्टि के लिए साधुवाद है । सच है, दयानन्द का आर्यसमाज उस समय अंग्रेजों की विद्रोही श्रेणी में था । प्रच्छन्नरूप में महर्षि देशवासियों के मानस में स्वाधीनता की भावना से परिषिक्त संजीवन औषध को उक्त व्याख्यारूपी इञ्जेक्शन देकर प्रविष्ट कर रहे थे । तात्कालिक शासकों द्वारा विनियुक्त किङ्करों को यह भाष्य 'दुरभिसन्धि' ही समझना चाहिए । परन्तु इस समय स्वतन्त्र देश के वासी सत्पुरुषों द्वारा तो यह व्याख्या सुखदायक अभिसन्धि ही मानने योग्य सिद्ध हुई ।

यहां पर ब्रह्म और क्षत्र-शब्द जातिवाचक हैं ही नहीं, क्योंकि वेद में सभी शब्द यौगिक हैं, जो लोक में प्रयुक्त होकर विभिन्न रूढ आदि बनते गये ।

पृ० १३२९, पं० ४-५ - यच्चाह—"वर्णव्यवस्थायाश्च जन्ममूलकत्वेन कर्मस्वभावमूलकत्वे मानाभावाच्च" इति । तत्तु मूलतः शास्त्रीयसिद्धान्तपर्यवस्थातृ । यथा महाभारते—

"न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मणा वर्णतां गतम् ॥"

"शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।" (मनु० १०।६५)

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।"

इत्यादिप्रकरणैः मंस्वभावमूलकत्वं सिद्ध्यति । ब्राह्मणवंशजो गुणकर्मस्वभावैर्युतस्तु विशिष्ट एव । श्रीमन् ! ते हि ते दिवसा गताः, यदा हि वेदश्रवणे शूद्रस्य त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणमादिश्यते स्म ।

पृ० १३२९, पं० ४-५—"वर्णव्यवस्था जन्ममूलक है, इसके कर्मस्वभावमूलक होने में कोई प्रमाण नहीं है ।" यह मूलतः अशास्त्रीय है । यथा महाभारत में—

"वर्णों का कोई वैशिष्ट्य नहीं, ब्रह्म से निर्मित होने से जगत् ब्राह्म है, फिर कर्म से वर्णता (ब्राह्मणादि) को प्राप्त हो गया ।"

"चारों वर्णों का आधार कर्म है । इससे शूद्र ब्राह्मणत्व को और ब्राह्मण शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है । इसी प्रकार अन्य वर्ण भी ।" (मनु० १०।६५)

"चारों वर्ण मैंने गुण-कर्म तथा स्वभावानुसार बनाये हैं ।" (गीता)

सत्यार्थप्रकाश ४ समु० तथा ऐतरेयब्राह्मण २।१९ में कवष-ऐलूष व्यक्ति की घटना वर्णपरिवर्तन में उदाहरण है । 'ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत ।' ऋषियों ने सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ का आयोजन किया । यज्ञ में आये कवष-ऐलूश को ऋषियों ने सोम से वञ्चित किया, यह विचार कर कि यह दासीपुत्र, कपट आचरणवाला, अब्राह्मण किस प्रकार हमारे मध्य में आ गया है । यह ऐलूष अत्यन्त प्यासा था, जंगल में चला गया । वहां उसने 'अपांनप्तृ देवता वाले सूक्त का 'अर्थदर्शन' किया । फिर ऋषियों ने वेदार्थद्रष्टा होने के कारण उसे पुनः अपने मध्य बुलाकर यज्ञ में दीक्षित किया । ये प्रमाण हैं । (वेद में यह सूक्त ऋ० १०।३० वां है) श्रीमन् ! अब वे दिन विदा हो गये, जब वेद के श्रवण करने पर शूद्र के कानों में रांगा पिघलाकर भर देने का आदेश दिया गया था ।

https://t.me/Dharmasastra

पृ० १३२९, अनु० १—'द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्येत्यस्य उव्वटमहीधरमतिभ्यां न कश्चिदर्थः कृतः।' अतोऽयमपि मौनी अत्र मक्षिकास्थाने मक्षिकानिपातकुशलः। ऋषिरत्र व्याचष्टे यथा—

"द्यावापृथिवीभ्यां सूर्याग्निभूमिभ्यः पदार्थेभ्यः सर्वजगते प्रकाशोपकारौ भवतस्तथैव कलाकौशलयानचालनादिविद्यां गृहीत्वा सर्वमनुष्योपकारं वयं कुर्मः। एतदर्थमस्मान् पिन्वस्व।" अत्र किमर्थमस्मान् पिन्वस्वेति स्वतस्तूत्थप्रश्नस्य समाधानम्। महर्षिर्वेदस्य मानवसमाजोपयोगिनीमेव प्रक्रियामनुसन्धत्ते सर्वत्र। वेदस्य जीवनेन सह साक्षात् सम्बन्धो भवेद् याज्ञिकपद्धतिभिस्तु कृता अर्था आसन्नेव पूर्वतः। केवलं ता एव प्रक्रिया अवलम्ब्य न महर्षिणा भाष्यं कृतं पिष्टपेषणाशङ्कया प्राचीनग्रन्थाध्ययनाध्यापनोच्छेदनभीतेश्च।

द्यावापृथिव्योस्तूपयोगः कलाकौशलयानचालनादिभिरेव भवितुं शक्यत्वादेषोऽर्थोऽनुमेयोऽपि व्यञ्जनीयश्च। एवमर्थेन श्रुतीनां प्रबलसत्कार एव न बलात्कारः। मन्ये त्वादृशदुर्मतीनां दुष्कार एषः। अपि च बलात्कारलेखनदुःसाहसपरस्य काषायाम्बरधरकरपात्रकरस्य अनिष्टकुचेष्टा कस्य नो यमिनो मनो नोदयेदन्यथा चिन्तयितुं शृङ्गाराङ्गारभृष्टभ्रष्टस्येव।

अत्रैतद् मयोपन्यस्यते यद् याश्च कर्मपरकाः सद्व्याख्या आसन् पूर्वतो न तासां महर्षिणाऽवमानना कृताऽनेन नवीनेनार्थेन। कर्मकाण्डगतव्याख्यासु तु ऋषेर्विरोधस्तावानेव यावता पशुहिंसादिपरकत्वं व्याख्यायते तत्र।

पृ० १३२९, अनु० २—एतत् सर्वं माहीधरमवतारितम्, नैतद् विवेच्यमस्माभिरत्र। यदप्युच्यते "'धर्मासि' हे सुधर्म परमेश्वर! त्वं धर्मासि, न्यायकार्यसि, अस्मानपि न्यायधर्मयुक्तान् कुरु' इति व्याख्यानेऽपि दयानन्दीये दृढाऽरुचिर्धार्मिकाणाम्।" इति।

हे धर्मध्वजिन्! मिथ्याकल्पनाकुशलिन्! के सन्ति ते धार्मिका येऽरुचिं दधते? तथाऽपि त्वया सशंकेनायं दयानन्दकृतोऽर्थः स्वीकृत एव द्राविडप्राणायामेन ब्रुवता—"यथाऽयं दयानन्दो निःशङ्कः सन् अग्निवरुणादिशब्दानामपि परमेश्वरवाचकतामभ्युपैति, तथैव सुधर्मशब्दस्याऽपि।" यद्यपि सर्वदेवतानामात्मरूपत्वात् सुधर्मशब्दस्य पर्यवसानं परमेश्वरे सम्भवति, वाच्यो व्यङ्ग्यो वाऽर्थो भवेदेतदन्यत्।

पृ० १३२९, अनु० १—'द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व' की उव्वट-महीधर को कुछ भी व्याख्या नहीं सूझी। इसलिए यह अनुकरणकुशल लेखक भी यहां कुछ न लिख सका; क्योंकि यह तो मक्खी के स्थान पर मक्खी बिठाने में कुशल है। पर महर्षि व्याख्या करते हैं—

"जैसे द्यावापृथिवी सूर्य, अग्नि और भूम्यादि पदार्थों के लिए तथा सब जगत् के प्रकाशक और उपकारी होते हैं, वैसे ही हम लोग कला कौशल, यान-चालन आदि विद्या को ग्रहण कर सब मनुष्यों का उपकार करें।"

महर्षि ने वेद की मानवसमाज के लिए उपयोगिनी प्रक्रिया का अनुसन्धान किया था। सर्वत्र उन्होंने वेद का जीवन के साथ साक्षात्सम्बन्ध स्थापित किया। याज्ञिक पद्धतियों के तो पूर्व से अर्थ थे ही, केवल उस पद्धति को लेकर ऋषि ने भाष्य नहीं किया, क्योंकि इससे पिष्टपेषण होता तथा प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन और अध्यापन के उच्छेद होने की भी आशंका थी।

द्यावापृथिवी का उपयोग तो कलाकौशल, यान-चालन आदि से होने के कारण ऋषिकृत अर्थ सहज अनुमेय व अभिव्यञ्जनीय है। इस प्रकार इस अर्थ के द्वारा श्रुतियों का सत्कार है, बलात्कार कदापि नहीं। हां, इसमें आपसदृश बुद्धियों का दुत्कार अवश्य है। दूसरे बलात्कार लिखने का दुःसाहस करनेवाले इस काषायाम्बरधारी करपात्र के कर की यह अनिष्ट कुचेष्टा किस जितेन्द्रिय के मन को अन्यथा चिन्तन करने के लिए शृङ्गार के अंगारों से भुने हुए भ्रष्ट नीच कर को कदर्थ करने को प्रेरित न करने लगेगी?

इस विषय में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि पूर्वतः जो यज्ञ-कर्म-परक व्याख्यायें थीं, उनकी महर्षि ने कोई अवमानना नहीं की इस नवीन अर्थ के द्वारा। हां, कर्मकाण्डगत व्याख्याओं में ऋषि का विरोध इतना ही है, जो कि वहां पशु-हिंसा, मृतकश्राद्ध, अवतारवाद आदि परक व्याख्यान किया जाता है।

पृ० १३२९, अनु० २—यह सब महीधर का भाष्य उतार रक्खा है, सम्प्रति इसकी विवेचना हमारा लक्ष्य नहीं है। आप लिखते हैं कि "हे सुधर्म परमेश्वर! तुम न्यायकारी हो, हम को भी न्याय-धर्म-युक्त करो' इस दयानन्द के व्याख्यान पर धार्मिक लोगों को बड़ी अरुचि है।"

हे धर्मध्वजी! बताइए तो, वे मिथ्या कल्पना में कुशल कौन से धार्मिक हैं, जिनको ऋषि के भाष्य में अरुचि है? तब भी सशंकित आपने द्राविड प्राणायाम में से ही ऋषि का अर्थ तो ऐसा कहते हुए मान भी लिया कि "जैसे यह दयानन्द निःशङ्क होकर अग्नि, वरुण आदि शब्दों के भी अर्थ परमेश्वर करते हैं, इसी प्रकार सुधर्म शब्दार्थ का भी पर्यवसान परमेश्वर में सम्भव है।" यह वाच्य या व्यङ्ग्यार्थ हो, यह बात दूसरी है। वस्तुतः 'जादू वह है जो सर पर चढ़ कर बोले'।

https://t.me/Dharmasamrat

'मिनोति हिनस्तीति मेनिर्न मेनिरमेनिरहिंसकः, अर्थात् सर्वहितकारकः परमेश्वरः।' तद् भवान् कल्पितार्थं मनुते। इयं रूढबुद्धिस्तु कस्मिंश्चित् पुरातत्त्व-संग्रहालय एव न्यसनीयाऽऽसीत्।

श्रीमन्! नृम्णानि धनानि किं भवन्मते कोशागारे निक्षिप्ता मुद्रा एव धनानि, न पुनः सुराज्यं सुनियमाः सुरत्नादीनि वा? येनाह नृम्णानीति एवस्य कथमर्थ एषः?

वेदो हि ज्ञानमर्थाद् वेदगता या विद्यास्तासां ज्ञानमित्येवार्थः। 'क्षतात् किल त्रायत इति क्षत्रम्' राज्यमपि क्षताद् रक्षति।

महाशय! ऋषेः पाठं न विकारय, सर्वाः कुचेष्टा असह्या अपि नाम सह्याः, परं पाठपरिवर्तनमविषह्यम्, त्वदनिष्टार्थापादनाभीप्सितत्वात्। तत्र पाठः 'सर्वोत्तमानस्मन्निष्ठान्' न तु मन्निष्ठान्। यतो हि ऋषिः सर्वकल्याणकाम आसीत्, न तु स्वार्थनिष्ठः।

पृ० १३३०, अनु० २ – यदाह—"'यज्जाग्रतः०' इत्यस्य कल्पनाबहुलोऽर्थः"

ऋषि ने 'अमेनिः' का अर्थ सर्वहितकारक परमेश्वर किया है। आप इसे कल्पित कहते हैं। ऐसी रूढग्रस्त बुद्धि तो किसी संग्रहालय में ही संग्रहणीय है। आप तो केवल कोषागार में निक्षिप्त मुद्रा को ही धन मानते हैं, वह मुद्रास्वरूप (नृम्ण) वेद बनने के बाद ही निर्धारित किया गया। धातुप्रधान यौगिक अर्थ (नृणां रमणीयम्) मनुष्यों का रमणीय अथवा (नरा रमन्ते यस्मिंस्तत्) जिसमें मनुष्य रमण करें, अथवा (नरोऽभ्यस्यन्ति नृपूर्वक म्ना धातु) मनुष्य जिसका अभ्यास करें। इन आधारों पर ऋषि दयानन्द ने विद्या, पुरुषार्थ, हस्ती, अश्व, सुवर्ण, हीरादिरत्न, बल, सुराज्य, सुनियम सभी को धन माना है। कितना व्यापक समुचित चिन्तन है।

वेद ज्ञान है अर्थात् वेद में जो विद्यायें हैं, उनका ज्ञान है। क्षत अर्थात् व्रण चोट से रक्षा करनेवाला राज्य भी 'क्षत्र' कहलाता है।

श्रीमन्! भूमिका का पाठ विकृत न कीजिए। सारी कुचेष्टायें सह्य हैं; परन्तु पाठ का परिवर्तन असह्य है। आप अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल पाठ बदल लेते हैं। भूमिका में पाठ है कि 'सर्वोत्तम गुणों को हम लोगों में रखिये, न कि केवल युद्ध में रखिये'। ऋषि की वृत्ति स्वार्थनिष्ठ न होकर सर्वकल्याणकारी थी।

पृ० १३३०, अनु० २—यह कहना भी सर्वथा असत्य है कि स्वामीजी ने

इति तु सर्वथाऽसह्यम्, मन्त्रगतप्रत्येकपदानुसार्यर्थस्य कृतत्वादिति मूले द्रष्टव्यम्।

पृ० १३३१, अनु० १—"अधिष्ठातृत्वेन व्याप्नोतीति तु न सङ्गतम्, मनसोऽणुत्वेनाव्यापकत्वात्।" इत्यविचार्यैवाक्षिप्यतेऽनेन।

अत्रायमाशयो यत् चक्षुरादीन्द्रियाणां विषयैः सह सम्बन्धेऽपि यत् सम्बन्धेन एकेन्द्रियज्ञानमुत्पादयति असम्बन्धेन च नोत्पादयति अर्थाद् इन्द्रियाणामधिष्ठानानि तत्तद्गोलकानि अधिष्ठेयानीन्द्रियाणि अधिष्ठातृ च मनस्तदा यदिन्द्रियमधितिष्ठति तदिन्द्रियार्थमेव स्वशक्त्या विशेषतया आप्नोति प्राप्नोति। न त्वत्र व्याप्यव्यापकसम्बन्धः।

पृ० १३३१, अनु० १—यदप्युच्यते—"दैवं दिव्यगुणादियुक्तमित्यप्यसङ्गतम्, दुःखद्वेषाद्यदिव्यगुणवत्त्वेन तदनुपपत्तेः।" इति। तदप्यविचारचारु। ज्ञानादिदिव्यगुणवत्त्वकाले हि दैवमेव शिवसङ्कल्पोन्मुखस्य जाग्रदवस्थायां संयमिनो भवति,

---

'यज्जाग्रत.' मन्त्र का अर्थ कल्पनाबहुल किया है; क्योंकि मन्त्र के पदों के अनुक्रम में ही अर्थ किया गया है।

पृ० १३३१, अनु० १—आ०—"मेरा मन सर्व इन्द्रियों का अधिष्ठाता होने से इनमें व्याप्त है, ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता; क्योंकि मन तो अणुपरिमाण है। वह सब इन्द्रियों में एकसाथ व्याप्त नहीं रह सकता।"

समाधान—यह भाषा स्वकल्पित है, ऋषि की नहीं। आक्षेप भी विचारशून्य है। ऋषि का अभिप्राय यह है कि जागते हुए मनुष्य का यह मन दूर-दूर जाकर उदित होता है, सारी इन्द्रियों के ऊपर वर्तमान होने तथा अधिष्ठाता होने से इन्द्रियों की अपेक्षा दूर तक के पदार्थों को विशेषरूप से प्राप्त कर लेता है। इन्द्रिय मन से सम्बद्ध होकर उस-उस इन्द्रिय के विषय को प्राप्त करती है, असम्बद्ध होकर नहीं। अर्थात् इन्द्रिय के अधिष्ठान तो उन-उन इन्द्रियों के गोलक हैं, अधिष्ठेय इन्द्रियां हैं, अधिष्ठाता मन है। तब मन जिस इन्द्रिय में अधिष्ठित होता है, उस इन्द्रिय के अर्थ अर्थात् विषय को अपनी शक्ति से विशेषरूप से प्राप्त करता है। यहां पर इन्द्रियों और मन का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध प्रतिपादित नहीं किया जा रहा है।

पृ० १३३१, अनु० १—आक्षेप—"दैव का अर्थ दिव्यगुणादियुक्त करना भी ठीक नहीं; क्योंकि मन तो दुःख द्वेष आदि अदिव्यगुणों से भी संचालित है।"

समाधान—आपका यह कथन भी अविचारित है। ऋषि ने दैव का अर्थ दिव्यज्ञानादि गुणों से युक्त किया है। दैव अर्थात् आत्मा में (देवे भवम्) होनेवाला मन तो दैव ही होगा, जिसे आपके पूज्य महीधर ने 'आत्मग्राहक' विशेषण दिया है। जब वह मन प्रकृतिनिष्ठ होता है, तो दुःख आदि अदिव्य गुणों से युक्त

https://t.me/DharmaSamrat

जाग्रतोऽपि दुःखद्वेषादिचिन्तकस्य तु न दैवं मनस्तिष्ठति, किन्त्वासुरं जायते। सुप्तस्याऽपि तथा तेन प्रकारेण न दैवं दिव्यपदार्थद्रष्टृ भवेदिति प्रार्थये। आसुर-वृत्तीनां तु जाग्रतां सुप्तानामपि दुरभ्यासात् सर्वकालं मिथ्यात्वेनैव सम्बद्धो भवति। शुभसंस्कारस्वभाववन्तः सदा शुभमेव पश्यन्ति।

'धर्माच्च' (वै० ९।२।९) इति धर्मजन्यस्वप्नदृष्टपदार्थदर्शनं तु दिव्यं सम्भाव्यते। तदयथार्थमपि प्रत्यक्षवद् दिव्यम्। आधुनिकवेदान्तिनः स्वप्नज्ञानम-नुभवरूपं यन् मन्यन्ते, तदतितरां भ्रान्तम्। शुद्धमनसा इन्द्रियाणां सूर्यादिपदार्थानां किमुत आत्मनोऽपि ज्ञानं जायते, अर्थाद्योगजसामर्थ्येन आत्मनो मानसप्रत्यक्षं भवति। तथा च (वै० ९।१।११) इन्द्रियाणां मनसा ज्ञेयत्वं नात्र प्रतिपाद्यम्। स्वयमप्यन्ते ऋषिमतमङ्गीकुरुते, मनसैवानु द्रष्टव्यमिति प्रामाण्यात्। अथवा न मनसा विना इन्द्रियाणां विषयः प्रकाशमायाति, किन्तु मनः सहकृत्यैव। इन्द्रियं स्वविषयं प्रत्यक्षीकुरुत इत्यर्थः, उपलब्धिसाधनत्वान् मनसः। वस्तुतस्तु तत्त्वमिदं गम्भीरालोचनशीलचारुलोचनानामेव गोचरीभवितुं शक्यते समाध्यध्यासितस्यै-तस्य वचनस्य यज्ज्ञानादिदिव्यगुणयुक्तम्।

भी हो जाता है। जागरित अवस्था में संयमी का मन दिव्यगुणयुक्त होता है और असंयमी का मन असुर होता है। दिव्य पदार्थों को देखनेवाला मन बने, ऐसी प्रार्थना की गई है। जो असुरवृत्ति हैं, वे चाहे जागते हों या सोते हुए हों, दुरभ्यास के कारण उन का मन सर्वकाल मिथ्या से ही सम्बद्ध रहता है। शुभ संस्कार स्वभाववाले सदा शुभ ही देखते हैं।

'धर्माच्च' इस वैशेषिक सूत्र में कहा है कि धर्मजन्य स्वप्न में देखे पदार्थ के दर्शन दिव्य (चित्तप्रसादक) सम्भावित हैं, अतः अयथार्थ भी प्रत्यक्ष के समान दिव्य होता है। आधुनिक वेदान्ती लोग स्वप्न ज्ञान को अनुभवरूप मानते हैं, यह अतितरां भ्रान्ति है। यह कहना कि स्वप्नावस्था के पदार्थ मिथ्या होने से दिव्य नहीं हो सकते।

बताइये, यह किस शास्त्र का नियम है? जो धर्म से स्वप्न दीखेगा, वह दिव्य, जो अधर्म से दीखे, वह अदिव्य। शुद्ध मन से इन्द्रियों का सूर्यादि पदार्थों और आत्मा का ज्ञान होता है, अर्थात् योगज सामर्थ्य से आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है। जैसा कि वैशेषिकसूत्र ९।१।११ में कहा है। इसमें 'मनसैवानु-द्रष्टव्यम्' यह प्रमाण है, अथवा ऐसा समझिये कि मन के बिना इन्द्रियों का विषय प्रकाशित नहीं होता। वस्तुतः यह विषय गम्भीर देखनेवाले सुन्दर नेत्रों को ही प्रत्यक्ष हो सकता है। समाधि में अध्यासित उन्हें यह प्रत्यक्ष होता है कि जिनका मन दिव्यगुणयुक्त है।

ननु इन्द्रियाणां प्रकाशकं मन इत्येव शब्दानुवृत्तिभावो मन्तव्यः। तदा मनोऽपि नामेन्द्रियम् अन्यान्यपि इन्द्रियाणि, इन्द्रियाणि अतीन्द्रियाणि न तु विषय-रूपाणि, विषयत्वाभावेऽप्रमेयत्वे नहि मनसेन्द्रियेण तेषां प्रकाशो ज्ञानं वा भविष्य-तीति भूमिकोक्तम् अशास्त्रीयमेव मन्तव्यमिति चेन्न।

इन्द्रियाणां मनसा ज्ञापकत्वेऽपि न दोषः। 'शब्देतरोद्भूतविशेषणगुणाना-श्रयत्वे सति ज्ञान-कारण-मनः-संयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वम्' (वैशे०)। अस्मिन् लक्षणेऽपि मनसोऽन्येन्द्रियपृथग्ज्ञानकारणत्वं विशिष्टं प्रतिपाद्यते नहि तथा अन्य-न्द्रियाणां ज्ञानाधिकरणात्मना सह संयोगो, यथा मनसः। तथाह--'आत्मा मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण इन्द्रियं विषयेण' इति।

मनसो हि अनुमानेन सिद्धिर्निर्दिष्टा शास्त्रे, तथेन्द्रियाणामपि। 'दृश्यं दृक् च मानसम्' इति प्रोच्य मनसो यद् द्रष्टृत्वं पारिजातलेखकेन प्रत्यपादि, तत्त्वज्ञान-विजृम्भितम्, मनसो जडत्वात्। अतो यादृशी द्रष्टुर्वात्मनो मानसी वृत्तिः सैव दृक्। "मनः प्रयत्नवता प्रेर्य्यम्, अभिमतविषयसम्बन्धनिमित्तक्रियाश्रयत्वाद् (आत्मना) दारकहस्तगतकन्दुकवत्" इति निदर्शनात्।

इन्द्रियाणां विषयत्वेऽपि क्वाऽपि प्रमेयपक्षे विषयत्वं सम्भवत्येव। यद्यपि 'शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तात्मोपभोगसाधनं द्रव्यम्' इत्युक्तम्, तथापि "यत् कार्यं यददृष्टजन्यं तत्तदुपभोगं साक्षात्परम्परया वोपजनयत्येव, नहि बीज-प्रयोजनाभ्यां विना कस्यचिदुत्पत्तिरिति सर्वमेवोपभोगसाधनत्वाद् विषयः" इति (वैशेषिके)।

अतो भूमिकोक्त 'प्रकाशकम्' एतस्याशयोऽयमेव यन्न मनोऽसहकृतमिन्द्रि-याणां विषयसंयोगसत्त्वेऽपि प्रकाशनं भवतीति संक्षेपः।

तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम्। (वैशे० १०।१।३)

एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु दृष्टत्वात्। (वैशे० १०।१।६)

आक्षेप—'इन्द्रियों का प्रकाशक मन है' यही शब्दानुवृत्तिभाव है। मन तो स्वयं भी इन्द्रिय है। अन्य भी इन्द्रियां हैं, इन्द्रियां तो अतीन्द्रिय हैं, वे विषयरूप नहीं हैं। जब इन्द्रियां विषय नहीं हैं, अप्रमेय हैं, तब उनका प्रकाशक ज्ञान नहीं होगा। इसलिये भूमिका लेख कि—'इन्द्रियों का प्रकाशक मन है' अशास्त्रीय ही मानना चाहिये।

समाधान—मन के द्वारा इन्द्रियों का प्रकाशन मानने में कोई दोष नहीं है; क्योंकि विषयों से इन्द्रियों का सहयोग होने पर भी मन का सहयोग न करने पर विषयों का प्रकाशन नहीं हो सकता। अतः भूमिका लेख समस्त सङ्गत है।

https://t.me/Dharmasastra

इत्याभ्यामपि सुखदुःखयोर्ज्ञानाद् भिन्नत्वम्। तस्माद् 'दुःखद्वेषाद्यदिव्यगुणयुक्तं मनः' इति करपात्रोक्तं तु सर्वथा दार्शनिकतत्त्वानां स्थूलाकलनमेव निदर्शयति। महर्षिणा 'ज्ञानादिदिव्यगुणयुक्तं मनः' इत्युक्तम्, तेन तु इदमप्यभिव्यज्यते यत् सुखदुःखादिकारणधर्मप्रीत्यधमद्वेषादयो ज्ञानस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षादिरूपकारणेभ्यः सर्वथा विलक्षणाः। यदि सुखदुःखे द्वेऽपि ज्ञानगुणाद् भिन्ने नाऽभविष्यतां न तदा तयोः कारणयोरपि परस्परभेदोऽभविष्यद् इति।

सूर्यादीनामपि प्रकाशनं ज्ञानमेतेनैव मनसा भवति। एवं बहुगुणविशिष्टमपि 'एकम्' असहायं त्वत्कृपासाहाय्यं विना।

न ह्यत्र बहिःप्रवृत्तस्येन्द्रियसहकृतस्य मनसः स्थितिः, प्रत्युतेदमिह भगवत्कृपापेक्षि येन कल्याणेष्टधर्मगुणप्रियं भवतु।

पृ० १३३३, अनु० १—यत्तु—'वाजश्च मे' इत्यष्टादशाध्यायस्थैर्मन्त्रैः सर्वस्वसमर्पणं परमेश्वराय कर्त्तव्यमिति वेदे विहितम्, तन्निर्मूलमाहायं लेखकः। तत्तु 'कणेहत्य खण्ड्यते' इति पूर्वप्रतिज्ञाया एवानुपालनं क्रियते, तत्र तर्कप्रमाणयोः सङ्गत्यां नैतस्य प्रयोजनम्। इदमसकृदुदीरितं मया महर्षिमन्यिभाष्यार्थानां न

सुख और दुःख को ज्ञान से भिन्नता है। 'मन दुःख द्वेषादि अदिव्यगुण से युक्त है।' इस लेखक का यह कथन दार्शनिक तथ्यों का स्थूल आकलन का निदर्शन है। महर्षि ने जो 'ज्ञानादिदिव्यगुणयुक्त मन' कहा है, इस से यह भी अभिव्यक्त होता है कि सुख-दुःख आदि का कारण धर्मप्रीति और अधर्म के द्वेषादि ज्ञान के इन्द्रियार्थ सन्निकर्षादिरूप कारणों से सर्वथा विलक्षण है। यदि सुख-दुःख दोनों ही ज्ञानगुण से भिन्न न होते, तो उन दोनों के कारणों में भी भेद न होता।

सूर्यादि का प्रकाशन अर्थात् ज्ञान भी उसी मन के माध्यम से होता है। इस प्रकार बहुत गुणों से विशिष्ट भी यह मन परमेश्वर-कृपा के बिना तो असहाय है।

यहां पर बहिः प्रवृत्त इन्द्रियसहकृत मनःस्थिति का वर्णन नहीं है, प्रत्युत यह भगवान् का कृपापेक्षी है, जिससे कल्याण, इष्ट धर्मगुण प्रिय बन सके।

पृ० १३३३, अनु० १—"यह जो 'वाजश्च मे' १८वें अध्यायस्थ मन्त्रों से अपना समर्पण परमेश्वर के लिए करना चाहिये ऐसा वेद में विहित है, यह निर्मूल है।" वस्तुतः करपात्रीजी का यह कथन ही निर्मूल है। आप सबको निर्मूल केवल इसलिये कहते हैं; क्योंकि आपने तल-छट खण्डन करने की प्रतिज्ञा की हुई है। उसमें चाहे बुद्धि, तर्क और प्रमाण-योग सङ्गति हो या न हो। इसे

पिष्टपेषणशीलः, अनृषित्वकथनदोषापत्तेः।

सर्वस्वसमर्पणं नाम नहि 'गन्धाक्षतपुष्पाणि समर्पयामि नम' इत्यादिवचोऽपि मृत्पाषाणजडपिण्डोपरि प्रक्षेपणं भवति; प्रत्युत यज्ञियमनसा सर्वव्यापकचेतनब्रह्मप्रतिपादितसर्वलोककल्याणाय सर्वं स्वं समर्प्यते मनसा वाचा कर्मणा इति। अतएव यज्ञेन सेव्यपरमात्मना जगदुपकारेण, धर्मानुष्ठानेन तद्रक्षणेन, सत्यधर्मोन्नतिकारणोपदेशेन इत्याद्यर्थकेन वयं समर्था भवेमेत्यर्थस्तत्र भाष्ये व्यवधायि ऋषिणा उव्वटेनाऽपि च। नेव च कल्पन्तामित्ययम् आशीर्वाद एवार्थः, 'लोट् च' (अष्टा० ३।३।१६२) इत्यनेन लोटो विध्यादौ विधानात् प्रार्थनार्थेऽपि वा भवति।

पृ० १३३३, अनु० ३—"यदुक्तम्—'परमोत्तमपदार्थं मोक्षमारभ्यान्नपानादिपर्यन्तमीश्वराद् याचितव्यम्' इति, तदपि चिन्त्यम्, याचनासमर्पणयोर्विरोधात्। रागवैराग्यमूलकत्वादुभयोः। श्रुतिसम्मतपूर्वार्थद्वयेऽभ्युपगम्यमाने तु रागदशायां भगवतः सकाशात् सर्वे पदार्थाः काम्यन्ते। वैराग्यदशायां तत एवोपलब्धैः सर्वैः पदार्थैरन्यनैरपेक्ष्येण स एव तर्पणीयोऽभिषेचनीयश्च।" इति।

समुज्झितविवेकाश्रय श्रीमन्! ऋषिणा तूच्यते यन् मनुष्याः सर्वपदार्थान् परमेश्वरमेव याचेरन्। ते च विविधवृत्तयो भवन्ति, रागे याचेरन् परमेश्वरं तदपि इदं याचनं सत्त्वगुणप्रेरितमेव, अथ च याचित्वा संगृहीतं वैराग्ये जाते

हम बार-बार कह चुके हैं कि महर्षि यज्ञपरक अर्थों को कहके पिष्टपेषण नहीं करना चाहते।

सर्वस्व-समर्पण 'गन्धाक्षतपुष्पों का समर्पण नहीं है' जो मृत्-पाषाणादि जड़ मूर्तियों के ऊपर किया जाता है। प्रत्युत यज्ञिय मन से सर्वव्यापक चेतन ब्रह्म से प्रतिपादित सर्वलोक-कल्याण के लिए सर्वस्व-समर्पण किया जा रहा है। इसीलिए महर्षि ने "यज्ञ अर्थात् सेव्य परमात्मा से जगदुपकारक, धर्मानुष्ठान, तद्-रक्षण, सत्यधर्मोन्नति-कारण उपदेश इत्यादि अर्थवाले (यज्ञ) से हम समर्थ होवें" यह अर्थ किया है। आपका यह कथन भी अज्ञानमात्र है कि (कल्पन्ताम्) यह आशीर्वाद अर्थ में ही है। क्योंकि 'लोट् च' (अष्टा० ३।३।१६२) इस सूत्र से लोट्-लकार विधि-निमन्त्रण आदि अर्थों में होने से प्रार्थना में भी होता है।

पृ० १३३३, अनु० ३—'परमोत्तम पदार्थ मोक्ष से लेकर अन्नादि तक ईश्वर से मांगने चाहिए' इस भूमिका-लेख को आप चिन्त्य कहते हैं, क्योंकि समर्पण और याचना दोनों में विरोध है। दोनों वैराग्य और राग से उत्पन्न होते

https://t.me/DharmaSamrat

समर्पयेयुः परमात्मने। तत्र नास्ति कश्चिद् विरोधः। रागवैराग्योर्द्वयोरपि भावयोर्यजनं तस्मै एव समर्पणभावनया भवितुमर्हति। 'सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते। साधुभिरेव स कर्त्तव्यः'। इत्येवं सङ्गः रागोऽपि सात्त्विकोऽयं न वैराग्यपथपरिपन्थी स्यात्।

पृ० १३३३-३४ पृष्ठं यावत् माहीधरं भाष्यमवतारितम्। तदपि अन्यच्चापि भवतो भौतिकयज्ञपरकमेव व्याख्यानम्।

भवन्मतो निखिलवेदविद्या भौतिक-यज्ञ-परा एव। तत्राऽपि यज्ञे शिल्पविद्यारेखागणितादिविद्यानामपि कल्पने भवन्मतिः प्रतिबन्धिका इत्यखिलं विस्मयावहमूहनशीलशेमुषीविभूषितानां विदुषाम्।

पृ० १३३५, अनु० १—यदाह—"यज्ञो वै विष्णुरित्यादिकं न सङ्गतम्" इत्यपि प्रथमखण्डे समुत्तरितत्वान्नेह प्रपञ्च्यते। फलार्थकयज्ञशब्द-तृतीया-विषयेऽचिरमेवोक्तम्। यज्ञेन यज्ञायेश्वरायेत्यर्थः 'परमेश्वराय इदं सर्वं समर्पितमस्तु' अर्थात् समर्पितमस्त्वित्येवार्थः। आत्मशब्देन जीवार्थमपहाय देहार्थग्रहणमानाभाव एव। यावत्स्थूलेन्द्रियमनोभ्यां युक्तो जीवस्तदाऽपि मुख्यत्वेन जीव इत्यर्थ एव ग्रहीष्यते प्रधानत्वात्। 'पिण्ड आत्मस्वरूपत्वेनाऽभिमतोऽविवेकिभिः' (बृहदारण्य० १।५।३ शा० भा०)।

हैं। श्रीमन्! यह तो आप भी मान गये यहीं पर कि दोनों ही सम्भव हैं। पर आपके समझने में यही कमी है। आप समझ रहे हैं कि परमेश्वर से सात्त्विक-गुण-प्रेरित भी राग वैराग्य का विरोधी है, वस्तुतः यह सात्त्विक राग सहायक है, विरोधी नहीं।

पृ० १३३३-३४ तक पारिजातकार ने महीधर का भाष्य ही उद्धृत किया है। वह भाष्य या आपका अन्य कथन सब भौतिक-यज्ञपरक है।

आपकी मति में तो समग्र वेद-विद्या भौतिक यज्ञपरक ही है और इस यज्ञ में शिल्प, रेखागणित आदि विद्याओं की कल्पना में आपकी बुद्धि विश्वास ही नहीं करती। आपका यह दृष्टिकोण समस्त विद्याओं में निष्णात लोगों के लिए आश्चर्यकारक है।

पृ १३३५, अनु० १—'यज्ञ विष्णु है" इत्यादि को आपके द्वारा असंगत कहने पर प्रथमखण्ड में उत्तर दे दिया गया, पुनः यहां प्रपञ्च नहीं किया जा रहा है। फलार्थक यज्ञ शब्द में तृतीया के विषय में अभी कहा गया है, अर्थात् (यज्ञेन) 'यज्ञ ईश्वर के लिए' परमेश्वर के लिए यह सब समर्पित होवे। आत्मा शब्द से यह देह का ग्रहण कदापि नहीं। आपके ग्रहण में कोई प्रमाण नहीं। स्थूल इन्द्रिय मन से युक्त जीव इस अर्थ में भी प्रधानत्वेन जीव ही लिया जायेगा।

चतुर्वेदविद् ब्रह्मा भवतीति बहुप्रमाणानि पूर्वं प्रस्तुतानि, अतश्चतुर्वेदविद् ब्रह्मार्थ एव ग्रहीष्यते।

'ज्योतिः'शब्देन सूर्यप्रकाशस्य ग्रहणं सर्वथोचितम्। परमेश्वरार्थग्रहणं 'परमेश्वराय समर्पितमस्तु' इत्यर्थेन न सङ्गतं स्यात्।

"धर्मो न्याय' इति तु प्रमाद एव" इति ते वचः सत्यम्, परं प्रमादस्तवैव न ऋषेः, तथाऽमननात्। यच्च धर्मादनपेतं धर्म्यं तदेव न्याय्यम्। पाणिनिर्न्यायशब्दार्थमभ्रेष (३।३।३७) मलिखत्। अभ्रेषो हि आचाराद् विधेर्वाऽस्खलनम्।

यजुरादिशब्दैर्वेदग्रहणौचित्यं 'तस्माद् यज्ञात्' इत्यत्र समाहितम्। पूर्वधृतरूढार्थो नहि तथा यौगिकार्थसम्पत्तौ वेदे सम्भवति, तत्र लोके यौगिकार्थसमाश्रयेण

चारों वेदों का जाननेवाला ब्रह्मा होता है। इस विषय में अनेक प्रमाण पूर्व में प्रस्तुत किये जा चुके हैं।

आक्षेप—'ज्योतिः का अर्थ सूर्य-प्रभृति प्रकाश करनेवाला, ज्योतियों का ज्योति तो ब्रह्म ही है। धर्म को न्याय कहना भी प्रमाद है तथा मूल में धर्म-पद भी नहीं है। यज्ञ का शिल्पादि भी अर्थ करना ठीक नहीं। यजुः से यजुर्वेदाध्ययन तथा ऋग् से ऋग्वेदाध्ययन कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा कहने के लिए लक्षणा का सहारा लेना पड़ेगा।"

समाधान—ज्योतिः का अर्थ इन्द्रिय तथा सूर्यादि है और मन इन सबका प्रकाशक अर्थात् प्रकाश करानेवाला है। ज्योतियों का ज्योतिः ब्रह्म भी है, पर यहां नहीं; क्योंकि यह मन का विशेषण है। धर्म को न्याय न मानना तो आपका उन्माद है। धर्म से युक्त धर्म्य या न्याय कहलाता है। पाणिनि ने न्याय शब्द का अर्थ अभ्रेष (३।३।३७) लिखा है। अभ्रेष का अर्थ है आचार (आचारः परमो धर्मः) या विधि से स्खलन न करना। इस प्रकार धर्म और न्याय पृथक् या भिन्न नहीं हैं। वस्तुतः ज्योति का अर्थ प्रकाशक, धर्म तथा न्याय भी है।

ऋषियों ने यज्ञ से ही शिल्पादि विद्याओं का प्रकाश किया। इसमें कोई संशय नहीं है। 'तस्माद् यज्ञात्' इस मन्त्र से पूर्व ही यजुः आदि की वेदवत्ता सिद्ध कर आये हैं। ('वेदार्थ-कल्पद्रुम' प्रथम खण्ड पृ० १८-१९)।

सब से बुरी और बड़ी बात यह है कि आपके मस्तिष्क में रूढार्थ पूर्वतः सन्निविष्ट हैं, पर वेद तो रुढ अर्थ को लेकर नहीं बने। हां, वेद के यौगिक अर्थों के समग्र या अंश के आधार पर ऋषियों ने रूढ संज्ञाएं कीं। अतः ऋषि ने बृहद् का अर्थ महत् क्रियाओं की सिद्धि का फलभोग तथा 'रथन्तरम्' का अर्थ इस भोग की अपेक्षा रमणीयतर 'शिल्पविद्याजन्य वस्तु' किया। आपका रूढ़ि के खूंटे से

https://t.me/Dharmasamrat

रूढसंज्ञानिष्पादनात् । ऋषेर्हि अर्थं यद् बालभाषितमाह प्रमाणाभावं च ताण्ड्योक्तं सामविशेषबोधकार्थविरोधात्तत्-गहनार्थाऽनवगमनात् प्रमाणान्वेषणाभावाच्च ।

न च ताण्ड्यब्राह्मणार्थ एव सर्वत्र ग्रहीष्यते सनिर्बन्धं तव महीधरेणापि तद्विरोधाद् । यथा यजुः ३३।९२, ११।४, १५।४५ आदिषु, महदाद्यर्थग्रहणात् । निघण्टौ च वाच्यार्थनिष्पादनपोषणात् ।

तथा रथन्तरमित्यस्याऽपि सामातिरिक्तार्थे प्रयोगो, यथा—महीधरभाष्ये यजुषि १५।५ रथैस्तीर्यते गम्यते यत्रेति रथन्तरम्, भूमण्डलम् । रथोपपदात् तॄ (प्लवनसन्तरणार्थकाद्)धातोरपि छान्दसे नुडि तत्सिद्धिः । तद्रूढार्थादन्यत्रापि प्रयोगो प्रमाणम् । यथा—

'इयं (पृथिवी) वै रथन्तरम्' (कौ० ३।५), 'अयं वै (पृथिवी) लोको रथन्तरम्' (ऐ० ८।२), 'वाग्वै रथन्तरम्' (ऐ० ४।२८), 'ब्रह्मवर्चसं वै रथन्तरम्' (तै० २।७।११), 'ब्रह्म वै रथन्तरम्' (ऐ० ८।१।२), 'अग्निर्वै रथन्तरम्' (ऐ० ५।

बंधा हुआ मस्तिष्क कहता है कि यह यौगिक अर्थ बालभाषित है और इसमें कोई प्रमाण नहीं। साथ ही ताण्ड्यब्राह्मण के लिए सामविशेष के बोधक निर्वचन से इस अर्थ का स्पष्ट ही विरोध होता है। पर पारिजातकथन ही बचकानी बात है, जिसे गम्भीरार्थ चिन्तन और प्रमाण ढूंढने से कोई अर्थ ही नहीं।

आप कहते हैं कि ताण्ड्यब्राह्मणोक्त सामविशेष का ही अर्थ लिया जायेगा। इसका स्पष्ट विरोध वा प्रतिवाद भी आपके आराध्य देव महीधर के ही भाष्य में मिलता है। देखिये—यजु ३३।९२ मन्त्र में 'बृहत्' का अर्थ 'महान्' 'युञ्जते मनः' मन्त्र में बृहतः का अर्थ 'प्रभोः अग्निचयनोद्योगेनाभिवृद्धस्य' १५।४५ मन्त्र में तथा ५।१४ में बृहतः, महतः महन्नाम (बृहत्) निघं० ३।३ तथा निघं० ९।६ आदि अर्थ 'बृह वृद्धौ' धातु से 'वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च' (उ० २।८५) सूत्र से अति प्रत्यय से निष्पन्न बृहत् शब्द से निकलते हैं।

इसी प्रकार 'रथन्तरम्' के सामातिरिक्त अर्थों में भी प्रमाण देखिये। यजुः १५।५ के 'रथैस्तीर्यते गम्यते यत्रेति रथन्तरं भूमण्डलम्' अर्थात् जहां रथ से चला जाये (महीधर)। रथोपपद 'तॄ प्लवनसन्तरणयोः' धातु से 'ऋदोरप्' इससे अप् प्रत्यय तथा छान्दस नुडागम करके रथन्तर शब्द सिद्ध होता है। आपके रूढ साम अर्थ के अतिरिक्त-अर्थ में भी देखिए प्रमाण—

'इयं (पृथिवी) वै रथन्तरम्' (कौषी० ३।५), 'अयं वै (पृथिवी) लोको रथन्तरम्' (ऐत० ८।२), 'वाग्वै रथन्तरम्' (ऐ० ४।२८), 'ब्रह्मवर्चसं वै रथन्तरम् (तै० २।७।११), 'ब्रह्म वै रथन्तरम्' (ऐ० ८।१।२), 'अग्निर्वै'

३०) इत्यादयोऽप्यर्थाः । अतो महर्षिव्याख्यानं सर्वोत्तमम्, सङ्गतम्, वेदरहस्य-प्रख्यापकं श्रुतिगरिमवर्द्धकञ्च । न हि एकशब्दस्यानेकार्थत्वे परस्परविरोधो मन्यते ।

मोक्षप्राप्तिकामोऽपि निष्कामत्वमेव न सकामत्वम् । तस्य काम्यत्वं शास्त्रीयम् । नहि समर्पणन्ततो भिद्यते । मोक्षं हि न स्वाभाविकं स्वात्मस्वरूपं भवदुक्तम्, ज वस्य चैतन्यात्मकत्वाद् अल्पज्ञत्वाच्च । अथ वेदद्वैतवादे तु मोक्षामोक्षकल्पनाया एवाभावः स्यात् । एकमात्रब्रह्मणः स्वभावो मुक्तत्वं बन्धनागमनायोग्यत्वात् । परं जीवाश्च नित्यास्ते खलु प्रजा हि ब्रह्मणो जीवाभावे को वा वेत्ता किं वा वेद्यं कल्पयितुं मुधैव मुग्धो धावेत ।

रथन्तरम्' (ऐ० ५।३०) इत्यादि रथन्तर शब्द के अर्थ हैं। अतः ऋषि दयानन्द के यौगिकार्थ सर्वथा उत्तम, संगत, वेद-रहस्य के उद्घाटक व गरिमा के वर्धक हैं। एक शब्द के अनेक अर्थ कभी विरोधी नहीं कहलाते।

विद्वान् लोग आपकी सूझ पर ध्यान दें। आप कहते हैं कि "परम कारुणिक परमात्मा सर्वोत्तम सुख (मोक्ष) हमें देवे', ऐसी सकाम प्रार्थना करना और समर्पण दोनों नहीं हो सकते।"

हे प्राज्ञपुङ्गव ! कुछ तो सोचा होता। मुमुक्षु बनना या मोक्ष की इच्छा सकाम नहीं कहलाती। यहां तक कि सांसारिक परोपकार आदि कार्य भी निष्कामता की श्रेणी में आते हैं, तब मोक्ष-इच्छा तो सर्वथा निष्काम ही है। केवल मोक्ष चाहना उसके अतिरिक्त कुछ न चाहना भी तो समर्पण ही हुआ। आप शायद 'मोक्ष भी भगवान् को दे दिया जाये' इसे समर्पण समझते हैं, तो महाभ्रान्ति है।

ऋषि कहते हैं कि परमेश्वर को राजा माने। आप कहते हैं कि जीव तब (मोक्ष में) किसी की प्रजा नहीं रहता और मोक्ष आत्मस्वरूप है; पर यह आप बताइये, यह आत्मस्वरूपवाला मोक्ष नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य है तो प्राप्तव्य नहीं। यदि जीव अल्पज्ञ है, तो जीव का आत्मस्वरूप से दूर होकर अज्ञान से ही युक्त हो मोक्ष की अनित्यता ही माननी पड़ेगी। फिर चैतन्यस्वरूप या ज्ञानस्वरूप आत्मा को मोक्षस्वरूप मानना अज्ञान है। यदि ब्रह्मातिरिक्त जीव की सत्ता वास्तविक है ही नहीं, तो मोक्ष और बन्धन की कल्पना हो ही नहीं सकती, क्योंकि एकमात्र ब्रह्म तो स्वतः मुक्त होने से बन्धन में आने के सर्वथा अयोग्य है। फलतः जीव तो नित्य हैं और वे परमेश्वर की प्रजा हैं और वह हम सब का राजा है। 'इद राजा जगतो बभूव' इत्यादि इसमें प्रमाण हैं। जीव के न होने पर वेत्ता और वेद्य की कल्पना भी व्यर्थ हो जायेगी।

https://t.me/DharmaSamrat

"भवदाज्ञापालन इत्येव लेख्यं न तु भवदाज्ञाकरणे, परमेश्वराज्ञायाः कृतेरविषयत्वात् ।"

इत्युल्लेखस्तु त्यक्तमतिसम्बन्धस्यैव सम्भवति, परमेश्वरस्य वेदप्रदत्तसर्वाज्ञानां मनुष्येणाचरणे परिणेयत्वश्रेयस्त्वात् । इति ।

इति श्रीमद्बिहारीलालशास्त्रिशिष्येण श्रीयुतपण्डित-अयोध्याप्रसाद-
मिश्रात्मजेन श्रीमदाचार्यविशुद्धानन्दमिश्रेण श्रीयुतनिर्मला-
मिश्रा-सहधर्मिणीसहायेन विरचिते करपात्रिमतखण्डने
दयानन्दीयमतमण्डने 'वेदार्थकल्पद्रुम'नामग्रन्थे
'ईश्वरस्तुति-प्रार्थना-याचना-समर्पण-विषयः'
॥ सम्पूर्णः ॥

'हम सदा सत्य बोलें, तथा आपकी आज्ञा के करने में परम प्रयत्न से उत्साहवान् होवें' इस भूमिका लेख पर आप कहते हैं कि 'आज्ञा के पालन करने में' ऐसा लिखना चाहिए; क्योंकि परमेश्वर की आज्ञा कृति का विषय नहीं है। वाह ! अन्धेरे में आप को बड़ी दूर की सूझी। महाशय ! वेद तो परमेश्वर की आज्ञा ही है, उसकी सब आज्ञायें मनुष्यों के द्वारा अपनी कृति में तो लानी चाहियें। जैसे एक आज्ञा है 'यजेत'='मनुष्य यज्ञ करे' तो इसको कार्य-रूप में ही तो परिणत करेगा। आप यह भी कहते हैं कि रूढि के पुजारी के रूप में कि 'वषट्कार स्वाहाकार आदि का आहुति देने मात्र में विनियोग है। इस समझ में उत्साहपूर्वक सत्यभाषणादि अभीष्ट नहीं है'।

इस पर हमें यही कहना है कि ऋषि का अर्थ सर्वथा संगत है, आप केवल अपनी बुद्धि को रूढि के खूंटे से खोलिये।

श्रीमान् पण्डित बिहारीलालजी शास्त्री के शिष्य, श्रीयुत पण्डित
अयोध्याप्रसाद मिश्र के आत्मज, श्रीमदाचार्य विशुद्धानन्द
मिश्र द्वारा श्रीयुतनिर्मला मिश्रा सहधर्मिणी की
सहायता से विरचित करपात्रिमतखण्डन तथा
दयानन्दीय मतमण्डन करनेवाले इस
'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में
'ईश्वरस्तुति-प्रार्थना-याचना-
समर्पण-विषय'
॥ सम्पूर्ण हुआ ॥

अथोपासना-विषयः

विप्राः सुयोगनिपुणाः परमेश्वरेऽस्मिन्,
युञ्जन्ति वै निजमनोऽपि च बुद्धिवृत्तीः ।
यः सर्वजीवकृतकर्मविदस्ति तस्य,
कार्या परिष्टुतिरियं सकलैर्मनुष्यैः ॥

पृ० १३३७—यदुच्यते—"युञ्जते मन उत युञ्जते०' इत्यादिमन्त्रेषु जीवेन सदा परमेश्वरस्यैवोपासना कर्त्तव्येति विधीयते, इति दयानन्दकथनमसत्, विधिप्रत्ययादर्शनात् ।" इति ।

तदेषाऽस्याविचारपरिणतिः, विधेरूहनस्य सर्वथौचित्यात् । अत्र ये विप्रा ईश्वरोपासका मेधाविनः, होत्रा योगिनश्च मनो युञ्जन्ति परमेश्वरे, यो जगत्कर्ता जीवकर्मवेत्ता वाऽस्ति यस्य च परिष्टुतिरपि महती वर्त्तते, एवंविधो देवः सर्वैरुपास्य एव । यतः 'यद्यदाचरति श्रेष्ठो लोकस्तदनुवर्त्तते, इति नियमदर्शनादत्र विधेरूहनमुचितं कल्पितम् । तद्यथा चेहैव "सवित्रनुग्रहाय सङ्कल्पं कुर्वन्तीति यावत्" (पं० १०) इति तव लेखस्य हिन्दीकारो विधिप्रत्ययादर्शनेऽपि "हमारे ऊपर इन शुभ कार्यों के करने से सविता-देवता का अनुग्रह हो।" इति विधि-

---

योगविद्या में निपुण विप्र मेधावी लोग इस परमेश्वर में अपने मन और बुद्धि की वृत्तियों को लगाते हैं। जो परमेश जीवों के कृतकर्मों को जानता है, उसी की परिष्टुति (उपासना, गुणानुवाद) करना चाहिए।

पृ० १३३७—पू० पक्ष—आप 'युञ्जते मनः०' इस मन्त्र के ऋषिकृत अर्थ को गलत कहते हैं, क्योंकि यहां पर विधान नहीं किया गया है।

उ० पक्ष—यह कैसा विचारहीन कथन है ? यहां जब विद्वान् ऐसा करते हैं, तो वैसा ही आचरण अन्यों को भी करना चाहिए, क्योंकि यज्ञोपवीत के समय गुरु उपदेश देता है 'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि' अर्थात् जो हमारे उत्तम आचरण हैं, उनका तू आचरण या उपासना कर। इसलिए यहां भी विधि का ऊहन कर लिया जायेगा। यहीं पर (१०म पंक्ति) आपके "सवित्रनुग्रहाय सङ्कल्पं कुर्वन्तीति यावत्" इस वाक्य में कोई विधि-प्रत्यय न दीखने पर भी आपका आपसे भी अधिक बुद्धिमान् हिन्दीकार "हमारे ऊपर इन शुभकार्यों के

https://t.me/DharmaSamrat

परमनुवादं कुरुते ।

रामकृष्णादिचरित्राणि कथासु श्रुत्वा न श्रवणमात्रमेव प्रयोजनं विधेयत्व-कल्पनं विना ।

यदाह—"ईश्वरोपासका योगिन इति न विप्र-पदार्थः, अप्रासङ्गिकत्वात्" । तदप्यमननफलम् । विप्रा हि खलु मेधाविनो भवन्ति, प्रशस्तमेधावन्त एव मेधाविनः । ये बृहतो विपश्चितः स्वरूपे मनो युञ्जते त एव विप्रा इति परिभाष्यन्ते । त एव ईश्वरोपासका योगिनो भवन्तीति स्पष्टं व्यज्यते मन्त्रार्थे चाऽपि तदाऽप्रासङ्गिकहेतुकथनमेवाप्रासङ्गिकम् । विपूर्वकात्पूरणार्थक 'प्रा'धातोः, उप्यतेऽत्र वेति 'डुवप्' छेदनार्थकाद् बीजवपनार्थकादपि वा विप्राति, वपतीति वा धर्मम् अथवा क्षीरस्वामिमतेन विपूर्वकाद् दृशधातोरपि पृषोदरादित्वात् सिद्धो विप्र-शब्दः । एवं विशेषतः पूरयति विद्यार्थिनां मोक्षार्थिनां वाऽपेक्षामिति वा ।

यदाह—"विपश्चितः सर्वविद्यायुक्तस्य' इत्यपि न सङ्गतम्, सार्वज्ञेन

करने से सविता-देवता का अनुग्रह हो" यह विधिपरक अनुवाद कर रहा है ।

राम और कृष्ण के चरित्र को कथावाचक सुनाता और श्रोता सुनते भर रहें. उनके आचरण की बात न सोचें क्या आपका अभिप्राय केवल यह है? यहां ऐसा देव उपास्य है, यही ध्वनित होता है; क्योंकि 'श्रेष्ठपुरुष जैसा आचरण करता है, लोग वैसा ही अनुवर्तन करते हैं' ऐसा ही नियम देखा जाता है । अतः विधि की कल्पना सर्वथा उचित है ।

पृ० १३३७, पं १-६—"यहां विप्र शब्द का अर्थ 'ईश्वर के उपासक योगी' यह अर्थ नहीं किया जा सकता ।"

वेदार्थपारिजातकर्ता का उक्त कथन निराधार है; क्योंकि विप्र-शब्द मेधावी-वाचक है । प्रशस्त मेधावान् ही मेधावी होता है, जो ईश्वरोपासक अवश्य होगा । मन और बुद्धि को ईश्वर में युक्त करने से वे योगी भी हैं । अतः आपका कथन असंगत है । विपूर्वक पूरणार्थक 'प्रा' धातु से भी विप्र-शब्द सिद्ध करने पर जो विशेषरूप से विद्यार्थियों की अपेक्षाएं पूरी करे, तथा विप् अर्थात् वाणियों की विविध विद्याओं को बताये । क्षीरस्वामी के मत में विपूर्वक दृश् धातु से पृषोदरादित्वात् बनाया है ।

आपका यह कथन कि "विप्रस्य' का अर्थ स्वामीजी ने सर्वज्ञ किया है, फिर विपश्चित् का अर्थ सर्वविद्यायुक्त किया, तो वही पुनरुक्त हो गया अथवा सर्वज्ञ से अर्थ निकल जाने पर पुनः 'सर्वविद्यायुक्त' अर्थ करना व्यर्थ है ।"

गतार्थत्वात्" इति वचोऽव्यापाततः सम्यगाभासितम्, तत्त्वतः 'सर्व' शब्दो व्यक्ति-वाचकोऽपि । यथा—'रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय' इति ।

एवं विपो वाचो विविधविद्याश्चेतयतेऽसौ विपश्चित् 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (अष्टा० ६।३।१३) इत्यलुक् तथा च 'विपश्यंश्चेतयते' इति क्षीरस्वामी । सर्वज्ञ इति पदं तु समासेन समष्टिरूपेण सर्वं जानातीत्यर्थं प्रकाशयति । तत् सर्वं किमिति पृथक् पृथग् व्यासेन जीवज्ञानापेक्षामवलम्ब्य सर्वाभिर्विद्याभिर्युक्त इति विशेषार्थः।

मध्यशब्दविषये प्रथमखण्डे ९४तमे पृष्ठे द्रष्टव्यम् ।

पृ० १३३८, पं० १ यच्चाह—"धियो बुद्धिवृत्तीः' इत्यप्यसङ्गतम्, 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा' (बृह० उ० १।५।३) इति श्रुत्या धियो मनोऽन्तर्गतत्वात्" इति वचनमस्य शास्त्राणां गम्भीरपर्यालोचनाऽभावपरिणतम् । यतोऽत्र 'आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षः कार्योत्पत्तौ कारणान्तरसापेक्षः सत्यपि तस्मिन् कार्यानुत्पादात् तन्त्वादिवद् अत्र यदपेक्षणीयं करणान्तरं तन्मनः' इति सर्वद्रव्योपलं मन इह गृह्यते । तन्मनो हि 'सुखाद्युपलब्धिसाधनम्' उपलब्धयः खलु साध्याः । धीवृत्तयो बुद्धिवृत्तय एव ।

यह कथन आपाततः ठीक प्रतीत होता है, पर गहराई में उतरने पर ज्ञात होगा कि 'सर्व' शब्द समुच्चय-बोधक व व्यष्टि-बोधक भी है । व्यष्टि में उदाहरण है 'रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय' । इसी प्रकार जीवात्मा जिनको जानता है पर गिना नहीं सकता, उस सबको परमात्मा जानता है तथा जीव की अपेक्षा से सर्व अर्थात् अनेक विविध विद्यायें जो जीवों के सीखने योग्य हैं, उनसे वह विद्यायुक्त है । 'परमेश्वर के मध्य में मन लगाने' का अर्थ सीधा परमेश्वर में मन लगाना है।

'मध्य' शब्द के विषय में प्रथमखण्ड पृ० ९४ पर विशेष लिखा है ।

धी का अर्थ धीवृत्ति करना ठीक ही है। बृहदारण्यक में मन के अन्तर्गत धी के होने पर भी संकल्पविकल्पात्मक ही मन गृहीत है । आत्मा और इन्द्रिय का सन्निकर्ष तथा विषय और इन्द्रियों का सन्निकर्ष ये दोनों ज्ञानादि के उत्पादन में किसी और व्यक्ति की अपेक्षा रखते हैं; क्योंकि उनके रहते हुए भी ज्ञानादि की उत्पत्ति नहीं होती । उन सन्निकर्षों में ज्ञानादि के उत्पादन में जिस की अपेक्षा होती है, वही मन है । बुद्धि ज्ञानात्मिका वृत्ति है। अतः दोनों की उपयोगिता वा पृथक्ता है ।

https://t.me/Dharmasastra

ऋषिदयानन्देन मनः सङ्कल्पविकल्पात्मकमिष्यत इह। बुद्धिर्हि ज्ञानात्मिका वृत्तिः संवेहाऽभीष्टा। तस्माद् भूमिकार्थः सर्वथा समुपयुज्यते। एवं साधनं साध्यं च समस्तं परमेश्वरे युञ्जते विप्रास्तथैवास्माभिरप्याचरणीयमिति समर्पण-भावाभिव्यञ्जनेन 'समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसः' ऋषेरेवार्थः श्रेयान्। काम-सङ्कल्पादिलिङ्गैस्त्वस्ति तावन् मनः श्रोत्रादिव्यतिरिक्तम्।

पृ० १३३८, पं० ३—यदुच्यते—"यः सर्वमिदं विदधे' इत्यप्यसङ्गतम्, मूलाक्षराननुगमात्" इति, तत्तु प्रलपितमिव, मन्त्रे 'विदधे' इति मूलावगमात्। किं विदधे? इत्युत्तरं तु सर्वं जगदित्येव भवितुमर्हति, तेन सविता परमेश्वरः।

यदाह—"'होत्रा' इत्युपस्थितं कर्म परित्यज्यानुपस्थितकर्मकल्पनाया अनौ-चित्यात्" इति तु अलसोक्तिः, नूतनोचितार्थकल्पनासामर्थ्यात्, तातस्य कूपोऽय-मिति ब्रुवाणः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति, इत्यनुसरणप्रियत्वाच्च। न चात्र 'होत्रा' इति कर्म तव महीधरेणापि मतम्, होमकर्ता इति कर्तृत्वेनोक्तत्वात्।

'वयुनाविद्' इत्यनेन वयुनशब्दस्य गृहीतार्थविवरणं प्रस्तूयते—नहि सार्वज्ञेन

इस प्रकार समस्त साधन व साध्य परमेश्वर के लिए समर्पण द्वारा युक्त होते हैं। उन विप्रों की भांति हमें भी आचरण करना चाहिए। इस प्रकार समर्पण-भाव के अभिव्यञ्जन से समाधि से चित्त निर्धूत-मल हो जाता है। यह ऋषि के अर्थ का सारांश है। काम, संकल्प आदि चिह्नों से मन की श्रोत्रादि इन्द्रियों से व्यतिरिक्तता सार्थक है।

पृ० १३३८, पं० ३—"सविता देव को सविता मानना अज्ञान है; क्योंकि अनेक परमेश्वर नहीं हो सकते।" पारिजातकार का यह कहना भी प्रलाप है कि सारे जगत् को जिसने बनाया यह मूलमन्त्र से बाहर है; क्योंकि मन्त्र में 'विदधे' बनाया तो जिज्ञासा होना सहज है कि उसने क्या बनाया? तो उत्तर होगा 'सारा जगत् बनाया।'

आप कहते हैं 'होत्रा' इस उपस्थित कर्म को छोड़कर 'जगत्' को कर्म मानना अनुचित है, पर यहां 'होता' कर्ता है, कर्म नहीं और इनकी क्रियाओं को 'विदधाति' क्रिया का कर्म कहना तो सरासर अल्पज्ञता है। महीधर ने भी होत्रा का अर्थ 'होमकर्ता' लिखकर इसे कर्ता में माना, न कि कर्म में। यह कहना कि 'जगत्' इस कर्म की नूतन कल्पना करना ठीक नहीं, पर 'आपके पिताजी ने खारी पानी का कुआं खोदा था, अब उसी को पीवेंगे' यह कोई बुद्धिमत्ता नहीं। यहां तो आपके महीधर की भी आपसे विपरीत मान्यता है।

'वयुनाविद्' का अर्थ स्वामीजी ने शुभाशुभ कर्मों का जाननेवाला कहा

समस्तं गतार्थम्। वयुनं हि गतिक्षेपणार्थकाद् अजेः 'अजियमिशीङ्भ्यश्च' (उणा० ३।६१) इति 'उनन्' प्रत्ययो वीभावश्च। 'वयुनं वेतेः, कान्तिर्वा प्रज्ञा वा' (निरु० ५।१४) इति भाष्यम्। यथाहि 'ओम्' अ, उ, म् इत्यस्मिन् सर्वार्थवाचकत्वेऽपि जीवान् अपेक्ष्य परमात्मनो विविधगुणाः प्रकाश्यन्ते येन ते विविधविद्यासु कुशला जायेरन्, तथैवात्रापि। नैकवाक्ये भवता मया वा लिखितस्योत्तरसमबोधकम् अभूत्, सुविशदं चातो लिख्यते।

पृ० १३३८, पं० ६—आ०—यदुक्तम्—"'इत्' सर्वत्र व्याप्तो ज्ञानस्वरूपश्च नास्मात् पर उत्तमः कश्चित् पदार्थो वर्तते, इति यत्किञ्चित्, इदित्यव्ययस्यै-वार्थकत्वात् तथा च एक एवेत्यर्थः, व्याप्तिज्ञानार्थकधातुकल्पनापेक्षया प्रसिद्धस्या-

---

है। आपका कथन है कि "सर्वज्ञ पद से ही यह भी अर्थ निकल आयेगा। स्वामीजी का उक्त अर्थ ठीक नहीं।" श्रीमन्! आपकी वाणी बुद्धि के पीछे तो चलती नहीं। बिना विचार किये उसे तो स्वामीजी की बात पर 'ना' कहना है। विचार तो करो, कोई व्यक्ति कहता है कि बाजार से सब चीज ले आये। इसका अर्थ यह भी निकल सकता है कि अब बाजार में अन्य शेष कोई चीज नहीं रही। दूसरे बतायी हुई वस्तुएं ले आये। परन्तु बताई हुई वस्तुओं के विवरण में अन्यों के बताने के लिए नाम गिनाना आवश्यक है। ऐसे ही जीवात्मा अल्पज्ञ को यह भी जानना पड़ेगा कि वह सारी विद्याओं के जाननेवाले के जिनके नाम भी यत्र-तत्र वेद में दिये हैं, तथा वह उसे जानने में शुभ और अशुभ कर्मों को भी जानता है।

सर्वज्ञ शब्द से 'वयुनाविद्' की गतार्थता कहना परम्परा से विद्याओं और ज्ञान के प्रसार का विरोध करना ही है। जैसे ओ३म् का 'अ+उ+म्' इनमें सर्वस्व समाया हुआ है। पर जीवों के ज्ञानविकास के लिए यह आवश्यक है कि वह सर्वस्व या वे सब विद्याएं क्या-क्या हैं, जिनमें जीव कुशल होवे। वैसे तो आपको एक ही वाक्य लिखना पर्याप्त था कि 'स्वामी दयानन्द का सारा लेख अशुद्ध है' और हम भी आपके इतने बड़े वेदार्थपारिजात का एक वाक्य में उत्तर दे सकते थे कि 'यह सब उन्मत्तप्रलाप है'। पर हमें समझाना व सिद्ध करना पड़ रहा है कि जिससे भिन्न-भिन्न स्तर के भी व्यक्ति समझें और सन्तुष्ट हों।

पृ० १३३८, पं० ६—आक्षेप—"वही एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक और ज्ञानस्वरूप है' यह अर्थ 'इत्' इस अव्यय का नहीं करना चाहिये, इसका 'एव' अर्थ प्रसिद्ध ही लेना चाहिए।"

समाधान—प्रथम तो आप इसमें किसी शास्त्र का कोई प्रतिबन्धक नियम

https://t.me/DharmaSamrat

व्ययस्व त्यागानौचित्याद्, महत इत्यनेनैव व्यापकत्वार्थलाभाच्च । एवं कृते सति जीवाः परमेश्वरमुपगच्छन्तीत्यप्यवेदार्थ एव, वेदाक्षरबाह्यत्वात्, परमेश्वरस्य व्यापकत्वेन सर्वत्र स्थितस्योपगम्यत्वाभावाच्च ।"

इत्याक्षेपवाचि कुतर्ककर्त्तरीप्रयोगमात्रम् । नहि 'इत्' शब्दस्य प्रसिद्धार्थं 'एव', प्रसिद्धेः पूर्वमर्थस्य सत्त्वात् ।

बताइये कि एक शब्द के संगत अन्यार्थ नहीं लिये जा सकते । जब कोई नियम नहीं तो 'इत्' शब्द के प्राप्त सभी घटित अर्थ लिये जायेंगे । जो स्वामी दयानन्द ने यथास्थान (आर्याभिविनयादि में) लिये हैं । यथा—इत् निश्चय (ऋ० १।१०४।५) अन्य, अपि; इव, चार्थ, पादपूरण अर्थों में 'इत्' का प्रयोग माना है । परन्तु व्युत्पत्ति पक्ष में 'एति जानाति अनेन इति ज्ञानम्, ईयते प्राप्यते स इत्, एति गच्छति पूर्वतः प्राप्नोति इत्' इस प्रकार व्याप्त और ज्ञानस्वरूप अर्थ इत्-शब्द से सहज प्राप्त है । 'मही' महती यह विशेषण 'परिष्टुति' का है ।

आश्चर्य तो तब होता है कि आपकी पण्डित-मण्डली ने यह भी नहीं सुझाया कि महोदय ! आपातत: पर्य्यायी प्रतीत होते हुए भी सूक्ष्मबुद्धि से प्रत्येक शब्द पृथक् वा विशिष्ट अर्थ रखता है । अतः आपका यह कथन कि 'व्यापक अर्थ को महदर्थ मही शब्द से कहा जा सकता है' नितान्त भ्रम है; क्योंकि 'महति पूजयति पूज्यते वा तत् महत्' जो पूजता अथवा पूजा जाता है, वह महत् है । अथवा 'मानेन अन्यान् जयति इति शाकपूणिः' जो मान से अन्यों को जीतता है, ऐसा शाकपूणि मानते हैं । 'महनीयो भवति वा' (निघं० ३।१३) और 'विशेषेण आप्नोति' अर्थात् जो विशेषरूप से पदार्थों को प्राप्त किये हुए है । यह दोनों में अन्तर है ।

आक्षेप—'ऐसा करने से जीव परमेश्वर के सामीप्य को प्राप्त होते हैं, यह यह कथन भी मन्त्राक्षर से बाहर है तथा व्याप्त ईश्वर तो सर्वत्र है, तो इसके पास जाने की बात कहना ठीक नहीं ।

समाधान—इस आक्षेप में केवल कुतर्क कर्त्तरी (कैंची) का ही प्रयोगमात्र है । परमेश्वर से देशकृत सामीप्य तो जीव का सदा रहता है, पर दूरी ज्ञानकृत है अर्थात् वह जीव प्रकृति की ओर जब उन्मुख रहता है, तब उसे प्रभु के समीप जाने की बात कही गयी है, अतः ऋषि का कथन सर्वथा सङ्गत है । ऊपर कहे मन्त्राक्षरों के अर्थ का यह तो निष्कर्ष या भावार्थ ऋषि ने कहा है । अतः मन्त्राक्षर से बाह्य कदापि नहीं है ।

आपने ऊपर कहा है कि 'इत्' शब्द का प्रसिद्ध अर्थ 'एव' ही है । तो आप बताइये कि वेद के शब्दों का अर्थ प्रथम अवगत हुआ तब अर्थ प्रसिद्ध हुआ या

पृ० १३३८, अनु० १—"युञ्जानः प्रथमं मनः०' इत्यस्यापि व्याख्यानं न युक्तम्, मध्ये 'स्वस्मिन्नियुङ्क्ते' इत्यादिपदाभावात् । यदि सवित्रग्निशब्दयोरुभयोरपि परमात्मपरत्वमेव स्यात्,तदा भिन्नपदयोः प्रयोगस्य प्रयोजनं वक्तव्यम् । यस्याग्निरूपस्य परमेश्वरस्य ज्योतिर्निचाय्याभरत् स एव स्वस्मिन् धियं नियुञ्जीत । योगिनो लक्षणकथनमप्यप्रकान्तमेव ।"

इत्यपि सूक्ष्मानाकलनफलम् । मन्त्रगतशब्दानामेव व्याख्याने प्रयोज्यशब्दप्रतिबन्धकनियमाभावात् । यदा हि योगं कुर्वन् ब्रह्मादितत्त्वज्ञानाय प्रथमं स्वीयं मनो नियुनक्ति सङ्कल्पात्मकत्वे, ततः स्वयमेव प्रभुः सत्यसङ्कल्पमवधाय योगं कुर्वाणस्य धियं नियोक्तुमनुग्रहं कुरुते, सवितुर्धियश्च विशिष्टसम्बन्धात् । प्रथममयं नियुञ्जानो भवति, तदनन्तरं प्रभुरपि साहाय्यं कुरुते इत्यर्थः । सवित्रग्न्योः

पहले शब्द प्रसिद्ध हुए तब अर्थ निर्धारित किये गए ? वस्तुतः प्रथम पक्ष ही सही व गरीयान् है ।

सभी शब्द नैरुक्तमत में धातुज हैं । यदि रूढि-प्रसिद्धार्थ केवल लिये जायें तो वेद की गरिमा का उत्तम व्याख्यान नहीं हो सकता । इसलिए सङ्कीर्णार्थ का कहीं छोड़ना भी उचित है अन्यथा महान् और व्यापक नहीं हो सकता । इस प्रकार 'एति' का अर्थ हुआ कि जीव परमेश्वर में मन और बुद्धि की योजना के बाद उसके पास पहुंचते हैं ।

पृ० १३३८, अनु० १—आक्षेप "युञ्जानः प्रथमम०' इस मन्त्र का अर्थ 'जब योग करनेवाले अपने मन को परमेश्वर में नियुक्त करते हैं, तब परमेश्वर उनकी बुद्धि को अपने में युक्त करता है' यह ठीक नहीं । सविता और अग्नि जब दोनों ईश्वरवाचक हैं, तो दोनों का प्रयोग क्यों किया ? मन्त्र में योगी के लक्षणों का भी प्रसङ्ग नहीं, अतः दयानन्दीय व्याख्यान अशुद्ध है ।"

समाधान - यहां पर भी यह लेखक सूक्ष्मता का आकलन नहीं कर सका; क्योंकि मन्त्रों के व्याख्यान में किन्हीं विशिष्ट शब्दों का ही प्रयोग करे, यह कोई शास्त्रीय प्रतिबन्ध नहीं है । जब तत्त्वज्ञान के लिये योग करता है, तो प्रथम अपने मन को परमेश्वर में नियुक्त करता है । तब स्वयं प्रभु उसके सङ्कल्प की सत्यता को जानकर उनकी मति के नियोजन में अनुग्रह करता है । सविता और धी का विशेष सम्बन्ध है । प्रथम योग करनेवाला अपने मन को लगाता है, तब प्रभु भी साहाय्य करते हैं । 'प्रथमं मनः तत्त्वाय युञ्जानः साधकस्ततः तस्य धियं सविता युञ्जानो भवति' । 'युञ्जानः' शब्द शानच्प्रत्ययान्त है । इसका अन्वय योग करनेवाले तथा सविता दोनों के साथ लगेगा । यह युक्त करनेवाली क्रिया तो

https://t.me/DharmaSamrat

परमेश्वर-तात्पर्यत्वेऽपि भिन्नधातुनिष्पन्नत्वादर्थभेदवैशिष्ट्यं तु महद् विद्यत एव।

एतेन मन्त्रेण योगिनो लक्षणमेव प्रस्तुतं यद् यः प्रथमं मनो युङ्क्ते तदनु ईश्वरः स्वस्मिन् नियुङ्क्ते, तदा स परमेश्वरः प्रकाशं धारयतीति लक्षणं लक्ष्यते मन्त्रो न ह्येतत् प्रक्रान्तमेवेति दिक्।

महाशय! त्वां पृच्छामि यत् काऽपि कण्डिका वेदे त्वां कर्मकाण्डातिरिक्ताऽपि मिलिता? यया ज्ञान-विज्ञानप्रकाशनं भवेत्। वस्तुतः कर्मकाण्डकीलककीलिता मतिर्महीधरानुकरणात् परं न किमप्यूहते। ऋषिरत्र पूर्वमन्त्रप्राप्तमर्थमेव समुपन्यस्यति। मोक्षस्वरूपं तत्प्राप्तिसाधनं च प्रथमखण्डे समालोचितमिति नेहातः प्रपञ्च्यते।

पृ० १३४०, पं० ९—यदुच्यते—"सर्वे मनुष्या एवमिच्छेयुरित्यपि वेदार्थबाह्य एव, मन्त्रे तादृशपदाभावात्। इच्छायाः कृत्यविषयत्वेन विधानाभावात्।" इति, तदपि सारहीनम्। मन्त्रार्थं प्रति सर्वे एवमिच्छेयुरिति प्रस्तावनार्थत्वात्।

प्रत्यक्ष है। सविता और अग्नि का अर्थ परमेश्वर होते हुए भी इन गुणवाचक तथा भिन्न धातुओं से निष्पन्न होने से विशेषतया अर्थभेद रहेगा।

योगी का प्रसिद्ध लक्षण इस मन्त्र में है। जैसे परमेश्वर में मन नियुक्त करना (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः) फिर परमेश्वर का अनुग्रह प्राप्त करना (तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्)। जब मन्त्र में योग के लक्षण प्रकट हैं, तो उनका संकेत कर देना अपक्रान्त अर्थात् अप्रसङ्ग कैसे कहा जा सकता है?

अग्रिम प्रकरण को प्रस्तुत करने से पूर्व आप से एक प्रश्न है। बताइये कि क्या वेद में कहीं पर आपको यज्ञ (कर्मकाण्ड) के अतिरिक्त भी अन्य विषय मिला या सूझा या नहीं? जिससे कदाचित् ज्ञान-विज्ञान व अनन्त विद्याओं का प्रकाशन हो सके। कर्मकाण्ड के खम्भे से बंधी हुई आपकी मति महीधर से परे कुछ भी नहीं सोच पाती। ऋषिदयानन्द यहां पर पूर्व मन्त्र से प्राप्त अर्थ को पुनः प्रकट करते हैं। मोक्षस्वरूप तथा उसकी प्राप्ति का साधन पूर्व में उपन्यस्त किया जा चुका है। अतः यहां उसे प्रपञ्चित नहीं करते।

पृ० १३४०, पं० ९—आ०—"सब मनुष्य इस प्रकार की इच्छा करें कि हम लोग मोक्षसुख के लिए यथायोग्य सामर्थ्य केवल परमेश्वर की दृष्टि में उपासनायोग करके अपने आत्मा को शुद्ध करें, परन्तु मन्त्र में स्वर्ग शब्द मोक्ष का वाचक नहीं है; क्योंकि कर्म से नित्य मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।"

समा०—इस पर आपका उक्त आक्षेप सारहीन है; क्योंकि इस मन्त्रार्थ के प्रति 'सब मनुष्य इच्छा करें' यह वाक्य तो ऋषि ने प्रस्तावनास्वरूप लिखा है।

इच्छाया बाह्यकृतेरविषयत्वे कस्यापि पूर्वमिच्छायाः कारणत्वेन आवश्यकत्वाच्च, अथवा अप्राप्तवस्तुनः स्वार्थं परार्थं वा प्रति इदं मेऽस्य वा स्यादिति सेच्छा। सा चात्ममनसोः संयोगात् सुखाद्यपेक्षात् स्मृत्यपेक्षाद् वोत्पद्यते। एकं मन्त्रार्थं सम्यगवबोधयितुमेव पदवाक्यादिप्रयोगः क्रियते। यथा च भवतैव मन्त्रबाह्यः 'प्रयतामहे' इति शब्दो योजितः।

पृ० १३४०, पं० १२—"अनित्यो मोक्ष इति दयानन्दीयमतस्याश्रौतत्वात्" इति यदाह भवान् एवं ज्ञात्वा अस्माभिर्निश्चितकालावध्यनन्तरं पुनरागमनं ख्यापितम्, इति तत्सत्यम्, परं भवतां तु ईश्वरोऽपि न नित्यं मोक्षानन्दमनुभवति, पौनःपुन्येन शरीरधारणात्। धृते च शरीरे दुःखस्याप्यवश्यं भावित्वात् तस्यापि।

आक्षेपः—पृ० १३४०, पं० १३—यदुक्तम्—"शक्त्येत्यस्य योगबलोन्नत्येति कथमर्थः? देवस्य सवितुरित्यनयोः पदयोरपि पूर्वोक्तश्रुतिप्रमाणेन प्रजापतिरूपो

और यह कथन अज्ञान है कि इच्छा कृति का विषय नहीं होती; क्योंकि कृति से पूर्व तो इच्छा का होना अनिवार्य है। अथवा अप्राप्त वस्तु की स्वार्थ की परार्थ के प्रति 'यह मेरी हो' ऐसी ही तो इच्छा होती है। वह इच्छा आत्मा और मन के संयोग से सुखादि या स्मृति की अपेक्षा से उत्पन्न होती है। अतः मन्त्रार्थ को सम्यक् समझने के लिये वाञ्छित पद, वाक्य का प्रयोग किया जाता है। जैसे कि आपने तदर्थ 'प्रयतामहे' यह जोड़ दिया है, जो कि मन्त्र में नहीं है।

आपके महीधर ने भी यजुः ११।२ मन्त्र के भाष्य में मन्त्राक्षरों से बाह्य 'प्रयत्नं कुर्म इति शेषः' यह वाक्य बढ़ाया है। 'युक्तेन मनसा' का अर्थ ऋषि ने 'योगयुक्तेन' और आपके महीधर ने 'इन्द्रियेभ्यो निगमितेन एकाग्रेण मनसा स्वर्गाय स्वर्गसाधकाय' अर्थात् 'इन्द्रियों से नियमित एकाग्र मन से स्वर्गलोक प्राप्ति के साधक कर्म के लिये' अर्थ किया है। पर ऋषि ने योग में युक्त मन से मोक्षसुख-प्राप्ति बतायी है, जो अधिक युक्तिसङ्गत है।

पृ० १३४०, पं० १२—"मोक्ष को अनित्य माननेवाला दयानन्दीय मत ठीक नहीं" यह आपका कथन ही ठीक नहीं है; क्योंकि आपका परमात्मा भी जन्म-धारण कर नित्य मोक्षानन्द का अनुभव नहीं कर पाता। अपि च शरीर धारण कर अवश्यम्भावी दुःख को भोगता है।

पृ० १३४०, पं० १३—आक्षेप—"शक्ति-पद का अर्थ 'यौगिकबल से सेप्राप्त सामर्थ्य' कैसे किया जा सकता है? 'देवस्य सवितुः' इन दोनों पदों का भी पूर्वोक्त श्रुति के आधार पर 'प्रजापतिरूप देव' ही अर्थ हो सकता है। 'सब' का

https://t.me/Dharmasastra

देव एवार्थः। सर्वेऽनन्त्यैश्वर्ये सदोपयुञ्जीमहीति निरर्थकमेव वाक्यम्, कर्मणोऽनिर्देशात्। हिन्दीभाषामयं व्याख्यानं तु सर्वथा बाह्यं न मन्त्रं न वा तत्संस्कृतव्याख्यानं स्पृशति। अहो जितं धाष्ट्र्येन।" इति।

समाधानम्—तदपि उन्मादोन्नदनमस्य, गूढचिन्तनशक्तेरभावात्। मोक्षसुखाधिगमस्तु योगबलोन्नतिरूपशक्त्या भवितुमर्हति। भवता 'युक्तेन' इत्यस्य इन्द्रियेभ्यो नियमितेनेत्यर्थः कथं कृतः? इन्द्रियेभ्य इत्यत्र का विभक्तिः? पञ्चमी चेत् केन सूत्रेण? नहि नियमितेनेति इन्द्रियेभ्यो विश्लेषो व्यज्यते मनसश्चापीन्द्रियत्वात्, त्वदर्थस्यामान्यतैवोदक्षरत्वाच्च। पुनरेकाग्रे पुनरुक्तिः किमर्थम्? नियमितेनैव तदर्थाभिव्यञ्जनात्। अत ऋष्यर्थ एव गरीयान्, युक्तेन योगयुक्तेन शुद्धान्तःकरणेनेति।

अर्थ अनन्त ऐश्वर्य कर भगवान् के अनन्त ऐश्वर्य में अपने मन को नियोजित करे, ऐसा कहना भी निरर्थक है; क्योंकि यहां कर्म का निर्देश नहीं किया गया है। हिन्दी भाषा में की गयी व्याख्या तो और भी विलक्षण है। उसका न तो मन्त्र से ही कोई सम्बन्ध है और न उनकी अपनी संस्कृत-व्याख्या से ही सम्बन्ध है। इससे बढ़कर और क्या धृष्टता हो सकती है?

समाधान—यह इस लेखक का उन्माद उन्नदन है; क्योंकि इसमें गूढ चिन्तनशक्ति का अभाव है। मोक्ष सुख की प्राप्ति के लिए योगबलोन्नत शक्ति ही अपेक्षित है।

बताइये, आपने महीधर की नकल प्रस्तुत कर 'युक्तेन' का अर्थ इन्द्रियों से नियमित कैसे कर लिया? 'इन्द्रियेभ्यः' में कौनसी विभक्ति है? पञ्चमी कहें तो किस सूत्र से? नियमित शब्द से विश्लेष(पार्थक्य) तो प्रकट है नहीं; क्योंकि इन्द्रियों में तो मन भी सम्मिलित है। या तो बाह्य विशेषण रखते तब भी कुछ ठीक होता, अतः तुम्हारा अर्थ मन्त्र से बाह्य है। यहां पर 'नियमित' से ही अर्थ निकल जाता फिर 'एकाग्र' शब्द से पुनरुक्ति क्यों की? इसलिये युक्तेन 'युज समाधौ' का अर्थ 'योगयुक्त अन्तःकरण से' यह ऋषिकृत अर्थ ही सर्वथा उत्तम है।

ऋषि पर आप अपनी धृष्टता से धृष्टता का आरोप लगा रहे हैं, यह कितनी बड़ी धृष्टता है। आप कहते हैं 'सविता देव' का अर्थ 'प्रजापतिरूप देव' होगा। प्रथम तो इस अर्थ में 'सविता' शब्द का पञ्जीकरण तो हुआ नहीं है और यदि 'प्रजापति' अर्थ भी किया जाये, तब भी वह परमेश्वर ही है। जैसा कि यजु० ११।१ मन्त्र में 'सविता' का अर्थ 'सबका प्रेरक' महीधर ने भी किया है। वह परमेश्वर से भिन्न नहीं है। और भी देखिये, यजु० ११।१ में महीधर ने 'सुवति स्वस्य व्यापारे प्रेरयतीति सविता देवः, द्योतमानः परमेश्वरः' अर्थ किया

प्रजापतिर्हि ऋषिरस्य सविता च देवता इत्यनेनावश्यं यदृषिरेव देवतावर्ण्या भवेत्। पूर्वश्रुतौ भवता 'सविता सर्वस्य प्रेरकः प्रजापतिः' इत्यर्थो विहितः, स किमानन्दप्रदान्तर्यामिनः परमेश्वराद् भिन्नः, भिन्नश्चेत् किं रूपः? अथ च पूर्वश्रुतौ न प्रजापतिशब्दः पठितः।

धीमद्वर्य! इदं कुतोऽधीतं भवता यद् यस्मिन् वाक्ये कर्मणः निर्देशो न भवेत्तन्निरर्थकं भवति। वाक्यनिरर्थकत्वेऽयं हेतुरसद्धेतुः। हिन्दीभाषायां हि अर्थो दर्श्यते ऋषिणा भावार्थो हि प्रथमव्याहृतं बहुधा स्पष्टं क्रियते, न त्वक्षरानुवादः प्रस्तूयते। संस्कृतव्याख्यानं न स्पृशतीत्याख्यानमलीकमुट्टङ्कितम्।

है। ऋषि ने धात्वर्थ के आधार पर देव का अर्थ स्वप्रकाश और आनन्दप्रद तथा सविता का सर्वान्तर्यामी परमेश्वर अर्थ किया है। उसका आप विरोध निराधार कर रहे हैं।

अस्तु, आप बताइये! महीधर के नकलची प्रसिद्ध न होने पर आपने 'सवे' का 'आज्ञायाम्' अर्थ कैसे कर लिया? 'षु प्रसवैश्वर्ययोः' इस धातु का अर्थ तो स्पष्ट ही ऐश्वर्य है। वह ऐश्वर्य जब देव परमात्मा का है, तब तो अनन्त होगा ही। इसमें सन्देह कहां है? 'सदोपयुञ्जीमहि' यह शिष्टार्थ ऊहित है।

इस मन्त्र का ऋषि यदि प्रजापति और सविता देवता है, तो यह आवश्यक कैसे है कि यह प्रजापति ऋषि वर्णनीय देवता भी बने। पूर्व श्रुति में 'सविता' सबका प्रेरक परमात्मा से भिन्न तो हो ही नहीं सकता। कदाचिद् भिन्न कहें, तो सबका प्रेरक ईश्वर से भिन्न कौन वा कैसा है? दूसरे पूर्वमन्त्र में प्रजापति शब्द तो नहीं पढ़ा गया, केवल प्रमाण प्रस्तुत कर सविता का अर्थ प्रजापति प्रस्तुत किया है।

महामतिमन्! यह तो बताइये कि यह आपने कहां पढ़ा है कि जिस वाक्य में कर्म न हो, वह निरर्थक होता है। जहां कर्म न भी हो, वहां ऊहित किया जा सकता है। अतः 'वाक्य के कर्म का निर्देश होने पर वाक्य निरर्थक होता है' यह 'असद् हेतु' है। भूमिका में यहां हिन्दीभाषार्थ में संस्कृत का अक्षरानुवाद नहीं है, अपितु बहुधा कई बातों को अधिक स्पष्ट भी कर दिया गया है। आप अपनी ही पुस्तक को ले लीजिये। यद्यपि यह तो संस्कृत का अक्षरानुवाद है, पर कहीं-कहीं आपका भाषाकार भङ्ग की तरङ्ग में न जाने कहां की कहता है। जैसे पृ० १३२९ पर हिन्दी में चौथी पंक्ति—"आकाश और पृथिवी को भी आप तपाइये।"

https://t.me/DharmaSamrat

अन्ते भवान् 'धाष्ट्र्येन' समापनं कुरुतेऽनुच्छेदस्य तन्नोचितम्। न रोचते सभ्येभ्यो यद्भवान् शिष्टजनविगर्हितसरणिमनुसरन्नवाच्यवाचा सम्बोधयति पूजनीयस्वपूर्वजं देवदयानन्दम्। किमेतत्ते धाष्ट्र्यम्?

पृ० १३४१, अनु० १—'युक्त्वाय' इति मन्त्रस्य माहीधरभाष्यमुद्धृतं तदुपेक्षे सम्प्रति आलोचनाऽपात्रत्वेन।

अनु० २—यदुक्तम्—"यत्तु एवं योगाभ्यासेन कृतेन स्वर्यतः शुद्धभावप्रेम्णा देवानुपासकान् योगिनः सविता युक्त्वाय तदात्मनस्तु प्रकाशकरणेन सम्यग् युक्त्वा अनन्तप्रकाशं दिवं दिव्यं स्वरूपं प्रसुवाति प्रकाशयति। तथा करिष्यतः सत्यभक्तिं करिष्यमाणान् सविता परमकारुणिकोऽन्तर्यामीश्वरो मोक्षदानेन सदाऽऽनन्दयति इति, तत्तु तन्मनोविलसितमेव, मन्त्राक्षराननुगमात्। 'स्वर्यतः' इत्यस्य 'शुद्धप्रेम्णा' इति विवरणं शाब्दिकजगदुपहास्यास्पदमेव। 'देवानित्यस्योपासकान् योगिनः' इत्यपि निर्मूलम्। 'धिया' इत्यस्य 'स्वकृपाऽऽधारवृत्त्या' इत्यपि चिन्त्यम्। तथा 'करिष्यतः सत्यभक्तिं करिष्यमाणान्' इत्यत्रापि सत्यभक्तेराक्षेपेऽध्याहारे वा किं मूलम्? 'बृहज्ज्योतिः' इत्युपस्थितं कर्म परित्यज्य अनुपस्थितकल्पनायाः कथं न जिह्रेति।" इति, तदपि नामाक्षेपदक्षत्वमेवमविमर्शशीलत्वम्, लवर्थस्य सङ्गतत्वान् मन्त्राक्षरानुगतत्वाच्च।

अन्त में आपने अपने इस अनुच्छेद का 'धाष्ट्र्य' से समापन किया है, जो अति घृणाजनक है। अस्तु, हमें यह अच्छा नहीं लगता कि आप अपने पूजनीय पूर्वज देवदयानन्द को शिष्टजनगर्हित मार्ग पर चलकर अवाच्य शब्द प्रयोग कर रहे हैं। क्या मैं इसे आपका धाष्ट्र्य समझूं?

पृ० १३४१, अनु० १—आपने 'युक्त्वाय' मन्त्र पर महीधरभाष्य प्रस्तुत किया है, सम्प्रति हम उसकी आलोचना छोड़ रहे हैं, आलोच्यविषय न होने से।

अनु० २—आक्षेप—"इसी प्रकार वह परमेश्वर देव भी उपासकों को अत्यन्त सुख देकर उनकी बुद्धि के साथ अपने आनन्दस्वरूप प्रकाश को करता है। तथा वही अन्तर्यामी परमात्मा अपनी कृपा से उनको युक्त करके उनके आत्मा में बड़े प्रकाश को प्रकट करता है। जो उसकी भक्ति करेंगे, उन्हें वह मोक्षसुख देकर आनन्दित कर देगा, यह भूमिका की सारी व्याख्या मनोविलास है। मन्त्र से बाह्य है। स्वर्यतः का अर्थ 'शुद्ध प्रेम से' करना हास्यजनक है। 'देवान्' का अर्थ उपासक योगी करना भी निर्मूल है। 'धिया' का अर्थ 'स्वकृपाधारवृत्ति से' करना भी चिन्त्य है। 'करिष्यतः' और 'करिष्यमाणान्' के साथ सत्यभक्ति का अध्याहार भी निर्मूल है। इस मन्त्र में 'बृहज्ज्योतिः' कर्म को छोड़ अनुपस्थित की कल्पना लज्जाजनक है।"

भाष्यमूले 'योगाभ्यासेन कृतेन शुद्धभावप्रेम्णा' इति 'स्वर्यत' इत्यस्मात् पूर्वं भागेऽपेक्षितः। तदा 'स्वर्यते स्तूयते इति' यत्र वा इति स्वस्तद्यन्ति तान् योगिन इत्यर्थः। ननु एतदुक्तिमनुरुध्य पूर्वमेव संशोध्य नाऽद्यावधि पाठो रक्षित आर्यैस्तथात्वेऽयमेवार्थः 'शुद्धभावप्रेम्णा' इति, स च न सम्भवतीति चेन्न, सुष्ठु शोभनो अर्थ ईश्वरो यस्मिन् भावे तस्मात् स्वर्यशब्दात् तसिल्प्रत्यये शुद्धभावप्रेम्णा इत्येवार्थः सम्पद्यते। अन्यथा पूर्वसमाधाने हिन्दीभावार्थमवगम्य स्वः सुखं प्राप्नुवत इत्येव साधीयान्।

नहि शब्दशास्त्रमर्मज्ञमहर्षेर्व्याकरणपाण्डित्यस्य उपहास्यं विधास्यन्ति। दिवुधातोर्देवाः स्तोतार उपासकास्तानिति साधुरेवार्थः। धारणाशक्तिरेव 'धीः' कथ्यते। सैव प्रभोः कृपाधारवृत्तिर्योगपक्षे। करिष्यतः, प्रसुवाति, आनन्दयति किं करिष्यतः। इत्यस्योत्तरे सत्यभक्तिमित्याक्षिप्यते, नहि त्पाषाणखण्डकारिण इति वाक्त्। एवं मुधाक्षेपपरम्परामुद्वमन् अयमेव न जिह्रेति।

पृ० १३४२, अनु० २—आक्षेपः—यदुक्तम्—"दयानन्दस्तु युजे वामिति

समाधान—उक्त सब में आक्षेप करने की दक्षता प्रदर्शित की गयी है, पर विमर्शनशीलता के कहीं दर्शन नहीं हैं। ऋषि के सभी अर्थ यहां धातुमूलक हैं, अतः सङ्गत हैं तथा मन्त्राक्षरों में अनुरूप हैं। महर्षि दयानन्द की यह शैली है। पृथक्-पृथक् स्थान या प्रकरण में वेदमन्त्रों से विभिन्न अर्थ निष्पीडन करने का वे दृष्टिकोण रखते हैं। यहां पर 'स्वर्यतः' में स्वर्य से तसिल् मानकर 'स्वः' अर्थात् सुखमय अर्थात् 'शुद्धभाव प्रम से' अर्थ करते हैं। यजुर्वेदभाष्य में 'स्वः=सुखस्य, यतः=प्रापकान्' अर्थात् 'सुख के प्रापक' अर्थ करते हैं अथवा सु=शोभन अर्थ 'ईश्वर' जिस भाव में है उससे अथवा सुख को प्राप्त। यहां उपासना से उपासक योगियों को यजुर्वेदभाष्य में 'दिव्यगुणों को' तथा 'धिया' यह 'ध्यै चिन्तायाम्' धातु से क्विप् व सम्प्रसारण कर तृतीया में चिन्तावृत्ति अथवा स्वकृपावृत्ति से स्वर्लोक भी प्रयुक्त होता है कि पिता को हमारी चिन्ता है। 'करिष्यतः' की आकांक्षा के लिये 'सत्यभक्ति' शब्द का अध्याहार अत्यन्त उपयुक्त है। यहां 'मिट्टी या पाषाण का खण्डन करनेवाले' यह अध्याहृत नहीं हो सकता। वैसे यजुर्वेदभाष्य में ऋषि ने इसका 'ज्योतिः' कर्म माना है। 'स्वर्यतः' या देवान् दिव् धातु से 'देवाः स्तोतारः' अर्थात् उपासक अर्थ भी बिल्कुल ठीक है। धारणा शक्ति का नाम 'धी' है। योगपक्ष में ईश्वर की कृपाधारवृत्ति ही 'धी' है। इस प्रकार व्यर्थ ही आक्षेपों को करते हुए आपको लज्जा नहीं आ रही है।

पृ० १३४२, अनु० २—"स्वामी दयानन्द 'युजे वाम्' इस मन्त्र में 'वाम्'

https://t.me/DharmaSamrat

मन्त्रे वामिति पदेनोपासनाप्रदोपासनाग्रहीतारौ प्रति परमेश्वरः प्रतिजानीत इत्यर्थ्यते। केन शब्देनैतज्ज्ञायते परमेश्वरोऽत्र वक्तेति च नोत्तरयति। सिद्धान्ते तु चयनयागसम्बन्धिन इमे मन्त्रा इति पारम्पर्येण श्रुत्या सूत्रेण च ज्ञायते। त्वद्दृष्ट्योपासनाप्रदाता परमेश्वर एव, तेनैव तदुपदेशात्। तेनोपदेशप्रदोऽन्य इति त्वन्धविश्वासित्वस्यैव पोषणम्। ब्रह्म पूर्व्यं यदा तौ पुरातनं सनातनं ब्रह्म नमोभिः स्थिरेण सत्यभावेन नमस्कारैरुपासाते, तदा तद् ब्रह्म ताभ्यामाशीर्वादं ददाति। 'यदा तौ' इति पदे वेदबाह्ये त्वत्कपोलकल्पिते एव। अमृतस्य मोक्षस्वरूपस्य परमेश्वरस्य पुत्राः तदाज्ञानुष्ठातारस्तत्सेवकाः सन्ति। त एव दिव्यानि धामानि सुखस्वरूपाणि स्थानानि, आतस्थुः= आसमन्तात् स्थिरा भवन्ति।

अत्रापि 'अमृतस्य पुत्राः' (ऋ० १०।१३।१) इत्यस्य अमृतस्याज्ञानुष्ठातार इति कथमर्थः? शृण्वन्तु प्रख्यातं जानन्तु, इत्यादिकमपि क्लिष्टकल्पनमेव। 'उपासनां कुर्वाणौ वां युवां द्वौ प्रतीश्वरोऽहं युजे कृपया समवेतो भवामि' इत्यपि निराधारम्, मन्त्राक्षरार्थाननुगमात्। अनया रीत्या कस्यापि मन्त्रस्य स्वेच्छया स्वाभीष्टपरतया व्याख्यानेन सर्वत्र व्याख्यानेऽतिप्रसक्तिरेव स्यात्। वेद एवेश्वरस्य संविधानम्, तदनुसरणेन तदनुग्रहोऽतिलङ्घनेन निग्रहश्च भवति। ततः पृथग् एवं करिष्यसि तदाहमाशीर्वादं दास्यामीति कल्पनं बालजल्पनमेव।" इति।

पद से 'उपासना का उपदेश देनेवाले और उसका ग्रहण करनेवालों के प्रति परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है' यह अर्थ करते हैं। किस शब्द से परमेश्वर का वक्तृत्व सिद्ध है, यह नहीं बताते। सिद्धान्त में यह मन्त्र चयनयागसम्बन्धी है, यह बात परम्परा, श्रुत्या और सूत्र से ज्ञात होती है। आपके मत से उपासना को समझानेवाले उसका उपदेश करनेवाले परमेश्वर हैं। उससे उपदेशक अन्य मानना अन्धविश्वास है। 'जब तुम सनातन ब्रह्म को सत्यप्रेम से अपने आत्मा को स्थिर करके नमस्कार आदि से उपासना करोगे, तब मैं तुम को आशीर्वाद दूंगा' इस व्याख्या में भी 'यदा तौ' ये पद वेदबाह्य हैं।

यहां 'अमृतस्य पुत्राः' इसका अर्थ 'अमृत की आज्ञा का पालन करनेवाले' यह अर्थ कैसे हो गया? 'शृण्वन्तु' से उस प्रख्यात परमात्मा को जानो, यह भी कल्पित है। 'उपासना करनेवाले तुम लोगों के प्रति मैं ईश्वर की कृपा से युक्त हो जाता हूं' यह अर्थ भी निराधार है, क्योंकि मन्त्राक्षरों के अनुसार नहीं है। इस मनमानी पद्धति से किसी मन्त्र की स्वेच्छा से व्याख्या करने से अव्यवस्था हो जायेगी।" इत्यादि।

समाधानम्—तदयमपि बलात् खण्डनाय निष्फलः प्रयासस्ते। यत एतेषां समेषां मन्त्राणामादिवक्ता तु परमेश्वर एव, तस्माद् यज्ञादित्यादिमन्त्रप्रतिपादितत्वात्। वेदेऽन्यत्रापि वेदवक्तृत्वे उपदेशकत्वे प्रमाणम्—

मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाऽभिचष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत॥
(ऋ० ३।५९।१)

आक्षेपमात्रं कुर्वाणोऽयं न तावदेतस्य वक्तारमन्यं स्वयं प्रस्तौति। यदि नाम यज्ञकर्ता ऋत्विक् कल्प्यते भवता तथापि उपासनाविषये तु परमेश्वरादन्यो न सम्भवति वक्ता। 'वाम्' पदेन यजमानदम्पती मन्येते भवता च परम्परया। इदमेव दौर्भाग्यं यद् वेदानामाध्यात्मिकाधिदैविकपक्षमुपेक्ष्य अदूरदर्शिभिर्वेदभाष्यकर्तृभिः प्रायो विलोपितौ एव। किमपि कारणं नाऽख्यायि यदयं पक्षः कथं न सम्भवति? महामते! आद्युपदेष्टा तु परमात्मा एव, परं तदनन्तरं लोके तत्परम्परा प्रचालनायान्येऽप्युपदेष्टार उपासनायाः समभवन्।

अस्माकमपि पुत्राः समनुशिष्टा आज्ञापालका एव भवन्ति, अननुशासितानां तु कथैव काऽत्र? पुनः अमृतस्य परमात्मनः पुत्रास्त एव ये तदाज्ञानुवर्तिन

समाधान—आपका यह सारा प्रयास निष्फल है; क्योंकि इन सब मन्त्रों का आदि वक्ता तो ईश्वर ही है। इसमें 'तस्माद्यज्ञात्' तथा 'मित्रान् जनान् यातयति ब्रुवाणः' (ऋ० ३।५९।१) इस मन्त्र से भी सभी मन्त्रों का आद्युपदेष्टा परमेश्वर सिद्ध है। पर यहां तो इन मन्त्रों में योग या उपासना-प्रकरण में घटित करने पर 'वाम्' तुम दोनों या 'तौ' वे दोनों, इसमें 'उपदेष्टा योगी' गुरु तथा साधक शिष्य लिये गए हैं। आपके महीधर 'वाम्' पद से यज्ञ-प्रकरण में यजमान और उसकी पत्नी का ग्रहण करते हैं। यह दुर्भाग्य है कि वेदों के आध्यात्मिक, आधिदैविक पक्षों की उपेक्षा करके वे अर्थ अदूरदर्शियों ने प्रायः विलोपित कर दिये, कोई कारण नहीं बताया कि उपेक्षित पक्ष क्यों नहीं सम्भव है? आप वेद को अपने विचारों के शिकंजे में रखना चाहते हैं। इसलिए यह सिद्धान्त कुछ काल से बना लिया कि ये चयनयाग में काम आयेंगे। पर इन मन्त्रों के अक्षरों से योग-सम्बन्धी अर्थ नहीं निकाले जायेंगे तथा यास्कादि निर्वचन या धातुओं के आधार पर यह प्रतिबन्ध कैसे लगाया जा सकता है? कदाचित् शतपथ आदि की रचना से पूर्व आपके महीधरादि और आप उत्पन्न हो गये होते, तो शायद ऐसा भी प्रतिबन्ध लगा देते।

जैसे 'ये मेरे पुत्र हैं' यह कहता हुआ पिता पुत्रों पर गर्व करता है, तो सहज ध्वनित है कि ये पुत्र आज्ञाकारी हैं। ऐसे ही 'अमृतस्य पुत्राः' का उक्तार्थ

https://t.me/DharmaSamrat

इत्यर्थः सर्वथा बुद्धिसङ्गतः। अयं कथं न सम्भवति इत्यत्र कश्चिद्धेतुः कथं नोपस्थापितः? 'अमृतस्य पुत्रास्तत्सेवका वां युवाम् उपासनाकरणे प्रसिद्धिं प्राप्तौ जानन्तु' इति तु कुशाग्रनिशितमत्या सरलतयैव कल्प्यते, अल्पमतिसङ्गमनव्याख्यानं स्पष्टं कृतमत्र यद् उपासनां कुर्वाणौ युवां प्रति अहमीश्वरः समवेतो भवामि।

पृ० १३४३, पं० ३—इह 'स्वेच्छया' इत्यनेनैव 'स्वाभीष्टपरतया' इत्यर्थो लब्धः, पुनरुक्तिस्तु व्यर्थैव। महोदय! स्वामीदयानन्दाधिगतरीतिर्नैरुक्तिकी, यदि सायणमहीधरादिभिरन्वकरिष्यत तदा वैदिकवाङ्मयस्याप्युपकारोऽभविष्यत्। परमेषां भवतोऽपि वाऽतिप्रसक्तिर्वाममार्गानुगामिनी एव जातेति महद्दौर्भाग्यमार्यसंस्कृतेः।

यदुक्तं बालजल्पनं तत् सत्यम्, उपासनायां करुणावरुणालयपरमपितुरङ्कस्थितो बाल इव जल्पनं कुर्वन् प्रेमभक्तिनिर्भरतया जायत एव; अतः पिता पर-

---

सर्वथा बुद्धिसङ्गत है। मन्त्र में 'विश्वे वां शृण्वन्तु' सारे लोग तुम दोनों को सुनें अर्थात् जानें। 'उस प्रख्यात परमात्मा को जानेंगे'। यह बात स्वामीजी ने नहीं लिखी। यह आपकी कल्पित है, निष्पक्ष आलोचक ध्यान दें, इस प्रकार इनका हिन्दीकार भी कितना बड़ा धोखा दे रहा है। यह लिखकर 'उनके प्रति मैं ईश्वर की कृपा से मुक्त हो जाता हूं' और 'वां युजे' की यह संस्कृत-व्याख्या पूर्णतया स्पष्ट और सही है कि 'अनेन प्रकारेण उपासनां कुर्वाणौ वां युवां द्वौ प्रतीश्वरोऽहं (युजे) कृपया समवेतो भवामि'।

पृ० १३४३, पं० ३—आपने 'स्वेच्छया स्वाभीष्टपरतया' यह पुनरुक्ति व्यर्थ ही की है। महोदय! स्वामी दयानन्द ने नैरुक्तरीति ही स्वीकार की है। कदाचित् सायण, महीधरादि उसी का सम्पूर्णतया अनुकरण करते (कहीं-कहीं अनुकृति की है) तो वैदिक वाङ्मय का बड़ा उपकार होता। यह आरोप कि 'मन्त्र की मनमानी पद्धति से कुछ भी अर्थ करने से अव्यवस्था (अतिप्रसक्ति) फैल जायेगी' स्वामीजी पर घटित नहीं, प्रत्युत महीधरादि पर ही घटित है। परिणाम यह हुआ कि यज्ञ में बलिदान की वाममार्गी प्रवृत्ति पनप गयी। यह आर्यसंस्कृति का दुर्भाग्य रहा।

'ऐसी उपासना करोगे, तो मैं तुम्हें आशीर्वाद दूंगा' इसको आप ऋषि का बाल-जल्पन कह रहे हैं, यद्यपि आपका अभिप्राय तो और ही है। पर मैं इस रूप में स्वीकार करता हूं कि उपासना में करुणासागर भगवान् की गोद में बैठा हुआ भक्त आत्मविभोर होकर अपने पिता परमेश्वर की ओर से ठीक ही बाल-

मेश्वरः स्वभक्तं बालवात्सल्येन कथं नैवं कथयेत 'एवं करिष्यसि तदाऽहमाशीर्वादं दास्यामि' इति। यद्यपि नैतद् वाक्यं भाष्यगतम्, हिन्दीभाषाया भावार्थो हि अनेनानूदितः।

पृ० १३४३, अनु० १—'सीरा युञ्जन्ति' इति मन्त्रस्य योऽर्थोऽनेन माहीधराद् उद्धृतः स तु पांसुलपादहालिकैरधिगन्तव्य एव। परमिह महर्षिदयानन्दकृतोऽर्थस्तु अतितरां बुद्धिवैशिष्ट्यवैभवमुद्भावयति। यजुर्वेदभाष्ये तु कृषिपरोऽप्यर्थः, तदप्ययं क्षौमवास इदं शाणं वेत्यविचिन्वन् मूषक इव कुतर्कदन्तैः कृन्तत्येव, स्वभावस्यानपायत्वं, परं महर्षिभाष्यमस्य बुद्धिस्तरागम्यमिह एतदेव कथयित्वा विरराम इति।

'युनक्त सीरा विभु वा तनुध्वम्' इति मन्त्रस्य माहीधरमुद्धरन् भाष्यम्—'अल्पकालेन पक्वमन्नमस्मद्गृहमागच्छत्वित्यर्थः।' इति भौतिकमुदरपूर्तिपरमेवार्थं केवलं विधाय कृतकृत्यमात्मानमयमापादमस्तकगैरिकवस्त्रधारी मेने।

अग्रेऽयं कथयति यत् "कवयः क्रान्तदर्शिनः क्रान्तप्रज्ञा वा धीरा ध्यानवन्तो

कल्पना कर रहा है कि यदि 'ऐसा करोगे तो मैं आशीर्वाद दूंगा'। यद्यपि यह संस्कृतभाष्यगत वाक्य नहीं है, तथापि इस लेखक ने हिन्दी अर्थ से ले लिया है।

पृ० १३४३, अनु० १—'सीरा युञ्जन्ति' इस मन्त्र का महीधरकृत अर्थ जो आपने उद्धृत किया है, वह तो धूलिधूसरित पैरवाले हलवाहों के द्वारा समझने योग्य ही है; क्योंकि उन्होंने कृषिकर्म में हल में बैल जोतने की बात कही है। वैसे कृषिपरक अर्थ ऋषि ने यजुर्भाष्य में किया है, पर श्लेषार्थक शब्दों में महर्षि ने योगपरक अर्थों का दर्शन किया है, जो कि उनके बुद्धि के वैशिष्ट्य और वैभव का द्योतक है तथा वेद का गौरववर्धक है। तब भी यह लेखक ऋषि का भाष्य क्षौमवस्त्र है या शण (सन) निर्मित; इस सब बात का विचार न करता हुआ मूषक के समान कुतर्क के दांतों से कुतर रहा है; क्योंकि स्वभाव तो अविनाश्य होता है। परन्तु महर्षि का भाष्य इनकी बुद्धि-स्तर से अगम्य है, ऐसा ही समझकर हम विराम करते हैं।

'युनक्त सीरा' इस मन्त्र पर महीधरभाष्य उद्धृत करते हुए लिखा—'अल्पकाल में पका अन्न हमारे घर को आवे'। पर ऋषि दयानन्द यजुर्भाष्य में वहां पर यौगिकार्थ का संकेत करते हैं। यहां तो पूर्णतया श्लेषमय मन्त्र का उपासना-परक अर्थ करते हैं। यह आपादमस्तक गैरिकवस्त्रधारी बस उतने ही कृषिपरक अर्थ से ही सन्तुष्ट हो स्वयं को कृतकृत्य मान बैठा है; क्योंकि उनकी अपनी कोई चिन्तनशीलता नहीं है।

आगे यह लेखक कहता है कि स्वामी दयानन्द का अर्थ असङ्गत है।

https://t.me/DharmaSarrat

योगिनः सोरा योगाभ्यासोपासनार्थं नाडीर्युञ्जन्ति, अर्थात् तासु परमात्मानं ज्ञातुमभ्यस्यन्ति। युगानि योगयुक्तानि कर्माणि वितन्वते विस्तारयन्ति। य एवं कुर्वन्ति ते देवेषु विदितेषु सुम्नया सुखेनैव स्थित्वा परमानन्दं युञ्जन्ति प्राप्नुवन्ति' इति दयानन्दोक्तं तत्सर्वथाऽप्रासङ्गिकमसङ्गतं च, युञ्जन्तीति क्रियापदेन योगावगममूलकभ्रान्तिनिबन्धनत्वात्।" इति, तत्सत्यं हालिकपक्षे एव प्रासङ्गिकार्थस्य सङ्गतत्वात्। महर्षेरर्थस्तु योगयुक्तो न तु युग-युक्तः। स योग्यो न तु युग्यः।

अथ अप्रासङ्गिकमित्यस्यार्थोऽभीष्टो यत् प्रसङ्गं नानुबध्नातीति चेन्न सत्यम्, एतन्मन्त्रस्य 'कृषीवलाः कवयो वा देवता' इति प्रतिपादनात् कविदेवतापरकोऽयमर्थोऽत्र सर्वथा प्रासङ्गिकः सुसङ्गतश्च।

न च 'युञ्जन्ति' इति पदेन योगार्थस्य भ्रान्त्याऽग्रहीदिति वाच्यम्। 'युजिर् योगे' योगो हि नाम मेलनम्, संसारे भौतिकपदार्थैः सह अध्यात्मपक्षे खलु परमात्मना सहेति साधीयानेवायं योगपक्षोऽतस्तत्परतयाऽर्थविधानम्। इदं हि नाम मानसिकप्रवृत्तिमप्यन्वाश्रयते पक्षचयनम्।

योगावगमन अर्थ की उन्हें भ्रान्ति हो गई है। महोदय ! आप स्वयं भ्रान्त हैं; क्योंकि आप यह नहीं समझते कि इस मन्त्र के देवता भी कृषीवल तथा कवि दोनों हैं। प्रथम देवतावाला वाच्य है, तो कवि देवतावाला अर्थ भी तो होना चाहिये, जबकि कवि के अर्थ हैं—ईश्वर, तत्त्वदर्शी, मेधावी (निघं० ३।१५) 'एते वै कवयो यद् ऋषयः' (शत० १।४।२।८) 'शुश्रुवांस. कवयः' (तै० ३।२।२।३) आदि अर्थ होते हैं। इसीलिए 'धीराः' (ध्यै चिन्तायाम्) ध्यान करनेवाला योगी इत्यादि ऋषिकृत अर्थ उत्तम व सङ्गत है। वृषभबुद्धि आपने युग का अर्थ बैलों का जुआ ही समझा। पर 'युग' का ऋषि ने 'योगयुक्तानि' अर्थ किया। आपको भ्रान्ति है या इतना भर अज्ञान है। 'युजिर् योगे'(रुधादि) धातु से ही यह युग बन सकता है, जो आप 'युनक्ता' रूप को देखकर कर रहे हैं। पर महोदय ! पिछले मन्त्र में 'युजे' 'युनज्मि' अर्थ में भी है तथा 'युज समाधौ' (दिवादि) धातु से भी विकरण लुक् होने पर भी बन जायेगा। ऋषि ने इसका संकेत 'युञ्जते मन उत' इस मन्त्र के ऋग्भाष्य में 'युञ्जते' का 'समादधति' अर्थ देते हुए किया है। इसलिये आपका आरोप व कथन निःसार है।

'युञ्जन्ति या युनक्त' इन पदों से योगार्थ की भ्रान्ति स्वामीजी को तो नहीं हुई, आप ही सर्वथा भ्रम में हैं। देखिये ! इस 'रुधादि' धातु से भी भौतिक पक्ष में संसार के पदार्थों से मेल होगा और आध्यात्मिक पक्ष में परमात्मा के साथ मेल होगा। अतः योगपक्ष सर्वथा साधीयान् है। किसी भी मन्त्र में पक्ष का चयन करना मनःस्थिति पर अधिक निर्भर करता है।

यथा कविवरबिहारीलालस्य पद्यम्, यद्येतस्य श्लेषात्मको द्वितीयोऽद्वितीयोऽर्थो न गृह्येत, ध्वन्यर्थश्च नाभिनन्द्येत, तदा सारांशो व्यर्थ एव जायेत।

यथा—अजौं तरयो ना ही रह्यो, श्रुति सेवत इक अङ्ग।
नाक बास बेसरि लह्यो, गहि मुक्तनु को सङ्ग॥

नाभिधायामिह सौन्दर्यं यन्मांसलप्रज्ञैरनुसन्धीयते। रहस्यमेतस्य सहृदयकविवेद्यं यद् यो हि एकमात्रकर्मकाण्डपरमेव (भौतिकयज्ञपरम्) अर्थं सेवते तज्जीवनं तु निष्फलम्, किन्तु मुक्ताबिद्धनासाभूषण-(बेसर) सदृशो निष्कामकर्मयोगी स मुक्तात्मभिः सह नाक(स्वर्ग)स्थानमाप्नोति। इह ज्ञानकाण्डे निष्कामकर्मयोगः प्रशस्यते। कीदृग्रहस्यपूर्णमिदं पद्यम्? किन्त्विदं सहृदयसंवेद्यम्। ये हि संरिकाः सीरैर्बाह्यक्षेत्रं भूमेः विलिखन्ति न तु हृदयक्षेत्रं परिष्कृत्य इडापिङ्गलासुषुम्णादित्यचन्द्रमादिनाडीषु समभ्यस्य परमात्मानं जिज्ञासन्ते तेषु तु एषैव सूक्तिर्घटते—

इतरभोज्यफलानि यथेच्छया, वितर तानि सहे चतुरानन।
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनम्, शिरसि मा लिख, मा लिख, मा लिख॥

जैसे हिन्दी के कविवर बिहारीलाल का पद्य है। यदि इस निम्न दोहे का श्लेषप्राप्त द्वितीय या अद्वितीय (अनुपम) अर्थ ग्रहण न किया जावे या ध्वन्यर्थ न माना जावे, तो सारांश ही व्यर्थ हो जायेगा। वह पद्य निम्न है—

अजौं तरयो ना ही रह्यो, श्रुति सेवत इक अङ्ग।
नाक बास बेसरि लह्यो, गहि मुक्तनु को सङ्ग॥

यहां अभिधा में सौन्दर्य नहीं है; जो कि मांसल प्रज्ञों के द्वारा ढूंढा जाता है। इसका रहस्य तो सहृदय कवि द्वारा ही वेद्य है कि जो एकमात्र कर्मकाण्डपरक (भौतिकयज्ञपरक) अर्थ का सेवन करता है, उसका जीवन तो व्यर्थ है। किन्तु मोतियों से युक्त (मुक्तपुरुषों से युक्त) बुलाक आभूषण के समान जो निष्काम कर्मयोगी है, वह पुरुष मुक्तात्माओं के साथ नाक (न+अक=स्वर्ग) स्थान को प्राप्त करता है। यहां पर ज्ञानकाण्ड में निष्काम कर्मयोग की प्रशंसा की गयी है। कैसा रहस्यपूर्ण उक्त पद्य है, किन्तु यह है सहृदय संवेद्य। जो हलवाहे हलों के साथ भूमि के बाह्यक्षेत्र को जोतते हैं, हृदयक्षेत्र का परिष्करण नहीं करते तथा इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, आदित्य, चन्द्रादि नाड़ियों में ध्यान-अभ्यास करके परमात्मा की जिज्ञासा नहीं करते, उन पर यही सूक्ति घटित होती है—

हे सृष्टिकर्ता ब्रह्म ! तुम अन्य भोज्य फलों को स्वेच्छा से जिन्हें देना

https://t.me/Dharmadasamrat

एवमेव सूत्रग्रन्थबन्धनमाप्तो वेदोऽतपोऽनृषिमीरसपण्डितेषु नैव रहस्यं प्रकटीकरिष्यति। किं कुर्यामनल्पजल्पनम्, अशेषशेमुषीजुषा ऋषिणा योऽर्थोऽङ्गीकृतः स त्वनुपम एव। नाधिकं ग्रन्थविस्तरभिया प्रपञ्च्यते।

पृ० १३४४, पं० १०—यदाह "सीरापदं हलेषु प्रसिद्धं तदपहायाप्रसिद्धनाड्यर्थकत्वे बीजाभावाच्च" इति, तदपि अविमर्शनफलम्। 'ऐकान्तिकप्रसिद्धार्थग्रहणाग्रहे अन्यस्याग्रहणे मानाभावात्। यथा हि कृषिपक्षे हलार्थे प्रसिद्धस्तथा क्रान्तदर्शि-योगपक्षे नाड्यर्थे प्रथितः।

यथा हि—'कुमारीपादघातेन म्रियते तत्क्षणात् फणी।' अर्थात्—प्रसिद्धः शब्दार्थस्त्वेष एव यत् कन्या यदि पादघातं कुर्यात् तदा फणी सर्पो मरिष्यति। परमयं तु अनर्थ एव सर्वथा। महोदय! प्रकरणश एव शब्दप्रसिद्धार्थो ग्राह्यः। यत् कृषीवलपक्षस्तत्र हलम्, अन्यत्र योगे सीरा नाड्य इति। यथा उपरि पद्ये

चाहते हो, बांट दो, यह बात मैं सहन कर लूंगा, परन्तु अरसिकों में जो कवि या क्रान्तदर्शी नहीं है, उनमें कवित्वाधान नहीं करना, कदापि मत करना।

इस प्रकार आप सदृशों के द्वारा सूत्रग्रन्थों की बेड़ियों में जकड़ा गया वेद अतपस्वी, अनृषि और अरसिक पण्डितों पर अपने रहस्य को प्रकट नहीं करेगा; प्रत्युत ईश्वर-ज्ञान स्वतन्त्र वेदतपस्वी ऋषि और सहृदय रसिक पण्डितों को ही अपने रहस्य को खोल देता है—'तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः'। और अधिक क्या कहें? अनल्पमतिमान् महर्षि ने जो अर्थ यहां प्रकट किया है, वह सर्वथा अनूठा है। इसकी महिमा ग्रन्थविस्तार-भय से नहीं लिखी जा रही।

पृ० १३४४, पं० १०—"सीरा' पद तो 'हल' अर्थ में प्रसिद्ध है इसे छोड़कर अप्रसिद्ध नाड़ी अर्थ में कोई प्रमाण नहीं है।" यह कथन भी अविचारपूर्ण है। एक स्थान पर प्रसिद्ध अर्थ के ग्रहण का आग्रह और अन्यार्थ को ग्रहण न करने में भी कोई प्रमाण नहीं है। जैसे सीरा पर कृषीवल पक्ष में 'हल' अर्थ में प्रसिद्ध है, उसी प्रकार क्रान्तदर्शी कवि पक्ष में नाड़ी के अर्थ में भी प्रसिद्ध है। 'सिनोति सीयते वा सीरा' जो बांधे अथवा बांधा जावे। नाड़ियां भी शरीर को बांधती हैं। 'सीरा नदीनाम' (निघं० १।१३), 'सीर आदित्यः सरणात्' (निरु० ९।४)। आपकी दृष्टि से नदी और आदित्य भी सीर के अर्थ अप्रसिद्ध हैं, तो नहीं मानने चाहिये?

जैसे 'कुमारी के पाद-घात से तत्क्षण ही फणी मर जाता है', तो आपके अनुसार अर्थ होगा—कुमारी कन्या के पैर की ठोकर से सांप तत्काल मर जाता है; पर ऐसा अर्थ करना मूर्खता है। श्रीमन्! शब्द का प्रसिद्धार्थ प्रकरणशः ही लेना चाहिये। ऊपर कुमारी से 'ग्वारपाठा' तथा फणी से 'सीसा' ग्रहण करना

"कुमारी सहा तरणिः" इति प्रमाणेन 'घी कुमारी' एव ग्राह्या, 'फणी' इत्यनेन 'सीसा' इति लोकाख्यातवस्तु ग्राह्यं न तु सर्पः। भवादृशोऽभिषग् वैयाकरणस्तु 'कण्टकारी' क्वाथस्य सेवनस्य समादेशे पदत्रिका(चप्पल)क्वाथं ग्रहीष्यति, प्रसिद्धार्थत्वात्। अथवा 'व्याघ्री कुली' क्वाथेन लौकिकभारवाहकस्य क्वाथग्रहणे प्रवृत्तो जायेत, तदा मौग्ध्यमेव विदग्धमंस्यते। भिषङ्मतेन तु 'भटकटैया' इति ख्यातौषधिक्वाथ एव ग्राह्यः। यथा—

'नदीज लङ्केशवनारिकेतुः, नगाह्वयो नाम नगारिसूनुः।
एषोऽङ्गनावेशधरः किरीटी जित्वाव यं नेष्यति चाद्य गा वः॥'
(बालभारते १९०।६४)

अत्र नदीजशब्देन भीष्मः, लङ्केशवनारिशब्देन हनुमान, नगपदेनार्जुनः, नगारिपदेन इन्द्रः, इत्यर्थानां ग्रहणेऽर्थसंगतिर्न तु प्रासङ्गार्थानां ग्रहणे।

एवं बुद्धिरपरित्याज्या प्रसङ्गविमर्शने।

श्रौतग्रन्थास्तु तात्कालिकप्रचलितयज्ञसङ्केतदातार एव न तु तदनुयायित्वं वेदानां मन्तव्यं मर्मविद्भिः। देवेषु विद्वत्सु योगिषु सुम्नया सुखेन स्थिताः किं कुर्वन्ति ते कवय इत्याकाङ्क्षायाम्, युञ्जन्ति इति पुनर्योगे परमानन्दं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः प्रतिष्ठितप्रतिभायां लभ्यः। अतः परमानन्दाध्याहारो न दूषणमपि तु

उचित है। अभिषक् (वैद्यकशास्त्र न जाननेवाला) आपसदृश वैयाकरण तो कण्टकारी कांटों का शत्रु अर्थात् जूते का क्वाथ करके ही पीयेगा; क्योंकि वह तो बुद्धि से विना विचार किये प्रसिद्ध अर्थ लेगा, जब कि भटकटैया औषध का काढा लेना चाहिये। अथवा व्याघ्री कुली शब्द से बाघिन या बोझा ढोनेवाले कुली का क्वाथ सोचने लगेगा; परन्तु वैद्यकशास्त्र में नाम 'कटैया' के हैं।

जैसे उपर्युक्त श्लोक में नदीज शब्द से भीष्म, लङ्केशवनारि से हनुमान्, नग से अर्जुन, तथा नगारि से इन्द्र अर्थ का ग्रहण होगा, अन्य प्रसिद्धार्थों का नहीं। इस प्रकार प्रसङ्ग-विमर्शन में बुद्धि का साथ नहीं छोड़ना चाहिये। अतः वेदार्थ में प्रसिद्धार्थ का ग्रहण केवल संकीर्णबुद्धि का प्रयोग ही है।

श्रौतग्रन्थ तो तात्कालिक प्रचलित यज्ञसंकेत करनेवाले हैं। इससे वेद उनके अनुगामी तो नहीं हो सकते, यह मर्मज्ञ जानते हैं। देव अर्थात् योगी, सुम्नया अर्थात् सुख से 'युञ्जन्ति' युक्त होते हैं अर्थात् परमानन्द को प्राप्त करते हैं। यहां पर परमानन्द का यदि अध्याहार भी मान लिया जावे, तो अर्थ में क्या दोष होगा? आप थोड़ा भी चिन्तन करेंगे, तो प्रतिष्ठित प्रतिभा प्राप्त होने पर

https://t.me/DharmaSamrat

भूषणम् ।

यच्चाह १३४३ पृष्ठे १०मपङ्क्तौ 'कवयः कृषिकर्माभिज्ञाः' तत्तु महीधरस्यानुन्मेषणशीलशेमुषीत्वान् नासावर्थः प्रतिभाप्रमोदभावितनवनवोन्मेषाणां पूर्णस्रोताय । १३पङ्क्तौ दयानन्दमहर्षेरर्थस्तु वैशारद्यवैशद्यं द्योतयति । यथा—कविः कौति उपदिशतीति कविः 'अच इः' (उ० ४।१३९) । 'कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा' (निरु० १२, १३) इति भाष्ये 'क्रामतेः कवतेर्वा गतिकर्मण इति रूपम्' इति स्कन्दस्वामी । क्रामतेः कवतेश्च 'सार्वधातुभ्य इन्' (उ० ४।११४) इति इन्प्रत्ययः । क्रामतेर्मकारस्य वत्वं रेफलोपश्च बाहुलकात् । क्रान्तमस्यास्तीति मत्वर्थीयस्य लुक् । कविः क्रान्तदर्शनः 'अतीतानागतविप्रकृष्टविषयं युगपज्ज्ञानं यस्य स क्रान्तदर्शनः' इत्युव्वटः । एतेऽर्थाः समे न कृषीवले घटन्ते, महर्षेरर्थे घटन्ते ।

पृ० १३४५, पं० ४—यदयम्—"वस्तुतस्त्वयमर्थो महीधरमनुसृत्य पदानामर्थान्तरमुपवर्ण्य कृतः, अतो यत्किञ्चिज्जल्पनमेव ।" इत्याह तदलीकं महीधरमतिस्तरादयमुद्भावितोऽर्थ ऊर्ध्व एव ।

इस अर्थ के भी समझने के योग्य बन सकेंगे ।

पृ० १३४३ की पं० १० में यह कथन भी विशेष प्रतिभा का सूचक नहीं कि कृषिकर्म-निपुण लोग बैलों को हल में जोतते हैं । इन्हीं शब्दों का आध्यात्मिक गूढार्थ ऋषिकृत देखिये—

योगीजन उपासनाप्रक्रिया से अपनी नाड़ियों को योग में लगावें तथा जैसे हल से क्षेत्र परिष्कृत हो जाता है, वैसे ही योग के अङ्गों के द्वारा अन्तःकरणरूपी क्षेत्र परिष्कृत हो जाता है । तब इस बुद्धिरूप भूमि में सिद्धिमूल रूप बीज को योगी लोग बोवें और उत्तम शिक्षा की सम्पन्नता और सुविचार से पुष्ट होवें, जिससे क्षेत्र से जैसे पके हुए यवादि मिलते हैं, उसी प्रकार हम मोक्षरूपी परिपक्व फल को प्राप्त करें ।

महर्षि के इस अर्थ में कितना पाण्डित्य है, यहां कवि-शब्द की व्याकरण से सिद्धि की गयी है कि कवि क्रान्तदर्शी अर्थात् अतीत और भविष्यत् व दूरगत विषयों का एकसाथ ज्ञान रखनेवाला है । कवि के निर्वचनार्थ कृषीवल से सर्वथा भिन्न हैं ।

पृ० १३४५, पं० ४—आक्षेप—'युनक्त·····' इस मन्त्र का अर्थ वास्तव में महीधर के अर्थ का अनुसरण करके पदों को तोड़मरोड़कर कुछ बदल दिया है । इसलिये यह ऊलजलूल बकवास है ।

मतिमन् ! वेदस्तु प्रतिभावतामेव विषयः । 'आनन्दं युनक्त' इति योगाभ्यासस्य विधानमपि । यूयमानन्दयुक्ता भवत इति योगाभ्यासस्य उपासनस्यैव विधानम् । यच्चाह "मोक्षसुखस्य विस्तारोऽपि न सम्भवति, तथात्वे परिणामित्वेन तस्यानित्यत्वापातात्" इति, अत्र 'यूयं योगिनः मोक्षसुखं तनुध्वम्' इत्यस्यायमेवाशयो यन्न केवलं यूयं मोक्षसुखानुभवितारः स्यात्, अपि तु तदर्थम् अन्यानपि प्रेरयत, येन मोक्षसुखं तेऽप्यनुभवन्तु । एवं अन्यानुभवोपलब्धिसाधनोपदेश एव मोक्षसुखस्य विस्तारः ।

वस्तुतो वक्तुरभिप्रायादन्यार्थे कर्षणप्रयास एव भवतश्छलमेव । पुनरपि 'युगाः सीराः' इति कर्मसापेक्षत्वे क्रियापदस्य पुनरन्वयो भविष्यत्येव । नाडीः कुत्र योजयेत ? इत्याकांक्षायाम् 'उपासनाकर्मणि' इत्याकांक्षैव मूलम् ।

पृ० १३४५, पं० ९—यदुच्यते—"यस्य क्षेत्रस्य संस्कारो भवति तत्रैव बीजमुप्यते । त्वया त्वन्तःकरणे शुद्धे कृते योगो कारणे आत्मनि बीजवपनमुच्यते, उपासनाविधानेन योगोपासनाया बीजं विज्ञानाख्यबीजवपनमुच्यते । यः खलु

समाधान—यह कहना मिथ्या है । क्योंकि ऋषि द्वारा किया गया अर्थ महीधर के मस्तिष्क के धरातल से ऊपर है । श्रीमन् ! वेद तो प्रतिभाशालियों का विषय है । यहां आनन्द-विधान नहीं किया गया है; प्रत्युत (उपासना द्वारा) आनन्द पाते हैं, यह कहा है । आप कहते हैं कि "मोक्षसुख का विस्तार भी सम्भव नहीं, वैसा होने पर यह अनित्य हो जायेगा ।" पर आप तो चिन्तनशक्ति के पीछे लट्ठ लेकर पड़े हैं । जरा सोचो, ऋषि के गूढार्थ को । इसका आशय है कि तुम्हीं लोग मोक्षसुख का अनुभव न करो, अपितु दूसरों को भी प्रेरणा दो कि वे भी योग द्वारा अनुभव करें । औरों के द्वारा अनुभव और उपलब्धि के साधनों का उपदेश ही मोक्षसुख का विस्तार है ।

वास्तव में वक्ता के अभिप्राय से अन्यार्थ में आकर्षण करना ही तो छल है । पुनश्च 'युगाः' और 'सीराः' ये इन कर्मों से सापेक्ष होने पर क्रियापद 'युञ्जन्ति' का अन्वय पुनः हो जायेगा । नाड़ियों को कहां लगावे ? ऐसी आकांक्षा होने पर 'उपासना कर्म में' लगावे, यही उत्तर है ।

पृ० १३४५, पं० ९—यह जो कहा जा रहा है कि—"जिस क्षेत्र का संस्कार किया जाता है, जिसको जोता जाता है, वहीं बीज भी बोया जाता है । आप संस्कार तो करते हैं अन्तःकरण का और बीजवपन करते हैं अन्तःकरण के कारणभूत आत्मा में । उपासना के विधान के द्वारा योगोपासना का विज्ञान नामक बीज उस आत्मा में बोया जाता है । आत्मा तो परमानन्दस्वरूप है । सबके

https://t.me/DharmaSamrat

परमानन्दरूपः कारणात्माऽस्ति, तत्र विज्ञानबीजवपनस्य किं प्रयोजनमिति न ज्ञायते। किञ्च, यो बीजं वपति योगफलं तन्निकटे युज्यते। अत्र तु सम्बोधनार्हा योगिनः कर्मबीजं वपन्ति, फलं तु सम्बोधकानां निकटमायातीति चित्रम्।" इति, तदपि प्रारम्भिकज्ञानविहीनार्भकस्येव ते प्रश्नततय उत्तरणाय बहु अपेक्षन्ते, त थापि प्रस्तूयते किञ्चित् —

इदमेव हि पाण्डित्यम्, इयमेव विशेषता।
वेदार्थं च बुभुत्सोस्ते, व्याकरणं न बुध्यते॥

महोदय! फलेऽपि तृतीयाविधानेन अन्तःकरणे शुद्धे कृते परमानन्दयोनौ आत्मनि (परमेश्वरे) उपासनाविधानप्रयोजनेन योगोपासनायाः (अन्तःकरणे) बीजं वपत इति। अत्र नास्ति काचिदर्थावबोधे विप्रतिपत्तिः। तदा शुद्धे चित्त एव विज्ञानरूपबीजवपनं सङ्गतमेव। नोपदेष्टुरपराधो यन्मान्द्यात् नोपदेश्यः क्षमतेऽवगन्तुम्। सत्यं 'नर्तनावर्तनेऽशवतो वक्रित प्राङ्गणवक्रताम्।'

ननु उपासनाकर्मणि चित्तस्य स्थिरीकरणमेवाऽभीष्टम्, न तु प्राणादित्ययुक्तनाडीनां योजनं शास्त्रीयमिति चेन्न, प्राणादिवाहकशरीरस्थनाडीनामपि योजनस्य योगसिद्धिसहायकत्वात्। 'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्' (योग० ३।२९)

कारणभूत परमानन्दात्मक इस आत्मा में ज्ञानबीज को बोने का प्रयोजन क्या है? यह मालूम नहीं होता। अपि च, जो बीज बोता है, उसके योग का फल उसी के पास रहना चाहिये। आपके मत से सम्बोधनीय योगी कर्मरूपी बीज को बोते हैं और उनका फल सम्बोधक के पास आ जाता है।"

यह बड़ी विचित्र बात है कि ये अब प्रारम्भिक ज्ञान से भी विहीन बच्चे के समान प्रश्न हैं, जो उत्तर देने की बहुत अपेक्षा रखते हैं, तदपि हम यहां अधिक विस्तार न कर सकेंगे।

आपका सारा पाण्डित्य और सारी विशेषता यही है कि आप वेदार्थ को तो जानना चाहते हैं, परन्तु वेद के मुखभूत व्याकरण का ज्ञान नहीं रखते।

महोदय! तृतीया का विधान फलार्थ में भी होने से अन्तःकरण के शुद्ध होने पर परम आनन्द के स्थान (योनि) आत्मा में (परमेश्वर) उपासनाविधान का प्रयोजन होने से योगोपासना का बीज अन्तःकरण में बोया जाता है।

शङ्का—उपासनाकर्म में चित्त का स्थिरीकरण अभीष्ट होता है, न कि प्राणादियुक्त नाडियों का लगाना शास्त्रीय है।

समाधान—इसे इस प्रकार समझिये—प्राणादिवाहक शरीरगत नाडियों का भी लगाना, योग की सिद्धियों में सहायक है। जैसा कि ३।२९ योगसूत्र पर

इति सूत्रस्य भोजवृत्तौ 'शरीरमध्यवर्तिनाभिसंज्ञकं यत् षोडशाकारं चक्रं तस्मिन् कृतसंयमस्य योगिनः कायगतो योऽसौ व्यूहो विशिष्टरसमलधातुनाड्यादीनामवस्थानं तत्र ज्ञानमुत्पद्यते। इदमुक्तं भवति नाभिचक्रं शरीरमध्यवर्ति सर्वतः प्रसृतानां नाड्यादीनां मूलभूतम्, इति कथनान्नाडीनां ज्ञानम्। तथा कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्' इति व्यासभाष्यम्।

नाडीनां प्राणादिमत्त्वे च प्रमाणम्—'बन्धकारणशैथिल्यात्' (योग० ३।३७) इति सूत्रे भोजवृत्तौ—'चित्तस्य योऽसौ प्रसारो हृदयप्रदेशादिन्द्रियद्वारेण विषयाभिमुख्येन प्रसरस्तस्य संवेदनं ज्ञानमियं चित्तवहा नाडी, अनया चित्तं वहति, इयं च रसप्राणादिवहाभ्यो नाडीभ्यो विलक्षणा' इत्युक्तम्। योगे न बाह्यसूर्यादेर्ग्रहणम्, किन्तु शरीरस्थस्य, बाह्यसूर्यादौ संयमनेन विभूतिपादोक्तसिद्धयनवाप्तेः।

शरीरस्था च इडा नाडी दक्षिणभागस्था आदित्याभिधा, वामप्राणस्था पिङ्गला चन्द्राभिधा, मध्यस्था च सुषुम्णा ध्रुवसंज्ञिका। अतोऽखिलं सङ्गच्छते प्रकरणमृषेः।

भोजवृत्ति में लिखा है—'शरीर के मध्यवर्ती जो नाभिसंज्ञक षोडशाकार चक्र है उसमें संयमवाले योगी का जो कायगत व्यूह है, वह विशेष रस, मल, धातु और नाडी आदि का अवस्थान है। वहां ज्ञान उत्पन्न होता है। यह भी कहा गया कि नाभिचक्र शरीरमध्यवर्ती सब ओर फैले नाडी आदि का मूलभूत है। इस कथन से नाडी-ज्ञान आवश्यक है तथा कूर्मनाडी में स्थिरता होती है। यह कूप से नीचे उर में कछुए के आकार की नाडी है। उस नाडी में संयम ही स्थिरता को प्राप्त होता है। (व्यासभाष्य)

नाडियों में प्राणादि की स्थिति होने में प्रमाण है—'बन्धकारणशैथिल्यात्' (यो० ३।३७)। इस सूत्र पर भोजवृत्ति में लिखा है कि चित्त का जो मन के बाहर-भीतर जाने-आने का मार्गरूप नाडियों का नामप्रसार है, वह हृदयप्रदेश से इन्द्रिय-द्वार से विषयों के अभिमुख होकर चलता है। उसके अपरोक्ष ज्ञान को यह चित्तवहा नाडी चित्त को बहाती है, यह नाडी रसवहा आदि नाडियों से विलक्षण है। योग में सूर्य से बाहरी सूर्यादि का ग्रहण न होकर शरीरस्थ का ग्रहण होता है। बाह्य सूर्यादि में संयम करने से सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

शरीरस्थ इडा नाडी दक्षिणभागस्थ है, जिसे आदित्य कहते हैं। वामभागस्थ पिङ्गला को चन्द्रनाडी और मध्यस्थ सुषुम्णा का नाम ध्रुव है। इस रूप में महर्षि का योगसम्बन्धी समस्त व्याख्यान जिसमें नाडियों का सर्वथा युक्त करना कहा है, सङ्गत है।

https://t.me/DhamaSamrat

यदाक्षिप्यते—"त्वयाऽन्तःकरणे शुद्धे कृते योनौ कारण आत्मनि बीजवपनमुच्यते" तन्निर्मूलम्, तत्तात्पर्यानभिज्ञानात्। प्रथमं त्वत्र पाठे उद्धृते चौर्यं कृतम्, 'योनौ' इत्यस्मात्पूर्वं 'परमानन्द' लोपात्, भाषाधारेण च उचितान्वयसम्भवात्। परमात्मा तथा कर्त्तुमन्वमन्यत। अतः शिष्टं प्रलपनमेव ते।

यच्चाह - "पक्वमित्यस्य शुद्धानन्दसिद्धम्। शुद्धानन्दस्तु साध्यः प्राप्यो वा? तस्य साधनत्वं कथम्? तेन साध्यं फलं च किम्? तस्मान्निरर्थकं धूलिप्रक्षेपप्रायमेव तद् व्याख्यानम्। हिन्दीभाष्यन्तु संस्कृतव्याख्यावादपि भ्रष्टतरम्।"

तदपि ते बुद्धेरप्रयोगादेवासम्बुद्धम्। न ह्यत्रानन्दः साधनम्, शुद्ध आनन्दो भस्मिस्तत् सिद्धं चोपासनायोगफलं भवतीति भावः। भावार्थ एव हिन्दीज्ञानां कृते बोधनसुकरत्वान्निर्दिष्टः। एतस्य भाष्यनामकीर्तनं तु प्रत्यक्षं धूलिक्षेप आक्षेपमिषेण क्रियते भवतैव। तद् भ्रष्टतरप्रतिपादनं भ्रष्टतममतेरेव साक्ष्यकृत्।

विद्वान् लोग विचार करें। करपात्रीजी यहां लिखते हैं कि 'संस्कार तो किया अन्तःकरण का और बीज बोया कारणभूत आत्मा में' इनका यह कथन सरासर गलत है; क्योंकि ये पृ० १३४४ हिन्दी की पंक्ति १८में ऋषि का भाषार्थ उद्धृत कर रहे हैं कि 'अपने अन्तःकरण को शुद्ध और परमानन्दस्वरूप में स्थिर करके उसमें (चित्त में) उपासना-विधान से विज्ञानरूप बीज को अच्छी प्रकार से बोओ।' यहां बिल्कुल स्पष्ट है कि चित्त के दो काम करे। एक शुद्ध, दूसरे उसे स्थिर, फिर उनमें बीज बोये। आपने संस्कृतपाठ-उद्धरण में छलपूर्वक चौर्य किया है, जो कि 'योनौ' शब्द से पूर्व 'परमानन्द' का लोप कर लिया है। दूसरे आपको भाषार्थ का आधार लेकर भी संस्कृत शब्दावली का इस रूप में अन्वय कर लेना चाहिये था 'अन्तःकरणे शुद्धे परमानन्दयोनौ कारण आत्मनि कृते अर्थात् स्थिरे कृते' अर्थात्—'अन्तःकरण के शुद्ध व परमानन्द कारण आत्मा में कर लेने यानि स्थिर कर लेने पर।' पर ऐसा क्यों कर लेते? आपकी असूयावृत्ति इसमें बाधक है। इस प्रकार शेष कथन बकवास है।

आप जाने किस तरङ्ग में लिखे हैं कि यहां यह शुद्ध आनन्द तो उपासनायोग का साध्य ही है। इसे आपका साधन मानना नितान्त बालिशत्व है। न स्वामीजी ने इसे साधन माना है। यह शुद्ध आनन्दमय सिद्ध है। आप उल्टा ऊटपटाङ्ग लिखकर पाठकों को भ्रान्त करना चाहते हैं। आनन्द को साधन बताकर स्वयं धूलिप्रक्षेप करना चाहते हैं। आपके विषय में हमने ऊपर कई स्थानों पर निर्देश किया है कि आप अनेक स्थानों पर ऋषि के भाषार्थ को भ्रष्ट करके प्रस्तुत करते हैं। यह धृष्टता और भ्रष्टता आपकी मति की है, जिसे अन्यत्र आरोपित करना चाहते हैं।

भिल्लः स्वाम्लान्यपि बदराणि मधुराण्येव प्रख्यापयतीति। भवान् माहीधरं प्रशंसन् दयानन्दं नाभिनन्दतीति पक्षपातप्रलेपः।

पृ० १३४६—यदाह—"अष्टाविंशानि शग्मानि कल्याणानि कल्याणकारकाणि सन्तु। अर्थाद् दशेन्द्रियाणि दश प्राणा मनो बुद्धिश्चित्ताहङ्कारविद्यास्वभावशरीरबलं चेति। शग्मानि सुखकारकाणि भूत्वा दिवसे च रात्रौ चोपासनव्यवहारं योगं मे मम भजन्तु सेवन्ताम्। तथा भवत्कृपयाऽहं योगं प्रपद्ये क्षेमं च प्रपद्ये। यतोऽस्माकं सहायकारी भवान् भवेदेतदर्थं सततं नमोऽस्तु' (पृ० १८०-१८१)

अत्र प्रकृतपरित्यागाद्प्रकृतप्रक्रिये स्पष्टं दृश्येते। 'चित्राणि साकं दिवि रोचनानि' (अथर्व० १९।७।१) 'यानि नक्षत्राणि' (अथर्व० १९।८।१) इति पूर्वसूक्तेऽस्मिंश्च सूक्ते प्रथममन्त्रे स्पष्टतया नक्षत्राणि प्रकृतानि। तान्यपहाय प्राणेन्द्रियादिभिरष्टाविंशतिसंख्यापूरणमप्रकृतप्रक्रियैव। हे परमेश्वरेति सम्बोधनमपि निराधारम्। मन्त्रस्यायमेवार्थ इति कथं प्रत्ययः? चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैरात्माम्लरात्मपरमात्मज्ञानात्मभिरप्येतत् संख्यापूर्तिसम्भवात्। एवमनेकधा तत्पूर्तिः सम्भवति उपासनाव्यवहारं ज्ञानयोगमष्टाङ्गयोगं भजन्त्विवत्यत्रापि विनिगमनाभाव एव।" इत्यपि सर्वं गूढतत्त्वचिन्तनाक्षमत्वमेवास्य द्योतयति।

ननु पूर्वसूक्तेन एतत्सूक्तमन्त्रेणापि स्पष्टतयाकाशस्थप्रसिद्धनक्षत्राणां ग्रहणमेव, न तु स्वेच्छयाऽप्रकृतप्रक्रियाग्रहणं न्याय्यं वाच्यमिति चेन्न, योगपक्षे तेषां

भील अपने खट्टे बेर मधुर ही बताता है; अत एव आप भ्रष्ट महीधरभाष्य की प्रशंसा करते हुए ऋषि दयानन्द की निन्दा करते हैं, यह पक्षपातप्रलेप है।

पृ० १३४६—'अष्टाविंशानि शग्मानि०' ऋषि ने इसका अर्थ २८ संख्या में १० प्राण, १० इन्द्रिय, अन्तःकरणचतुष्टय तथा विद्या, स्वभाव, शरीर और बल माने हैं। पारिजात-लेखक का कहना है कि स्वामीजी ने प्रकृत विषय(नक्षत्र) वर्णन छोड़ दिया और अप्रकृत (उपासनायोग) ग्रहण कर लिया। जबकि इससे पूर्व मन्त्र में नक्षत्रों का वर्णन है। इस पर हमारा कहना है कि भूमोविद्य, वेद के उत्तम काव्य से जितने भी उत्तमार्थों का ऊहनया दोहन कर सकता है, करे। ऐसा निरुक्तादि का मत है।

पूर्वपक्ष—पूर्वसूक्त तथा इस सूक्त के मन्त्र से भी स्पष्टतया आकाशस्थ नक्षत्रों का ही ग्रहण करना न्याय्य है।

उत्तरपक्ष—यह बात ठीक नहीं; क्योंकि योगपक्ष में बाह्य नक्षत्रों का

https://t.me/DharmaSamrat

बाह्यस्थानां नक्षत्राणामनुपयोगात्। न च नक्षत्रदेवात्मके मन्त्रे स्वामिकृतोऽर्थो न सम्भवतीति वाच्यम्, अध्यात्मपक्षे गत्यर्थकनक्षधातोर्नक्षन्ति गच्छन्ति भोक्त्रा जीवेन सह इति कृत्वा शरीरस्थानां नाभीन्द्रियप्राणादीनां ग्रहणस्यैव औचित्यम्। 'चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्' (योग० ३।२७) इत्यत्रान्तरिकचन्द्रतारादीनां महर्षि-व्याससम्मतानां ग्राह्यत्वाच्च।

तथाहि योगं भजमानस्य जीवात्मन इन्द्रियाणि प्राणमनोबुद्धिश्चित्तमहङ्कारविद्यास्वभावः शरीरमपि बलं च सहैव भवेयुस्तदेव योगप्राप्तिः प्राप्तयोगस्य च रक्षणं भवति। यदुच्यते—'चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैरित्यादिभिरष्टाविंशसंख्यापूर्तिः

उपयोग घटित नहीं होता। यह भी नहीं कह सकते कि नक्षत्रदेवतात्मक मन्त्र में स्वामीजी का किया हुआ अर्थ सङ्गत नहीं होता; क्योंकि आध्यात्मिक पक्ष में गत्यर्थक णक्ष धातु से भोक्ता जीव के साथ गति या व्याप्ति करनेवाले शरीरस्थ नाभि, इन्द्रिय, प्राण आदि का ग्रहण करना उचित है तथा 'चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्' (योग० ३।२७) के अनुसार अन्दर-स्थित चन्द्र-तारा आदि का ही ग्रहण सङ्गत है।

आप केवल सायण का अनुकरण करने में दक्ष हैं। आपका अपना उन्मेष तो कुछ है ही नहीं। नक्षत्र-शब्द लोक में २८ नक्षत्रों का वाचक तो है; पर उसका यौगिकार्थ समाप्त हो जावे, ऐसा कोई नियम नहीं है। रूढार्थों का वेद पर आरोप कर अनर्थ किये गये हैं। जो क्षीण नहीं होता, उसका नाम भी नक्षत्र है। धातु के आधार पर नक्षत्र शब्द के अर्थ जो क्षीण न हो, आप्तजन, सत्य नियम, अक्षीण पदार्थ कारणरूप से नाशरहित लोकान्तर आदि होते हैं। ऋषि ने इसी आधार पर इस मन्त्र को उपासना में घटित किया है। योगपक्ष में बाह्य नक्षत्रों का उपयोग नहीं है। जो कर्मसंस्कार भोक्ता जीव के साथ जाते हैं, वे भी नक्षत्र कहलाते हैं। गत्यर्थक नक्ष धातु से 'अमिनक्षियजि०' (उ० ३।१०५) से अत्रन् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है, अथवा न क्षरते क्षीयते इति वा। इस प्रकार ऋषि के गिनाये २८ सुख योगपक्ष में सर्वथा उपयुक्त हैं। यो० सू० (३।२७) से आन्तरिक चन्द्र, तारा आदि का भी ग्रहण महर्षि व्यास के द्वारा सम्मत है। शरीरार्थ में 'अश्वत्थोऽयं सनातनः' (कठोप०) इससे सूक्ष्मशरीर भी व्याख्यात हो गया।

इस प्रकार योग का सेवन करनेवाले जीवात्मा की इन्द्रियां, प्राण, मन, आदि अन्तःकरण तथा विद्या आदि चार जब साथ होंगे, तभी योगप्राप्ति हो सकती है तथा यहां परमेश्वर-सम्बोधन करना ही उपयुक्त है; क्योंकि उसी से योगक्षेम प्राप्त हो सकते हैं।

सम्भवति' इति, तदनर्गलमेव। उपासनायोगे तेषां साक्षादुपकृतावसहकारित्वात्। न ह्यत्र संख्यापूर्तेः प्रश्नः। न चोपासनां अन्ययोगाद् बहिर्भूता। तस्मादत्र विनिगमनाविरहकथनमेव त्वत्तत्त्वविनिगमनाविरहं व्यञ्जयति। जडनक्षत्राणामैकमत्यप्रतिपादनं नाम जडतैव।

आक्षेपः—पृ० १३४९, अनु० २—"भूयानरात्याः शच्याः पतिस्त्वमिन्दासि विभुः प्रभुरिति त्वोपास्महे वयम्' 'नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत' इत्यनयोरर्थेऽयमाक्षिपति यत् "तदपि यत्किञ्चित्, 'शत्रु'रिति मूले पदाभावात्। शचिपतित्वेनेन्द्रस्य प्रसिद्धत्वाद् अत्र शचीन्द्राण्येव। ईश्वरोऽभिवदतीत्यत्रापि बीजं वक्तव्यम्। न चेश्वरकर्तृकत्वाद् ईश्वरो वदतीति युक्तमेवेति वाच्यम्, तथात्वे सर्वत्रैव मन्त्रेषु तस्यैव वक्तृत्वापातात्। अतः क्वचिदीश्वरो वदति, क्वचिदाचार्यो वदति, क्वचित् प्रजा वदतीत्यादिकल्पनानां निष्प्रमाणत्वात्। पश्यतेत्यस्याचरणार्थकत्वे बीजं वक्तव्यम्। द्वितीय'पश्यत'पदस्याव्याख्यातत्वाच्च।" इति।

समाधानम्—तदपि न किञ्चिद्, द्वेषाद् दोषान्वेषणपरमतित्वात्। अरात्याः भूयानिति पदेन शत्रुवर्थेऽपि प्रसिद्धत्वात्। 'देशः सोऽयमरातिशोणितचयैर्यस्मिन् ह्रदाः पूरिताः' इत्याद्युदाहरणत्वात्।

"२४ तत्त्वों के साथ आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और ज्ञानात्मा ये चार मिलाने से २८ संख्या की पूर्ति हो सकती है"।

इनका यह कहना तो सर्वथा अनर्गल है, क्योंकि उपासना-योग में उन २४ का साक्षात् उपयोग नहीं है। प्राण, अन्तःकरण आदि जिनका साक्षात् उपयोग है, वे ही ऋषि ने गिनाये हैं। चार प्रकार के आत्मा बताना अशास्त्रीय है। यह कहना कि 'उपासना-योग, ज्ञानयोग और अष्टाङ्गयोग, इनमें से किस योग का सेवन करें? यह भी निश्चयरूप से नहीं बताया' यह आरोप अज्ञानमात्र है; क्योंकि उपासना तथा अन्य योगों में भेद नहीं है। योग के अन्तर्गत सब का समावेश है। अतः यहां तो विनिगमना का विरह नहीं, प्रत्युप आपकी बुद्धि ही नहीं समझ पा रही है। 'नक्षत्राणि ऐकमत्यं भजन्त' नक्षत्र एकमत हो जायें, यह कथन तो जड़ता की पराकाष्ठा ही है; क्योंकि मति का आधार चैतन्य है, परन्तु नक्षत्र तो जड़ हैं, जहां ज्ञान (ऐकमत्य) नहीं रह सकता।

पृ० १३४९, अनु० २—"'भूयानरात्याः०' 'नमस्ते अस्तु०' इन मन्त्रों के भाष्य पर श्रीकरपात्र का आक्षेप है कि यह अर्थ सारमय नहीं है। 'शत्रु' पद मन्त्र में नहीं आया। इसका समाधान यह है कि 'अराति' कहते हैं—शत्रु को। यहां पर अराति (शत्रु) से हे ईश्वर तुम भूयान् अतिशय से बहुत हो। अर्थात् शत्रु

https://t.me/Dharmadaamal

शचीन्द्रपदयोर्विषये प्रथमखण्डे (पृ० ५२६-५२७) प्रकाशः पर्याप्तः कृतः। कीदृशोऽयं मतिभ्रम एतस्य यत् क्वचिदयं प्रसिद्धमर्थमाश्रयते, क्वचिद् यौगिकार्थ-शरणमुपैति। न हि कस्यापि इति वृत्तगतस्येह चर्चा। शचीत्यस्यार्थास्तु निघण्टौ—वाक्, कर्म, प्रज्ञा एवेति स्पष्टं भाष्यम्। सर्वे मन्त्रा ईश्वरेणैव रचिता इत्यत्र न कश्चित् सन्देहः कार्यः।

यथा कालिदासादिरचितकाव्यनाटकेषु तेनैव रचितत्वेऽपि यथा पात्रवचन-नियतत्वात् स पुरुषः स्त्री वा पात्रत्वेन वक्ता वक्त्री वा प्रख्यायते, तथवेहाऽपि सत्यप्रभुदिदृक्षासार्थकत्वं तु तदनुकूलाचरणेनैव जायते, परं मिथ्यापाषाणादौ प्रभुदर्शनस्यालीकतां तु पौराणिकास्तत्प्रतिकूलाचरणेनैव घोषयन्तीति लोके प्रत्यक्षम्। द्वितीयं 'पश्यत' पदं तु पूर्वार्थस्य प्रबलप्रपोषणाद् व्याख्यातमेव।

पृ० १३४९, अनु० ३—'अम्भो —' आदिमन्त्राणां योऽर्थ उद्धृतः, इत्येव ते कपोलकल्पितम्, शिवस्य लोहित-रजत-कर्पूरश्वेतवर्णवर्णितत्वात्, अमूर्तभगवतः

से अधिक बलवान् यानि शत्रु के भी शत्रु (शातयिता) हो। यह अर्थ भूयान् पद से उपलब्ध है।

'शची' पद से इन्द्राणी का ग्रहण नहीं होगा। इस विषय पर प्रथम खण्ड (पृ० ५२६-५२७) में पर्याप्त लिखा जा चुका है, वहीं देखिये। यह कहीं पर तो यौगिकार्थ का भी आश्रय लेते हैं और कहीं प्रसिद्धार्थ के ग्रहण का दुराग्रह करते हैं। पर ध्यान रहे कि वेद में किसी नश्वर इतिहासवाले का वर्णन नहीं है। निघण्टु में 'शची' का वाणी, कर्म और प्रज्ञा अर्थ में पाठ है।

यहां पर यह बात स्पष्ट है कि सब मन्त्र ईश्वर ने रचे हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर जैसे कालिदास के रचित काव्य-नाटक ग्रन्थों में सर्व का रचयिता होते हुए भी यथापात्रवचन नियत हैं, वहां पुरुष वा स्त्री उस-उसका वक्ता या वक्त्री होती हैं, वैसे ही यहां पर भी सत्यप्रभु की दिदृक्षा की सार्थकता तो तदनुकूल आचरण से ही होती है, परन्तु मिथ्या पाषाण आदि में प्रभु-दर्शन की अलीकता को तो पौराणिक लोग इसके प्रतिकूल आचरण से ही घोषित करते हैं। यह लोक में प्रत्यक्ष है। अतः प्रथम 'पश्यत' का अर्थ ठीक-ठीक देखो अर्थात् देखकर आचरण भी करो। अथवा प्रथम का अर्थ जानो और द्वितीय का अर्थ आचरण करो।

पृ० १३४९, अनु० ३—'अम्भो·····' आदि चारों मन्त्रों के भूमिकाकृत अर्थ अशुद्ध हैं, यह आपका कथन ही अशुद्ध है, तथा आपके अर्थ कपोलकल्पित हैं; क्योंकि आपने शिव लोहितादि वर्णों के रूपों का वर्णन किया है।

साकारदृश्यमानलोहितादिरूपत्वाभावाच्च तन्नाशापत्तेः।

पृ० १३५०, अनु० २—आक्षेपः—"योगिनो विद्वांसः परितस्थुषः सर्वान् जगत्पदार्थान् मनुष्यान् वा चरन्तं ज्ञातारं सर्वज्ञमरुषं करुणामयं ब्रध्नं विद्यायोगाभ्यासप्रेमभरेण सर्वानन्दवर्धकम्, महान्तं परमेश्वरमात्मना सह युञ्जन्ति रोचना आनन्दे प्रकाशिता रुचिमया भूत्वा द्योतनात्मके सर्वप्रकाशके परमेश्वरे रोचन्ते परमानन्दयोगेन प्रकाशन्ते' इति, तन्न संगतम्, अक्षराननुगतत्वात्। चरन्तं जानन्तमिति युक्तम्। परमस्य कथनं यन्न ज्ञातारं शतुर्योगात्। ····चरतेर्ज्ञानार्थकत्वेन ज्ञेयार्थस्य प्रपञ्चस्याक्षेपलभ्यत्वेन परितस्थुष इत्यस्याल्पप्रयोजनत्वात्। तस्माद् योगिन इत्यनाहृत्य प्रथमान्तत्वेन परितस्थिवांस इति परिणमय्य युञ्जन्तीति कर्तृत्वेन योगोपपत्तेः। ब्रध्नमिति पदमादित्यमेवाह, पूर्वोक्ततैत्तिरीयश्रुतेः। रोचना आनन्दे प्रकाशिता इत्यप्यसङ्गतम्, आनन्दस्यानाधारत्वाद् अप्रकाशकत्वाच्च। महान्तं परमेश्वरं कथमात्मना युञ्जन्ति, इति नोक्तम्, अतोऽसङ्गतम्, परमेश्वरस्य व्यापकत्वेन नित्ययुक्तत्वात्।" इति।

समा०—तदपि निखिलमज्ञानयोजनाजन्यम्, जनिजुषामविदुषां भृशं भ्रामकञ्च। श्रीमन्! भवादृशां यज्ञं परितस्थुषामशेषं जीवनं तु 'रथे अश्वयोजने' एव गतम्। नेन्द्रियाश्वान् संयमेनात्मन्ययोजयन्। यथाह—यजुषि 'ऋत्विजं

आप बताइये, ये सब रूप आंखों से देखने योग्य हैं या नहीं? पर आप तो दृश्यमान मानते हैं। जब भगवान् अमूर्त हैं तो ये दृश्यमान रूप हो ही नहीं सकते। यदि दृश्यमान हैं तो नाशवान् भी अवश्य हो जायेगा।

'अम्भः शब्द आप्लृ धातु से 'उदके नुम्भौ च' (उ० ४।२१०) से असि प्रत्यय, नुम् तथा भान्तादेश होने पर बनता है, अतः व्यापकार्थक है। गत्यर्थक 'अम्' धातु से 'घञ्' करने पर 'अमः' बना है, अर्थात् ज्ञानस्वरूप। इस प्रकार ऋषि के किये अर्थ सत्य हैं। आप जल के समान व्यापक बता रहे हैं। यह ठीक नहीं; क्योंकि जल सर्वव्यापक नहीं होता।

पृ० १३५०, अनु० २—आ०—"युञ्जन्ति ब्रध्नम्' इस मन्त्र में दयानन्दकृत अर्थ सङ्गत नहीं हैं, क्योंकि वे मन्त्राक्षरों के अनुगत नहीं हैं। स्वामी दयानन्दकृत अर्थ तीन हैं—(१) परमेश्वरपरक, (२) आदित्यपरक, (३) प्राणपरक। ये सब असङ्गत हैं।

समा०—प्रथम अर्थ में 'चरन्तम्' का अर्थ जाननेवालों को यह गत्यर्थक चर धातु से निष्पन्न होता है। पारिजातकर्त्ता का कहना है कि शतृ-प्रत्ययान्त होने से ज्ञाता अर्थ ठीक नहीं, बल्कि जानता हुआ, यह अर्थ करना चाहिये। वाह!

https://t.me/Dhamasomnat

(आदित्यत्वेन स्तूयमानम् अश्वम्) रथे योजयन्ति इति। एष कृतस्तथार्थोऽक्षरानुगतः। न तत्र भौतिकाद् यज्ञादन्यत्राऽप्यूहितः। जानन् इत्यस्य किं ज्ञाता इति पर्य्यायो नाऽस्ति धर्मेण कथय? अस्त्येवेति ऋषिणा प्रयुक्तम्। ज्ञाताशब्दो न वा कालं व्यभिचरति तृजन्तः।

न वा चरतेः प्रयोगेण 'तस्थुषः' इत्यर्थस्य गतार्थता भिन्नार्थकत्वात्। न 'तस्थुषः' इत्यस्य प्रथमान्तत्वे विभक्तिविपरिणामे कश्चिद्धेतुः। अतो 'योगिन' इत्यस्याधारः सर्वथोचितः। इत्यस्यैव कर्तृकत्वेन योगोपपत्तेः। दीप्यर्थकाद् रुचिधातोः 'अनुदात्तेतश्च' (अष्टा० ३।२।१४९) इति युचि प्रत्यये रोचना आनन्दिताः सन्त आनन्दे प्रकाशिताः, इत्यर्थः सर्वथा साधीयान् गरीयांश्च। योगिनः खलु आनन्द एव दीप्ता दीपिता वा भवन्ति। आनन्द एव मनसो वास्तविकाधारो

क्या कहना है आपकी बुद्धि की सूक्ष्मता को, जानते हुए को ज्ञाता मानने को तैयार नहीं है। आगे भी आप चर (ज्ञानार्थक) धातु से 'चरन्तम्' बनाकर ज्ञेय पदार्थ का आक्षेप (प्रपञ्च) कर लेंगे। अतः कर्म में उपस्थित 'परितस्थुषः' का आप प्रथमान्त परिवर्तन कर 'तस्थिवांसः' कर्ता मान रहे हैं और 'योगिनः' इस अध्याहृत पद की आवश्यकता नहीं समझते। उपस्थित को छोड़कर अनुपस्थित के पीछे आपकी यह दौड़ कोई चमत्कारी अर्थ भी दे देती, तो हम मान लेते।

वैसे 'ब्रध्नम्' का अर्थ ऋषि ने ऋ० १।६।१ में परमेश्वर, आदित्य, अग्नि या प्राण किया है और यहां पर भी 'महान् परमेश्वर' किया है। पर आप तो जो अर्थ किया है, उसके ठीक विपरीत बोलेंगे, यह आपका स्वभाव है। श्रीमन्! उपासना-प्रकरण में ऋषिकृत अर्थ सङ्गत है।

आगे आपका यह कथन भी अल्पज्ञता का सूचक है कि 'रोचना' पद का अर्थ 'आनन्द में प्रकाशित' नहीं हो सकता। ऋषि ने 'प्रकाशित करना' नहीं लिखा बल्कि 'आनन्दे प्रकाशिता रुचिमया भूत्वा' यह अर्थ लिखा है। यह अर्थ बिल्कुल ठीक धात्वर्थ से सर्वथा सङ्गत है; क्योंकि आनन्द में प्रकाशित होकर रुचिमय अर्थ होंगे। यह कोई बिना आंखवाला भी टटोल के बता सकता है। भ्वादिगण में 'रुच्' धातु दीप्ति, प्रकाश तथा अभिप्रीति (रुचि) अर्थ में है। इससे अधिकरण, भाव तथा कर्ता में ल्युट् प्रत्यय होकर रोचना बनेगा। जिसका 'प्रकाशित और रुचिमय' ही अर्थ होगा। आनन्द आधार भी हो सकता है, अतः आप की अशेष बकवास है। महान् परमेश्वर को आत्मा के साथ जोड़ने की विधि भी यहीं बतायी है, पर आंख हो, तब न दीखे। देखिए—'विद्यायोगाभ्यासप्रेमभरेण' विद्यायोग के अभ्यास और अत्यन्त प्रेम से यह जीवात्मा परमात्मा से जुड़ जाता है। यहां विशेषतया भावानुवाद है।

जायते योगिनाम्।

परमात्मनो व्यापकत्वे सत्यपि अल्पज्ञ जीवात्मनो वृत्तयस्तु भौतिकेषु पदार्थेषु रमन्ते, तदाज्ञानकृतदूरत्वाद् योगनिर्दिष्टोपायैरपायमपनीय योगिपुरुषा आत्मना सह परमात्मानं युञ्जन्ति। नैवं चेत्, सकलयोगशास्त्रप्रतिपादितसाधनानाम् उपदेशनैरर्थक्यमापद्येत।

पारिजातकृता इदमप्युत्तरणीयमत्र, यदियमखिला खलु पण्डितमण्डली तुन्दं परिमार्जयन्ती १३५० तमे पृष्ठे दशमपङ्क्तितः एकादशीं यावत् पाठं न नेत्रपात्रीकृतवती न वा दर्शनाचार्योऽपि निजनयनायनमानयत्। उताहो पाठमेवापपाठममन्यत, येन न हिन्द्यामनूदितः। स चैवम्—यजुर्वेदे तु युनक्त्येनं युञ्जन्ति ब्रध्नमिति (का० २।५।११) रीत्या अश्वे रथे युञ्जन्ति तस्थुषः तस्थिवांसः कर्मार्थमृत्विजः। अश्वोऽर्चादित्यरूपेण स्तूयते। ब्रध्नमादित्यमरुषं रोषरहितम्। अस्तु नाम मुच्येत पाठः, अनुमन्येऽन्ये न विजयाजितमतयोऽभूवन्। पुनः कारणमितरच्चिन्त्यमन्वेषकैः।

पृ० १३५१, पं० १—आक्षेपः—यच्च—"परितस्थुषश्चरन्तमग्निमयब्रध्नमादित्यं सर्वे लोकाः पदार्थाश्च युञ्जन्ति तदाकर्षणेन युक्ताः सन्ति, ते सर्व तस्यैव दिवि प्रकाशे रोचना रुचिकराः सन्तो रोचन्ते' इति द्वितीयोऽप्यर्थोऽसङ्गत एव, सर्वलोकानां पदार्थानां युञ्जतेः कर्तृत्वे योजकत्वोपपत्त्या युक्तत्वाऽसिद्धेः। 'सन्तुष्यतु' न्यायेन युक्तत्वेऽपि आदित्यरश्मियोगादेव युक्तत्वोपपत्त्याऽऽकर्षण-

---

परमात्मा के व्यापक होने पर भी अल्पज्ञ जीव की बुद्धि, मन की वृत्तियां तो भौतिक पदार्थों में रमती हैं, तब उसकी प्रभु से ज्ञानकृत दूरी रहती है, कालकृत व स्थानकृत दूरी नहीं होती। योग में निर्दिष्ट उपायों से अपाय (विघ्न) को दूर करके योगी पुरुष आत्मा से परमात्मा को जोड़ते हैं। यदि ऐसा न हो, तो सकल योगशास्त्र के उपदेशों की निरर्थकता जान पड़ेगी।

अब आप यह बताइये कि यहां १३५० पृ० पर १०वीं पंक्ति से ११वीं पंक्ति तक के पाठ को तोंद पर हाथ फेरनेवाली पण्डितमण्डली ने नहीं देखा और न अनुवादक दर्शनाचार्य को ये पंक्तियां नयनगोचर हुईं, जो कि उक्त पाठ को अपपाठ मानकर उसका अनुवाद नहीं किया। वह पाठ है 'युनक्त्येनं ····· रोगरहितम्'। अस्तु पाठ छूट गया। अनुमान है कि यदि अन्य लोग विजयाजितमति नहीं थे तो फिर अन्वेषकों को अन्य कारण खोजना चाहिए कि इस विस्मृति में क्या कारण है?

पृ० १३५१, पं० १ आप इस मन्त्र के द्वितीयार्थ को भी असङ्गत कह रहे हैं। इस मन्त्र में ऋषि का भाव है कि आदित्य से सर्व पदार्थ युक्त होते या जुड़ते

https://t.me/Dharmasamrat

कल्पनस्याऽन्यथा सिद्धत्वाच्च ।" इत्याह ।

तदपि परिवादकरप्रकृतिफलं वाचोऽस्य, एवं व्यर्थविषादकृद्विवादैर्भृशं नः क्लिश्यति मनः ।

उत्तरयतु तावत् 'सर्वे मनुष्याः श्रीकरपात्रमुपगताः' सर्वजनेषु श्रीकरपात्रस्याऽपि समाविष्टत्वात् कथं वाक्यमुपपन्नम् ? यथाऽत्रायमर्थो यद् एनं विहाय अन्ये उपगताः, तथैवेहाऽपि आदित्यलोकं मुक्त्वाऽन्ये परिगणिताः । सर्वेऽन्ये युञ्जन्ति आदित्यम् । केन प्रकारेण युञ्जन्ति ? तदोत्तरम्— तदाकर्षणद्वारेति एवमुपपन्नमखिलमेव ।

आक्षेपः—पृ० १३५१, पं० ५—यदाह—"य उपासकाः परितस्थुषः सर्वान् पदार्थान् चरन्तमरुषं सर्वमर्मस्थं ब्रध्नं सर्वावयववृद्धिकरं प्राणमादित्यं प्राणायामरीत्या दिवि द्योतनात्मके परमेश्वरे वर्तमाना रोचना रुचिमन्तः सन्तो युञ्जन्ति युक्तं कुर्वन्ति आसते मोक्षानन्दे परमेश्वरे सदैव प्रकाशन्ते' इति तृतीयोऽप्यर्थोऽसङ्गत एव, समष्टिप्राणस्य सर्वकर्मस्थत्वे सर्वावयववृद्धिकरत्वे च सत्यपि परमेश्वरस्य व्यापकत्वेन तत्र वर्तमानत्वेऽपि प्राणायामरीत्या तस्य परमेश्वरे योजनाऽसम्भवात् । आधारत्वेन योगस्य स्वतःसिद्धत्वे तत्प्रयासवैयर्थ्याच्च । उपासकानां च स्वप्राणस्यैव प्राणायामेन क्वचिद् योगः सम्भवति । स्वप्राणस्य तु समष्टिरूपेण

हैं । अतः सब पदार्थों को कर्ता आपके द्वारा मानना व्यर्थ है ।

वस्तुतः आपका व्यर्थ कथन ही व्यर्थ है । उक्त सारा कथन निन्दापरक प्रकृति का परिणाम है । इस प्रकार के बुद्धिहीन कुतर्कों से हमारे मन को क्लेश होता है ।

अच्छा, अब आप बताइये । सारे लोग करपात्रीजी से मिले, तो 'सारे' शब्द में तो करपात्रीजी भी आ गये, फिर वाक्य उपपन्न कैसे होगा ? जैसे यहां पर उपगमन-क्रिया में करपात्रीजी को छोड़कर लगेगा, उसी प्रकार सर्वपदार्थ में आदित्य को छोड़कर 'युञ्जन्ति' युक्त होते हैं, यह अर्थ भी हुआ ।

आक्षेप—पृ० १३५१, पं० ५—तृतीयार्थ में ऋषि ने लिखा कि "सब पदार्थों की सिद्धि का मुख्य हेतु जो प्राण है, उसको प्राणायाम की रीति से अत्यन्त प्रीति के साथ परमात्मा में युक्त करते हैं ।" पारिजातकार अपनी सदाभ्यस्त वाक्यावलि दुहराता है कि "यह भी असङ्गत है क्योंकि समष्टि प्राण समस्त प्राणियों के मर्मस्थान में स्थित हैं, सर्वावयव वृद्धिकर हैं, व्यापक परमेश्वर उन प्राणों में भी है, फिर प्राणायाम-रीति से परमेश्वर के योग करने का क्या अर्थ है ? आधार होने से ईश्वर का सबसे योग है, फिर योग करने का प्रयास व्यर्थ है । उपासकों का अपने प्राणों का ही प्राणायाम द्वारा कहीं योग हो सकता है ?

सर्वपदार्थचारित्वं सम्भवति । त्वन्मते मोक्षं गता न सदैव परमात्मनि प्रकाशन्ते, मोक्षात् पुनरावृत्त्यभ्युपगमात् ।" इति ।

समाधानम्—तदपि नामखण्डनप्रतिज्ञानिर्वाहायैव, बलान्निर्बलाक्षेपोद्भावनम् । सत्यं हि—

मन्येऽपवादे रसनाऽसीया, कण्डूं दधाना चलति प्रकामम् ।
विशुद्धमानन्दमतो दधामि, विवादकण्डूव्यपनोददक्षः ॥

इदं सम्यग् यत् प्राण आत्माऽपि तेन व्याप्तः प्राप्तश्च, परं नात्मना परमेश्वरो व्याप्तः प्राप्तश्च । आत्मनो प्राणस्याश्रयत्वम्, प्राणश्च मनसाऽनुविद्धो मनोऽपि तथा प्राणेन । अतः प्राणायामरीत्या प्राणान् संयम्य मनश्चाऽपि परमेश्वरे साधको निवेशयेदित्येव प्राणस्य परमेश्वरे योजना ।

'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' (योग० १।३५) इत्यस्य वृत्तौ भोजोऽप्याह—"मनः प्राणयोश्च स्वव्यापारे परस्परमेकयोगक्षेमत्वाज्जीयमानः

समष्टिरूप में स्थित प्राण कहीं भी जा सकते हैं । फिर आपके मत में मोक्ष में सदा नहीं रहते, क्योंकि मोक्ष से पुनरागमन मानते हो ।"

समाधान—यह आपका कथन केवल खण्डन करने की प्रतिज्ञा का निर्वाह मात्र करने के लिए है । बलात् निर्बल आक्षेप आपने किये हैं । सच है—

मैं समझ रहा हूं कि श्री करपात्र की रसना अपवाद करने में विशेष कण्डूति का अनुभव करती है अर्थात् आपकी जीभ में बुराई करने की खुजली उठती है । इसलिए विवाद की खुजली मिटाने में दक्ष मुझे भी विशुद्ध आनन्द की अनुभूति होती है ।

यह कथन ठीक है कि समष्टि प्राण सर्व मर्मस्थान में स्थित है तथा इसमें परमेश्वर व्यापक है । वह सब वस्तु में व्याप्त है और जीवात्मा भी उससे व्याप्त है । यह आत्मा समष्टि के प्राण के अतिरिक्त व्यष्टि प्राण का आश्रय है और प्राण मन का आश्रय है और मन भी प्राण से अनुविद्ध है । इसलिये प्राणायाम की रीति से प्राणों का संचयन कर साधक निश्चल मन को आराध्य परमेश्वर में निवेशित करे । बस, यही प्राण की परमेश्वर में योजना कहाती है ।

तथा 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' (योग० १।३५) इसकी वृत्ति में भोज ने कहा है कि "मन और प्राण का अपने व्यापार में परस्पर एक योगक्षेम

https://t.me/DharmaSanhita

प्राणः समस्तेन्द्रियवृत्तिनिरोधद्वारेण चित्तस्यैकाग्रतायां प्रभवति । समस्तदोष-क्षयकारित्वञ्चास्याऽगमे श्रूयते" इति ।

हृदयाकाशे यदा प्राणधारणा क्रियते तदा योगी निश्चयात्मकज्ञानं प्राप्नोति। निश्चयात्मकं ज्ञानं प्रकाशयुक्तमाकाशवद् विस्तृत भवति । तदा चित्तं स्वरूपज्ञाने स्थिरं भवति । तस्य स्थितिर्निस्तरङ्गमहासागरस्येव शान्ता निश्चला च जायते । तदैव जीवोऽनुभवति यत्तम्प्रति मया सूक्ष्मतरः परमेश्वरोऽधिगन्तव्यो-ऽस्ति । एवं बलवत्या प्राणशक्त्या समायुक्तो जीवः परमात्मनि युक्तो भवतीति योगसरणिः संक्षेपेण व्याहृता ।

पृ० १३५१, पं० १०—यदाह—"परमेश्वरे सदैव प्रकाशन्ते' इति कथनं मोक्षादावृत्तौ सत्यां न घटते" इति न वक्तव्यम्, 'सदा' शब्देन स एव कालो मन्यते यत् कालावधि यावत् शास्त्रीयसम्मतता मोक्षस्य । नहि यावत् परमेश्वर-स्तिष्ठेत् तावन्तं कालं जीवेनाऽपि मोक्षे स्थातव्यम् । जीवस्य सावधिककर्मविपाके मोक्षोपपत्तिरपि नानन्तकालाय सम्भवति । तथा चास्मिन्नेवार्थे 'सदा' शब्दप्रयोगो भवति । यथा वायु सूर्यौ सदागतिरिति वाच्यौ स्तः । एवमेव 'सदातोया' इत्यादि-

---

होने से जीयमान प्राण समस्त इन्द्रियवृत्ति निरोध द्वारा चित्त की एकाग्रता में समर्थ होता है। इसकी समस्त दोषों की क्षयकारिता शास्त्र में प्रसिद्ध है"।

हृदय के आकाश में जब प्राण-धारणा की जाती है, तब योगी निश्चयात्मक ज्ञान को प्राप्त करता है । निश्चयात्मक ज्ञान प्रकाशयुक्त आकाश के समान विस्तृत होता है, तब चित्त स्वरूपज्ञान में स्थिर हो जाता है । वह स्थिति निस्त-रङ्ग महासागर के समान निश्चल और प्रशान्त होती है। तभी जीव अनुभव करता है कि मुझ से सूक्ष्मतर परमात्मा अब प्राप्तव्य है । इस प्रकार बलवती प्राणशक्ति के द्वारा समायुक्त जीव परमात्मा में युक्त हो जाता है। यह योग की पद्धति हमने यहां संक्षेप में लिख दी है ।

पृ० १३५१, पं० १०—"मोक्ष से पुनरावृत्ति होने पर परमेश्वर में सदा नहीं रहते' अतः 'सदा आनन्द में रहते हैं' यह भूमिका-कथन ठीक नहीं है ।" वस्तुतः ऋषि कथन को आप ठीक रूप में नहीं समझे। 'सदा' शब्द का यहां यही तात्पर्य है कि मोक्षकाल की अवधि-पर्यन्त सदा, यही शास्त्रीय सिद्धान्त है ।'सदा' का अर्थ यह कदापि न लगाइये कि जब तक परमेश्वर रहता है, तब तक जीव सदा आनन्द में रहता है; क्योंकि जीव के सावधिक कर्मविपाक से मोक्ष की उपपत्ति भी अनन्त काल के लिये नहीं हो सकती । तथा इस अर्थ में 'सदा' शब्द का प्रयोग भी होता है । जैसे वायु और सूर्य को 'सदागति' तथा बहते झरने या नदी को 'सदातोया' कहते हैं । इनकी स्थितिकाल का सूचक 'सदा' शब्द है, वैसे

शब्दानां नैवार्थो प्रलयानन्तरमपि इमानि वस्तूनि सदैव तिष्ठन्ति ।

परं महोदय ! भवान् ब्रूतां यन्नवीनवेदान्तमते कस्य मोक्षः ? सदामुक्त-स्वरूपत्वाद् ब्रह्मणः कस्य वा बन्धनम् ? तदनन्यसत्त्वात् ?

पृ० १३५१, अनु० २—शतपथवचनमुद्धृतं स्वामिनोक्तमेव पुष्णाति, तदितरद्वचोऽलीकम् ।

पृ० १३५२, अनु० १—एतस्य महोदयस्यैषैव दशा यत् "लोकः ष्ठीवेन्नैव लज्जेऽहमत्र" । ततोऽयं लिखति—"उपासना कथं रीत्या कर्तव्येति शीर्षके यल्लि-खितं तदप्युपहासास्पदमेव । 'तस्यैव स्तुतिप्रार्थनानुष्ठाने सम्यक् कृत्वोपासनयेश्वरे पुनः पुनः संलगयेत् ।"

'स्वात्मानम्' इति पाठविसर्जनं छलमेव, यदि ते नेदमुपहासास्पदं तदा जुगुप्सास्पदमवश्यम् । व्यापकपरमेश्वरे स्वतः संलग्नजीवस्य कथमिव पुनः संलगन-मिति नोक्तम्, इति वचनं तु स्वमतेरेवोपहासः । यतो न जीवस्य पृथक् शाश्वतिकीं सत्तां मनुते भवान् । कस्य पुनः स्वतः संलग्नतां व्याचष्टे ? मया तु बहुशः समा-हितं यत् संसारासक्तो जीवो यावत्स्वात्मानं स्वमनोबुद्ध्यादिकं परमेश्वरे न योज-

---

ही मोक्षावधिबोधक 'सदा' शब्द है । इसका अर्थ यह नहीं कि वायु, सूर्यादि सृष्टि अवधि के बाद या प्रलय होने पर भी रहेंगे ।

पर आप बताइये कि नवीन वेदान्त में जिसको मोक्ष होगा, वह तो कभी बद्ध ही नहीं होता है; क्योंकि ब्रह्मातिरिक्त आपके यहां तो कुछ है ही नहीं ।

पृ० १३५१, अनु० २—शतपथ का उद्धरण तो स्वामीजी की पुष्टि करता है, शेष आपका कथन मिथ्या है ।

पृ० १३५२, अनु० १—इस पारिजात के लेखक की यही दशा है "थूको रे मोहि लाजो नाय" । तब यह आगे भी लिखते हैं कि "उपासना किस रीति से करनी चाहिए ? इस शीर्षक से भूमिका में लिखा हुआ उपहासास्पद है । उसी की स्तुति-प्रार्थना का अनुष्ठान सम्यक् करके उपासना के द्वारा ईश्वर में अपने आत्मा को स्थिर करेंगे ।"

यहां पर आपने 'स्वात्मानम्' पद का लोप करके पाठ किया है, यह छल है । परमात्मा में किस प्रकार लगावे ? इस विषय पर ऊपर भी कहा जा चुका है तथा अन्यत्र शास्त्रों में पढ़ना चाहिए । वस्तुतः आप स्वयं ही अपने मत से स्वबुद्धि का ही उपहास कर रहे हैं; क्योंकि आपके मत में जीव की पृथक् सत्ता ही नहीं है । फिर स्वतः संलग्नता किस की बखान कर रहे हैं ? हमने तो बहुधा व्याख्या कर दी कि संसारासक्त जीव जब स्वात्मा अर्थात् अपने मन, प्राण, बुद्धि

https://t.me/Dharmasamrat

येत् तावद् अज्ञानकृतविप्रकृष्टता नापसरेत् ।

पृ० १३५२, पं० ४—यच्चाह—"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (योग० १।२) उपासनासमये व्यवहारसमये परमेश्वरादतिरिक्तविषयाद् अधर्मव्यवहाराच्च मनसो वृत्तिः सदैव निरुद्धा रक्षणीया। अत्र स्वामिना विरुद्धार्थतया व्याख्यातम्। वस्तुतः सर्वासां क्लिष्टानामक्लिष्टानाञ्च वृत्तीनां निरोधोऽभीष्टः।" इति ।

एतेन अनधीतव्यासभाष्यत्वमेवाऽस्य सूच्यते। यतोहि एतत्सूत्रस्य महर्षिव्यासभाष्यस्य निष्कर्षं कर्षन्तीव ऋषेरेषा शेमुषी सततश्रद्धानिष्ठाप्रतिष्ठामर्हति मर्मज्ञानाम्, या विस्तृतव्यासभाष्यमेकस्मिन् वाक्ये समाम्नातवती। तद्यथा—उपासनासमये व्यवहारसमये वेत्यादि। अत्र हि योगस्य स्वरूपसाधनप्रकारफलमिति चतुष्टयसमासेनालेखीत्।

मनसो वृत्तिनिरोद्धव्येति स्वरूपम्। परमेश्वरादतिरिक्तविषयाद् अधर्मव्यवहाराच्च इति साधनम्। उपासनासमये परमेश्वरादतिरिक्तविषयाद् व्यवहारविषये वा अधर्मव्यवहाराद् इति साधनप्रकारः मोक्षप्राप्तिरिति फलं हिन्दीभावार्थे स्पष्टमकार्षीद् ।

यथा च भाष्ये—"सर्वशब्दाग्रहणात् संप्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते चित्तं

आदि को परमेश्वर में युक्त नहीं करेगा, तबतक अज्ञानकृत दूरी का अपसरण नहीं होता।

पृ० १३५२, पं० ४—"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (योग० १।२) पर उपासना-समय व व्यवहार के समय परमेश्वर से अतिरिक्त विषय से और अधर्मव्यवहार से मन की वृत्ति को सदा निरुद्ध रखना चाहिए। वास्तव में इस सूत्र में सभी प्रकार की क्लिष्ट या अक्लिष्ट वृत्तियों का निरोध अभीष्ट है।"

इस पारिजातकार के कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि इसने व्यासभाष्य में वस्तुप्रवेश भी नहीं किया है। महर्षि दयानन्द ने व्यास के भाष्य के निष्कर्ष को एक वाक्य में रखकर मानो गागर में सागर भर दिया है। महर्षि ने समासशैली में यहां योग के स्वरूप, उसके साधन, प्रकार तथा फल इन चारों को प्रस्तुत कर दिया है। देखिये—

१—मन की वृत्ति रोकनी चाहिए—इससे स्वरूप।

२-३—परमेश्वर के अतिरिक्त विषय और अधर्मव्यवहार से रोकनी चाहिए—इससे साधन।

४—हिन्दी में 'मोक्ष को प्राप्त करना'—इससे फल-कथन है।

जैसा कि भाष्य में कहा है—"सर्व शब्द के ग्रहण न करने से संप्रज्ञात भी

हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्, प्रख्यारूपं हि चित्तं सत्त्वम्, रजस्तमोभ्यां संसृष्टम् ऐश्वर्यविषयप्रियं भवति, तदेव तमसानुविद्धम् अधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपमं भवति।" इत्यादिक्लिष्टाक्लिष्टवृत्तीनां निरोधस्य को विरोधो विहितो स्वामिदयानन्देन येनेदमाक्षिप्त ?

वस्तुतस्तु क्षिप्तमूढविक्षिप्तावस्थासु चित्तवृत्तयः सांसारिकविषयानुरागिण्यो भवन्ति। एकाग्रावस्थायां सम्प्रज्ञातयोगो निरोधावस्थायामसम्प्रज्ञातयोगो भवति। अस्य शास्त्रस्य प्रतिपाद्यो योगस्तस्य च फलं मोक्षः, योगशास्त्रयोश्च प्रतिपाद्यप्रतिपादकसम्बन्धः। मोक्षयोगयोश्च साध्यसाधनसम्बन्धः। तस्य योगस्य पदार्थत्वमस्मिन् सूत्रे 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इत्यात्मके वर्ण्यते। तदत्र श्रीमदुक्तमकिञ्चित्करम्।

पृ० १३५२, अनु० २ यच्च—"अयं वराकस्तत्र तत्रेश्वरो वदतीति वक्ति। 'वद्'धातुस्तु व्यक्तवागर्थकः। व्यक्ता वाक् तु कण्ठतालवाद्यभिघातादितन्त्रा। निराकारस्य परमेश्वरस्य कण्ठतालवाद्यभावात् तत्सर्वथैव नोपपद्यते"। इति तत्त्वज्ञानं

योग है' ऐसा कहा जाता है। चित्तप्रख्या, प्रवृत्ति और स्थितिशीलता से त्रिगुणात्मक है। प्रख्यारूप चित्त सत्त्व, रज और तम से संसृष्ट, ऐश्वर्य-विषयप्रिय चित्त रजोमय, वही तम से अनुविद्ध अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्यवाला हो जाता है।" क्या ऋषि दयानन्द ने यहां पर कोई विरोध-वाक्य कहा है कि क्लिष्ट वृत्तियों का विरोध करे, अक्लिष्ट का न करे ? जिसके कारण यह लेखक आक्षेप कर रहा है।

वास्तव में क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्तावस्थाओं में चित्त की वृत्तियां सांसारिक विषयानुसारिणी हो जाती हैं। एकाग्रावस्था में सम्प्रज्ञातयोग और निरोधावस्था में असम्प्रज्ञात योग होता है। इस शास्त्र का प्रतिपाद्य है योग और उसका फल मोक्ष है। योग और शास्त्र में प्रतिपाद्य और प्रतिपादक सम्बन्ध है। मोक्ष और योग में साध्य और साधन सम्बन्ध है। इस योग का पदार्थत्व 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' सूत्र में वर्णन किया जा रहा है। इसलिये इस पर आपका कथन तुच्छ है।

पृ० १३५२, अनु० २—आक्षेप—"यह बेचारा दयानन्द' जहां-तहां ईश्वर कहता है, ऐसा कथन कर देता है। परन्तु वद धातु तो व्यक्तवाक् अर्थवाला है। व्यक्तवाक् कण्ठ, तालु आदि के अभिघात से उत्पन्न होती है। निराकार परमेश्वर के कण्ठ, तालु आदि का अभाव होने से वह कथन किसी प्रकार भी उपपन्न नहीं होता है"।

https://t.me/DharmaSamlat

शब्दशास्त्ररहस्यानभिज्ञसम्मतम् । इदं तु भवता कस्माद् गुरोरधीतं यत् कण्ठ-ताल्वाभिघातजन्या वाग् व्यक्ता उच्यते । व्यज्यते स्म इति व्यक्ता 'अञ्ज'धातोः 'निष्ठा' (अष्टा० ३।२।१०२) इत्यनेन क्तप्रत्यये सिध्यति । नहि वाक् केवलं वैखरी एव यां भाषामहे वयं कण्ठताल्वाद्यभिघातजाम्, परा-पश्यन्ती-मध्यमाना-मपि वाक्त्वात् । साऽपि योगिनां व्यक्तैव, न तु क्षिप्तमूढविक्षिप्तचेतसाम् । अग्नि-वाय्वादीनामन्तःकरणे प्रेरितादौ विनैव कण्ठताल्वादिना अन्तर्यामिणा भगवता सा व्यक्तैवासीत् । या वाग् यस्यामपि स्थितौ यमपि प्रति व्यक्ता भवति उदितैव वक्ष्यते, नास्मिन् शङ्काक्लेशलेशोऽपि शेमुषीजुषाम् ।

यद्वक्ति भवान् 'वद्'धातुप्रयोगविषये तदपि संकीर्णचिन्तनम् । तदा तु परि-भाषणार्थकवच्धातोः प्रयोगे 'वक्ति' इत्यस्य 'सनिन्दमुपालम्भं कुरुते' इत्येवार्थो लप्स्यते, 'यः सनिन्द उपालम्भस्तत्र स्यात् परिभाषणम्' इत्यमरवचनात् । परं नैष एवार्थः, महर्षिदयानन्दः समाधिस्थितो हि व्याचष्टेऽत्र समाधिविषयमतस्तं प्रति वदन् व्यक्तां वाचां प्रयुञ्जन्निव परमेश्वरः । अतोऽयमाह, साक्षात्-कृत ईश्वरो

समाधान—यह तो अज्ञान है तथा शब्दशास्त्र के रहस्य को न जाननेवाले का सम्मत हो सकता है । बताइये, यह आपने किस गुरु से पढ़ा है कि केवल कण्ठ, तालु आदि के अभिघात से जन्या वाणी व्यक्त कहलाती है, जो व्यक्त की गयी ? यह व्यक्त शब्द वि-उपसर्गपूर्वक 'अञ्जू' धातु से क्त प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है । महोदय ! केवल एक वैखरी वाणी ही तो नहीं होती, जिसे हम लोग बोलते हैं । वाक् तो परा, पश्यन्ती और मध्यमा भी है । वह प्रत्येक योगियों को व्यक्त होती है । क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त को ये व्यक्त नहीं होतीं । अग्नि, वायु आदि के अन्तःकरण में आदिसृष्टि में प्रेरित कण्ठ, तालु आदि के अभिघात के बिना अन्तर्यामी भगवान् के द्वारा तो व्यक्त ही हुई थी । जो वाणी जिस भी स्थिति में जिस-किसी को व्यक्त हुई होती है, वह उदित (=कही हुई) ही कही जायेगी । बुद्धिमानों को इसमें तनिक भी शङ्का नहीं है ।

जो आप वद् धातु के विषय में कह रहे हैं, यह भी आपका सङ्कीर्ण चिन्तन है । तब तो परिभाषणार्थक वच् धातु के प्रयोग में 'वक्ति' इस का अर्थ होगा कि 'निन्दासहित उपालम्भ करता है' । यही अर्थ लिया जायेगा जो कि सनिन्द उपालम्भ होता है, उसे परिभाषण कहते हैं । यह अमरकोष का वचन है । परन्तु केवल यही अर्थ नहीं है ।

महर्षि दयानन्द तो समाधिस्थ होकर व्याख्या करते हैं । अतः समाधि-विषय में मानो परमेश्वर व्यक्त वाणी का प्रयोग करते हैं । इसीलिए ऋषि ने

वदतीति ।

ननु ब्रूतां यदि कश्चिदब्रुवन्नेव मुखेन लेखद्वारा वादं प्रतिवादं वा प्रस्तौतु तदा किन्नायं वादः प्रतिवादो वा कथ्येत ? अवश्यं कथयिष्यते । तदेदं सर्वम-चिन्तितोदितम् ।

भवता इह स्वामिनं प्रति 'वराकः' इति शब्दः प्रयुक्तः । मन्ये तं प्रति सम्प्रति दयोदयो जातस्ते । आभारितां वहे तदर्थं यदेह न कश्चिदन्योऽपशब्दः प्रायोजितः । परं सहैव विस्मयो यदिह आमिषाशिनो गृध्रस्य वासे फलाशाऽभीप्सा-नाशे रक्ताम्रफलं कथमिति ? सम्भाव्यते तदपि वर्णभ्रान्त्येव । अथवा वराक इति शिवनामापि, तत आत्मनैवाङ्गीकृतं भवता स्याद् योगविषये शिवत्वं मूलतः शङ्करस्य दयानन्दस्य ।

पृ० १३५२, अनु० ३—आ०—किञ्च 'निरुद्धा सती क्वावतिष्ठते'? इति । तत्रोच्यते—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (योग० १।३) यदि सर्वस्माद् व्यवहारान् मनोऽवरुध्यते, तदाऽस्योपासकस्य मनो द्रष्टुः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य स्वरूपेऽव-

---

लिखा है कि—साक्षात्कृत ईश्वर कहता है ।

अच्छा बताइये, कोई व्यक्ति मुख से तो बोल नहीं रहा है, पर लेख द्वारा वाद-प्रतिवाद प्रस्तुत कर रहा है, तो वे क्या वादी-प्रतिवादी नहीं कहलायेंगे ? अवश्य कहलायेंगे । अतः ताल्वादि-अभिघात से व्यक्त होने आदि की बात कहना अविचारजन्य है ।

आपने यहां स्वामी दयानन्द के प्रति 'वराक' इस शब्द का प्रयोग किया है । मानते हैं, सम्प्रति उनके प्रति आपके हृदय में दया का उदय हो गया है । इसके लिए हम आभारिता प्रकट करते हैं कि आपने कोई अन्य अश्लील शब्द स्वभावानुसार प्रयुक्त नहीं किया । परन्तु साथ ही विस्मय भी है कि आमिष (=मांस) का प्राशन करनेवाले गीध के निवास में फलाशा प्राप्ति के नाश होने पर लाल लाल यह आम्रफल क्यों कर है ? इसमें भी वर्ण (=रङ्ग) की भ्रान्ति की सम्भावना ज्ञात होती है । अथवा 'वराक' शब्द शिव का भी नाम है । तो हो सकता है, यहां आपने आत्मा से ही योग के विषय में मूलशङ्कर दयानन्द का शिवत्व स्वीकार कर लिया हो; परन्तु स्यात् आपका अभिप्राय स्वामीजी का दैन्य प्रकट करना ही है ।

आक्षेप—"दूसरे वह निरुद्ध होकर चित्तवृत्ति कहां ठहरती है ? इस विषय में बताते हैं—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (योग० १।३) जब वृत्ति व्यवहार से निरुद्ध हो जाती है, तब इस उपासक का मन सर्वज्ञ परमेश्वर के स्वरूप में

https://t.me/DharmaSamrat

तिष्ठते' तत्सर्वमुपहासास्पदम्, परकीयात्मसाक्षात्कारे मनसोऽहेतुत्वात्, अतो द्रष्टुः प्रत्यगात्मनः पुरुषस्य स्वरूपेऽवस्थानम्। द्रष्टृपदस्य ज्ञातृबोधकत्वमेव न सर्वज्ञातृबोधकत्वम्, 'स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिर्यथा कैवल्ये' इति व्यासभाष्यविरोधाच्च।" इति।

समा०—एतदुपहासास्पदत्वस्य न कश्चित् सम्बन्धो बुद्धेः, यतो हि अयं तर्काभासं प्रस्तौति यन् मनो न परकीयात्मसाक्षात्कारं कर्तुं समर्थम्। परमत्र सर्वान्तर्यामिपरमेश्वरस्य न कथमपि परकीयत्वं साधयितुं युज्यते शक्यते वा। यथा ह्यात्मनो मनः स्वीयं तत्स्थत्वाद् एवम् आत्मनि परमात्मनः परमात्मनि च आत्मनस्तत्स्थत्वमभ्युपगतं सार्वतन्त्रम्। शुद्धमनस आत्मसाक्षात्कारे यथा तत्त्वज्ञानाद् हेतुत्वं तदात्मनः परमात्मनः साक्षात्कारे आत्मसाक्षात्कारत्वं हि नाम कैवल्यम्, एवं कैवल्यसाधनकालात् परमात्मनः साक्षात्कारकालस्य नानन्तर्यम् अर्थाद् अस्मिन् काले "पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यस्वरूपं प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति" (योग० ४।३४) इति प्रमाणं सहकृत्य आत्मसाक्षात्कारो

अवस्थित होता है। इस भाष्य को यह लेखक उपहासास्पद कह रहा है, क्योंकि दूसरों के आत्मा का साक्षात्कार करने में मन समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए द्रष्टा प्रत्यगात्मस्वरूप अपने स्वरूप में ही अवस्थित हो सकता है। द्रष्टा पद केवल ज्ञाता का ही बोधक हो सकता है, सर्वज्ञ ज्ञाता का नहीं। व्यासभाष्य में बताया गया है कि 'कैवल्यावस्था में चित्ति अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है'। आपकी बात का इस भाष्य में स्पष्ट विरोध है।"

समाधान—आपके इस उपहासास्पदत्व का बुद्धि (=विचारशक्ति) से कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि आप तर्क नहीं प्रत्युत तर्काभास प्रस्तुत कर रहे हैं कि मन दूसरे के आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता; किन्तु यहां सर्वान्तर्यामी परमेश्वर का किसी प्रकार का परकीयत्व नहीं कहा जा सकता न सिद्ध किया जा सकता है। जैसे आत्मा का मन स्वीय अर्थात् अपना है, उस आत्मा में स्थित होने के कारण। इसी प्रकार आत्मा में परमात्मा का और परमात्मा में आत्मा का स्थित होना सर्वतन्त्रसिद्धान्त है। आत्मसाक्षात्कार में जैसे शुद्ध मन का तत्त्वज्ञान से हेतुत्व है, वैसे ही आत्मा का परमात्मसाक्षात्कार में आत्मसाक्षात्कार ही कैवल्य हो जाता है। इस प्रकार कैवल्यसाधनकाल से परमात्मा के साक्षात्कार के काल का आनन्तर्य (=पूर्व व पश्चात् का भाग) नहीं है। अर्थात् जिस काल में 'पुरुषार्थशून्यानां ……' अर्थात् पुरुषार्थ से रहित बुद्धि आदि द्वारा परिज्ञात गुणों का अपने कारण में प्रतिष्ठारूप चेतनस्वरूप पुरुष का सम्बन्ध से रहित होकर अपने स्वरूप में स्थित होना कैवल्य है।

जायते तत्काल एव परमात्मनोऽपि। नहि कैवल्यमानन्दमधिगम्य कश्चिदिह प्रयासः कालो वा तदधिगत्यै अपेक्षितोऽन्यः। अतः परमात्मनः परकीयत्वप्रतिपादनं सर्वथाऽशास्त्रीयमयुक्तिकं च।

यदुच्यते—"द्रष्टृपदस्य ज्ञातृबोधकत्वमेव न सर्वज्ञातृबोधकत्वम्, भाष्यविरोधात्" इत्यप्यकिञ्चित्, भाष्यविरोधाभावात्। महर्षिव्यासभाष्यादापाततो विरोधः प्रतीयतेऽस्य परं ज्ञातुः सर्वज्ञातुश्च साक्षात्कारे नान्तरीयकत्वम्।

यदि कश्चित् कथयेन्नास्तिको यदीश्वरममन्यमानोऽपि मोक्षमधिगन्तुं शक्नोति साधकस्तत्प्रतिरोधोऽपि स्वामिदयानन्दभाष्येण साध्यतेऽत्र। नहि स्वतन्त्रो जीवात्मा परमात्मनोऽसत्तायां स्वयमानन्दस्वरूपाभावत्वे मोक्षप्रयोजनं धारयतीति व्यञ्जनया।

यदाक्षिप्तं टिप्पणीकारे पण्डितमीमांसके, तदप्यबुध्वैव। 'परमात्मनः स्वरूपावस्थाने जीवस्य स्वरूपावस्थानं नान्तरीयकम्' एतस्य हिन्दीकारेण लिखितं

जब व्युत्थान, समाधि और निरोध के संस्कार चित्त में लीन हो जाते हैं, तब चित्त का अहंकार में, इसका महत्तत्त्व तथा महत्तत्त्व का प्रकृति में लय होना प्रतिप्रसव कहाता है। इस प्रमाण के अनुरूप साक्षात्कार होता है, उसी समय प्राप्त करने के अनन्तर कोई इतर प्रयास या समय परमात्म-प्राप्ति के लिए अपेक्षित नहीं है। अतः परमात्मा का परकीयत्व-प्रतिपादन करना सर्वथा अशास्त्रीय और अयुक्तिक है।

यह कहना कि "'द्रष्टा' पद का अर्थ ज्ञाता है, सर्वज्ञाता नहीं, क्योंकि भाष्यविरोध है" तो निःसार है; क्योंकि भाष्य का कहीं विरोध नहीं है। आपको आपाततः विरोध मालूम पड़ता होगा; परन्तु ज्ञाता और सर्वज्ञाता के साक्षात्कार में अन्तरीयकता नहीं है।

'द्रष्टा' पद से परमात्मा का अर्थ ग्रहण करने में यह भी विशेषता है कि यदि कोई कहे कि ईश्वर को न मानता हुआ भी नास्तिक साधक मोक्ष प्राप्त कर सकता है, तो इसका समाधान एकमात्र स्वामी दयानन्द के ही भाष्य में है; क्योंकि उन्होंने द्रष्टा का अर्थ सर्वज्ञ परमात्मा भी किया है। परमात्मा की सत्ता को बिना माने स्वतन्त्र जीवात्मा स्वयं आनन्दस्वरूप के अभाव में मोक्ष-प्रयोजन को भी धारण नहीं करता, इससे यह ध्वनित होता है।

टिप्पणीकार पण्डित मीमांसक पर जो आक्षेप किया है, उससे भी आप का अज्ञान ही प्रकट होता है। 'परमात्मा के स्वरूप में अवस्थान में तथा जीव के

https://t.me/DhamaSanat

यथा—'परमात्मा की स्वरूप में अवस्थिति अपने आप हो जायेगी' तस्य नासावाशयः। तस्य ह्याशयोऽयमेव यद् जीवात्मनि परमात्मनो व्यापकत्वाद् स्वरूपज्ञानानन्तरं परमात्मज्ञानाय नान्यः कालो नेतरो वा प्रयत्नः शास्त्रेषु अभिहितोऽतो जीवात्मनः परमाधारत्वं वा साधनकालादेवा यते।

तत्परमानन्दस्वरूपाधिगतिरेव च फलं स्वतो जायत इति। अत एवात्मसाक्षात्कारात् पूर्वमीश्वरप्रणिधानमादिष्टं योगे। तथा भगवान् भाष्येऽप्याह "न तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते (१।३०) तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति। स्वरूपदर्शनमप्यस्य (ईश्वरस्य) भवति। यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथाऽयमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुषस्तमधिगच्छति" (१।२९)।

वस्तुतस्तु व्यासभाष्येष्वभिव्यञ्जितोऽप्यर्थः स्वामिना सङ्कलितीकृतः 'स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये' इत्यस्यायमेवार्थः—कैवल्ये मुक्तौ अर्थात् प्रकृतेः प्राकृतपदार्थानाञ्च सम्बन्धान्मुक्तश्चेतनशक्तिपुरुषः परमात्मनः स्वरूप एव अवस्थितो भवति, चित्तवृत्तिनिरोधकालेऽपि पुरुषस्य स्थितिः परमात्मनि

अपने स्वरूप में अवस्थान होने पर समय का भेद नहीं लगता।' इस वेदार्थ पारिजात के हिन्दीकार ने तो भाव की रेड़ ही मार दी। यह लिखकर कि 'परमात्मा की स्वरूप में अवस्थिति अपने आप हो जायेगी'। मीमांसकजी का यह आशय नहीं है, जो इस हिन्दीकार ने लिखा है। उनका आशय है कि जीवात्मा में परमात्मा के व्यापक होने से स्वरूपज्ञान के अनन्तर परमात्मज्ञान के लिए अन्य अधिक काल की आवश्यकता नहीं होती और अन्य अतिरिक्त प्रयास भी शास्त्रों में नहीं बताया है। इसीलिए जीवात्मा की परमाधारता व स्थिति साधनकाल से अनुभूत होने लगती है।

उसके परमानन्दस्वरूप की प्राप्ति ही फल है, जो स्वतः हो जाता है। इसलिए आत्मसाक्षात्कार से पूर्व योग में प्रणिधान बताया गया है। भगवान् भाष्यकार ने भी कहा है "वे व्याधिप्रभृति अन्तराय (विघ्न) ईश्वरप्रणिधान से नहीं होते। इस ईश्वर का स्वरूपदर्शन भी हो जाता है। जैसे ईश्वर शुद्ध, प्रसन्न, केवल अनुपसर्ग है, उसी प्रकार बुद्धि का प्रतिसंवेदी पुरुष उसे प्राप्त कर लेता है"।

वस्तुतः व्यासभाष्य से ध्वनित अर्थ का भी संकेत महर्षि दयानन्द ने अपने भाष्य में कर दिया है। 'स्वरूपप्रतिष्ठा.....' इस का यह अर्थ है कि मुक्ति में अर्थात् प्रकृति के प्रकृत पदार्थों के सम्बन्ध से मुक्त चेतनशक्तिपुरुष परमात्मा के स्वरूप में ही अवस्थित हो जाता है। चित्तवृत्तिनिरोधकाल में भी पुरुष की

एव भवति, अस्मिन् शरीरे सत्यपि समाधौ सर्वाधारत्वात्तस्य।

ये त्वाधुनिकाष्टीकाकृतः 'द्रष्टुः' पदेन जीवात्मनो ग्रहणं कुर्वते तन्न समीचीनम्, व्यासभाष्यविरोधाद् उपरिनिर्दिष्टरूपेण। किञ्च, योगसिद्धान्ते न जीवात्मा क्वापि मुख्यद्रष्टाऽमन्यत, किन्तु बुद्धिसम्बन्धेनैव तस्य द्रष्टृत्वम्। यथा—'द्रष्टा दृशिमात्रशुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः' (योग० २।२०) ज्ञानस्वरूपपुरुषः स्वरूपेण शुद्धोऽर्थाद् अद्रष्टाऽपि सन् बुद्धिसम्बन्धेन द्रष्टा।

वेदेषूपनिषत्सु च मुख्यतया परमात्मा एव द्रष्टा निरूपितः। यथा—'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' (ऋ० १।१६४।२०) अर्थाद् जीवात्मपरमात्मनोश्चेतनत्वेन समानतायामपि जीवात्मा कर्मफलभोक्ता अन्यः परमात्मा साक्षी अर्थाद् द्रष्टा अस्ति। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृहदा० ३।८।११) इत्यत्राऽपि परमात्मा द्रष्टृपदेन अभिहितः। 'मुख्यामुख्ययोर्मुख्य एव कार्यसम्प्रत्ययः' इति न्यायेन द्रष्टुरिति पदे परमेश्वरस्यैवेह ग्रहणं न तु जीवस्य।

यदुच्यते—"परमेश्वराराधनेनाऽपि प्रत्यक्चेतनाधिगम एवेष्यते" इत्यपि वास्तविकतत्त्वानधिगमनादेव, प्रत्यक्चेतनाधिगमस्याऽपि फलं परमाराध्याधि-

---

स्थिति परमात्मा में होती है। इस शरीर में भी समाधि की यह दशा है। परमात्मा तो सर्वाधार है।

जो आधुनिक टीकाकार 'द्रष्टुः' पद से जीवात्मा का ग्रहण करते हैं, वह ठीक नहीं; क्योंकि यह कथन व्यासभाष्य से विरुद्ध है, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया है। योगसिद्धान्त में जीवात्मा को कहीं भी मुख्य द्रष्टा नहीं माना गया है; किन्तु बुद्धि के सम्बन्ध से द्रष्टा माना गया है। जैसा कि—'द्रष्टा दृशि ...' (योग २।२०) अर्थात् ज्ञानस्वरूप पुरुष अपने स्वरूप से शुद्ध अर्थात् अद्रष्टा हुआ भी बुद्धि के साथ सम्बन्ध से द्रष्टा है।

वेद और उपनिषदों में मुख्यतया परमात्मा को ही द्रष्टा निरूपित किया है। जैसा कि 'द्वा सुपर्णा सयुजा...' (ऋ० १।१६४।२०) अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा चेतनरूप में समान होते हुए भी जीवात्मा फल का भोक्ता है और परमात्मा साक्षी अर्थात् द्रष्टा है। (बृहदा० ३।८।११ में) उस परमात्मा से भिन्न दूसरा कोई नहीं है। अतः 'मुख्यामुख्यन्याय' से 'द्रष्टुः' पद से यह परमेश्वर का ग्रहण होगा, जीव का नहीं।

यह कहना भी ठीक नहीं कि "परमेश्वर की आराधना से आराधक अपने ही स्वरूप की अभिव्यक्ति मांगता है; क्योंकि प्रत्यक् चेतना के अधिगम का फल

https://t.me/Dharmasamrat

गमस्य परमात्मनो लक्षितत्वात् । तथा चोक्तं यत्तु—'स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते' (यो० भा० १।२८) ।

पृ० १३५३, पं० १—'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' (यो० १।४) इति सूत्रव्याख्याने गदितम्—'इतरसांसारिकव्यवहारे प्रवृत्तेऽप्युपासकस्य योगिनः शान्ता धर्मरूढा विद्याविज्ञानप्रकाशा सत्यतत्त्वनिष्ठा तीव्रतीव्रा साधारणमनुष्यविलक्षणाऽपूर्वैव वृत्तिर्भवतीति। नैवेदृशी अनुपासकानामयोगिनां कदाचिद् वृत्तिर्जायते' इति तदेतदुन्मत्तप्रलपितम्, सूत्राक्षरप्रकरणाद्यसङ्गतेः । इतरत्र व्युत्थानकाले पुरुषस्य वृत्तिसारूप्यमेवेहोक्तम् ।" इति ।

तदप्यविचारजन्यम्, महर्षिव्यासभाष्ये अन्तर्हिताभिव्यञ्जितस्य भावस्य स्वामिनोहितत्वात् 'अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः' इत्युक्त्यनुस्मृतेः । तत्तात्पर्यं पूर्वं स्पष्टमधीयताम् ।

व्यासभाष्यं हि—"व्युत्थाने याः चित्तवृत्तयः तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः"

परमाराध्य परमेश्वर की प्राप्ति है" । कारण यह है कि आनन्दस्वरूप परमेश्वर ही लक्षित है। कहा भी है कि—'स्वाध्याय और योग की सम्पत्ति से परमात्मा का प्रकाश होता है ।

आक्षेप—पृ० १३५३, पं० १—'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' (योग० १।४) इस सूत्र की व्याख्या में स्वामी दयानन्द ने कहा है—'उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होता है, तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्ष, शोकरहित आनन्द से प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्दयुक्त रहती है और संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा हर्ष-शोकरूप दुःखसागर में डूबी रहती है । उपासक योगी की तो वृत्ति ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढ़ती रहती है और संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा अन्धकार में फंसती जाती है।' यह सारा कथन भी पागलों के प्रलाप जसा है । सूत्राक्षर प्रकरणादि से असङ्गत है । वास्तव में इस सूत्र में व्युत्थान दशा में पुरुष की वृत्तियों की सदृशता का ही प्रतिपादन किया गया है "

समाधान— तुलसी बुरा न मानिये जो गंवार कह जाय' इस उक्ति के परिप्रेक्ष्य में हम भी आपके इस उन्मत्त प्रलाप का बुरा नहीं मानते; क्योंकि सदा लम्पट संसारी वृत्तियों में फंसे रहने के कारण आपको कभी योगरहस्य समझने का जीवन में अवसर ही नहीं आया। आप इस विषय में एक प्रकार से गंवार या अनभिज्ञ हैं ।

महर्षि व्यास के भाष्य में अन्तर्हित ध्वनित भाव का स्वामी दयानन्द ने

इत्यादि तत्स्पष्टप्रतिपत्तिरेषा । यस्मिन् काले चित्तमेकाग्रं निरुद्धं वा न भवति किन्तु व्युत्थानदशां प्राप्नोति, तस्मिन् काले तप्तलोहितपिण्डवद्बुद्धितादात्म्यसम्बन्धावस्थायां चक्षुरादिद्वारा बाह्याभ्यन्तरविषयेषु यद्यद् विषयाकारस्य चित्तस्य वृत्तीनामुदयो भवति तस्मिन् समये विवेकग्रहाभावाद् अहं तद्वृत्तिकोऽस्मीति इत्येवं पुरुषः स्वस्मिन्नारोपयति अर्थाद् बुद्धिवृत्तिसमानाकारं धारयन् प्रतीयते । तात्पर्यमदो यत् पुरुषो व्युत्थानकाले बुद्धिवृत्तिसमानवृत्तिको भवति । इति ।

अत्र इदमपि ध्यातव्यं यद् बुद्धिवत् पुरुषस्य न काऽपि वृत्तिः केवलं बुद्धेः सामीप्येन पुरुषो बुद्धौ प्रतिबिम्बितो भवति । प्रतिबिम्बितपुरुषे बुद्धिवृत्तीनां छायापतनेन पुरुषोऽविवेककारणात् ताः स्वस्वरूपे आरोपिताः कृत्वा स्वीयवृत्तीरेव मनुते एतदविकलमाकलय्य भगवान् भाष्यकारः प्राह—'व्युत्थाने याश्च वृत्तयः तदविशिष्टवृत्तिः पुरुष' इति । अत्र 'व्युत्थाने याः' इति पदे स्वाभाविकः प्रश्न उद्भवति यत्किं व्युत्थानकाले योगिनामयोगिनां वा सांसारिकव्यवहारे प्रवृत्तौ समानवृत्तयो भवन्ति अथवा असमाना विलक्षणा वा भवन्ति ।

तदेतत् समाधानं स्वत आयाति यत्स्वामिदयानन्देन (वृत्तिसारू०) सूत्र-

---

ऊहन किया है; क्योंकि सदसद्विवेकी जन अनुक्त का भी ऊहन कर लेते हैं । यथा व्यासभाष्य—जिस काल में चित्त एकाग्र या निरुद्ध नहीं, किन्तु व्युत्थान को प्राप्त है, उस काल में तप्त लोहपिण्ड की भांति बुद्धि का तादात्म्यसम्बन्ध बने रहने से चक्षुरादि के द्वारा बाह्य तथा आभ्यन्तर विषयों में जिस-जिस विषयाकार चित्त की वृत्तियों का उदय होता है, उस समय विवेकग्रहण के अभाव से 'मैं उस वृत्तिवाला हूं' इस प्रकार पुरुष अपने में आरोपित करता है, अर्थात् बुद्धिवृत्तिसमानाकार को धारण करता प्रतीत होता है । तात्पर्य यह है कि पुरुष व्युत्थानकाल में बुद्धिवृत्ति के समानवृत्तिवाला होता है ।

यहां पर यह भी समझ लेना चाहिए कि बुद्धि के समान पुरुष की कोई वृत्ति नहीं; केवल बुद्धि की समीपता से पुरुष बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है । प्रतिबिम्बित पुरुष मे बुद्धिवृत्तियों की छाया गिरने से पुरुष अविवेक के कारण उन वृत्तियों को अपने स्वरूप में आरोपित कर लेता है और उन्हें अपनी ही वृत्ति मानता है, इस अविकल भाव को भगवान् भाष्यकार ने उक्त उद्धरण में ध्वनित किया है, भाष्यकार की उक्ति पर स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि क्या व्युत्थानकाल में योगी या अयोगियों की सांसारिक व्यवहारप्रवृत्ति में समान वृत्तियां होंगी अथवा असमान या विलक्षण होंगी ।

इसी का समाधान स्वामी दयानन्द ने अपने भाष्य में यहां दिया है कि

https://t.me/Dharmaccsnet

भाष्ये दत्तम् । यत् 'उपासकस्य योगिनः शान्ता धर्माऽऽरूढा विद्याविज्ञानप्रकाशा सत्यतत्त्वनिष्ठा तीव्रतीव्रा साधारणमनुष्यविलक्षणा अपूर्वैव वृत्तिर्भवति ।' इदं हि भगवद्व्यासभाष्यस्यापि पूरकं भाष्यं न तु विरोधि, इति नीरक्षीरविवेकिनोऽपक्षपाता विपश्चितो निश्चित्य जानन्त्येव । व्युत्थानं त्वयोगिनो यत्र भ्रमजन्यं सारूप्यम् ।

टिप्पणीकारमधिक्षिपन् यदात्थ—'तदपि मूढजनजल्पितमेव' इति, तत्किं नैतद् विक्षिप्तवृत्तिसुलभम् । किं भवत एष पक्षः श्रेयान् यद्विदुषोऽपि भवतो वृत्तय उन्मादोन्नदनगर्वितप्रमत्तस्येव समानाः । अत एव तथाविधजनसुलभाविवेकपूर्वमवाच्यवादांश्च वदति । परमृषिदयानन्दस्तु साधारणजनविलक्षणत्वं योगिनो मन्यमानो यथायथं पात्रापात्रविचारं ब्रवीति । एवं भूमिकोक्तमखिलं सूत्रप्रकरणादिसङ्गतमेवेति सिद्धम् । व्युत्थाने हि क्लिष्टवृत्तयो ज्ञानमधर्ममनीश्वरतां प्रत्युन्मुखीकर्तुं प्रभवन्ति ।

पृ० १३५३, अनु० २—यदाह—"वृत्तयः पञ्चतय्यः……' (योग० १।५) इति सूत्रमप्युद्धृतानि । व्याख्यानमेषां न कृतमित्येव शोभनम्" इति, अत्र ध्वन्यतेऽनेनान्यथा तद्व्याख्यानवस्त्रकर्त्तनाय श्रीकरपात्रस्य कुतर्कमतिकर्त्तरी सन्नद्धैवाऽऽसीत् । तदुत्तरे एतदेव विलिख्य विरमामि यद्यमपि तदखर्वगर्वं खर्वीकर्तुं निर्मलां वृत्तिमादाय समुत्साहभरं निर्भरं विशुद्धानन्दमादधानस्ते वासः कर्त्तनप्रयासं विफलीकर्तुं कुटिलकर्मकरणनिपुणं करं पक्षपात-पक्षाघातहतं साधयन् तन्मतिमगतिकां कुतर्कगतिकां सतर्कयुक्तिप्रमाणपरिगतनिशितशराऽऽघातैः कुण्ठितां विधातुमद्योद्यत उदितो मुदितः ।

पृ० १३५३, पं० ११—यदलेखीत्—"अतिप्रसिद्धत्वात् प्रमाणानां भेदनिरूपणे नैव गतार्थत्वाल्लक्षणस्य न पृथग् लक्षणं कृतम्" इत्येवातिशोभनं कृतम्, अन्यथा पूर्वकृतानार्षप्रत्यक्षलक्षणखण्डनवत् (वेदार्थकल्प० पृ० ३३७) पुनरपि तन्मतखण्डनीयताविषयमापतिष्यत् ।

महाशय! एषां सूत्राणां सरलतया साधारणेनाऽपि अवगम्यमानत्वाद् व्याख्यानं न कृतमृषिणा । भवता किं नाम मौलिकमाटीक्यते केवलं पारिजात-कलेवरस्थौल्यवर्धनायानुक्रियते । यथा हि भवतः सर्वाक्षेपा अपि घनश्यामादीनामारोपाणां

उपासक योगी की शान्त, धर्मारूढ आदि वृत्ति होती है । स्वामीजी का यह कथन व्यासभाष्य का पूरक है, विरोधी नहीं। इस बात को नीरक्षीरविवेकी पक्षपातरहित विपश्चित् लोग निश्चित करके जानते ही हैं । व्युत्थानता अयोगी की दशा भ्रमजन्य सारूप्य है ।

आप टिप्पणीकर्ता पर भी आक्षेप करते हुए कहते हैं कि वह भी मूढजनजल्पित ही है, तो क्या आपका यह कथन विक्षिप्तजनवृत्ति से सुलभ क्यों न माना जाय ? आपने योगी व सामान्य मनुष्य की उक्त भिन्न वृत्तियों पर आक्षेप किया है, तो हम आप से पूछते हैं कि आप की और उन्माद से उन्नदन करनेवाले गर्वित प्रमत्त की वृत्तियां समान ही होंगी ? इसीलिए उस प्रकार मनुष्यों से सुलभ अविवेकपूर्वक अवाच्य शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं । परन्तु योगी ऋषिदयानन्द ने तो योगिजन की साधारण जन से विलक्षणता बतायी है और पात्र-अपात्र का विचार करके कहा है । इसलिए हम करपात्र पर विचार कर रहे हैं । इस प्रकार भूमिका का समस्त लेख सूत्र-प्रकरण आदि से संगत ही है । व्युत्थान में क्लिष्ट वृत्तियां ज्ञान को अधर्म और अनीश्वरता की ओर उन्मुख करने में समर्थ हो जाती हैं, जैसे आपकी हैं ।

पृ० १३५३, अनु० २—'वृत्तयः पञ्चतय्यः……' (योग० १।५) इत्यादि का व्याख्यान नहीं किया, यही अच्छा रहा ।"

इस लेख में पारिजातकर्ता का आशय यह ध्वनित होता है, कदाचित् स्वामी दयानन्द ने अपना व्याख्यानरूप वस्त्र बुना होता तो इसकी कुतर्कमतिरूप कर्तरी (कैंची) काटने को सन्नद्ध ही थी । इसके उत्तर में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि हम भी उस अखर्व गर्व को चूर्ण करने को हाथ को साधते हुए, कुतर्क में गतिशील उनकी मति को अगतिक तथा उतम तर्क युक्ति और प्रमाणों से युक्त व तीक्ष्ण बाणों की वृष्टि-घातों से कुण्ठित करने के लिए आज उद्यत, तैयार और प्रसन्न बैठे हुए हैं ।

पृ० १३५३, पं० ११—आपने लिखा है कि "प्रमाण अत्यन्त प्रसिद्ध है, अतः उनका यहां अलग-अलग लक्षण न बता केवल उनके नामों का निर्देश कर दिया गया है" यह भाग्य ने अच्छा ही किया, अन्यथा जैसे पहले आप ने प्रत्यक्ष का अनार्ष लक्षण उद्धृत किया था, जिसका हमें 'वेदार्थ कल्पद्रुम' पृ० ३२७ पर खण्डन करना पड़ा, वैसे ही अब भी खण्डन करना पड़ता । चलो, इस प्रक्रिया से हम भी बचे ।

महाशय ! 'वृत्तयः पञ्चतय्यः……' आदि सूत्रार्थ सरलता से सामान्य जन द्वारा भी जाना जा सकता है, अतः ऋषि ने व्याख्यान नहीं किया । आप अपनी ओर भी तो दृष्टिपात कीजिये कि क्या कभी कोई मौलिक बात सोच पाते हैं ? केवल पारिजात को मोटा बनाने के लिए महीधरादि की नकल उतार देते हैं । जैसे आपके ग्रन्थ के प्रायः सभी आक्षेप घनश्याम आदि के आरोपों के कुछ

https://t.me/Dharmasindhu

किञ्चित् परिवर्त्य पुरातनमद्यस्य नूतनकाचकूपिकासु धृत्वा आवृत्तिमात्रमापादिताः। काले मया पृथगेव ग्रन्थः प्रथयिष्यते यत्समस्तमपि स्रस्तमन्येभ्य इह समाहृतं भवता।

पृ० १३५५, ८ मपङ्क्तौ यदुच्यते—"आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच। व्यासभाष्यमिदं कथमिव तत्सिद्धान्तसङ्गतम्? आदिविद्वानत्र विष्ण्ववतारभूतः कपिलमुनिर्विवक्षितः। स च जिज्ञासमानायाऽसुरये उपदिदेश।" इति, तत्तु रूढानुगतं कपोलकल्पितं कालान्तरे।

वस्तुतस्तु प्राणशरीरवियोगरूपनित्यप्रलयस्य सर्वपदार्थानां कारणलयरूपमहाप्रलयस्य उपरिगतसन्दर्भमनुसृत्य 'निर्माणचित्तमधिष्ठाय' इति पाठेन पुनः सृष्टिकर्तुः परमेश्वरस्यैव 'आदिविद्वान्' शब्देन 'जिज्ञासमानाय आसुरये' इत्यनेन जीवाय तत्त्वेन इत्यर्थस्यैव ग्रहणं कर्तुं युज्यते। न तु कपिलमहर्षेरासुरिनामधेयस्य वा कस्यचित्, वेदाऽप्रमाणितस्यावतारवादस्य सर्वथाऽसिद्धत्वात्। ईश्वरावतारं मन्यमानैरेतद् व्यासभाष्ये ध्यानं विशेषतयाऽवधेयम्—

"ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ताः, ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न

परिवर्तन के साथ 'पुरानी शराब को नयी बोतल में प्रस्तुत करने के समान' आवृत्तिमात्र हैं। हम इस विषय पर कदापि पृथग् ग्रन्थ ही लिखेंगे यह दर्शाने को कि आपने यह मोटा पोथा प्रायः औरों की नकल से संचित किया है।

पृ० १३५५, पं० ८—"आदिविद्वान् भगवान् परमर्षि कपिल ने करुणावश निर्माणचित्त में अधिष्ठित होकर जिज्ञासु शिष्य आसुरि को इस शास्त्र का उपदेश किया। व्यासभाष्य की यह बात दयानन्द के मत से कैसे ठीक मानी जा सकती है? आदि विद्वान् के नाम से यहां विष्णु के अवतार कपिलमुनि का ग्रहण आप द्वारा किया जाता है। उसने जिज्ञासु आसुरि को शास्त्र का उपदेश किया।" व्यासमहर्षि के शब्दों पर रूढानुगत कपोलकल्पित यह गाथा कालान्तर में रच ली गयी।

वास्तव में प्राण और शरीर के वियोग के प्रवाहमय नित्यप्रलय और सब पदार्थों के कारणों में लयरूप महाप्रलय के उपरिगत सन्दर्भ में 'निर्माणचित्तमधिष्ठाय' इस पाठ से पुनः सृष्टि करनेवाले परमेश्वर का ही 'आदि विद्वान्' शब्द से ग्रहण और जिज्ञासमान आसुरि अर्थात् 'जीव के लिए' यही अर्थ ग्रहण करना युक्त है। कपिल महर्षि या आसुरिनामक शिष्य अर्थ तो कालान्तर में गढ लिये गये; क्योंकि वेद के द्वारा अवतारवाद असिद्ध है। अवतारवाद के माननेवालों को विशेषरूप से इस व्यासभाष्य को देखना चाहिये—

"वे जीवात्मा ही कारण, सूक्ष्म, स्थूल उन तीन बन्धनों को काटकर कैवल्य

भूतो न भावो, यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः।...तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तं न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते। यदेवातिशयि स्यात् तदेव तत्स्यात्। तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य।" (योग० १।२४)।

पृ० १३५६—यदुक्तम्—'प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्' (योग० १।४७) इति सूत्रव्याख्याने—"अनन्ते नागनामके स्थिरफणासहस्रविधृतविश्वम्भरामण्डले समापन्नं चित्तमासनसिद्धिहेतुः" इति तु सूत्रभाष्यविरुद्धत्वादसङ्गतम्। अनन्तो हि भगवान् यः सर्वाधारभूतः प्रलयानन्तरमपि शिष्यते स हि शेषोऽनन्तश्च कथ्यते, स एव विश्वम्भरामण्डलं धारयति 'स दाधार पृथिवीं द्यु'इत्यादिप्रमाणात्। न तु कश्चिन्नागविशेषः सर्पशरीरधारी इति।

को प्राप्त हो गये। ईश्वर का उसका सम्बन्ध न हुआ और न होगा। जैसे मुक्त पुरुष की पूर्वबन्ध कोटि सम्भावित है, इस प्रकार ईश्वर की नहीं। सदैव मुक्त अर्थात् वह त्रिविध शरीरों से सम्बन्ध कभी नहीं रखता। जैसे मुक्ति को प्राप्त हुए मनुष्य की प्रथम बन्धनमुक्त अवस्था जानी जाती है; परन्तु ईश्वर में बन्धकोटि प्रतीत नहीं होती। तथा जैसे प्रकृतिलीन योगी की योगावस्था के पश्चात् बन्धकोटि निश्चित की जाती है, ईश्वर की ऐसी नहीं, वह सब काल में बन्धनरहित है, किसी काल में उसका ऐश्वर्य नष्ट नहीं होता।"

पृ० १३५६—'प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्' (योग० १।४७) इस सूत्र के व्याख्यान में आप कहते हैं कि "नागों के राजा अनन्त (शेषनाग) के हजार फणों पर यह सारी पृथिवी अत्यन्त स्थिररूप से विराजमान है। इसमें चित्त को लगा देने पर आसन स्थिर हो जाता है।"

यह पारिजातकर्ता का कथन सूत्र तथा व्यासभाष्य से विरुद्ध होने से ऊटपटांग है। धन्य है आपकी विचित्र मति, जो आज भी इस वैज्ञानिक युग में शेषनाग पर पृथिवी को रखा हुआ मान रही है। महाशय! कभी तो ऋषियों के अनन्त और शेषनाग आदि शब्द का मनन व चिन्तन किया होता। अनन्त नाम अन्तरहित भगवान् का है तथा उसी को शेष भी कहते है, अर्थात् जो सबका आधार है और प्रलय के बाद भी प्रलीन न हो, वह शेष है। वही अनन्त अर्थात् देश-काल-वस्तु-परिच्छेदशून्य शेष ब्रह्म है। वह विश्वम्भरा मण्डल को धारण करता है। यथा—'स दाधार पृथिवीम्.....'। कोई नाग (सर्प) विशेष पृथिवी का धारण नहीं करता।

https://t.me/DharmaSamrat

पृ १३५७, अनु० १ – यच्चोच्यते—"तस्मिन् सति ....' 'बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः' इत्यत्र पूर्वं यदुक्तं स्थिरीकृत्य गत्यभावकरणं प्राणायामः, तन्न, गत्यभावस्य स्थिरीकरणानतिरिक्तत्वात्।"

तत्रायमाशयो यद् यदा हि कश्चित् साधकः प्रथमं प्राणायाममभ्यस्यति तदा कुम्भकानन्तरं श्वासप्रश्वासयोरस्वाभाविकी तीव्रगतिर्जायते, एवं शनैः शनैः जयेत् तां गतिमर्थाद् यदा स्थिरता अर्थाद् रेचकपूरकयोः कुम्भकेऽपि व्याकुलताऽनुभवो निवर्तेत तदेति। 'गत्यभावः' इत्यस्याप्ययं भावः। कृत्रिमगतेरभावत्वे स्वाभाविकापादनम्। एतदाशयगाम्भीर्यसूक्ष्मता नाऽयुक्तमलिविषया।

अनु० २—यदुक्तम्—"बालबुद्धिभिरङ्गुल्यङ्गुष्ठाभ्यां नासिकाछिद्रमवरुध्य यः प्राणायामः क्रियते स शिष्टैस्त्याज्य एवास्ति' इति, तदपि बालभाषितम्"

पृ० १३५७, अनु० २ –"तस्मिन् सति ..... ' इस सूत्र के प्राणायाम का स्वरूप बताया है। बाहरी वायु को भीतर खींचने का नाम श्वास और भीतरी वायु को बाहर निकालने का नाम प्रश्वास है। श्वास और प्रश्वास की स्वाभाविक गति को रोक देना ही प्राणायाम है। इस सूत्र के बाद 'बाह्याभ्यन्तर' इस सूत्र से पहले दयानन्द ने कहा है कि श्वास और प्रश्वास की गति को जीतना अर्थात् स्थिर करके गति का अभाव करना प्राणायाम है, यह कथन गलत है; क्योंकि गति का अभाव या स्थिर करना एक ही बात है।"

इस लेखक का उक्त कथन अविचारजन्य है, क्योंकि इसने ऋषि के आशय को ठीक रूप में नहीं समझा। यहां पर ऋषि का एक-एक शब्द अनुभव की कसौटी पर कसा हुआ अर्थवान् है। उनका आशय है कि आरम्भ में जब कोई साधक प्राणायाम का अभ्यास करता है, तो कुम्भक के अनन्तर वेग से श्वास या प्रश्वास में अस्वाभाविक तीव्र गति हो जाती है। इस प्रकार धीरे-धीरे उस तीव्र गति को अभ्यास से जीते अर्थात् जब श्वास और प्रश्वास के चलने में स्थिरता आ जावे अर्थात् रेचक और पूरक में कुम्भक करने के बाद या पूर्व में श्वास लेने या निकालने की शीघ्र गति का अभाव हो जावे यानी व्याकुलता की अनुभूति न होवे। 'गत्यभाव' का भी यही आशय है कि कृत्रिम गति का अभाव हो, स्वाभाविकतया श्वास को लेने या छोड़ने में दीर्घता (काल की) आ जावे। इसीलिए ऋषि ने स्थिर करके गति-अभाव लिखा है। आपकी बुद्धि इस गम्भीर और सूक्ष्म आशय को नहीं समझ सकी।

पृ० १३५७, अनु० २—"बालबुद्धि लोग अङ्गुलि और अंगूठे से नाक के छिद्र रोक कर प्राणायाम करते हैं, उसे शिष्टपुरुष त्याग देवें" इस भूमिका के

इति। तन्नूनमननुष्ठितयोगाभ्यासस्यास्य वचनम्, यतो हि तथा नासाछिद्रावरोधे बलाच्च वायुधारणे हानेराशङ्काऽस्ति। न च योगशास्त्रसमनुशासितो विधिरेषः। इडापिङ्गलयोरेकैकयोरपि क्रमशः पूरणं रेचनं वा सम्भवत्येव। नाऽस्ति सन्देहोऽत्र (मम) परीक्षणानुभवात्। अथवा भाषायाम् 'नासिका को हाथ से कभी न पकड़े' इत्यस्य तात्पर्यं बलात् कुम्भकनिरोधं न कुर्यात्। नहि ग्रहणमेकयाऽङ्गुल्या एकेन वाऽङ्गुष्ठेन सम्भवति तदा नात्रेडापिङ्गलयोरभ्यासो निषिध्यत इति।

एतदग्रे 'किन्त्वत्र बाह्याभ्यन्तराङ्गेषु शान्तिशैथिल्ये सम्पाद्य' इति महत्त्ववद् वाक्यमिह।

चतुर्थप्राणायामविषये स्वामिदयानन्देनोक्तम्– तदेव साधुतरम्, तेन जीवने प्रयोगेणाभ्यासेन प्रत्यक्षीकृतत्वात्। तत्त्ववैशारदीकृतमतं तु तस्यैव, तथाविधप्राणा-

---

कथन को ही आप बालबुद्धिभाषित कह रहे हैं। इससे हम तथा अन्य योगाभ्यासी इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि करपात्रीजी प्राणायाम के ज्ञान वा आचरण की विधि से सर्वथा शून्य हैं; क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष है कि नासिका के छिद्रों को बलपूर्वक बन्द करके प्राणायाम से हानि की आशङ्का रहती है। प्राण के प्रच्छर्दन और विधारण स्वाभ्यास-लभ्य शक्ति से ही होना चाहिए न कि नासिका-छिद्रावरोध बलात् किया जावे। योगशास्त्र में नासिका-छिद्र बन्द करके प्राणायाम करने का कहीं विधान नहीं है। बिना अङ्गुलि लगाये हुए भी इडा या पिङ्गला नाडियों (सूर्य+चन्द्र) के अभ्यास के अनन्तर एक-एक का भी चालन हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। हमने भी इसी विधि का अभ्यास व परीक्षण किया है। अथवा 'नासिका हाथ से कभी न पकड़े' इसको 'पकड़ना' एक अङ्गुष्ठ या अङ्गुलि से दायें या बायें छिद्र का रोकना नहीं होकर 'बलात् दोनों नासिका-छिद्रों को बन्द करके हाथ के बल से रोकना' निषिद्ध किया है, तभी पकड़ना कहा जायेगा, जब दो ओर से हो। वैसे भी विशेष प्रक्रिया अर्थात् जिस स्वर को चालित करना चाहे, उस हाथ की मुट्ठी को विपरीत बगलपार्श्व में दबाकर कुछ मिनट लेट जावे तो वह स्वर चलने लगता है। किन्तु यहां पर 'बाह्य तथा आभ्यन्तर अङ्गों में शान्ति और शैथिल्य का सम्पादन करे' यह विधि अत्यन्त महत्त्व की है। ऋषि ने वर्षों योगसाधना की थी, अतः यह उनकी अनुभूत विधि है।

चतुर्थप्राणायाम के विषय में स्वामी दयानन्द का कहा हुआ ही ठीक है; क्योंकि उन्होंने अपने जीवन में प्रयोग और अभ्यास से इसकी प्रत्यक्षानुभूति की है। तत्त्ववैशारदी का मत तो तत्कर्ता का ही है, क्योंकि उन्होंने इस प्रकार

https://t.me/DharmaSamrat

यामस्य प्रकारस्य साधितत्वात्। ऋषिणा प्राणस्य सकृत् स्तम्भनीयत्वात् तृतीयः सम्यग् व्याख्यातः।

पृ० १३५८, अनु० २ यदुक्तम्—"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्' (योग० २।५२) तथा हि भाष्यम्—'एवं प्राणायामाभ्यासाद् यत् परमेश्वरस्यान्तर्यामिणः प्रकाशे सत्यविवेकस्यावरणाख्यमज्ञानमस्ति, तत् क्षीयते क्षयं प्राप्नोति' इति, तदप्ययुक्तम्, व्यासभाष्यप्रसङ्गे स्वव्याख्यानस्य भाष्यपदेनोल्लेखने व्यासभाष्यत्वभ्रमसम्भवात्। व्याख्यानमपि तन्न शोभनम्। परमेश्वरस्य प्रकाशे सतीत्यर्थस्य सूत्राक्षरबहिर्भूतत्वात्। 'प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म' इति व्यासभाष्यविरोधाच्च। इति, तन्निराधारवचनम्, व्यास-

---

प्राणायाम का अभ्यास किया था। ऋषि ने सकृत् स्तम्भनीय रूप में प्राणायाम का तृतीय प्रकार बताया है।

आक्षेप - पृ० १३५८, अनु० २—"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्' प्राणायामपूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का जो आवरण अज्ञान है, वह क्षीण हो जाता है' यह कथन (स्वामीजी का) अयुक्त है; क्योंकि व्यासभाष्य-प्रसङ्ग में दिया दयानन्दभाष्य व्यासभाष्य का भ्रम उत्पन्न करता है और यह इनका व्याख्यान भी शोभन नहीं है, क्योंकि 'परमेश्वर के प्रकाश होने पर' यह अर्थ सूत्राक्षर से बहिर्भूत और इसका योगभाष्य से स्पष्ट विरोध है कि 'प्राणायाम का अभ्यास करनेवाले योगी के विवेक-ज्ञान को ढक देनेवाले कर्म क्षीण हो जाते हैं'। यहां 'प्रकाश' पद से विवेकज्ञान का ग्रहण किया गया है और उसका आवरण डालनेवाला कर्म प्राणायाम है। स्वामी दयानन्द ने अविवेक का आवरण अज्ञान, ऐसा कहकर प्रकाश का अर्थ अविवेक कर दिया है और उसके आवरण को अज्ञान बताया है।

समाधान—यह उक्त बात भाष्य के ही विरुद्ध नहीं है अपितु सभी दार्शनिक सिद्धान्तों के भी विपरीत पड़ती है। आपका ऊपर का कथन निराधार व छल से पूर्ण है। ऋषि दयानन्द ने 'ततः' का अर्थ प्राणायामपूर्वक ईश्वरोपासना' किया है; क्योंकि प्राणायाम भी तो समाधि-सिद्धि के लिए ही (साधन) किया जाता है। केवल प्राणायाम (ईश्वरप्रणिधान से रहित) का शरीर मन के स्वास्थ्य स्थिर के अतिरिक्त कोई अन्य फल नहीं होगा। प्रणिधान के साथ तो मन का सत्त्वगुण बढ़ता रहेगा। इसीलिए कहा है 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' (योग० २।४५)। 'परमेश्वरस्य प्रकाशे सति' यह सन्धि-विच्छेद करना छल से पूर्ण है। शब्द है सत्य-विवेकस्य। आपने इसमें सति+अविवेकस्य अर्थ निकाला। जबकि हिन्दी में स्पष्ट है कि (सत्यस्य आत्मनः सत्यस्य वा विवेकस्य)

भाष्यस्य सर्वत्र उद्धरणचिह्नयोः 'रेतयोर्मध्य उद्धरणाल्लोचनवर्त्तां भ्रमस्यासम्भवात्, तद्धि इह प्रत्यक्षम्।

नेत्रप्रज्ञ! कदापि तु सत्यचिन्तनतक्षणघर्षणेन मतिं सूक्ष्मीकृत्य स्वप्रकाशावरणक्षयो विवेलिम एव। प्राणायामो हि योगस्य तुरीयाङ्गम्, द्वितीयाङ्गनियमेषु 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि' इति सूत्रेण ईश्वरप्रणिधानस्यानिवार्यत्वे प्रत्यंकाभ्यासे अन्तर्यामिणः परमेश्वरस्य स्वानुग्रहप्रकाश एवाविवेकस्यावरणस्य क्षयो जायते इत्येव साधकेन श्रद्धातव्यमिति भावः। न हि भाष्यविरोधोऽत्र।

पृ० १३५९, पं० ३ - यदप्युच्यते—"तत्र प्रकाशपदेन विवेकज्ञानमुक्तम्, तस्यावरणं कर्मोक्तम्। तथाविवेकज्ञानरूपप्रकाशस्यावरकं कर्म प्राणायामेन क्षीयते। ततो विवेकज्ञानरूपः प्रकाशः सम्पद्यते। दयानन्देन तु अविवेकस्यावरणाख्यमज्ञानमिति वदता प्रकाशपदेनाविवेको गृहीतः। तत् सर्वतन्त्रविरुद्धम्। परमात्मप्रकाशे

आत्मा सत्य के विवेक अर्थात् ज्ञान का आवरण। अतः स्वामी दयानन्द ने अविवेक का आवरण अज्ञान ऐसा कहकर प्रकाश का अर्थ अविवेक कर दिया, यह कथन नितान्त धृष्टता है।

हे नेत्रप्रज्ञ! कभी तो सत्य (शब्द के भी यहां पर) चिन्तनरूप तक्षण (छीलने) और संघर्ष से अपनी बुद्धि को सूक्ष्म करके प्रकाश (विवेक) के आवरण (अज्ञान) का क्षय कर लिया होता। प्राणायाम तो योग का चौथा अङ्ग है। द्वितीय अङ्ग नियमों में 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि' सूत्र से ईश्वरप्रणिधान की सदा अनिवार्यता रहने से प्रत्येक का अभ्यास में अन्तर्यामी परमेश्वर के अनुग्रहपूर्ण प्रकाश से ही अविवेक जो आवरण है, उसका क्षय हो जाता है, साधक को ऐसी श्रद्धा करनी चाहिये, यह ऋषि दयानन्द का आशय है।

पृ० १३५९, पं० ३—शङ्का—"यहां प्रकाश पद से विवेकज्ञान का ग्रहण किया गया है और उसका आवरण डालनेवाला कर्म प्राणायाम है।"

समाधान—इस टीकाकार की भी बुद्धि संग्रहालय में ही संचेय है, जो प्राणायाम को आवरण डालनेवाला कर्म बता रहा है और उसके साथ ही उस की पुष्टि करनेवाली आपकी बुद्धि भी, जो लिख रही है।

इस तरह विवेकज्ञान पर आवरण डालनेवाला कर्म 'प्राणायामेन क्षीयते' अर्थात् 'प्राणायाम करने पर भी क्षीण नहीं होता' विवेकज्ञानरूपी प्रकाश हो जाता है।

शंका—इसके विपरीत दयानन्द ने अविवेक का आवरण अज्ञान, ऐसा कहकर प्रकाश का अर्थ अविवेक कर दिया और उसके आवरण को अज्ञान बताया।

https://t.me/DharmaSamrat

सत्यविवेकस्यावरणे क्षीणेऽप्यविवेकस्यैवाभिव्यक्तिर्भविष्यति । भाष्ये तु विवेकज्ञानावरणीयं कर्मोक्तं नाज्ञानम् ।"

इति सर्वमस्य तदपि भ्रान्तिमत् 'प्रकाशे सत्यविवेकस्य' इत्यत्र 'सति अविवेकस्य' इति सन्धिविच्छेदस्य भ्रमं जनयतश्छलाचरणापादनात् । हिन्द्यां तु यत् सूर्यप्रकाशवत् स्पष्टम्– 'आत्मा के ज्ञान का आवरण अज्ञान नष्ट हो जाता है' । यद् व्यासभाष्ये 'क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म' तदाशयो न स्वामिनो भिद्यते, तदेवं बुद्धिसत्त्वप्रकाशस्य विवेकज्ञानस्य प्रतिबन्धका विद्यादिक्लेशास्तन्मूलकपापमेवावरणम्, तद्धि अज्ञानमूलम् । निर्मलोक्तिरेषाऽत्र घटते—

पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिराम्, माहीधरीमुन्मदाः,
निर्बन्धान्धमतिं त्यजन्ति न च येऽधीतं वृथाभाषितम् ।
यद्येतन्न तु जीवनं छलभृतं पाण्डित्यदम्भेन किम् ?
किं वा गैरिकवस्त्रधारणधियाऽऽलोकक्षयं कुर्वता ? ।।

सत्यविवेकसन्धिविच्छेदप्रवीण ! 'स्थिरसुखमासनम्' 'ततो द्वन्द्वानभिघातः'

परमात्मप्रकाश योगी के चित्त में होने पर भी और अविवेक का कारण क्षीण हो जाने पर भी अविवेक की ही अभिव्यक्ति होगी जब कि भाष्य में विवेकज्ञान आवरणीय कर्म बताया है ।

समाधान- यह सब आपका भ्रम है—'प्रकाशे सत्य + विवेकस्य' यहां पर 'सति + अविवेकस्य' सन्धिविच्छेद कर आप अपनी मति का अविवेक प्रकट कर रहे हैं और दूसरे को भ्रान्त करके छलावरण कर रहे हैं । हिन्दी में भी 'आत्मा के ज्ञान का आवरण अज्ञान' स्पष्ट है । ऋषि दयानन्द का भाष्य महर्षि व्यास के भाष्य से कदापि भिन्न नहीं है । सो इस प्रकार बुद्धिसत्त्व अर्थात् विवेकज्ञान की प्रतिबन्धिका विद्यादि क्लेश और तन्मूलक पापकर्म ही आवरण है, जिसे अज्ञान कहते हैं । आपका कथन तो अवश्य भाष्य के विपरीत ठहरता है । यहां यह निर्मलोक्ति घटित हो रही है—

सच है कि आप सब के सब महीधरादि भाष्य की मोहमयी मदिरा को पीकर उन्मत्त हो रहे हैं जो कि इस दुराग्रह अन्धमति का त्याग नहीं करते, इनका पढ़ना-पढ़ाना ही निरर्थक हो गया । अगर इनका यह सारा जीवन छल से भरा हुआ रहा तो इस थोथे पाण्डित्य-दम्भ से क्या होगा ? और गेरुए वस्त्र धारण करनेवाली बुद्धि जो कि प्रकाश का क्षय कर रही है, वह भी व्यर्थ है ।

सत्यविवेक के सन्धिविच्छेद में प्रवीण ! आपको भाष्य में भ्रम की सम्भावना नहीं करनी चाहिए । ऋषि दयानन्द ने जहां-कहीं भी व्यासभाष्य उद-

'धारणासु च योग्यता मनसः' इत्यादिष्वपि उद्धरणचिह्नयोः ' ' मध्य उद्धृतत्वाद् व्यासभाष्यस्य, भाष्ये भ्रमसम्भावनयाऽऽत्मम् । अत्र स्मृतिवर्त्मावतरति निर्मलोक्तिर्या भवन्तं नवीनवेदान्तिनमभिलक्षयते—

ब्रह्मण्यस्य भ्रमो जातो योऽप्यस्ति भ्रमसम्भवः ।
पोषणं च भ्रमेणैव भ्रामकस्य भ्रमः फलम् ।।

आक्षेपः—पृ० १३५९, पं० १२ –"धारणासु च योग्यता मनसः' (योग० २।५३) । भाष्यम्—प्राणायामाभ्यासादेव प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्येति वचनात्, अर्थात् प्राणस्य प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां मनः स्थितिपदं लभत इत्यर्थकसूत्रानुरोधात् प्राणायामाभ्यासान्मनसो धारणासु योग्यता सम्पद्यते । यत्त्वत्रैव दयानन्देन प्राणायामानुष्ठानेनोपासकानां मनसो ब्रह्मध्याने सम्यग् योग्यता भवतीत्युक्तम्, तदप्यशुद्धमेव, व्याख्येयसूत्रविरोधात् । सूत्रे तु धारणासु योग्यतोक्ता न ध्याने । न चोभयोरैक्यं शङ्कनीयम् । धारणाध्यानयोर्लक्षणभेदेन भिन्नत्वात् ।" इति ।

समाधानम् तदपि बुद्धिविरहितम्, यमनियमप्राणायामादीनां लक्ष्ये

धृत किया है—जैसे 'स्थिरसुखमासनम्' आदि सूत्रों पर, वहां सर्वत्र ' ' इन उद्धरण चिह्नों का प्रयोग किया है । यहां भ्रम का कोई गुञ्जावकाश (गुञ्जायश) नहीं है । यहां निर्मलोक्ति याद आ रही है, जो आप जैसे नवीन वेदान्ती को लक्षित कर गयी है—

(ब्रह्मण्यस्य = ब्रह्मणि + अस्य) इसको ब्रह्म में भ्रम हुआ, जो स्वयं भ्रम से ही पैदा हुआ है, तथा जिसका भरणपोषण भी भ्रम से ही हुआ है । ऐसे लोगों को भ्रम में डालने का फल भी भ्रम ही होगा ।

आक्षेप—पृ० १३५९, पं० १२—"धारणासु—·· ····· ' इस सूत्र के अर्थ में दयानन्द ने 'प्राणायाम के अनुष्ठान से उपासक का मन भली भांति ब्रह्म की आराधना के योग्य हो जाता है' यह अर्थ किया है, जो सर्वथा अशुद्ध है, क्योंकि सूत्र के साथ स्पष्ट विरोध है । सूत्र में तो बताया गया है कि इसका अभ्यास करने से चित्त धारणा के लिए समर्थ हो जाता है । इसमें ध्यान का कहीं उल्लेख नहीं है । धारणा और ध्यान को एक नहीं माना जा सकता; क्योंकि धारणा और ध्यान भिन्न हैं ।"

समाधान—उक्त कथन बुद्धिविरुद्ध है । आपके मन पर तो असङ्गति, अशुद्धि और भ्रम की रील चढ़ी हुई है । बस घूम के वहीं आती है । महोदय ! यम-नियम-आसन और प्राणायाम आदि लक्ष्यभूत ब्रह्म में ही पर्यवसित होते हैं ।

https://t.me/DhanraSamrat

ब्रह्मण्येवावसीयमानप्रयोजनत्वात्। न हि व्यायामादिकशारीरिकस्वास्थ्यसम्पादने एवं शिष्टानां मते पर्यवसीयते, तावत्तु लुण्टनादिकार्यपटुष्वपि लभ्यमानत्वात्। एतद् व्यवसायमवसायं वोच्यते 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्'। यथा सैनिकानामपि प्रात्यहिकशरीरव्यायाम एव लक्षिते राष्ट्ररक्षायाः परमप्रयोजन-लक्ष्यत्वात्।

तथैवेह सर्वेषां योगाङ्गानां क्रमश उत्तरोत्तरयोग्यतासम्पादनस्यापि परम-लक्षितब्रह्मण्येव परिनिष्ठितत्वान्नैव सूत्रविरोधः; प्रत्युत सूत्रभाष्यपरिष्कार एव। यथा हि न्यायशास्त्रे 'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगम्' इत्यात्मनो लक्षणं कृतम्। आत्मा च जीवेश्वरभेदतो द्विधा तत्रैव व्याख्यानं न सूत्रविरोधि, यन्नित्यज्ञानेच्छाप्रयत्नवानीश्वरः, अनित्योक्तत्रिकेण सह सुखदुःखद्वेषवान् जीव इति।

तथैवेहापि स्वामिना एतेन योगाङ्गसाधनानामेकैकस्य कस्यापि सिद्धौ अप्राप्य ब्रह्मप्राप्तेः पूर्वं नोपरतिर्विधेयेत्यपि स्मारितम्। किं भवान् स्वाम्यर्थविरोध एतत्कथयितुं दुःसाहसं धारयति यत् प्राणायामानुष्ठानेन ब्रह्मध्याने योग्यता न

यही उनका रमणादि का प्रयोजन है। शिष्ट पुरुषों के व्यायाम आदि केवल शारीरिक स्वास्थ्य के लिए ही नहीं होते, अपितु स्वस्थ शरीर के द्वारा उत्तम कर्म किये जाना प्रमुख लक्ष्य है; क्योंकि अशिष्ट लुण्टन आदि के लिए भी शरीरपुष्टि करते देखे जाते हैं। बस यही समझकर कहा जाता है कि धर्मादि के लिए आरोग्य उत्तम मूल है, जैसे सैनिकों का भी दैनिक व्यायाम (परेड) राष्ट्ररक्षा के परम प्रयोजन के लिए अभिलक्षित है।

उसी प्रकार यहां पर भी स्वामीजी की दृष्टि में योगाङ्गों की क्रमशः उत्तरोत्तर योग्यता का सम्पादन का भी परम लक्षित ब्रह्म में ही परिनिष्ठता है, अतः ऋषि के कथन से कहीं विरोध नहीं, बल्कि विषय की स्पष्टता हो जाती है। जैसे न्यायशास्त्र में इच्छा-द्वेषादि आत्मा का लक्षण किया गया है और आत्मा के जीव तथा ईश्वर दो प्रकार हैं। वहां पर यह व्याख्यान करना सूत्र का विरोध कदापि नहीं है कि नित्य ज्ञान इच्छाप्रयत्नवाला ईश्वर है। और अनित्य उक्त त्रिक (ज्ञानादि) के साथ सुख दुःख-द्वेषवाला जीव है। उसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये।

स्वामीजी ने उक्त कथन में कि प्राणायाम से उपासकों के मन की ब्रह्म के ध्यान में सम्यग् योग्यता हो जाती है, योग के अङ्गों का प्रत्येक या एक की सिद्धि होने पर अप्राप्य ब्रह्म की प्राप्ति से पूर्व उपरम नहीं करना चाहिये—यह भी संकेत कर दिया। क्या आप स्वामीजी के अभीष्टार्थ के विरोध में यह कहने का दुःसाहस कर सकते हैं कि—प्राणायाम के अनुष्ठान से ब्रह्मध्यान में योग्यता नहीं

जायते ? वस्तुतस्तु जायत एव।

पृ० १३६०, अनु० १—"स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' (योग० २।५४) इति भाष्यम्—'यदा चित्तं जितं भवति परमेश्वरास्मरणालम्बनाद् विषयान्तरे नैवं गच्छति, तदेन्द्रियाणां प्रत्याहारोऽर्थान्निरोधो भवति। कस्य केषामिव ? यथा चित्तं परमेश्वरस्वरूपस्थं भवति, तथेन्द्रियाण्यपि। अर्थात् चित्ते जिते सर्वमिन्द्रियादिकं जितं भवतीति विज्ञेयम्।'

इति भूमिकोक्तमपूर्वभाष्यमसङ्गतम्, सूत्रार्थासंस्पर्शित्वात्। चित्तं यदा शब्दादिभिर्विषयैर्न सम्प्रयुज्यते तदसम्प्रयोगात् चक्षुरादीनीन्द्रियाण्यपि न सम्प्रयुज्यन्ते, सोऽयमिन्द्रियाणां चित्तस्वरूपानुकारः। तथापि चित्तं यत् सूक्ष्म-ब्रह्मात्मतत्त्वमभिनिविशते न तदिन्द्रियाणि बाह्यविषयत्वादभिनिवेष्टुं शक्नु-

---

आती है ? यहां ऋषि ने यह भी ध्वनित किया है कि धारणा नाभिचक्रादि में वृत्ति द्वारा हो जाती है, वह थोड़ी देर की भी हो सकती है, इतना ही नहीं; प्रत्ययैकतानता अर्थात् चित्तवृत्ति के निरन्तर एकरस प्रवाह में भी योग्यता प्राणायाम से होती है।

पृ० १३६०, अनु० १ शङ्का—"स्वविषया.....' इत्यादि सूत्र में प्रत्याहार का लक्षण किया गया है। धारणा और ध्यान को एक नहीं माना जा सकता, यहां पुनः दयानन्द ने अपनी व्याख्या को ही भाष्य बताया है। 'प्रत्याहार उसका नाम है, जब कि पुरुष अपने मन को जीत लेता है। परमेश्वर को अपना आलम्बन बना लेने कारण चित्त कहीं अन्यत्र नहीं जाता, सब इन्द्रियों का प्रत्याहार अर्थात् निरोध हो जाता है। किस का कैसा निरोध होता है ? जैसे चित्त परमेश्वर के स्वरूप में स्थित हो जाता है, उसी प्रकार से इन्द्रियां भी परमेश्वर के स्वरूप में स्थित हो जाती हैं, अर्थात् चित्त के जीत लेने पर सर्व इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है; क्योंकि मन ही इन्द्रियों का चलानेवाला है।'

दयानन्द का यह अनोखा भाष्य भी पूरी तरह से असङ्गत है; क्योंकि सूत्र के अक्षरों से असम्बद्ध है। चित्त जब शब्दप्रभृति विषयों से संयुक्त नहीं होता, तब इन्द्रियां भी उन विषयों से सम्बद्ध नहीं हो पातीं। इस तरह इन्द्रियां चित्त का अवश्य अनुसरण करती हैं। किन्तु जब चित्त सूक्ष्म ब्रह्मस्वरूप में अभिनिविष्ट होता है, तब इन्द्रियां वहां नहीं पहुंच पातीं। इस प्रकार इन्द्रियां सब स्थितियों

https://t.me/Dharmasamrat

वन्तीति न सर्वथा चित्तानुकारः सम्भवतीन्द्रियाणाम्। तेन स्वविषयासंयोगस्य साधारणधर्मस्य सत्त्वादेव चित्तानुकारत्वमिन्द्रियाणाम्। यत्तु 'परमेश्वरस्मरणावलम्बनात्' इत्युक्तम्, तदसङ्गतम्। परमेश्वरालम्बनादित्यस्यैव सुवचत्वात्। परमेश्वरो हि चित्तस्यालम्बनं भवति न तत्स्मरणम्, तस्य विषयित्वेन विषयत्वायोगात्।" इति।

तदपि न सम्यक्, विषयस्य यथार्थबोधाभावात्।

ऋषिदयानन्दार्थः सर्वथाऽनुबध्नाति व्यासभाष्यमुभयथा—'चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरमपेक्षन्ते।'

ननु नहि व्यासभाष्ये परमेश्वरावलम्बनादिति, तदा न ग्राह्यम्, इति चेन्न, परमेश्वरालम्बनस्य सर्वत्र ग्रहणस्य महर्षिव्यासेनाऽप्यपरिहार्यत्वात्। यथा—२।३२ सूत्रे ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुणैः सर्वकर्मार्पणम्—

शय्याऽसनस्थोऽथ परिव्रजन् वा,
स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
शरीरबीजक्षयमीक्षमाणः,
स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी॥

में चित्त का अनुवर्तन नहीं कर सकतीं। इन्द्रियां चित्त का अनुकरण अपने बाह्य विषयों को लेकर ही सामान्यरूप से कर पाती हैं। दयानन्द ने परमेश्वर के स्मरण को चित्त का आलम्बन बताया है, वह गलत है; क्योंकि इतना ही कहना पर्याप्त है कि परमेश्वर चित्त का आलम्बन है। परमेश्वर ही चित्त का आलम्बन हो सकता है, उसका स्मरण नहीं। परमेश्वर तो विषयी है, वह किसी का विषय नहीं हो सकता।"

समाधान—उक्त आलोचना भी असूयावश की गयी भ्रान्तिपूर्ण है; क्योंकि आपको प्रकृतविषय का अविकल बोध नहीं है। ऋषि दयानन्द का अर्थ सर्वथा व्यासभाष्य के अनुरूप हैं। जैसा कि चित्त के निरोध होने पर चित्त के समान विरुद्ध इन्द्रियां इन्द्रिजय के समान उपायान्तर की अपेक्षा नहीं रखतीं।

शङ्का—व्यासभाष्य में तो परमेश्वर का आलम्बन कहा ही नहीं है, तो उसे ग्रहण नहीं करना चाहिये।

समाधान—यह बात नहीं है, परमेश्वर का आलम्बन तो सर्वत्र ही ग्रहण करना महर्षि व्यास को भी अपरिहार्य है। जैसे २।३२ सूत्र में ईश्वरप्रणिधान का उस ईश्वर में सब परमगुणों से सर्व कर्मों का अर्पण करना है। जो योगी शय्या किंवा आसन पर बैठा, मार्ग में चलता अथवा एकान्तसेवी हुआ, वक्ष्यमाण

वस्तुतस्तु 'चित्तं यदा शब्दादिभिर्विषयैर्न सम्प्रयुज्यते, तदसम्प्रयोगात् चक्षुरादीन्द्रियाण्यपि न सम्प्रयुज्यन्ते' इति अस्य वाक्यरचनैव चिन्त्या, चित्तस्य विषयैः सह सम्बन्धस्य, इन्द्रियद्वारा एव सम्प्रयोगात्। विषयैः सह ब्रह्मणि चित्तस्याभिनिवेशो भवति, न तु इन्द्रियाणामिति सत्यम्, परमृषिदयानन्दोऽभिव्यञ्जयति यदिन्द्रियाणां स्वस्वविषयज्ञानमपि न तेषाम्, इन्द्रियाणां ज्ञानगुणाभावात्, ज्ञानं हि आत्मसन्निहितचित्तेन भवति। एतेनेदमायातं यदिन्द्रियाणि तु गोलकेषु चित्तसम्बद्धशक्तेर्माध्यमानि।

चित्तं यदा परमेश्वरस्य आनन्दात्मकस्वरूपेऽवतिष्ठते, तदाऽनेकेन्द्रियविभक्तश्रवणज्ञानादिकमपि चित्तेन सहैव परमात्मस्वरूपे तिष्ठति, एवमिन्द्रियाणि बाह्यविषयैर्न जातुचिद् बन्धुमर्हाणि तेषामधिष्ठातुश्चित्तस्य तत्स्वरूपस्थत्वात्। तथा च 'ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते' (योग० ३।२५) योगिन इदमपूर्वसामर्थ्यं भवति। इत्युक्तम्।

वितर्कों से रहित यमों का अनुष्ठान करता है, वह संसार के बीज अविद्या आदि क्लेशों के क्षय हो जाने से शीघ्र ही योग की प्राप्ति द्वारा जीवन्मुक्त तथा विदेह हो जाता है।

'वास्तव में जब चित्त शब्दादि के साथ सम्प्रयुक्त नहीं होता, तो इन्द्रियां भी सम्प्रयुक्त नहीं होतीं।' आप की यह वाक्यरचना उत्तम नहीं है। वस्तुतः जब यमादि के अनुष्ठान से संस्कृत चित्त विषयों से मुक्त हो जाता है, तभी तो शब्दादि की ओर प्रयुक्त नहीं होता; क्योंकि चित्त या मन के सहयोग के बिना इन्द्रियां कुछ भी नहीं जानतीं। ज्ञान भी आत्मसन्निहित चित्त के द्वारा होता है। इससे यह आशय सिद्ध हुआ कि इन्द्रियां तो गोलकमात्र हैं; जो चित्त की शक्ति के माध्यममात्र हैं।

चित्त जब परमेश्वर के आनन्दात्मक स्वरूप में अवस्थित होता है, तब अनेक इन्द्रियों में विभक्त श्रवणज्ञान आदि भी चित्त के साथ परमात्मस्वरूप में ही रहते हैं। इस प्रकार इन्द्रियां कथमपि बाह्य विषयों से सम्बन्ध करने के योग्य नहीं होतीं; क्योंकि उन इन्द्रियों का अधिष्ठाता चित्त ब्रह्मस्वरूप में अवस्थित हो जाता है। परन्तु उस पुरुष-ज्ञान से पूर्व 'ततः प्रातिभ·····' अर्थात् सूक्ष्म व्यवहित तथा विप्रकृष्ट पदार्थों का साक्षात् करानेवाली मन की सामर्थ्य प्रातिभ, श्रोत्र, त्वक् आदि इन्द्रियों की सामर्थ्य जो कि श्रवण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ता यह अपूर्व सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है, परन्तु उक्त सिद्धियां समाधि में विघ्न कर व्युत्थान में सिद्धियां होती हैं।

https://t.me/DharmaSamrat

इदमप्यत्रावधेयं यच्चित्तं न स्वयंप्रकाशि, न वान्यचित्तप्रकाशितम्, चिद्रूपपुरुषस्य चित्तप्रकाशकत्वात्। न च तस्य आत्मनः प्रकाशकत्वे सङ्गदोषापत्तिरिति वाच्यम्, सन्निधिमात्रेण वृत्तिविशिष्टचित्तस्य पुरुषेण सह सम्बन्धात्।

यदुक्तं न तस्य स्मरणम् आलम्बनं भवितुमर्हति, परमेश्वरो भवितुमर्हति, एतदपि शास्त्राचिन्तनफलमेव। यथा—'प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्य .....' (न्या० ३।२।४३) इति प्रामाण्यात्।

यदाह—"चित्तस्यालम्बनं परमेश्वरो भवति न तत्स्मरणम्, इत्यप्यज्ञानम्, स्मृतेरपि चित्तवृत्तित्वाद् ईश्वरस्मरणमवलम्बनं भवत्येव तत्स्मरणेनाऽपि तद्रूपत्वाभासात्। स्मृतिर्हि नाम 'प्रमाणेनानुभूतस्य विषयस्य योऽवमसम्प्रमोषः संस्कारद्वारेण बुद्धावारोहः सा स्मृतिः' इति भोजवृत्तिः। एवमागमानुमानाभ्याम् ईश्वरप्रामाण्यात् तत्साक्षात्कारात् प्राक्स्मरणालम्बनस्यैव कथनस्य सर्वथौचित्यम्, साक्षात्कारस्य समाधिविषयत्वात्। पुनः परमात्मनो विषयविषयित्वविवेचनमकिञ्चित्।

पृ० १३६१, अनु० १—यदुक्तम्—"ततस्तदनन्तरम्" इत्यस्य अपव्याख्यानकथनमेवापव्याख्यानम्। ब्रवीतु 'ततस्तदनन्तरं समाहारानन्तरम्' इत्यनयोरर्थे को भेदः? वस्तुतस्तु प्रत्याहारधारणयोर्मनसो योग्यता, प्रकाशावरणक्षयः, एते प्राणायामपरिणामा एव। विविधमतप्रदर्शनं तु अनुकृतिमात्रमेतस्य।

पृ० १३६१, अनु० २—"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (यो० ३।१) नाभिचक्रादावभ्यन्तरे बाह्ये सूर्यादौ प्रतिमादौ वा।" अत्र 'सूर्यादौ प्रतिमादौ' व्याख्यानं मूर्तिपूजासिद्ध्यर्थं वर्धितम्, तद्भाष्यविपरीतम्। 'तुष्यतु' न्यायेन मन्येताऽपि धारणार्थं बाह्यदेशः। परमेतेनेदमपि तदग्रे ध्यानादौ मूर्तेरावश्यकताऽपि निराकारि, सावयवपदार्थेषु प्रत्ययैकतानतायाः असम्भवात्। वस्तुतस्तु बाह्यबिन्दुमूर्त्यादौ धारणाभ्यासो योगिनां न लाभकरस्तथा; प्रत्युत हानिकर एव। सम्प्रज्ञातसमाध्यभ्यासार्थं नाभिचक्रादौ विषयान्तरपरिहारेण चित्तस्य स्थिरीकरणं

यह भी यहां पर ध्यान में रखना चाहिए कि चित्त भी स्वयं प्रकाशी नहीं है और न पर चित्त से कुछ प्रकाशित है। चिद्रूप पुरुष ही चित्त का प्रकाशक है। यह भी नहीं कहा जायेगा कि उस आत्मा के प्रकाशक होने पर संगदोषापत्ति होगी, क्योंकि सन्निधिमात्र से ही वृत्तिविशिष्टचित्त पुरुष के साथ सम्बद्ध हो जाता है।

यह कहना कि परमेश्वर का स्मरण आलम्बन नहीं हो सकता, परमेश्वर ही हो सकता है, ठीक नहीं; क्योंकि यह बात शास्त्रविपरीत है। प्रणिधान भी तो स्मृतिहेतुक संस्कारों के कारणों में ही है। यथा—प्रणिधान निबन्धना आदि प्रमाण ही है।

यह कहना कि चित्त का आलम्बन परमेश्वर होता है स्मरण नहीं, तो अज्ञानमात्र है। स्मृति तो चित्त की वृत्ति हैं, तो स्मरण के द्वारा ही ईश्वररूप का आभास होगा। स्मृति तो प्रमाण से अनुभूत विषय का असम्प्रमोष ही कहाती है, जो संस्कार के द्वारा बुद्धि में होता है और आगम व अनुमान से ईश्वर का प्रामाण्य होने से उस ईश्वर के साक्षात्कार से पूर्व तो स्मरण का ही आलम्बन होगा; क्योंकि साक्षात्कार तो समाधि का विषय है। इससे परमात्मा के विषयी या विषयत्व की बात तो अप्रासङ्गिक व अनर्गल है।

पृ० १३६१ अनु० १—"ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्' यहां ततः अर्थात्

तदनन्तर अपने-अपने विषयों से सम्पर्क न होने से अर्थात् अपने-अपने विषयों से निवृत्त हो जाने पर। भूमिका के इस अर्थ को आप गलत बताते हैं। असल बात यह है कि आप प्रत्याहार को ही नहीं समझे; क्योंकि जो ऋषि ने व्याख्यान किया है, यह 'स्वविषयासम्प्रयोगे .....' इस सूत्र का ही है।

विष्णुपुराण में भी कल्पनास्वरूप तो निराकार ही होगा। जो आप के विरुद्ध पड़ रहा है, कल्पना तो दृश्य के अनुगत होती है। वस्तुतः प्रत्याहार, धारणा, प्रकाशावरणक्षय प्राणायाम के ही परिणाम हैं। आप के द्वारा विविधमतों का वर्णन करना अनुकृत (नकल) मात्र है।

पृ० १३६१, अनु० २—"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (योग० ३।१) इस सूत्र के आदि में ऋषि के पाठ को हटाकर अपनी ओर से प्रतिमादि बढ़ा दिया है। तथा आगे आप कहते हैं कि 'विष्णुपुराण में भगवान् के स्वरूप में चित्त को लगाने को ध्यान कहा है। भगवान् का मूर्त्तस्वरूप ही मनोहर है। उसकी आंखें कमलपत्र के सदृश हैं' आदि इस वर्णन पर बड़े प्रसन्न होंगे; क्योंकि विष्णु का स्वरूप धारणा के काम आ रहा है। पर महोदय! इस कल्पित स्वरूप का धारणा में उपयोग तो आप ने कर लिया, पर आगे 'तदेवार्थमात्रनिर्भासम्.....' इत्यादि सूत्रों से मूर्ति की आवश्यकता का तो निराकरण कर दिया गया है। सावयव पदार्थों में प्रत्ययैकतानता असम्भव है। वस्तुतः बाह्य विषय में तो कुछ उपयोगी भी है, पर विषयी मूर्ति आदि में धारणा योगी के लिए अधिक उपयोगी नहीं; क्योंकि सारे जीवन में बाह्य में लगे रहने के कारण बाह्यासक्ति ही बढ़ती है। अतः आभ्यन्तर नाभि आदि में सम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यासार्थ विषयान्तर परिहार से चित्त को स्थिर करे, प्रतिमा आदि में नहीं।

https://t.me/DharmaSangraha

धारणोच्यते प्रतिमायाम्। अपि च शङ्कराचार्यानुसारमपि प्रतिमादौ आत्मबुद्धि-निषिद्धा न प्रतीकेष्वात्ममति बध्नीयात्। न हि स उपासकः प्रतीकानि व्यस्तान्यात्मत्वेनाकल्पयेत्।

यत् - 'पुनः ब्रह्मविकारत्वात् प्रतीकानां ब्रह्मत्वं ततश्चात्मत्वमिति तदसत्, प्रतीकाभावप्रसङ्गात्'। (शां० भा० वेदान्तद० ४।१।४)।

पृ० १३६२, पं० ३—यदुक्तम्—"तस्यैव कल्पनाहीनस्वरूपग्रहणं हि यत्। मनसा ध्यानं निष्पाद्य समाधिः सोऽभिधीयते।" इत्युद्धृतविष्णुपुराणश्लोकेनाऽपि (वि० पु० ६।७।९) त्वद्विरुद्धं कल्पनाहीनस्वरूपं निराकारत्वमेवायातम्।

पृ० १३६२, अनु० २—यदुक्तम्—"समाधौ तु परमेश्वरस्वरूपे तदानन्दे च मग्नः स्वरूपशून्य इव भवति' इति, तदसङ्गतमेव, पौर्वापर्याननुसन्धानात्। परमात्मनि तदानन्दे चोभयत्र निमग्नता न सम्भवति, उभयालम्बनतायामेकाग्र्यासम्भवेन निमग्नत्वासम्भवात्" इति, तदपि असमीचीनालोचनम्, पौर्वापर्याननुसन्धानात्मकहेतोरसद्धेतुत्वात्, पौर्वापर्यविषयस्य अगभीरविवेचनत्वाच्च।

अपि च शंकराचार्य के अनुसार तो प्रतिमादि में आत्मबुद्धि सर्वथा निषिद्ध है। यथा—'न प्रतीके न हि सः'—प्रतीकों में आत्मबुद्धि नहीं करनी चाहिए; क्योंकि उपासक को व्यस्त प्रतीकों का आत्मरूप से आकलन (ग्रहण) नहीं करना चाहिए और जो कहा गया कि ब्रह्म का विकार होने से प्रतीक ब्रह्म है, यह युक्त नहीं है; क्योंकि ऐसा होने पर प्रतीक का अभावप्रसङ्ग होगा।

आक्षेप—पृ० १३६२, अनु० २—"यहां दयानन्द ने कहा है कि 'समाधि में केवल परमेश्वर और उसके आनन्दस्वरूप के ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है।' किन्तु यह कथन असंगत है; क्योंकि इसमें पूर्वापर ग्रन्थ का अनुसन्धान नहीं किया गया। परमात्मा में और उसके ज्ञान में दोनों जगह चित्त की एकाग्रता नहीं बन सकती; क्योंकि चित्त यदि इन दोनों अवस्थाओं को अपना आलम्बन बनाता है, तब चित्त एकाग्र कैसे हो सकता है? फिर प्रश्न उठता है कि स्थिर योगी होता है कि उसका चित्त? योगी की स्थिरता का वर्णन होगा तो सूत्र में 'तदेव' पद व्यर्थ होगा।"

समाधान—यह सारी आलोचना असमीचीन है। स्वामीजी का कथन सर्वथा ठीक है; क्योंकि इसमें ग्रन्थ के पौर्वापर्य का आलोचन करके लिखा गया है। आपका स्वयं 'पौर्वापर्य का आलोचन न करने के कारण यह हेतु ही असद् हेतु' है।

परमेश्वरस्वरूपस्य तदानन्दस्य च अनन्यत्वात्। न च चकारप्रयोगेण न अनन्यत्वं सम्भवतीति द्योत्यते, किन्तु द्वित्वमेव भासत इति वाच्यम्, समाधौ निर्विकल्पत्वाद् ध्येयस्य स्वरूपभानं न भवति यदानन्दात्मादिकम्, केवलं परमेश्वरस्य यत् किमपि अनिर्भासं स्वरूपं तदेव ध्येयं भवति, परं सम्प्रज्ञातयोगे साक्षात्कारस्योदये समाधावज्ञातविषयोऽपि प्रकाशितो जायते, येन आनन्दविषयमनुभवतीत्यभिप्रायेण उभयं (परमेश्वरस्वरूपमर्थमात्रं संस्कारमात्रं तदानन्दश्च) भूमिकायामुट्टङ्कितम्। तथैव च व्यासभाष्यम्—

'अस्य च समाधिरूपस्य अङ्गिसम्प्रज्ञातयोगोदये भेदो यदत्र चिन्तारूपतया निःशेषतो ध्येयस्वरूपं न भासते अङ्गिनि तु सम्प्रज्ञाते साक्षात्कारोदये समाध्यविषया अपि विषया भासन्ते।' इति। इदं स्थूलधिय उदाहरणं यद् ग्रन्थकृत् टीकाकाराश्च उभयत्र (दो जगह) इति विलिख्य परमेश्वरात् पृथक् तदानन्दस्य स्थितिं मन्यते। परमल्पोन्मीलितलोचनोऽपि गुणगुणिनोरयुतसम्बन्धान् न पृथक् स्थितिमेवाकलयिष्यति। इत्येवं भूमिकालेखः सङ्गत्या प्रशस्यतेतराम्।

आप को यही ज्ञान नहीं है कि परमेश्वर का कोई स्वरूप और तदानन्द एक ही है, अन्य नहीं। 'चकार के प्रयोग (परमेश्वरस्वरूपे तदानन्दे च) से अनन्यत्व नहीं हो सकता, वरन् दोनों ये पृथक्-पृथक् ही हैं' ऐसा भी नहीं समझना चाहिए। निर्विकल्पक समाधि में ध्येय के स्वरूप का ध्यान नहीं रहता, प्रत्युत जो तत्सम्भूत आनन्द है, वही रह जाता है। अथवा इससे ध्येय व आनन्द अभिन्न है। इससे उसकी अनन्यता में कोई दोष नहीं रहता। परन्तु सम्प्रज्ञात योग में साक्षात्कार के उदय होने से समाधि में अज्ञात विषय भी प्रकाशित हो जाता है। जिससे आनन्द का अनुभव करना होता है। इस अभिप्राय से दोनों अर्थात् परमेश्वरस्वरूप अर्थमात्र या संस्कारमात्र और आनन्द में दोनों भूमिका में कहे गये हैं। इस प्रकार व्यासभाष्य भी है। यथा—

'इस समाधिरूप के अङ्गी सम्प्रज्ञात योग के उदय में भेद यह है कि यहां चिन्तारूप से विशेषण ध्येयस्वरूप का भास नहीं होता। अङ्गी सम्प्रज्ञात में साक्षात्कार के उदय में समाधि के अविषय विषय भी भासित हो जाते हैं।' यह स्थूल बुद्धि का उदाहरण बन सकता है कि वेदार्थपारिजातकार और उसके टीकाकार भी 'उभयत्र' (दो जगह) ऐसा लिखकर परमेश्वर से पृथक् तदानन्द की स्थिति को मानते हैं, परन्तु थोड़े से भी जिसके नेत्र खुले हैं, वह गुण और गुणी की अयुत सम्बन्ध से पृथक् स्थिति का आकलन नहीं करेगा। इस प्रकार भूमिका का लेख सङ्गति की दृष्टि से अतितरां प्रशंसनीय है।

https://t.me/DhamaSamrat

पृ० १३६२, पं० ७-११—यदुक्तम्—"कश्च निमग्नो भवति ? योगी तच्चित्तं वा ? नाद्यः, तदेवेति सूत्राक्षरविरोधात्। नाऽपि चित्तम्, तस्मादेव कारणात्, निमग्नः स्वरूपशून्य इति पुंलिङ्गप्रयोगविरोधाच्च। वस्तुतस्तु तदेवेत्यस्य ध्यानमेवेति व्यासभाष्योक्तमेव व्याख्यानं युक्तम्, तदनुगुणमेव स्वरूपशून्यमिवेति नपुंसकलिङ्गनिर्देशोऽपि सङ्गतः। न केवलं परमेश्वरे तदानन्द एव वा धारणाध्यानसमाधयो भवन्ति, अन्येष्वपि बाह्याभ्यन्तरेषु निर्दिष्टध्येयेषु तत्सम्भवात्। अत एव भाष्यनाम्ना स्वव्याख्यानोल्लेखो भ्रामक एव।"

इत्यरिबलमबोधजनितप्रश्नोत्तरणम्, तदा एषोऽर्थो यत् समाधौ परमेश्वरस्वरूपे तदानन्दे च मग्नो योगी स्वरूपशून्ये ध्याने एव भवति, अर्थाद् ध्यातुर्योगिनो ध्यानमेव ध्येयत्वेन परिणमते तथा इवासौ भवति। एवमेव व्यासभाष्यम्। यथा—'ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकस्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते।

पृ० १३६२, अनु० ३—यदुक्तम्—"त्रयमेकत्र संयमः' (योग० ३।४)

पृ० १३६२, पं० ७-११—आक्षेप—"यह भी दयानन्द (पंक्ति ५ से) अशुद्ध है। कौन निमग्न होता है ? योगी या उसका चित्त ? योगी तो हो नहीं सकता; सूत्राक्षर से इसका विरोध है, क्योंकि सूत्र में 'तदेव' पद है। चित्त भी नहीं हो सकता; क्योंकि निमग्न और स्वरूपशून्य पुंल्लिङ्ग हैं और चित्त नपुंसकलिङ्ग है। वस्तुतः 'तदेव' से ध्यान ही व्यासभाष्य में लिया गया है। उसी के अनुरूप 'स्वरूपशून्यमिव' यह नपुंसकलिङ्ग निर्देश भी सङ्गत है।"

समाधान—उक्त प्रश्नावली बेसमझ की है। सूत्र में स्पष्ट किया गया है कि जब वही ध्यान अर्थमात्र निर्भास और स्वरूपशून्य सा होता है, उस समय वह समाधि कहाता है। ऋषि दयानन्द ने ध्यान और समाधि का भेद स्पष्ट किया है कि ध्यान में मन की ध्याता, ध्यान और ध्येय के आकार से त्रिधा वृत्ति वर्तमान रहती है, पर समाधि में वह योगी परमेश्वर के स्वरूप और उसके आनन्द अपने (स्वरूपशून्य-सा) स्वरूप को भी भुला बैठता है अथवा 'स्वरूपशून्य इव' सप्तम्यन्त व प्रथमान्त दोनों ही घटित हो सकते हैं।

तब भी यह अर्थ होगा कि समाधि में परमेश्वर-स्वरूप तथा उसके आनन्द में मग्न योगी स्वरूपशून्य ध्यान में ही मग्न होता है अर्थात् ध्यानकर्ता योगी का ध्यान ही ध्येय जैसा होता है। ऐसा ही व्यासभाष्य है। यथा—'ध्यान ही ध्येयाकार निर्भास प्रत्ययात्मक स्वरूप से शून्य-सा जब हो जाता है, ध्येय के स्वभाव के आदेश से तब समाधि कहलाता है।'

पृ० १३६२, अनु० ३—आक्षेप—'धारणा आदि तीनों की एक विषय में

त्रयाणामेकस्मिन् विषये सिद्धौ संयमसंज्ञा भवति। अत्र भूमिकायामुक्तम्—'संयमश्चोपासनाया नवमाङ्गम्' इति, यच्च हिन्दीभाषायां परमेश्वरे मग्नतैव संयम इति, तदुभयमसङ्गतम्, स्ववचनविरोधात्। यदा परमेश्वरे निमग्नतैव संयमः, सैव च समाधिरपि, तदा कथं संयमस्य नवमाङ्गता ?"

इत्यपि आक्षेपश्छलपूर्णः, अर्धकथनोद्धरणेन स्व-दुरभीष्टसाधनप्रयासात्। तद्यथा हिन्द्याम्—'जिस देश में धारणा की जाये, उसी में ध्यान और उसी में समाधि अर्थात् ध्यान करने योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को संयम कहते हैं।' तथैव भगवद्व्यासभाष्ये—'एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते' इति।

अत्रैषोऽभिप्रायो यद् यस्मिन् विषये यथा ईश्वरे धारणां कुर्यात् तत्रैव ध्यानं समाधिं चाऽपि कुर्यात्, तदा संयमसंज्ञा भविष्यति।

अयं संयम उपासनाया नवमाङ्गमत एवोक्तं यद् अष्टाङ्गयोगोऽयं परमेश्वरस्य उपासनायाः साधक एव पृथक् पृथक् परं त्रयाणामेषामेकत्र संयमरूपमिदं तु नवमाङ्गमेव एकैकाङ्गाद् अमिश्रितात् संयमस्य च मिश्रितत्वात्। एतस्मिन् न

ही सिद्धि होने पर संयम संज्ञा होती है। भूमिका में संयम को उपासना का नवम अङ्ग बताया गया है। हिन्दी में—'परमेश्वर में मग्नता को ही संयम कहा है' यह भी असङ्गत है; क्योंकि इसमें अपने ही कथन का विरोध होगा। जब परमेश्वर-निमग्नता ही संयम है और वही निमग्नता समाधि भी है, तब संयम नवम अङ्ग कैसे हो सकता है ?"

समाधान—उक्त आक्षेप भी छलपूर्ण और निराधार है। आप ऋषि का आधा कथन उद्धृत करके अपने दुष्ट अभीष्ट को सिद्ध करना चाहते हैं। वह इस प्रकार—जैसे हिन्दी में स्वामीजी ने लिखा है—'जिस देश में धारणा की जाये, उसी में ध्यान और उसी में समाधि अर्थात् ध्यान करने योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को संयम कहते हैं।' इसी प्रकार भगवान् व्यास के भाष्य में भी है—"एक विषयवाले धारणादि तीन साधन 'संयम' कहाते हैं।"

यहां पर यह अभिप्राय है कि जैसे ईश्वर में प्रारम्भ से धारणा करे, उसी में ध्यान करे और उसी में समाधि भी लगाये, तभी संयम संज्ञा होगी।

यहां संयम उपासना का नवम अङ्ग इसीलिए कहा है कि अष्टाङ्गयोग में धारणा आदि तीन यदि पृथक्-पृथक् परमेश्वर की उपासना के साधन हैं, तो संयम संज्ञा नहीं होगी। संयम में तीनों एक में साधन होने पर एककालावच्छिन्न-

https://t.me/DharmaSamrat

क्वापि वचनविरोधः; प्रत्युत भवत एव बुद्धिविरोधः। महर्षेरिदं सर्वथा मौलिकमूहनम्।

पृ० १३६२, पं० १४—यदुक्तम्—"धारणायुक्तं ध्यानं ध्यानयुक्तः समाधिः' इति तदप्यसङ्गतम्, समेषां भिन्नकालावस्थायित्वेन संयोगाऽसम्भवात्। योगशास्त्रेऽपि संयमस्य न नवमाङ्गताऽभ्युपगमः; किन्त्वेकस्मिन् विषये प्रवर्तमानस्य धारणाध्यान-समाधित्रयस्यैव संयम इति संज्ञामात्रमुक्तम्, न नवमाङ्गत्वम्, अष्टाङ्गेभ्योऽनतिरिक्तत्वात्।" इति।

तदपि छलबलाभ्युपेतम्, अभ्याभिप्रेतस्यान्यथा योजनात्। अनिध्यातयोगविषयमहाशय! प्रागभ्याससाधनकाले त्रयाणां भिन्नकालतोऽपि परिपक्वावस्थां गतस्य योगिनः संयमेऽस्मिन् न कालव्यवच्छित्तिसम्भवः, प्रारब्धधारणस्यैव तत्काले ध्यानसमाध्योः सम्भवात् कालभेदाऽनाकलनात्, कमलशतपत्राणां सूच्या वेधनस्य कृतस्येव मननात्।

नहि ऋषिणोक्तं यदेतस्य योगस्य नवमाङ्गत्वे क्वाऽपि शास्त्रे निर्दिष्टम्;

मिश्रित अन्यथा अमिश्रित हैं। इसमें कहीं भी वचन-विरोध नहीं, प्रत्युत आपकी समझ में विरोध है। स्वामीजी की बिल्कुल मौलिक सूझ है।

पृ० १३६२, पं० १४—आक्षेप—"धारणायुक्त ध्यान और ध्यानयुक्त समाधि' यह कहना भी असङ्गत है; क्योंकि ये धारणादि भिन्न काल में होते हैं, अतः संयोग हो ही नहीं सकता। योगशास्त्र में भी संयम को नवम अङ्ग नहीं माना है। किन्तु एक ही आलम्बन में प्रवर्तमान धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का नाम संयम रखा गया है।"

समाधान—यह कथन भी छलबलपूर्ण है। शब्दों के अन्य अभीष्ट अभिप्रायनिष्ठ होने पर भी बलात् अनभीष्ट अन्यार्थ में उसके द्वारा लगाया जा रहा है। हे योग-विषय-ज्ञान से शून्य महाशय! पहले अभ्यास के साधन-काल में तीनों धारणादि साधनों के भिन्नकाल में होने पर भी अर्थात् जब धारणा सिद्ध हो जायेगी, तब ध्यान सिद्ध करे, फिर समाधि-सिद्धि में लगेगा; परन्तु परिपक्व अवस्था अर्थात् समाधि तक सदभ्यस्त हो जाने पर योगी को इस समय अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि के लगाने में इतना अल्प काल लगेगा, जिससे हम काल-व्यवच्छेद नहीं कर सकते। धारणा प्रारम्भ करते ही ध्यान और समाधि भी सदभ्यस्त योगी को तत्काल लग जायेंगे। इसमें कालभेद का आकलन ऐसे ही नहीं हो सकता, जैसे कमल के शतपत्रों का सुई से वेधन। यद्यपि वेधन क्रमशः ही होता है, तथापि काल-सूक्ष्मता के कारण एककालकृत ही माना जाता है।

इसीलिए स्वामीजी की वाक्यावली पुनः पढ़िये। जो एक ही काल में तीनों

प्रत्युत स्वयमुपासनायाः संयमस्य नवमाङ्गत्वाख्यां कुरुते। अत्र नास्ति कश्चित् शास्त्रविरोधः सिद्धान्तस्य।

पृ० १३६३, पं० ११—अत्रोच्यतेऽनेन—"स्वामिना यदुक्तमयमुपासनायोगो दुष्टजनैर्न साधयितुं शक्यते' इति तु अक्षरार्थाद् बाह्यमेव।"

तत्रोच्यते—स्वामिना लिखितं पूर्वमत्र यदस्य सर्वस्य 'उपनिषदुद्धृतस्य भाषायामभिप्रायः प्रकाशयिष्यते'। तत्राभिप्राये अक्षरानुवादस्य प्रश्न एव कः? उत्तरयतु तथापि 'नाऽविरतो दुश्चरितात्……' इत्यादिकस्य किं नायमभिप्रायो यदुपासनायोगो दुष्टजनैः साधयितुं न शक्यः? भवदभिप्रायः किमेतदन्यो यद् दुष्टैरपि साध्यः? आं मन्ये, भवन्मतेन साध्य एभिः, यतो हि प्रायः सर्वाङ्गेषु महर्षिदयानन्दः परमेश्वरावलम्बनं सर्वोपयोगि मन्यते, परं भवान् मतमेतदधिक्षिपन् नालम्बनमावश्यकं मनुते, तदेश्वरविमुखो दुष्टस्तु प्राणायामधारणा-

---

का मेल होता है, अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है, उसमें बहुत सूक्ष्मकाल का भेद रहता है; परन्तु जब समाधि होती है, तब आनन्द के बीच में तीनों का फल एक ही हो जाता है। इसलिए भी स्वामी जी ने इस उपासना को नवम अङ्ग माना है। यह उनकी मान्यता है। वे नहीं कहते हैं कि कहीं योगशास्त्र में नवम अङ्ग माना है। आप इनकी मान्यता को नयी तो अवश्य कह सकते हैं और नवम इसलिये भी है कि यदि एक ही विषय में तीनों नहीं की गईं, तो उसका नाम 'संयम' नहीं होगा। उक्त संयम सुदृढ हो जाने पर ही 'प्रज्ञालोक' प्राप्त कर सकता है। फलतः ऋषि-कथन में किसी प्रकार का शास्त्र-विरोध नहीं है।

पृ० १३६३, पं० ११—विद्वान् लोग ध्यान से देखें। यह लेखक कह रहा है कि 'स्वामीजी ने लिखा है कि उपासना-योग दुष्ट मनुष्यों को सिद्ध नहीं होता' यह अक्षरों से बाह्य अर्थ है। इस विषय में हमारा कथन है कि स्वामीजी ने उपनिषदों के उद्धरणों के अन्त में लिखा है कि 'इस सब का भाषा में अभिप्राय प्रकाशित किया जायेगा'। अब देखिये उक्त वाक्य 'नाविरतो दुश्चरितात्' का उक्त अभिप्राय क्या नहीं है? अवश्य है।

तो यह भी बताइये कि क्या आप उक्त उपनिषद् वाक्य से यह अभिप्राय निकालेंगे कि यह योग दुष्ट जनों से भी साध्य होता है? हम भी तो दुर्जनतोषन्याय से स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि प्रायः सभी अङ्गों में परमेश्वर का आलम्बन महर्षि दयानन्द सर्वोपयोगी मानते हैं; परन्तु आप इस पर आक्षेप करते हैं कि ईश्वर का आलम्बन आवश्यक नहीं है, तो ईश्वर से विमुख दुष्ट तो प्राणायाम,

https://t.me/Dharmasansar

ध्यानादिषु भवन्मते नाधिकारी अस्त्येवेति ।

पृ० १३६४, पं० २—"यत्तूपवसन्ति इत्यस्य परमेश्वरसमीपे वसन्तीति, तन्न, 'तपःश्रद्धे' इति प्रत्यक्षकर्मणः क्रियासाकांक्षत्वेन तदतिक्रम्य कर्मान्तरकल्पनायोगात् । ..... अरण्यपदेनाऽपि शक्यमर्थं वनमपहाय नान्यद् गौणार्थग्रहणं युक्तम् ।" इति सर्वमकिञ्चित्करम् । प्रथममेवोक्तं यदेषामभिप्राय एव प्रकाशितो नाक्षरार्थः । तथाऽप्ययमबुध्वा तात्पर्यमधिक्षिपति ।

तत्समाधानमदः - एतद् वारद्वयं पठनीयम् 'ये तपःश्रद्धे उपवसन्ति' अर्थाद् ये वने तपः श्रद्धां वा सेवन्ते ते आरण्ये हृदये उपवसन्ति परमेश्वरमित्यर्थक्षेपः । अरण्यशब्दस्य अभिधेयार्थो नाम भवेद् वनम्, परम् अभिधेयाद् व्यङ्ग्यार्थस्य (शुद्ध हृदयरूपी वन में) एव प्रधानत्वमिह । अमृतपदेन परमात्मग्रहणमुचितम्, सूर्यद्वारेणेत्यनेन च प्राणद्वारेण इत्यस्यैव ग्रहणस्यौचित्यात् ।

पृ० १३६८, अनु० २- शङ्का—"स्वामिना ब्रह्मपुरमिति हृदयदेशो गृहीतो-

---

धारणा, ध्यानादि में आपके मत से तो अधिकारी हो ही जायेगा। जैसा कि शास्त्रसम्मत कदापि नहीं है।

पृ० १३६४, पं० २—आक्षेप—"दयानन्द ने 'उपवसति' का अर्थ 'परमेश्वर' के पास रहते हैं, किया है, यह गलत है; क्योंकि तप और श्रद्धा मन्त्र में प्रत्यक्ष ही कर्म के रूप में निरूपित किये हैं। इनको क्रिया की अपेक्षा है। अतः उक्त क्रिया से इन्हीं का सम्बन्ध न कर परमात्मा का कर्म के रूप में अध्याहार गलत है। .....अरण्यपद से भी प्रसिद्ध वन अर्थ छोड़कर गौणार्थ ग्रहण करना ठीक नहीं।"

समाधान- उक्त आक्षेप उथले हैं, सारहीन हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि इनका अक्षरार्थ नहीं, वरन् अभिप्राय प्रकाशित किया जायेगा। तथापि समाधान प्रस्तुत है। उपनिषद् के इस वाक्य को दो बार पढ़िये। प्रथमवार में अभिधार्थ जो लोग वन में तप-श्रद्धा का सेवन करते हैं, फिर उसी वाक्य का व्यङ्ग्यार्थ होगा कि वे आरण्य 'अरमणं भवतीति वा' (नि० ९।२९) यत् साधारणजनानाम्, अर्थात् हृदयरूप वन में 'उपवसन्ति' अर्थात् परमात्मा के समीप रहते हैं, जो हृदय में ध्यान करना साधारणजनों के लिये अरण्य अर्थात् अरमण होता है। उपासना में सूर्य-(शरीर में उष्णताधायक) द्वार का प्राणद्वार से अर्थ अत्यन्त उपयुक्त है। इसमें 'आदित्यः (सूर्यः) प्राणः' (जै० उ० ब्रा० ४।२२।९) यह प्रमाण है। अमृत-पद से अविनाशी परमेश्वर का ही ग्रहण सर्वथा उपयुक्त है।

ऽसौ न सम्भवति, शङ्कराचार्यादिभिः शरीरमित्यर्थो गृहीतः ।"

समाधानम्- श्रीमन् ! पुरमिति शब्दः पालनपूरणार्थकात् 'पॄ' धातोः 'मूलविभुजादिभ्यः कः' इति कप्रत्यये निष्पद्य । पिपर्ति सर्वप्राणिनः सुखेन इति पुरं संसाररूपं नगरम्, पिपर्ति मन आदीनि इति पुरं शरीरम्, पिपर्ति पालयति रक्तादिना तद् हृदयमपि पुरम् । अत एव पुरि ब्रह्माण्डरूपे शेते पुरुषो ब्रह्मपुरि शरीरे वा शेतेऽसौ जीवः । अत्र ब्रह्मपुरशब्देन हृदयमभीष्टम् ।

शरीरस्य पुरस्य जीवोऽधिष्ठाता तस्य वेश्म हृदयं यत्र जीवात्मा वसति, परं हृदयस्य पुरस्याधिष्ठाता ब्रह्म, तस्य वेश्म तु हृदयापेक्षयापि दहरमल्पं यत् पुण्डरीकाकारं तद् वेश्म तस्मिन् कमलाकारे अवकाशे जीवात्मनोऽन्तरे ब्रह्म वसति तद् ब्रह्मैव बहिः संसारे अभ्यन्तरे हृदयाभ्यन्तरस्थजीवात्मन्यपि व्यापक एकरस एव सदा तिष्ठति । एवमानन्दस्वरूपं ब्रह्म इहैव प्रकाशितस्थाने मिलति । 'आत्मा वै पूः' (शरीरम्) (शत० ७।५।१।२१), 'मन एव पुरः' (शत० १०।३।५७) इति प्रामाण्याच्चापि ।

ननु यदा सर्वव्यापकस्तदा सर्वत्रैव कथं न मिलतीति न वक्तव्यम्, अन्वेष-

---

पृ० १३६८, अनु० २—शङ्का—"स्वामीजी ने ब्रह्मपुर का अर्थ हृदयदेश किया है, जो सम्भव नहीं है। शङ्कराचार्य आदि ने शरीर अर्थ ग्रहण किया है।"

समाधान—श्रीमन् ! 'पुरम्' शब्द पालनपूरणार्थक 'पॄ' धातु से 'क' प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। जो सब प्राणियों को सुख से पूर्ण कर दे, वह संसार पुर है। जो मन को पूर्ण करे वह शरीर, जो रक्त आदि देकर पालन करे वह हृदय भी पुर है। इसीलिए ब्रह्माण्डरूपी पुर में सोनेवाला पुरुष ब्रह्म और शरीरपुर में जीवगत्या सोनेवाला है। यहां पर पुर से हृदय का ग्रहण करना ही ठीक है, जहां दोनों हैं।

शरीरपुर का अधिष्ठाता जीव है और उस जीव का घर हृदय है। ऐसे ही ब्रह्म का पुर (नगर) हृदय हुआ और उस घर हृदय की अपेक्षा भी दहर अर्थात् अल्प पुण्डरीकाकार है। उस कमलाकार आकाश में जीवात्मा के भी भीतर ब्रह्म रहता है। वही ब्रह्म संसार और जीवात्मा में भी व्यापक एकरस है, वह सदा रहता है। इस प्रकार वह इसी प्रकाशस्थान में मिलता है। शतपथ के उपर्युक्त प्रमाणों से आत्मा भी ब्रह्म का पुर है।

शङ्का—जब वह सर्वव्यापक है तो सर्वत्र ही क्यों नहीं मिलता ?

समाधान—परमात्मा तो सर्वत्र रहता है, पर अन्वेषक जीवात्मा तो केवल

https://t.me/DharmaSamrat

कस्य जीवात्मनो हृदयादन्यत्रानुपगतत्वात्,हृदये तु उभयोरेव स्थितिरिति मेलनावसर एव ।

प्रसिद्धत्वात् शरीरस्यैव ब्रह्मपुरत्वोक्तिरित्यप्रमाणम्, हृदयस्यापि तथात्वात्, शरीरापेक्षया ब्रह्मणः सन्निहितत्वात् ।

वेश्म इत्यस्यावकाशरूपमेवार्थः स्थानमतितरां संगतः । विशन्ति अत्र इति व्युत्पत्तेः 'सर्वधातुभ्यो मनिन्' (उ० ४।१४५) इति मनिन्विधानात् सिद्धेः । अवकाशत्वादेव च गृहमपि वेश्म कथ्यते । यदि तत्र स्थानस्य प्रवेशस्य वा नावकाशः स्यात्, परं सङ्कीर्णभित्तिकादिभिर्गृहरूपं स्यात्, तस्य गृहादिकं किमप्यभिधानं भवेत् परं न वेश्मेति ।

पृ० १३६९, पं० ३—यदुक्तम्—"तत्स्थस्याकाशस्यैवान्वेष्टव्यानामाश्रयत्वमुक्तम् । सर्वशक्तिमान् परमेश्वरः कस्य शब्दस्यार्थ इति नोक्तम् ।"

इत्यपि मन्दः प्रश्नः, अन्तराकाशशब्देनैव सर्वशक्तिमतः परमेश्वरस्य गृहीतत्वात् । भवद्भ्रान्तेः कारणं पूर्वमवकाशशब्दविन्यास एव, परमयमर्थस्तु वेश्मशब्दस्येति इहैव प्रत्यपादि ।

हृदय में ही रहता है और परमात्मा हृदय में भी रहता है तो वहीं उसकी प्राप्ति सम्भव है ।

प्रसिद्ध होने से शरीर का ग्रहण होगा, इसमें कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि इसी प्रकार हृदय का भी ग्रहण हो सकता है और शरीर की अपेक्षा हृदय में प्रभु जीवात्मा के अधिक पास है । जरा आदि विकार हृदय में घटित होते हैं, इसके भी पञ्चभूत से निर्मित होने के कारण ।

वेश्म का अवकाशरूप अर्थ ही मूल है; क्योंकि इसमें प्रवेश करते हैं । अवकाश होने से ही गृह को वेश्म कहते हैं । यदि वहां स्थान या प्रवेश का अवकाश न हो, भित्ति आदि से संकीर्ण हो, तो गृह आदि कुछ भी नाम रख लें, पर वह वेश्म नहीं कहा जा सकता ।

पृ० १३६९, पं० ३—"उस दहर कमल में स्थित आकाश को ही अन्वेष्टव्य ब्रह्म का स्थान बताया गया है । सर्वशक्तिमान् परमेश्वर किस शब्द का अर्थ है, यह नहीं बताया है ।"

आप का यह कथन भी मन्दमतित्व का सूचक है, क्योंकि 'अन्तराकाश' शब्द ही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का सूचक है । आपकी भ्रान्ति का कारण पहले अवकाश शब्द का रखना ही है । लेकिन यह तो वेश्मार्थ में प्रयुक्त है ।

ननु अन्तराकाशशब्देन तर्हि शङ्करवद् ब्रह्मेत्येवार्थो ग्राह्यो न तु सर्वशक्तिमत्परमेश्वर इति तु न वाच्यम् । 'आकाश इवाऽशरीरत्वाद् सूक्ष्मत्वसर्वगतत्वसामान्याच्च' इति शङ्करवचनेनाऽपि सर्वशक्तिमत्त्वं सर्वगतत्वात् सिद्धमेव । अन्वेष्टव्यानामिति पदं चिन्त्यम् ।

पं० ६—"तस्मिन्नाकाश एव द्यावापृथिव्यादीनामवस्थानमुक्तम् । त्वयाऽपि हृदयाकाशे पृथिव्यादीनामवस्थानमुक्तम्, तन्न सम्भवति विपरीतपरिमाणत्वात् ।"

इत्यपि मन्दोक्तिः तत्त्वानवबोधात् । आकाशशब्देन ब्रह्मवाच्यता न तु भौतिकाकाशवाच्यतेह । यथा ब्रह्माण्डव्याप्ताकाशब्रह्मणि द्यावापृथिव्यादीनां स्थितिस्तथा हृदयस्थितब्रह्मण्यपि तत्त्वादेव तत्स्थितिरिति स्वामिदयानन्दोक्तोऽर्थः सर्वथा साधीयान् गरीयांश्च ।

पृ० १३७०, अनु० २—"तस्य सार्वत्रिकत्वेऽपि हृदयाकाशस्थबुद्धौ विशेषेणाभिव्यक्तिर्भवति, जीवेन रूपेण ब्रह्मणस्तत्र प्रवेशात् ।"

इति कथयतस्ते बुद्धिस्तु नवीनवेदान्तसिद्धान्तपक्षाघातरोगग्रस्ता, यतो जीवात्मा तु भोक्ता परमात्मा हि अभोक्ता । तथा च 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं

शङ्का—अन्तराकाश शब्द से शङ्कर के समान ब्रह्म अर्थ ही लेना चाहिये ।

समाधान—नहीं, आकाश के समान अशरीर होने से सूक्ष्मतत्त्व तथा सर्वगतत्व अर्थ है । इस प्रकार सर्वगत होने से सर्वशक्तिमान् अर्थ ही लिया जा सकेगा ।

पं० ६—आक्षेप—"उस आकाश में द्यावापृथिवी आदि का स्थान कहा है और दयानन्द ने भी हृदय के आकाश में द्यावापृथिवी का स्थान कहा है, जो कभी सम्भव नहीं है; क्योंकि हृदय का आकाश तो अति लघु है और द्युलोक आदि विशाल है ।"

समाधान—यह कथन भी मन्द है; क्योंकि आपने तत्त्वार्थ समझने का प्रयास नहीं किया । यहां आकाश शब्द ब्रह्म का वाचक है, भौतिक आकाश का अर्थ नहीं है । जैसे ब्रह्माण्ड व्याप्त आकाश ब्रह्म में द्युलोकादि की स्थिति है, उसी प्रकार हृदयस्थ ब्रह्म में तथा बाहर के ब्रह्म में अभिन्नता होने से भी इनकी स्थिति है । अतः ऋषि दयानन्द का अर्थ सर्वथा उपयुक्त है ।

पृ० १३७०, अनु० २—"वह ब्रह्म यद्यपि सभी जगह वर्तमान है, किन्तु हृदयस्थित आकाश में स्थित बुद्धि में इसकी विशेषरूप से अभिव्यक्ति होती है; क्योंकि जीव के रूप में ब्रह्म उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं ।" यह कहनेवाले करपात्री जी की बुद्धि नवीन वेदान्त के सिद्धान्त के पक्षाघात से ग्रस्त है, क्योंकि जीवात्मा

https://t.me/DharmaSamrat

भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (कठ० ३।४) इति जीवात्मनो भोक्तृत्वम्। बृहदारण्यकोपनिषदि अयं विषयः काव्यात्मकशैल्या वर्णितः—

तद्यथा—"प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेदान्तरम्।" (बृह० ४।३।२१)।

अस्मिन् सन्दर्भे पुरुषपदेन जीवात्मा, प्राज्ञपदेन च ब्रह्मोक्तम्। अत्र शरीरे जीवात्मनः परमात्मनो भेदः स्पष्ट एव। जीवब्रह्मणोर्भेदं प्रतिपादयन् शङ्करोऽपि वदति—

"नन्वीश्वरोऽपि शरीरे भवति, सत्यं शरीरे भवति, न तु शरीर एव भवति, ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्" (छान्दो० ३।१४।३) इति व्यापित्वश्रवणात्। 'जीवस्तु शरीर एव भवति, भोगाधिष्ठानाच्छरीरादन्यत्र वृत्त्यभावात्' (वे० १।२।३) इति।

न च चेतनत्वसाधर्म्येणोभयोरभिन्नत्वम् इति वक्तव्यम्, किञ्चित् साधर्म्येणाभिन्नत्वानुपपत्तेः, अन्यथा सत्तासामान्येन सूर्यचन्द्रपृथिव्यादीनामपि अभिन्नत्वम् आपतेत्। न जडत्वसामान्येन भूमिसलिलानलानिलानाम् अभिन्नत्वम्। व्याप्य-

---

भोक्ता है और परमात्मा अभोक्ता तथा फलभोजयिता है। जैसा कि जीवात्मा के विषय में कठ० (३।४) में कहा है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में यह विषय काव्यात्मक शैली में वर्णित है। जैसे—"अपनी प्रिया भार्या को आलिङ्गन करनेवाले पुरुष को भीतर-बाहर का ज्ञान नहीं रहता, उसी प्रकार पुरुष प्राज्ञात्मा से आलिङ्गित होने पर बाहर-भीतर कुछ नहीं जानता।"

इस सन्दर्भ में पुरुष से जीवात्मा और प्राज्ञ से परमात्मा का ग्रहण है। जीव और ब्रह्म का प्रतिपादन तो शङ्कर भी करते हैं। जैसे—

"ईश्वर भी शरीर में होता है, हां शरीर में होता है, पर शरीर में ही होता है, ऐसा नहीं है, वह तो पृथिवी और अन्तरिक्ष से भी बड़ा है।" (छा० ३।१४।३) इससे ब्रह्म की व्यापकता द्योतित है और जीवात्मा शरीर में ही होता है, उसके भोगाधिष्ठान शरीर से अन्यत्र वृत्ति नहीं है (वे० १।२।३)।

चेतनत्व के कुछ साधर्म्य से दोनों की अभिन्नता नहीं कही जा सकती, अन्यथा तो सत्ता-साम्य से सूर्य-चन्द्र-पृथिवी आदि सभी में अभिन्नता माननी पड़ेगी, जड़त्व सामान्य से भी भूमि, जल, अनल, अनिल आदि की अभिन्नता नहीं

व्यापकसम्बन्धेनाऽपि न जीवो ब्रह्म अभिन्नत्वे मोक्षोपदेशवैयर्थ्यापत्तेश्च। एवं जीवोऽल्पज्ञः, ब्रह्म सर्वज्ञम्, जीवः सकायो ब्रह्म चाकायम्। अतो जैवेन रूपेण ब्रह्मणस्तत्र प्रवेश इति वचनमसमञ्जसमेव।

पृ० १३७१, अनु० १—यदुच्यते—"एवमेव अन्वाविशन्ति' इत्यस्यापि प्रलये प्रजाप्रवेशार्थकत्वं न सम्भवति, प्रलयस्याप्रासङ्गिकत्वात्। तथात्वे वा सृष्टौ तत आविर्भवन्तीत्यपि वक्तव्यम्, न तु तदुक्तम्" इति।

तदपि नाम किमप्याक्षेप्यमिति कृत्वाऽऽक्षिप्तम्। 'इह प्रजा अन्वाविशन्ति' इति शब्दैरेव इह अन्तराकाशाख्यब्रह्मणि 'सर्वाः प्रजायन्ते इति प्रजा अनु आसमन्ताद् विशन्ति' प्रलयाविर्भावयोरुभयोः परस्पराऽपेक्षत्वाद् उत्पत्तिरपि प्रजानां सहजानुमेया। अतो भूमिका-वैशिष्ट्यमेव।

पृ० १३७१, अनु० २—ऋषिदयानन्देन 'स पर्यगात् ....' 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इत्याभ्यां मन्त्राभ्यां परमात्मनो गुणस्मरणपूर्वकं सगुणोपासनायाः कायव्रणादिरहितत्वेन निर्गुणोपासनायाः कर्त्तव्यताऽभिहिता। तत्रायं वक्ति—

होती है। व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से भी जीव और ब्रह्म की अभिन्नता नहीं हो सकती। अभिन्न होने पर मोक्षादि-विधान भी व्यर्थ हो जायेंगे।

इस प्रकार जीव अल्पज्ञ, ब्रह्म सर्वज्ञ, जीव सकाय और ब्रह्म अकाय है। अतः जैवरूप से हृदय में उसका 'ब्रह्मप्रवेश' यह वचन सिद्धान्तहीन है।

पृष्ठ १३७१, अनु० १—"इसी प्रकार 'अन्वाविशन्ति' इस पद का भी प्रलयावस्था में सारी प्रजा उसमें प्रविष्ट हो जाती है। यह अर्थ नहीं हो सकता; क्योंकि प्रलय का यहां कोई प्रसंग ही नहीं है। वैसा होने पर भी उसी से प्रादुर्भूत होते हैं, ऐसा भी कहना चाहिए, परन्तु ऐसा कहा नहीं है।

यह भी 'आक्षेप करना चाहिए' इस धर्म को निभाने के लिए कहा गया है। वैसे इसमें कुछ भी सार नहीं है। यदि थोड़ा भी बुद्धि से काम लिया होता तो आप स्वीकार कर लेते कि प्रादुर्भाव और विलय दोनों ही कहे गए हैं। 'प्रादुर्भाव' का भाव प्रजा और 'आविशन्ति' से विलय का अर्थ प्रकट है। प्रलय और आविर्भाव दोनों ही परस्पर अपेक्षित भाव हैं। प्रजाओं की उत्पत्ति तो शब्द से सहज अनुमेय है। इसलिए भूमिका-अर्थ सर्वथा श्रेष्ठ व सुसंगत है।

अनु०२—स्वामीजी ने 'स पर्यगात्' तथा 'एको देवः' मन्त्रों से परमात्मा के गुणस्मरण से सगुणोपासना, काय आदि का न होने से निर्गुणोपासना की कर्त्तव्यता बतायी है। यहां करपात्रीजी कहते हैं कि "यह सब अज्ञान है। रूपरसादिरहित

https://t.me/DharmaSamrat

"तदेतत् सर्वमज्ञानविजृम्भितमेव। रूपरसादिरहितस्य सर्वज्ञाविगुणयुक्तस्यैक्येनोपासनाद्वैविध्यानुपपत्तेः। यथा स्पर्शादिरहितः शब्दसहितश्चाकाशो निर्गुणसगुणरूपेण न भिद्यते, तद्वत् सर्वज्ञादिगुणकस्य कतिपयगुणराहित्येन निर्गुणत्वं नैव वक्तुं शक्यते" इत्यादिलेखेन प्रतीयते मदयं गृहीतान्धविश्वासलगुडकरः स्वीयं मतिपात्रस्फोटमनुधावति।

न हि तावत् सगुणनिर्गुणत्वप्रत्यात्मवस्तुभेदः प्रतिपाद्यते; प्रत्युत उपासको यदा भगवद्गुणस्मरणपूर्वकोपासनं करिष्यति तदेदं सगुणोपासनम्, शरीरधारणादिगुणेभ्योऽपि बहिर्भूतं ध्यास्यति तदा निर्गुणोपासनम्। एवमुपासनाभेदो न तु वस्तुभेदः। पौराणिकैस्तु प्रायो जडप्रतिमापूजा सगुणोपासना मन्यते। तदा तेषां मते किं न सम्भवति निर्गुणोपासना? सम्भवत्यपि यथा नवधा भक्तिः, परं निर्गुणोपासना उच्चतमस्थितिप्राप्तमनसैव। तदपेक्षया मानसभूमिकाऽल्पस्थितिगतैः सगुणैव, तस्याः सारल्येन सम्भवात्। अतः शंकराचार्योऽप्याह—

'यद्यपि सत्सम्यक् प्रत्ययैकविषयं निर्गुणं चात्मतत्त्वं तथापि मन्दबुद्धीनां गुणवत्त्वेष्टत्वात् सत्यकामादिगुणवत्त्वं च वक्तव्यम्।" (छा० ८।१)।

और सर्वज्ञादिगुणयुक्त तो एक ही बात हुई तो उपासना की द्विविधता नहीं बनती। जैसे स्पर्शादिरहित और शब्दसहित आकाश निर्गुण और सगुणरूप से भी भिन्न नहीं हैं। उसी प्रकार सर्वज्ञादि गुणयुक्त और कुछ गुणों से रहित होने से निर्गुणता नहीं कही जा सकती।" इत्यादि लेख से यही प्रतीत होता है कि करपात्री जी अन्धविश्वास कर में लगुड लेकर अपने मतिपात्र को फोड़ने लिए प्रयत्नशील हैं।

महोदय! यहां पर सगुण और निर्गुण कथन द्वारा वस्तु के भेद का प्रतिपादन नहीं किया जा रहा है। उपासक जब भगवद्गुणों का स्मरण कर उपासना करेगा, तो सगुणोपासना तथा शरीरधारणादि गुणों से रहित नामों से उपासना करेगा, तो निर्गुणोपासना कहलाएगी। इस प्रकार उपासना-भेद हुआ, न कि उपास्यवस्तु का भेद। पौराणिक लोग तो प्रायः दृश्यमान जड़ प्रतिमादि की पूजा को सगुणोपासना मानते हैं। तो क्या पौराणिक मत में निर्गुणता नहीं सम्भव हो सकती है? हो तो सकती है, पर निर्गुणोपासना के लिए उच्च मनःस्थिति चाहिए। सगुणोपासना में अल्प मानस स्तर से भी गति हो सकती है। इसलिए आचार्य शंकर ने भी कहा है—

'यद्यपि आत्मतत्त्व सत्, एकमात्र सम्यक् ज्ञान का विषय और निर्गुण है, तो भी मन्दबुद्धि पुरुषों को उसकी सगुणता ही इष्ट है। इसलिए उसके सत्यसंकल्पादि गुणों से युक्त होने का प्रतिपादन करना आवश्यक है।'(छा० उ० ८।१)

आरम्भप्रयोजने यदाह—"केचित्तु प्राकृतगुणराहित्येन निर्गुणत्वं दिव्याप्राकृतगुणसाहित्येन सगुणत्वमाहुः। निर्विशेषाद्वैतवादिनस्तु सविशेषस्य निर्विशेषस्य च निर्गुणत्वं प्राहुः।" महाशय! अन्यमतानि तूल्लिखितानि परं स्वीयं भवतः किमत्र विषये मतम्? अथवा वेदार्थपारिजाते १८२ तमपृष्ठे च यदुक्तं तदेव मतम्, यत् "सावयवत्वेन कार्यत्वं तेन चानित्यत्वानुमानं शास्त्रविरुद्धत्वादाभासमानयोगक्षेममेव ·····। शास्त्रविरुद्धप्रमाणमिव ईश्वरविग्रहत्वमनित्यत्वादिसाधकानुमानमपि।" इति च।

अत्र नेदमप्रासङ्गिकं भवेद् यत् पौराणिका ईश्वरावतारग्रहणे यां कल्पनां कुर्वते साऽपि निराधारैव तन्मतेऽवतारस्य हेतवः प्रायेण पञ्च—

१—धर्मग्लानिः। २—अधर्मवृद्धिः। ३—धर्मसंस्थापना। ४—धर्मात्मरक्षा। ५—पापि-विनाश इति।

परं वास्तविकता पुराणैर्विरुध्यत एषा। यतः सर्वेऽवताराः शापादेव

"कुछ लोग प्राकृत गुणों के न होने से निर्गुण और दिव्य अप्राकृत गुणों की उपस्थिति के कारण ईश्वर को सगुण मानते हैं। निर्विशेषाद्वैतवादी दार्शनिक सविशेष ब्रह्म को निर्गुण मानते हैं।" यह आपने 'केचित्' करके अन्य मत लिखा है। इस विषय में आपका अपना अभीष्ट मत क्या है? अथवा वेदार्थपारिजात के पृष्ठ १८२पर यह कथन ही आपका मत है कि "सावयवत्व से कार्यत्व का, कार्यत्व से अनित्यत्व का अनुमान शास्त्रविरुद्ध होने से आभास ही माना जाएगा। इसलिए मनुष्य का कपाल पवित्र है; क्योंकि शंख शुक्ति आदि की तरह यह प्राणी का अङ्ग है, मनुष्य का मूत्र पवित्र है; क्योंकि वह भी गोमूत्र की तरह मूत्र है।" इसी तरह के अनुमान जैसे शास्त्रविरुद्ध होने से प्रामाणिक नहीं माने जाते, उसी तरह ईश्वर के शरीर और उसको अनित्य बतानेवाले अनुमान भी प्रामाणिक नहीं माने जा सकते।

यहां पर यह लिखना अप्रासङ्गिक न होगा कि पौराणिकों ने ईश्वर के अवतार लेने में जो कल्पना की है, वह वस्तुतः निराधार है। उनके मत में अवतार लेने के पांच कारण माने जाते हैं। जैसे—

(१) धर्म की ग्लानि होना। (२) अधर्म की वृद्धि होना। (३) धर्म की स्थापना। (४) धर्मात्मरक्षा। (५) पापियों का विनाश।

परन्तु पुराणों में इसका विरोध है। ये लोग नियोग को बुरा कहते हैं, पर व्यभिचार या अन्य स्त्री-प्रसंग को नहीं। पुराणों के अनुसार प्रत्येक अवतार शाप

https://t.me/DharmaSamrat

सम्भूताः। यथा – भृगोर्ऋषेः पत्न्याः शिर इन्द्रकथनेन विष्णुना छिन्नम्। एवं भृगोर्ऋषेः शापेन विष्णोर्जन्म लेभे।

यथा—

अवतारा मृत्युलोके, सन्तु मच्छापसम्भवाः।
प्रायो गर्भभवं दुःखं भुंक्ष्व पापाज्जनार्दन॥
(देवीभाग० स्क० ४०। अ० १२)

शप्तो हरिस्तु भृगुणा कमठेन कामम्,
मीनो बभूव कमठः खलु शूकरस्तु।
पश्चान्नृसिंह इति यच्छलकृद्धरायाम्,
तान् सेवतां जननि मृत्युभयं न किं स्यात्॥
(स्क० ५। अ० १९। श्लो० १८)

अन्यच्च –

भृगुपत्नीशिरच्छेदाद् भगवान् हरिरच्युतः,
ब्रह्मा शापात् पशोर्योनौ, संजातो मकरादिषु।
विष्णुश्च वामनो भूत्वा याचनार्थं बलेर्गृहे॥२५॥

के कारण हुआ है। जैसे—भृगु ऋषि की पत्नी का शिर इन्द्र के कहने से विष्णु ने काट दिया। तब भृगु ऋषि के शाप से विष्णु का जन्म हुआ। भृगु ने कहा—'हे विष्णु! मेरे शाप से मृत्युलोक में तुम्हारे अवतार हों, तुम अपने इस पाप से गर्भ में होनेवाले दुःखों को भोगो। (देवीभा० स्क० ४०। अ० १२)।

कुपित भृगु के द्वारा दिए गए शाप से विष्णु मछली बना। अवतार धारण करके कच्छप बना, शूकर बना, पश्चात् नृसिंह बना और भूमि पर बलिराजा को ठगनेवाला वामन बना। कहते हैं कि इनका सेवन करनेवालों को क्या मृत्युभय नहीं होता? अर्थात् अवश्य होता है।

इन प्रमाणों से स्पष्टतया सिद्ध होता है कि आपके भगवान् का अवतार धर्म-उद्धार के लिए नहीं, प्रत्युत शाप के फलस्वरूप दुःख भोगने के लिए मछली, कच्छप, शूकर आदि नीच योनियों में जाना पड़ता है।

अन्यत्र भी देखिए—भृगु ऋषि की पत्नी का शिर काट लेने के कारण भगवान् विष्णु भृगु ब्राह्मण के शाप से पशुयोनियों में जन्मे और वामन बनकर राजा बलि के घर भिक्षा मांगने के लिए गए। पाप-कर्म करनेवाला मनुष्य इससे अधिक दुःख और क्या भोग सकता है?

अतः किं स्यात् परं दुःखम्, प्राप्नोति दुष्कृतो नरः।
रामोऽपि वनवासेषु सीताविरहजं बहु॥३६॥
दुःखं च प्राप्तवान् घोरं भृगुशापेन भारत॥३७॥
(देवीभागवत स्क० ६। अ० ७)

एवमेव पद्मपुराणोत्तरखण्डे १५० तमेऽध्याये १-३० श्लोकं यावत्, षोडशेऽध्याये ५४-७० श्लोकं यावत्, शिवपुराणे रुद्रसंहितायां ३-४ अध्याययोर्नारदस्य शापेन विष्णो रामावतारो वर्णितः। गरुडपुराणे पूर्वखण्डे आचारकाण्डे ११३ अध्याये १५ श्लोके च कर्मण एव महत्त्वं जन्मधारणे।

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः,
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे॥

एतैः प्रमाणैः सिद्ध्यति यज्जीव एव कर्मफलभोगाय विविधयोनिषु गच्छति न तु परमात्मा।

निभाल्यतां वाल्मीकिरामायणे रामस्याऽपि वचनम्- अरण्यकाण्डे ६३ तमे सर्गे ३ ४ श्लोकयोः।

राम भी भृगु-शाप के कारण ही वनवास में सीतावियोगजन्य घोर दुःख को प्राप्त हुए। विष्णु ने जालन्धर का रूप धारण कर वृन्दा से व्यभिचार किया। वृन्दा को जब व्यभिचार के बाद पता चला कि यह मेरा पति जालन्धर नहीं है, बल्कि यह तो विष्णु है, इस पर उसने शाप दिया—'हे विष्णु! पराई स्त्री के साथ व्यभिचार करनेवाले तेरे इस स्वभाव को धिक्कार है। मैंने जान लिया कि तू छल-कपटयुक्त तपस्वी है। मुझको जैसे धोखा दिया गया है, उसी प्रकार तुम्हारी पत्नी को भी कोई छली-कपटी तपस्वी ले जाएगा।'

पद्मपुराण उत्तरखण्ड, अध्याय १५०, श्लोक १ से ३० तक तथा अध्याय १६ श्लोक ५४ से ७२ तक, इसी प्रकार शिवपुराण रुद्रसंहिता, अध्याय ३-४ में नारद के शाप से विष्णु का अवतार लेना बताया गया।

गरुड़पुराण के पूर्वखण्ड, आचारकाण्ड, अध्याय ११३ श्लोक १५ में लिखा है—जिसने ब्रह्मा आदि को नियमित किया है, उस कर्म के लिए नमस्कार है।

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि जीव ही कर्मफल भोग के लिए विविध योनियों में जाता है न कि परमात्मा।

और भी देखिये, वाल्मीकि रामायण में राम का भी कथन है कि मैं मानता

https://t.me/DharmaSomal

एवम् 'अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः' योगदर्शने जीवात्मन एव प्रत्यपाद्यन्त न तु परमात्मनः।

किमधिकं लप्येत पुराणकारैस्तु महाननर्थ एव कृतः। यथा श्रीमद्भागवते ब्रह्मणो घृणितं पुत्रीगमनम् (स्क० ३। अ० १२। श्लोकाः २८-३०)।

शिवपुराणे नग्नस्य शिवस्य ऋषिपत्नीनां समक्षे गमनम्। (कोटिरुद्रसंहितायाम् ११ अध्याये ६-१९ श्लोकेषु)।

शिवपुराणे शतरुद्रसंहितायां २५ तमेऽध्याये १३-३० श्लोकेषु शिवस्य महानन्दावेश्यया सह समागमः। ऋषिपत्न्या अनसूयायाः समक्षे ब्रह्मादीनां कुचेष्टाः। (भविष्यपु० पर्वखण्ड० ४। अ० १७। श्लो० ६७-७५)।

एतेनाऽयं रामादिविग्रहवत्तामीश्वरत्वं साधयन्नेवंविधामेवं सगुणोपासनां प्रश्रयते। तदत्र परीक्षणीयम्।

प्रथमं तु अत्र न किमपि शास्त्रीयप्रमाणमुद्धृतमतः साकारवादोऽयम् असम्भवभूमिकायामेव शेते। अनीश्वरवादी अपि एभिः किञ्चित् साम्यं धत्ते।

हूं कि मेरे समान पापकर्म करनेवाला दूसरा मनुष्य इस भूमि पर नहीं है, इत्यादि।

इस प्रकार योगदर्शन-प्रतिपादित अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (मृत्युक्लेश) जन्म लेनेवाले जीवात्मा को ही होते हैं।

और अधिक कहां तक कहें पुराणकारों ने इस धरती पर महान् अनर्थ ढाया है। जैसे कि—भागवत में ब्रह्मा का घृणित पुत्रीगमन वर्णित है। शिवपुराण में लिखा है कि शिवजी ऋषि-पत्नियों के सामने नंगे खड़े हो गये तथा शिव ने ही महानन्दा नाम की वेश्या से व्यभिचार किया (कोटिरुद्रसंहिता अ० ११, श्लोक ६-१९ तथा शिवपु० शतरुद्र सं० अ० २५, श्लो० १३-३०)। ऋषिपत्नी अनसूया के सामने ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने जो कुचेष्टाएं कीं, उनका वर्णन भविष्यपुराण पर्वखण्ड ४, अ० १७, श्लोक ६७ से ७५ में किया गया है।

इस से यह लेखक रामादि शरीर-धारण करनेवालों का ईश्वरत्व सिद्ध करते हुए ऐसे ही सगुणोपासना का आश्रय ले रहा है। अतः हम इस विषय की विशेष परीक्षा कर रहे हैं।

प्रथम बात यह है कि इन्होंने ईश्वर के अवतार या उसके साकार होने में कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं दिया है, अतः वह विचार असम्भव भूमिका में ही है। अनीश्वरवादी भी इनसे कुछ साम्य रखता है अतः दोनों पक्ष अनीश्वरवादी और अवतारवादी पक्षों को एकसाथ लेकर विचार किया जा रहा है।

ननु यदपि कार्यं तत् शरीरकर्तृजन्यम्, एतद्व्याप्त्या जगत्कर्तुरीश्वरस्यापि शरीरित्वेन भाव्यम्, अशरीरित्वे कर्तृत्वाभावापत्तेः। तदा पक्षा इमे उद्भवन्ति—

१—किमीश्वरं पक्षं मत्वा कर्तृत्वहेतुना तस्य शरीरित्वं साध्यते?

२—शरीरित्वाऽभावे ईश्वरस्य जगत्कर्तृत्वाभावः।

३ पृथिव्यादिपक्षं मत्वा कार्यत्वहेतुना तस्य शरीरित्वसाधनम्।

४—किंवा शरीराजन्यत्वात् पृथिव्यादिकार्यत्वाभावः?

५—शरीरजन्यत्वेन अकर्तृकत्वं वा?

६—उताहो सिद्धान्ते व्याप्तिस्तम्भनार्थं विपरीतव्याप्तेरुद्भावनमात्रम्?

इदं विकल्पषट्कं भवति।

आद्ययोराश्रयासिद्धिर्नास्तिकमते, पक्षभूतेश्वरस्य असिद्धत्वात् प्रत्यक्षाविप्रमाणैः शरीररूपसाध्यत्वाभावनिश्चयद्वारा उक्तहेतोर्बाधितत्वम्। अत एव वर्धमानाचार्येणोक्तं यत् 'ईश्वरपदस्याऽशरीरकर्तृवाचकत्वम्' अर्थाद् ईश्वरपदम-

---

जो-जो कार्य है, वह-वह शरीरी कर्ता से उत्पन्न होता है, इस व्याप्ति के अनुसार जगत्कर्ता भी शरीरी ही होना चाहिए। ईश्वर को सृष्टिकार्य का कर्ता माना जाता है। अतः वह भी शरीरी ही होना चाहिए। इसमें निम्न पक्ष उठते हैं—

१—क्या ईश्वर पक्ष को मानकर कर्तृत्व हेतु से उसका शरीरत्व सिद्ध किया जा सकता है?

२—शरीरी न होने से ईश्वर जगत्कर्ता नहीं हो सकता।

३—अथवा पृथिवी आदि को पक्ष मानकर कार्यत्व हेतु से शरीरी होना सिद्ध है।

४—किंवा शरीर से अजन्य होने से पृथिव्यादि कार्य नहीं है?

५—या उनमें शरीराजन्यत्व होने से ही कर्तृत्व का अभाव पाया जाता है?

६—अथवा सिद्धान्त में व्याप्तिस्तम्भनार्थ विपरीत व्याप्ति का उद्भावन मात्र है?

इसमें प्रथम और द्वितीय पक्ष आश्रयासिद्धबाध, अपसिद्धान्त और प्रतिज्ञाविरोध आ जाने से ठीक नहीं अर्थात् प्रथम पक्ष में वादी के मतानुसार अनुमान का स्वरूप यह है कि—'ईश्वरः शरीरी, कर्तृत्वात्, कुलालवत्।' अर्थात्

https://t.me/DharmaSanat

शरीरिकर्तृवाचकत्वेन ईशताया ज्ञानशक्तेः क्रियाशक्तेश्च स्वाभाविकतया वाचकम्।

तृतीयपक्षे 'यत् कार्यं तत् शरीरिकर्तृजन्यम्। एतदव्याप्तिनिश्चयाभावेन न वादिपक्षसाधकम्। एवमेवान्यविकल्पानां निराकृतौ सत्यां न सृष्टिरचनाकार्यार्थं शरीरत्वमीश्वरस्यावश्यकम्।

ननु अशरीर्यात्मनि क्रियाया असम्भवादीश्वरस्य जगत्कर्तृत्वमपि व्याहन्येत इति न वाच्यम्।

'ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नयोगित्वं कर्तृत्वं तच्चेश्वरेऽप्यस्तीति नानुपपत्तिः'। अर्थाद् यथा स्वशरीरचालनादिक्रियायां स्वरूपेण शरीररहितजीवात्मनि प्रयत्नादीनां सत्त्वात् कर्तृत्वं निर्बाधम्। तथैव शरीररहितेश्वरे ज्ञानादिपूर्वककर्तृत्वेन

कुलाल (कुम्भकार) के समान कर्ता होने से ईश्वर शरीरी है। इस अनुमान में 'कर्तृत्वात्' हेतु आश्रयासिद्ध है; क्योंकि अनीश्वरवादी के मत में पक्षभूत ईश्वर सिद्ध नहीं है; और असिद्ध को पक्ष मानना सर्वथा दार्शनिक शैली के विरुद्ध है; किन्तु जिसमें साध्य का सन्देह हो वही पक्ष कहाता है। असिद्ध साध्य होता है; पक्ष नहीं और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से शरीररूप साध्याभाव में निश्चय द्वारा उक्त हेतु बाधित है। यदि अनीश्वरवादी पक्षभूत ईश्वर में 'शरीरत्व' के लोभ से 'कर्तृत्व' मानें, तो 'असिद्धान्त' होने से किसी प्रकार का सन्देह नहीं। एवं ईश्वरः शरीरी अकर्ता वेति' ईश्वर शरीरी है किंवा ईश्वर अकर्ता है? इन प्रतिज्ञा-पदों का परस्पर विरोध होने से 'प्रतिज्ञा-विरोध' भी जानना चाहिए। इसी अभिप्राय से 'वर्द्धमानाचार्य' ने कथन किया है कि 'ईश्वरपदस्याऽशरीरकर्तृवाचकत्वम्'। ईश्वरपद अशरीरी-कर्ता का वाचक होने से ईश्वर में ईशता=ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति का स्वाभाविक बोधन करता है।

तीसरे पक्ष में 'यत् कार्यं तच्छरीरिकर्तृजन्यम्' जो कार्य है, वह शरीरी कर्ता से जन्य होता है, यह व्याप्ति निश्चित न होने से वादी के पक्ष की साधिका नहीं, इसी प्रकार अन्य विकल्पों की निराकृति हो जाने पर सृष्टि-रचना के कार्य के लिए ईश्वर का शरीरी होना आवश्यक नहीं।

पूर्वपक्ष—अशरीरी आत्मा में क्रिया न बन सकने से ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं हो सकता।

उत्तरपक्ष—जो ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न का आधार हो, वही कर्ता होता है। इस प्रकार ईश्वर में नित्यज्ञानादि पाये जाने से उसके कर्तृत्व में कोई बाधा नहीं अर्थात् जिस प्रकार स्वशरीर-चालनादि क्रिया में स्वरूप से शरीररहित जीवात्मा में प्रयत्नादिकों के पाये जाने से कर्तृत्व निर्बाध है, वैसे ही शरीररहित

काचिद् बाधा।

न च 'कुलालवच्च नैतस्य व्यापारो यदि कल्प्यते। अचेतनः कथं भावस्तदिच्छामनुरुध्यते' इति वाच्यम्, 'यथा ह्यचेतनः काय आत्मेच्छामनुवर्तते। तदिच्छामनुवर्त्स्यन्ते तथैव परमाणवः'।

एवं कुलालवद् ईश्वरकार्ये न काचिद् बाधा ईश्वरव्यापारेऽपि। नाप्यशरीरित्वेन क्रियादीनामनुपपत्तिः। एवं परमात्मनः शरीरधारित्वं न कथमपि सिध्यति, अतः श्रीकरपात्रोक्तमशास्त्रीयम् अखिलम्। तथा च कार्यं हि सर्वं सावयवं यत् तस्य चावश्यं विनाश्यत्वमपीति सिद्धमेव। अयं नियमो रामादिविग्रहेष्वपि घटते।

यच्चाहायमन्यत्र पृ० १८२ तमे "न च पूर्वोक्तनिरवयवाकायत्वादिबोधकवचनविरोधः, रूपभेदेन तदुपपत्तेः। यथा द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च' (बृह० उ० २।३।१) इति श्रुत्या ब्रह्मणो मूर्त्तामूर्त्तभेदेन रूपद्वैविध्यं जायते, तथैव परमेश्वरस्य निर्गुणनिराकार-सगुणनिराकार-सगुणसाकारभेदेन रूपत्रयव्यवस्था-

---

ईश्वर के ज्ञानादिपूर्वक कर्ता होने में कोई सन्देह नहीं और यह कहना कि शरीरवाले कुलाल की भांति ईश्वर का व्यापार सिद्ध होने से जड़ परमाणु ईश्वरेच्छा के अनुकूल सृष्टिरचना में प्रवृत्त नहीं हो सकते। उसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार अचेतन शरीर स्वरूप से अशरीरी जीवात्मा की इच्छा के अधीन होकर तत्तत्कार्य में व्यापारवाले होते हैं, उसी प्रकार जड़ परमाणुओं में भी ईश्वरेच्छानुसार क्रिया होती है।

इस प्रकार कुलाल की भांति ईश्वर-व्यापार में कोई बाधा नहीं और न अशरीरी होने से क्रियादि की अनुपपत्ति का दोष आता है। इस प्रकार परमात्मा का शरीरधारित्व किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकता। अतः श्री करपात्रीजी का कथन अशास्त्रीय है। इस प्रकार कार्य सभी सावयव हैं और उसका विनाश्यत्व सर्वथा सिद्ध है। यह नियम रामादि विग्रहों पर भी घटित है।

इनका पृ० १८२ पर यह कथन कि "इस तरह से परमेश्वर के निरवयवत्व और अशरीरित्व की प्रतिपादक पूर्वोद्धृत श्रुतियों का विरोध इसलिए नहीं होगा कि स्वरूपभेद से उन दोनों तरह की श्रुतियों का उपपादन किया जा सकेगा। जैसे कि ब्रह्म के दो रूप हैं, एक मूर्त और दूसरा अमूर्त्त। इससे मूर्त्तामूर्त्त द्वैविध्य है। उसी प्रकार परमेश्वर के निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-

https://t.me/DharmaSamrat

प्युपपद्यते"। इति। एतेनाऽयं परमात्मनः साकारनिराकाररूपद्वयं सिसाधयिषति, तन्न किञ्चिद् वेदमन्त्रमूलकम्। वेदेषु केवलनिराकाररूपस्यैव वर्णनमुपलभ्यते।

यन्नाम बृहदारण्यकं तदपि 'पञ्चभूतानां सत्यानां कार्यकारणात्मकानां स्वरूपावधारणार्थमिदं ब्राह्मणमारभ्यते। यदुपाधिविशेषनिषेधद्वारेण नेति नेति, इति ब्रह्मणः स तत्त्वं निर्विधारयिषितम्' इति शाङ्करवचनेन पञ्चभूतानामेव स्वरूपावधारणाय ब्राह्मणस्य प्रारम्भः। अयं श्रीकरपात्रस्तद्विपरीतम् असंगतं व्याचिख्यासया उद्धरति।

आचार्यशंकरः पुनरग्रे व्याचष्टे 'तदेतन्मूर्त्तं मूर्च्छितावयवम् इतरेतरानुप्रविष्टावयवं घनं संहतमित्यर्थः।··· ·····किं तत्परिशेषात्पृथिव्यादिभूतत्रयम्' इति। 'मूर्त्तभूतत्रयस्य रसो मूर्त्तमेव मण्डलं दृष्टं भूतत्रयसमानजातीयम्, न चेतनः' तथाऽमूर्त्तयोरपि भूतयोस्तत्समानजातीयेनैवामूर्त्तरसेन युक्तं भवितुम्, इति अर्थाद् यथा अमूर्तभूते वायुश्चान्तरिक्षं च जडजातीये तथैव रसोऽपि अमूर्त्तो जडश्च उचितः।

साकार इन त्रिविध रूपों की अवस्था मानी जाती है इससे यह लेखक परमात्मा के साकार-निराकार दो रूप सिद्ध करना चाहता है; परन्तु वेदमन्त्रों से परस्पर विरोधी दो रूप प्रमाणित नहीं। आलङ्कारिकरूप से इस संसार को मूर्त्तरूप कहना तो आपके सिद्धान्त अस्मदादिवत् शरीरपोषक नहीं हैं। केवल ब्रह्म-स्वरूप तो निराकार ही है।

जो यह बृहदारण्यक की बात कही है, वह भी "शरीर एवम् इन्द्रियरूप सत्यसंज्ञक पञ्चभूतों के स्वरूप का निश्चय करने के लिए यह ब्राह्मण है। जिस उपाधिविशेष के निषेध द्वारा 'नेति नेति' इत्यादि रूप से श्रुति को ब्रह्म के स्वरूप का निश्चय करना अभीष्ट है" (बृह० उ० २।३ अवतरणिका) इस शंकर-वचन से पञ्चभूतों का ही स्वरूपावधारण के लिए इस ब्राह्मण का प्रारम्भ है। जैसे कि "तदेतन्मूर्त्तं मूर्च्छितावयवम् इतरेतरानुप्रविष्टावयवं घनं संहतमित्यर्थः।·····— तत्पृथिव्यादिभूतत्रयम्" अर्थात् यह मूर्त्त मिले हुये अवयवों वाला है, इसके अवयव एक-दूसरे में अनुप्रविष्ट रहते हैं। यह घनीभूत संहत है····· जो कि पृथिवी, जल, तेज ये तीन भूत मूर्त्त हैं। ये ही मरणधर्मा हैं। मूर्त्त भूत इनका सार मूर्त्त मण्डल ही देखा गया है, वह जड़ है, चेतन नहीं।

इसी प्रकार अमूर्त्त भूतों का भी उनके समानजातीय अमूर्त्त रस होना चाहिए अर्थात् जिस प्रकार अमूर्त्तभूत वायु और अन्तरिक्ष जड़ जाति के हैं, उसी प्रकार उनका रस भी अमूर्त्त एवं जड़ होना उचित है।

एवम् अयं लेखकः शास्त्रपाण्डित्य-विजृम्भादम्भपीडितोऽल्पाध्ययनं प्रतारयत्येव भ्रान्त्युत्पादनेन।

न च निराकारः कश्चित्पदार्थः साकारो भवितुमर्हति, जगति तद् बाधक-दृष्टान्तानुपलब्धेः। जीवात्मपरमात्मानौ द्वावपि निराकारौ च। नेमौ त्रिकालेऽपि साकारौ भूतौ भवतो भविष्यतो वा।

पृ० १३७२, पं० ३—यच्चाप्याह—"तस्माद् यथा निर्घटं भूतलमित्युक्तौ सकलघटप्रतियोगिक एव निषेधो विज्ञायते, तथैव निर्गुणमित्यनेनाऽपि सकल-गुणप्रतियोगिकनिषेध एव मन्तव्यः, कस्याऽपि कीदृशस्याऽपि घटस्य सत्त्वे निर्घटं भूतलमिति प्रतीत्यदर्शनात्।"

इति वचस्तु एतस्य बुद्धेरेव दिव्यालयम्, दिवालयं वा प्रकाशयति, निर्घट-निर्गुणशब्दयोरुदाहरणवैषम्यप्रस्तुतेः। यतो हि यथाऽयं वक्ति निर्घटं भूतलमित्यत्र घटो हि द्रव्यम्, तदा निघटकथनेन कस्याऽपि द्रव्यस्याभाववद् भूतलं यदि गृह्येत, तदैव निर्गुणोदाहरणेन साम्यं जायेत। यथा निर्घटं भूतलं पटत्वाभावस्य न द्योतकं तथैव अकायमिति निर्गुणकथनं शुक्रशुद्धकविमनीषिव्यापकत्वाभाववद् ब्रह्म इत्यर्थं

इस प्रकार यह लेखक शास्त्रों के पाण्डित्य के विजृम्भादम्भ से पीड़ित थोड़ा अध्ययन किये लोगों को भ्रान्ति उत्पन्न कर प्रतारित कर रहा है।

कोई निराकार पदार्थ साकार नहीं हो सकता क्योंकि जगत् में ऐसा दृष्टान्त अनुपलब्ध है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही निराकार हैं और चेतन हैं। ये तीनों कालों में साकार न हुए, न हैं और न होंगे।

पृ० १३७२, पं० ३-७—"जैसे स्पर्शादि गुणरहित होने पर भी आकाश को निर्गुण नहीं माना जा सकता। इसलिये कुछ गुणों से रहित होने पर ईश्वर को निर्गुण नहीं कहा जा सकता। जैसे भूतल घट से रहित है, ऐसा कहने पर भूतल पर समस्त घटों का निषेध माना जाता है, उसी तरह निर्गुण कहने पर भी सभी तरह के गुणों का निषेध मानना पड़ेगा, जिससे कि सर्वज्ञ प्रभृति गुणों का निषेध आ जाता है।"

उक्त शङ्कन-परम्परा तो इस लेखक की बुद्धि का दिवालियापन, दिव्या-लापन, दिवालयापन प्रकाशित कर रही है; क्योंकि निर्घट और निर्गुण दोनों के विषय-उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। जैसा कि यह लेखक स्वयं कह रहा है 'निर्घटं भूतलम्' यहां पर घट तो द्रव्य है। तब निर्घट कहने से किसी द्रव्य का अभाव-वाला भूतल यदि ग्रहण किया जाये, तभी निगुण उदाहरण की समता हो सकती है। जैसे निर्घट भूतल पटत्वाभाव का द्योतक नहीं है, 'अकायम्' यह निर्गुण कथन शुक्र,शुद्ध, कवि, मनीषी, व्यापकत्वाभाव वाला ब्रह्म इस अर्थ को कभी भी द्योतित

https://t.me/Dharmadasamrat

न जातुचिद् अवगमयिष्यति । किमधिकम्, इह निर्मलोक्तिरेषा सुघटते—

दिव्यालयं याति दिवालयं वा,
न भूतले तिष्ठति सद्विवेके ।
या निर्घटं निर्गुणसाम्यवादे,
अतूतुलत् सा मतिरप्रशस्ता ॥

इति श्रीमद्बिहारीलालशास्त्रिशिष्येण श्रीयुतपण्डित-अयोध्याप्रसाद-मिश्रात्मजेन श्रीमदाचार्यविशुद्धानन्दमिश्रेण श्रीयुतनिर्मला-मिश्रा-सहधर्मिणीसहायेन विरचिते करपात्रिमतखण्डने दयानन्दीयमतमण्डने 'वेदार्थकल्पद्रुम'नामग्रन्थे 'उपासना-विषयः'
॥ सम्पूर्णः ॥

नहीं कर सकेगा। अधिक क्या लिखें, यहां पर यह निर्मलोक्ति सुघटित हो रही है—

जो बुद्धि सद्विवेक स्थिति में भूतल पर रहती ही नहीं और किसी अन्य दिवालय को चली जाती है तथा निर्घट और निर्गुण का तुलनात्मक उदाहरण देती है, ऐसी बुद्धि तो अप्रशस्त और दिवालिया है।

श्रीमान् पण्डित बिहारीलालजी शास्त्री के शिष्य, श्रीयुत पण्डित अयोध्याप्रसाद मिश्र के आत्मज, श्रीमदाचार्य विशुद्धानन्द मिश्र द्वारा श्रीयुतनिर्मला मिश्रा सहधर्मिणी की सहायता से विरचित करपात्रिमतखण्डन तथा दयानन्दीय मतमण्डन करनेवाले इस 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में 'उपासना-विषय'
॥ सम्पूर्ण हुआ ॥

अथ मुक्ति-विषयः

अमन्दादानन्दादमल-निगमोत्तुङ्गशिखरात्,
समुद्भूता भूताऽविरलकुशलं संविदधती ।
दयानन्दस्येयं विमलमुपदेशामृतपदम्,
विशन्ती गीर्गङ्गा भुवि दुरितभङ्गाय भवतात् ॥१॥

श्रुताम्भोधेर्नूनं परमपरपारं जनिजुषाम्,
समुत्कानां प्राप्तं भवतु विभुपूजानुगतया ।
सुवृत्त्या साधूनां विमलपरमानन्दजननी,
विमुक्तिर्भूतानां दुरितभयभङ्गाय भवतात् ॥२॥

पृ० १३७२, अनु० २—आ०—यत्तु स्वामिदयानन्देनोक्तम्—'परमेश्वरोपासनेनाविद्याऽधर्माचरणनिवारणाच् छुद्धविज्ञानधर्मानुष्ठानोन्नतिभ्यां जीवो मुक्तिमाप्नोति' इति, तदयं चिन्त्यमाह, मुक्तेः कार्यत्वेनानित्यत्वापत्तेः। अग्रेऽप्याह—"ईश्वरोपासनं कार्यम्, अविद्याऽधर्माचरणनिवारणमपि युक्तम्। विज्ञानस्य धर्मानुष्ठानस्य चोन्नतिरपि कर्त्तव्या, परं तावताऽपि तत्त्वज्ञानमन्तरा मुक्तिर्न सम्भवत्येव, 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इति मन्त्रवर्णात्। तदुद्धृतयोगसूत्रा-

---

अमन्द आनन्दस्वरूप, निर्मल वेदों के उत्तुङ्ग शिखर से प्राणियों का अविरल कल्याण करती हुई, मनुष्य को उपदेश से अमृत (मोक्ष) को प्राप्त कराती हुई, दयानन्द की यह वाणी रूपी गङ्गा पापों के भय के विनाश के लिये समर्थ होवे ॥१॥

ज्ञान के समुद्र के परमपार को जाने के समुत्सुक जन्मधारी लोगों की व्यापक विभु की पूजा में लगी हुई वृत्ति से विमल परमानन्द की जननी यह मुक्ति, पापों के भय के नाश के लिये समर्थ होवे ॥२॥

पृ० १३७२, अनु० २—आक्षेप—"परमेश्वर की उपासना द्वारा अविद्या अधर्माचरण निवारण से शुद्ध विज्ञान और धर्मानुष्ठान के द्वारा जीव मुक्ति को प्राप्त करता है। यह दयानन्द का कथन चिन्त्य है। इस प्रकार मुक्ति कार्य होने से अनित्य हो जायेगी।"

आगे भी कहा है कि "सब कुछ यह धर्मानुष्ठानादि करने पर भी तत्त्वज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। अपने मत की पुष्टि में भूमिका में अनेक सूत्र भी

https://t.me/DharmaSamrat

णामर्थाः संस्कृतभाषया न कृताः, हिन्दीभाषया चासङ्गता एवार्थो उक्ताः। उद्धृतसूत्राणि सर्वथा तन्मतविरुद्धान्येवेति संक्षेपेण प्रदर्श्यते।" इति।

समा०—इदमविकलं शास्त्रस्य गम्भीरतयाऽनालोचनफलम्। वास्तवं तु तत्त्वमेतत्—प्राक्तु अस्माभिर्मुक्तेरेव स्वरूपमालोच्यम्। ननु योगशास्त्रे पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा मुक्तिः। संस्कारा मनसि लीयन्ते, मनोऽस्मितायाम्, सा महतत्त्वे तच्च प्रधाने लीयते, एवं बुद्ध्यादिगुणानां लय एव मुक्तिः। न्यायशास्त्रे च 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' (मुक्तिः), वैशेषिके च 'तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः' (५।२।१२) अर्थात् सञ्चितकर्मणां ज्ञानद्वाराऽभावेन, प्रारब्धकर्मणां भोगेन, क्रियमाणकर्मणां च दोषाणां निवृत्तेः, संयोगाभावेऽर्थात् मनआदिकानां सम्बन्धाऽभावेऽप्रादुर्भावो हि मुक्तिः।

नवीननैयायिकानां मते एकविंशतिदुःखानां नाश एव मुक्तिः, सांख्ये च त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थोऽर्थात् मुक्तिः। नवीनवेदान्तिनां मते मिथ्याभूतसंसारस्य निवृत्तिः स्वात्मभूतब्रह्मणश्च प्राप्तिरेव मुक्तिः। रामानुजाचार्यमते कर्मसमुच्चयद्वारा ईश्वरगुणज्ञानमेव मुक्तिः। शून्यवादिनां मते च शून्यभाव-

---

लिखें हैं; किन्तु इनका अर्थ संस्कृत में नहीं किया। हिन्दी में किया हुआ अर्थ असङ्गत है, तथा उद्धृत सूत्र भी उनके मत के विरुद्ध हैं।"

समाधान—श्री करपात्रीजी का यह सारा कथन शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन न करने का परिणाम है। वास्तविक तत्त्व नीचे दिया जाता है। प्रथम तो इन्हें मुक्ति के स्वरूप को ही समझना चाहिये।

पूर्वपक्ष—(१) योगशास्त्र में स्वरूप की प्रतिष्ठा को मुक्ति कहा है अथवा संस्कार मन में, मन अस्मिता में, अस्मिता महत्तत्त्व में, यह तत्त्व प्रधान में लीन हो जाता है। इस प्रकार बुद्ध्यादि गुणों का लय ही मुक्ति है। (२) न्यायशास्त्र में दुःखों का अत्यन्त विमोक्ष मुक्ति है। (३) वैशेषिक में सञ्चित कर्मों का ज्ञान द्वारा अभाव होने से प्रारब्ध कर्मों के भोग से और क्रियमाण कर्म तथा दोषों के निवृत्त होने पर संयोग के अभाव होने से मन आदि का सम्बन्धाभाव होने पर मुक्ति होती है।

नवीन नैयायिकों के मत में २१ दुःखों का नाश ही मुक्ति है। (४) सांख्य में त्रिविध दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति ही पुरुषार्थ अर्थात् मुक्ति है। (५) नवीन वेदान्तियों के मत में मिथ्याभूत संसार की निवृत्ति और स्वात्मभूत ब्रह्म की प्राप्ति ही मुक्ति है। (६) रामानुजाचार्य के मत में कर्मसमुच्चय द्वारा ईश्वरगुणज्ञान ही

प्राप्तिरेव मुक्तिः। एवं विविधमतेषु कतमा खलु वेदशास्त्रसम्मता? इति प्रश्ने ब्रूमः—

स्वरूपनिष्पत्तिरेव कैवल्यं तदेव मुक्तिः। नाऽविद्याग्रस्तो हि कैवल्यपदभाग् भवति। तथा चोक्तम् 'परमज्योतिरुपसम्पाद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (छा०), एवं 'तमेव विदित्वा·····' इति मन्त्रेऽपि कैवल्यमेव मुक्तिः। तदभिन्ना न्याय-सांख्य-वैशेषिक-जैमिनि-व्यासानां ब्रह्मप्राप्तिरेव मुक्तिरित्येव मतम्।

वैदिकमुक्तेः स्वरूपं तु 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्' (यजुः ३१।१३) इति मन्त्रे स्पष्टं वर्णितम्। अयमेव ब्रह्मभावोऽथर्ववेदेऽपि। यथा—'वेदाहं विततं सूत्रं यस्मिन्नोताः प्रजाः समाः। सूत्रं सूत्रस्याहं वेदार्थो यद् ब्राह्मणं महत्।' (१०।८।३८)। तथैव वेदान्तेऽपि 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च' (४।४।२१)। अतोऽसन्दिग्धं वर्णामपि शास्त्राणां मतैक्यं वेदानुगामि।

न वैषा मुक्तिर्जीवस्य निरवधिका, यतो यस्यादिस्तस्यान्तोऽप्यनिवार्यः। आद्यशङ्कराचार्योऽपि छान्दोग्ये 'यावद् ब्रह्मलोकावस्थितिस्तावत्तत्रैव तिष्ठति, प्राक्ततो नाऽऽवर्त्तत इत्यर्थः' लिखति।

प्र०—परं ब्रह्म त्वनादि अनन्तमपि, तच्च सर्वदा वर्तमानं तिष्ठति, नातो

मुक्ति है। शून्यवादियों के मत में शून्यभावप्राप्ति ही मुक्ति है। इस प्रकार विभिन्न मतों में से कौन सी मुक्ति वेदशास्त्रसम्मत है?

उत्तरपक्ष—इस विषय में बताते हैं—

जो स्वरूप की निष्पत्ति है, वही कैवल्य व मुक्ति है। अविद्याग्रस्त जन कैवल्यपद का भागी नहीं बनता। जैसा कि कहा है—'परमज्योति को प्राप्त कर अपने रूप से निष्पन्न हो जाता है' (छा०), तथा 'उसी को जानकर कैवल्य ही मुक्ति है'। न्याय, सांख्य, वैशेषिक, जैमिनि, व्यास सभी ने ब्रह्मप्राप्ति को ही मुक्ति माना है।

वैदिक मुक्ति का स्वरूप भी यही है। 'तमसः परस्तात्' अज्ञानान्धकार से परे होना, यही भाव अथर्ववेद में भी शब्दभेद से एक ही मुक्ति से तात्पर्य है, जो वेदानुकूल है। इस प्रकार अन्य भिन्न मत शास्त्र के विरुद्ध है, ऐसा ही अथर्ववेद तथा वेदान्त (४।४।२१) में कहा है।

यह मुक्ति अवधिरहित नहीं है; क्योंकि जिसका आरम्भ है, उसका अन्त अनिवार्य है। आचार्य शङ्कर ने भी छान्दोग्य के भाष्य में लिखा है कि जब तक ब्रह्मलोक की अवधि है, तब तक जीव वहीं रहता है, उससे पहले नहीं आता है।

प्र०—किन्तु ब्रह्म तो अनादि और अनन्त भी है, वह तो सदा वर्तमान

https://t.me/Dharmasastra

ब्रह्मलोकायुषः प्रश्नः ।

उ०—अतोऽस्मिन् प्रकरणे यावदायुषमित्यस्यार्थो जीवद्वारा ब्रह्मलोकावाप्तिः । (छान्दो० ४।१५।५) इत्यत्रापि शङ्करः प्राह—'एतेन प्रतिपद्यमाना गच्छन्तो ब्रह्मेमं मानवं मनोः सम्बन्धिनं मनोः सृष्टिलक्षणमावर्त्तं नाऽऽवर्त्तन्ते ।'

अथ बृहदारण्यकेऽप्याह—'परा परावृताः प्रकृष्टाः समा अनेकान् संवत्सरान् वसन्ति । ब्रह्मणोऽनेकान् कल्पान् वसन्तीत्यर्थः । तेषां ब्रह्मलोकं गतानां नास्ति पुनरावृत्तिः ।'

तथा शतपथे वाजसनेयशाखायाः (१४।९।१।१८)—'तेषामिह न पुनरावृत्तिः' । तत्राहाचार्यशङ्करः- "यदिह नावर्त्तन्त एव 'इह' ग्रहणमनर्थकं स्यात् ।" अतः सार एष 'यन्निर्धारितावधेः पूर्वं नावर्तन्ते' । अयमेव चाभिप्रायः 'अनावृत्तिः शब्दात्' (वेदा० ४।४।२२) इत्यस्य ।

लोकेऽपि 'कश्चित् पुरुषो वैतनिकसेवायां स्थायी' इत्यस्याप्यभिप्रायो निर्धारितावधि यावत् सेवाकालस्य । आजीवनकारावासस्याप्याशयो वर्षाणां

रहता है, इसलिये ब्रह्मलोक की आयु का प्रश्न ही कैसे हो सकता है ?

उ०—इस शङ्का का समाधान यही है कि 'यावदायुषम्' का अर्थ जीव द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति है । यहां पर शङ्कराचार्य कहते हैं कि इससे ब्रह्म को प्राप्त होते हुए इस मनुष्यसम्बन्धी अर्थात् मनु की सृष्टिलक्षण आवर्त्त में नहीं आते हैं । जन्म-मरण के प्रवाहरूप चक्र पर चढ़े हुए प्राणी घटी यन्त्र के समान पुनः आया करते हैं । इस लोक को आवर्त्त कहते हैं ।

बृहदारण्यक में भी कहा है कि ये जीव ब्रह्म के अनेक संवत्सर अर्थात् अनेक कल्पों तक बसते हैं, उन ब्रह्मलोक गये हुओं की आवृत्ति नहीं होती ।

तथा वाजसनेयी शाखा के शतपथ में कहा है कि उन मुक्त पुरुषों की यहां पुनः आवृत्ति नहीं होती । उस पर आचार्य शङ्कर टिप्पणी देते हैं कि यदि कभी लौटते ही नहीं हैं, तो उक्त वाक्य में 'इह' ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा । अतः सार यही है कि निर्धारित अवधि से पूर्व इस संसार में नहीं आते । यही अभिप्राय वेदान्त के 'अनावृत्तिः शब्दात्' का भी है ।

लोक में भी देखा जाता है कि कोई पुरुष वैतनिक सेवा में जब स्थायी किया जाता है तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वह इस पद पर यावज्जीवन स्थायी बना दिया गया, प्रत्युत इसका आशय यही है कि वह सेवाकाल की जो भी (५५-६० वर्ष की आयु) अवधि है, तब तक है । किसी को आजीवन कारावास हो जाने का आशय यह कदापि नहीं कि वह जब तक जियेगा, तब तक जेल

विशति यावत् । एवमनित्यैव मुक्तिर्जीवस्य न नित्या ।

ये चात्र युक्तिं प्रस्तुवन्ति यत् सादिपदार्थोऽप्यनन्तो भवितुमर्हति । यथा—घट-प्रध्वंसः सादित्वेऽप्यनन्तः; परन्नैषा युक्तिर्युक्ता, उक्तनियमस्याभावपदार्थ एव घटितत्वात् न तु भावात्मके ।

किञ्च मुक्तेरनन्तत्वेऽयमपि दोषः, यद् यदा प्रवाहरूपेणाविद्याया अनादित्वम्, तदा न तस्याः सार्वत्रिकसार्वकालिक उच्छेदः सम्भवत्यल्पज्ञस्य जीवस्य, अर्थाद् वासनारूपाऽविद्यया धर्माधर्मौ, ताभ्यां सुखदुःखे, ताभ्यां रागद्वेषौ ताभ्यां च पुनर्धर्माधर्मौ जायेते, अनादिसमयाच्चलितमिदं चक्रं न तावदवरुध्यते ।

आम्, यदा हि प्रकृतेर्गुणा न मुक्तपुरुष-बन्धन-हेतवोऽवशिष्यन्ते ईश्वरानन्दोपभोगे च जीवो निमग्नो भवति, तस्याम् अवस्थायां तावन्तं कालमिदं चक्रं निरुद्धं जायते ।

षड्दर्शनतत्त्वज्ञो वाचस्पतिमिश्रो जीवानामसंख्यातत्वे निरवधिकमुक्तावपि

में रहेगा; प्रत्युत इसका अभिप्राय यही है कि वह आजीवन अर्थात् २० वर्ष की अवधि तक कारावास में रहेगा । इस प्रकार यह पूर्णतया सुनिश्चित है कि मुक्ति नित्य नहीं है ।

कुछ लोग युक्ति प्रस्तुत करते हैं कि सादि पदार्थ अर्थात् जिसका आरम्भ है वह अनन्त भी हो सकता है । जैसे घड़े का विनाश सादि होने पर भी अनन्त होता है । यह युक्ति यहां घटित नहीं होती; क्योंकि उक्त वाद अभाव पदार्थ पर ही घटित है, भावात्मक पर नहीं । जैसे प्रकाश का प्रतियोगी (अभाव) अन्धकार है, इस प्रकार केवल दुःख का अभाव मुक्ति नहीं है, वरन् दुःख के अभाव में अनन्त आनन्द की प्राप्ति मुक्ति है । आनन्द की सत्ता अवश्य है ।

दूसरे मुक्ति की अनन्तता में भी उक्त दोष उपस्थित होगा कि जब प्रवाहरूपेण अविद्या का अनादित्व है, तो उसका सार्वकालिक उच्छेदन नहीं होता, अर्थात् वासनारूप अविद्या से धर्म और अधर्म तथा इन दोनों से सुख और दुःख, इनसे राग-द्वेष और पुनः धर्माधर्म होते हैं । अनादि समय से चलित यह चक्र कदापि अवरुद्ध नहीं होता ।

हां, जब प्रकृति के गुण मुक्त पुरुष के बन्ध के हेतु नहीं बनते और ईश्वर के आनन्द में जीव निमग्न हो जाता है, उस अवस्था में यह चक्र निरुद्ध (सावधि) हो जाता है ।

षड्दर्शन-तत्त्वज्ञ वाचस्पतिमिश्र ने जीवों की असंख्यातता होने पर निरव-

https://t.me/Dharmasastra

न कदापि संसारसमुच्छेदः सम्भाव्यत इत्याह । परमत्याश्चर्यं यदेवंविधो विपश्चिद् ईश्वरदृष्ट्याऽपि जीवानामसंख्यातत्वं प्रत्यपादयदिति सर्वथा युक्तिशून्यम् ।

ब्रह्मसूत्र (२।१) स्य आरम्भणाधिकारे श्रीभाष्येऽप्यलेखीदयं यद् 'यदि एकैक-कल्पेऽपि एकैकपुरुषो मुक्तो भवेत्तदाऽपि समयस्यानन्त्येन तत्समयस्यागमनस्य सम्भावनाऽपरिहार्यैव यदा समेषां जीवानामुच्छेद एव भविष्यति ।' वस्तुतस्तु असंख्येयतायाः तात्पर्यं यद् या संख्या अस्माभिः संख्येयानां संख्यानं कर्तुं निर्धारिता तया असंख्येया जीवाः सन्ति, ब्रह्माऽपि तत्संख्यां न जानातीति तु नैवेत्यर्थः ।

अतो यदुक्तं करपात्रेण 'कार्यत्वेन मुक्तेरनित्यत्वापत्तेः' इति तु सर्वथाऽसङ्गतम्, नहि मुक्तेर्भौतिकपदार्थसंयोगनिष्पत्तिः, तस्मान्न तादृक् कार्यत्वम् । तत्र मुक्तिर्हि परमात्मस्वरूपा, सा च नित्यैव । परं जीवस्य तदधिगन्तृता न सार्वकालिकी, यतस्तेन निष्पादिताऽभिप्रपन्ना वा मुक्तिर्न निरवधिका । अतो जीवेनाऽधिगत आनन्दो नानन्तकालाय भवितुमर्हति । अथवा दुःखात्यन्तविमोक्षो मोक्षस्तथा सति ब्रह्मानन्दावाप्तौ नानन्तर्यता ।

धिक मुक्ति में भी कभी संसार का उच्छेद नहीं हो सकता, ऐसा कहा है; परन्तु आश्चर्य है कि इतना बड़ा विद्वान् भी ईश्वर की दृष्टि से भी जीवों की असंख्यातता का प्रतिपादन करता है। यह सर्वथा युक्तिशून्य है ।

ब्रह्मसूत्र (२।१) में सूत्र के आरम्भण-अधिकार में श्रीभाष्य में लिखा है, कि यदि एक-एक कल्प में भी एक-एक पुरुष भी मुक्त होता जाये, तब भी समय की अनन्तता से उस समय के आगमन की सम्भावना आ जायेगी, तब जीवों का समुच्छेद अर्थात् अभाव हो सकेगा (अतः यहां भी मुक्ति का सावधि होना युक्ति-युक्त है) । वास्तव में असंख्य होने का तात्पर्य है कि जो संख्या हम अल्पज्ञ जीवों की महासंख्या तक की संख्या में नहीं गिनी जा सके । इसका यह तात्पर्य नहीं कि इसके आगे सर्वज्ञ ब्रह्म भी उस संख्या को नहीं जानता ।

अतः यह कहना कि कार्य होने से अनित्यता आ जायेगी, तो कोई बात नहीं; क्योंकि वेदतत्त्वज्ञों को इस मुक्ति की अनित्यता ही तो सिद्धान्तित है । आपका कथन भी असङ्गत है । मुक्ति की अनित्यता अर्थात् नियत कालावधि ही शास्त्रीय सिद्धान्त है । मुक्ति कोई भौतिक पदार्थों के संयोग से नहीं बनती, अतः उसकी वैसी कार्यता नहीं है । मुक्ति परमात्मस्वरूप है, जो नित्य है । परन्तु जीव द्वारा उसकी प्राप्ति सार्वकालिक नहीं है; अतः अर्जित मुक्ति निरवधिक नहीं होती । अतः यह प्राप्त आनन्द सदा नहीं रहता । दुःख का अत्यन्त नाश होने पर ब्रह्मानन्द की प्राप्ति तत्काल होती है ।

अत्र महर्षिणा मुक्ति-साध्यता-लक्षणे विधीयमानेऽपि येनाऽविद्यानाशः, अधर्माचरणवारणम्, शुद्धविज्ञानस्य धर्मानुष्ठानस्य चोन्नतिर्भवतीति बोध्यते । तदनन्तमुक्तिस्तु तत्त्वज्ञानेन भवतीति नात्र ऋषेः कश्चित् प्रतिरोधः; तथा ऋषिणाऽप्यन्यत्र प्रतिपादितत्वात् ।

पृ० १३७३, अनु० २—पू० प०—"मिथ्याभाषणादिदूषणानां माताऽविद्या, या मूढानन्धकारे विषज्य दुःखसागरे सदा निमज्जयति । विदुषः सद्विद्यया विच्छिन्ना भूत्वा सा प्रसुप्ततनुर्नश्यति, तदा ते जीवन्मुक्ता भवन्ति ।' इति, सर्वथाऽप्येतद् व्याख्यानं सूत्रविसङ्गतं व्यासभाष्यं च विरुणद्धि । मूले उत्तरेषामस्मितादिक्लेशानां मूलत्वमविद्याया उक्तम्, मिथ्याभाषणादीनामिहाऽप्रसङ्गात्, प्रसङ्ख्यानमन्तरा सत्यवादिनामप्यविद्यादिक्लेशदर्शनात् । सद्विद्यया विच्छिन्ना भूत्वा प्रसुप्ततनुर्नश्यतीति विचित्रमेव । प्रसुप्ततनूनां केषाञ्चिदपि मृत्युर्न दृश्यते । सद्विद्याया इह सूत्रे चर्चाऽपि नास्ति । एवमपव्याख्यानेऽप्युदारेत्यस्य व्याख्यानं न कृतमेव । यदि तु

महर्षि ने यहां पर मुक्ति का लक्षण भी उद्धृत किया है, साथ ही ईश्वरोपासना का भी महत्त्व द्योतित किया है, जिससे अविद्या का नाश होता है । अधर्माचरण का वारण इससे शुद्ध विज्ञान और धर्मानुष्ठान की उन्नति होती है, वह अनन्त या अत्यन्त (जिसकी अवधि है) मुक्ति तत्त्वज्ञान से होती है । इसमें ऋषि का कहीं विरोध नहीं, ऋषि ने तो अन्यत्र भी इसका प्रतिपादन किया है ।

पृ० १३७३, अनु० २—पूर्वपक्ष—"ऋषि दयानन्द ने यह व्याख्या की है—'मिथ्याभाषण आदि दोषों की माता अविद्या है, जो कि मूढ जीवों को अन्धकार में फंसाकर जन्म-मरण आदि दुःखसागर में सदा डुबाती है । परन्तु जब विद्वान् और धार्मिक उपासकों की सत्यविद्या से अविद्या विच्छिन्न अर्थात् छिन्न-भिन्न होकर प्रसुप्ततनु=नष्ट हो जाती है, तब वे जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं ।" इस अर्थ पर करपात्रीजी आक्षेप करते हैं कि "यह व्याख्यान सर्वथा विसङ्गत है और व्यास-भाष्य के विरुद्ध है । सूत्र में अस्मिता आदि क्लेशों का मूल अविद्या बताई गई है । मिथ्याभाषणादि का यहां कोई प्रसङ्ग नहीं है । ज्ञान के विना सत्यवादी मनुष्य के भी अविद्या प्रभृति क्लेश दूर नहीं हो पाते । वह सत्य विद्या से विच्छिन्न होकर नष्ट हो जाती है, यह भी विचित्र ही बात है । किसी भी प्राणी के सो जाने पर मृत्यु हो जाती है, ऐसा नहीं देखा गया है । सद् विद्या की इस सूत्र में कोई चर्चा भी नहीं है । इस तरह से गलत व्याख्या करके भी दयानन्द ने 'उदार' पद का कोई अर्थ नहीं किया । 'उदार' का मुक्त हो जाते हैं, यह अर्थ मानना भी अप्रामाणिक है, क्योंकि मुक्त के अर्थ में 'उदार' पद का कहीं प्रयोग

https://t.me/DharmaSastra

उदारेत्यस्य मुच्यन्ते इत्यर्थः स्यात्, सोऽप्यप्रामाणिक एव। उदारशब्दस्य मुक्त्यर्थत्वे स्वेच्छाया अव्याहतप्रसरत्वेन 'लूलायी' शब्दस्याऽपि मुक्त्यर्थत्वापातात्" इति।

उ० प०—तदपि तु प्रदीप्ताङ्गारे अप्रतिबोधभस्माऽवगुण्ठनमिव अयथार्थवचनरचनजालपूरणात्। न चायं भावार्थो व्यासभाष्यं विरुणद्धि। तत्तत्त्वार्थोपवर्णनं तु न विरोधो गीयते। मूले सति शाखाप्रलग्नफलकथनानुषङ्गिता प्रसङ्गप्राप्तैव। यथाऽत्राविद्या पञ्चपर्वा अस्मितादिभिर्व्यज्यतेऽन्तर्मनसि, तथैव तज्जन्या मिथ्याभाषणादिदोषा बहिरिन्द्रियैरभिव्यज्यन्ते वाग्यादिभिः।

भवानेव ब्रूताम्, भवतेदं मिथ्याभाषणादिकं किन्न अविद्याजन्यम्, वस्तुतोऽस्त्येव। अविद्या यथा स्वयं क्लेशान्तर्गताऽपि अस्मितादिक्लेशानां जननी तथैवेयमस्मितादयोऽपि मिथ्याभाषणादिजनकाः। तथा च व्यासभाष्ये—'सर्व एवामी क्लेशा अविद्याभेदाः। कस्मात्? सर्वेष्वविद्यैवाभिप्लवते। यदविद्यया वस्त्वाकार्यते तदेवानुशेरते क्लेशा विपर्यासप्रत्ययकाले हि उपलभ्यन्ते क्षीयमाणां च अविद्यायामनुक्षीयन्ते' (यो० २।४) इति महर्षिणा तु व्यासभाष्यस्य सर्वत्र

नहीं देखा गया। इतने पर भी मनमाने तरीके से इसका यह अर्थ किया जाय, तो स्वेच्छा के बढ़ावे को रोकना कठिन हो जायेगा और 'लूलायी' शब्द का अर्थ भी हम मुक्ति करने लगेंगे।"

उत्तरपक्ष—इस लेखक का यह कथन दहकते अङ्गारों पर राख का पर्त चढ़ाने के समान है; क्योंकि समस्त कथन अयथार्थ है। व्यास-भाष्य से क्या विरोध है? इसने यह भी नहीं दर्शाया। 'अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः' इस सूत्र के भाष्य में जन्म-मरणादि दुःखों का मूल इन क्लेशों को माना गया है। अब उसमें भी अविद्या को शेष चारों का मूल माना है तथा स्वामीजी के भाष्य से यह भी ध्वनित होता है कि अस्मिता आदि मानसिक दोष और मिथ्याभाषणादि वाचिक दोष हैं। आप इसका प्रसङ्ग नहीं मान रहे हैं।

आश्चर्य है, थोड़ा सा भी बुद्धि का उपयोग करने पर ज्ञात होगा। अस्मितादि जनक और आप में भी ये मिथ्या भाषणादि जन्य हैं। ये चारों क्लेश अविद्या के ही भेद हैं, क्योंकि सभी क्लेशों में भी अविद्या ही व्याप्त हो रही है। जो वस्तु अविद्या के द्वारा प्रस्तुत की जाती है; अस्मितादि क्लेश उसी वस्तु का अनुगमन करने में प्रवृत्त हो जाते हैं।

मिथ्याज्ञान के काल में ही सब क्लेश उपलब्ध होते हैं और अविद्या के क्षीण होते जाने पर क्षीण होते चले जाते हैं। इन सभी सूत्रों में पौर्वापर्य सम्बन्ध इसी रूप में जुड़ता जायेगा। हम आपसे पूछते हैं, क्या वह अविद्या में फंसाकर

प्रामाणिकता घोषितेति तत्त्वविदो विदन्ति।

तदनु यदि सूत्रभाष्यगतैः शब्दैरेव तदनुपोषकभावोपलब्धेरूहनं सम्भवेत्तदवरतम्। यदा ह्यत्रैव सूत्रे संस्कृतश्लेषात्मकसन्धिनिष्ठयौगिकशब्दानां चमत्कृतिपूर्णोऽर्थो ध्वन्यते। यथा—

प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम्।
विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम्॥

इत्येवमेकतो व्याख्यानमिदमपरतश्च प्रसुप्ततनुविच्छिन्ना उदाराणामूर्ध्वस्थितिं प्राप्तानां तथाऽविद्या भवति। उदारा हि उच्चैरासमन्ताद् दान्ति ददतीति वा ते योगपथिका एवेति व्यज्यते। नात्र भावार्थो विरुणद्धि भाष्यम्। व्यासभाष्येऽपि (१।८) 'एत एव (क्लेशाः) स्वसंज्ञाभिस्तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र' इति। तमोऽविद्यामूलम् अन्धतामिस्रो हि अन्तिमः क्लेशः।

एवमृषिदयानन्दोक्तोऽविकलाऽर्थो व्यक्तो भवति यद् 'अविद्या (तमः) मूढान् (मोहयुक्तान्) अन्धकारे जन्ममरणादि (अन्धतामिस्रे) दुःखसागरे निमज्जयति'। यथाऽविद्यया मिथ्याभाषणादिदोषास्तथैव विद्यया ज्ञानेन सत्य-

---

मूढ़ों को दुःखसागर में नहीं डुबाती? किसी की मूल और शाखा के वर्णन किये जाने पर फल का कथन अप्रासङ्गिक कोई सिरफिरा ही कह सकता है। इस प्रकार विवेकियों का अस्मितादि तथा मिथ्याभाषणादि का मूल अविद्या को मानने में सर्वदा सहमति रही है। महर्षि ने व्यास महर्षि के भाष्य की अविकलरूपेण मान्यता घोषित की है, यह विद्वानों को सुविदित है।

यदि व्यासभाष्य के शब्दों से ही उसके पोषक भाव के ज्ञान का ऊहन हो, तो बहुत उत्तम है। जैसे यहां पर संस्कृत श्लेषात्मक, सन्धिनिष्ठ एवं यौगिक शब्दों का यह चमत्कार भी देखने को मिलता है।

विषयरत पुरुषों के विच्छिन्न तथा उदार होते हैं। उसी प्रकार उदार अर्थात् उर्ध्व स्थिति में गमन करनेवाले विद्वान् और धर्मात्मा उपासक की अविद्या छिन्न-भिन्न और प्रसुप्ततनु अर्थात् नष्ट शरीरवाली हो जाती है। योगसूत्र (१।८) के व्यासभाष्य में कहा है—कि वे क्लेश ही अपने नामों से क्रमशः तमः, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र कहलाते हैं।

इस प्रकार ऋषि दयानन्द का कहा हुआ अविकल अर्थ उक्त से अभिव्यक्त व सुपुष्ट है कि अविद्या अर्थात् तम-मूढ़ों अर्थात् मोहयुक्तों को अन्धकार (तामिस्र) में फंसाके अन्धतामिस्र अर्थात् जन्ममरणादि दुःखसागर में डुबा देती है। अविद्या से मिथ्याभाषणादि दोष होते हैं, तो विद्या से सत्यभाषणादि गुण स्वतः होंगे।

https://t.me/Dharmasanna

भाषणादिगुणा जायन्ते। तदा 'प्रसंख्यानमन्तरा सत्यवादिनामप्यविद्याक्लेशदर्शनात्' इति कथनं परास्तम्, अविद्यायां सत्यां सत्यवादित्वादिगुणानाम् असम्भवात्, मनसि सत्यनिष्ठे सत्यवादित्वाभियोगात्।

व्यासभाष्ये (२।४) 'अत्राविद्याक्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनाम्' एतस्यैव हिन्द्यामर्थमृषिरकरोत् "अस्मितादि चार क्लेशों की माता अविद्या है"।

यदाह—"सत्यविद्यया विच्छिन्ना प्रसुप्ततनुर्भवतीति विचित्रम्" तदपि अनधीत्य योगशास्त्रस्याऽस्याश्चर्यावहम्, 'क्लेशानां या वृत्तयः स्थूलास्ताः क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः प्रसंख्यानेन (ध्यानेन सत्यविद्यया वेति भावः) हातव्या यावत्सूक्ष्मीकृता इति' (२।११) इति मूलकत्वात्।

अतः ज्ञान के बिना सत्यवादियों को भी अविद्यादि क्लेश होते हैं। अतः इनका यह कथन बुद्धि की शत्रुता ही है। मन बुद्धि के सच्चे ज्ञानयुक्त होने पर ही सत्य-भाषण में प्रवृत्ति होगी। तब प्रश्न उठता है कि अविद्या किस से छिन्न या नष्ट होती है, तो सहज उत्तर है कि—विद्या से। आप ही बताइये—सूत्रों से बाहर पृष्ठ १३७६ पर 'अविद्यायाः स्वरूपविरुद्धेन तत्त्वज्ञानेनोन्मूलितायाः' 'अविद्या के स्वरूप से विपरीत तत्त्वज्ञान से अविद्या का नाश होता है' पंक्तियां कैसे आगयी हैं। उदार शब्द योगपथिक को ही अभीष्ट है। यह भावार्थ व्यासभाष्य के विरुद्ध नहीं है! सिद्धान्त में क्या विरोध है, बताइये?

व्यासभाष्य (२।४) में 'यहां अविद्या का क्षेत्र अर्थात् प्रसवभूमि (माता) बाद के अस्मितादि क्लेशों की' बस इसी मूल का अनुवाद ऋषि ने किया है कि "अस्मितादि चार क्लेशों की माता अविद्या है"।

यह कहना कि अविद्या सत्यविद्या से विच्छिन्न होकर नष्ट हो जाती है, यह कथन (स्वामीजी का) विचित्र है। सच है जिन लोगों ने योगशास्त्र का अध्ययन नहीं किया है, उनको स्वामीजी के कथन को अचरज ही मानना है। पर यह स्वामीजी का कथन 'क्लेशों की स्थूलवृत्तियां प्रसंख्यान अर्थात् ध्यान, ज्ञान व सत्यविद्या से सूक्ष्मीकृत हो जाती हैं' इस व्यासभाष्य के अनुसार सर्वथा ठीक है।

अल्पज्ञता की बात आप कहते हैं कि—"किसी के सोजाने पर मृत्यु हो जाये, ऐसा नहीं देखा जाता।" महोदय! मृत्यु मन, प्राण-त्याग अर्थ में प्रयुक्त है। वह भौतिक शरीर में अभौतिक जीव के आकर वियुक्त होने से होता है। यहां पर अविद्या और उसका शरीर (तनु) दो नहीं, अज्ञान है, वही उसका स्वरूप और तनु है। नष्ट होने का अर्थ 'मृत्यु' या 'प्राणवियोग होना' यह सर्वथा अयुक्त है। कुर्सी या पुस्तक आदि के नष्ट होने पर यह नहीं कहा जाता कि

पृ० १३७४, अनु० २ - यदुच्यते—"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' इति सूत्रे अनित्ये नित्यबुद्धिरविद्या तथैव 'यत्तु दयानन्देन नित्ये जीवे जगत्कारणे क्रियाक्रियावतोर्गुणगुणिनोर्धर्मधर्मिणोरेतन्नित्यपदार्थानां परस्परसम्बन्धेऽनित्यबुद्धिरविद्या इति अस्याः प्रथमो भागः। इति, तत्तु निर्मूलम्, असौत्रत्वात्। न चैतेन 'सौत्रपूर्तिरेवेति वाच्यम्, सर्वज्ञे सूत्रकारे तत्कल्पनाया नास्तिक्यमूलत्वात्, लोकेऽनित्ये देहादिकार्येषु नित्यत्वबुद्ध्या भ्राम्यति।"

इत्यादिसर्वं करपात्रस्य अनर्गलं लोकभ्रमजनकं वा, इह सूत्रे तद्विशिष्टपदपाठाभावेऽपि ऋष्यूहितार्थस्य ध्वनितत्वात्। सूत्र एव भाष्यगतपदान्वेषणे तु बहुभाष्यांशोऽपि एतद्वचसा निर्मूलं स्यात्, तत्तत्पदानामेकस्मिन्नेवेह सूत्रेऽपठितत्वात्, अपठितस्याऽप्यर्थस्य शास्त्रानुकूल्येन व्याख्यायमानत्वाच्च। यथात्रैव व्यासभाष्ये—"एतेनाऽपुण्ये पुण्यप्रत्ययस्तथैवानर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः" इति। 'मूलमस्य क्लेशसन्तानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्येति' इत्यादि असूत्रगतमुक्तं महर्षिणा व्यासेन। तथापि नेदं निर्मूलं कथयितुं वयं दुःसाहसं कुर्मः।

एतेनावगम्यते यथा अनित्यादिषु नित्यादिख्यातिरविद्या तथैव नित्यादिष्व-

---

इनकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार प्रकृत में अविद्या छिन्न-भिन्न तथा तनु (शरीर) अर्थात् स्वरूप से प्रसुप्त हो जाती अर्थात् नष्ट व अदृष्ट हो जाती है। 'उदार' का अर्थ यहां पर 'मुक्त' कहीं भी नहीं कहा गया है। अतः आरोप निराधार है।

पृ० १३७४, अनु० २—"दयानन्द का नित्य अर्थात् ईश्वर जीव तथा प्रकृति को अनित्य बुद्धि तथा क्रिया-क्रियावान्, गुण-गुणी, धर्म धर्मी इन नित्य सम्बन्धों को भी अनित्य मानना अविद्या का प्रथम भाग है।' यह निर्मूल है; क्योंकि यह बात सूत्र में कहीं नहीं है। इससे सूत्र की न्यूनता की पूर्ति भी नहीं कह सकते; क्योंकि सूत्रकार तो सर्वज्ञ है, उसमें वह सोचना नास्तिकता है। सभी लोग अनित्य देहादि कार्यों में नित्यत्वबुद्धि करके भ्रान्त होते हैं।"

यह कथन भी भ्रान्तिजनक है। क्योंकि सूत्र में यह विशिष्ट-पद नहीं पढ़ा गया है, तब ऋषि दयानन्द का अर्थ ध्वनित होता है। अन्यथा भाष्य के बहुत से आशय भी निर्मूल होने लगेंगे। समस्त भाष्य की भाषा तो सूत्र में कदापि नहीं आ सकती। अपठित शब्दों की व्याख्या प्रसंगतः भी कर दी जाती है। जैसे यहीं पर भाष्य में लिखा है कि—'इससे अपुण्य में पुण्य का प्रत्यय (ज्ञान), उसी प्रकार अनर्थ में अर्थ का विश्वास करना भी अविद्या है, यह अर्थ भी व्याख्यात हो जाता है।' इस अर्थ में मूल निम्न प्रमाण है—'मूलमस्य क्लेशसन्तानस्य .....' इत्यादि। पर यह असौत्र होने से निर्मूल नहीं है।

इससे यह अवगत होता है कि अनित्य आदि में नित्य आदि आख्याति भी

https://t.me/DharmaSamrat

प्यनित्यादिख्यातिरपि अविद्येवेति व्याख्यातुं नानर्हम्। सूत्रं तु सूत्ररूपं भवत्येव न तु तद्व्याख्यानम्।

केनापि व्याख्यात्रा तत्राऽपठितत्वेऽपि तदनुकूलशास्त्रप्रतिपाद्यमाहरणीयमेव भावपूर्त्तये, पुनर्भवता मुधैव बोधमुग्धेन कुकल्पनाक्लेशजुष्टेन स्वहस्तपादोत्पाटनं क्रियेते। अत्रेदमप्यवगन्तव्यं यदस्य सर्वज्ञः अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिः। तद्यथा—'अमृतादिवौकस' इति कथने तव देवानाममृतत्वं नित्यत्वं वा अविद्याकोटावगणयत्। इह स्मृतिपथमवतरति निर्मलोक्तिः—

कूपमण्डूकमापृच्छन् एकदा मानसौकसः।
ब्रह्माण्डपरिधिं ब्रूहि, ऊचे हस्तद्वयात्मकम्॥

एवमनूहनशीलाऽस्यानुर्वरा मतिः संकीर्णपरिधावेव भ्राम्यति, न शास्त्रस्य पौर्वापर्यं परिचिनोति न चैहत्यमपि अन्वीक्षते। यथा चाह—(२।५) 'अनर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः' इत्यनेनाऽपि ध्वन्यते अतदर्थे पदार्थे तदर्थप्रत्ययोऽपि अविद्यैव। तथैव 'तस्य हेतुरविद्या' (२।४) इति सूत्रभाष्ये "अविद्या विपर्ययज्ञान-

---

अविद्या है, उसी प्रकार नित्य आत्मा आदि में अनित्य अनात्मा आदि आख्याति भी अविद्या है, यह व्याख्यान सर्वथा ठीक है। सूत्र तो सूत्ररूप में ही होगा, पर उसके व्याख्यान में तो अधिक पद ही रखने पड़ेंगे।

यह कहना भी असत्य है कि स्वामी दयानन्द इस व्याख्या से सूत्र की पूर्ति कर रहे हैं। आप व्यर्थ ही कुकल्पना में हाथ-पैर पटक रहे हैं। इसके साथ आपको याद रखना चाहिए कि महर्षि व्यास ने तुम्हारे देवताओं की अमरता और नित्यता मानना भी अविद्या कोटि में ही रखा है। अनित्य कार्य में भी नित्यता की ख्याति कर रखी है, जैसे—'अमृतादिवौकसः। यहां पर निर्मलोक्ति याद आ रही है—

एक बार मानससरोवर के मेंढकों ने कुएं के मेंढक से पूछा कि बताओ 'ब्रह्माण्ड की परिधि क्या है?' तो उसने उत्तर दिया कि 'कुल दो हाथ'।

उसी प्रकार ऊहनशील प्रतिभा से रहित इनकी अनुर्वरमति संकीर्ण कूप-परिधि में ही घूमती रहती है। वह न तो शास्त्र के पौर्वापर्य को ही देखती है और न प्रसंग का ही अन्वीक्षण करती है। जैसा कि (२।५) में कहा है कि अनर्थ में अर्थप्रत्यय की व्याख्या कर दी। इससे भी ध्वनित है कि अतदर्थ पदार्थ में तदर्थ का ज्ञान भी अविद्या है। उसी प्रकार 'उसका हेतु अविद्या है' (२।२४) सूत्र के भाष्य में "अविद्या अर्थात् विपर्ययज्ञान-वासना है। विपर्ययज्ञान की वासना से

वासनेत्यर्थः। विपर्ययज्ञानवासनावासिता च न कार्यनिष्ठां पुरुषख्यातिं बुद्धिः प्राप्नोति। साधिकारा पुनरावर्तते" इत्यनेनाऽपि विपर्ययज्ञानवासना अविद्यैव। तदा नित्य-ईश्वरजीवजगत्कारणादावनित्यबुद्धिः, शुचावशुचिबुद्धिः, सुखे दुःख-बुद्धिरात्मनि चाऽनात्मबुद्धिरप्यविद्यैव।

एवं महर्षेर्व्याख्यानं व्यासमहर्षेर्भाष्यस्य पूर्तिकरं विशदव्याख्यानमेव।

यदाह—'सर्वज्ञे सूत्रकारे' तदपि तेऽल्पज्ञतैव। नासौ सर्वज्ञोऽपि तु सर्वज्ञकल्प एव ब्रह्मण एव केवलस्य नित्यनिरपेक्षसर्वज्ञत्वात्। योगिनः सर्वज्ञत्वं हि सर्वात्मनां गुणानां शास्त्रोदिता व्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोपारूढं विवेकजं ज्ञान-मित्यर्थः। अतो जीवात्मनः सर्वज्ञता न। कदाचित् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यस्य अद्वैतपरकत्वे व्याचिख्यासायां भवानपि सर्वज्ञो महर्षिदयानन्दोऽपि वा भवद्दृशा।

पृ० १३७४, अनु० २, पं०।३—यदुक्तम्—"यश्च देहादिभिन्नं तद्विलक्षण-मात्मानं जगद्विलक्षणं चेश्वरं जानाति, स तयोर्नित्यत्वमपि जानात्येव, अनित्यत्वे देहजगदादिसाधारण्यापत्त्या तद्विलक्षणत्वासिद्धेः।" इत्याद्यप्यविचारितमेव।

वासित कार्यनिष्ठ पुरुषख्याति को बुद्धि प्राप्त नहीं करती। साधिकार वह पुनः आवर्तित होती है।" इससे भी विपर्ययज्ञान वासना ही ठहरती है। तब नित्य ईश्वर, जीव तथा जगत् के कारण में अनित्यबुद्धि, पवित्र में अपवित्र बुद्धि, सुख में दुःखबुद्धि और आत्मा में अनात्मबुद्धि करना अविद्या ही है।

इस प्रकार महर्षि दयानन्द का व्याख्यान महर्षि व्यास के भाष्य की पूर्ति कर विशाद व्याख्या ही है।

सूत्रकार का सर्वज्ञ-विशेषण देना आप सदृश नवीनवेदान्ती को शायद इसलिए शोभा दे रहा है कि जिस से आप की भी अनर्गल बकवास आपके ब्रह्मा से अभिन्न होने के कारण प्रामाणिक मान ली जावे। यह तो आपकी अल्पज्ञता है। वे सर्वज्ञकल्प तो कहे जा सकते हैं; क्योंकि नित्य-निरपेक्ष सर्वज्ञ तो केवल ब्रह्म ही है। फिर तो आपके वचन से स्वामी दयानन्द भी सर्वज्ञ ठहरेंगे।

पृ० १३७४, अनु० २, पं० ३—यह कथन कि "जो व्यक्ति देहादि से भिन्न और इससे विलक्षण आत्मा को और जगत् से विलक्षण ईश्वर को जानता है, वह उन दोनों की नित्यता को भी जान लेता है। यदि इनको भी अनित्य माना जाये तो उस स्थिति में इन की देह, जगत् प्रकृति के समानता के रहते बिलक्षणता कैसे सिद्ध हो पायेगी।"

उक्त समस्त कथन व्यर्थ और अविचारित है; क्योंकि जब तक नित्य या

https://t.me/DharmaSamraj

नित्याऽनित्योपदेशेन विना तज्ज्ञानस्यानुदयात् ।

पृ० १३७५, पं० १-४ यदाह—"क्रिया-क्रियावतोर्गुणगुणिनोर्धर्मधर्मिणोश्चानित्यत्वमेव । 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' (बृह० ४।४।१९) इति ब्रह्मातिरिक्तस्य सर्वस्यैवानित्यत्वमिथ्यात्वोपपत्तेः । निर्विकारे कूटस्थे क्रियावत्त्वाद्यनुपपत्तेः । अन्यथा पृथिव्यादीनामपि नित्यत्वं स्यात्, तत्रापि धर्मधर्मिभावोपपत्तेः । सांख्ययोगादिदृष्ट्या घटाद्यव्यक्तान्तानां समेषां परिणामित्वेनानित्यत्वमेव, पुरुषस्य कूटस्थत्वनिर्विकारत्वादिभिर्नित्यत्वमेव ।"

इति सर्वं शास्त्रस्य गहनाननुशीलनफलम् । अत्र त्वया ऋषिवाक्यं छलेन प्रस्तूयते । यदाहि भूमिकायां क्रिया-क्रियावतोर्गुणगुणिनोर्धर्मधर्मिणोः सम्बन्धस्यैव नित्यत्वं प्रतिपाद्यते न तु क्रिया-क्रियावदादीनाम् । न चैवं वाऽपि नियमो यद् गुणधर्माणां तत्तद्वतां चाऽनित्यत्वमेव स्यात् । यतो हि नित्यगतानां परमाण्वादीनां स्वभावगुणधर्मास्तु नित्या एव । यथा सर्वज्ञस्येश्वरस्य गुणादयः स्वाभाविकतया नित्या एव । परमल्पज्ञस्य क्रियास्त्वनित्या एव । परमाणवो यद्यपि नित्याः, परं तेषां क्रिया न स्वाभाविकी, किन्तु नैमित्तिकी विद्यते, परमात्मना प्रदत्तत्वात् ।

अनित्य का उपदेश नहीं दिया जायेगा, तब तक उसका ज्ञान भी कैसे होगा ?

पृ० १३७५, पं० १-४—"क्रिया-क्रियावान्, गुण-गुणी, धर्म-धर्मी को तो अनित्य ही माना जाता है । यहां नाना कुछ भी नहीं है । इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म से भिन्न सभी कुछ अनित्य और मिथ्या हो जाता है । निर्विकार कूटस्थ ब्रह्म में क्रियावत्ता आदि की उपपत्ति नहीं हो सकती । ऐसा मानने पर पृथिवी आदि की भी नित्यता माननी पड़ेगी, क्योंकि धर्मधर्मी भाव यहां पर भी है । सांख्य, योग आदि दर्शनों के अनुसार घट से लेकर अव्यक्तपर्यन्त सभी परिणामी पदार्थ अनित्य माने जाते हैं । और पुरुष कूटस्थ निर्विकार होने से नित्य माना जाता है ।"

पारिजातकार ने उक्त कथन छलपूर्वक प्रस्तुत किया है । इन्होंने ऋषि दयानन्द की शब्दावली की यहां उपेक्षा की है तथा उसका सम्यग् अध्ययन नहीं किया है, क्योंकि ऋषि क्रिया और क्रियावान् की नित्यता यहां कहते ही नहीं है, अपितु वे क्रिया, क्रियावान् आदि के परस्पर सम्बन्ध की नित्यता कहते हैं, जो आपको भी मान्य है । अतः शेष कथन आपकी उक्त मरोड़ी हुई शब्दावली की दुरभिसन्धि पर खड़ा हुआ प्रासाद है जो अब स्वतः धराशायी हो जाता है । यह भी कोई सिद्धान्त प्रामाणिक नहीं है; कि प्रत्येक क्रिया, गुण और धर्म अनित्य हो । नियम यह है कि ये नित्यगत नित्य तथा अनित्यपदार्थगत अनित्य होंगे । जैसे ईश्वर के ये सब नित्य हैं । परमाणुओं की क्रिया स्वाभाविकी न होकर

ब्रह्म हि जगतो निमित्तकारणम्, नोपादानम् । ये चोभयकारणत्वं प्रतिपादयन्ति ते त्वज्ञा एव । न वाऽपि केवलप्रकृतेरेव जगदुत्पादः । तथा सति कुम्भकारेण विना घटाद्युत्पाद्यत्वापत्तेः ।

प्रश्नः—ननु 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इति छान्दोग्यानुपपत्तिरापद्येत ब्रह्मणोऽतिरिक्तपदार्थसत्ताङ्गीकारे इति वाच्यमिति चेन्न, 'सच्चिदानन्दस्वरूपम्' इति ब्रह्मणो लक्षणादेव तदापत्तिसमाधानमद्वितीयमनुपमं न तादृगन्यदिति व्याख्यानस्यौचित्यात् । न चेश्वर-जीव-प्रकृतीनां स्वीकृतौ 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इत्याद्युक्तीनां कुत्रावस्थितिः स्यादिति वाच्यम्, उक्तत्रयाणाम् ईश्वरादीनां वस्तुतः सत्त्वात् ।

न चासति नानात्वे, यो नानात्वमध्यारोपयत्यविद्यया स एव मृत्योर्मृत्युमाप्नोति, अतोऽविद्याऽध्यारोपणव्यतिरेकेण नास्ति परमार्थतो द्वैतमिति वाच्यम्, नवीनाद्वैतवादे ब्रह्मणो ब्रह्मणि ब्रह्मणाऽध्यारोपसम्भवाभावात् । तस्माद् ब्रह्मणोऽतिरिक्त एव जीवः । शिष्टं विशिष्टं वेदार्थकल्पद्रुमस्य प्रथमखण्डे ६४, ३५९

ईश्वरप्रदत्त है । कूटस्थ निर्विकार ब्रह्म की 'स्वाभाविकी ज्ञान, बल क्रिया है' । अज्ञानी ही ब्रह्म को अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानते हैं । केवल न प्रकृति से ही जगत् की उत्पत्ति हो सकती है, अन्यथा कुम्भकार के बिना ही घट बनने की बात आ पड़ेगी । सांख्य-योग की उक्त बात का समर्थन तो ऋषि ने किया है ।

प्रश्न—"ब्रह्म से अतिरिक्त पदार्थ स्वीकार करने पर 'सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्' आदि की अनुपपत्ति होने लगेगी" ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि सत्, चित् और आनन्दस्वरूप लक्षण से ही उसका समाधान हो जायेगा । तथा ईश्वर, जीव और प्रकृति इनको नित्य स्वीकार करने पर 'मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है, जो नाना देखता है' या 'ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या है' इत्यादि उक्तियों का कहीं स्थान होगा ?

समा०—यह कथन भी ठीक नहीं; क्योंकि जो वस्तु जैसी है उसको वैसी न मानना अविद्या है । जैसे रज्जु को सांप समझना या सांप को रस्सी समझना दोनों ही भ्रान्ति हैं । इसी प्रकार तीनों वस्तुओं की वास्तविकता है ।

शङ्का—ऐसा क्यों न समझा जाये कि वस्तुतः नानात्व है तो नहीं, लेकिन अविद्या के कारण नानात्व का आरोप कर लिया जाता है, अतः अविद्या अध्यारोप से व्यतिरिक्त परमार्थ में द्वैत नहीं है ।

समा०—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि नवीन अद्वैतवाद में ब्रह्म का ब्रह्म में ब्रह्म के द्वारा अध्यारोप करना सम्भव नहीं है । इसीलिये ब्रह्म से

https://t.me/Dharmasastra

आदि-पृष्ठेषु द्रष्टव्यम् ।

पृ० १३७५, पं० ५ तः, आक्षेपः—यच्चाह—"अशुचौ नदीसरोवरादि-तीर्थेषु पापमोचनाय तीर्थस्नानचरणोदकग्रहणादिः, एकादश्यादिमिथ्याव्रतेषु क्षुत्-पिपासादिसहनमविद्या, इति, तत्तु नास्तिक्यमूलकमेव, गङ्गायमुनापुष्करादीनां पावनहेतुत्वस्य महाभारते वनपर्वणि विस्तरेण वर्णितत्वात्, मृज्जलादिभिर्देह-शौचस्य मन्वादिधर्मशास्त्रसम्मतत्वात्, प्रत्यक्षादिविरोधाच्च, मलमूत्रादिकृताया अशुद्धेर्मृज्जलादिभिः प्रत्यक्षमेव निवारणदर्शनात् । एकादश्यादिव्रतानां च पावन-हेतुत्वं विष्णुपुराणादिसम्मतम् । तेषां प्रामाण्यं च महता संरम्भेण साधितम् । जितेन्द्रियत्व-निष्काम-शम-सन्तोषादिविवेकप्रसादादिषु दुःखबुद्धिरविद्येत्यपि न युक्तम्, व्याहृतेः ।"

समा०—विचित्रा ते गतिः, यत् सत्यविद्या-सत्यभाषणादावविद्यात्वं मण्ड-यति, असत्यदुराचारादिषु सुखबुद्धिं च । अहो, पक्षपातप्रलेपपराकाष्ठा यत् खण्डनलक्ष्यतया सदसद्विवेकशून्यतामवृणोत् ।

अतिरिक्त जीव की सत्ता है । अधिक प्रथम खण्ड में ६४, ३५९ पृष्ठों पर देखिये ।

पृ० १३७५, पं० ५—आक्षेप—"दयानन्द ने आगे लिखा है 'तालाब, बावड़ी, कुण्ड, कुआं आदि में तीर्थ और पाप छुड़ाने की बुद्धि करना और उनका चरणामृत पीना, एकादशी आदि मिथ्याव्रतों में भूख, प्यास आदि दुःखों का सहना अविद्या है' किन्तु उनका यह कथन नास्तिकता से प्रेरित है, क्योंकि महाभारत के वनपर्व में विस्तार से गङ्गा, यमुना, पुष्कर प्रभृति तीर्थों को पवित्र बताया गया है । मिट्टी, जल आदि से देह की शुद्धि मन्वादि धर्मशास्त्रों से सम्मत है; क्योंकि मिट्टी आदि से अशुद्धि का परिहार हम प्रत्यक्ष देखते हैं ।" इत्यादि ।

समा०—आपका उक्त कथन कदापि सङ्गत नहीं है; क्योंकि आप ब्रह्म से अतिरिक्त उपासनीय में बुद्धि रखने का औचित्य बता रहे हैं । आपके भी ग्रन्थों में लिखा है कि 'जो व्यक्ति जलों में तीर्थबुद्धि रखता है वह बुद्धिमान् व्यक्तियों में निरा बैल या गधा है' इससे भी निषेधप्राप्ति है । देह की मिट्टी, जल से शुद्धि का विरोध तो ऋषि ने नहीं किया है, परन्तु ऋषि द्वारा इन तीर्थों पर पहुंच स्नान करने से पापविमोचन का विरोध किया जा रहा है । सत्यविद्या, सत्यभाषण, जितेन्द्रियता आदि में कष्ट मानना और असत्य, दुराचार आदि में सुखबुद्धि करना क्या अविद्या नहीं है ? ओह ! पक्षपात-प्रलेप की पराकाष्ठा है कि आप खण्डनलक्ष्य की उस भूमिका तक आये कि सदसद्विवेक ही नष्ट हो गया । यह चिन्तनीय है ।

यदुच्यते नास्तिक्यमूलकमेतत्, तत्तु न बुद्ध्याऽनुमतम् । आस्तिक्यं हि पर-लोकवेदेश्वरश्रद्धावत्त्वं तदृषेरस्ति । गङ्गादिजलं हि 'अङ्गिर्गात्राणि शुध्यन्ति' इति विधानेन केवलं गात्रशोधकं न तु मनोबुद्ध्यादीनां पावकम् । प्रत्यक्षेणाऽपि शरीर-शुद्धिरेव जलेन पुष्टा । बाह्यमलस्य क्षालनं हि जलेन जायते न त्वान्तरिकस्य ज्ञानादेः । न वाऽप्येकादश्या हि व्रतम् अन्तः पुनीते, केवलमुदरशोधनोपयुज्यमान-त्वात्, तेनेन्द्रियाद्यशक्तिजनकत्वात् । यतो हि—

अशनं न विधेयं स्यादजीर्णे क्षुदवग्रहे ।
वद्यनिर्दिष्टकाले वा ज्वरादौ रोगसङ्गमे ॥

इत्यायुर्वेदनियमेन तदावश्यकत्वात् । एषा धारणा तु गर्हणीयैव यदेकाद-श्यामन्ने पापानि वसन्ति, तत्र ब्रूतां केषाम् ? किं समस्तपौराणिकानां तत्पित्रा-दीनां वा ? पापानामन्नस्य वा कतमोऽस्ति सम्बन्ध आधाराधेयादिषु सम्बन्धेषु ? विष्णुपुराणादीनां न प्रामाण्यम्, गप्पाष्टकत्वात् ।

यज्जितेन्द्रियत्व निष्काम-शमादिषु अविद्यात्वं साधयति तच्छलकलाकलित-वचनस्खलितिस्ते । न ह्यत्र महर्षिणा दुःखबुद्धिर्निरदृश्यत; प्रत्युत 'जितेन्द्रियता-

---

यह कहना कि 'ऋषि-कथन नास्तिक्यमूलक है' यह बुद्धिपूर्वक नहीं है; क्योंकि आस्तिकता तो परलोक, वेद और ईश्वर पर श्रद्धा करनी होती है, वह ऋषि में है । जड़-पूजा आस्तिकता नहीं । जल से शरीर-शुद्धि मनुसम्मत है, अतः गङ्गादिजल शरीरशोधक हैं, मन, बुद्धि, आदि के पवित्रकारक नहीं हैं । प्रत्यक्ष में भी शरीर की शुद्धि जल के द्वारा होना पुष्ट है । जल से बाह्य मल का क्षालन होता है, आन्तरिक दोष मलों का नहीं । इसी प्रकार एकादशी आदि व्रत अन्तःकरण को पवित्र नहीं करते । ये उपवास केवल उदर-शुद्धि करते हैं; क्योंकि—

अजीर्ण या भूख न लगने में वैद्यनिर्दिष्ट काल में या ज्वरादि रोगसङ्गम में उपवास करना आयुर्वेद प्रतिपादित है ।

यह धारणा तो गर्हणीय है कि एकादशी में अन्न में पाप रहते हैं । इसमें आप बताइये कि किनके पाप रहते हैं ? क्या आपके समस्त पौराणिकों के या पिता आदि के ? या आधार आधेयादि सम्बन्धों में अन्न और पाप का कौन सा सम्बन्ध है ? विष्णुपुराणादि में गपोड़े होने के कारण प्रामाणिकता नहीं है ।

आपने जितेन्द्रियत्व-निष्कामिता-शम आदि में ऋषि का कथन बताकर अविद्या सिद्ध की है, यह छलना-कुशलता है । ऋषि ने जितेन्द्रियत्व आदि में दुःखबुद्धि बताकर अविद्या सिद्ध नहीं की है । भाषा देखिये, भूमिका में जितेन्द्रि-

https://t.me/DharmaSamrat

निष्कामता-शम-सन्तोष-विवेक-प्रसाद-प्रेम-मित्रतादिषु सुखरूपव्यवहारेषु दुःख-बुद्धिरविद्या' इति युक्तमेवोक्तम् अविद्यायास्तृतीयभागत्वेन। सत्यमेव यन् निर्मलोक्तम्—

शब्दार्थप्रविलोपने सुविशदप्रावीण्यपूर्णो यते-
र्वेशे वा छलनाकलाकुशलतायां नोपमां धारयन्।
स्ववाग्वाङ्मयभूषितोऽपि सुतरां धर्मध्वजी नेदृशः,
आगाद् दृक्पथमेव मे जनदृशोरेवं रजःक्षेपकः॥

पृ० १३७५, अनु० ३—"यदुक्तम्—'अहङ्कारेणात्मनो महत्त्वावगमोऽस्मिता' इति, तत्तु विसङ्गतमेव, अल्पे महत्त्वबुद्धेरविद्याकुक्षिनिःक्षिप्तत्वाद् अस्मितात्वायोगात्। येनाहङ्कारेण तादृशी बुद्धिस्तस्या अपि सूक्ष्मरूपमेवास्मितेति सौत्राभिप्रायत्वात्।" इति तु भवद्बुद्धेरविद्यैव।

अल्पे महत्त्वबुद्धिरविद्या इति ते कथनं न बुद्धिसङ्गतम्; प्रत्युत छलाभ्युपेतम्, न महर्षिणाऽल्पे महत्त्वं प्रत्यपादि अत्र। इह 'अभिमानेनाहङ्कारेण च स्वात्ममहत्त्वावगमनम्, इत्यादिव्यवहारोऽस्मिता मता'। यतोऽहङ्कारयुता हि बुद्धिः

यता, निष्कामता, शम, सन्तोष, विवेक, प्रसन्नता, प्रेम, मित्रता आदि सुखरूप व्यवहारों में दुःखबुद्धि रखने को अविद्या तथा अविद्या का तृतीय भाग बताया। सच है—

शब्द और अर्थों के छिपाने में आप पूर्ण प्रवीण हैं; यति के वेश में आपकी छलना कला कुशलता में अनुपम है। देववाणी वाङ्मय से विभूषित आप जैसा धर्मध्वजी जनसाधारण की आंखों में धूल झोंकनेवाला हमें अन्य दृष्टिगत नहीं हुआ।

पृ० १३७५, अनु० ३—'अभिमान और अहङ्कार से अपने को बड़ा समझना भी अस्मिता कहाता है" यह श्री करपात्री की समझ से अविद्या है, अस्मिता नहीं। आगे आप कहते हैं कि "जिस अहङ्कार के कारण ऐसी बुद्धि है, उसका सूक्ष्म रूप ही अस्मिता है" देखिये, इनके कथन में ही स्पष्ट विरोध है, वस्तुतः यह सब इनकी बुद्धि की अविद्या है।

अल्प में महत्त्वबुद्धि आत्मा में रखना अविद्या है, यह इनका कथन बुद्धिसङ्गत नहीं, प्रत्युत छल से पूर्ण है। क्योंकि महर्षि ने यहां अल्प में महत्त्वबुद्धि का कथन नहीं किया है। यहां पर 'अभिमान और अहङ्कार से अपने आत्मा को

सा आत्मनो वास्तविकस्वरूपमज्ञात्वा स्वाहङ्कृत्यारोपेणात्मनो महत्त्वमवगच्छति। भवानपि स्वीकुरुते स्वभाषया 'येनाहङ्कारेण तादृशी बुद्धिः' इति। न मत्तोऽधिकतरः कश्चिदिति अस्मितैव नाऽविद्या।

'अतस्मिंस्तत् प्रतिभाऽविद्या' इत्यविद्यालक्षणं नात्र घटते। प्रत्युतात्र 'जडाजडत्वेन अत्यन्तभिन्नयोरेकताऽभिमानोऽस्मितेति लक्षणस्य घटितत्वादिहाऽस्मितैव।' अहं भावः, अस्मिभावः अहं करणम्, अस्मिकरणं वेति पर्यायत्वम्। बुद्धेरहङ्कारस्य महत्त्वादेवात्मनि महत्त्वाभिमानोऽत्र। 'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता' (व्या० भा० २।६) पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिव अस्मिता क्लेश उच्यते, इत्येतेन 'महत्त्वाहङ्कारवती बुद्धिरेव आत्मानं महत्त्वाहङ्कारवन्तमभिमनुते, इत्यस्मितैव न त्वविद्या।

यद्यपि बुद्धिरनात्मतत्त्वं तस्यामात्मबुद्धिरविद्यैव। पुनरस्मिताक्लेशपृथक्सत्ताकथनम् अविद्यायाः सर्वक्लेशानां मूलकारणेऽपि अस्मिताक्लेशे बुद्धेर्धर्माणामहङ्कारादीनामात्मन्यारोपितत्वात् 'अहं मूढः, अहं घोरः, अहं महान्, अहं शान्त

महान् समझने की बात कही गई है, और इसे स्वामीजी ने अस्मिता कहा है, क्योंकि अहङ्कारयुक्त बुद्धि आत्मा के वास्तविक स्वरूप को न जानकर अपने अहङ्कार के आरोपण से आत्मा को बड़ा समझती है, जिसे 'जिस अहङ्कार से वैसी बुद्धि कहकर' आप भी अन्यथा स्वीकार रहे हैं। मैं औरों से बड़ा हूं, मुझसे बड़ा कोई नहीं, यह अस्मिता है, अविद्या नहीं।

जो जैसा नहीं है, उसे वैसा मानना अविद्या है, उक्त में आत्मा को अनात्मा नहीं समझा जा रहा है, किन्तु बुद्धि का गुण आरोपित किया जा रहा है। आत्मा की चेतन स्थिति का निषेध या उसे अमान्य नहीं किया जा रहा है। जड़ और अजड़ के अत्यन्त भिन्न होने पर भी एकताऽभिमान करना अस्मिता होती है। अस्मिता और अहम्भाव, अहंकरण, अस्मिभाव या अस्मिकरण ये सब पर्यायवाची ही हैं। बुद्धि के अहङ्कार के महत्त्व का अभिमान आत्मा में यहां किया जा रहा है। यो० २।६ सूत्र के भाष्य में महर्षि व्यास ने लिखा है कि पुरुष दृक्शक्ति है और बुद्धि दर्शनशक्ति है, इन दोनों की एकरूपापत्ति सी होना अस्मिता क्लेश होता है। इसके द्वारा सिद्ध है कि महत्त्वाहङ्कारवती बुद्धि ही आत्मा को महत्त्व अहङ्कारवाला मानती है, यह अस्मिता ही है, अविद्या नहीं।

यद्यपि बुद्धि अनात्मतत्त्व है, उसमें आत्मबुद्धि करना अविद्या है। तो प्रश्न उठता है कि फिर अस्मिता क्लेश की पृथक् सत्ता क्यों मानी है? इसका समाधान है कि सब क्लेशों की जननी अविद्या है, अतः यह अस्मिता की भी जननी है। अस्मिता क्लेश में बुद्धि के धर्म अहङ्कार आदि का आत्मा में आरोप कर लिया

https://t.me/Dharmasankal

इत्यादिधर्माणां पुरुषधर्मत्वाभिमानोऽस्मिता । अस्मिन् क्लेशेऽविद्या कारणमस्ति, अस्मिता च कार्यमिति भेदः ।

पृ० १३७६, पं० ५-६—"यत्तु जीवपरमेश्वरप्रकृतीनां नित्यत्वज्ञानेन द्रव्य-संयोगवियोगादीनामनित्यत्वज्ञानेन क्लेशनिवृत्तिरिति, तत्तु अप्रासङ्गिकमेव, हानं तदुपायादीनां परतो वक्ष्यमाणत्वात् ।" इति ।

इदन्तु श्रीमन् सर्वथा प्रासङ्गिकमेव । अतएव तु 'स्वरसवाही०' (यो० द० २।९) इत्यस्य भाष्ये भगवान् व्यासोऽप्याह—"सर्वस्य प्राणिनः इयमात्माशीर्नित्या भवति, मा न भूवं भूयासमिति" इति नित्याभिलाषादेवावसरप्राप्तोऽयमर्थ आक्षिप्त

जाता है, कि मैं मूढ़ हूं, मैं घोर हूं, मैं महान् हूं, मैं शान्त हूं इत्यादि धर्मों का पुरुष का धर्माभिमान अस्मिता है । अस्मिता क्लेश में अविद्या कारण है और अस्मिता इसका कार्य है । यह दोनों में भेद है ।

पृ० १३७६, पं० ५-६—"जब जीव, परमेश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण नित्य तथा कार्य द्रव्य के संयोग-वियोग को अनित्य जान लेगा, तो क्लेशों की शक्ति से उसको मोक्ष गुण की प्राप्ति होती है । दयानन्द का यह कथन असङ्गत है, अप्रासङ्गिक है; क्योंकि द्वेष उपादेय गुण आगे कहे जायेंगे ।"

वस्तुतस्तु यह अप्रासङ्गिक कथन ही अयुक्त है, क्योंकि उनका यथास्थान वर्णन करना तो शास्त्रकार की अपनी बात है और कदाचित् महर्षि उस ग्रन्थ पर भाष्य करते होते, तो यथास्थान वहीं पर भाष्य कर ही देते; परन्तु यहां मुक्ति के विषय में उद्धृत कतिपय सूत्रों में अभिनिवेश क्लेश का वर्णन करने लगे हैं, तो पाठक के समक्ष तो वह आगे अलग से किया जानेवाला वर्णन तो दृष्टिगत होने का अवसर ही नहीं आयेगा ? अतः प्रसङ्गोपात्त बात यह है कि इस क्लेश की निवृत्ति कब कैसे होगी ? यह भी बता दिया जावे । इसी विचार से महर्षि का बताना अत्यन्त उपयोगी व सङ्गत है ।

आपने यहां पर 'संयोग वियोग' के आगे 'आदि' शब्द ऋषि के पाठ में अधिक बढ़ा दिया, जिसका आपको उद्देश्य बताना चाहिये था । साथ ही हिन्दी-कार की उन्मत्तता तो देखिये, 'क्लेशों की शक्ति से उसको मोक्षगुण की प्राप्ति होती है', उसका यह पाठ परिवर्तित करना भी अक्षम्य अपराध है; क्योंकि उससे तो अनर्थ का प्रसव होने की सम्भावना है ।

दूसरे 'स्वरसवाही' (यो० २।९) इसके भाष्य में भगवान् व्यास ने भी कहा है—"सब प्राणियों का यह आत्मा भी नित्य होता है, कि मैं न होऊं" इस नित्य अभिलाषा से ही अवसरप्राप्त इस अर्थ का ग्रहण ऋषि ने किया है । क्लेश-हान

ऋषिणा । क्लेशहानोपायात् प्रागेवैषा प्रयोजनवती उत्थानिका सर्वथा प्रसङ्गमनु-बध्नाति । श्रीमतो हिन्दीकारस्तु लोकोत्तरप्रतिभामेवादर्शयंल्लिखन् "क्योंकि द्वेष और उपादेय गुण-दोषों का वर्णन आगे करेंगे" के सन्ति ते दोषा ये उपादेया येषां वर्णनमग्रे करिष्यते ?

भवता 'संयोगवियोगादीनाम्' इत्यनुवादे आदिपदमधिकं वर्धितम्, तेन किमिष्टमित्यपि न प्रत्यपादि । न ऋषिभूमिकायामादिपाठोऽनर्हत्वात् ।

पृ० १३७६, पं० ७—यदुक्तम्—'तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्' (यो० २।२५) पूर्वं हेयं तदधानमपि न द्रष्टृस्वरूपसंयोगहानमपि तु बुद्धिपुरुषसंयोगाभाव एव हानं प्रोक्तं संसारदुःखं हेयहेतुः द्रष्टृदृश्ययोः संयोग इति तु सम्यक्, परं द्रष्टृस्वरूपसंयोगः संयोगहेतुश्चोक्त इति प्रलाप एव, असम्बद्ध-त्वात् । न हि द्रष्टुः स्वरूपस्य संयोगः, द्रष्टृदृश्ययोः संयोगस्य हेतुर्भवति ।

पं० ११—यदुक्तम्—"अविद्यादिक्लेशनाशे विद्यादिशुभगुणप्राप्तौ सर्वबन्ध-नेभ्यो विनिर्मुक्तो मुक्तिमाप्नोति, तत्तु सूत्राक्षराद् बहिर्भूतम्, सूत्राक्षराऽननु-गुण्यात् । सूत्रे हानमेव दृशेः कैवल्यमुक्तम्, उत्पाद्याप्यसंस्कार्यविकार्याणामनित्य-

---

के उपाय से पूर्व यह प्रयोजनवती उत्थानिका सर्वथा प्रसङ्ग के अनुरूप है । आपके हिन्दीकार न्यायाचार्य ने तो लोकोत्तर प्रतिभा दिखाते हुए अन्याय किया है, जो यह लिख मारा "क्योंकि द्वेष और उपादेय गुण-दोषों का वर्णन आगे करेंगे" । कौन से दोष हैं, जो उपादेय(ग्राह्य) हैं जिनका वर्णन आप आगे करेंगे ? आपने यहां भी नहीं बताया कि "संयोगवियोगादीनाम्" इसमें आदि पद भूमिका में नहीं है, तो आपने किस नियत से बढ़ा दिया, जिसका बढ़ाना अप्रासङ्गिक भी है ।

पृ० १३७६, पं० ७—आपने 'तदभावात्' (यो० २।२५) सूत्र की व्याख्या में हेयहेतु और संयोग तो ठीक कहा, पर द्रष्टा के स्वरूप का संयोग उस संयोग का हेतु बताया जबकि व्यासजी ने (२।२३ में) 'या तु द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिः' अर्थात् द्रष्टा को स्वरूप की उपलब्धि मोक्ष कहा है । यहां द्रष्टा के स्वरूप के संयोग का हान कहना उन्मत्तता है । जब कि बुद्धि और पुरुष के संयोग का अभाव ही हान है ।

पं० ११—पूर्वपक्ष—"जब अविद्यादि क्लेश दूर होकर विद्यादि शुभ गुण प्राप्त होते हैं, तब जीव सब बन्धनों और दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है, दयानन्द की यह व्याख्या सूत्राक्षरों से विपरीत है । सूत्र में सब कुछ के

https://t.me/Dharmagyan

त्वात्।" इति ।

तदपि नूनं तुच्छमेव तथार्थस्य वास्तवात् । यथा भोजवृत्तौ—"तस्या अविद्यायाः स्वरूपविरुद्धेन सम्यग्ज्ञानेन उन्मूलितायाः सोऽयमभावस्तस्मिन् सति तत्कार्यस्य संयोगस्याऽप्यभावस्तद्धानम् । यदेव च संयोगस्य हानं तदेव नित्यम्, केवलस्यापि पुरुषस्य कैवल्यं व्यपदिश्यते" इत्यनेन स्वाभ्युक्तमेव पुष्टम्, शब्दान्तरत्वेऽपि अभिन्नभावत्वात् । 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इति अविद्यायां निमित्तभूतायां यथा यथा क्षीयमाणायां तथा तथा विद्यादिशुभगुणोदयो जायत एव ।

पृ० १३७७ - आप्यगुणानां प्राप्तिर्भवेन्नामानित्या, नो हानिः । 'तद् वैराग्यादपि०' (यो० सू० २।५०) इत्यस्य भावार्थे "दयानन्देन 'शोकरहितादिसिद्धिवैराग्येऽपि दोषबीजाऽविद्यानाशाय यथावत् प्रयत्नः कर्त्तव्यः, कुतस्तदन्तरा मोक्षासम्भवात्' इत्युक्तम्, तत्तु सूत्रार्थाज्ञाननिबन्धनम्, सूत्रे तद्वैराग्यस्यैव तद्बीजनाशहेतुत्वोक्तेः ।"

इत्याहायम्, तत्तु नाम प्रत्यक्षं धूलिक्षेप एव विचक्षणानामपि लोचनेषु, स्वयं

त्याग से ही कैवल्य की प्राप्ति बताई है, जो उत्पाद्य प्राप्य, संस्कार्य और विकार्य है, वह सब अनित्य है।"

उत्तरपक्ष—आप सम्भवतः 'विपरीत' शब्द का अर्थ नहीं जानते । बताना चाहिये था कि व्यासभाष्य या सूत्र के अक्षरों से क्या बात विपरीत है । हां, 'सूत्राक्षरों से अधिक व्याख्या की जा रही है' यह कहना तो कुछ ठीक होता । अतः यह कथन तुच्छ है; क्योंकि ऋषि का अर्थ ही वास्तविक है । भोजवृत्ति से स्वामीजी के अर्थ की पुष्टि होती है । आपका यह समझना भ्रान्त है कि अज्ञान दूर होने पर ज्ञान नहीं आता। निमित्त अविद्या के न होने पर क्लेशों का दूर होना और विद्यादि शुभ गुणों का होना अपरिहार्य है । उत्पाद्यादि गुणों की अनित्यता हो सकती है; परन्तु विद्यागुण तो मोक्षसुखपर्यन्त रहेगा ही ।

पृ० १३७७ —पूर्वपक्ष—आप्य गुणों की प्राप्ति अनित्य हो, इसमें हमारी कोई हानि नहीं । 'तद् वैराग्यादपि' इस सूत्र पर "दयानन्द ने कहा है कि शोकरहित आदि सिद्धि से भी विरक्त होकर सब क्लेशों और दोषों का बीज जो अविद्या है, उसके नाश करने के लिये यथावत् प्रयत्न करे; क्योंकि उसके नाश के बिना मोक्ष कभी नहीं हो सकता' यह सूत्राक्षर से दूर है, क्योंकि यहां वैराग्य को ही सब बीज के नाश का कारण माना है।"

उत्तरपक्ष—उक्त-कथन तो प्रत्यक्ष विद्वानों की आंखों में धूल झोंकना है;

वास्तवार्थाबोधात् । यतो हि व्यासेन पूर्वसूत्रे "सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः" इत्यस्मिन् "निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्त्वस्य परं वैशारद्यं परस्यां वशीकारसंज्ञायां वर्तमानस्य सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूपप्रतिष्ठस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं वा भवति" इति विशोका नाम समाधिः (भा० ३।४९) ।

"एवमस्य ततो विरज्यमानस्य क्लेशबीजानि.....प्रत्यस्तं गच्छन्ति ।" तथा हि भोजवृत्तावपि—"एतस्यामपि विशोकायां सिद्धौ यदा वैराग्यमुत्पद्यते योगिनस्तदा तस्माद् दोषाणां रागादीनां क्षये कैवल्यम्" इत्यनेन स्पष्टमेव स्वाभिमतमेव समर्थ्यते ।

निष्कर्ष एष यद् विशोका सिद्धितोऽपि वैराग्यं ततो दोषबीजक्षयः ।

पृ० १३७७, अनु० २—'तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्' (यो० ४।२५) इत्यस्य भाषार्थो महर्षिणा कृतो यत् "यदा सर्वदोषेभ्यो पृथग् भूत्वाऽऽत्मा ज्ञानाभिमुखो भवति तदा" इति । अनेन तु "विशेषदर्शिनः आत्मभावभावनानिवृत्तिः" इति पूर्वसूत्रस्यार्थे भोजवृत्तिरेवानूदिता । यदुक्तं "कामेषु ज्ञानेषु वा

क्योंकि स्वयं ही वास्तविक अर्थ को लेखक ने नहीं जाना है कि महर्षि व्यास ने पूर्व सूत्र 'सत्त्वपुरुषान्यता०' में "धुले हुये रजस्तम मलवाली बुद्धि सत्त्व के वशीकार संज्ञा में वर्त्तमान सत्त्वपुरुषान्यताख्याति रूप में प्रतिष्ठित कर सब भावों की अधिष्ठातृता ही सर्वज्ञता है" यह विशोका नाम सिद्धि कही है ।

"इस प्रकार इस विशोका नामक सिद्धि से भी विरज्यमान क्लेश का बीज अविद्या आदि अस्त हो जाते हैं ।" इसी प्रकार भोज-वृत्ति में भी लिखा है कि "इस विशोका नाम सिद्धि में जब वैराग्य उत्पन्न होता है, तब दोष रागादिकों के नाश होने पर कैवल्य होता है ।" इससे भी स्पष्टतया स्वामीजी के अर्थ की पुष्टि हो रही है ।

निष्कर्ष यह है कि विशोका सिद्धि से भी वैराग्य और उससे दोष-बीज का नाश होता है ।

पृ० १३७७, अनु० २—पूर्वपक्ष—'तदा विवेकनिम्नं०' इसका भाषार्थ ऋषि ने किया है कि जब सब दोषों से अलग होकर ज्ञान की ओर आत्मा झुकता है, तब कैवल्य मोक्षधर्म के संस्कार से चित्त परिपूर्ण हो जाता है । तभी जीव को मोक्ष प्राप्त होता है । श्री करपात्रीजी कहते हैं कि यह भूमिकार्थ अशुद्ध है; क्योंकि कूटस्थ आत्मा कभी कामनाओं में अथवा ज्ञान में फंसता नहीं ।

उत्तरपक्ष—करपात्रीजी ने भोजवृत्ति की नकल छाया प्रस्तुत कर दी है । इसमें अपने मस्तिष्क का इनका कुछ भी नहीं है । आपका यह उल्टा कहना

https://t.me/Dharmasamrat

विषक्तिरित्यसम्भवात् कूटस्थस्य असङ्गस्यात्मनः।" इति, एषोऽपि उन्माद एव। ज्ञाने नाम न भवेद् विषक्तिः, परं कामे एषोऽपि उन्मादः, विषक्तिः केन वार्यते? प्रत्यक्षं च दृश्यते। सा तु अविद्यावशात् ('बन्धो विपर्ययात्' सां० ३।२४ इति प्रमाणात्)। यस्याश्च मुक्तेः प्रयासोऽन्वादिश्यते। अविद्या विपरीतज्ञानद्वारा 'ज्ञानान् मुक्तिः' इति निर्दिशति।

ननु जीवस्य निरोधादिकम्—

"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥"

इत्यादिवचनैर्न सम्भवतीति चेन्न, नवीनवेदान्तिवचनस्यासत्यत्वात्। जीवो हि अल्पस्वरूपतया समुपैत्यावरणम् एवं कामेषु विषक्तिर्भवत्येवास्य। दुःखेभ्यश्च परिमुच्य सम्प्राप्य च परमानन्दपरमेश्वरं मोक्षानन्दमुपभुङ्क्ते।

पृ० १३७८, पं० ३—'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः' (यो० ४।३३) इत्यस्य भावार्थः—"कैवल्य मोक्ष का लक्षण यह है कि पुरुषार्थ अर्थात् कारण के सत्त्व, रज और तमोगुण और उनके सब कार्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर आत्मा में विज्ञान और शुद्धि यथावत् होके, स्वरूपप्रतिष्ठा जैसा जीव का तत्त्व है, वैसा ही स्वाभाविक शक्ति और गुणों से युक्त होके, शुद्धस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप-विज्ञानप्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहना है, उसी को कैवल्य मोक्ष कहते हैं।" इति संयुक्तवाक्यविश्लेषणक्षमोऽयमाक्षिपति—

कि ज्ञान में कभी नहीं फंसता प्रलापमात्र है; क्योंकि ज्ञान बन्धनहेतु नहीं माना गया है। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् ज्ञान से तो मुक्ति होती है। हां काम में तो फंसता है। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। वह विषक्ति अविद्या से होती है। काम की विषक्ति 'बन्धन' किससे वारित हो सकती है? वह तो प्रत्यक्ष देखी जाती है। इससे ही तो छूटने का प्रयास अन्वादिष्ट है।

शङ्का—वस्तुतः जीव का न निरोध है न उत्पत्ति, न वह बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है, न मुक्त है, यही परमार्थता है।

समा०—नवीनवेदान्ती का उक्त कथन असत्य है क्योंकि जीव अल्पज्ञ है, अतः उसके ज्ञान पर अज्ञान का आवरण चढ़ जाता है। इस प्रकार काम में जीव की आसक्ति और बन्धन होता है। फिर दुःख के कारण से मुक्त होकर परमानन्द परमेश्वर को प्राप्त कर मोक्षानन्द का उपभोग करता है।

पृ० १३७८, पं० ३—'पुरुषार्थ०' इसके भाषार्थ में संयुक्तवाक्य विश्लेषण

"अत्र कर्तृ-कर्म-क्रियासम्बन्धा अप्यव्यवस्थिताः" तन्नात्र, भावार्थस्य यथायथं स्पष्टप्रतिपत्तेः। कार्यत्वे अविद्यादीनामपि सत्त्वात् कारणभूतानां सत्त्वरजस्तमसां महदादीनां हि कार्यत्वम्। तस्य कार्यस्य एव पूर्वपूर्वकारणे नाशः प्रतिप्रसवो जायते। पुरुषार्थसिद्धौ, "नाशो हि कारणलयः" (सां० १।१२१) इति परिभाषया कार्यनाशो हि स्वकारणलयरूपः। वैशेषिको 'यो हि ध्वंसः सोऽपि कार्यस्य नाऽसद्रूपः' अपि तु कारणलयरूप एव।

विस्तरस्तत्रैव द्रष्टव्यः। अतः सत्त्वरजस्तमसां तत्कार्याणां नाशे मोक्षो भवतीत्याश्चर्यम्। भवतेरेवस्तत्त्वार्थज्ञानाभावादुदित इति समेषां विदुषामाश्चर्यचर्चामावहति।"

यदुच्यते—"सांख्ययोगिभिश्च कस्यचिदपि नाशानभ्युपगमात्" इत्यपि नामानध्ययनफलम्, उपरिदर्शितप्रमाणेनावगन्तव्यम्।

पृ० १३७८, पं० १२—"न वा तैरसङ्ग आत्मनि विज्ञानमुपेयते। स्वाभा-

---

करने में असमर्थमति यह लेखक आक्षेप करता है कि यहां पर कर्ता, कर्म और क्रिया सम्बन्ध भी अव्यवस्थित है। पर दुर्बल बुद्धि द्वारा किया गया यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि भावार्थ सर्वथा व्यवस्थित स्पष्ट है। यथा कारण से भूत सत्त्व रज और तम के महदादि की कार्यता है, उस कार्य का अपने पूर्व कारण में अदृश्य होना प्रतिप्रसव कहाता है। पुरुषार्थ की सिद्धि हो जाने पर इस कार्य का कारण में लय होना ही नाश कहलाता है, यह नाश की परिभाषा है। कार्य का नाश या परिध्वंस कारण में लय होना ही है, यह वैशेषिक में ध्वंस कहा है, वह भी कार्य का असद्रूप नहीं, प्रत्युत कारण में लय होना ही है।

इसलिये सत्त्व, रज, तम और उसके कारणों के नाश होने को मोक्ष की परिभाषा ऋषि दयानन्द की कथित बताना सर्वथा मिथ्या है और विद्वानों को आपके इस छलव्यवहार पर आश्चर्य है। ऋषि दयानन्द ने पुरुषार्थ के सिद्ध होने पर पूर्व-पूर्व कारण में कार्य का लय होना बताया है। यहां अविद्यादि कार्यरूप से अभीष्ट है। आत्मा में विशिष्ट ज्ञान और शुद्धि होना, जीव की स्वाभाविक शक्ति और गुण से युक्त होकर स्वरूप में प्रतिष्ठा हो जाने के बाद, शुद्धस्वरूप परमेश्वर के स्वरूप-विज्ञान प्रकाश और नित्य आनन्द में रहने को मोक्ष कहा है।

आपका यह कथन कि "सांख्य और योगदर्शन में किसी वस्तु का नाश अभिप्रेत नहीं है" सर्वथा गलत है, वहां भी नाश कारण के लय होने का नाम है। आप शायद नाश का अर्थ अभाव समझते हैं।

पृ० १३७८, पं० १२—"न ये दर्शन असङ्ग आत्मा में विज्ञान की सत्ता ही

https://t.me/DharmaSamrat

विक्यः शक्तयो गुणश्चात्मनि तैनाभ्युपेयन्ते, तथात्वेऽसङ्गत्वव्याकोपात् । तादृशस्य जीवस्य परमात्मस्वरूपे विज्ञाने प्रकाशे आनन्देऽवस्थानमपि नोपपद्यते । एकस्याऽत्मनोऽन्यात्माधारत्वानुपपत्तेः ।" इति यदाह, तदपि नूनं छलपूर्वं विमर्शनम् । नहि विज्ञानमिह विज्ञानकोशगतम्, अपि तु विशिष्टं ज्ञानमिष्यते, येनाविद्याया-श्छेदः ।

चेतनस्वरूपस्यात्मनः स्वाभाविकशक्तौ गुणसत्तायां च प्रमाणम्—"जड-व्यावृत्तो जडं प्रकाशयति चिद्रूपः" (सां० ६।५०) इति । अर्थाद् जडपदार्थेभ्यो भिन्नो जीवात्मा जडपदार्थान् प्रकाशयति । यद्यप्ययं स्वयं स्वप्रकाशकस्तथापि तस्मिन् कर्मकर्तृविरोधो नोपपद्यते, तस्य प्रकाशकत्वं सूर्यवत् स्वतः प्रकाशकत्वे परप्रकाशकत्वमपि, परमद्वैतवादिनां मते तु प्रकाशाद् भिन्नं प्रकाश्यं नान्यद् वस्तु भवितुमर्हति । अतो न स्वतः प्रकाशाद् अद्वैतसिद्धिरपि ।

तथात्वेऽसङ्गत्वव्याकोपोऽपि न, 'अनादिरविवेकोऽनवस्थादोषद्वयप्रसक्तेः' (सां० ६।१२) अर्थाद् यद्यज्ञानं सादि मन्येत, तदाऽज्ञानस्य कारणमन्यद् मन्तव्यं भविष्यति । तस्यापि चान्यत्, एवमनवस्थादोषापत्तिः स्यात् । अन्याज्ञानस्य सादित्वे मते संसारचक्रस्याप्यादित्वमापद्येत, तदा संसारस्य प्रवाहरूपेऽनादित्व-

---

मानते हैं । स्वाभाविक शक्तियों और गुणों की सत्तायें आत्मा में नहीं मानते; क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मा की असङ्गता भी नष्ट हो जायेगी । इस प्रकार जीव की परमात्मस्वरूप विज्ञान में प्रकाश में और आनन्द में अवस्थिति भी नहीं बन सकती; क्योंकि एक आत्मा की दूसरी आत्मा आधार नहीं बन सकती ।" यह कथन भी छल से भरा हुआ है । ऋषि ने यहां पर विज्ञान, विज्ञानकोशगत नहीं कहा है । अपितु ईश्वरप्रणिधान व योग से जो विशिष्ट ज्ञान होता है, जिससे अविद्या का उच्छेद होता है, वह अभीष्ट है ।

चेतनस्वरूप आत्मा की स्वाभाविक शक्ति गुणसत्ता में प्रमाण है । देखिये (सां० ६।५०) अर्थात् जड़ पदार्थों से भिन्न जीवात्मा जड़ पदार्थों को प्रकाशित करता है । यद्यपि यह अपना स्वयं प्रकाशक भी है, तब भी उसमें कर्म और कर्ता का विरोध उपपन्न नहीं होता । उसका स्वप्रकाशकत्व तथा पर-प्रकाशकत्व सूर्य के समान है । लेकिन अद्वैतवादियों के मत में प्रकाश से भिन्न प्रकाश्य कोई वस्तु नहीं, अतः स्वतः प्रकाश से अद्वैतसिद्धि भी नहीं हो सकती ।

वैसा मानने पर असङ्गत्वव्याकोप भी नहीं होता (सां० ६।१२) । अर्थात् यदि अज्ञान सादि माना जाये तो अज्ञान का अन्य अज्ञान मानना होगा और उसका भी अन्य, फिर और, इस प्रकार अनवस्थादोषप्रसक्ति हो जायेगी । तब

प्रतिपादकमन्त्राः "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" (ऋ० १०।१९०।३) आदयो व्याकुप्येरन् । अत एवमसङ्गत्वमात्मनोऽक्षतमेव ।

यच्चोच्यते 'न ह्येकस्यात्मनोऽपर आत्मा आधारो भवतीति' इत्यशास्त्रम्, सर्वेषां जीवात्मनामपि परमाधारत्वस्य शास्त्रेषु प्रतिपादनात् । परमात्मनो यद् विज्ञानप्रकाशानन्दात्मकस्वरूपे स्वरूपप्रतिष्ठायां सत्यामात्मनो योगिनोऽवस्थानं भवत्येवेति न शङ्काक्लेशलेशोऽवशिष्यते ।

पृ० १३७८, पं० १४ तः—"ज्ञानानन्दादयश्च परमेश्वरस्य स्वरूपा गुणा वा ? नाद्यः, एकस्यानेकरूपत्वानुपपत्तेः । विज्ञानम्, प्रकाशः, आनन्दश्च परस्परं भिन्ना अभिन्ना वा ? आद्ये नैकस्यानेकरूपता, अन्त्ये तेषां शब्दानां पर्यायत्वापत्तिः स्यात् । यदि गुणा एव ते तर्हि गुणे कथं द्रव्यरूपाणामात्मनामवस्थानम् ? गुणानां द्रव्याधारत्वासम्भवात् ।" इत्यपि निराधारशङ्कनम्, तत्त्वार्थानवबुद्धेः । ज्ञाना-नन्दाद्यात्मकगुणानामेव परमेश्वरस्य स्वरूपत्वात् गुणगुणिनोः समवायसम्बन्धात् तदभिन्नत्वप्रतिपादनाच्च । न च गुणानामनेकत्वे गुणिनोऽप्यनेकत्वसम्भव इति

संसार के प्रवाहरूप में अनादिप्रतिपादक जैसे 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता (ऋ० १०।१९०।३) आदि मन्त्रों का व्याकोप होगा । इस प्रकार आत्मा का असङ्गत्व तो अक्षत ही है ।

यह कहना कि एक आत्मा का अपर आत्मा आधार नहीं होता, अशास्त्रीय है, क्योंकि सारे जीवात्माओं का परमात्मा आधार होता है, ऐसा शास्त्रों में प्रति-पादित है । परमात्मा का विज्ञानमय, प्रकाशमय तथा आनन्दमय जो स्वरूप है, उसमें प्रतिष्ठा होती ही है । इसमें कोई शङ्का का अवकाश नहीं है ।

पृ० १३७८, पं० १४—पूर्वपक्ष—"बताइये, ज्ञान आनन्द प्रभृति परमेश्वर के स्वरूप हैं या गुण हैं ? स्वरूप तो नहीं माने जा सकते, क्योंकि एक परमात्मा के अनेक रूप मानना गलत है । विज्ञान, प्रकाश, आनन्द परस्पर भिन्न हैं या अभिन्न ? प्रथम पक्ष मानने में एक की अनेकरूपतावाला दोष आयेगा, और द्वितीय पक्ष में परस्पर पर्यायता माननी पड़ेगी, जो कि आपको अभिप्रेत नहीं है । यदि ये स्वरूप न होकर गुण हैं, तो गुण में द्रव्यरूप आत्मा की स्थिति कैसे हो सकती है ? क्योंकि गुण कहीं द्रव्य के आधार नहीं होते ।"

उत्तरपक्ष—यह सारी शङ्का शृङ्खला निराधार बुद्धि का व्यायाममात्र है, क्योंकि आपने शास्त्र के रहस्य को समझा ही नहीं । परमेश्वर का स्वरूप ज्ञाना-नन्दात्मक है । गुण और गुणी का समवायसम्बन्ध होता है, और वे अभिन्न ही रहते हैं । यह कहना ठीक नहीं होगा कि यदि गुण अनेक हैं तो गुणी अर्थात् द्रव्य

https://t.me/DharmaSama

वाच्यम्, एकस्याऽपि द्रव्यस्यानेकगुणाश्रयत्वात् । अत एव 'आनन्दमयोऽभ्यासात्', आकाशस्तल्लिङ्गात्, अत एव प्राणः, ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इत्यादि सङ्गतम् ।

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ (मनु० १२।१२३)

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
(ऋ० १।१६४।४६)

इत्यादिकं च सङ्गच्छते । विज्ञानादयो भिन्ना अपि गुणा एकाश्रयाः । गुणा भिन्नाः परमात्मनः सर्वत्र व्यापकत्वात् तद्(जीवात्मानम्)अन्तर्यामित्वाद् अवस्थानमस्त्येवेति न काचिद् विप्रतिपत्तिः ।

पृ० १३७९, पं० ३—यदुक्तम्—"दुःखजन्मप्रवृत्ति०' इत्यादिन्यायसूत्राण्यपि त्वत्प्रतिकूलान्येव न त्वत्समीहितसाधननाति" इदमुच्छृङ्खलं व्याख्यातं श्रीकरपात्रिणा । अत्र (पं० ४-५) 'ननाति' इत्यपशब्द एव ।

एतदपि नामासम्बद्धं निर्मूलं च यत् "धर्माचरणेऽपि देहारम्भसम्भवेन दुःखोच्छेदाभावात्" इति, तदपि शास्त्रतत्त्वानवगाहनात् । ननु अधर्मन्यायविषयासक्तिवासनापगमे धर्मादीनां नैसर्गिकापत्तिरिति तदा धर्मे सति जन्मादि-

---

का भी अनेक होना अनिवार्य है, क्योंकि एक द्रव्य भी अनेक गुणों का आश्रय होता ही है । अतः इस एक ही को 'आनन्दमय, प्रकाशमय, प्राणस्वरूप, ज्योतिः' इत्यादि कहा गया है ।

इसी एक को अग्नि, मनु, प्रजापति, इन्द्र, प्राण और ब्रह्म कहते हैं । (मनु० १२।१२३)

तथा इन्द्र, वरुण, मित्र, मातरिश्वा आदि कहते हैं । विज्ञान आदि भिन्न गुण एक में ही आश्रित हैं । गुणों से अभिन्न परमात्मा सर्वज्ञ, व्यापक होने से जीवात्माओं का अन्तर्यामी होने से अवस्थान है । इस प्रकार कोई सन्देह शेष नहीं रहा ।

पृ० १३७९, पं० ३—"दुःख जन्म प्रवृत्ति आदि सूत्र भी दयानन्द के मत का समर्थन नहीं करते ।" करपात्रीजी का यह कथन ऊलजलूल है । यहां 'ननाति' यह अपशब्द प्रयुक्त किया है ।

यह भी असम्बद्ध तथा निर्मूल है कि "धर्माचरण करने पर भी देहधारण करना होगा और तब दुःखों का उच्छेद असम्भव होगा ।" स्वामीजी ने यहां पर धर्माचरण आदि शब्दावली लिखी ही नहीं है । पर आप प्रवृत्ति अर्थात् अधर्म

सम्भव इति वाच्यम्, इति चेन्न, अत्र धर्मादीनां मोक्षसहायकाभिप्रायात् । तथा च प्रशस्तपादभाष्यम्—"तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव" । तन्निःश्रेयसं धर्मादेव भवति । द्रव्यादि तत्त्वज्ञानं तस्य कारणत्वेन निःश्रेयससाधनमित्यभिप्रायः । तत्त्वतो ज्ञातेषु बाह्याध्यात्मिकेषु येषु दोषदर्शनाद् विरक्तस्य समीहा निवृत्ता वात्मज्ञस्य तदर्थानि कर्माण्यकुर्वतस्तत्परित्यागसाधनानि च श्रुतिस्मृत्युदितान्युपाददानस्य आत्मज्ञानमभ्यस्यतः प्रकृष्टविनिवर्तकधर्मोपचये सति परिपक्वात्मज्ञानस्य आत्यन्तिकशरीरवियोगोद्भवभावात् । (पृ० १८, प्रशस्तपादः) ।

अन्याय के अभाव की स्थिति में धर्माचरण की सम्भावना अर्थापत्ति से करते हैं, तथापि जन्मादि सम्भव नहीं है, क्योंकि यहां पर धर्मादि का अर्थ मोक्षसहायक धर्मों से अभिप्राय होगा, वैसा प्रशस्तपादभाष्य में भी लिखा है । वह निःश्रेयस धर्म से ही होता है । द्रव्यादि का साधर्म्य और वैधर्म्य रूप तत्त्वज्ञान निःश्रेयस का साधन है; क्योंकि 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' कथन इसमें प्रमाण है ।

यहां शङ्का होती है कि जब स्वधर्म वैधर्म्यरूप तत्त्वज्ञान मोक्ष का हेतु है तो फिर मोक्ष का कारण धर्म नहीं है । इसी का उत्तर भाष्यकार ने 'तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव' अर्थात् वह मोक्ष तो धर्म से होता है, किन्तु द्रव्यादि तत्त्वज्ञान धर्म का कारण है, अतः परम्परा से मोक्ष का भी कारण है । पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से बाह्य और आभ्यन्तर सभी वस्तुओं में (ये सभी दुःख के कारण हैं) इस प्रकार की दोषबुद्धि उत्पन्न होती है । इस दोषबुद्धि से वैराग्य की उत्पत्ति होती है, और वैराग्य से उस पुरुष की सारी अभिलाषायें निवृत्त हो जाती हैं । फिर वह व्यक्ति सभी अभिलाषाओं के पोषक सभी उपायरूप कर्मों को छोड़ देता है, तथा अभिलाषा से पिण्ड छुड़ानेवाले वेद धर्मशास्त्रादि ग्रन्थों में कथित निष्काम कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ आत्मज्ञान का अभ्यास करता है । इन आचरणों से निवृत्तिजनक धर्मों की वृद्धि होने पर जब आत्मज्ञान परिपक्व हो जाता है, तब आत्मा का शरीर के साथ अत्यन्त वियोग अर्थात् मुक्ति की उत्पत्ति होती है ।

यहां पर यह शङ्का नहीं करना चाहिए कि दुष्ट कर्मों की वासना ही पुनर्जन्म का कारण होती है, यह क्यों नहीं कहा गया? श्रीमन् यहां पर जन्म लेने के कारणों का उल्लेख अभीष्ट नहीं है । अत्यन्त जन्म कब कैसे नहीं होगा और उसके (जन्म) अभाव में दुःख, और उसके अभाव में मुक्ति का उपाय बताया जा रहा है ।

https://t.me/Dharmasansar

पृ० १३७९, अनु० २—"तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' (न्या० सू० १।१।२१) इति मोक्षलक्षणे दुःखात्यन्तमोक्ष एव मोक्ष उक्तो न परमानन्दप्राप्तिर्न वा परमात्मप्राप्तिः (या दयानन्देनोक्ता)।" इति अपर्याप्तम्, स्वाभ्युक्तार्थामननात्। दुःखात्यन्तनिवृत्तेरनन्तरं परमानन्दप्राप्त्यर्थमितरसाधनप्रयासानामनावश्यकत्वात्, तद्वत्समकालमेवानन्दावाप्तेरपरिहार्यत्वस्याभिव्यञ्जनात्। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति समर्थनात् च।

पृ० १३८०, पं० ५—यदुक्तम्—"अन्येभ्यस्तु शिलाशकलकल्पमपगतसकलसुखसंवेदनं मोक्षं न रोचते।" इत्यादिकथनेनायं मायावादी लेखको गोतममात्मनो जडत्वप्रतिपादकं मनुते अर्थान्न मनोऽभिसम्बन्धेन विना जीवात्मनः किमपि ज्ञानं विद्यते। मुक्त्यवस्थायां च जीवः पाषाणसदृश एवेति एतस्य निखिलमसत्यं भ्रामकं तत्त्वानवगाहि च, 'यत् पुरुषधर्मो ज्ञानमन्तःकरणस्येच्छाद्वेषप्रयत्नादिधर्मा' इति कस्यचिद्दर्शनं प्रतिषिध्यते, 'ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः' (३।२।३५),

---

पृ० १३७९, अनु० २—"इसलिए मोक्ष का लक्षण बतानेवाले सूत्र में दुःख से अत्यन्त विमुक्ति को ही मोक्ष बताया गया है (यहां परम आनन्द की प्राप्ति को अथवा परमात्मा की प्राप्ति को मोक्ष नहीं कहा गया है। जैसा कि दयानन्द ने इस सूत्रार्थ में कहा है)।" आपका ऐसा कथन इसे न समझने के कारण है। यहां विशेषरूपेण अवगन्तव्य है कि यद्यपि वैदिक सिद्धान्त में तत्त्वज्ञान से दुःखों की अत्यन्त निवृत्तिपूर्वक स्वस्वरूप से ब्रह्मानन्द के उपभोग का नाम मोक्ष है, केवल दुःखात्यन्तनिवृत्ति का नाम मोक्ष नहीं, तथापि दुःखात्यन्तनिवृत्ति के अनन्तर 'ब्रह्मानन्दोपभोग' अवश्यम्भावी होने से पृथक् सम्पादनीय नहीं है, इसलिए दुःखात्यन्तनिवृत्ति ही सर्वथा सम्पादनीय है। इसी अभिप्राय से उक्त लक्षण किया गया है। अतः भूमिका कथन पूर्णतया संगत है।

पृ० १३८०, पं० ५—"कुछ लोग 'शिलाखण्ड के समान सभी प्रकार के सुख संवेदन से अतीत मोक्ष होता है' मानते हैं।" ऐसा न्याय-दर्शन का मत प्रतिपादन करना बहुत बड़ा अज्ञान है। यह मायावादी लेखक महर्षि गौतम के मोक्ष को शिलाखण्ड के समान जड़ बता रहा है और कहता है कि मन के सम्बन्ध के बिना आत्मा में ज्ञान नहीं होता। पर बताइए कि क्या यह ज्ञान मन का लक्षण है? कदापि नहीं, अतः इनका उक्त कथन जो अन्य मत के व्याज से रक्खा गया है, सर्वथा भ्रामक व असत्य है।

इस विषय पर न्यायभाष्य देखिए कि किसी के मत में पुरुष का धर्म, ज्ञान और अन्तःकरण का इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख यह ठीक नहीं है (३।२।३५), अर्थात् इच्छा-द्वेष के होने व न होने से प्रवृत्ति और निवृत्ति ज्ञाता के गुण हैं, ये

'स्मरणन्त्वात्मनो ज्ञस्वभाव्यात्' (न्या० ३।२।४२) इत्यनेन स्पष्टरूपेणात्मनो ज्ञानस्वरूपस्य प्रतिपादितत्वात्।

पृ० १३८१, अनु० १—"मोक्षरम्यत्वाय तत्र नित्यज्ञानादिकल्पना युज्यते, अन्यथा नित्यदेहादिकल्पनापत्तेः।" इत्याह, तदपि मतिविपरीतम्, नित्यज्ञानादिकल्पनाया नित्यदेहादिकल्पनायां हेतुत्वप्रतिपादनानौचित्यात्।

पं० ५ यच्चाह—"योगजोऽपि धर्मो नाक्षयिष्णुः, सर्वस्यैव कृतकस्यानित्यत्वदर्शनात्" इत्यनेनापि क्व प्रहृतम्? किं वा नूतनं फलं निष्कृष्टम्? मुक्तेरनित्यत्वपक्ष एव पोष्यते अनेन। यदुच्यते—"मोक्षे नित्यसुखस्वभावे तद्रागेण प्रयतमानो मुमुक्षुर्न मोक्षमाप्तुं शक्नोति" इति वचनमपि भङ्गातरङ्गानुषङ्गजमेव।

पृ० १३८३, पं० ४—यदुच्यते—"सांख्ययोगवेदान्तरीत्या तु पुरुषस्य नित्य-

---

ज्ञानादि आत्मा के गुण हैं। 'परिशेषाद् यथोक्तहेतूपपत्तिश्च' (३।२।४२) अर्थात् परिशेष अनुमान द्वारा दर्शन, स्पर्शन आदि हेतुओं से ज्ञानादि आत्मा के गुण हैं तथा ४२वें सूत्र से जैसे ज्ञानरूप होने से अनुभव आत्मा के आश्रित है वैसे ही ज्ञानरूप होने से स्मृति भी आत्माश्रित जानना चाहिए। यह सिद्धान्त स्पष्ट है।

पृ० १३८१, अनु० १—"मोक्ष की रमणीयता के लिए उसमें नित्य ज्ञान आदि की कल्पना करना भी ठीक नहीं है, ऐसा करने पर तो नित्य देह इन्द्रिय आदि की कल्पना की जाने लगेगी।" यह कथन पूर्णतया शास्त्र एवं बुद्धि के विपरीत है। नित्य ज्ञानादि की कल्पना को नित्य देहादि की कल्पना में हेतु मानना तो सर्वथा असङ्गत व न्यायशास्त्र की अनभिज्ञता प्रकट करता है। क्योंकि ज्ञानादि का अधिकरण आत्मा तो नित्य है, जो निरवयव है और देहादि सावयव, अतः नश्वर है।

पं० ५—"योगजन्य मानने पर भी नित्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि जो वस्तु कृतक है, प्रयत्नसाध्य है, वह कभी नित्य नहीं हो सकती।" यह बताइए कि उक्त कथन से आपने किस पर प्रहार किया है? और कौनसा नया सिद्धान्त निकाला है? उक्त हेतु से अपने मोक्ष को भी कृतक क्यों नहीं मानते?

आप तो अत्यन्त विलक्षण हैं, जो अपने माने हुए नित्य मोक्ष में भी नित्य सुख अर्थात् आनन्द नहीं मानते। हमारे ऊपर कहे मोक्ष में सर्वाधिक आनन्द होता ही है। आपके सिद्धान्तप्रतिपादन सर्वथा विजया की तरङ्ग में किये गये हैं।

पृ० १३८३, पं० ४—"सांख्य, योग और वेदान्तमत के अनुसार तो पुरुष

https://t.me/Dharmesamrat

मुक्तत्वाङ्गीकारेण स्वरूपावस्थानरूपस्य मोक्षस्य नित्यत्वं भविष्यति। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृ० ४।३।१५)" इति, तत्समग्रम् अज्ञानाधारम्।

प्रथमं तु अयं सांख्यादिरीत्या स्वस्वरूपावस्थानरूपस्य मोक्षस्य भवनं कथयति, परं प्रमाणं सांख्यादीनामुद्धृत्य, बृहदारण्यकं हेतुत्वेन समुद्धरतीति दोषः। अपरतश्च उक्तप्रमाणमुपनिषदः सुषुप्तावस्थागतभोगे आत्मनोऽसङ्गतां प्रतिपादयति, न तु मुक्तपुरुषस्य स्थितिम्, सुषुप्त्यवस्थायाः स्वयं बन्धनरूपत्वात्। मुक्तपुरुषस्य सर्वमायिकसम्बन्धानामत्यन्तनिवर्त्तनात्।

यदुक्तं च—"मीमांसकास्तु स्वर्गादिरूपामेव मुक्तिं मन्यन्ते। दयानन्दस्तु

नित्यमुक्त है। अतः अपने संस्कारों में अवस्थित होने से ही यह नित्य माना जाएगा। 'यह पुरुष सांसारिक विषय-वस्तुओं के साथ कभी अनुषक्त नहीं होता' यह श्रुति ही इसमें प्रमाण है।" उक्त कथन समस्त ही अज्ञानमूलक है।

प्रथम तो सांख्यादि रीति से पुरुष (जीव) को नित्यमुक्त कहना असत्य है। ब्रह्म तो अवश्य नित्यमुक्त है, पर जीव नित्य तो है, पर नित्यमुक्त नहीं है। अन्यथा त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरूप पुरुषार्थ के विधान की आवश्यकता ही नहीं रहती। इसी प्रकार योग तथा वेदान्त में भी जीवात्मा नित्यमुक्त नहीं है। नहीं तो कहीं भी मुक्ति के विधान की आवश्यकता नहीं होती, जैसे नित्यमुक्त ब्रह्म को मुक्ति की विधेयता नहीं है। साथ ही अपने स्वरूप में अवस्थित होने से नित्य है, यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि 'द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' योग का परिणाम कहा है; पर जीव तो चित्तवृत्ति की निरोध अवस्था में भी नित्य है। सांख्यादि से वे प्रमाण प्रस्तुत भी करना चाहिये थे, जिनके आधार पर आप जीवात्मा को नित्यमुक्त मानते हो।

महाशय! आपने तो हमारे नित्यमुक्त ब्रह्म के भी गले में फन्दा डाल दिया है और उसे नित्यमुक्त की अवस्था से भी मुक्त करने का प्रयास कर डाला। आपको अपना तो परस्पर विरोध सूझता नहीं, ऋषि के वाक्यों में विरोध खोजने चल दिये।

दूसरे बात कही सांख्य, योग वेदान्त की, प्रमाण प्रस्तुत करने लगे बृहदारण्यक का। पर यही नहीं समझा कि उक्त प्रमाण से सुषुप्ति की अवस्था में उपस्थित भोग में जीवात्मा की असङ्गता बताई जा रही है, यह पुरुष के नित्यमुक्त होने का बखान नहीं कर रहा है। सुषुप्ति अवस्था तो स्वयं बन्धनयुक्त है। मुक्त पुरुष तो सभी मायिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

यह कहना भी शास्त्र के रहस्य को न जानने से भ्रामक ही है कि

मीमांसकसम्मतमपि मोक्षं नाङ्गीकरोति।" तदपि शास्त्ररहस्यानभिज्ञानाद् भ्रामकमेव, मीमांसकानां स्वर्गादिरूपस्याप्रतिपादनात्। स्वर्गादिपदे आदिशब्देन किमभीष्टं भवतेत्यपि न प्रत्यपादि।

वस्तुतस्तु सांख्ययोगवेदान्तमीमांसादीनां महर्षेश्च मोक्षस्वरूपता एकैव। मुक्तेः सावधिकता तर्कानुगता, अन्यथा संसारोच्छित्ति-प्रसङ्गापत्तिः स्यात्।

यदाह—"दुःखनिवृत्तिपूर्वकसुखाप्तिरूपा काचिदात्मावस्थैव" तदा यदिह नानात्वमभिमन्यते तत्तु अनादरणीयम्, नहि तिमिरोपहतनयनेनानेक इव चन्द्रमा दृश्यमानोऽनेक इव भवति इति शाङ्करभाष्यानुगुण्यात् (२।१।२०)।

पृ० १३८३, पं० १२—यदुच्यते—"अभावं बादरिरित्याद्युद्धरता, तत्तूपहासास्पदमेव निष्प्रमाणत्वात्। नानाविधानां भावाभावानां प्रसक्तौ विनिगमनाविरहात् तदुक्तभावाभावानामप्रामाणिकत्वमेव। किञ्च, समानविषय एवान्यमतोपन्यासेन

"मीमांसक लोग स्वर्गादिरूप मुक्ति को मानते हैं" पर मीमांसकों का वह सूत्र उद्धृत करके प्रस्तुत नहीं किया। स्वर्गादि में आदि पद से आप क्या लेते हैं? यह भी नहीं बताया गया।

वास्तव में महर्षि ने जो मोक्ष का स्वरूप बताया है, वह सांख्यादि प्रतिपादन के अनुरूप व एकरूप ही है। मुक्ति की सावधिकता तर्कसङ्गत है, अन्यथा तो एक दिन संसार के उच्छेद होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा।

यह कथन भी शास्त्र से बाहर है कि "दुःख की अत्यन्त निवृत्तिपूर्वक सुख (आनन्द) की अवाप्ति ही यदि मुक्ति है तो वह तो संसार में ही मिल जायेगी!" कैसे मिल जायेगी? क्या संसार में दुःख की अत्यन्त निवृत्ति सम्भव है? कदापि नहीं। कदाचित् यह कहा जाये कि 'केवल दुःखात्यन्तनिवृत्ति ही मुक्ति है, सुखावाप्ति नहीं' यह आपके शङ्कर के कथन के विरुद्ध पड़ेगा। देखिये 'अविद्यानिवृत्तौ स्वात्मन्यवस्थानं परप्राप्तिः' (तै० शा० भा० प्रस्तावना) अर्थात् अविद्या की निवृत्ति होने पर आत्मस्वरूप में अवस्थिति और परब्रह्म आनन्द की प्राप्ति ही मोक्ष है। जीवात्मा तो अनेक हैं; पर ब्रह्म अनेक नहीं; जैसे तिमिर रोग से पीड़ित नयनों से अनेक चन्द्रमा देखता है, उसी प्रकार नाना ब्रह्म के दर्शन का कथन है।

पृ० १३८४, पं० १२—"अभावं बादरिः, भावं जैमिनिः, उभयं बादरायणः" इनकी व्याख्या को आपने उपहासास्पद, अप्रमाण व असम्बद्ध होना कहा है। फिर कहते हैं कि शरीर इन्द्रियों का अभाव, सङ्कल्प रहने पर भाव, व न रहने पर अभाव दोनों व्यासजी मानते हैं। यह श्रुति के प्रमाण के आधार पर सिद्ध ही है।

https://t.me/Dharmasamrat

स्वमतोपन्यास उपयुक्तः, न विषयभेदेन।" इत्यालोचनाऽपि निराधारा। किमपि असम्बद्धमपि वा भवेद् वक्तव्यमवश्यमज्ञेषु निरर्थकगल्लवादनेनाऽपि मिथ्या-ऽऽडम्बरप्रभावस्य भावित्वादेवानेन लिखितम्।

अत्र पृच्छामि भवन्तं किमत्र निष्प्रमाणम्? वेदान्तसूत्राणि प्रमाणानि कथं न? मुक्तिविषयकाणि च प्रमाणानि, तदा कथम् असम्बद्धम्। अथ च समाने मोक्षविषये ऋषिदयानन्देन उपनिषदं सन्दर्भयता स्वमतस्वारस्यसामञ्जस्येन प्राकाशि यत् मुक्तजीवः सङ्कल्पमात्रेण दिव्यशरीरं रचयति, इच्छामात्रेणैव च सन्त्यजति, शुद्धज्ञानप्रकाशश्च सर्वत्र तिष्ठति। तथा चाह शङ्कराचार्योऽपि—'सङ्कल्पादेव चैषा यावत् प्रयोजनं स्थेयोपपत्तिः। प्राकृतसङ्कल्पविलक्षणत्वात् मुक्त-सङ्कल्पस्य' (शा० भा० ४।४।८)।

पृ० १३८४, पं० ६—यदाह—"शब्दो नित्य इति मीमांसकाः। बुद्धिर-नित्येति नैयायिकाः" इति नोपशास्त्रेषु मूलतो भेदस्तद्वदिहाऽपि, इतीदं वाक्यं तु चिन्त्यम्, १३८२ पृष्ठे एव स्वयं विभिन्नमतोदाहृतत्वात्। महर्षिणा तूक्तविषये

ऐसी दशा में आपकी ही प्रथम बात उपहासास्पद सिद्ध हुई। यह कहना कि 'मन सङ्कल्प का साधन है' यह बात सिद्ध होती; तो भी तर्क प्रस्तुत कीजिये कि शरीर इन्द्रिय का भावाऽभाव सङ्कल्प होने या सङ्कल्प के न होने पर सिद्ध ही होता है।

अतः नानाविध भाव व अभावों की प्रसक्ति का कोई कारण मानना न मानना रूप आदि कथन उपपन्न नहीं है। ऋषि दयानन्द का भावाभाव कथन तो असम्बद्ध नहीं, पर स्वयं असम्बद्ध बात का कहना, कुछ न कुछ तो अज्ञ लोगों पर प्रभाव डालने में मिथ्या पाण्डित्याडम्बर का प्रभाव तो अवश्य जमा देगा, इसलिये आपने बिना ही आधार के 'असम्बद्धत्वाच्च' आदि व्यर्थ कथन कहा ही है।

हम पूछते हैं कि यहां प्रमाणरहितता कैसे है? क्या वेदान्तसूत्र प्रामाणिक नहीं हैं? जब उक्त सूत्र मुक्ति के विषय के ही हैं तो व्यास के वचन असम्बद्ध कहना मौर्ख्य है। तथा समान मोक्षविषय में ऋषि दयानन्द ने उपनिषत् का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हुए अपने मत स्वारस्य का सामञ्जस्य प्रकाशित किया है कि मुक्त जीव संकल्पमात्र से दिव्य शरीर रच लेता है और इच्छा मात्र से ही छोड़ देता है और सर्वत्र शुद्ध ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। शंकराचार्य ने भी कहा है—'मुक्त पुरुषों का संकल्प प्राकृत पुरुषों के संकल्प से विलक्षण होने से संकल्प बल से ही इन विद्वानों का यावत् प्रयोजन स्थिरता को उपपन्न होता है' (वे० ४।४।८)।

पृ० १३८४, पं० ६—शब्द नित्य है, ऐसा मीमांसक तथा नैयायिक बुद्धि को अनित्य मानते हैं। वस्तुतः शास्त्रों के मूल सिद्धान्तों में कहीं भिन्नता नहीं (प्रथम खण्ड में विशेष देखिये)। अब यहां आप कहते हैं स्वामी दयानन्द के द्वारा मतभेद

'अभावं बादरिः' इत्यादीनि सूत्राणि सत्यार्थप्रकाशेऽपि व्याख्यातानि सामञ्जस्यं च अत्रापि।

पृ० १३८५, अनु० १—यदुच्यते—"नैतैः सूत्रैर्दयानन्दाऽभिमतो नियत-कालपरिमितः सुखोपभोगमोक्षः सिध्यति" इति, तदपि अशास्त्रीयम्, मोक्षकाल-स्याऽपि शास्त्रेऽन्यत्र सावधिकालप्रतिपादितत्वात्। नहि सर्वत्र सर्वेषु सूत्रेषु मोक्ष-कालावधिरेव प्रतिपादनीयविषयो भविष्यति।

ननु 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' (न्या० १।१।२२), 'तेषां न पुनरावृत्तिः' (बृ० ६।२।१५), 'न खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरा-वर्तते' (छा० ८।१५।१) इत्यादिषु एतदेव व्यज्यते यद् यदा जीवो ब्रह्म, मोक्षम-वाप्नोति तदानन्तकाल एव परमानन्दं भुङ्क्ते न तु ततो निवर्तते कदाचिदिति चेन्न, उक्तवचनानां परान्तकालावधिकृतापेक्षत्वात्।

यथा हि 'सर्वत्वमाधिकारिकम्' (मी० १।२।१६) इति सूत्रतात्पर्यानुसारम् 'असर्वेषु सर्ववचनमधिकृतापेक्षम्' इत्यनुशाबरं समाधेयम्। यथा—"इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्" (ऋ० १०।८५।४२) इत्यत्र 'विश्वमायुरित्यस्या-भिप्रायो गृहस्थाश्रम एव न वियोगः स्यात्, न तु वानप्रस्थसंन्यासयोः खण्डनम्।

की चर्चा करने की कोई तुक नहीं है, जब कि आप स्वयं १३८२ पृष्ठ पर अनेक मतभेदों की चर्चा बिना प्रसङ्ग कर चुके हैं।

पृ० १३८५, अनु० १—"उक्त सूत्रों से दयानन्द के द्वारा स्वीकृत निश्चित अवधि तक सुखोपभोग की स्थितिवाला मोक्ष सिद्ध नहीं होता" यह बात भी महर्षि की बात तथा वेदान्तशास्त्र को न समझने के कारण ही कही गई है। ऋषि ने 'अभावं बादरिः' आदि सूत्रों से किस चीज का अभाव या भाव रहता है, इत्यादि रहस्य समझाया है, मुक्ति की सावधिकता में उक्त सूत्रों को प्रमाणरूप से प्रस्तुत किया गया है, ऐसा कथन करना पूर्ण छल है। मोक्षकाल को अन्यत्र शास्त्र प्रमाण व युक्तियों से सावधि माना गया है। ऐसा हमने पूर्व भी सिद्ध किया है।

"न्यायसूत्र, बृहदारण्यक छान्दोग्य आदि में जीव ब्रह्म को प्राप्त करता व अनन्त काल के लिये परमानन्द का भोग करता है फिर वहां से संसार में वापिस नहीं लौटता" यह कथन भी परान्तकालावधि की अपेक्षा से ही किया गया है।

जैसे "पूर्णाहुत्या सर्वान् लोकानवाप्नोति सर्वान् लोकान् जयति" इस ब्राह्मण वचन से भी सिद्ध होता है कि जितना फल पूर्णाहुति से प्राप्त है उतना ही सर्वत्र विवक्षित है। जैसे ऋग्वेद (१०।८५।४२) में विश्वायु भोगो। यहीं गृहस्थाश्रम में रहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि सदा गृहस्थी बने रहो तथा वानप्रस्थ और

https://t.me/Dharmasamrat

तथैव अत्यन्तशब्दोऽपि अपेक्षितकालं यावद् दुःखनैरन्तर्याभावं सूचयति। तेषां पुनरावृत्तिरित्यस्य व्याख्यानं शङ्करस्तु आह—"इह 'इति' प्रतिपाठात् तस्मादस्मात् कल्पादूर्ध्वमावृत्तिगम्यते" इति।

छान्दोग्येऽपि एवं व्याख्येयं यद् ब्रह्मलोकभोगस्य यावदायुस्तन्मध्ये नावर्त्तते। ब्रह्मशतवर्षाणि यावदायुर्मुक्तेः। अत एव मुण्डकोपनिषदि (३।२।६) 'ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे' इति निर्देशनम्। 'यावदायुः राष्ट्रपतिपदं भोक्ष्यसे' इत्यस्य तात्पर्यमपि तत्पदस्यायुरेवानुबध्नाति न तु राष्ट्रपतिपदस्थस्य जनस्य। तथैव जीवनद्वयस्य कारावासादेशे चत्वारिंशद्वर्षाणामेव आशयो न तु एतज्जीवने मरणानन्तर द्वितीयजीवने कारावासोऽनुगच्छेत्।

अवतारवादिनां तु यदा परमेश्वरोऽपि स्वयमायाति संसारेऽस्मिन् पुनर्वराकस्य जीवस्य पुनरागमनस्य निषेधस्तेषामेव वचनानि विरुणद्धि। इति बहुपूर्वखण्डेऽपि प्रत्यपादि।

यदाह—"उक्तसूत्राणि सालोक्याद्यपरमुक्तिपराण्येव" इत्यपि अज्ञानम्। सालोक्यस्य च पौराणिककल्पितमुक्तिभेदस्य अविशेषेण कृमिकीटपतङ्गपश्वादि-

---

संन्यास कभी न धारण करो। उसी प्रकार अत्यन्त शब्द का तात्पर्य अपेक्षित काल तक दुःख-निरन्तरता का अभाव है। 'तेषां न पुनरावृत्तिः' इसका व्याख्यान आचार्य शंकर ने भी किया है। इस पाठ से इस कल्प के बाद आवृत्ति होगी, ऐसा ध्वनित होता है।

छान्दोग्य में भी यही व्याख्या उचित है कि ब्रह्मलोकभोग की जितनी आयु है, उसके मध्य में नहीं आता। ब्राह्म सौ वर्ष मुक्ति की आयु है, इसीलिये मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि 'वे ब्रह्मलोक में परान्तकाल पर अमृत से परिमुक्त हो जाते हैं'। 'आयुपर्यन्त राष्ट्रपतिपद का भोग करेगा' इसका तात्पर्य 'राष्ट्रपतिपद की निश्चित आयु तक' यही अभिप्राय है, न कि राष्ट्रपति की जितनी आयु है, तब तक। उसी प्रकार 'दो जीवन का कारावास हुआ' का भी अभिप्राय ४० वर्षों से है न कि निरन्तर दो जन्मों तक कारावास से।

अवतारवादियों का परमेश्वर तक जब इस संसार में आता है, फिर बेचारे जीव का पुनरागमन निषेध करना, उन्हीं के वचनों के विरोध का उदाहरण है। इस प्रकार पूर्व खण्ड में भी इस विषय पर लिखा गया है।

"उक्त सूत्र में सालोक्य आदि भेदवाली मुक्ति का वर्णन है, कैवल्य मोक्ष का नहीं" इस कथन का आधार शास्त्रों का अज्ञान है, क्योंकि पौराणिककल्पित मुक्तिभेद सालोक्य तो अविशेषरूप में कृमि, कीट, पतङ्ग, पशु आदि के द्वारा भी

भिरपि स्वत एव लब्धिः, ब्रह्माण्डस्य सर्वलोकेषु परमात्मनो व्याप्तत्वात्, तत्र सर्वात्मनां निवसनेनायासलभ्यत्वात्। शिष्टमुद्धृतं पुस्तककलेवरपुष्ट्यै वर्ततेऽनावश्यकम्।

पृ० १३८८, अनु० १—यदाह—"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते' इत्यादीनामपि न त्वदभिमतार्थप्रतिपादकत्वम्" इति, तदपि वास्तविकतात्पर्याऽबोधात्। विपश्चितो जानन्तु नात्रेन्द्रियादिनिरोध एव परमा गतिरिति विवक्षितम्। वेदान्तज्ञानशून्यानामपि बौद्धानां तत्सम्भवादित्यस्य नैरर्थक्यं 'परमेश्वर में स्थिर होके' इति पाठात्। महर्षिणा उपनिषत्प्रतिपादिता जीवन्मुक्तिरपि मता, एतदनन्तरमेव विदेहमुक्तिर्जायते। विदेहमुक्तौ च एषा परमा गतिर्जीवन्मुक्त्यवस्थासाधनम्।

स्वतः ही प्राप्त है। ब्रह्माण्डस्थ सारे लोकों में परमात्मा के व्याप्त होने से वहां सब आत्माओं के निवास करने से अनायास ही लभ्य है। आश्चर्य है, आप 'अभावं बादरिः' आदि सूत्रों को मुक्तिविषय से असम्बद्ध कहते हैं। और आपने स्वयं वेदार्थपारिजात में चतुर्थाध्याय चतुर्थ पाद के सूत्रों का शाङ्करभाष्य अविकलरूपेण नकल कर दिया। जो न केवल अनावश्यक है तथा जिसमें आपकी बुद्धि कहीं भी सम्मिलित नहीं है, केवल पुस्तक का कलेवर बढ़ा दिया।

पृ० १३८८, अनु० १—"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते' इत्यादि भूमिका में दिये उद्धरण स्वामी दयानन्द को अभिमत सिद्धि के अनुरूप नहीं हैं।" यह वेदार्थपारिजात लेखक का कथन ऋषि के तात्पर्य को न समझ सकने के कारण है। ऋषि ने तो इस उद्धरण में जीवन्मुक्त पुरुष की इन्द्रियों और मन की स्थिति का वर्णन किया है। विद्वान् विचारें कि इनका यह कथन कितना निरर्थक है कि 'नात्रेन्द्रियादिनिरोध एव परमा गतिरिति विवक्षितम्, वेदान्तज्ञानशून्यानामपि बौद्धानामपि तत्सम्भवात्' अर्थात् इनके उपराम मात्र को परमगति नहीं कहते; क्योंकि यह स्थिति तो वेदान्तज्ञान से शून्य बौद्धों को भी प्राप्त हो जाती है। क्योंकि महर्षि दयानन्द ने इसके अर्थ में 'परमेश्वर में स्थिर होके सदा रमण करती है' यह वाक्य लिखकर बौद्धादिकों का निराकरण कर दिया। कारण स्पष्ट है कि वे परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार ही नहीं करते। साथ ही आप द्वारा अपि शब्द का दो बार पाठ भी सर्वथा निरर्थक है।

महर्षि ने उपनिषत् प्रतिपादित जीवन्मुक्ति भी मानी है। इसके अनन्तर ही विदेह-मुक्ति होती है। जीवन्मुक्ति अवस्था में अर्जित 'यदा पञ्चावज्ञानानि मनसा

https://t.me/DharmaSamrat

साध्यसाधनयोरभेदोपचारादिह मोक्ष इति प्रत्यपादि। योगमिति इत्यत्र यदाह—"तां स्थिरामिन्द्रियधारणां वियोगमेव सन्तं सर्वानर्थसंयोगवियोगान्तरायत्वाद् योगिनो योगमिति मन्यन्ते।" तत्तु प्रमत्तालाप एव, अक्षरबाह्यत्वात् सर्वथाभिधेय-तात्पर्यविपर्ययात्। अग्रेऽपि 'योगो हि प्रभवाप्ययौ सृष्टिप्रलयसामर्थ्यवत्त्वात्।'

पृ० १३८८, अनु० २—'तां योगम्' इत्यत्र "योगेन परमेश्वरं प्राप्य प्रमाद-रहितो भवतीति शब्दार्थबाह्यमेव" इत्युक्तिस्ते प्रमत्तालाप एव, तत्त्वार्थानव-बोधात्।

न चाऽपि ऋषिणेह आलस्यशब्दः प्रयुक्तः। प्रमादो हि अनवधानता ध्यानाभावो भवति योगेन परमेश्वरं प्राप्यैव पूर्णतया प्रमादरहितो जायतेऽर्थादवधानं

सह' स्थिति विदेहमुक्ति में साधन बन जाती है, तथा परमगति कहलाती है। साध्य और साधन के अभेदोपचार से जीवन्मुक्त की यह परमगति औपचारिकतया मोक्ष भी कहाती है।

पृ० १३८८, अनु० २—'तां योगमिति' यहां पर "वास्तव में यद्यपि इसको योग नहीं कहा जा सकता, किन्तु सभी तरह के अनर्थ के संयोग और वियोग में यह स्थिति विघ्न डाल सकती है, अतः योगीगण उसे योग कहते हैं" अब विचारिये, उक्त कथन का क्या अभिप्राय निकला। आपके शब्दों में इसे (इन्द्रिय-धारणा को) योग नहीं कहा जा सकता, तथापि उपनिषत्कार ने इसे योग कहा है। 'उपनिषत्कार के विरुद्ध इसे योग नहीं कहा जा सकता' यह अर्थ आपने किन शब्दों से निकाला।

आगे—सभी तरह के अर्थ के संयोग और वियोग में यह स्थिति विघ्न डाल सकती है। बताइये, कौन सी स्थिति? क्या इन्द्रियधारणा स्थिति? तब तो आश्चर्य की बात है, पर यह इन्द्रियधारणा उस अनर्थ के वियोग में भी विघ्न डाल सकती है। ऐसी इन्द्रियधारणा को कोई विद्वान् फिर कैसे मानने लगेगा।

अतः करपात्रीजी का उक्त कथन बुद्धिसम्बन्ध की विच्छेद स्थिति का ही हो सकता है, फिर प्रभव का अर्थ सृष्टि और अप्यय का अर्थ प्रलय कर लेने में भी हमें कोई बिरसता नहीं है; पर आपका टीकाकार तो प्रभव का अर्थ प्रभाव कर रहा है। अतः आपको भी इन दोनों के अर्थ ऋषि दयानन्द की भांति प्रकरणा-नुकूल स्पष्ट करने चाहिये थे।

आपने शब्दार्थ की सूक्ष्मता को न समझ कर अप्रमत्त का अर्थ प्रमादरहित न कराके 'आलस्यरहित' कराना पसन्द किया है। विचार कर देखिये, प्रमाद और आलस्य में बहुत बड़ा अन्तर है। प्रमाद कहते हैं लापरवाही—उपेक्षा को और

प्राप्तो भवति। प्रतिपदं शाङ्करभाष्यमुद्धरता भवता न स्वमतिप्रयोगो व्यधायि।

यच्चाह शाङ्कराक्षराण्युद्धरन् यद् 'योगो हि उपजनापायधर्मकः' तदपि अनु-कृतिमात्रम्, न स्वबुद्धिप्रयोगस्ते। प्रभवत्यस्माद्धिति 'ऋद्धोरपि' उत्पादकप्रकाशक एव योगः शुद्धसत्यगुणानाम् अप्ययोऽर्थाद् शुद्धिदोषासत्यगुणानां नाशकोऽपि।

यदाह—'प्रमादराहित्ये तादृशप्रभवाप्यययोर्हेतुत्वाऽसम्भवाद् इति, तदपि

आलस्य कहते हैं—'शक्तस्यापि अनुत्साहः' अर्थात् समर्थ होता हुआ भी उत्साह न करना। क्या इसी विवेक को आधार मानकर वेदभाष्य करने को आप उद्यत हुए हैं।

आप 'ताम्' इस पर ऋषिकृत अर्थ पर आक्षेप करते हैं कि 'योग से पर-मेश्वर को प्राप्त कर प्रमादरहित होता है'। इस अर्थ को आप शब्दार्थ-बाह्य बता रहे हैं। अच्छा, शब्द से बाह्य मान लिया जाये तो अर्थ से बाह्य क्या हुआ? अस्तु, तोषन्याय से यह मान लिया जाये कि सम्पूर्ण श्रुति का जो अर्थ निकलता है, उससे भी बाहर है। पर श्रीमन्! इस पूर्व बुद्धि की विचेष्टा के अभाव में परम-गति को प्राप्त होने तक क्या आप विश्वास करते हैं कि वह कहीं पर भी ईश्वर का अवलम्बन नहीं लेगा? अवश्य ले लेगा। तो इसके अनन्तर ही साधक योगी भगवद्भक्तिरस को प्राप्त कर अप्रमत्त अर्थात् प्रमादरहित होगा ही। अतः ऋषि का अर्थ सर्वथा प्रकरणसङ्गत है।

वस्तुतः आप उपनिषत् के तात्पर्य को ही नहीं समझ पा रहे हैं। ऋषि ने अतएव प्रमाद शब्द का ही प्रयोग किया है। प्रमाद कहते हैं अवधान अर्थात् ध्यान के अभाव को। अप्रमत्त अर्थात् ध्यानस्थ हो जाता है। पूर्व ही कहा जा चुका है कि नियमान्तर्गत ईश्वरप्रणिधानरूप सोपान तथा प्रासादरूप मोक्ष पर पहुंचने तक साथ रहेगा। इस प्रकार 'परमेश्वर को प्राप्त होके प्रमादरहित होता है' यह अर्थ अतितरां सङ्गत है।

आपने प्रभव और अप्यय के उपजन और अपाय शब्दपर्याय में शांकर-भाष्य नकल तो कर दिये, पर इनके अर्थों को आप स्वयं वा हिन्दीकार दोनों ही नहीं समझे। इसमें आपका कहीं बुद्धियोग नहीं है, जिससे उत्पन्न हो उसे प्रभव कहते हैं। योगविषय में प्रभव शुद्ध व सत्त्व गुणों का प्रकाश करनेवाला ही कहला-येगा। इसी प्रकार यहां पर प्रभव के विपरीत अशुद्धि दोष और असत्त्वगुणों का नाशक अप्यय कहलायेगा।

यह कहना कि प्रमादरहितता में इस तरह के प्रभव और अप्यय की

https://t.me/Dharmasamrat

बुद्धितिलाञ्जलिदानादेव। यतो हि प्रमादराहित्यं तु स्थितिस्तत्स्थितौ शुद्धितद्-गुणप्रकाशनस्य अशुद्धिदोषासद्गुणनाशनस्य च हेतुसम्भवात्।

पृ० १३९०—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते०' इत्यत्रापि यत् शाङ्करम् उद्धृत्य ब्रह्मैव भवत्यर्थं प्रतिपादयति, तत्तु मया पूर्वं खण्डितत्वान्नेह प्रपञ्च्यते। तथाप्यवधेयं यज्जीवस्य सत्ता तु ब्रह्मणः पृथगेव। नायं ब्रह्मणोऽविद्यापरिणामो न वांशः। 'ब्रह्म समश्नुते' इत्यस्य आशयस्तु अविद्यानाशे सति जीवो ब्रह्माधिगत्यानन्दप्राप्तो जायते इति।

न च 'यो ह वै तत्परमब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३।२।९), 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृह० ४।४।६) इत्यादिप्रमाणैर्जीवः स्वसत्तां विनाश्य ब्रह्मैव भविष्यतीति वाच्यम् एवेति उत्प्रेक्षालङ्कारदर्शनात्। यथा गङ्गा समुद्रमाप्य क्षारीभवति तथायं तथेत्यानन्दो भवति आत्मतत्त्वस्याखण्डत्वात्। क्वचित् शङ्करेणाऽपि जीव-

---

कारणता नहीं बन सकती, सरासर अबोध है। क्योंकि प्रमादरहितता तो एक स्थिति प्रज्ञा-इन्द्रिय धारण तथा परमेश्वर को प्राप्त करके होती है। परमेश्वर की प्राप्ति से पूर्व शुद्ध सत्त्वगुणों का प्रकाश तथा अशुद्धि तथा असत्य गुणों का नाश आवश्यक है। अतः उपासना योग (प्रभव और अप्यय) से स्थिर इन्द्रिय धारण, परमेशप्राप्ति और फिर प्राप्तिरस का स्वाद आने पर प्रमादरहितता निश्चित है।

पृ० १३९०—'यदा सर्वे··· – ·····' पर शाङ्करभाष्य का उद्धरण करके इन्होंने लिखा है। 'स्वयं (जीव) ब्रह्म बन जाता है' यह कथा सर्वथा अज्ञान पर आधारित है। इस विषय में पूर्व कहा जा चुका है, तब भी कुछ लिखा जा रहा है कि जीव की सत्ता ब्रह्म से पृथक् है और सदा पृथक् रहती है। न तो यह जीव अविद्या का परिणाम है और न ईश्वर का अंश है। 'ब्रह्म समश्नुते' का आशय है, अविद्या के नाश होने पर ब्रह्म को प्राप्त कर जीव आनन्द को प्राप्त हो जाता है।

'जो उस परम ब्रह्म को जान लेता है, वह मानो ब्रह्म ही हो जाता है।' (मु० ३।२।९), 'ब्रह्म होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है' (बृह० ४।४।६) इत्यादि प्रमाणों से 'जीव अपनी सत्ता को खोकर ब्रह्म ही बन जाता है' ऐसा भी नहीं कहना चाहिये; क्योंकि इन वाक्यों में प्रयुक्त 'एव' से यहां सर्वत्र 'उत्प्रेक्षालंकार' ही द्योतित होता है। जैसे गंगा का मधुर जल समुद्र को पाकर उसकी लावणिकता वरण कर लेता है, उसी प्रकार आनन्दमय ब्रह्म को प्राप्त कर जीव आनन्दमय हो जाता है। शंकर तक ने आत्मा की अखण्डता स्वीकृत की है तथा जीव और

ब्रह्मणोर्वास्तविकसत्ता मता "यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति नैवमीश्वरोऽनुभवति" इति (२।३।६)।

पृ० १३९१, अनु० २—"यदन्तरायस्तद् ब्रह्म०' (छा० ८।१४।१) अत्र यदन्तराय इति पाठोऽशुद्धोऽसङ्गतश्च।" इति सुधियो ध्यायन्तु यद् भङ्गातरङ्गोद्वेलितमतिपरिणतिरेव, द्वयोः पाठयोरेकरूपत्वात्। गीताप्रेसगोरखपुरद्वितीयसंस्करणे तु 'यदन्तरा' इत्येव पाठः। येऽन्येऽपि मन्त्रास्तेषामर्थाः केवलं शाङ्करानुकृतिमात्राः।

पृ० १३९५, अनु० १—अत्र कृता आक्षेपास्तु तर्कबुद्धिप्रतिरोधिनः। नहि स्वामिना स्वर्गाद्यविशेषप्रपञ्चप्राप्तिरेव मोक्षोऽभ्यधायि। मोक्षपदप्राप्तौ तेषां लोकलोकान्तराणां ज्ञानेनैव प्रकाशनसम्भवात्। अथवा 'य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामाचारो भवति' (छान्दो० ८।१।६) इति प्रमाणेनापि सर्वलोकगमनं पुष्टं भवति। परमेश्वरः प्राणस्य प्राणः चक्षुषः चक्षुरित्यादि, अत्र यदाक्षिप्यते यन् "न प्राणचक्षुरादीनां प्राणान्तरं चक्षुरन्तरं वा दृश्यते उपपद्यते वा" इति तु भवन्मतेर्निष्कोषतामेव प्रकाशयति, व्यञ्जनाकल्पनारहितत्वात् तस्याः। योऽस्माकं प्राणानपि प्राणयति, प्रीणयति इत्याद्या एवार्थाः समनुमेयाः।

ब्रह्म दोनों की ही वास्तविक संज्ञा मानी है। "जैसे जीव संसार में दुःख का अनुभव करता है, इस प्रकार ब्रह्म अनुभव नहीं करता" (शां० भा० २।३।६)। एक आत्मा होने पर अनुभूतिभिन्नता नहीं हो सकती।

पृ० १३९१, अनु० २—"यदन्तरायस्त०' यहां पर 'यदन्तराय' पाठ अशुद्ध और असङ्गत है।" सुधी लोग देखेंगे कि यहां दोनों एक ही रूप के पाठ हैं अर्थात् दोनों पाठों में 'य' है। गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित में 'यदन्तरा' इतना ही पाठ है। जो अन्य मन्त्र दिये हैं, उनके अर्थ या भाष्य तो यहां केवल शङ्कराचार्य जी की नकलमात्र उतार दी है।

पृ० १३९५, अनु० १—यहां पर किये गये आक्षेप तर्क तथा बुद्धि दोनों के प्रतिरोधी हैं। स्वामीजी ने कहीं भी स्वर्ग आदि की प्राप्ति को मोक्ष नहीं माना। मोक्षप्राप्ति पर उन-उन लोक-लोकान्तरों का प्रकाश ज्ञान से भी सम्भव है। अथवा 'य इहात्मानम्' जो यहां आत्मा को समझ कर सत्य कामनाओं को प्राप्त करते हैं, उनका सब लोकों में कामचार अर्थात् स्वेच्छाचार होता है। (छा० ८।१।६)। आप कहते हैं कि वह प्राणों का प्राण आदि नहीं हो सकता। इस पर हमारा कथन है कि जो प्राणों में भी प्राणशक्ति का पूरक है, इत्याद्यर्थ ही सच्चा सिद्धान्त है।

https://t.me/DharmaSamrat

यदुच्यते—"जीवे भवति प्रमादो न ब्रह्मणि" इत्येष तु नः सिद्धान्तो न तु श्रीमताम्, भवन्नवीनवेदान्तिब्रह्मणि भ्रमप्रमादानां सर्वेषामेव सम्भवात्।

"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः" इत्यत्र विज्ञानिनो ब्राह्मणस्य प्रज्ञावत्त्वं स्वत एव सिद्धम्, किमर्थं पुनः प्रज्ञाकरणविधानमिति व्यर्थं सदिष्टं कल्पयते यत् प्रज्ञावतोऽपि तस्य प्रज्ञाया विशालतेवापेक्ष्यते इह।

पृ० १३९५, अनु० २—न च 'स होवाच' इत्यत्र अपसिद्धान्तापातशङ्का कार्या, 'स पर्यगात्' इति मन्त्रे निर्गुणस्यापि ब्रह्मणोऽङ्गीकृतत्वात्। नासौ साकार-पदार्थवदाप्तव्यो बाह्येन्द्रियैरित्यर्थवत्त्वान्नास्ति कश्चिद् विरोधः, शुद्धसाधनेन तत्-प्राप्तिकथनाच्च। मूर्त्तद्रव्यवन्नासौ प्राप्यते।

और "जीव में प्रमाद होता है ब्रह्म में नहीं" यह सिद्धान्त हमारा है। आपका ब्रह्म जीव बनेगा, तब तो उसमें भ्रम प्रमाद आदि आ ही जायेगा।

धीर अर्थात् विज्ञानी ब्राह्मण का प्राज्ञकत्व तो स्वतः सिद्ध है। पुनः 'प्रज्ञां कुर्वीत' 'प्रज्ञा करे' ऐसा कहना व्यर्थ होकर यह ज्ञापन करता है कि विशाल प्रज्ञा करे।

पृ० १३९५, अनु० २—आप कहते हैं कि "दयानन्द सविशेष मानते हैं 'स होवाच' श्रुति में स्थूलादि से निर्विशेष कहा गया है, अतः उनका सिद्धान्त इस श्रुति के विपरीत पड़ता है।" करपात्रीजी के इस आरोपकथन से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने ठीक रूप से न शास्त्र को और न स्वामीजी के सिद्धान्त को ही समझा है; क्योंकि स्वामी दयानन्द ने 'स पर्यगात्' इस मन्त्र की व्याख्या में निर्गुण, निर्विशेष और सगुण (सविशेष) दोनों की यथा-यथा व्याख्या की है, जिससे इन दोनों में परस्पर कोई विरोध नहीं है।

शंका—देखिये, करपात्रीजी का छल। वे उद्धृत करते हैं कि 'तत्प्राप्को न कश्चित्' उस ईश्वर को प्राप्त करनेवाला कोई नहीं। एक ओर तो दयानन्द ने यह लिखा, दूसरी ओर दयानन्द ने लिखा 'कि वह शुद्ध साधनों से प्राप्त किया जा सकता है' यह स्पष्टतया परस्पर विरुद्ध है।

समा०—विवेकीजन विचार करें। ऋषि की शब्दावली यहां उद्धृत की जाती है—"वह साकार पदार्थ के समान किसी को प्राप्त नहीं होता, और न कोई उसको मूर्त्त द्रव्य के समान प्राप्त होता है; क्योंकि वह सबसे परिपूर्ण है'..... 'मूर्त्त द्रव्य को चक्षुरादि इन्द्रियों से साक्षात् कर सकता है, वह इन्द्रिय विषयों से अलग है।" अब बताइये, ऋषि के कथन में कहां विरोध है, आपके द्वारा वाक्यांश उद्धृत कर अन्यथा अर्थ सिद्ध करने का प्रयास दुर्हृदय का सूचक है।

यदाह "'न तदश्नाति किञ्चन' इत्यस्याविवृतत्वाच्च" महाशय! ऋषेः प्रयोजनम् एतेषां प्रमाणानामुद्धरणे केवलमुक्तिवर्णनदर्शनमस्ति। तदनुसारं सारत एवार्थो दर्शितः, न त्वविकलं व्याख्यानं कृतमुद्धरणानाम्, शीर्षक एव संक्षेपत इति शब्दाद् द्योत्यते। 'न तदश्नाति' इत्यर्थं एकत्र तत् कर्ताऽपरत्र कर्मेति मत्वा व्याख्यातव्यम्, यन्न तद्भक्षयति न वा भक्ष्यमस्तीति।

पृ० १३९७, पं० १२—यदुक्तम्—"ये यज्ञेन' इति व्याख्यानं शाब्दन्याय-बहिर्भूतम् अतीवोपहासास्पदम्, मन्त्राक्षरार्थाननुगमात्। सख्यममृतत्वं च समान-विभक्तिकमिति कथं तयोर्हेतुमद्भावः।" इति, तदखिलं भवत्कथनमेवोपहासस्पदम्, मन्त्रे प्रकृतिप्रत्ययार्थगाम्भीर्येणामननात्। 'सख्यममृतत्वम्' इत्यत्र 'मित्रता से

यह कहना कि 'न तदश्नाति किञ्चन' की कोई व्याख्या स्वामीजी ने नहीं की' यह सच है, क्योंकि स्वामीजी यहां केवल वेदान्त और उपनिषत् के प्रमाणों से मुक्ति का स्वरूप और लक्षण बता रहे हैं, अविकल व्याख्या करना उनको उद्दिष्ट नहीं है, अतः साररूप में प्रस्तुत किया है। जैसा कि 'अथ मुक्तिविषयः संक्षेपतः' इस शीर्षक से प्रकट है। यह सरल ही है। 'न तदश्नाति' वाक्य में तत् कर्म है अर्थात् वह ब्रह्म न कुछ खाता, न वह किसी का भक्ष्य है।

पृ० १३९७ पं० १२--आक्षेप—"येन यज्ञेन' इसकी ज्ञानरूप-यज्ञ से आत्मा आदि द्रव्यों की परमेश्वर को दक्षिणा देने से वे मुक्त लोग मोक्षसुख में प्रसन्न रहते हैं। जो परमेश्वर की मित्रता से मोक्षभाव को प्राप्त हो गये हैं, उन्हीं के लिये सब सुख नियत किये गये हैं। उनके प्राण बुद्धि को बढ़ानेवाले हैं। मुक्त पुरुष को पूर्व मुक्त अपने पास रख लेते हैं, फिर वे ज्ञान से परस्पर देखते व मिलते हैं।" इस व्याख्या को ये शाब्द न्याय से बहिर्भूत अतीव उपहासास्पद बता रहे हैं; क्योंकि यह मन्त्राक्षरों से बहिर्भूत है।

समस्त का मोक्षप्राप्त अर्थ कैसे हुआ? सख्य और अमृतत्व दोनों पद एक ही विभक्ति के हैं। इनमें कार्य कारण भाव कैसे बन सकता है?

समा०—महाशय, बिना समझ से काम लिये उपहासास्पद कह डालना ही उपहासास्पद है; क्योंकि मन्त्र में प्रकृति और प्रत्यय का आपने गम्भीरता से मनन नहीं किया। इसके समझने के लिये आपको पाणिनीय शास्त्र की गहराई में उतरना चाहिये था। यथा सम्यग् गताः 'अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु' अर्थात् अच्छे प्रकार (मोक्ष को) प्राप्त। मोक्ष अर्थ ग्रहण करना वर्णनीय अमृतत्व के कारण है। वैसे तो यही सीधा अर्थ व अभिप्राय है कि इन्द्र सख्य अमृतत्व ही है। उसे (आनश) प्राप्त हो गये; पर महर्षि ने अपने भाषार्थ में और भी खोल दिया।

https://t.me/DharmaSamrat

मोक्षभाव को प्राप्त हो गये हैं' इत्येवार्थः साधीयान्। सख्युर्भावः कर्म वेति विग्रहे 'सख्युर्यः' (अष्टा० ५।१।१२६) इति यप्रत्यये। यदा हि सखा परमात्मा तदा भावेऽर्थे, यदा च सखा जीवात्मा तदा कर्मणि यप्रत्यये कृते सख्यममृतत्वम् इत्यस्यार्थः, सख्युर्जीवात्मनः कर्मणा मित्रतया अमृतत्वम्' इत्यर्थः सेत्स्यति। व्याकरणरहस्यानभिज्ञोऽभिधाधीर्भवान् स्वबुद्धिपृष्ठे लगुडं गृहीत्वैव प्रहर्तुं मनुधावति। 'येन यज्ञेन' इत्यत्र येन इत्यपपाठः।

पृ० १३९८, पं० १—यच्चोक्तम्—"भद्रपदं कल्याणवाचि, न विशिष्टनियतमोक्षसुखपरम्, अमृतत्वेन गतार्थत्वात्" तदपि नामानध्ययनफलम्। अमृतशब्देनात्र पुनरागमनार्थस्य ध्वनित्वान्न गतार्थता। तदा मोक्षे भद्रं कल्याणं सुखं वा जायत इति भावोऽभिव्यक्तः।

यस्यास्ति यद्वृत्तिपरा मनीषा,
अर्थस्य सिद्धिं च तथेक्षतेऽसौ।

वेद में 'सखाया' परमात्मा या जीवात्मा दोनों में आता है। जब सखा का अर्थ परमात्मा होगा तो 'य' प्रत्यय भाव अर्थ में समझा जावे अर्थात् सखा परमात्मा के भाव मोक्ष को प्राप्त और जब सखा से जीवात्मा का अर्थ लगे तो 'सख्युः कर्म' इस कर्म अर्थ में 'य' प्रत्यय होगा। तब अर्थ होगा जीवात्मा के सख्य (मैत्री कर्म से) मोक्ष को प्राप्त। इस प्रकार यह अर्थ व्याकरणसंगत व अत्युत्तम है। दूसरे महर्षि ने यह भी अभिव्यञ्जित किया है कि 'परमात्मा के सख्य(मित्रता) से अमृत प्राप्त होता है'। वाक्य-रचना इस रूप में नहीं की कि परमात्मा का सख्य अमृत है और मोक्षप्राप्ति उसका फल है। शब्दानुशासन के रहस्य को न जानकर अभिधाधी आप अपनी बुद्धि के पीछे लाठी लेकर पड़े हैं। इसीलिये 'येन यज्ञेन' यह भ्रष्ठ पाठ आपने कर दिया।

पृ० १३९८, पं० १—यह कहना भी ठीक नहीं कि भद्र पद कल्याणवाची है, तो मोक्षसुख इस अर्थ को नहीं कह सकता। जरा तो सोचिये, मोक्ष से अधिक कल्याण अन्य क्या हो सकता है। भद्र तथा अमृत दोनों शब्दों के एक मन्त्र में पढ़ने पर अमृत पद से भद्रार्थ की गतार्थता नहीं समझनी चाहिये, क्योंकि 'अमृत' पद पुनरागमन के अभाव का विशिष्ट अर्थ बता रहा है और भद्र पद कल्याण या सुखार्थ का द्योतक है। तब अपुनरागमन स्थिति में कल्याण अर्थ मोक्षसुख होता है, यह अर्थ निष्कृष्ट हुआ। आप गहन अध्ययन के अभाव में इधर-उधर बहक रहे हैं। भद्र का अन्यथार्थ समझने पर यह निम्नोक्ति चरितार्थ हो रही है—

जिसकी बुद्धि जिस वृत्ति की होगी वह मनुष्य वैसी अर्थसिद्धि देखता है।

चौरः कविर्लम्पटवृत्तिको वा,
यथामनः कामयते सुवर्णम्॥

इति निर्मलोक्तिः सर्वत्र सङ्गता।

यच्चाह—"अङ्गिरसः सुमेधसः। इत्यस्य बुद्धिवर्धकाः कथमर्थः" तदप्यविचारितोक्तम्। 'प्राणाः सुमेधसः भवन्ति' अत्रैष एवाभिप्रायो यत् साधिताः प्राणा उत्तमसेधां जनयन्ति इत्यभिव्यज्यते, तस्माज्जनैः प्राणायामसाधनैरुत्तमा मेधा सर्वथा साधयितव्या इत्युपदिश्यते।

प्राणानामङ्गिरसत्वोपपत्तिस्तु 'सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः प्राणो वा' (बृहदा० १।३।१९) इति प्रमाणात्।

लोके यद् यत् प्राणमनइन्द्रियादिभिः साध्यते तदखिलं मुक्तात्मनः सङ्कल्पेनैव सिध्यतीति ज्ञेयम्।

पृ० १३९८, अनु० १—यदाक्षिप्यते—"वोऽस्तु मानवमित्यादिपदानामन्वयोऽभिप्रायो वा नोक्त एव। स्वसमीपस्थ आनन्दे रक्षन्तीत्युन्मत्तप्रलपितमेव"

जैसे चोर, व्यभिचारी और कवि सुवर्ण को सभी चाहते हैं, पर अभिप्राय में भेद है अर्थात् व्यभिचारी सुन्दर रंग, कवि उत्तम वर्ण, चोर सोना चाहते हैं।

यह कहना कि 'अङ्गिरसः सुमेधसः' का अर्थ बुद्धिवर्धक कैसे हो गया? सुनिये—प्रथम बात तो यह है कि 'अङ्गिरसः' का अर्थ बुद्धिवर्धक समझना बुद्धिहीनता है; क्योंकि स्वामीजी ने 'प्राण' अर्थ दिया है। दूसरे 'शोभना मेधा धारणावती धी येषु ते' अर्थात् जिन प्राणों में शोभना मेधा होती है अर्थात् योगी के प्राण बुद्धिवर्धक होते हैं, ठीक अर्थ है। कहा भी है—'तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्' अर्थात् प्राणों की साधना से बुद्धीन्द्रियों के भी दोष भस्म हो जाते हैं।

प्राणों को आङ्गिरस मानने में बृहदारण्यक का प्रमाण है कि वह प्राण 'अयास्य आङ्गिरस' है, क्योंकि वह अङ्गों का रस (सार) है। लोक में जो-जो प्राण मन और इन्द्रियों आदि से सिद्ध किया जाता है, वह सब मुक्तात्मा के सङ्कल्प से ही सिद्ध हो जाता है।

पृ० १३९८, अनु० १—यहां पर आक्षेप है कि 'ये यज्ञेन' मन्त्र के 'वो अस्तु मानवम्' इत्यादि पदों का अन्वय वा अभिप्राय नहीं कहा है। आपके आक्षेप में ही दो बड़ी भूलें हैं, एक आपने 'वो अस्तु' इस वैदिक पाठ का अपपाठ 'वोऽस्तु' कर

https://t.me/DharmaSansar

एतत् सत्यं यदुन्मत्तः स्वस्थधियोऽपि स्वीयश्रेण्यामेव मनुते। श्रीमन्! ऋषिणा तु मुक्तिविषयकप्रमाणैः संक्षेपत एव वर्णितम्। न तु भाष्यं प्रतिपदव्याख्यानादिकृतं तस्मादन्वयादि प्रश्न एव नोपपद्यते। श्रीमता दुर्भावनयैवान्ववादीह। हिन्दीकृतापि त्वदनुयायिनाऽनर्थ एवोपन्यस्तः। यथा "वे परस्पर अपने पास के ज्ञान से एक-दूसरे को मिलते हैं।" तत्र ऋषेर्हिन्द्यास्तात्पर्यमस्ति यत् पूर्वमुक्ता यथा आनन्दे वसन्ति तथैव स्वसमीपे आनन्दे एव तानपि नवीनमुक्तान् निवेशयन्ति।

"लोक आनन्दो भुज्यते न त्वानन्दे स्थीयते, गुणस्य द्रव्याधारत्वानुपपत्तेः" तत्तु सर्वथा कुतर्कानुमतमन्दमतिफलम्। वस्तुतस्तु लोकेऽपि नानन्दो भुज्यते, वास्तविकानन्दस्य परमात्मनो गुणस्य लोके भोक्तुमशक्यत्वात्। चर्वणादिक्रिया साध्य-भोजनस्य द्रव्यस्यैव भुज्यमानार्हत्वात्, तत्रानुभूयत इति प्रयोग एव साधीयान् स्यात्, 'न त्वानन्दे स्थीयते' इत्यप्यचिन्तनवचनम्। आनन्दस्तु परमात्मनो गुणः।

दिया, दूसरे 'इत्यादि' पद से अन्य कौन सा पद ग्रहण कर रहे हैं, जिसका यहां भावार्थ नहीं कहा है, बताइये। वस्तुतः 'इत्यादि' पद व्यर्थ है।

आपका यह संस्कृतानुवाद अशुद्ध है अथवा भूमिकाकार द्वारा अनभीष्ट अर्थ द्योतन करने के लिये जानबूझकर किया गया है। भूमिका में पाठ है—'अपने समीप आनन्द में रख लेते हैं।' और आप अनुवाद करते हैं—'स्वसमीपस्थे आनन्दे' अर्थात् 'स्वसमीप के आनन्द में रख लेते हैं।' क्या आपने इस सूक्ष्म अन्तर को भी विचारा?

वस्तुतः श्री करपात्री का यह सब उन्मत्त प्रलाप है। यह सत्य है कि उन्मत्त स्वस्थधी को भी अपनी श्रेणी में रख लेता है, जैसा कि आपने किया। ऋषि ने तो मुक्ति-विषय में प्रमाणों से संक्षेप में कहा है, भाष्य नहीं किया। फिर अन्वय करने की क्या आवश्यकता थी? आपने ऋषि का भावार्थ दुर्भावना से अनूदित किया है। आपके हिन्दीकार ने भी जो आपकी भावना से अनुयायी है, इस प्रकार हिन्दी में लिखा है—"वे परस्पर अपने पास के ज्ञान से एक दूसरे को मिलते हैं।" ऋषि का तो सीधा कथन है कि पूर्व मुक्त पुरुष जैसे आनन्द में वसते हैं, उसी प्रकार अपने समीप में आनन्द में उन नवीन मुक्तों को भी रख लेते हैं।

"लोक में आनन्द का भोग किया जाता है, न कि आनन्द में स्थित होता है, गुण आनन्द किसी द्रव्य का आधार नहीं हो सकता" यह कथन कुतर्कानुगत मन्दबुद्धि का ही फल है। वास्तव में तो परमात्मा का गुण आनन्द लोक में भोगा ही नहीं जा सकता है, अतः अनुभव किया जा सकता है, यह कहना ही उपयुक्त होगा। और यह कहना कि 'आनन्द गुण में ठहरा नहीं जा सकता' भी अचिन्तन

नहि द्रव्यात् परमात्मनः पृथग् गुणः क्षणमपि तिष्ठति, अतः सर्वथा सर्वदानन्द एव स्थीयते।

वस्तुतस्तु अभिधाधीकौटिल्येन इदमुपन्यस्यति अयम्। यतो ह्ययं सदा ईर्ष्यायाम् असूयायां वा तिष्ठति न त्वानन्दे। श्रीसायणानुसन्धानस्याऽन्धानुसरण-शरणनुपेयुषाऽनेन वेदविस्तृतविज्ञानराशेर्विलोप एवोपपाद्यते। आध्यात्मिकपक्षे व्याख्यातोऽयं मन्त्रो मोक्षनिरूपणे सर्वथोपयुज्यते।

का फल है। आनन्द तो परमात्मा का गुण है, जो उससे कभी पृथक् नहीं होता, अर्थात् आनन्द में रहने का अर्थ आनन्दमय परमात्मा में रहना ही है।

वस्तुतः उक्त लेख अभिधा अर्थ की कुटिलता का परिणाम है; क्योंकि यह तो सदा ईर्ष्या असूया में ही रहता है न कि आनन्द में। श्री सायणादि के अन्धानुसरण करनेवाले इनके द्वारा वेद की विस्तृत विज्ञान राशि का विलोप ही किया जा रहा है। ऊपर अन्वय का अर्थ यदि तात्पर्य अपेक्षित है, वह तो सर्वत्र स्पष्ट है। जीवन्मुक्त दशा में तो निश्चित ही प्राणों का सम्बन्ध रहता है।

इस लेखक ने वेदमन्त्र में ऋषियों के नाम आने पर उसको इतिहास मानकर व्याख्या उतार दी है। परन्तु वे नाम भी तो वेदमन्त्रों से ही ऋषियों ने रख लिये थे। अतः ऐतिहासक पक्ष सर्वथा अमन्तव्य है। इस विषय में हमारा शोध निबन्ध "वेद मन्त्रों पर निर्दिष्ट ऋषि मन्त्रद्रष्टा थे, मन्त्रकर्ता नहीं" पढ़िये, जो श्री मीमांसकजी द्वारा सोनीपत (हरियाणा) से प्रकाशित हुआ है। यहां पर ऋषि दयानन्द ने मोक्षनिरूपण में यह मन्त्र घटाया है।

पृ० १३९९, अनु० १—"स नो बन्धुः' इसका अर्थ 'वह परमेश्वर हमारा बन्धु अर्थात् दुःखनाशक' आदि सुन्दर अर्थ नहीं है, प्रसिद्धार्थ का त्याग करना दोष है।" यह आक्षेप भी ठीक नहीं है, क्योंकि आपकी मति भ्रान्ति से ग्रस्त है। प्रसिद्ध के विषय में आप बताइये कि कहां प्रसिद्धार्थ लिया जाये? लोक में प्रसिद्ध अर्थात् क्या महीधर आदि के भाष्यों में प्रसिद्ध? प्रथम की प्रसिद्धि तो अशास्त्रीय मानी जायेगी। द्वितीय प्रसिद्धार्थ यास्क आदि ऋषियों से विरुद्ध होने से अग्राह्य है। जैसे 'गणानां त्वा' आदि मन्त्रों के घोर अश्लील अर्थ करने से हिरण्य, अहि, छाग आदि शब्दों में ज्योति, मेघ, सप्तवर्षीय धान्यादि अग्रहण करने तथा सुवर्ण, सर्प, बकरा आदि प्रसिद्ध अर्थों के ग्रहण करने पर यज्ञ में वध कर-करवाने पर अनर्थ की सम्भावना बढ़ जायेगी।

हे ब्रह्मबन्धो! रूढ़िवाद को त्यागकर आप वेदों पर दया करो। आप बन्धु का अर्थ बांधनेवाला समझ रहे हैं। यदि माना भी जाये तो 'अपने प्रेम से बांधनेवाला' यह अर्थ होने से दुःखनाशक (भ्रातृवत्) अर्थ ध्वनित होगा। जो कर्म धागे

https://t.me/DharmaSahrat

पृ० १४००, पं० ३ यदप्याह—"जीवः परिच्छिन्नोऽनादिरनन्तश्च परमेश्वराद् भिन्नो ज्ञानादिगुणकः' इत्यादि सत्यार्थप्रकाशोक्तमपि न सङ्गच्छते, परिच्छिन्नत्वाद्यनुपपत्तेः" इत्यादि, तदपि न चारु, शास्त्ररहस्याननात्, जीवस्य परिच्छिन्नत्वात्, विभुत्वाभावाच्च, एकशरीरात्, शरीरान्तर्गमनात्। तथा चाह 'पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः' (न्या० १।१।२९) प्रेत्यभावो हि प्रागभाव सदृशानादिसान्तोऽपवर्गपर्यन्तस्थायी। किं पुनरुत्पत्तिरात्मनः शरीरस्य वा? कूटस्थनित्यात्मन उत्पत्तेर्युक्तिविरुद्धत्वान्नाद्यः पक्षः सम्भवति। न द्वितीयोऽपि पक्षः साधीयान्, शरीरस्य सकृदुत्पत्तेः। न चैवैकवारोत्पन्नशरीरस्य पुनरुत्पत्तिर्भवति तद्विनाशा-

से जन्म-मरण के नियमों में जीवों को बांधता है, वही मुक्त भी करता है।

महीधर का अनुसरण करते हुए यह कहते हैं कि अग्नि आदि देवता प्रमुदित होते हैं, यह कहना कि अग्नि आदि नामवाले चेतन मोक्ष को प्राप्त कर प्रसन्न होते हैं, तब तो ठीक है, परन्तु आपके अग्नि आदि देवता तो जड़ हैं, उनका प्रमुदित होना सम्भव नहीं; क्योंकि मोद या प्रमोद तो चेतन का धर्म है और मोक्षप्रापक ज्ञान भी चेतनाश्रित ही हो सकता है। लाक्षणिकता या आलङ्कारिकता से प्रसन्नतादि आरोपित माने जा सकते हैं।

यह कहना कि "मोक्ष का सुख तीसरे धाम में नहीं रहता; क्योंकि वह तो ब्रह्म का स्वरूप साक्षात्कार ही है, जो कि सर्वत्र व्याप्त है" उपयुक्त नहीं। महाशय! तृतीय धामन् का अर्थ तीसरा स्थान स्वर्गलोक अर्थ नहीं है। वरन् 'जीव और प्रकृति से भिन्न तृतीय अर्थात् आनन्दस्वरूप ईश्वर में' यह अर्थ ठीक है। संसार और ब्रह्म से बाहर तीसरा धाम कहीं अन्यत्र नहीं है।

पृ० १४००, पं० ३—आक्षेप—सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में बताया गया है कि जीव परिच्छिन्न होते हुए भी अनादि अनन्त है। यह परमेश्वर से भिन्न है, इसमें ज्ञानप्रभृति गुण रहते हैं। पाप और पुण्य के अनुष्ठान में यह स्वतन्त्र है, किन्तु इसके फल के भोग में स्वतन्त्र होकर ईश्वर के अधीन नियमों में रहता है। स्वरूपतः न तो बद्ध है न मुक्त। बुरे अदृष्ट के कारण यह शरीर धारण करता है और शरीर को धारण करने से ही इसको सुखदुःखादि भोगने होते हैं। धर्मादि का आचरण करने पर शरीर छूटने पर यह मुक्त हो जाता है। मुक्तदशा में भी तत्सम्बन्धी इच्छा होने पर इसे सङ्कल्प से इन्द्रियां होती हैं। किन्तु यह सारा कथन असङ्गत है; क्योंकि जीवात्मा को परिच्छिन्न नहीं माना जा सकता। जो पदार्थ प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव में से किसी एक का भी विरोधी हो, उसे परिच्छिन्न कहते हैं। अनादि और अनन्त पदार्थ इस तरह काल से परिच्छिन्न नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा होने पर उसे अनित्य मानना पड़ेगा।

नन्तरं द्वितीयशरीरस्य पुनरुत्पत्तेः। अतो न पुनरुत्पत्तिर्हि प्रेत्यभावः।

अथा समाधत्ते—"पुनः शब्दार्थस्य यत्नत उपदिष्टस्य परिहर्तुमशक्यत्वादात्मनश्च स्थायित्वेन क्रियाभ्यावृत्तिसम्भवात्, तस्यैव पुनः पुनरुत्पत्तिं ब्रूमः, उत्पत्तिवन् मरणमपि सोऽयमात्मन एव मृत्वा पुनर्जन्म प्रेत्यभाव इति" (न्या० भा०) अर्थात् 'स्थिरवस्तुन्येव क्रियाया आवृत्तिरसकृल्लभ्यते नास्थायिनि' इति नियमेन जन्ममरणरूपक्रियाया आवृत्तेरात्मन्येव लभ्यत्वात् प्रेत्यभावो मरणमात्मनो भोगाय, न देहेन्द्रियादिवियोग उच्यते, जन्म तु तत्सम्बन्ध इति।

जीवस्य परिच्छिन्नत्वे प्रमाणम्—

'अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं विष्यामि मायया' (अथर्व० १९।६८।१) इति मन्त्रस्य भाष्यं कुर्वाणः श्रीसायणोऽपि—'अव्यसः अव्यापकस्य परिच्छिन्नस्य जीवात्मनः' इति परिच्छिन्नत्वं पुष्णाति।

तथा कृतहानि और अकृताभ्यागम प्रसङ्ग भी आयेगा, इसलिए जीव को देश-परिच्छिन्नत्व ही कहना चाहिये।

समा०—उक्त कथन को असङ्गत बतानेवाले के दोष निम्न हैं—प्रथम तो आपने जो भाषा सत्यार्थप्रकाश की उद्धृत की है, वह सारांशमात्र है। इस लेखक ने कई स्थानों पर ऋषि की शब्दावली भी सङ्कलित नहीं की है। दूसरा दोष यह है कि इसने छल से यह बात कही कि देशपरिच्छिन्नत्व ही कहना चाहिये। पर जैसे ऋषि ने कहा है उसे उद्धृत नहीं किया, विधेयता प्रतिपादित कर दी।

स० प्र० समु० ९ में "जो सर्वव्यापक है, वह परिच्छिन्न अज्ञान और बन्ध में कभी नहीं गिरता; क्योंकि अज्ञानपरिच्छिन्नत्व, एकदेशी अल्पज्ञ अल्प जीव में होता है।" स्वामीजी ने काल से परिच्छिन्न जीवात्मा को कहीं नहीं कहा है। अतः इसका लेख-पल्लवन व्यर्थ व भ्रामक है।

जीव की परिच्छिन्नता में अथर्ववेद का प्रमाण है (१९।६८।१)। श्री सायण ने भी भाष्य में लिखा है—'अव्यसः अव्यापकस्य परिच्छिन्नस्य जीवात्मनः' अर्थात् 'अव्यापक परिच्छिन्न जीवात्मा के' इससे जीवात्मा की परिच्छिन्नता सिद्ध है तथा व्यापकता (विभुत्व) का निषेध है।

यह कहना भी अज्ञान है कि इस ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म से भिन्न सभी वस्तुओं को कार्य माना है, अतः परमाणु भी कार्य है। वे नित्य नहीं हो सकते। जीवात्मा तो कभी उत्पन्न नहीं होते, वे ब्रह्म से अभिन्न हैं; अतः वे नित्य ही पाये जाते हैं। परमेश्वर ही जीवात्मारूप में शरीर में प्रविष्ट होता है। छान्दोग्य में लिखा है कि 'मैं ही जीवात्मा के रूप में प्रविष्ट होकर नाम और रूप के भेद का विस्तार

https://t.me/DharmaSamaj

न च जीवो ब्रह्मातिरिक्तसत्तावान् सामुद्रतरङ्गवदिति वाच्यम्, ब्रह्मणोऽविकार्यपरिणामित्वाच्च, जीवानां तदुत्पत्तेरभावः। आत्मनोऽनित्यत्वापातेन तदविनश्वरसिद्धान्तहानेः परमात्मनश्चापि विकारिसम्भावनापत्तेश्च।

न वाऽपि स्वभावतो जीवो बद्धो मुक्तो वा यथा नवीना मन्यन्ते—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥
(गौडपादीयकारिका प्र० २। का० ३२)

नवीनवेदान्तिवचनस्यास्यासत्यत्वात्। जीवो ह्यल्पस्वरूपतया समुपैत्यावरणम्। देहेन सह व्यक्तिरूपं परिगृह्णाति जन्म। पापकर्मणां फलोपभोगरूपबन्धेषु सज्जते। तस्मान्मोक्षोपायाननुतिष्ठति, दुःखान्मुमुक्षते।

करता हूं' इत्यादि कथन अज्ञानपल्लवित है; क्योंकि जीव की ब्रह्म से भिन्नता का ही शास्त्रों ने समर्थन किया है। इसमें गीताकार का कथन देखिये—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥२।१२॥

अर्थात् यह नहीं कि मैं और तू तथा ये राजा लोग नहीं थे, और न ये बाद में रहेंगे। वस्तुतः ये पहले भी थे और बाद को भी उत्पन्न होंगे तथा जीव अनेक जन्मों में संसिद्धि को प्राप्त कर परम गति को प्राप्त करता है। जीव स्वभावतः बद्ध या मुक्त होते तो मोक्षसाधनों की उपदेश विधि निरर्थक हो जायेगी।

यह भी नहीं कह सकते कि जीव समुद्र की तरङ्गों की भांति ब्रह्म से भिन्न नहीं है; क्योंकि ब्रह्म अविकारी और अपरिणामी है, अतः जल के विकार तरङ्ग के समान जीवात्मा ईश्वर का विकार भी नहीं माना जा सकता। जीवों की उत्पत्ति भी नहीं हुई है। उत्पत्ति मानने पर आत्मा की नित्यता, अविकारिता नष्ट हो जायेगी।

शङ्का—जीव की स्वभावतः मुक्तता या बद्धता नहीं है। नवीन वेदान्ती गौडपादीयकारिका का प्रमाण देकर जीव के निरोध, उत्पत्ति, बन्ध, साधकता, मुमुक्षुत्व तथा मुक्तता का अभाव मानते हैं।

समा०—उक्त वचन असत्य है; क्योंकि जीव का स्वरूप अल्प होने से आवरण में आता, शरीर के साथ प्रकट होने रूप जन्म लेता, पापरूप कर्मों के फल भोगरूप बन्धन में फंसता, उसके छुड़ाने का साधन करता है। दुःखों से छूटने की इच्छा करता और दुःखों से छूटकर परमानन्द परमेश्वर को प्राप्त होकर मुक्ति को भी भोगता है।

स्थूलधियः खलु मन्वते श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि मोक्षगतस्योत्पद्यन्ते, परं नैतत् तात्पर्यम्। सर्वेन्द्रियज्ञानाधिष्ठानमेव जीवात्मा। न च श्रोत्रेण शृणोति न वा चक्षुषा पश्यति आत्मैव सर्वबोद्धा इत्येव।

जीवात्माऽणुर्विभुर्वेति विचारः

वेदार्थपारिजातकर्ता शाङ्करभक्तो जीवात्मनो विभुत्वं मनुते। तन्मतं न प्रशस्तम्, सर्वशास्त्रेषु तदणुत्वप्रतिपादनात्। तथा हि—'तमणुमात्रमात्मानं विद्यास्मीत्येवं तावत् सम्प्रजानीते;' (यो० व्यासभाष्ये १।३६)। अत्र जीवात्माणुपरिमाणः सूक्ष्मतरश्च प्रतिपादितः। न्यायेऽपि एकदेशित्वमस्य स्वीकृतम्, परिच्छिन्नत्वे एवात्मनो ज्ञानप्रक्रियासङ्गतेर्घटितत्वात्। समस्तशरीरे आत्मनो व्यापकत्वमभविष्यच्चेत् क्रमिकज्ञानप्रक्रियायाः समाप्तेर्ज्ञानसमुच्चयस्य युगपद्ग्रहणसम्भवोऽप्यापतिष्यत्।

पुरुषस्य विज्ञैः परिणामत्रयं कल्प्यते। मध्यमं विभु अणु चेति। मध्यमं हि शरीरपरिमाणं तच्च बौद्धा मन्यन्ते। एतत्खण्डयन्नाह शङ्कराचार्यः— 'एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम्' (२।२।३४) इति ब्रह्मसूत्रभाष्ये 'शरीराणां चानवस्थितपरिमाणत्वान्

स्थूलबुद्धि मानते हैं कि मोक्ष में जाकर भी श्रोत्रादि इन्द्रियां उत्पन्न हो जाती हैं; परन्तु (शृण्वन् श्रोत्रं) श० प० १४ का उक्त तात्पर्य नहीं है। बल्कि जब सुनना, स्पर्श करना, देखना आदि चाहता है, तो संकल्पमात्र शरीर में इन्द्रियां भी संकल्पमय होती हैं। आत्मा ही तब सब कुछ जाननेवाला होता है।

जीवात्मा का अणुत्व अथवा विभुत्व विचार

पारिजातकर्ता शांकर सिद्धान्त का भक्त है, अतः जीवात्मा की विभुता मानता है। लेकिन उनका मत उत्तम नहीं है क्योंकि सभी शास्त्रों में जीवात्मा का अणुत्व प्रतिपादन किया गया है। यथा 'तमणुमात्रम्' इस योगसूत्र के भाष्य में जीवात्मा का अणुत्व और सूक्ष्मतरता प्रमाणित की है। न्यायदर्शन में जीव को एकदेशिता स्वीकार की है, परिच्छिन्न होने पर ही ज्ञानप्रक्रिया की सङ्गति घटित होती है अन्यथा नहीं। समस्त शरीर में यदि जीवात्मा व्यापक माना जायेगा, तो क्रमिक ज्ञान की प्रतिभा की समाप्ति होने से ज्ञान के समुच्चय की एक साथ (युगपद्) सम्भावना उपस्थित हो जायेगी।

पुरुष के तीन परिमाणों की विचारक लोग परिकल्पना करते हैं— मध्यम, विभु और अणु। जीव का परिमाण शरीर-परिमाण के अनुसार व्यापता है, इसलिये इसे मध्यम परिमाणवाला बौद्ध लोग भी मानते हैं। परन्तु श्री शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र २।२।३४ के भाष्य में इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि

https://t.me/Dharmasastra

मनुष्यजीवो मनुष्यशरीरपरिणामो भूत्वा पुनः केनचित् कर्मविपाकेन हस्तिजन्म-प्राप्नुवन्न कृत्स्नं हस्तिशरीरं व्याप्नुयात्, पुत्तिकाजन्म च प्राप्नुवन्न कृत्स्नः पुत्तिका-शरीरे सम्मीयेत । समान एव एकस्मिन्नपि जन्मनि कौमारयौवनस्थविरेषु दोषः ।

विभुपरिमाणोऽपि न जीवः सम्भवति । ब्रह्मसूत्र २।३।१९ भाष्ये 'उत्क्रान्ति-गत्या गतिश्रवणानि तु जीवस्य परिच्छेदं प्रापयन्ति । तस्मात् परिच्छिन्नोऽणुपरि-माणो जीव' इत्याहाचार्यः ।

एवमणुत्वं जीवात्मनः सम्भवति । एष हि बालस्य दशसहस्रतमांशः सूक्ष्मः । तथा चाह—"सति च परिच्छेदे शरीरपरिमाणत्वस्यार्हतपरीक्षायां निरस्तत्वाद-णुरात्मेति गम्यते" । यद्यप्ययं शङ्करमते पूर्वपक्षस्तत्समाधानं किञ्चिदिहोच्यते ।

न च प्रत्येकशरीरे एक एवात्मा, यथा च वैशेषिके पूर्वपक्षे 'सुखदुःखज्ञान-निष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यम्' (३।२।१९) । उत्तरपक्षेण समाधत्ते 'व्यवस्थातो नाना' (वैशे० ३।२।२०) अर्थात् प्रत्येकात्मनि सुखदुःखादीनां भिन्नभिन्नोपलब्धिरेव व्यवस्था भवति । उक्तव्यवस्थायां च सत्यां जीवात्मनामनेकत्वं सिध्यति । यद्येक

पुरुष मनुष्य जन्म से हाथी के जन्म में चला जाये तो वह उसके सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त नहीं कर सकेगा और यदि हाथी जन्म से चींटी के जन्म में चला जाये तो आत्मा का समावेश चींटी के शरीर में नहीं समायेगा ।

दूसरे विभु परिमाण भी नहीं हो सकता; क्योंकि शरीर से उत्क्रमण, गति और आगमन व्यापक होने पर समान नहीं हो सकता । पर पूर्व-देह-परित्याग, अपर-देह-गमन तथा परलोकगमन आदि कार्य होते हैं ।

अब अणु परिमाण ही सम्भव है, इस प्रकार बाल के दशसहस्रवां भाग की सूक्ष्मता ही जीव की है । जैसा कि शांकरभाष्य में कहा है कि उत्क्रान्ति, गति और आगति विषयक श्रुतियों से जीव परिच्छिन्न है, ऐसा प्राप्त होता है, क्योंकि विभु की गति नहीं हो सकती । परिच्छिन्नत्व प्राप्त होने पर शरीर-परिमाण का अर्हत मत की परीक्षा में निराकरण होने से आत्मा अणु है, ऐसा ज्ञात होता है । यद्यपि यह कथन शंकर-मत में पूर्वपक्षगत है, उसका समाधान यहां संक्षेप में ही कहा जा रहा है ।

यह कथन भी तर्कसङ्गत न होगा कि (वै० ३।२।१९) सब शरीरों में सुख-दुःखादि की समान प्रतीति होती है, विषम नहीं । अर्थात् जैसे चैत्र को सुखाद्य-नुभूति होती है उसी प्रकार मैत्र को भी । अतः सब शरीरों में एक ही आत्मा है; क्योंकि (वैशे० ३।२।२०) प्रत्येक आत्मा में सुखदुःखादि की भिन्न-भिन्न उपलब्धि का नाम ही व्यवस्था है । उक्त व्यवस्था से जीवात्माओं की अनेकता सिद्ध होती

एवाभविष्यन्न तदा कश्चिद् दुःखी अपरः सुखी अन्यो रङ्क इतरश्च भूपो-ऽभविष्यत् ।

ननु शिरसि मे वेदना पादे मे सुखमिति दुःखसुखभिन्नप्रतीतिरेकात्मन्यपि चैत्रमैत्रादिशरीरभेदेन सुखदुःखादिव्यवस्थायां न काऽपि बाधा भविष्यतीति वाच्यम् इति चेन्न, यद्यप्युक्तरीत्या एकात्मपक्षे सुखदुःखव्यवस्था भवितुं शक्नोति, तथापि यथा एकशरीरे एकात्मा सुखदुःखेऽनुसन्धत्ते तथा योऽहं चैत्रः सुखी सोऽहं मैत्रो दुःखी । एवं चैत्रमैत्रवृत्तिसुखदुःखाद्यनुसन्धानं भवेत्, परं न भवति । एतेन सुस्पष्टं यत् शरीरभेदपूर्वकं चैत्रमैत्रादौ जायमानसुखदुःखादीनां विचित्रतया सर्व-शरीरेषु नैकात्मा किन्तु अनेक आत्मानः सन्ति ।

आत्मैकत्वेन सर्वशरीरेषु बाल्यावस्थागतसुखदुःखादीनाम् अन्यदेहेऽपि अनु-भवानुसन्धानापत्तिः स्यात् । अत एव सांख्येऽपि 'पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः' (६।४५) इत्यनेन सुखदुःखादिव्यवस्थाकारणाद् जीवात्मानोऽनेके । "एको देवः सर्वभूतेषु

है, एकता नहीं । यदि एक ही आत्मा होता तो राजा-रंक, बद्ध-मुक्त आदि भेद नहीं होते ।

एकात्मवादियों का यह कथन कि 'शिरसि मे वेदना, पादे मे सुखम्' अर्थात् मेरे सिर में पीड़ा और पैर में सुख है, इस प्रकार सुख-दुःख की भिन्न प्रतीति शरीरविशिष्ट एक आत्मा में अवयवभेद से पाई जाती है, वैसे ही सब शरीरों में एक आत्मा होने पर भी चैत्र-मैत्रादि के शरीर भेद से सुखदुःखादि-व्यवस्था में कोई बाधा नहीं होती ।

इसका उत्तर यह है कि यद्यपि उक्त रीति से एकात्मपक्ष में सुखदुःखादि की व्यवस्था हो सकती है, तथापि जैसे एक शरीर में एक आत्मा को सुखदुःखादि का अनुसन्धान होता है, वैसे ही 'योऽहं चैत्रः सुखी सोऽहं मैत्रो दुःखी' अर्थात् जो चैत्र नामक मैं सुखी हूं, वही मैत्र नामक मैं दुःखी हूं, इस प्रकार चैत्र मैत्र वृत्ति सुखदुःखादि का अनुसन्ध न होना चाहिये, परन्तु नहीं होता । इससे स्पष्ट है कि शरीरभेदपूर्वक चैत्र मैत्रादि में होनेवाले सुख-दुःखादि की विचित्रता से सबके शरीरों मे आत्मा एक नहीं, किन्तु अनेक हैं ।

यदि सब शरीरों में आत्मा एक होता, तो बाल्यावस्थागत सुख-दुःखादि का वृद्धावस्था में स्मरण के समान एक शरीर में अनुभूत सुखादि का अन्य देह में भी अनुभव-अनुसन्धान होता । इसीलिये सांख्य में 'पुरुष-बहुत्व व्यवस्थातः' (६।४५) इस सूत्र में सुख-दुःखादि की व्यवस्था के कारण से जीवात्मा अनेक हैं । "एको देवः

https://t.me/DharmaSamrat

गूढः" इत्यत्र तु परमात्मन एवैकत्वं प्रतिपादितम्, न तु जीवात्मनाम्, जीवात्मनामणुत्वात् सर्वव्याप्तेरसम्भवात्।

'शास्त्रसामर्थ्याच्च' (सां० ३।२।२१) इत्यनेनाऽपि जीवानां नानात्वं साधितम्। 'हितशासनात् शास्त्रं वेदः' तत्प्रामाण्यमेव शास्त्रसामर्थ्यं कथ्यते। यथा हि 'ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः।' (यजु० १९।४६) इत्यत्र निरूपितं यन्मम दृष्टौ ये समानभावा जीवा विद्यन्ते त एव धनसमृद्धाः पूर्णायुषश्च भवन्ति, तथा 'चेतनश्चेतनानाम्।' (कठ० ५।१३) इह चेतनानां जीवात्मनां मध्ये परमात्मा सर्वज्ञत्वात् मुख्यश्चेतनोऽस्ति, एवं बहुवचनान्तपदप्रयोगैरपि अनेकत्वमेव जीवानाम्।

जीवात्मन एकत्वे विभुत्वे च कर्तृत्वभोक्तृत्वादिव्यवस्था बन्धमुक्तिव्यवस्था चाऽपि नोपपद्येत। इच्छारागौ च अपूर्णस्य भवतः। यन्नाम ब्रह्म विभु, न तत्कृते सुखदुःखहेतू इच्छारागौ जायेते।

पृ० १४०१, पं० ११—यच्च—"किञ्च चैतन्यस्य गुणत्वे गुणिनामात्मनां स्वरूपेणाचेतनत्वाऽपत्तिः स्यात्, अत एव ज्ञानादिगुणक आत्मा इत्यपास्तं वेदि-

---

सर्वभूतेषु गूढः" यहां पर तो परमात्मा का ही एकत्व प्रतिपादित किया है न कि जीवात्मा का। जीवात्मा का अणुत्व होने से सर्वव्यापकता भी नहीं।

आगे भी 'शास्त्रसामर्थ्याच्च' इस सांख्यसूत्र में जीवों का नानात्व सिद्ध किया गया है। इस जन्म तथा परजन्म में सुख का शासक होने से वेद का नाम 'शास्त्र' है और उसके प्रामाण्य को 'शास्त्रसामर्थ्य' कहते हैं। शास्त्र-सामर्थ्य से भी जीव का नानात्व सिद्ध है। जैसे कि यजु० (१९।४६) में बताया है कि जो मेरी दृष्टि में समानभाववाले जीव हैं, उनको धन-समृद्धि और पूर्णायु प्राप्त होती है। तथा 'चेतनश्चेतनानाम्' (कठ० ५।१३) में कथन किया गया है कि जीवात्माओं के मध्य परमात्मा सर्वज्ञ होने से मुख्य चेतन है। यदि शास्त्र का जीव के एक होने में तात्पर्य होता तो उक्त वेदमन्त्र में 'जीवाः' और उपनिषद् में 'चेतनानाम्' ये बहुवचन प्रयुक्त न किये जाते; अत एव भी जीवात्मा की अनेकता प्रमाणित है।

जीवात्मा के एक होने व विभु होने पर कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि व्यवस्था भी उपपन्न नहीं होंगी। इच्छा और राग अपूर्ण के होते हैं। जो विभु है उसके सुख-दुःख के हेतु इच्छा और राग नहीं हो सकेंगे।

पृ० १४०१, पं० ११—पूर्वपक्ष—"और चैतन्य को गुण मानने पर गुणी आत्मा में स्वरूपतः चैतन्य का अभाव मानना पड़ेगा। इसीलिये ज्ञान आदि को

तव्यम्। तस्मादात्मा विभुरेव। अणुत्वव्यपदेशस्तु दुर्ज्ञानत्वाभिप्रायेण बुद्ध्याद्युपाध्यभिप्रायेण वा। 'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः' (ब्रह्मसू० २।३।२९) इति न्यायात्।" इत्युक्तम्, तदपि नवीनवेदान्तपूर्वाग्रहग्रस्तत्वादेव, नैयायिकसिद्धान्ताविकलबोधाभावाच्च।

नहि चैतन्यस्य गुणत्वे गुणिनामात्मनां स्वरूपेण अचेतनत्वापत्तिर्भवति। आत्मनश्चितः स्वाभाविकत्वात् स्वभावस्य चानपायित्वात्।

ननु आत्मनो मुक्तस्याऽपि पाषाणादविशेष एव, सोऽपि हि न सुखायते न दुःखायते, मुक्तोऽपि यदि तथैव, कोऽनयोर्विशेषः? तस्मादस्त्यात्मनः स्वाभाविकी चितिः, सा यदेन्द्रियैर्बहिराकृष्यते तदा बहिर्मुखी जायते। यदा त्विन्द्रियाणि उपरतानि भवन्ति, तदास्यात्मन्येव निमज्जति।

ननु अयं हि चितेरात्मा यदयं कञ्चिदवभासयति, यदि पुनरयं मुक्तावस्थायामुदास्ते, तर्हि स्थितोऽव्यवस्थित एव। तदात्मनो जडत्वकल्पनैव श्रेयस्करी इति चेद् उच्यते—किं चितिरानन्दात्मा स्वाभाविकी? उताहो कारणान्तरजन्या?

आत्मा का गुण माननेवाले नैयायिक सिद्धान्त का वेदान्ती खण्डन इसी तर्कपद्धति से करते हैं। इस तरह से आत्मा को विभु ही मानना पड़ेगा। कहीं-कहीं उसको अणु कहा गया है, उसका तात्पर्य यही है कि वह दुर्ज्ञेय है। अथवा मन, बुद्धि आदि की उपाधि की सूक्ष्मता के आधार पर भी आत्मा को अणु कह दिया जाता है। 'तद्गुण' इत्यादि वेदान्तसूत्र में भी यही बात कही गई है।"

उत्तरपक्ष—यह सारा कथन नवीन वेदान्त के पूर्वाग्रहग्रस्तता को सूचित करता है, तथा नैयायिक सिद्धान्त का इन्हें अविकल बोध नहीं है। चैतन्य के गुण होने पर भी गुणी आत्मा की स्वरूप से अचेतनत्वापत्ति कथमपि नहीं हो सकती कि चिति तो उसका स्वाभाविक गुण है, जो कदापि पृथक् न हुआ, न है, न होगा। स्वभाव तो अविनाशी होता है।

शङ्का—मुक्त आत्मा पाषाण से अविशिष्ट होता है। वह भी न सुखी होता है, न दुःखी होता है। यदि मुक्त भी वैसा ही है, तो दोनों (बद्ध और मुक्त) में क्या विशेषता होगी।

समाधान—अतः आत्मा की चिति स्वाभाविक है। जब इन्द्रियों द्वारा वह चिति बाहर विषयों की ओर होती है, तब बहिर्मुखी होती है और जब इन्द्रियां व्यापारनिवृत्त उपरत होती हैं तब वह चिति स्वात्मा में निमग्न हो जाती है।

पूर्वपक्ष—चित्स्वरूप आत्मा का यह स्वभाव है कि किसी को भासित करे। अगर मुक्तावस्था में वह इस काम से उदासीन हो जाता है तो फिर उस चैतन्य

https://t.me/DharmaSamrat

न तावदवभासकारणं मुक्तावस्ति। कायकरणादीनां तत्कारणानां विलयादित्युक्तम्। स्वाभाविको चेत् संसारावस्थायामप्यानन्दोऽनुभूयेत, अवभास्यावभासकयोरुभयोरपि विद्यमानत्वात्।

शङ्कासमाधानम्—न च संसारावस्थाया अविद्यारूपप्रतिबन्धककारणाद् भानं न भवतीति वाच्यम्, नित्यायाश्चितेरानन्दानुभवस्वभावायाः स्वरूपस्याप्रच्युतेः प्रतिबन्धाय तदवसराभावात्। संसारावस्थायां चितेः प्रच्युतौ सत्यां तस्या नित्यताया अभाव आपद्येत। तस्मान् नित्य-चि.या नित्यानन्दस्यानुभवो जायत एव।

नन्वेवं यदि तदा संसारापवर्गावस्थयोः समानरूपतया नित्यानन्दानुभवोऽपि स्यादिति चेन्न, नित्यानन्दस्य परमात्मगुणत्वाद् जीवात्मनश्च तद्गुणाभावात्।

का उसमें रहना और न रहना बराबर है। इससे अच्छा है कि आत्मा को जड़ मान लिया जाये।

उत्तपक्ष—आत्मा में जो आनन्द की अधिकता है वह स्वाभाविकतया है, या किसी दूसरे कारण से उत्पन्न होती है? अगर कारणान्तर-जन्य मानें तो मुक्तावस्था में वे कारण नहीं है; क्योंकि हम बता चुके हैं, कि अवभास के कारण इन्द्रियों का विलय हो जाता है। अगर उसको स्वाभाविक मानें तो संसारावस्था में भी उसका अवभास होना चाहिये; क्योंकि उस समय में भी अवभास्य और अवभासक दोनों विद्यमान हैं।

शङ्का—संसारावस्था में अविद्यारूप प्रतिबन्धक के कारण उस आनन्द का भान नहीं हो सकता।

समा०—यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि चिति नित्य है, एवम् आनन्द उसका स्वरूप है, अतः चिति अपने उस आनन्दस्वरूप से विच्युत हो ही नहीं सकती। फिर उक्त प्रतिबन्ध के लिये कोई अवसर ही नहीं रह जाता। अगर चिति संसारावस्था में अपनी आनन्दस्वरूपता से प्रच्युत हो सकती है, तो फिर वह नित्य ही नहीं रह जाती। इस लिये यही कहना पड़ेगा कि आनन्द भी नित्य है, एवं नित्य चिति के द्वारा ही उसका अनुभव होता है।

यदि ऐसी बात है, तो फिर संसार, अपवर्ग दोनों ही अवस्थाओं में समानरूप से नित्य आनन्द का अनुभव होना चाहिये; किन्तु होता नहीं; क्योंकि संसारावस्था में जब तक अपवर्ग की प्राप्ति नहीं होती तब तक विषय एवं इन्द्रिय से उत्पन्न सुख का ही अनुभव होता है। इसलिये आत्मा को नित्य सुख नाम का

अतस्तदानन्दानुभवो मोक्षावस्थायामेव, मोक्षावस्था तु समस्तात्मविशेषगुणोच्छेदोपलक्षिता स्वरूपस्थितिरेव।

तथा च वेदान्तेऽपि 'स्वात्मना चोत्तरयोः' (२।३।२०) इति स्वरूपेणैव गत्यागतिभ्यां जीवस्य नित्यत्वम् अणुत्वं वा सिद्धम्।

ननु 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः', 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्यादिप्रमाणैरात्मनो विभुत्वमेव सिध्यतीति चेन्न, एवं विधोपतीनां ब्रह्मपरकत्वात्। अथ च स्वशब्दोन्मानाभ्यां च' (२।३।२२) इति 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश' (मु० ३।१।९) इति प्रमाणेन अल्पज्ञत्वादनुमानेनाऽपि जीवात्मनोऽणुत्वम्, विभुत्वेऽल्पज्ञताऽभावात्।

नन्वयमात्माऽणुस्तदेकदेशित्वे कथं सम्पूर्णशरीरं चैतन्यम्? इत्युत्तरति—सकलदेहगतोपलब्धिर्विरुध्यते दृश्यते च जाह्नवीह्रदनिमग्नानां सर्वाङ्गशैत्योप-

---

कोई गुण ही अनुभव नहीं होता। उस आनन्द का अनुभव मोक्षावस्था में ही होता है और मोक्षावस्था सभी विशेष गुणों के आत्यन्तिक विनाश से मुक्त आत्मा की स्वरूपस्थिति ही है।

वेदान्त में भी २।३।२० सूत्र से स्वरूप से जीव के गमनागमन से नित्यत्व और अणुत्व सिद्ध है।

शङ्का—'यह आकाश के समान सर्वगतनित्य है,' सत्य ज्ञानस्वरूप व अनन्त है' इत्यादि प्रमाणों से आत्मा का विभुत्व ही सिद्ध होता है।

समा०—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त श्रुतियों का तात्पर्य ब्रह्मपरक है। तथा (वे० २।३।२२) इससे भी जीवात्मा अणु है; क्योंकि 'एषोऽणुरात्मा०' यह अणु सूक्ष्म आत्मा विशुद्ध विज्ञान से जानने योग्य है।

जिस शरीर में प्राण ५ प्रकार से प्रविष्ट है। इस प्रकार साक्षात् इसका अणुत्ववाचक शब्द (श्रुति) सुना जाता है और ऐसा ज्ञान होता है कि प्राण के सम्बन्ध से ही जीव अणु कहा गया है। उसी प्रकार 'बालोऽग्रशतभागस्य' सौ भागों में विभक्त केश के अग्रभाग के सौवें भाग के समान जीव को जानना चाहिये। यह उन्मान (अत्यन्त सूक्ष्मपरिमाण) भी जीव को अणु बताता है। इससे भी जीवात्मा का अणुत्व ही सिद्ध है। विभु होने पर उसकी अल्पज्ञता भी नहीं रहेगी।

शङ्का—जब यह आत्मा अणु है, तो शरीर के एक देश में रहेगा। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण शरीर में चैतन्य तथा गङ्गा अथवा तालाब में निमग्नों के सब

https://t.me/Dharmadanam

लब्धिर्निदाघसमये च सकलशरीरपरितापोपलब्धिः। 'अविरोधश्चन्दनवत्' (वे० २।३।२३) यथास्थाने चन्दनलेपः, परं तत् सुगन्धशीतलते प्रसरतः सर्वशरीरे, परं न तथा जीवात्मा प्रसरति। यथा हि प्रदीपप्रकाशोऽभितस्तथा आत्मनश्चेतनत्व-प्रसारः स्पर्शेन्द्रियेण सर्वत्र।

श्रीशङ्कराचार्यो हि जीवस्य ब्रह्मत्वं प्रतिपाद्य बुद्ध्युपाधिद्वारा जीवस्याणुत्वं मनुते; परं प्रश्नोऽयं विभुः सर्वज्ञ उपाधिना कथं ग्रस्तोऽभूत्? जीवात्मनो विभुत्वे सर्वगतत्वाद् अनवरतं सर्वविषयप्राप्तिरधिगता स्यात्।

पृ० १४०२, पं० ५ यदुक्तम्—"यदपि जीवात्मनां कर्मसु स्वातन्त्र्यमुक्तं तदपि न युक्तम्, 'एष उ ह्येवैनं साधु कर्म कारयति' इति श्रुतिविरोधात्" इति, तदपि न सम्यक्, शास्त्ररहस्यानभिज्ञानात्, अतर्कानुमतत्वाच्च। 'एष उ०' इत्यस्मिन्नपि पूर्वम् एष कर्म करोति कर्म कुर्वन्तमेतम् ईश्वरः प्रेरयति इति, एष

शरीर में शीतलता एवं निदाघ (ग्रीष्म) समय में परिताप की उपलब्धि होने से जीवात्मा का विभुत्व सिद्ध होता है।

समा०—जैसे शरीर के एकदेश में सम्बद्ध होता हुआ भी चन्दनबिन्दु सकल देहव्यापी आह्लाद उत्पन्न करता है, वैसे आत्मा भी देह के एकदेशस्थ होता हुआ सकल देहव्यापी उपलब्धि करेगा। इसकी त्वचा के सम्बन्ध से सम्पूर्ण शरीरगत वेदना विरुद्ध नहीं है; क्योंकि त्वक् और आत्मा का सम्बन्ध सम्पूर्ण में है और त्वक् समस्तशरीरव्यापी है। इसलिये व्यभिचारी हेतु पक्ष में साध्य सिद्धि नहीं कर सकता। इस प्रकार त्वचा के दृष्टान्त से संशय की निवृत्ति नहीं हो सकती।

परन्तु यह दोष नहीं है क्योंकि आत्मा के अणुत्व में केवल अनुमान प्रमाण नहीं है, किन्तु 'स वा एष आत्मा हृदि' इत्यादि श्रुति भी प्रमाण है। इसलिये चन्दन के दृष्टान्त के साथ कोई विरोध नहीं।

शङ्कराचार्य ने जीव का ब्रह्मत्व प्रतिपादन करते हुए बुद्धि आदि उपाधि द्वारा जीव का अणुत्व माना है। परन्तु प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि विभु सर्वज्ञ उपाधि के द्वारा कैसे ग्रस्त हुआ? जीवात्मा के विभुत्व होने पर सर्वगत होने से अनवरत विषय-प्राप्ति होने लगेगी।

पृ० १४०२, पं० ५—यह कथन भी शास्त्र के रहस्य के न जानने का द्योतक है; क्योंकि तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता कि "जो भी जीवात्मा के कर्मों में स्वातन्त्र्य कहा है, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि श्रुति में स्पष्ट प्रतिपादित है कि परमात्मा जिसको ऊपर उठाना चाहता है, उससे भले काम करवाता है

एनं कर्म कारयतीति णिच्यपि पूर्वं जीवात्मनः कर्मकर्तृत्वं सिध्यत्येव।

यथा हि लोके कर्म कुर्वन्तं देवदत्तं यज्ञदत्तः प्रेरयति तदाऽपि नायमभिप्रायो यद् यज्ञदत्तः कर्म करोति। यथा अयं यज्ञदत्तो निर्दिशति तथैव परमात्मनः सान्निध्येन नूतनां शक्तिं प्रेरणां वा गृहीत्वा आत्माऽपि कर्म कुरुते। तथा हि "कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्, विहारोपदेशात्, उपादानात्, व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देश-विपर्ययः" (वेदा० २।३।३३-३६) इति, "यजेत, दद्यात्, एष हि द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता, विज्ञानात्मा पुरुष इति शास्त्रसार्थकता, ईयतेऽमृतो यत्र कामम्" (बृह० ४।३।१२) इति स्वतन्त्रविहारोपदेशेन, "प्राणान् गृह्णाति, लौकिकीषु वैदिकीषु वा क्रियासु विज्ञानं यज्ञं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च" (तै० २।५।१ इति कर्तृत्वव्यपदेशेन च जीवस्य स्वतन्त्रकर्तृत्वं सिध्यति। जीवस्य न चेत् कर्तुरेवं भोगाभियोगनियमादीश्वरस्य कर्मफलभोक्तृताऽऽपद्येत।

पृ० १४०२, पं० १२—यच्चाह—"यत्तु अत्यन्तानावृत्तौ क्रमेण सर्वेषां

और जिसको नीचे गिराना चाहता है उसको बुरे कामों में लगा देता है।"

उक्त प्रमाणों में 'जीवः कर्म करोति' और कर्म करते हुए परमेश्वर प्रेरणा देता है, यह णिजन्त शब्द सिद्ध है। इससे जीवात्मा का ही कर्म करना सिद्ध है।

जैसे लोक में भी करते हुए देवदत्त को 'यह कर्म करो' ऐसी प्रेरणा यज्ञदत्त देता है। तब भी यह अभिप्राय नहीं है कि यज्ञदत्त कर्म करता है। जैसे यह यज्ञदत्त निर्देश करता है उसी प्रकार परमात्मा के सान्निध्य से नूतन शक्ति वा प्रेरणा को लेकर आत्मा भी कर्म करता है। इसीलिये वेदान्त २।३।३३-३६ सूत्रों से जीव के कर्त्ता होने पर ही विधि आदि शास्त्र सार्थक है। 'याग करे, होम करे, दान करे' आदि विधिवाक्य में तथा आत्मा द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा आदि जीवात्मा कर्ता होने पर ही हो सकता है। वह अकेला यथेच्छ विहार करता है। लौकिकी तथा वैदिकी क्रियादि करता हुआ जीव यज्ञ व कर्मों का विस्तार करता है। इत्यादि स्थलों में जीव के कर्तृत्व व्यपदेश से जीव का स्वतन्त्र कर्तृत्व सिद्ध है। जीव को स्वतन्त्र कर्ता न मानने पर तथा ईश्वर पर कर्तृत्व मानने पर कर्मफल की भोक्तृता आ पड़ेगी। जीव का परमेश्वर से सद्बुद्धि की याचना करना उसकी स्वतन्त्र कर्म करने की शक्ति में बाधक न होकर साधक ही है। वह न चाहे तो प्रार्थना न भी करे।

पृ० १४०२, पं० १२—"जीवों की मुक्ति हो जाने पर और सदा-सदा के लिये निरवधि मुक्ति यदि मानी जायेगी और जीव कभी भी लौटकर नहीं

https://t.me/DharmaSastra

मुक्तौ संसारोच्छेदप्रसङ्ग उक्तः, तदपि तुच्छम्, सर्वेषां मुक्तौ संसारोच्छेदेऽपि हान्यभावात्। सर्वस्यापि लोकस्य कल्याणभागित्वे कस्याप्युद्वेगे कारणाभावात्" इत्यादि अविचारजन्यम्, तात्पर्यामननात्, स्वे जीविते स्वबध्वा विधवात्वप्रसङ्गापत्तिवत्।

यथा कस्यचित् पत्नी स्वमातृगृहं गताऽऽसीत्। अन्यः पुरुषः तं पुरुषमेत्याकथयद् यन्मूर्ख! त्वं निश्चिन्तोऽत्र तिष्ठसि तव स्त्री तु विधवा संजाता तत्र स्वमातृगृहे! स मूर्खो विलपन् श्वसुरालयमगात्! श्वश्रूश्वसुरौ च तमुन्मनसं रुदन्तं चाद्राष्टाम्, अन्वमिनुतां च काप्यशुभा घटना कन्यायाः श्वसुरालये घटितेति तावपि सहैव रोदनं प्रारभेताम्। किंचिद् धैर्यमवलम्ब्य अपृच्छताम्—जामातः! धैर्यं धारयित्वा बोधयतु, तत्र का घटना घटिता। सः प्रत्युदतरत्—एको जनस्तु मामावेदयत् यत्ते वधूर्विधवा जाता। तदा समेऽपि विस्मयमापन्ना इव जामातरमाश्वासयन्। पुत्र! त्वयि जीवति तव वधूः कथं विधवा भवितुं शक्नोति। स च प्रत्युवाच यन्मयि जीवत्येव मम पितृष्वसा विधवा जाता, मयि

आयेगा, तो संसार के उच्छेद का प्रश्न प्राप्त होगा।"

पूर्वपक्ष—इस पर करपात्रीजी का कहना है कि सबकी मुक्ति होने पर संसार का उच्छेद हो जाये तो कोई हानि नहीं, सबका ही कल्याण हो जाने पर किसी को परेशानी का कारण होना ही नहीं चाहिये।

समा०—इस पर हमारा समाधान है कि ऋषि की बात ही आप न समझे। आपने सीधी अभिधा बुद्धि से यही समझ लिया कि संसार का उच्छेद हो जाये तो हो जाने दो। महोदय! उस कथन की व्यञ्जना पर ध्यान दिया होता। उसका तात्पर्य है कि अनादि काल से प्रतीक्षित प्रवाह से अनादि सृष्टि का आज तक उच्छेद नहीं हुआ। इसी से सिद्ध है कि अत्यन्त अनावृत्ति नहीं होती।

यहां पर एक दृष्टान्त संगत हो रहा है। किसी की स्त्री मायके गयी थी। किसी अन्य व्यक्ति ने उपहास में उस पुरुष से कह दिया कि मूर्ख! तू यहां निश्चिन्त बैठा है और अपने मायके में तेरी बहू विधवा हो गई, वह पागल रोते रोते ससुराल पहुंचा। सास और ससुर ने रोते देखा तो यह समझकर लड़की की ससुराल में कुछ अशुभ घटना हो गयी होगी, वे भी रोने लगे। कुछ देर बाद ससुर ने पूछा कि बात तो बताओ कि क्या बात हो गई। उसने कहा कि मुझे तो यहीं से एक आदमी ने खबर दी कि मेरी बहू रांड हो गयी! सब दंग रह गये। अपनी मूर्खता पर पछताते हुए भी समझाने लगे कि बेटा! कैसी बात करते हो, तू बैठा हुआ है तो वह कैसे रांड हो सकती है। उसने कहा कि मेरे बैठे-बैठे मेरी

जीवत्येव मम मातुलानी विधवा जाता, मयि जीवत्येव मम प्रतिवेशिनी विधवा जाता, तदा मयि जीवति मम पत्नी विधवा कथन्न भवितुमर्हति? सैव गतिरेतल्लेखकस्यापि वर्तते। महर्षिरिहाबोधयत्, यदि जीवानां मुक्तेरत्यन्तानावृत्तिमंस्यते तदा संसारोच्छेदप्रसङ्ग आपत्स्यते।

नाद्यावधि उच्छेदाभावेऽनावृत्तिर्न जाता, इति सिद्धान्तमनवबुध्य कथयितुं प्रावर्तिष्ट। 'यदुच्छेदनं भवेत्तदा भवेदेव। का नो हानिः?' इदं च नाज्ञासीद् यन् महाराज! यदा त्वं स्वयमेव जन्ममरणचक्रान्नोन्मुक्तः, अथवोन्मुक्तोऽपि पुनश्चक्रे प्रवर्तमानो भूय एवातिष्ठः, तदा त्वयि जीवति संसारस्यात्यन्तिकनाशः कथं मन्तुं शक्येत?

एतदग्रे यत् स्वकल्पितं निगदितं तन्न खण्डनाय साम्प्रतम्। तथाप्येतस्यानर्गलबुद्धेस्तद्भावनां निभालयन्तां विचक्षणाः, यदयमाह (पृ० १४०६, पं० ५)—"अविद्यानाशे आत्मा वा वृत्तिर्वा हेतुः? नाद्यः, शुद्धस्याहेतुत्वात्, नान्त्यः, प्रतियोगिमात्रस्य नाशकतापर्यवसानमिति तन्न, उभयथाप्यदोषात्। वृत्तिमादायैव

बुआ रांड हो गई, पड़ोसिन चाची रांड हो गई, तो मेरे बैठे-बैठे बहू रांड कैसे नहीं हो सकती। वही बात आपकी है। महर्षि ने समझाया कि यदि जीवों की मुक्ति से अत्यन्त अनावृत्ति मानोगे तो संसार के उच्छेद का प्रसङ्ग आ पड़ेगा।

आप 'अद्यावधि उच्छेद न होने से अनावृत्ति नहीं है' इस सिद्धान्त को बिना समझे ही यह बात कहने लगे। 'उच्छेद हो जाये तो हो जाये हमारी क्या हानि है?' और यह नहीं सोचा कि महाराज! जब तुम स्वयं जन्म-मरण के चक्कर से आज तक मुक्त नहीं हो सके या इस अनादि संसार-प्रवाह में हो भी गये होगे तो फिर आकर उपस्थित हो गये तो तुम्हारे जीवित बैठे संसार का अत्यन्त नाश कैसे माना जा सकता है?

इसके आगे जो कुछ इस लेखक ने लिखा, उसका खण्डन करना सम्प्रति हमारा लक्षित नहीं है, क्योंकि यह सब आपकी निज कल्पना का विस्तार है। भूमिका के किसी प्रतीककाशंका खण्डन नहीं है।

तथापि इस लेखक की अनर्गल बुद्धि की उद्भावना पर विद्वान् लोग देखें, जो कि यह (पृ० १४०६, पं० ५ पर) कहता है कि "अविद्या नाश का कारण आत्मा है कि या वृत्ति? इसमें पहला पक्ष इस लिये नहीं बनेगा कि शुद्ध आत्मा किसी का कारण नहीं होगा। दूसरा पक्ष भी इस लिये नहीं बनेगा कि इस तरह

https://t.me/Dharmasamrat

ब्रह्मण उपहितत्वेन शुद्धत्वाभावात् ।"

अत्रानेन ये विकल्पा उत्थापितास्ते स्वयमेव स्वबुद्ध्या समाहिताः । यद्यपि च समाधानं न समीचीनम् । तथापि मम दयाभावोऽस्य बुद्धावुदयते यदियं ब्रह्मणः सर्वव्यापकस्य सर्वज्ञस्य शुद्धस्वरूपत्वं चानुमोदते ।

वस्तुतस्तु न कदापि परब्रह्मणः शुद्धस्वरूपत्वमावरीतुं शक्यते । अविद्यापि न ब्रह्मणः कदापि सम्बद्धा भवति, अल्पज्ञजीवस्यैव तदयुक्तत्वात् । यथा "क्लेश-कर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" (यो० १।२४) इत्यत्र नेश्वरस्य बन्धनत्रयत्वं प्रत्यपादि । तच्च जीवस्य, तस्यैव चाविद्यानाशे कैवल्यम्, कैवल्यं चापि परार्द्धपर्यन्तावधिर्यथा "कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति न बहवः केवलिनः । ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ताः । ईश्वरस्य तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी । यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रजायते नैवमीश्वरस्य । स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः ।" इति ।

पृ० १४०८, पं० ३—यदाह—"दिव्ये वैकुण्ठादौ भगवत्सालोक्य सामीप्य-

---

से तो प्रतियोगी मात्र का नाशकता में पर्यवसान मानना पड़ेगा।" किन्तु यह शङ्का भी ठीक नहीं है; क्योंकि उक्त दोनों ही पक्षों के दिये हुए दोषों का परिहार किया जा सकता है ।

'वृत्ति को लेकर ब्रह्म उपहित होता है । अतः इस अवस्था में वह शुद्ध नहीं माना जा सकता' यहां पर पारिजातलेखक ने जो विकल्प उत्थापित किये हैं, उनका स्वयं ही इन्होंने अपनी बुद्धि से समाधान किया है । यद्यपि उनका समाधान भी ठीक नहीं है, तब भी मुझे इस बुद्धि पर तरस आ रहा है कि यह सर्वज्ञ और सर्वव्यापक ब्रह्म के शुद्धत्वाभाव का तथा वृत्ति से उपहित होने की बात कह रही है ।

वास्तव में ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप कभी उपहित हो ही नहीं सकता है । अविद्या ब्रह्म से कभी सम्बद्ध नहीं होती, प्रत्युत जीव से ही सम्बद्ध है । जैसे क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से अपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर है । इस सूत्र में ईश्वर के बन्धनत्रितय (स्थूल, सूक्ष्म, कारण, जन्म) का निषेध किया गया है । वह केवल जीव का ही होता है तथा उसी का अविद्या के नाश होने पर कैवल्य होता है । कैवल्य भी सावधिक है जैसे कि "बहुत से केवली जीव कैवल्य को प्राप्त हो गये हैं । वे तीन बन्धनों का छेदन कर मोक्ष को प्राप्त हुए हैं । ईश्वर से उन बन्धनों का सम्बन्ध न था, न होगा । जैसे मुक्त पुरुष की पूर्व बन्ध कोटि होती है, वह ईश्वर की नहीं होती, वह तो सदैव मुक्त और सदा ऐश्वर्य सम्पन्न है।"

पृ० १८०४, पं० ३ पर—"दिव्य वैकुण्ठ आदि में भगवान् के सालोक्य,

सारूप्यसायुज्यभेदेन दुःखाभावपूर्वकं नित्यनिरतिशयानन्दप्राप्तिर्मोक्ष इति वैष्णवाः शैवाश्च मन्वते, अपुनरावृत्तिस्तु सर्वसम्मता" इति सकलम् अन्यत्र समाहितम्, तत्र दृष्टव्यं जिज्ञासुभिः ।

श्लोकैः संक्षिप्यते मुक्तिविषयः

स्वभावतोऽस्याऽस्ति न मुक्तिरात्मनः, सदैव जीवस्य मुमुक्षुतेप्सिता ।
स्वभावतश्चेत् खलु बन्ध आत्मनः, न तूपदेशस्य विधिर्विधेलिमः ॥१॥

नित्यात्मनो मुक्तिगुणो भवेद् यदि, तदा कथं बन्ध उपागमोऽभवत् ।
गुण्याश्रिता वै अनपायिनो गुणाः, गुणिस्थिति यावदुपाश्रयन्ति हि ॥२॥

अनादिकालात् किल मुक्तिमिच्छति, यदर्थमेवं यतते निरन्तरम् ।
तदर्थमाप्तैरपि शास्त्रसञ्चयैः, सदोपदिष्टो विधिरस्ति मुक्तिदः ॥३॥

ततो न मुक्तो न च बद्ध एव सः, जीवो निमित्तेन हि मोक्षबन्धने ।
स्वकर्मणाऽप्नोति विभूर्मुखोऽव्ययम्, प्रवृत्त एव प्रकृतिं च बन्धनम् ॥४॥

सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य भेद से दुःखाभावपूर्वक नित्य निरतिशय आनन्द की प्राप्ति मोक्ष है, ऐसा वैष्णव और शैव मानते हैं । मुक्ति से न लौटना तो सर्व-सम्मत है ।" इसका समाधान पहले ही कर चुके हैं ।

श्लोकों द्वारा मुक्ति विषय का संक्षेप

इस आत्मा की मुक्ति स्वाभाविक नहीं है, क्योंकि जीव को सदा मुक्त हो जाने की अभिलाषा अभीप्सित होती है । यदि आत्मा का बन्धन स्वाभाविक होता तो मुक्ति का उपदेशविधान उचित नहीं होगा ॥१॥

यदि नित्य आत्मा का गुण मुक्ति माना जाये, तो फिर वह जीव बन्धन को क्योंकर प्राप्त हुआ ? द्रव्य (गुणी) के आश्रित गुण भी द्रव्य की सत्ता पर्यन्त अनश्वर होना चाहिये ॥२॥

यह जीवात्मा अनादि काल से ही मुक्ति की इच्छा करता है, जिसके लिये यह निरन्तर प्रयत्नशील है, इसीलिये शास्त्रों द्वारा आप्त पुरुषों ने भी सदा मुक्ति-दायक विधि का उपदेश दिया है ॥३॥

यह जीव स्वभाव से न तो बद्ध ही है और न मुक्त है उसके मोक्ष और बन्धन निमित्त से ही होते हैं । अपने कर्मों के द्वारा प्रभु की ओर उन्मुख होकर अन्त में अव्यय प्रभु को प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त करता है और प्रकृति के प्रति प्रवृत्त होकर बन्धन को प्राप्त होता है ॥४॥

https://t.me/Dharmagamrat

यदा मृदा लिप्तमुचेलको भवेत्, मलीमसः क्षालित एष वारिणा।
मलेन हीनो निजपूर्वरूपताम्, मुहुर्निधत्ते खलु दृश्यते समैः ॥५॥

तथैव रागद्विषदादिहेतुभिः, समन्वितो जीव इहानुबन्धनम्।
उपैति शास्त्रज्ञबुधैर्विधीयते, विवेकशुद्धाचरणैः प्रमोक्षणम् ॥६॥

अविद्यया पुष्टिगताऽस्मितादयः, क्लेशास्तु तत्त्वज्ञतया विनाशिताः।
रोहन्ति दग्धानि पुनर्न चैव ते, बीजानि दग्धानि यथाऽनलेन वै ॥७॥

क्लेशा भवन्तीह विदग्धबीजाः, यदा तदा जीवनमुक्तिरेषा।
समूलमुच्छिन्नतया तु तेषाम्, देहोऽन्तिमोऽयन्तु पुनर्भवस्य ॥८॥

प्रारब्धकर्मप्रतिमुक्तिहेतोरवार्यतायाम् इदमन्तिमं वै।
चलत्यहो जीवनमेतदीयाः क्रियाकलापा न फलोन्मुखाः स्युः ॥९॥

सांख्ये न्यायेऽतिशय इति वाऽत्यन्तशब्दः प्रयुक्तः,
नैरन्तर्ये भवति सुतरां मुक्तिकालावधिर्वै।
सम्पुष्णीते प्रतिपदमिदं कालिदासस्य सूक्तिः,
'कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा' ॥१०॥

जब मिट्टी से लिप्त स्वच्छ वस्त्र मैला हुआ जल से धो लिया जाता है तब मल से रहित होकर अपनी पूर्व स्थिति अर्थात् स्वच्छता को प्राप्त कर लेता है, यहँ सब कोई देखते हैं ॥५॥

उसी प्रकार राग, द्वेष करनेवाले हेतुओं से मुक्त जीव इस संसार में बन्धन को प्राप्त करता है, और शास्त्रज्ञ विद्वानों के द्वारा लोग विवेक और शुद्ध आचरणों से उस बन्धन से मुक्त हो जाते है ॥६॥

अविद्या से परिपुष्ट अस्मिता आदि क्लेश तत्त्वज्ञता से विनष्ट हो जाते हैं, फिर वे आग से जले हुए बीजों के समान पुन. अंकुरित नहीं होते ॥७॥

जब क्लेश विदग्धबीज हो जाते हैं तब वह जीवन्मुक्ति होती है, उन बीज कर्मों के समूल उच्छिन्न होने से पुनर्जन्म के तारतम्य का यह अन्तिम देह होता है ॥८॥

प्रारब्ध कर्मों की प्रतिमुक्ति के हेतु की अनिवार्यता होने से यह अन्तिम जीवन चलता है, फिर निष्काम होने से इस जीवन के क्रिया-कलाप बन्धन के हेतु नहीं बनते ॥९॥

सांख्य और न्याय में अत्यन्त या अतिशय शब्द का प्रयोग मुक्तिकालावधि का सूचक है, यथा कालिदास ने भी सावधि अर्थ में ही इसका प्रयोग किया है ॥१०॥

यस्यादिर्वै भवति सुतरां तस्य चान्तोऽप्यवश्यम्,
वेदप्रज्ञैर्जगति नियमः शाश्वतोऽयं प्रदिष्टः।
मुक्तेरादिर्भवति च तदाऽप्यन्त एवास्तु नूनम्,
आयाल्लोके नयनसरणि चापगा नैकतीरा ॥११॥

सीमाबद्धे सरति समये सीमिते वा शरीरे,
सामर्थ्यं वै धरति नितरां सीमितं जीव एषः।
तस्मादल्पप्रभवसुधिया कर्मणां सीमितानाम्,
निःसीमं तत्फलमपि कुतो जायतां मुक्तिरूपम् ॥१२॥

अन्याय्यं तद्भवति नितरां न्यायकर्तुः प्रबन्धे,
निःसीमं चेत् फलमपि तदा कर्मणां सीमितानाम्।
नित्यं नो स्यात् फलमिह तदा साधनैर्वाऽप्यनित्यैः,
राद्धान्तोऽयं निगमगदितो वै स्वभावोऽनपायी ॥१३॥

उष्णं नूनं भवति सलिलं वह्निसान्निध्यमाप्य,
तस्याऽपाये व्रजति नितरां शीतलत्वं तदेव।
जीवोऽल्पज्ञः सुखमनुभवत्येव मुक्तौ प्रभुस्थः,
सर्वज्ञो वै भवति न परं तत्त्वबोधप्रसादः ॥१४॥

वेदविज्ञों ने संसार में यह नियम बताया है कि जिसका आदि होता है, उसका अन्त भी अवश्य होता है, तो जब मुक्ति का आरम्भ होता है, तो उसका अन्त भी होता है। संसार में एक किनारे की नदी किसी को दृष्टिगोचर नहीं हुई ॥११॥

सीमाबद्ध समय और सीमित शरीर में सीमित सामर्थ्य रहता है, इसलिये अल्प जन्म हेतुवाली बुद्धि से सीमित कर्मों का निःसीम मुक्तिरूप फल भी कैसे आंका जा सकता है ॥१२॥

न्यायकर्ता के प्रबन्ध में तो यह अन्याय होगा, जब वह सीमित कर्मों का फल असीम देने लगे। तथा अनित्य साधनों (अर्थात् इस शरीर या अल्पज्ञान से जब तक सर्वज्ञ सर्वदानन्द का चिन्तन, ध्यान व ज्ञान न करे) से नित्य फल नहीं हो सकता। यह वैदिक सिद्धान्त है कि स्वभाव अविनाशी होता है ॥१३॥

अग्नि का सान्निध्य पाकर जल निश्चय ही उष्ण हो जाता है, सान्निध्य के नष्ट होने पर वही जल शीतल हो जाता है, इसी प्रकार अल्पज्ञ जीव मुक्ति प्राप्त कर प्रभु में स्थित हो सुख का ही अनुभव करता है, परन्तु वह जीव फिर भी सर्वज्ञ नहीं होता प्रत्युत तत्त्वज्ञ हो जाता है ॥१४॥

https://t.me/DharmaSamaj

कार्यासक्तः श्रमपरिवृढो गाढनिद्रामुपैति,
बाह्यार्थेर्नो नियतसमयं नैव सम्पृक्तिमेति ।
जीवस्यैवं सपदि च तिरो जायते दुःखभावः,
प्रातर्जाग्रन्मुहुरवसरे बन्धने सज्जतेऽसौ ॥१५॥

संसारोऽयं प्रवहति न वै शाश्वतोऽयं सदैव,
सिद्धान्तोऽयं निगमविदितः किन्त्वनादिप्रवाहः ।
नूनं बन्धं धरति नियमे पूर्वकर्मानुबन्धैः,
ज्ञानेनात्मा व्रजति परमानन्दधामाभिनन्द्यम् ॥१६॥

मुक्तात्माऽऽसीत्तदनुपतितो बन्धने क्षीणपुण्यः,
ज्ञाताऽऽस्वादश्चरति हि पुनर्मुक्तये सत्प्रयत्नम् ।
विद्धो बन्धे भवति सुतरां भुक्तिमुक्त्यन्तराले,
मुक्तिः सिद्धा भवति हि तथा बन्धबन्धान्तराले ॥१७॥

न्यायशास्त्रेण जीवस्य मुक्तेर्वै बन्धनाऽऽगतिः ।
प्रागभावो यतो मुक्तेर्ध्वंसाभावः कथं न वै ? ॥१८॥

जैसे कार्य में लगा हुआ श्रम से थका हुआ व्यक्ति गाढ़ निद्रा को प्राप्त करता है और नियत समयावधि के लिये वह बाह्य पदार्थों से सम्पर्क नहीं रखता, इसी प्रकार मोक्षावधि के लिये उसका दुःखभाव नष्ट हो जाता है, मानो जैसे सबेरा होने पर जागते हुए के समान पुनः बन्धन में आ जाता है ॥१५॥

यह प्रवहनशील संसार भी सदा शाश्वत (एकरस) नहीं रहता, किन्तु यह प्रवाह से अनादि है, ऐसा वेदप्रसिद्ध सिद्धान्त है। पूर्वकर्मों के अनुबन्धज नियम से यह जीव बन्धन को धारण करता है, सत्यज्ञानार्जन के द्वारा यह जीवात्मा अभिनन्दनीय परमानन्दमय धाम को प्राप्त कर लेता है ॥१६॥

पहले कभी यह जीव मुक्त हुआ होगा उसके बाद पुण्य कर्म-फल क्षीण होने पर यह बन्धन में आ फंसा, जब इसको मुक्ति का स्वाद याद आता है तो यह मुक्ति पाने का प्रयास पुनः करने लगता है। भोग और मोक्ष के मध्य में यह जीव बन्धन में विद्ध हो जाता है तथा दो बन्धों के बीच में कभी पुण्यवश यह मुक्ति प्राप्त कर लेता है ॥१७॥

न्यायशास्त्रीय तर्क से यह सिद्ध है कि जीव मुक्ति से बन्धन में आया करता है, क्योंकि मुक्ति का जब प्रागभाव होता है तभी तो इसका प्रध्वंसाभाव सम्भव है ॥१८॥

स्वरूपतो हि मुक्तस्य नाऽभावौ तौ भविष्यतः ।
प्राग्वा चैकतरस्याऽपि मुक्तिर्नित्या कथं भवेत्? ॥१९॥

यद्यारम्भश्च मुक्तेः स्यात्, कथन्नान्तो भविष्यति ।
नैवैकतराभावो संसारे दृश्यते क्वचित् ॥२०॥

ब्रह्मलोकस्थितिर्यावत् तावत्तत्रैव तिष्ठति ।
नावर्तते ततः प्राक्तु छान्दोग्ये शङ्करोऽब्रवीत् ॥२१॥

सामर्थ्यं सीमितं यावन्न साधनमसीमितम् ।
अनन्तानन्दमाभोक्तुं मोक्षस्यानन्तता कथम् ? ॥२२॥

आनन्त्यं वस्त्वनादित्वे सादित्वेऽनन्तता कथम् ?
सादिप्राप्तिर्हि मोक्षस्य, आवन्त्यं नो भविष्यति ॥२३॥

असंख्यत्वे तु जीवानां बीजच्छेदो हि मन्यते ।
परं जीवस्य भोक्तृत्वे नानन्त्यं सुखदुःखयोः ॥२४॥

सान्तसामर्थ्यवज्जीवः सुखानन्त्यं कथं वहेत् ।
नानन्तं च फलं न्याय्यम्, आत्मनः सान्तकर्मणाम् ॥२५॥

जो स्वरूपमुक्त होगा, उसके प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव हो ही नहीं सकते, इन दोनों में से एक के भी होने पर मुक्ति नित्य कैसे हो सकती है ? ॥१९॥

यदि मुक्ति का आरम्भ होगा, तो अन्त क्यों न होगा ? संसार में एकतर अभाव नहीं दिखाई देता अर्थात् जिसका प्रागभाव होगा, उसका प्रध्वंसाभाव भी होगा ॥२०॥

आचार्य शङ्कर ने छान्दोग्य उपनिषद् के अपने भाष्य में लिखा है कि जब तक ब्रह्मलोकस्थिति (अर्थात् ३६ हजार वार प्रलय और सृष्टि) है तब तक वह जीव ब्रह्मानन्द में रहता है, उस अवधि से पूर्व नहीं आता ॥२१॥

जब जीव का सामर्थ्य सीमित है और साधन भी असीम नहीं हैं तो अनन्त आनन्द को भोगने के लिये मोक्ष की अनन्तता भी कैसे हो सकती है ? ॥२२॥

वस्तु की अनादिता में ही अनन्तता होती है, सादि होने पर अनन्तता नहीं हो सकती। जब मोक्ष की प्राप्ति का सादित्व या प्रारम्भ है, तो उसकी अनन्तता नहीं हो सकती ॥२३॥

अमर जीवों की असंख्यता में उच्छेद (मोक्ष) नहीं मानते, परन्तु नित्य भोक्ता जीव के सुख और दुःख भी अनन्त नहीं हो सकते ॥२४॥

सान्त सामर्थ्यवाला जीव है तो सुख की अनन्तता को कैसे वहन कर

https://t.me/DharmaSamrat

प्रत्यावर्तनमेव नो यदि भवेज्जीवस्य मोक्षात्तदा,
कारागारसमा हि तत्स्थितिरियं तत्तत्वविद्भिर्मता ।
मुक्तः सन्नपि नेश्वरो भवति वै जीवो यदा मन्यते,
बन्धाऽबन्धगतात्मनः समभवत् किं लक्षणं ब्रूहि तत् ॥२६॥

आवृत्तेरप्यनावृत्तेर्मिथः श्रुत्योर्विरोधनम् ।
तस्मिन् कल्पान्तरे किन्तु समादेधे हि शङ्करः ॥२७॥
शास्त्राणि प्रतिकूलं तु श्रुतीनां नावदन् क्वचित् ।
अतोऽनावृत्तिशब्दाद् वै मुक्तिकालावधिर्मतः ॥२८॥

ननु स्वामिदयानन्देनाऽमृतो मोक्षाख्यः परमात्मा मतः, स तु नित्य एव स्वरूपतः, तदा मुक्तिरपि कथं न नित्या स्यात्, इति चेन्न, तस्य तत्स्वरूपत्वे परमात्मनो मुक्तेर्नाधिगन्तव्यता व्याख्याता क्वापि, जीवस्यैव प्राप्तव्यता मोक्षस्य कथिता । तदाऽनुपलब्धस्य मोक्षस्य जीवात्मनाऽप्तिर्भवतीति तात्पर्यम् ।

सकता है, आत्मा के सान्त कर्मों का अनन्त फल न्यायसंगत नहीं है ॥२५॥

मुक्ति तत्त्व के ज्ञाता विद्वानों का मत है कि मोक्ष से यदि जीव का प्रत्यावर्तन न माना जाये, तो उसकी वह स्थिति कारागार के समकक्ष होगी, मुक्त होकर जीवात्मा जब ईश्वर नहीं होता तो बन्ध या अबन्ध गत आत्मा का क्या लक्षण होगा, यह भी आपको बताना पड़ेगा ॥२६॥

यह कहना कि आवृत्ति और अनावृत्ति-प्रतिपादक श्रुतियों में परस्पर विरोध होगा, इसका समाधान शंकर ने इस प्रकार किया है कि इस कल्प में जीवात्मा की आवृत्ति नहीं होती पर अन्य कल्प में होती है ॥२७॥

शास्त्रों में श्रुतियों के विपरीत कथन कहीं भी नहीं किया गया है, अतः अनावृत्ति शब्द से मुक्तिकाल की अवधि में मुक्ति से नहीं लौटता, यह अभिप्राय है ॥२८॥

प्रश्न—ऋषि दयानन्द ने अमृत को मोक्षाख्य परमात्मा कहा है, वह तो स्वरूप से नित्य है तब मुक्ति भी नित्य है, ऐसा क्यों न माना जाये?

उत्तर—मोक्ष के परमात्मस्वरूप होने पर भी परमात्मा के लिये मुक्ति की प्राप्तव्यता कहीं व्याख्यात नहीं की गई है, जीव के द्वारा ही मुक्ति का प्राप्त होना कहा गया है। तभी तो अनुपलब्ध मोक्ष की प्राप्ति का यत्न जीवात्मा करता है, तब ब्रह्म के स्वरूप मुक्ति की प्राप्ति नियतकालिक अवधि के लिये ही होती है, ऐसा समझना चाहिये।

केचित् कथयन्ति यत् 'कस्य नूनं कतमस्यामृतानाम्' इति मन्त्रः पुनर्जन्मनि प्रमाणं भवितुमर्हति न पुनर्मोक्षे। ब्रुवन्तमेवं पृच्छामि यदेतस्मात् पूर्वं जन्म आसीदेव तदा नव अन्तराले महान् कालो व्यत्यगात्, येनायं जीवो मातृपितृदर्शनाय आकुलितो जायेतैतावान्। तथा चामृतानां वयमिति वचनेन जीवानां द्विविधं निरूपणम्। एषोऽमृतं मोक्षं प्राप्ता अपरे वयं मोक्षावधेरनन्तरं पुण्यापुण्यसमानाः पुनर्मातरं च द्रष्टुकामाः स्मः।

ननु जीवास्तु अमृता अनश्वरा एव सर्वे इति ख्यापनायैव अत्रामृतानामिति पदमिति वाच्यमिति चेन्न, तथा सति 'अमृतानां वयम्' इति निर्धारणे सप्तम्या अनर्थत्वमापतेत्।

किञ्च 'मह्या अदितये पुनर्दात्' इत्यनेनाऽपि पृथिव्यां पुनर्जनुदानेन व्यज्यते

किसी-किसी व्यक्ति ने 'कस्य नूनम्' इस मन्त्र को मोक्ष की प्राप्ति के बाद जन्म लेने में प्रमाण न मानकर साधारणतया होनेवाले पुनर्जन्म में ही प्रमाण माना है।

उनसे हमारा प्रश्न है कि उनके ऐसा मानने पर उक्त मन्त्र में 'अमृतानां वयम्' यह प्रयोग कैसे ठीक माना जायेगा; क्योंकि इससे पूर्व जन्म तो था ही तो गर्भ में आकर नव जन्म लेने तथा नये माता-पिता को देखने के लिये इतनी व्याकुल उत्कण्ठा जीव को क्योंकर हुई, जो कि वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि "पितरं च दृशेयं मातरं च" जो कि प्रभु के प्रति कृतज्ञता को प्रकट करे। रही पुनर्जन्म के प्रमाण की बात, वह तो इससे पूर्व के २३ वें सूक्त में "संमाग्ने-वचसा सृज संप्रजया समायुषा" में कह दी गई है। दूसरे 'अमृतानां वयम्' इस पाठ से जीवों में दो प्रकार का निरूपण ध्वनित है, जिन में कुछ तो अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त, अन्य हम लोग जो मोक्ष की अवधि के अनन्तर पुण्याऽपुण्य समान होकर माता-पिता की दिदृक्षा पुनर्जन्म द्वारा करते हैं।

प्रश्न—जीवात्मा अमर है, इस बात को व्यक्त करने के लिये 'अमृत' पद रक्खा है।

उत्तर—ऐसा होता तो 'अमृतानां वयम्' इसमें 'यतश्च निर्धारणम्' से निर्धारण में षष्ठी नहीं होती, क्योंकि एकत्व में निर्धारण नहीं होता।

साथ ही 'मह्या अदितये पुनर्दात्' इससे 'पृथिवी पर पुनर्जन्म देने से' ध्वनित होता है कि इससे पूर्व हमारा जन्म पृथिवी पर नहीं हुआ अर्थात् हम

https://t.me/DharmaSamrat

यदस्माकं जन्म अस्मात् पूर्वं न पृथिव्यामभवद् अर्थाद् वयममृते मोक्ष आस्म ।

मोक्षादावृत्तिविषयेऽन्यशास्त्रप्रमाणानि वेदाधाराणि । यथोदाह्रियन्ते—

'अनावृत्तिः शब्दात्' (वेदा० ४।४।२२) ।

'तेषां न पुनरावृत्तिः' (बृहदा० ६।२।१५) ।

'यस्माद् भूयो न जायते' (कठो० ३।१०) ।

'स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते' (छा० ८।१५।१)।

'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते' (छा० ४।१५।५) ।

'यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते' (गीता १५।६) ।

एषु ऋषिवचनशैली अवगन्तव्या । यथा मीमांसाप्रशंसासूत्रे (१।४।२६) 'न हि निन्दा निन्दितुं प्रवर्त्ततेऽपि तु विधेयं स्तोतुम्'। यथा—'अयज्ञो वा एष असामा' 'अपशवो वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः' इत्यादि । एवं पुनरावर्त्तननिषेधः ब्रह्मलोकस्यायुर्बोधनाय । एवं शङ्कराचार्य आह (छा० ८।१५।१ श्रुतौ) 'यावद् ब्रह्मलोकस्थिति-

---

लोग मोक्ष में थे ।

मोक्ष से वापस आने के विषय में अन्य शास्त्रीय प्रमाण वेदानुकूल हैं । तथा 'अदिति' शब्द यहां अखण्डित सुख अर्थात् मुक्ति के लिये भी श्लेषेण प्रयुक्त है । तो अर्थ हुआ कि किसने मुझे इस मुक्ति के लिये पुनः भेजा है ? प्रमाण है—

'अनावृत्तिः शब्दात्' (वेदा० ४।४।२२) ।

'तेषां न पुनरावृत्तिः' (बृहदार० ६।२।१५) ।

'यस्माद् भूयो न जायते' (कठ० ३।१०) ।

'स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते, न च पुनरावर्तते' (छा० ८।१५।१) ।

'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४।१५।५) ।

'यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते' (गीता १५।६) ।

इनमें ऋषियों की वचनशैली समझनी चाहिये । जैसा कि मीमांसासूत्र (१।४।२६) में निन्दा का प्रवर्तन निन्दा के लिये नहीं होता प्रत्युत विधेय की स्तुति के लिये होता है, जैसे—'सामवेदहीन यज्ञ अयज्ञ है' इसमें सामवेद की प्रशंसा है । 'अश्वातिरिक्त पशु पशु नहीं हैं' अर्थात् उत्तम पशु अश्व है । इसी प्रकार पुनरावर्त्तन का निषेध ब्रह्मलोक की आयुबोधन के लिये है । जैसा कि आचार्य

स्तावत् तत्रैव तिष्ठति, प्राक्ततो नावर्त्तते' इत्यर्थः ।

प्रश्नः—ननु ऋषिदयानन्देन (ऋग् १।२४।१-२) मन्त्राभ्यां सुधितः साधिता सावधिः । यदा ह्ययं निम्नार्थो भवितुमर्हति—अस्मद्विधानाममृतानां जीवानामन्तर्यामिनः कतमस्य सुखस्वरूपस्य कस्य परमेश्वरस्य चारु नाम पुनः पुनः अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं मनामहे ध्यायेम । स नो मह्यं महत्यै अदितये शाश्वतमुक्तिं (दात्) प्रापयतु ।

उत्तरम्—भवतोऽस्मिन्नर्थेऽनेके दोषाः सन्ति । यथा अस्मद्विधानामित्यनेन तात्पर्यं किं बद्धानामुत वा मुक्तानाम् ? नाद्येन सम्भवति, मुक्तानामप्यन्तर्यामित्वात् । न वाऽन्त्येनाऽपि सम्बन्धः सम्भवति, तेषामन्तःकरणशुद्ध्यर्थमज्ञानान्धकारनाशार्थं प्रार्थनाया अनावश्यकत्वात् ।

पुनरमृतानामित्यस्य 'प्राप्तमोक्षाणाम्' इत्यर्थः कथन्न कृतः । तथा च मन्त्रस्य तृतीयचरणपठित 'पुनः' शब्दस्य आकर्षणे किं कारणम् औचित्यं च । 'अदितये

शङ्कर ने कहा है कि 'जब तक ब्रह्मलोक की स्थिति रहती है तब तक वह वहीं रहता है, उसका नाश होने से पूर्व वह वहां से नहीं लौटता' ।

प्रश्न—ऋग्वेद के 'कस्य नूनम्' आदि मन्त्रों का दयानन्दकृत अर्थ मान्य न होकर निम्न अर्थ करना चाहिये था, परन्तु उन्होंने इससे मुक्ति का समर्थन किया है—अस्मद्विधानाम् (अमृतानां) जीवानामन्तर्यामिनः (कतमस्य) सुखस्वरूपस्य (कस्य) परमेश्वरस्य चारु नाम (पुनः) पुनः अन्तःकरणशुद्ध्यर्थम् (मनामहे) ध्यायेम । स नो (मह्यं) महत्यै (अदितये) शाश्वतमुक्तिं (दात्) प्रापयतु । अर्थात् हम जीव अन्तर्यामी सुखस्वरूप परमेश्वर का सुन्दर नाम वारवार अन्तःकरणशुद्धि के लिये ध्यान कर और वह हमें मुक्ति को प्राप्त कराये ।

उत्तर—आपके इस अर्थ में अनेक दोष हैं । जैसे "हम जैसे जीवों के" यहांपर आपका तात्पर्य बद्ध जीवों से है या मुक्त जीवों से ? केवल बद्ध से अभिप्राय नहीं हो सकता; क्योंकि वह परमात्मा मुक्त जीवों का भी अन्तर्यामी है और मुक्तिगत जीव (अस्मद्विध) हो नहीं सकते; क्योंकि मुक्तावस्था में वे अतःकरणशुद्धि या अज्ञानान्धकार नाश की प्रार्थना नहीं कर सकते । यदि आप कहें कि मुक्तिप्राप्त जीव भी 'अस्मद्विध' हैं, तो मुक्ति से लौटने पर सम्भावित अज्ञाननाश की प्रार्थना कर सकते हैं ।

फिर 'अमृतानाम्' का अर्थ 'प्राप्तमोक्षाणाम्' क्यों नहीं किया; साथ ही तृतीयचरणगत 'पुनः' शब्द का कर्षण 'मनामहे' के साथ करना भी अनुचित है ।

https://t.me/DharmaSandet

पुनर्दात्' इत्यत्र उचितविन्यस्तपुनःशब्दस्य कथन्नान्वयः क्रियते ? येन मुक्तये पुनः पुनर्ददातीत्यर्थः स्पष्ट एवाभिधीयते। द्वितीयमन्त्रे 'अमृतानां जीवानां प्रथमस्याद्वितीयस्य परमेश्वरस्य' इति विशिष्टोऽर्थः भवत्येव।

'मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्' इति प्रार्थनमेव निष्प्रयोजनम् अभविष्यच्चेन् मुक्तेरनावृत्तिः शास्त्रीयसिद्धान्तोऽभविष्यत्। यजु० ३।६० मन्त्रस्य माहीधरं भाष्यं तु पूर्वार्द्धमन्त्रस्य प्रतिबिम्बकसमानान्तरमेव। यथा "इतो मातृपितृभ्रातृवर्गान्मुक्षीय मुक्तो भूयासम्, अमुतो मा मुक्षीय विवाहादूर्ध्वं भविष्यतः पत्युर्मुक्ता मा भूयासम्। जनकस्य गोत्रं गृहं च परित्यज्य पत्युर्गृहे गोत्रे च सर्वदा त्र्यम्बकप्रसादाद्वसामीत्यर्थः"।

यथात्र 'सर्वदा' शब्दार्थः पत्युर्लोकायु(काल)रवधिस्तथैव ब्रह्मलोकावधिरप्यभिप्रेतः। अयमेवाशयः १४।१; १७-१८ अथर्व ७।५९।१२ ऋङ्मन्त्राणामप्यवगन्तव्यः।

शङ्का—'यो यस्य आदिरन्तश्च मध्ये तस्य तदेव तत्' इति शास्त्रनियमेन

मीमांसा (२।१।३५) सूत्र के भाष्य में वेङ्कटमाधव ने प्रत्येक पाद में अर्थों की समाप्ति मानी है, इस प्रकार भी द्वितीय चरण में 'मनामहे' क्रिया से अर्थसमाप्ति हो जाती है। कदाचित् 'अदिति' का आपका किया अर्थ 'शाश्वती मुक्ति' ही मान लिया जाये तो कारण बताइये कि 'अदितये पुनर्दात्' का सीधा अर्थ यह क्यों न लगाया जावे कि वह परमात्मा हमें 'मुक्ति की पुनः प्राप्ति कराये'। तो इस प्रकार भी मुक्ति से आना सिद्ध होता है।

द्वितीय मंत्र तो 'अमृतानां प्रथमस्य' इन पदों से ईश्वर और जीव दोनों को विशेषित करता हुआ 'प्रथमस्य' अर्थात् अद्वितीय परमात्मा को जीवों से पृथक् स्पष्ट कर रहा है।

यदि मोक्ष से अनावृत्ति का सिद्धान्त शास्त्रीय मत होता तो 'मोक्ष से न लौटूं' यह प्रार्थना ही निरर्थक हो जाती। यजु० ३।६० मन्त्र के 'इतो मुक्षीय मामुतः' का महीधरभाष्य पूर्व अर्द्ध मन्त्र का प्रतिबिम्बक समानान्तर है। वे लिखते हैं कि "मैं माता, पिता, भाई वर्ग से तो छूट जाऊं; परन्तु विवाह के अनन्तर भावी पति से मुक्त न होऊं। सर्वदा पति के घर रहूं"।

जैसे यहां पर 'सर्वदा' का अर्थ पतिलोक की आयु (काल) अभिप्रेत है, उसी प्रकार ब्रह्मलोक से मुक्तिभोग अवधि अभिप्रेत है। यही आशय अथर्ववेद के १४।१।१७-१८ तथा ऋक् ७।५९।१२ मन्त्रों का भी समझना चाहिये।

शङ्का—ऋग्वेद १।२४,१-२ में जो विषय है वही पूरे १५ मन्त्रों में होना

ग्रन्थे सूक्ते वा यश्चादिमोऽन्तिमो विषयः स एव मध्यमोऽपि भविष्यति, तस्मान्नास्त्यत्र सूक्ते मुक्तिविषयः।

समा०—नायं शास्त्रीयो नियमः। न चाप्यस्य रचितस्य अभिप्रेतोऽपि अवगतः सम्यगाशयः। एकस्मिन्नपि वेदग्रन्थे एतस्य वा विविधसूक्तेषु विभिन्नविषयाणां प्रतिपाद्यत्वाभीष्टत्वात् परमात्मनः। सच नियमो लौकिकग्रन्थेष्वेव।

भवतोऽस्ति कथनं यस्कोऽपि कथं मोक्षसुखपरित्यागमभिलषिष्यति ? 'दात्' शब्दस्य लडर्थत्वात् प्रतीयते यद्वस्तु यथास्त्येव कथं तस्यापवारणं सम्भवति ? यदा च मोक्षकालावधेरनन्तरं जीवागमनं भविष्यत्येव तदेतत् कथनं स्वाभाविकं यस्य प्रभुः पितरं मातरं च दर्शयत्येव।

आवृत्तिश्चावश्यम्भाविनी, जीवस्याल्पज्ञत्वस्वभावस्यात्यन्तिकतयानपायित्वात्। अग्रे 'तदिन्नक्तम्०' इति मन्त्रे 'मुमोक्तु' इत्यस्याभ्यासार्थे प्रयोगत्वात् पुनः पुनर्मोचनं प्रार्थितम्, तस्मान् मुक्तिर्जन्म ततोऽपि मुक्तिः सिध्यति। यद्यल्पज्ञ-

---

भी चाहिये; क्योंकि शास्त्र का नियम है कि 'जो जिसका आदि और अन्त विषय होता है, वही उसके मध्य में होता है'।

समा०—प्रथम तो 'यो यस्यादिमश्चान्ते मध्ये तस्य स एव हि' इसका अर्थ ही आपने ठीक नहीं समझा। इसका अभिप्राय आपके संकुचितार्थ विषयशब्द के अनुसार केवल लौकिक न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, परमाणु, ऊर्जा आदि विषयगत शीर्षकों पर ही घटित होगा। इस अभिप्राय की शृङ्खला से 'वेद भगवान्' को निगडित न कीजिए; क्योंकि वेद ग्रन्थ और उसके एक-एक सूक्त में अनेकानेक विषयों का सूत्ररूप में ज्ञान कराया गया। वेद का शब्दार्थ ही ज्ञान है। वेद में सर्वत्र ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान का वर्णन मिलेगा। वेद में देवता ही विषय होता है। इसी सूक्त में प्रजापति, अग्नि, वरुण आदि अनेक देवता हैं।

आपका कथन है, कि मुक्तिसुख से कोई जीव क्यों लौटना चाहेगा और लौटने की प्रार्थना ईश्वर से क्योंकर करेगा ? इसका समाधान यह है कि 'दात्' क्रिया में लडर्थ में लङ् और अट् का अभाव है। इस प्रकार अर्थ होगा "पुनर् 'जन्म' देता है"। फिर इच्छा न करने से वस्तुस्थिति का अभाव कैसे हो सकता है ?

मोक्ष से आना अवश्य होगा; क्योंकि जीवात्मा स्वभावतः अल्पज्ञ है और स्वभाव का कदापि अभाव या अपाय नहीं हो सकता। इसी अभिप्राय से १२वें मन्त्र 'तदिन्नक्तम्' में 'मुमोक्तु' अर्थात् 'पुनः-पुनः छुड़ावे' यही अर्थ होगा। यदि मोक्ष में जीव की अल्पज्ञता नष्ट हो जाती तो वह सर्वज्ञ हो जाता, फिर परमेश्वर

https://t.me/Dharmasamrat

त्वं नश्येन् मोक्षे तदा किमन्तरं जीवेश्वरयोः ? तत्त्वज्ञानेनाल्पज्ञता अल्पकालमेवावतिष्ठते दूरे ।

यत्तत्त्वज्ञानमनेकजन्मसु अभ्यासेन समचीयत तदपचीयते, फलतो जीवात्मा नियतकालानन्तरं पूर्वस्थितिमापतति पुनस्तत्त्वज्ञानावाप्तये सृष्टौ पुनरायाति ।

प्र०—ननु सर्वधर्मसंस्थामतभिन्नमेवेदमार्यसमाजस्य मतम् । आर्यास्तु विद्याबुद्धिपरीक्षितमेव यदा मन्यन्ते तदा कथमेतत् ?

उ०—सत्यमुक्तं भवता । तर्कयुक्तिप्रमाणितमेव तावत् पुनरावर्तनं मुक्तेः । मुक्तिप्राप्तिरेव साधयति जीवात्मनः पूर्वबन्धत्वम् । नैमित्तिकेन ज्ञानेन मुक्तेरवाप्तिर्मिथ्याज्ञानेन च बन्धो जायते । न च निमित्तेन प्राप्ता मुक्तिर्नित्या भवितुमर्हति ।

ननु नैमित्तिकतत्त्वज्ञानेन परमात्मनस्तदानन्दस्यापि वावाप्तिर्भवति, तदा

और इन मुक्त जीवों में भिन्नता ही क्या रहती। तत्त्वज्ञान होने पर अल्पज्ञता कुछ काल को दूर हो जाती है।

जो तत्त्वज्ञान जीवात्मा को अनेक जन्मों के अभ्यास से हुआ था, वह कृताभ्यास अब सातत्य में नहीं रहा और वह क्षीण भी होने लगता है, फलतः जीवात्मा ३६००० सृष्टि और प्रलय के बाद अपनी वास्तविक स्थिति में आ जाता है। तत्त्वज्ञानप्राप्ति के लिए उसे पुनः शरीरप्राप्ति की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है, जिसकी पूर्ति के लिए जीवात्मा पुनः सृष्टि में आता है।

प्रश्न—संसार की सभी धार्मिक संस्थाएं मोक्ष से पुनरावृत्ति नहीं मानतीं ! आर्यसमाज तो प्रत्येक विषय को विद्या और बुद्धि की कसौटी पर कसता है फिर वह मुक्ति से जीवात्मा की पुनरावृत्ति क्यों मानता है ?

उत्तर—इसका समाधान तो आपके प्रश्न में ही समाहित है। जब वेदोपनिषद्-विद्या के प्रमाणों से सिद्ध है तथा बुद्धि अर्थात् तर्क और युक्ति से भी सिद्ध है, तभी तो आर्यसमाज मानता है। जो मुक्ति से आवृति नहीं मानते, वे भी मुक्ति की प्राप्ति तो मानते हैं, अर्थात् बद्ध जीवात्मा पहले मुक्त नहीं था, बाद में तत्त्वज्ञान द्वारा मुक्त हो गया। इससे सिद्ध होता है कि मुक्तिप्राप्ति में तत्त्वज्ञान निमित्त कारण है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञान का न होना अर्थात् मिथ्या ज्ञान का होना बन्धन का कारण होता है। निमित्त कारण से प्राप्त मुक्ति नित्य नहीं हो सकती।

प्रश्न—यह तो आपकी युक्ति विचित्र है कि निमित्त कारण से प्राप्त वस्तु नित्य नहीं हो सकती, अतः इसी निमित्तकारण तत्त्वज्ञान से प्राप्त परमात्मा या

तस्याप्यनित्यत्वमापद्येत इति चेन्न । नहि निमित्तप्राप्तवस्तुनोऽनित्यताख्यातिरिह, प्राप्तिव्यापारस्यैवानित्यताकथनात् । अनित्यसाधनेनावाप्तस्य प्राप्तिरपि न नित्या । न च यथायोगोलकं यावदग्निसान्निध्ये तिष्ठति न तदा शैत्यमुपैति, पृथग्भूतमेव तत् शीतलं जायते, तदा मुक्तौ तत्सान्निध्यतः पार्थक्ये न हेतुरिति वाच्यम्, अर्जिततत्त्वज्ञानस्यानन्त्याभावाज्जीवात्मनः सीमिततज्ज्ञानस्य सावधिकत्वात् परमात्मनः स्वतः पार्थक्यसंभवात् ।

किञ्च मुक्तेः पुनरागमनेऽन्यान्यपि प्रमाणानि । यथा—"अमुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्" (ऋक १०।५९।६) अस्मिन् मन्त्रे पुनः प्राणाधानस्य भोगाधानस्य वा प्रार्थना क्रियते । एतज्जीवनानन्तरं पुनर्भाविजीवनस्य कृते प्रार्थनाया अनुपयुक्ततापत्तेः । सूक्ष्मशरीरसहितस्य जीवस्य सप्राणत्वात् सभोगत्वाच्च, केवलं मोक्ष एतत्प्रार्थनस्य औचित्यं घटते तत्र सूक्ष्मशरीररहितत्वे-

---

उसके आनन्द की अनित्यता आ पड़ेगी।

उत्तर—आप इस विषय को ठीक नहीं समझ पा रहे हैं, ध्यान दीजिये, हम यहां निमित्तकारण के द्वारा प्राप्तव्य वस्तु की अनित्यता का कथन नहीं कर रहे हैं, प्रत्युत जीवात्मा के अनित्य प्रयत्न द्वारा प्राप्ति व्यापार की अनित्यता बताई जा रही है। यहां तो जीवात्मा भी नित्य, परमात्मा तथा उसका गुण आनन्द भी नित्य है, परन्तु तत्त्वज्ञानप्राप्ति नित्य नहीं है; क्योंकि यह जीवात्मा का अपना गुण नहीं; बल्कि अर्जित है। जैसे अग्नि में डाला लौहपिण्ड अग्नि में तप्त तो हो जाता है पर वह सदा-सदा को आग नहीं होता, उसी प्रकार प्रभु के ज्ञान से जीवात्मा तत्त्वज्ञ तो हो जाता है, पर सर्वज्ञ नहीं होता।

प्रश्न—जैसे लोहे का गोला जब तक आग में पड़ा रहता है, तब तक ठंडा नहीं हो सकता, उसी प्रकार जीवात्मा प्रभु के सान्निध्य में सदा रहने से आनन्द या मुक्ति से रहित कदापि नहीं हो सकता।

उत्तर—श्रीमन् ! आग भी भौतिक है और लौहपिण्ड भी। इनका संयोग सम्बन्ध होने पर लौह पिण्ड तप्त रहेगा, परन्तु जीवात्मा और परमात्मा प्रथम तो अभौतिक हैं, दूसरे आग के लोहे में बाहरी संसर्ग से उष्णता आती है पर जीवात्मा जब परमात्मा से ज्ञानकृत दूर होगा तब वह स्वतः पृथक् हो जायेगा।

इस विषय में अन्य भी प्रमाण हैं, जहां पर मुक्ति से पुनः जन्म लेने की प्रार्थना की गई है। जैसे 'हे प्राणसंचालक प्रभो ! हममें दर्शन शक्ति फिर से आवे, हमें इस संसार में फिर से जीवनशक्ति (प्राण) तथा अभ्युदयसाधन (भोग) दीजिये। हम उदय होते हुए सूर्य को चिरकाल तक देखें।' इस मन्त्र में पुनः प्राण तथा पुनः भोग प्राप्त करने की प्रार्थना की सार्थकता मुक्ति से आने में

https://t.me/DharmaCarnot

ऽप्राणत्वात् भोगकर्मफलनिवृत्तत्वाच्च ।

मोक्षविषयकप्रश्नसमाधानम्

प्रश्नः मुक्तजीवस्य जगता सह कश्चित् सम्बन्धोऽवशिष्यते अथवा नेति ?

समा०—श्रीमन् ! भवतोऽयं प्रश्नोऽस्य स्पष्टीकरणं च समीहते । तदा ब्रूताम्—किं जीवसम्बन्धः स्वार्थसाधनाय पृच्छ्यते उताहो निष्कामः सन् संसारमपेक्षते ? नाद्यः सम्भवति पक्षः, परमात्माधिगमे जीवस्य सांसारिकसर्वाभिलाषविरहितत्वात् । न चापि द्वितीयः, निष्कामस्याप्यात्मनो द्रव्यत्वेन स्थित्यै आकाशापेक्षत्वाद् आकाशस्य च संसारगतत्वं मन्येत चेदपेक्षते सम्बन्धः; परमपेक्षत्वं तु नेह जीवकर्तृकतामपेक्षते, तदपेक्षायाः नैसर्गिकत्वात् । मुक्तौ तु सर्वानन्दपरेश एवाश्रयोऽपेक्षितः ।

प्रश्नः—१९।७१।१ अथर्वमन्त्रे "स्तुता मया वरदा वेदमाता" इत्यत्र वर्णितो ब्रह्मलोकस्तु कश्चित् पृथगेव स्थानविशेषः ?

हो ही सकती है; क्योंकि मोक्ष में सूक्ष्मशरीर नहीं रहता अतः प्राण और भोग का भी अभाव होता है ।

मोक्षविषयक प्रश्नों का समाधान

प्रश्न—मुक्त जीव का जगत् के साथ कोई सम्बन्ध रह जाता है या नहीं ?

समा०--श्रीमन् ! आपका प्रश्न स्पष्टीकरण चाहता है, तो आप बताइये कि जीव का सम्बन्ध इसके अन्य स्वार्थसम्बन्ध के लिये पूंछा जा रहा है, या कि निष्काम होने पर भी क्या यह जीव संसार की अपेक्षा रखता है या नहीं ? प्रथम पक्ष तो सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि परब्रह्म की प्राप्ति होने पर जीव सब सांसारिक अभिलाषाओं से रहित हो जाता है । दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता; क्योंकि आत्मा के निष्काम होने पर भी आत्मा द्रव्य है इसलिये उसकी स्थिति के लिये आकाश की अपेक्षा होगी और यदि यह आकाश संसारगत है तो इस प्रकार कदाचित् सम्बन्ध माना जावे तब तो वह अपेक्षित ही है; परन्तु इस आकाश से सम्बन्ध बनाये रखने के लिये जीवात्मा को इच्छा नहीं करनी पड़ती; क्योंकि ऐसा होना तो प्रभुव्यवस्था के अन्तर्गत होने से नैसर्गिक ही होगा । मुक्ति में तो सर्वानन्दमय परमेश्वर ही अन्तिम आश्रय होता है ।

प्रश्न—अथर्व के १९।७१।१ मन्त्र "स्तुता मया" में वर्णित ब्रह्मलोक तो कोई पृथक् स्थान ही है ?

समा०—उक्तमन्त्रेऽन्यत्रापि वा ब्रह्मणोऽर्थः परमात्मा लोकस्तज्ज्ञाता चेति गृह्यते । यथा च यजुषि ३१।३ मन्त्रे प्रकाश्यमानभूताद्यात्मकं जगदेकगुणं तद्दृश्चासौ प्रकाशकः परमात्मा त्रिगुणमित्येव वर्ण्यते । तथैव मोक्षस्थितिः संसारेऽस्ति ब्रह्मणि वेति समाधानमिदं यन्मुक्तिस्तु ब्रह्मस्वरूपैवातो ब्रह्मण्येव स्थितिः संसारस्यापि च ब्रह्मस्थत्वमेव ।

प्रश्नः ननु ऋषिदयानन्देन संध्यायाम्—"हे ईश्वर दयानिधे ! भवत्कृपयाऽनेन जपोपासनादिकर्मणा धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः" इति प्रतिपादितेन कर्मणा मुक्तिप्राप्तेरसम्भवत्वेन न सम्यक् प्रतिपादितम् । 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इति चेन्न, वेदशास्त्रे "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" (यजुः ४०।१४) इत्यत्र मुक्तेरधिगमे प्रयासद्वयस्यापि प्रतिपादितत्वात् ।

तत्र जपो हि नाम त्रिविधः, श्राव्य उपांशुस्तदर्थभावनात्मकश्च । प्रथमस्तथा द्वितीयोऽपि स्थूलशरीरगतं कर्म, उपासना च सूक्ष्मशरीरस्थबुद्धेरात्मस्थितिविधायकं कर्म । एतत्कर्मपरिणामे सतताभ्यासेन समाधौ ज्ञानेन तदानन्दप्राप्तिः

समा०—उक्त मन्त्र तथा अन्यत्र भी ब्रह्म का अर्थ परमात्मा, लोक का अर्थ दर्शन या द्रष्टा है । जैसे यजु० ३१।३ मन्त्र में प्रकाश्यमान भूताद्यात्मक जगत् एक गुण तथा प्रकाशक परमात्मा त्रिगुण वर्णित किया गया है । संसार भी ब्रह्मस्थ है, और मुक्ति ब्रह्मस्वरूप होने से ब्रह्म से अभिन्न है ।

प्रश्न—महर्षि दयानन्द ने सन्ध्या में लिखा है—"हे ईश्वर, दयानिधे ! आपकी कृपा से इस जप, उपासनादि कर्म के द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि हमारी हो ।" इस में कर्म के द्वारा मुक्ति-प्राप्ति लिखी है, जो कि शास्त्र-विपरीत है, क्योंकि 'ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती' ।

उत्तर—यह कथन ठीक नहीं है । क्योंकि वेद में 'अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तैरना और विद्या अर्थात् ज्ञान के द्वारा अमृत (मोक्ष) को प्राप्त करना' लिखा है । अतः यहां मुक्ति की प्राप्ति में कर्म और ज्ञान दोनों ही प्रयास वेदानुकूल हैं ।

वहां जप तीन प्रकार का कहा गया है, श्रव्य, उपांशु वा तदर्थभावनात्मक । प्रथम और द्वितीय स्थूलगत शरीर के कर्म हैं, तदर्थभावनात्मक उपासना सूक्ष्मशरीरगत बुद्धि की आत्मस्थिति का विधायक कर्म है । इस कर्म के परिणाम में निरन्तर अभ्यास के द्वारा समाधि में ज्ञान के माध्यम से आनन्द की प्राप्ति

https://t.me/DharmaSangra

सहजत्वे कर्मानावश्यकत्वम् आपद्यते ।

ननु केचन तु कर्मभक्तिमात्रेण मोक्षप्राप्तिमाहुर्यदापरे केवलं ज्ञानमेव मोक्षाधिगतिसाधनं मन्यन्ते, तत्र परस्परविरोधः प्रतीयत इति चेन्न । एतद्विषयस्य महाभारते (शान्तिपर्वणि अ० २३०) सम्यग्विवेचितत्वान्न कश्चिद्विरोधः । तद्यथा—

मोक्षे हि त्रिविधा निष्ठा, दृष्टान्यैर्मोक्षवित्तमैः ।
ज्ञानं लोकोत्तरं यच्च, सर्वत्यागश्च कर्मणाम् ॥
ज्ञाननिष्ठां वदन्त्येके मोक्षशास्त्रविदो जनाः ।
कर्मनिष्ठां तथैवान्ये यतयः सूक्ष्मदर्शिनः ॥
प्रहायोभयमप्येवं ज्ञानं कर्म च केवलम् ।
तृतीयेयं समाख्याता निष्ठा तेन महात्मना ॥

हारीतस्मृतौ सप्तमाध्याये तृतीयनिष्ठां बहूदाहरणैरपुष्णात् तद्रचयिता । यथा—

यथाश्वा रथहीनाश्च रथाश्चाश्वैर्विना यथा ।
एवं तपश्च विद्या च उभावपि तपस्विनः ॥७॥

सहज होने पर फिर कर्म अनावश्यक हो जाता है ।

मनु महाराज ने इसी मन्त्र से प्रेरित होकर अपने धर्मशास्त्र में अविद्या के स्थान पर तप (कर्मोपासना का आधार) पद का प्रयोग करते हुए यही अर्थ माना है । यथा "तपोविद्या च विप्रस्य" (मनु० १२।१०४) ।

प्रश्न—कुछ लोग कर्म और भक्तिमात्र से मोक्षप्राप्ति कहते हैं, जब कि दूसरे केवल ज्ञान को ही मोक्ष का साधन मानते हैं, तो इसमें परस्पर विरोध ही प्रतीत होता है ।

उत्तर—यह बात नहीं है । इस विषय का महाभारत में इस प्रकार सम्यक् विवेचन किया गया है कि मोक्षविद्याज्ञाता मोक्ष में तीन प्रकार की निष्ठा बताते हैं । (१) लोकोत्तर ज्ञान (२) सभी प्रकार के कर्मों का त्याग (३) कई ने केवल ज्ञाननिष्ठा का प्रतिपादन किया है । कुछ कर्मनिष्ठा को ही मुख्य मानते हैं । कुछ कर्म और ज्ञान दोनों को ही मुक्ति का साधन मानते हैं ।

हारीतस्मृति अध्याय सात में बहुत उदाहरणों से तृतीय निष्ठा की पुष्टि की है । जैसे बिना रथ के घोड़े और बिना घोड़े का रथ होता है, दोनों के सहयोग पर ही इनकी उपादेयता है । उसी प्रकार तप और विद्या अर्थात् कर्म

यथान्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम् ।
एवं तपश्च विद्या च संयुतं भेषजं महत् ॥१०॥
द्वाभ्यामेव च पक्षाभ्याम्, यथा वै पक्षिणां गतिः ।
तथैव ज्ञानकर्माभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम् ॥११॥

प्रश्नः—इहापीतरे ब्रुवते नव्यवेदान्तिनो यज्जीवनं मरणं पापं पुण्यं सुखं दुःखं चान्तःकरणधर्माः सन्ति, जीवस्तु निर्लेपः सदा स्वभावत एव मुक्तः स्वयं ब्रह्मैव । अन्तःकरणोपाधिना प्रतिबिम्बितमेव ब्रह्म जीवसंज्ञां लभते । यथा दर्पणभङ्गे न तद्गतप्रतिबिम्बस्य कापि क्षतिस्तद्वदेवान्तःकरणे छिन्ने भिन्ने च ब्रह्मप्रतिबिम्बभूत-जीवोपाधिधारिब्रह्मणः कापि क्षतिर्भवति । वस्तुतो न ब्रह्मणोऽतिरिक्तः कश्चि-ज्जीवः, अतो ब्रह्मणो ब्रह्मण्येव सान्निध्यं स्थापयितुं मोक्षप्राप्तिनाटकरचना न शास्त्रसम्मता ।

उत्तरः—तत्सर्वथाऽसत्यकल्पनाविजृम्भितम्, न चेमे प्रज्ञारयो विचिन्वन्ति यत्प्रतिबिम्बस्तु साकारवस्तुन एव जायते, ब्रह्मणस्तु सर्वथा निराकारत्वमेव । अपरञ्च जीवस्यापि सत्ता अनादिरेव यथा ब्रह्मणः । न च सुखदुःखे जडमन्तः-

---

और ज्ञान दोनों मोक्ष के लिये आवश्यक हैं । जैसे मधु से संयुक्त अन्न और अन्न से संयुक्त मधु गुणकारी होता है, उसी प्रकार मोक्षप्राप्ति के लिए ज्ञान और कर्म दोनों अपेक्षित हैं । इसी प्रकार जब तक ज्ञान और कर्म दोनों का सहयोग न हो तब तक ब्रह्म की प्राप्ति या मोक्ष सम्भव नहीं, अतः स्पष्टतया ज्ञान और कर्म दोनों की मोक्षार्थ आवश्यकता है ।

प्रश्न—इसमें अन्य नव्य वेदान्ती कहते हैं कि जीवन, मरण, पाप, पुण्य, दुःख और सुख अन्तःकरण के धर्म हैं । जीव तो निर्लेप, स्वभाव से मुक्त ब्रह्म ही है । अन्तःकरण उपाधि से इसमें प्रतिबिम्बित ब्रह्म ही जीवसंज्ञा को प्राप्त हो जाता है । जैसे दर्पण के टूटने पर उसमें पड़ते प्रतिबिम्ब की कोई क्षति नहीं होती उसी प्रकार अन्तःकरण के छिन्न-भिन्न हो जाने पर ब्रह्म के प्रतिबिम्बभूत जीव उपाधिधारी ब्रह्म की कोई क्षति नहीं होती । वास्तव में ब्रह्म से अतिरिक्त कोई जीव नहीं है । इसलिए ब्रह्म द्वारा ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त कर मोक्षप्राप्ति का नाटक रचना शास्त्रों से अभिमत नहीं है ।

उत्तर—उक्त बात सर्वथा असत्य कल्पनाजन्य है । इन बुद्धि-शत्रुओं को इतना भी ज्ञान नहीं है कि प्रतिबिम्ब तो सदा साकार वस्तु का ही होता है, जब कि ब्रह्म सर्वथा निराकार है । दूसरे, ब्रह्म के समान जीव की भी सत्ता अनादि ही है, जड अन्तःकरण सुख और दुःख की अनुभूति नहीं कर सकता । चेतन अल्पज्ञ

https://t.me/Dharmagyan

करणमनुभवितुं शक्यते चेतनाल्पज्ञजीवस्यैव तदनुभूतिक्षमत्वात्। एवं वेदप्रतिकूलसिद्धान्तोऽयं नास्तिकवादान्तर्गतो वेदनिन्दकत्वात्।

अत्र सहजप्रश्न उद्भवति यदि भोगार्थमिन्द्रियमनसो सहयोग आवश्यकः, मोक्षावस्थायां तद्रहितत्वादानन्दभोगमाप्तुं कथङ्कारं शक्यते, तत्सत्यम्। श्रूयताम् — सत्यसङ्कल्पादिस्वाभाविकगुणा सामर्थ्यं च सदा जीवेन सह तिष्ठन्त्येव, भौतिकपदार्थसङ्गो नावतिष्ठते। यथा छान्दोग्ये—"यं कामं कामयते सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुपतिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते" (८।२।१०)। वेदान्तेऽपि—"सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः" (४।४।८)। एवमिन्द्रियगोलकरहितस्याप्यात्मनः किमपि सङ्कल्पितं कार्यं प्रत्यवरोधो न जायते। तैत्तिरीयोपनिषद्यपि तथा—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्"। "सोऽश्नुते सर्वान् कामान्।"

ननु नैव क्वापि वेदे मुक्तिशब्दो मोक्षशब्दो वा प्रयुज्यते न वा जन्ममृत्युचक्रादभिप्रार्थिता मुक्तिरिति चेन्न, वेदाब्धिविलोडनप्रवीणर्षिभिर्मुक्तेर्वेदप्रतिपादितत्वात्। योगसमाधिनिष्ठर्षिभिः 'अमृत' 'अतिमृत्यु' इत्यादिशब्दा मुक्त्यर्थ

जीवात्मा ही उनकी अनुभूति करने में समर्थ है। इस प्रकार नवीन वेदान्ती का उक्त कथन नास्तिकवाद के अन्तर्गत आता है; क्योंकि इसके वेदप्रतिकूल होने से वेद की निन्दा ही है।

यहां पर एक सहज प्रश्न उठता है कि भोग के लिये तो इन्द्रिय और मन का सहयोग आवश्यक होता है, मोक्षावस्था में तो इन्द्रियां नहीं होतीं तो जीव आनन्द का भोग कैसे कर सकता है? ठीक है, इसको समझिये—सत्यसङ्कल्पादि स्वाभाविक गुण और सामर्थ्य आत्मा के साथ सदा ही रहता है। हां, भौतिक सङ्ग अवश्य नहीं रहता। जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् (८।२।१०) में लिखा है—कि मुक्त जीव जिस वस्तु की कामना करता है। जिस वस्तु से यहां पर आशय सांसारिक वस्तु से नहीं है किन्तु तत्त्वज्ञ होने के कारण ब्रह्मानन्द के साथ-साथ प्रकृति के रहस्यादि जो ब्रह्म-सान्निध्य से देखने सुनने आदि के सङ्कल्प से मिलते हैं। वेदान्त (४।४।८) में भी लिखा है। इस प्रकार इन्द्रियगोलकरहित आत्मा के किसी सङ्कल्पित कार्य के प्रति अवरोध नहीं होता। तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा है—'सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म है वह गुहा अर्थात् हृदय में रहता है।' 'जो उसे जानता है वह सब कामपूर्ति को प्राप्त करता है।'

प्रश्न—वेद में तो कहीं मुक्ति या मोक्ष शब्द आया नहीं है, और न जन्म, मृत्यु के चक्र से मुक्ति की प्रार्थना की गई है।

उत्तर—यह कथन युक्तियुक्त नहीं; क्योंकि वेदपारावार के विलोडन करने में प्रवीण ऋषियों ने वेद में प्रयुक्त अमृत, अतिमृत्यु, अदिति आदि शब्दों का

एव विनिर्दिष्टाः। वेदे च प्रमाणानि, यथा—

"मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्" (यजु०), "तमेव विदित्वाति मृत्युमेति" (यजु० अध्याये ३१), "अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त" (यजु० ३२), "अमृतत्वमानश" (ऋक्० ८।२।१।१) इत्यादीनि।

महर्षिमुक्तेर्विषये निराकृताः, समस्त-शङ्काः करपात्र-भाविताः।
तदीय-कालावधिपूर्णता-स्थितौ, समेति जीवः पुनरेव संसृतौ॥

इति श्रीमद्बिहारीलालशास्त्रिशिष्येण श्रीयुतपण्डित-अयोध्याप्रसाद-मिश्रात्मजेन श्रीमदाचार्यविशुद्धानन्दमिश्रेण श्रीयुतनिर्मला-मिश्रा-सहधर्मिणीसहायेन विरचिते करपात्रिमतखण्डने दयानन्दीयमतमण्डने 'वेदार्थकल्पद्रुम'नामग्रन्थे 'मुक्ति-विषयः'

॥ सम्पूर्णः ॥

अपने रचित उपनिषदादि ग्रन्थों में मुक्ति और मोक्ष अर्थ ही माना है। इस विषय में यजुर्वेद और ऋग्वेद में बहुत से प्रमाण हैं, जैसे—

"मैं मृत्यु से छूट जाऊं और अमरता से न छूटूं" (यजु०), उसी को जानकर अतिमृत्यु को प्राप्त करता है" (यजु० अ० ३१), "अमृत को प्राप्त करता हुआ तृतीय धाम में जाता है" (यजु० अ० ३२) इत्यादि।

महर्षि दयानन्द की मुक्ति के विषय में श्री करपात्रजी ने जो शंकायें उठाई थीं, उन सबका यहां समाधान कर दिया गया। मुक्ति-काल की अवधि के पूर्ण होने पर यह जीव फिर से संसार में लौट कर आता है।

श्रीमान् पण्डित बिहारीलालजी शास्त्री के शिष्य, श्रीयुत पण्डित अयोध्याप्रसाद मिश्र के आत्मज, श्रीमदाचार्य विशुद्धानन्द मिश्र द्वारा श्रीयुतनिर्मला मिश्रा सहधर्मिणी की सहायता से विरचित करपात्रिमतखण्डन तथा दयानन्दीय मतमण्डन करनेवाले इस 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में 'मुक्ति-विषय'

॥ सम्पूर्ण हुआ ॥

https://t.me/DharmaSanrat

अथ नौविमानादिविद्या-विषयः संक्षेपतः

वेदे सत्या विशदविषयाः सर्वविद्यावदाता,
दाता तेषां व्यतरदखिलं बीजरूपेण तावत्।
श्रेष्ठप्रज्ञो यतिवरदयानन्द एषोऽन्ववोचत्,
वेदैर्वेद्या विदितविषयैर्नौविमानादिविद्या ॥

पृ० १४०८, पं० ८—यदुच्यते—"एषां मन्त्राणामापातरमणीयमर्थाभासं विधाय नौविमानादिविद्यावर्णनं कृतमकिञ्चित्करम्, निर्माणविधेरवर्णनात्, ……सर्वथा वेदार्थेऽराजकतां जनयन् वेदमेवाश्रद्धेयं विदधात्ययम्।" इति, तदपि 'मुखमस्तीति वक्तव्यम्, इष्टं वा स्यादनिष्टकम्' इत्यतः। 'वेदादेशो हि राजस्थानकः'। निर्माणविधिविषयस्तु तत्किङ्करो हि स्वगवेषणाधीनः। ऋषिव्याख्यानेनैव वेदेषु पुनर्लोकानां श्रद्धा जागृता। अल्पदृग्भिः कूपमण्डूकैर्न वेदेषु विज्ञानादिविषया बीजरूपेणाऽपि सम्भाविता मन्यन्ते, इत्याश्चर्यम्। शीर्षकमिह न जाने किं

सब विद्याओं से समुज्ज्वल, सत्य, विशद विषय वेद में हैं, उन विषयों के प्रदाता परमेश्वर ने बीजरूप में जीवों के लिये सब कुछ प्रदान किया है। श्रेष्ठ प्रज्ञ ऋषिवर दयानन्द ने इसका अनुवचन किया है। अतः तत्तद् विषयों को जानने वाले लोगों को वेदों के द्वारा नौविमानादि विद्या जाननी वा प्राप्त करनी चाहिये।

पृ० १४०८, पं० ८—आक्षेप—"इन मन्त्रों का आपातरमणीय गलत अर्थ करके दयानन्द ने इनमें नाव, विमान आदि बनाने की शिल्पविद्या के वर्णन की बात सिद्ध की है, यह प्रतिपादन भी इसलिये गलत है, कि यहां इनके निर्माण की विधि वर्णित नहीं की है। दयानन्द के अर्थ से वेद में अराजकता उत्पन्न होके वेद ही अश्रद्धेय हो जायेगा" इत्यादि।

समा०—आक्षेप केवल यह सूचना दे रहा है कि 'मुंह है तो इष्ट अनिष्ट कुछ भी बकते रहो'। महाशय ! वेद तो महाराजाज्ञा है। जिस प्रकार राजा किसी इंजीनियर को भवन आदि बनाने की आज्ञा देता है, तो उसका नक्शा या निर्माणविधि नहीं बताता, निर्माणविधि तो उसके गवेषकों का विषय है। वस्तुतः ऋषि के उत्तम अर्थों के द्वारा ही वेदों की प्रतिष्ठा बढ़ी है। अल्पदृष्टि कूपमण्डूकों द्वारा वेदों में विज्ञानादि विषय बीजरूप में भी सम्भावित नहीं माने जाते,

विशिष्टमभिसन्धाय तेन विपरिवर्तितम्, 'नौविद्याविमानादिविद्याविषये विचारः' इति।

द्वयोर्मन्त्रयोः सतोः 'मन्त्राणामेषाम्' इति वचनमशुद्धम्। ऋषिणा 'तुग्रो हेत्यादिषु मन्त्रेषु' इति निर्देशाद् 'एषामभिप्रायः' इति समेषामेतत्प्रकृतानां कृते।

एकतरं स्वयमाक्षिपति यन्न कश्चित् शब्द एतदर्थं बोधयति, अपरतो ब्रूते—"समराङ्गणसूत्रधारादिनिर्दिष्टपद्धतितुल्याऽपि काचित् पद्धतिरनेन व्याख्यानेन न सिद्ध्यति" इति। महर्षेस्त्वत्र प्रयास एष एव यत् सर्वासां सत्यविद्यानां मूलं वेद

यह आश्चर्य है। यहां शीर्षक में नौ और विमानादि के बीच में 'विद्या' शब्द बढ़ाकर शीर्षक क्यों बदला गया ? कारण स्पष्ट नहीं किया।

श्री करपात्रीजी द्वारा इनमें दो मन्त्रों के लिये 'मन्त्राणामेषाम्' यह बहुवचन का प्रयोग करना अवैयाकरणत्व का सूचक है। ऋषि ने 'एषाम्' 'इनका अभिप्राय' इस प्रकरण के सभी मन्त्रों का लक्ष्य कर किया है, यह 'तुग्रो हेत्यादिषु मन्त्रेषु' इस बहुवचन पाठ से सिद्ध है। आपके वे सभी मन्त्र लक्षित नहीं हैं, क्योंकि आपने 'अनारम्भणे' इन दो तथा अन्यों के लिए 'इत्यस्यापि मन्त्रद्वयस्य न तदर्थसाधकत्वम्' 'ये दो मन्त्र भी तुम्हारे अभीष्टार्थ को सिद्ध नहीं करते' इत्यादि रूप में आगे कहा है।

लेखक कहता है कि जो शत्रु का हनन करके अपने विजय-बल धनादि पदार्थ और जिस-जिस स्थान में सवारियों से अत्यन्त ग्रहण करना चाहें, उन सबों का नाम 'तुग्र' है। यह अर्थ करना अर्थों में अराजकता पैदा करना है।

उत्तर—आप इस 'तुजि' धातु के सभी अर्थों का मनन नहीं कर सके। अनुसन्धानकर्ता तो हिंसा, बल, आदान व निकेतन (स्थान) इन चारों अर्थों का नौ आदि सवारियों के आविष्कार के चिन्तनक्षणों में विशेष मनन करके ऋषि अर्थ की विशेष प्रशंसा करेगा। कारण यह है कि शत्रु का हनन (हिंसा), अपना विजय (बल), जिस-जिस स्थान (निकेतन) पर तथा धनादि पदार्थ ग्रहण (आदान) ये चारों ही 'तुग्र' हैं।

आक्षेप—"व्याख्या के अनुसार उतनी बातें भी नहीं मालूम हो पातीं, जितनी कि समराङ्गणसूत्रधार प्रभृति ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं।"

समा०—ऋषि का उद्देश्य नौ विमानादि विद्याओं की वेदमूलकता सिद्ध करना है, न कि समराङ्गणसूत्रधार आदि ग्रन्थों की बातों को विस्तृत रूप में

https://t.me/DharmaSamrat

एवेति, परं भवादृशाः कुण्ठितधियः तदपि नानुमोदन्ते ।

वेदे हि सर्वथा यौगिकार्थस्य गृहीतत्वाद् 'जर्भरी, तुर्फरी' इत्यनयोरर्थौ प्रदर्शिताविह । भवता तु सायणाचार्यकृतोऽर्थोऽभिनन्दितो यत्र तुग्रोऽश्विनोः प्रियः कश्चिदैतिहासिको राजर्षिः प्रदर्शितः । यश्च "द्वीपान्तरवर्त्तिभिः शत्रुभिरत्यन्तमुपद्रुतस्तेषां जयाय स्वपुत्रं भुज्युं सेनया सह नावा प्राहैषीत् । सा च नौर्मध्ये समुद्रमतिदूरं गता भिन्ना जाता । तदानीं स भुज्युरश्विनौ तुष्टाव । स्तुत्या संतुष्टौ तौ सेनया सहितं भुज्युमात्मीयासु नौष्वारोप्य पितुस्तुग्रस्य समीपं त्रिभिरहोरात्रैः प्रायायामासतुः" इति । मतिमन् ! एतेन भौतिकेनेति हासेन किं वेदमहिमा नावसितो जायते । एतावता तु सर्गादौ परमेश्वरेण प्रदीयमानं ज्ञानं न सिद्ध्यति ।

वस्तुतस्तु प्रशस्तप्रयासोऽपि आचार्यसायणः कर्मकाण्डावर्त्तपाशितमतित्वात् तत्सङ्कुचितदृक्त्वाच्च न वेदतत्त्वार्थमवागमत् । आचार्यसायणेनेह तुग्रनामा कश्चिद् राजर्षिरुल्लिखितः परन्तु ऋग्वेदे (६।२०।८, ६।२३।३) इन्द्रद्वारा हतस्तुग्रनामा कश्चिदसुरो मतः । एष कीदृशो मतिभ्रमः ?

उद्धृत करना । परन्तु कुण्ठितबुद्धि लोग इस वेदमूलकता का खण्डन करने पर जुटे हुए हैं ।

वेद में सर्वथा यौगिक अर्थ का ग्रहण होने से 'जर्भरी' और 'तुर्फरी' इनके भरण-पोषण करनेवाले तथा मारनेवाले, ये अर्थ यहां प्रदर्शित किये गए हैं । कर-पात्रीजी ने सायणाचार्यकृत अर्थ पसन्द किया है, जिसमें अश्विनी को प्रिय किसी ऐतिहासिक राजर्षि तुग्र की कहानी कही गई है, जो कि "द्वीपान्तरवर्त्ती शत्रुओं के द्वारा उसने अत्यन्त पीड़ित होकर उनके जीतने को अपने पुत्र भुज्यु को सेना के सहित नाव से भेजा । वह नौ समुद्र में दूर पहुंच कर भग्न हो गई । तब उस भुज्यु ने अश्विनी को सन्तुष्ट किया । स्तुति से सन्तुष्ट वे दोनों सैन्यसमेत भुज्यु को अपनी नौकाओं में चढ़ाकर पिता तुग्र के पास तीन रात-दिन चलकर ले गये ।" यह कथा दी है । बुद्धिमन् ! कुछ तो विचार होता कि इस भौतिक इतिहास से क्या वेद की महिमा समाप्त नहीं होती ? इससे तो परमात्मा द्वारा सृष्टि के आदि में दिया यह ज्ञान सिद्ध नहीं होता ।

वस्तुतः प्रशस्त प्रयास होने पर भी सायण कर्मकाण्ड के आवर्त्त में फंसे होने से और उससे सङ्कुचितदृष्टि होने से वेद के तत्त्वार्थ को न समझ सके । आचार्य सायण ने यहां 'तुग्र' नामक कोई राजर्षि लिखा है । परन्तु 'स वेतसुं दशमायं' (ऋक् ६।२०।८) तथा 'पाता सुतमिन्द्रो' (ऋक्० ६।२३।३) में इन्द्र द्वारा मारा गया 'तुग्र' नामक असुर माना है । उनका यह कैसा मतिभ्रम है ?

ये नाम शिल्पविद्याज्ञातारस्तेषामिदं मतं विद्यते यत् सूर्याचन्द्रमसौ अश्विनौ कथ्येते । यतो हि सूर्यस्य चन्द्रमसश्चाकर्षणादिगुणैर्जगतः पृथिव्याः पदार्थ संयोग-वियोगाभ्यां क्षयवृद्ध्यादिभिश्च श्रेष्ठा गुणा जायन्त इति । (नि० १२।१)

अपि च 'जर्भरी तुर्फरीतू' अपि अश्विनौ भवतः । बिभ्रतौ भर्तारौ विमानादियानानां धारयितारौ, तुर्फरीतू अर्थाद् हन्तारौ अर्थात् कलायन्त्राणां हननेन ताडनेन घर्षणेन चालनेन वा उत्पन्नवाय्वग्निजलपार्थिवानां युक्तिपूर्वकप्रयोगेण विमानादियानानां धारणं पोषणं तेषु वेगादयो वा जायन्ते ।

पृ० १४०९, पं० ४—"स्वेच्छया पुरुषव्यत्ययो वचनव्यत्ययो वा न युक्तः ।" इत्यपि प्रज्ञाविरहितं वचः, सत्यार्थसिद्ध्यर्थं वेदेषु पुरुषवचनव्यत्ययस्य व्याकरणेनानुमतत्वात् । एष आरोपोऽस्यैव मनोमान्यता ।

पं० ६—"राजपुरुषैर्व्यापारिभिश्च व्यवहारार्थं समुद्रमार्गेण गमनागमने नित्यकार्ये" इत्यर्थस्तु ऊहावद्बुद्ध्यैव सम्भवः । तदर्थनिष्पीडनस्य न भावत्कमति-

---

जो शिल्पविद्या के जाननेवाले हैं, उनका यह मत है कि सूर्य और चन्द्र अश्विनी हैं, क्योंकि सूर्य और चन्द्रमा के आकर्षणादि गुणों से पृथिवी के पदार्थों में संयोग-वियोग से क्षय, वृद्धि आदि के द्वारा श्रेष्ठ-गुण उत्पन्न होते हैं । (नि० १२।१) ।

तथा जर्भरी और तुर्फरी भी अश्विनी होते हैं, जो कि विमानादि के धारक हैं और 'तुफरी' हन्ता अर्थात् कलायन्त्रों के हनन, ताडन, घर्षण व चालन से उत्पन्न वायु, अग्नि, जल, पार्थिव पदार्थों के युक्तिपूर्वक प्रयोग करने से विमानादि यानों का धारण, पोषण वा उनमें वेगादि उत्पन्न होते हैं ।

पृ० १४०९, पं० ४—"ये मनमाने तरीके से मन्त्रों के पुरुष और वचन में परिवर्तन करना ठीक नहीं" यह कथन प्रज्ञाहीन का है । वेदों में जब व्याकरण द्वारा उक्त अर्थ सिद्ध्यर्थ यह व्यत्यय अनुमत है, तो मनमानी की बात हर जगह कह देना भी इस लेखक की मनमानी ही है ।

पं० ६—पूर्वपक्ष—आगे भी यह कथन है कि "जिनसे उनके मालिक अथवा नौकर आते-जाते हैं, व्यवहारी और राजपुरुष इन सवारियों से आवें-जावें । यह अर्थ किसी शब्द से नहीं निकलता ।"

उत्तरपक्ष—महाशय ! निकले तब जब अर्थ निकालनेवाला यन्त्र बुद्धि पास में हो, वह अकर्मण्य, जडीभूत, काईग्रस्त पड़ी है । आपने 'आत्मन्वतीभिः'

https://t.me/DharmaSansar

क्षमता, जडोपासनया जडीभूतत्वात्। अत्र हि 'आत्मन्वतीभिः' 'अन्तरिक्षप्रुद्भिः' इतिशब्दौ तदर्थव्यञ्जकौ।

पृ० १४०९, पं० १२—"अथातो द्युस्थाना देवतास्तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ। यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेनाऽन्यो ज्योतिषाऽन्योऽश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः। तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येके, सूर्याचन्द्रमसावित्येके' (निरुक्त १२।१) इत्यनेनाऽपि न त्वदिष्टसिद्धिः। तथा जर्भरी भर्त्तारावित्यर्थः, तुर्फरी हन्तारौ, इत्यादीनि वचनानि न त्वदर्थसाधकानि, अन्यार्थत्वात्।"

इदमस्य वचो न सम्यक्, एतदबुद्धेरश्वमुखाश्विनीशब्देन बद्धत्वात्, एतदग्रे सम्प्रबुद्धकशाघातेनाऽप्यप्रचलितत्वात्। 'तुग्रो ह' इति मन्त्रे 'अश्विना' शब्दस्यान्याद्यर्थस्य निरुक्तप्रमाणपुष्टस्य महर्षिणाङ्गीकृतत्वात्, तस्य च सर्वथा सङ्गतत्वात्। अश्विनौ हि सूर्यश्चन्द्रश्च, आद्येन ज्योतिरितरेण रसः।

शब्द पर कुछ भी विचार नहीं किया। आत्मा का अर्थ स्वयं तथा अपने लोग नौकर आदि होते हैं, यह स्पष्ट है। अन्तरिक्ष (अवकाश, आकाश) पदपूर्वक गत्यर्थक प्रुङ् धातु से 'अन्तरिक्षप्रुद्भिः' सिद्ध होता है, जिससे आकाश में आना-जाना भी सिद्ध है।

पृ० १४०९, पं० १२—यह कहना कि "'अथातो द्युस्थाना देवताः' इनका अर्थ दयानन्दकृत ठीक नहीं और न 'भर्तारौ जर्भरी' आदि से दयानन्द का अभीष्ट सिद्ध होता है, क्योंकि इनका अन्य अर्थ है।" यह ठीक नहीं है; क्योंकि आपकी बुद्धि तो अभी तक घोड़े के मुखवाले अश्विनी शब्द से ही बंधी हुई है। इससे अधिक आगे कोड़े मारने पर भी नहीं चल सकती। ऋषि ने 'तुग्रो ह' मन्त्र के अश्विना शब्द के अग्नि, जलादि अर्थ की पुष्टि में निरुक्त (१२।१) का प्रमाण दिया है। ऋषि के अर्थ सर्वथा बुद्धिसंगत हैं। 'अश्विनौ' वे ही हैं जिन दोनों में एक से ज्योति तथा दूसरे से रस व्याप्त करता है। और्णवाभ निरुक्तकार कहता है कि 'अश्व' से 'मतुप्' अर्थ में 'इनि' प्रत्यय करने पर 'अश्विनौ' की सिद्धि होती है, एवम् इस पक्ष में 'अश्विनौ' का अर्थ 'वेगवन्तौ' होगा।

ये अश्विनौ देवता कौन से हैं?

(क) कई कहते हैं 'द्यावापृथिवी' है क्योंकि द्यौ (सूर्य) प्रकाश से और पृथिवी अन्नरस से सबको व्याप्त करती है, अथवा ये दोनों वेगवान् हैं।

(ख) कई कहते हैं दिन और रात हैं; कुछ का कथन है राजा-रानी, उपदेश्य-उपदेशक आदि भी अश्विनी हैं।

पृ० १४१०, पं० ११—यदुक्तम्—"एतावता (सायणदर्शितभाष्येण) अत्युत्कृष्टतीव्रगामिबहुजनधारणसमर्थपोतादिव्यवस्था ज्ञातुं शक्यते। नात्र कस्यचिदपि यानस्य निर्माणविधानमस्ति, तादृशशब्दाऽभावात्।" इति तु सत्यम्, यतो बुद्धुजनस्तु उदितं भास्करम्, अधिश्रयणोपरिस्थवाष्पायमानजलभृतपिठरं, शैलात् पतन्तीं जलधारां निभाल्य नोद्योगस्फुरणधियं धारयते; परं प्रत्युत्पन्नमनीषोन्मनीषी तु सौरचुल्लिकादिकं वाष्पयानाञ्जनादिनिर्मितं विद्युत्समुत्पादं प्रकल्प्य पेषण्यादियन्त्रचालनं कल्पयितुं समर्थो भविष्यत्येव। शब्दाभावेऽपि 'अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः'। सत्यमिदम्—

निखिला रूपवन्तो वै, स्वकरैर्विधिना कृताः।
एको नाऽभाग्यशीलोऽयम्, संविदाकार-निर्मितः॥

धन्या विद्यतेऽस्य संग्रहालययोग्यधिषणा।

पृ० १४१०, अनु० २, पं० १६—यदुच्यते—"चतुर्थमन्त्रे मन्त्रार्थं व्याकुर्वता दयानन्देन तिस्रः क्षपाः त्रिरहा पतङ्गैः समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे इत्यादिशब्दानां

पृ० १४१०, पं० ११—सायण-भाष्य को उद्धृत करके आपने लिखा है कि "इससे उत्कृष्ट तीव्रगामी बहुजनधारणसमर्थ पोतादिव्यवस्था तो जानी जा सकती है, किन्तु यहां यान का निर्माण-विधान नहीं है।" यह बात ठीक है, पर कोई ही दुर्बुद्धि होगा जो पोतादि देखकर भी या उसका नाम व व्यवस्था सुनकर बनाने की बुद्धि जाग्रत न करे। विद्वज्जन तो सूर्य की उदित किरणों से सौर ऊर्जा द्वारा चुल्लिका का निर्माण कर लेते हैं; चूल्हे के ऊपर चढ़ी हुई बटलोई में उबलते पानी की भाप से ढक्कन को कूदता देख इंजन का निर्माण कर लेते हैं, पर्वत से गिरती जलधारा से विद्युत्-निर्माण करते व चक्की चला लेने की कल्पना व निर्माण करते हैं। शब्द के अभाव में भी अनुक्त का भी पण्डितजन ऊहन कर लेते हैं और अनुर्वरमस्तिष्क कहते रह जाते हैं कि कोई निर्माणविधि का शब्द तो है ही नहीं। इनके विषय में सत्य है—

सर्वेऽपि रूपवन्तो हि स्वकरैर्विधिना कृताः।
एको नाऽभाग्यशीलोऽयं संविदाकारनिर्मितः॥

अर्थात्—सब हसीनों को बनाया हाथ से अल्लाह ने।
एक यह कम्बख्त, (है) 'जो' ठेके पै ढलवाया गया॥

धन्य है संग्रहालययोग्य आपकी बुद्धि को।

पृ० १४१०, अनु० २, पं० १६—यह कहना कि "'तिस्रः क्षपाः' इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए दयानन्द ने 'तिस्रः क्षपास्त्रिरहा पतङ्गैः समुद्रस्य

https://t.me/DharmaSamrat

स्पर्शोऽपि न कृतः।" इति-लेखकस्तु अद्भुतं निर्भरं बिभर्त्ति, यदयं पक्षपातपिशितेक्षणो विलक्षणविचक्षणः, एतत्पक्षरक्षणक्षमताऽखर्वगर्वधरा विद्वद्वाहिनी अपि नाक्षिलक्षीकृतवती। महर्षिस्तु व्याख्यातवान्, यथा—

"तिसृभो रात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैः (आर्द्रस्य) जलेन पूर्णस्य समुद्रस्य (धन्वन्) स्थलान्तरिक्षस्य पारे पतङ्गैः प्रतिपातं वेगेन गन्तृभिः" इति। वस्तुतो नायं क्षपा अहानि वा विविनक्ति न चाऽन्धपक्षपातगर्त्तावर्त्तभ्रान्तमतिर्जनचक्षुषोर्धूलिप्रक्षेपणाद् विरमति।

पृ० १४१०, पं० १७—यश्चाध्यात्मिकोऽर्थोऽन्विष्यते स समग्रोऽस्मभोधिन भावत्कघटनीमतिस्तरतरणीयः, परमिदमपि परमं प्रसादमापादयति मे यत् क्षणमपि मन्त्राणां यज्ञपरकतां परित्यज्य ब्रह्मज्ञानपरकाऽपि दिशाऽङ्गीक्रियते भवता। महामते ! एषा अध्यात्मार्थकरणसरणिरपि महर्षिणैवाविष्कृता मुहुः। यद् भौतिकीमपहाय एतां सरणिं भवानपि अवलम्बते। अस्तु, सोऽर्थोऽविकलः प्रणिभाल्यताम् एतत्प्रकरणगतानां मन्त्राणाम्, यः परमश्रद्धेयपण्डितप्रवरशिवशङ्करैः कृतः।

धन्वन्नार्द्रस्य पारे' इत्यादि शब्दों को छुआ भी नहीं" सर्वथा मिथ्या है तथा अतितराम् आश्चर्यकर है। इनकी यह मांसल दृष्टि विलक्षण तथा विचक्षण है। इनके पक्ष की रक्षा-सामर्थ्य का बहुत गर्व करनेवाली पण्डितसेना को भी दिखाई नहीं पड़ा। अन्धा भी टटोल कर बता और दिखा सकता था। अब देखिये, महर्षि ने तो इसकी व्याख्या की है। यथा—

"तिसृभो रात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैः (आर्द्रस्य) जलेन पूर्णस्य समुद्रस्य (धन्वन्) स्थलस्यान्तरिक्षस्य पारे" अर्थात् 'तीन रात और तीन दिनों में जल से परिपूर्ण समुद्र, स्थल और अन्तरिक्ष के पार में वेग से जानेवाले' इस संस्कृतभाष्य के पढ़ने में सभी की आंखें बन्द हो गईं। वस्तुतः इनमें से किसी को ये दिन और रात का अन्तर नहीं दीखा और अन्ध पक्षपात के गड्ढे के जलावर्त में भ्रान्तमति लोगों की आंखों में धूलि झोंकने से तब भी नहीं रुक रहे हैं।

पृ० १४१०, पं० १७—यह कथन कि "मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ करनेवाले इसका यह अर्थ करते हैं" पर वह वेद का विशाल-समुद्र, वेदों में परा विद्या को न माननेवाले आपकी क्षुद्र मति की घन्नई (घटनी) से तरने योग्य नहीं है। फिर भी हमें प्रसन्नता है कि क्षणभर को ही सही यह लेखक यज्ञकर्मपरक अर्थों को छोड़कर ब्रह्मज्ञानपरक दिशा को भी मान लेता है। महामते ! यह अध्यात्मपरक अर्थ करने की सरणि भी महर्षि ने ही आविष्कृत की है, जो भौतिकी को छोड़ कभी-कभी आप भी इसका अवलम्बन करने लगते हो। अस्तु, यहां इन मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ भी अविकलरूप में प्रस्तुत किया जाता है। देखिये, यह अर्थ परम

यथा—

यस्मिन् यस्मिन् सूक्ते अश्विदेवताका मन्त्रास्तेषु जीवोद्धारस्य वर्णनं कृतम्। एतेषां चेतनजीवानां सुखार्थं सूर्यचन्द्रानलानिलजलाकाशमेघादिपदार्थाः सृष्टाः सन्ति। तत्र विद्याभिर्गाथाभिर्वर्णितो विषयः। इहापि आख्यायिकायां कतिपयविलक्षणाः शब्दार्थाः सन्ति, यैर्झटित्यध्यात्मार्थाः प्रतीयमाना भवन्ति। ते चेमे तुग्रः, भुज्युः, तिस्रः, क्षपाः, त्रिरहा, त्रिभिः रथैः, शतपद्भिः, षडश्वैः, शतारित्रां नावम्, अजोहवीत्, तोग्र्यः समुद्रं जगन्वान् इत्यादयः।

तुग्रो हि नाम कर्म, यो वै न्यायकरणे उग्रः सोऽपि तुग्रः। भुज्युर्हि भोक्ता जीवात्मा, तथा हि 'भुनक्ति आत्मानं पालयतीति भुज्युरात्मा' यः पुरुषार्थेन आत्मानं रक्षति। इह अहोरात्रात्मकः कालस्त्रिके विभक्तः। अतस्तिस्रः क्षपाः त्रीणि च दिनानि इत्युक्तम्। रथत्रयमपि इदं शरीरमेव कटेर्नीचैरेकः कटेरुपरि चाग्रीवं द्वितीयः। ग्रीवाया उपरि तृतीयो रथः। अथवा भौतिकैन्द्रियिकप्राणमयास्त्रयो रथाः, स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरत्रयं वा रथत्रयम्। एतेषां रथानामायुषः शतवर्षाणि शतचक्राणि भवन्ति। पञ्चेन्द्रियैः सह मनःषष्ठात्मकाः षडश्वा रथेषु युक्ताः सन्ति। इदं शरीरमेव रथो नौका वापि, यत्र शतवर्षपरिमितायुष एकैकवर्षमेव चक्रम्

श्रद्धेय पण्डित-पुङ्गव श्री शिवशङ्कर काव्यतीर्थ द्वारा किया गया है। जैसे—

जिस-जिस सूक्त में अश्विनी देवतावाले मन्त्र हैं, उन-उन में जीवों के उद्धार का वर्णन किया गया है। इन चेतन जीवों के सुख के लिये सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, जल, आकाश, मेघ आदि पदार्थ सृष्ट हैं, वहां पर तीन प्रकार की गाथाओं के द्वारा यह विषय वर्णित किया गया है। इस व्याख्या में भी कतिपय विलक्षण शब्दार्थ हैं, जिनसे शीघ्र ही अध्यात्मार्थ प्रतीयमान होते हैं। वे हैं; तुग्रः, भुज्युः, तिस्रः, क्षपाः, त्रिरहा, त्रिभिः रथैः, शतपद्भिः षडश्वैः, शतारित्रां नावम्, अजोहवीत्, तोग्र्यः समुद्रं जगन्वान् इत्यादि।

तुग्र कहते हैं कर्म को। जो न्याय करने में उग्र है, उसको भी तुग्र कहते हैं। भुज्युः अर्थात् भोक्ता जीवात्मा, जो स्वयं का पालन करता है, जो पुरुषार्थ द्वारा आत्मरक्षा करता है। यहां अहोरात्रात्मक काल त्रिक में विभक्त किया गया है। इसलिये तीन रात तथा तीन दिन कहा गया है। इस शरीर को ही रथत्रय कहा गया है। कटि से नीचे तक एक, दूसरा कटि से ऊपर ग्रीवा तक, और ग्रीवा से ऊपर तीसरा। अथवा भूतसम्बन्धी इन्द्रियसम्बन्धी तथा प्राणमय—तीन रथ मान लिये जायेंगे। इन रथों के आयु के सौ वर्ष शतचक्र हैं। पांच इन्द्रियों के साथ छठा मन, ये ६ अश्व रथों में जुड़े हैं। यह शरीर ही रथ वा नौका भी है, जिसमें

https://t.me/Dhaimcam rai

अरित्रं च।

इह भूमेः समुद्रस्य चोभयोरपि निरूपणमस्ति, अतः शरीरम् उपमिमीते रथनौकाभ्याम्। मातुर्गर्भस्थानमेव महासमुद्रो यश्च निरालम्बो निराश्रयश्च। फलतः समग्रस्यायमाशयो यज्जीवाः संसारे समायान्तीति प्रत्यक्षम्। आस्तिकानामेष विश्वासः सिद्धान्तश्च यत् शरीराद् भिन्नः कश्चिज्जीवनामा पदार्थोऽस्ति। यद्यपि शरीररहितकेवलचेतनजीवस्य नानुभवं वयं कर्तुं शक्नुमस्तथापि ईश्वरानन्तराज्ये क्वाऽपि केवलचेतनजीवा अपि कस्याञ्चिदवस्थायाम् अवश्यं भविष्यन्ति। तेषां शुद्धजीवानामेतद्देहाश्रयणं कर्मकारणमेव।

एतत्प्रकरणेऽलङ्काररूपेण वर्ण्यते यदेतस्य जीवस्य भुज्योः कर्मैव पिता, यतः शिष्टानि कर्माण्येव गमनागमनादिकामनाः कर्तुं प्रेरयन्ति। इदं कर्मैव इतस्ततो नयते रक्षति वाऽपि जीवम्। कर्मैव च पिता प्रियपुत्रं जीवं मातृगर्भरूपमहासमुद्रे त्यजति। यत्र नावलम्बः कश्चन। सर्वथा शून्यं निर्जनं च यत्। तत्र ब्रुवन्नेष भगवन्तं प्रार्थयते तथा अहोरात्रात्मकाश्विदेवौ अत्रायातः, धैर्यमिव दिशतः। उदरमहासमुद्रे च शरीररूपमेकं नावं रचयतः। यत्र आयुषोऽरित्राणि शतानि। कालेन मातृकुक्षिसागरपारमीयवान् जीवो बाह्यसंसारसागरमपि तरन् ईश्वरं

शतवर्षपरिमित आयु के सौ चक्र वा अरित्र हैं।

यहां पर भूमि और समुद्र दोनों का ही निरूपण किया गया है। इसलिये रथ और नौका से शरीर की उपमा दी गई है। माता का गर्भस्थान ही महासमुद्र है, जो निरालम्ब व निराश्रय है। फलतः सम्पूर्ण का यह आशय है कि जीव संसार में आते हैं, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। आस्तिकों का यह विश्वास और सिद्धान्त है कि शरीर से भिन्न जीव नाम का पदार्थ है। यद्यपि शरीररहित केवल जीव का हम अनुभव नहीं कर सकते, तब भी ईश्वर के अनन्त राज्य में कहीं पर केवल चेतन जीव भी किसी भी अवस्था में अवश्य होंगे ही। उन शुद्ध जीवों के इस देह के आश्रित कर्म ही जन्म में कारण बन जाते हैं।

इस प्रकरण में अलङ्काररूप से वर्णित किया जा रहा है कि इस भुज्यु जीव का कर्म ही पिता है; क्योंकि अवशिष्ट कर्म ही गमनागमन आदि कामनाय करने के लिये प्रेरित करते हैं। यह कर्म ही रक्षा करता है और जीव को इधर उधर ले जाता है। कर्म-पिता जीव-पुत्र को माता के गर्भरूप समुद्र में लाकर छोड़ता है, जहां पर कोई अन्य उसका अवलम्बन नहीं, जो सर्वथा शून्य निर्जन है। वहां डूबता हुआ यह जीव भगवान् से प्रार्थना करता है तथा अहोरात्ररूप अश्विदेव यहां आते हैं और धैर्य प्रदान करते हैं, जहां आयु के सौ अरित्र (पतवार) हैं, वह उदररूप महासमुद्र में एक नाव की रचना करते हैं। समय से मातृकुक्षिरूप महासागर के

सन्निधत्ते।

पृ० १४११, पं० ९—यदुक्तम्—"सृण्येव०' इत्यत्राऽपि न नौविमानविद्या, किन्त्वश्विनोरेव वर्णनम्" तदपि उन्मत्तप्रलपितमेव, यतो न ऋषिः क्वाऽप्येतेन मन्त्रेण साधितवान् तथा। स तु अश्विनोरेवार्थमुदधरत्। (निरुक्त अ० १३। खं० ५) इत्यनेन।

पृ० १४१३, अनु० २—यदाह—"यमश्विना' इत्यस्यापि व्याख्यानं न सङ्गतम्, उदक्षरत्वात्" इति, तदपि रूढिकीलकनिबद्धमतित्वादेवोक्तम्, ऊहितसाकाङ्क्षार्थस्य सर्वप्रकारेण सङ्गतत्वात्।

विद्वांसः! सायणान्धानुसरणं कुर्वतोऽस्य श्रीकरपात्रिणः विलक्षणप्रज्ञानिदर्शनं समीक्षन्ताम्, यदयम् 'अश्विभ्याम्' इत्यनेन कस्मैचिदितिहासकल्पिताय राजर्षये श्वेतमश्वं दापयति, अश्वादिशब्दानां योगलब्धानर्थानूहन्। एतन्मते पेदुनामको राजर्षिरेव, शीघ्रगमनार्थम् अनादृणन्नस्ति निघण्टूक्तम्, वेदे निजार्थमा-

---

पार पहुंचा हुआ जीव बाह्य संसार-सागर को तैरता हुआ ईश्वर के पास ठहरता है।

पृ० १४११, पं० ९—"सृण्येव' इस मन्त्र में नौ-विमानादिविद्या वर्णित नहीं है" यह कथन उन्मत्तप्रलाप जैसा है; क्योंकि ऋषि ने कहीं भी इससे उक्त विद्या नहीं दर्शाई है, प्रत्युत 'अश्विनी' के अर्थ दिखलाये हैं।

पृ० १४१३, अनु० २, पूर्वपक्ष—"यमश्विना' इस द्वितीय मन्त्र का अर्थ भी सही नहीं है, क्योंकि इस तरह से योग की प्राप्ति होती है, अतः सभी मनुष्यों को इसके लिये प्रयत्न करना चाहिये। दयानन्द का यह अर्थ मन्त्राक्षरों के सर्वथा विपरीत है।"

उत्तरपक्ष—इस लेखक का उक्त कथन रूढ़ि के खूंटे से बद्धमति के कारण ऐसा है। यहां ऋषि ने साकांक्ष अर्थ का ऊहन किया है, अतः सब प्रकार से संगत है।

विद्वान् लोग सायण का अन्धानुकरण करनेवाले श्री करपात्री की विलक्षण बुद्धि का नमूना देखें कि यह 'अश्वि' किसी इतिहासकल्पित राजर्षि के लिये श्वेत अश्व दिलवा रहा है, जब कि अश्वादि के यौगिक अर्थों का बिलकुल ऊहन नहीं किया गया है। ये 'पेदु' का रूढ्यर्थ 'राजर्षि' कर रहे हैं, जब कि इसके शीघ्रगमनार्थक यौगिक अर्थ की उपेक्षा की जा रही है, यह निघण्टु के विपरीत है। आपका यह कथन सर्वथा मूलधातु से विद्रोह कर रहा है, 'हव्य और अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है'। कठिनाई यह है कि आप वेद पर भी अपने मस्तिष्क के पूर्वा-

https://t.me/DharmaSamrat

रोपयन्।

यदुच्यते—"पाश्चात्यविज्ञानचाकचक्यचकितबुद्धित्वात्, पाश्चात्यविज्ञान-मृगमरीचिकाद्यमानार्थान्वेषणमसङ्गतमेव।" इतिबुद्धिमान्द्यत्वादुपेक्ष्यम्। आर्याणां प्राचीनतमवाङ्मये ततोऽप्यधिकं विज्ञानमासीदेव, तदविकलमालोक्य नवनवोन्मेष-शालिप्रतिभया वेदादेव आविष्कृतमेतदिति धारणया बीजानि समुपलभ्य वेदे तानि व्याचष्टे महर्षिस्तु। यद्यपि सायणाचार्यो वेदप्रसाराय प्रशस्यः, परन्तेन सर्व-मन्त्राणां केवलं यज्ञार्थमभिप्रवर्तनं निर्दिष्टमित्येव महाननर्थः कृतः। तदनुयायिनो-ऽपि भवादृशाः सङ्कीर्णधिषणा एव।

महाशय! यदि वेदेषु नाभविष्यन् विज्ञानविषयास्तदा किमेषोऽलीको लेखो यद्भारद्वाजविरचिते 'यन्त्रसर्वस्व' नामके ग्रन्थे प्रथमप्रकरणे प्राचीनविज्ञान-विषयाणां पञ्चविंशतिग्रन्थानां चर्चाऽस्ति। येषु अगस्त्यकृतं 'शक्तिसूत्रम्', ईश्वर-कृता 'सौदामिनीकला', भारद्वाजकृतम् 'अंशुतन्त्रम्' 'आकाशशास्त्रम्', शाकटायन-कृतं 'वायुतत्त्वप्रकरणम्', नारदकृतं 'वैश्वानरतन्त्रम्' 'धूपप्रकरणम्' आदीनि

ग्रहग्रस्त रूढ्यर्थ योपना चाहते हैं, जब कि 'हु' धातु दान और आदान अर्थ में है। वे हव्य अर्थात् देय आदेय धनादिक होते ही हैं।

आपका यह कथन कि "दयानन्द ने पाश्चात्य विद्वान् की मृगमरीचिका में पड़कर वेदमन्त्रों के अर्थ किये हैं" सर्वथा असम्भव है। यह करपात्री का कथन उनकी मन्दबुद्धि का परिचायक है। आर्यों के प्राचीनतम वाङ्मय में पाश्चात्यों के चिन्तन से अधिक विज्ञान अब भी भरा हुआ है, इस बात को महर्षि की सूक्ष्मा-वगाहिनी नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि ने देखा और समझा कि सारा विज्ञान वेद से ही आविष्कृत हुआ है। इस धारणा से ही विज्ञान के बीजों को प्राप्त कर उन्होंने उनकी सांकेतिक व्याख्या की है। यद्यपि सायणाचार्य वेदप्रसार के लिये प्रशस्य हैं, परन्तु उन्होंने सब मन्त्रों का केवल यज्ञ के लिये अभिप्रवर्तन माना, इससे महान् अनर्थ यह हुआ कि उन जैसे विद्वानों के भी मस्तिष्क पर रूढ़ि का ढक्कन लग गया और वे सङ्कीर्णमति रह गये। आगे स्वतन्त्र प्रज्ञा से कुछ न सोच सके।

महाशय! यदि वेदों में विज्ञान-विषय न होते, तो क्या इन महर्षियों का लेख मिथ्या है, जो कि भारद्वाज ऋषि विरचित 'यन्त्रसर्वस्व' नामक ग्रन्थ के प्रथम प्रकरण में प्राचीन विज्ञान विषयवाले २५ ग्रन्थों की चर्चा की है। जिसमें अगस्त्यकृत 'शक्तिसूत्र', ईश्वरकृत 'सौदामिनीकला', भारद्वाजकृत 'अंशुतन्त्र' 'आकाशशास्त्र', शाकटायन-कृत 'वायुतत्त्वप्रकरण', नारदकृत 'वैश्वानरतन्त्र'

सन्ति। तत्र वृत्तिकारो बोधानन्दो विलिखति—

निर्मथ्य तद्वेदाम्बुधिं, भारद्वाजो महामुनिः।
नवनीतं समुद्धृत्य, यन्त्रसर्वस्वरूपकम्॥
प्रायच्छत् सर्वलोकानामीप्सितार्थफलप्रदम्।
तस्मिन् चत्वारिंशतिकाऽधिकारे सम्प्रदर्शितम्॥
नाना-विमान-वैचित्र्य-रचनाक्रमबोधकम्।
अष्टाध्यायैर्विभजितं शताधिकरणैर्युतम्॥ इत्यादि।

विमानचालनद्वात्रिंशद्रहस्येषु कतिचनैवेह दिङ्मात्रं दर्श्यन्ते, तेन ज्ञायते यत् पाश्चात्यविदुषां वैज्ञानिककला भारतीयवैज्ञानिकाविष्काराद् हीनतरै-वासीत्।

(क) "कृतकरहस्यो नाम—विश्वकर्मच्छायापुरुषमनुप्रभृतिशास्त्रानुष्ठान-द्वारा तत्तच्छक्त्यनुसन्धानपूर्वकं तात्कालिकसङ्कल्पानुसारेण विमानरचनाक्रम-रहस्यम्।"

(५ ख) "गूढरहस्यो नाम—वायुतत्त्वप्रकरणोक्तरीत्या वातस्तम्भाष्टम-परिधिरेखापथस्य यासा-वियासा-प्रयासादिवातशक्तिभिः सूर्यकिरणान्तर्गततमः-

---

'धूपप्रकरण' आदि ग्रन्थ हैं। जिनके वृत्तिकार बोधानन्द लिखते हैं—

वेद समुद्र का निर्मन्थन करके महामुनि भारद्वाज ने 'यन्त्रसर्वस्व' रूप नवनीत, उद्धृत करके सर्वलोकों का अभीप्सित फल देनेवाला दिया है। उसमें ४० वें अध्याय-अधिकार में नाना विमानों की रचना का क्रम बताया है। जो अष्ट अध्यायों में विभाजित शताधिकरणों से युक्त है। इत्यादि विमान-चालन के ३२ रहस्यों में से कुछ यहां प्रदर्शित हैं। उससे ज्ञात होता है कि पाश्चात्य विमानों की वैज्ञानिक कला भारतीय वैज्ञानिकों की कला से हीनतर ही थी।

(क) कृतकरहस्य—अर्थात् उन ३२ रहस्यों में से कृतक नामक एक रहस्य है। विश्वकर्मा, छाया पुरुष मनु, मयदानव आदि शास्त्रकारों के बनाये हुए शास्त्रों का अनुशीलन करने से उन-उन धातु क्रिया आदि में जो सामर्थ्य है, उसका अनु-भव होने पर इच्छा के अनुसार नवीन विमान-रचना करनी चाहिए।

(ख) गूढ़रहस्य—वायुयन्त्र प्रकरण में कही हुई रीति के अनुसार वात-स्तम्भ की जो आठवीं परिधि रेखा है उसकी यासा, वियासा, प्रयासा इत्यादि

https://t.me/DharmaSamrat

शक्तिमाकृष्य तत्संयोजनद्वारा विमानाच्छादनरहस्यम् ।"

(९ ग) "अपरोक्षरहस्यो नाम—शक्तितन्त्रोक्तरोहिणीविद्युत्प्रसारेण विमानाभिमुखस्थवस्तूनां प्रत्यक्षनिदर्शनक्रियारहस्यम् ।"

(२२ घ) "सार्पगमनरहस्यो नाम—दण्डवक्रादि-सप्तविधमातरिश्वार्क-किरणशक्तीराकृष्य यानमुखस्य वक्रप्रसारण-केन्द्रमुखे नियोज्य पश्चात्तदाहृत्य शक्त्युद्गमननाले प्रावेशयत् । ततः तत्कीलीचालनाद् विमानस्य सर्पवद्गमन-क्रियारहस्यम् ।"

एवमग्रेऽन्यविमानस्थैः सहालापविधिः, अन्यविमानस्थचित्रा(रूपा)कर्षण-विधिः, दिशाम्पतियन्त्रसूचीद्वारा अन्यविमानगमनदिग्ज्ञानम्, अन्यविमानस्थ-जनमूर्च्छाकरणधूम्रक्षेपणविधिस्तथा कर्षणरहस्यो नाम स्वविमानसंहारार्थं पर-विमानपरम्परागमने विमानाऽभिमुखस्थ-वैश्वानरनालान्तर्गतज्वालिनी(गैस)-प्रज्वालनं कृत्वा सप्ताशीतिलिङ्ग(डिग्री)प्रमाणोष्णं यथा भवेत् तथा चक्रद्वय-कीलीचालनात् शत्रुविमानोपरि वर्तुलाकारेण तच्छक्तिप्रसारणद्वारा शत्रुविमान-

---

वायुशक्तियों के द्वारा सूर्यकिरण के अन्दर रहनेवाली जो अन्धकार शक्ति है, उसका आकर्षण करके विमान के साथ उसका सम्बन्ध करने पर विमान छिप जाता है।

(९ ग) अपरोक्षरहस्य—इस नवें रहस्य के अनुसार शक्तितन्त्र में कही नई रोहिणी विद्युत् के फैलाने से विमान के सामने आनेवाली वस्तुओं को प्रत्यक्ष देख सकता है।

(२२ घ) सार्पगमनरहस्य—इस बाइसवें रहस्य के अनुसार दण्ड, वक्र आदि ६ प्रकार के वायु और सूर्य की किरणों की शक्तियों का आकर्षण करके यान के मुख में जो तिरछा फेंकनेवाला केन्द्र है, उसके मुख में उन्हें नियुक्त करके पश्चात् उन्हें खींचकर शक्ति पैदा करनेवाले नाल में प्रवेश करना चाहिए। तब उसके बटन दबाने से विमान की गति सांप के समान टेढ़ी हो जाती है।

इसी प्रकार आगे भी अन्य विमान में स्थित लोगों के साथ बात करना, चित्र उतारना, दूसरे विमान की दिशा बताना, अन्य विमानस्थ व्यक्तियों को अचेत (बेहोश) करने को धूम्रक्षेपण तथा विमान-नाश करने के लिए शत्रु का विमान आने पर विमान के मुख में रहनेवाली वैश्वानर नाम की नली में ज्वालिनी (गैस) जला सतासी लिङ्ग (डिग्री) प्रमाण गर्मी हो, तब दोनों चक्रों की कीली (बटन) चलाकर शत्रुविमान पर गोलाकार से उस शक्ति को

नाशनक्रियारहस्यम् ।

एवं निश्चप्रचम्, यद् वेदोदधिमेव निर्मथ्यास्माकं पूर्वजा अतारसूचनायन्त्रम्, दूरभाषदर्शनयन्त्रं चापि आविष्कृतवन्तः । भवादृशकूपमण्डूकैर्वेदद्वारा न ब्रह्माण्ड-भाण्डोदररहस्यानि प्रत्यक्षीकर्तुं शक्यन्ते । विमानयन्त्रादि विषये भोजराजकृत-समराङ्गणसूत्रधार(यन्त्राध्याये)ग्रन्थेऽपि चर्चा । यथा—

लघुदारुमयं महाविहङ्गं दृढसुश्लिष्टतनुं विधाय चैतत् ।
उदरे रसयन्त्रमादधीत, ज्वलनाधारमधोऽस्य चाग्निचूर्णम् ॥९५॥

यद् वैश्य (अर्यः) एव वाणिज्यादिनिपुणः पुष्कलवित्तव्ययेन एवंविधाना-विष्कारान् साधयितुं सिद्धीकृत्य च स्वग्रहणाय परस्मै दानाय च क्षम इति ।

पृ० १४१४, पं० ९—"त्रयः पवयः' इत्यस्याऽपि व्याख्यानमविचारचारु; यतो न पवय इत्यस्य कलायन्त्रयुक्ताश्चक्रसमूहा अर्थः, इत्यत्र बीजाभावात् । 'त्रिर्नक्तं त्रिर्दिवा' इत्यनयोस्तिसृभी रात्रिभिः त्रिभिर्दिनैरित्यर्थकरणमज्ञानविजृम्भितमेव, त्रिर्गकारमुच्चारयतीत्यादौ त्रिवारमित्यस्यैवार्थस्य प्रसिद्धेः । अन्यथा

फैलाने से शत्रु के विमान नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार यह असन्दिग्ध है कि हमारे पूर्वजों ने इस वेदसमुद्र का मन्थन कर बेतार का तार तथा दूरभाषयन्त्रों का भी आविष्कार किया था। आपसदृश कूपमण्डूक वेद के द्वारा ब्रह्माण्डभाण्ड के उदरस्थ रहस्य के प्रत्यक्ष करने में समर्थ नहीं हैं। विमानयन्त्रादि विषय में भोजकृत 'समराङ्गणसूत्रधार' में भी चर्चा है। यथा—

हलके दारुनिर्मित विशाल विहङ्गाकार, जिसके शरीर की रचना सुश्लिष्ट और दृढ़ है, इसे बनाये और इस यन्त्र में पारा रक्खे तथा आग के आधार के नीचे के भाग में अग्निचूर्ण रक्खे।

इस मन्त्र में "अर्य" अर्थात् वैश्य को विमानादि बनाने की प्रेरणा है, क्योंकि वाणिज्यादि निपुण ही इसमें वित्तादि व्यय की क्षमता रखता है। वह स्वयं भी रख सकता है तथा दूसरे को भी देने में समर्थ है।

पृ० १४१४, पं० ९—पूर्वपक्ष—"त्रयः पवयः' इसका भी भूमिकाकृत व्याख्यान जंचता नहीं, क्योंकि यह कोरी कल्पना है और 'पवयः' 'कलायन्त्रयुक्त चक्रसमूह' इस अर्थ के करने में प्रमाण नहीं। 'त्रिर्नक्तं त्रिर्दिवा' इसका तीन रात, तीन दिन अर्थ करना भी ठीक नहीं, क्योंकि इसका 'त्रिर्गकारमुच्चारयति' अर्थ होता है, कि तीन बार गकार का उच्चारण करता है। उसी प्रकार दिन में तीन

https://t.me/DharmaSamrat

त्रिदिवा त्रिनक्तमित्येव स्यात् । सोमस्य सुखमर्थ इत्यत्रापि मूलं चिन्त्यम् ।" इति ।

तदपि विचारेऽवारु । नहि कश्चित् काञ्चनं परीक्षितुं निकषोपलं विहाय काष्ठमन्विष्यति । भवत्काष्ठमतौ कथङ्कारं कल्पेत काञ्चनकमनीयविचार एषः ? सत्यमस्ति (पञ्चतन्त्रे) कविवचनम्—

शूरोऽसि कृतविद्योऽसि वर्धमानोऽसि पुत्रक !
यस्मिन्कुले समुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते ।। ४।३९।।

अथवा—यस्मिन् मते समुत्पन्नो बुद्ध्या तत्र न गम्यते ।।

नहि पञ्चाननपालितः शृगालशावकः सिंहशिशुवद् विक्रमते । एवं संस्कृत-विद्वत्सिंहपालितोऽपि पौराणिकरूढिग्रस्तमतिकुलप्रसूतोऽपि अयं तर्कयुक्ति-विरहितः ।

न भवान् स्वतन्त्रशेमुष्या लोचयितुमर्हः कमपि विषयम् । तत्र एकस्मिन् दिने एकस्यां रात्रौ भूगोलसमुद्रान्तरिक्षमार्गेण त्रिवारं गन्तुं शक्येरन्नित्यप्यर्थ

वार रात्रि में तीन वार अर्थ ठीक हो सकता है । सोम का अर्थ सुख भी कैसे कर दिया ?"

उत्तरपक्ष—लेखक ने आक्षेप बिना विचारे किये हैं, क्योंकि कोई भी व्यक्ति काञ्चन की परीक्षा करने के लिए कसौटी को छोड़कर काठ को नहीं ढूंढता । आपकी मतिरूप-काष्ठ-कसौटी पर महर्षि का यह अर्थ-काञ्चन कैसे कसा जा सकता है ? कविवचन सत्य है—

शेरनी ने पाले हुए शृगालशिशु से तब कहा जब कि शेरनी का छोटा बच्चा विशालकाय हाथी पर आक्रमण करने को देखते ही तैयार हो गया । तब पालित शृगाल ने उसे रोका कि तुम इतने लघुकाय होकर इस विशाल जन्तु पर आक्रमण मत करो । लौटने पर शृगालशिशु ने छोटे भाई की शिकायत की, और सिंहशिशु ने अपनी मां को घटना सुनाई । तब मां शेरनी ने शृगालशिशु से कहा कि प्रिय बेटे ! तुमको मैंने चिरकाल तक मेरे सन्तान न होने के कारण पाल लिया था । निःसंदेह तुम शूर हो, तुम्हारी विद्या सफल है और उदीयमान भी हो, परन्तु जिस कुल में तुम उत्पन्न हुए हो, वहां हाथी का शिकार नहीं किया जाता, इसलिए यह पालित भी शृगालशावक सिंहशिशु के समान विक्रम नहीं कर सकता ।

इसी प्रकार विद्वान् गुरु सिंहों ने तुम्हें पुष्ट किया है, परन्तु पौराणिक रूढ़ि-ग्रस्त-मति-कुल में प्रसूत होने से तर्क-युक्ति-प्रमाण-विरहित आप तर्क और वाद के तीरों के धनी शास्त्रार्थी आर्य पण्डितों के समक्ष स्वतन्त्र बुद्ध्यालोचन में

ऋग्वेदभाष्ये दर्शितः । भवान् ऋष्यर्थं नितान्तं कल्पनाजातं प्रकल्पयते । वस्तुत आविष्करणात् प्राग्बुद्धौ कल्प्यन्त एव विचाराः । मधुरवाहने पवित्रितयम् अर्थात् त्रीणि चक्राणि एवार्थो निघण्टौ 'पवते' इत्यस्य गतिकर्मार्थपठितत्वात् साधीयान् । महीधरोऽपि यजुषि (३६।२०) 'शन्नो वातः पवताम्' इत्यत्र पवतामित्यस्य वहतामित्येवार्थं चकार । सायणोऽपि तत् पोषयते । 'तानि च चक्राणि कला-यन्त्रयुक्तानि स्युः' इति महर्षेः सुबोधो युक्तिसङ्गतः सर्वथा गरीयान् ।

विचारशीला एतल्लेखकस्य बुद्धिवैशद्यं निभालयन्तु यदयं वक्ति 'त्रिगकार-मुच्चारयति' । बोध्यमिह किं प्रयोजनमेतेन पूरितम् ? सोमशब्दोऽपि धातुप्रायेण निष्पन्नोऽनेकार्थकः । येन सोमगुणविशिष्टसुखमप्यर्थः ।

भवतो मतिः क्वापि अद्भुतालय एव न्यसनीया, या सायणमनुसृत्य सोमस्य वेनया सह विवाहं कल्पयते ।

पृ० १४१५-१६—यदुच्यते—"त्रिर्नो' इत्यादिमन्त्रव्याख्यानमुपहासास्पदम्, 'त्रिधातु आत्मेव वातः' इत्येतैः पदैः कथं यन्त्रनिर्माणं यन्त्रस्य च मनोजवत्व-

---

किसी विषय पर विचार नहीं कर सकते ।

श्रीमन् ! ऋषि का अर्थ कोरी कल्पना नहीं है । मधुर वाहन में तीन पवि अर्थात् पहिये धात्वर्थसङ्गत है, क्योंकि निघण्टु में 'पवते' गतिकर्मा पढ़ा गया है । आपके महीधर ने यजु० ३६।१० (शन्नो वातः पवताम्) में 'पवताम्' का अर्थ 'वहताम्' (वहे) दिया है । अतः जिससे गति की जाए, इस प्रकार वाहनप्रसंग में पहिया ही सङ्गत है; जैसा कि सायण भी मानते हैं । कलायन्त्रयुक्त उनको बनाना चाहिए, यह ऋषि का बुद्धिसंगत सुझाव है ।

विचारशील जन इस लेखक की बुद्धि का नमूना देखें, ये कहते हैं कि तीन वार गकार का उच्चारण करता है, बस आपको इतना ही सूझा । सोम शब्द तीन धातुओं से बनाने के कारण इसके अनेकार्थ हैं, जिसमें सोमगुणविशिष्ट सुख अर्थ यहां ग्राह्य है ।

आपकी बुद्धि तो अद्भुतालय में ही संग्रहणीय थी, जो सायणार्थ का अन्धा-नुकरण कर सोम का वेना के साथ विवाह रचा रही है ।

पृ० १४१५-१६—पूर्वपक्ष—"त्रिर्नो' इत्यादि मन्त्रों का अर्थ करने में दयानन्द की व्याख्या उपहासास्पद है । 'त्रिधातु आत्मेव वातः' इन पदों से यन्त्र-निर्माण कैसे हो सकता है ? और वह यन्त्र मन के समान वेगवाला है, यह कैसे सिद्ध हो सकता है ?"

https://t.me/Dharmadarshan

मित्याद्यर्थं साधयितुमशक्यत्वात्" इति कथनेन तव बुद्धिरेवोपहास्यतां याति, नायमर्थः (यजु० २८।८) महीधरेण अग्निवायुसूर्या अर्था गृहीता एवं त्रिधातुवर्णा रजतादिधातुसम्पादितं यानमित्यर्थस्यैवोत्तमस्य वैज्ञानिकपक्षे सम्भवात्। हास्यस्य तु तव रोग एव प्रतीयते यः प्रायश आवर्तते, मनसो वेगेन चोपमाने किं बाधकम्? न किमपि वस्तुतः। अतः सर्वथा ऋषिकृतार्थ एव सङ्गतः। भवान् सायणस्वरेण "अश्विना" कुमारौ यज्ञवेद्यां स्थापयितुमीहते, इति कूपमण्डूकवृत्तिरेव। न ते बुद्धिसङ्गत्यामभिरुचिः।

अग्निरप्यश्वस्तीव्रगमनहेतुत्वात्, मन्त्रादौ अग्निविधानेनैव सम्भवतीति साधीयानर्थ ऋषेः। इत्यत्र त्वयं मनोवेगोपमामाक्षिपति, परमिह अनुवादका आहुः—आकाशादप्यतिविस्तीर्णमरित्रम्? इदं क्वारक्ष्यत तैः किमनल्पजल्पनशीलमस्तिष्के एव? संस्कृते 'विस्तीर्णं अरित्रम्' इत्यसाधुप्रयोगः स्वरपरतोऽनुस्वारासम्भवात्।

पृ० १४१७, पं० ३—यदाह—"वि ये भ्राजन्ते' इत्याद्यर्थोऽपि यत्किञ्चित्,

---

उत्तरपक्ष—इस कथन से आपकी बुद्धि ही उपहासास्पद सिद्ध हो रही है। ऋषि का अर्थ उपहास्य नहीं है। प्रसिद्ध न होते हुए भी यजुः २८।८ मन्त्र में त्रिधातु पद से महीधर ने भी अग्नि, वायु, सूर्य, अर्थ लिये हैं। इसी प्रकार महर्षि ने प्रसिद्ध सुवर्ण, रजत, चांदी तीन धातुएं यान-रचना में ग्रहण की हैं। आपकी हंसी के तो दौरे पड़ते हैं, जो आपको यहां भी आ गई, पर आप यह नहीं बता सके कि 'आत्मेव' अर्थात् मन के समान वेगवाला इस उपमानार्थ में क्या बाधा है? सच तो यह है कि आपको युक्ति, संगति या औचित्य से कोई मतलब नहीं, उल्टा सीधा बकना सिद्ध है। अतः ऋषिकृत अर्थ ही सर्वथा सङ्गत है। आप तो सायण के स्वर में किन्हीं दृश्य शरीरधारी अश्विनीकुमारों को बुलाकर वेदी पर बिठाना चाहते हैं, यह कूपमण्डूकता ही है।

ऋषि दयानन्द ने अग्नि को अश्व बताया है, यही तीव्र गति का हेतु है। यन्त्र आदि में अग्नि पदार्थ रखकर ही तीव्रगति सम्भव है। आपको अपने पर या अपने टीकाकार की इस व्याख्या पर कोई हंसी नहीं आई। जो 'आकाश' से भी विस्तीर्ण डांडों की मदद से नावें चलती थीं, ऐसा कह रहा है। बुद्धिमन्! यह तो सोचा होता कि आकाश से बड़े डांडे कैसे सम्भव हो सकते हैं? कहां रक्खे जाते होंगे? शायद इस आकश से बाहर गप्पी खोपड़ी में ही। संस्कृत में 'विस्तीर्णं अरित्रम्' लिखना व्याकरणदृष्टि से सर्वथा अशुद्ध है। 'विस्तीर्णम्' युक्त होना चाहिए न कि अनुस्वारान्त।

पृ० १४१७, पं० ३—आक्षेप—"वि ये भ्राजन्त' इत्यादि का अर्थ भी गलत

धूमशकटीयन्त्रदर्शनेन तवनुगुणान् कांश्चन शब्दाभासान् आलोक्य मूर्खजनप्रतारणाय वेदे यन्त्रविद्याप्रदर्शनमात्रम्" इति, तदपि प्रमत्तप्रलपनमेव। का कथा धूमशकटीयानवर्णनस्य? श्रीमन्! महर्षिदयानन्दस्तु वायुयाननिर्माणात् प्रागेवात्राऽसाधयद्। तदानीं पाश्चात्यदेशेषु विमानस्य सत्ताऽपि नासीत्। पाश्चात्यदेशेषु विमानस्य प्रथममुड्डयनं १९०१ तमे ख्रीस्ताब्द एवाऽभूत्। ग्रन्थकृता तु भारतीयवाङ्मयाधारेणैवं विमानविद्याया उल्लेखो यत्र तत्र स्वकीयेषु ग्रन्थेषु कृतः। ग्रन्थकृता तु १८७५ ख्रीस्ताब्दे पूनानगरे विहिते पञ्चमे प्रवचने स्पष्टमुक्तम्—

"मैंने भी एक विमानरचना का पुस्तक देखा है" इति युधिष्ठिरमीमांसकाः।

वेदे वैदिकसाहित्ये वा विमानस्य वास्तविकसत्तामाधुनिकइतालवीवैज्ञानिको डाक्टर-रोवकाटो पिचौटी पुष्णन् ११।१०।८८ तिथौ बंगलौरे सयायोजिते 'विश्वान्तरिक्षसम्मेलने'ऽगादीत्—प्राचीनभारते एतादृगुच्चसभ्यताऽऽसीद् यस्यां न केवलं समस्तपृथिव्यामपि तु अन्यलोकेष्वपि भारतस्य सम्पर्कः समभविष्यत्। भारतीयसाहित्ये विमानवर्णनमायाति यत्तदाधुनिक-विज्ञान-तकनीकेन(टैक्नोलोजी)

है; क्योंकि यह सारा अर्थ आधुनिक युग की रेलगाड़ी को देखकर उसी से मिलते-जुलते शब्दों को पकड़ कर अज्ञ जनों को ठगने के लिये यन्त्रनिर्माण की बात कहना भोंड़ापन है।"

समाधान—लेखक का उक्त आक्षेप कोरी बकवास ही है। रेलगाड़ी का तो कहना क्या, महर्षि ने आधुनिक वायुयानों के आविष्कार से पूर्व ही ये वैज्ञानिक वर्णन वेद में दिखाये हैं। पाश्चात्य देशों में वायुयान की पहली उड़ान १९०१ ई० में हुई थी। ग्रन्थकार ऋषि ने भारतीय वाङ्मय के विशाल अध्ययन से वेदमूलक नौ-विमानादि-विद्याओं का उल्लेख ग्रन्थों में किया है। ऋषि ने १८७५ ई० में पूना नगर में किये अपने पांचवे वक्तव्य में स्पष्ट ही कहा था कि "मैंने भी एक विमानरचना का पुस्तक देखा है।" यह संकेत युधिष्ठिर मीमांसकजी ने किया है।

वेद तथा वैदिक साहित्य में विमान की वास्तविक सत्ता की पुष्टि करते हुए आधुनिक इतालवी वैज्ञानिक श्री डाक्टर रोवकाटो पिचौटी ने ११ अक्तूबर सन् १९८८ को बंगलौर में समायोजित 'विश्व-अन्तरिक्ष-सम्मेलन' में कहा कि प्राचीन भारत में ऐसी उच्च सभ्यता थी, जिसमें न केवल सारी पृथिवी में ही बल्कि अन्य लोकों में भी भारत का सम्पर्क सम्भव था। भारतीय साहित्य में विमानवर्णन आता है कि उस समय का विज्ञान आधुनिक तकनीक के समान ही

https://t.me/DharmaSamrat

साम्यमभिधत्ते । उपस्थितान् विश्वप्रतिनिधीन् सम्बोधयन्नाहासौ यद् हिन्दू-शास्त्रेषु विमानवर्णनं काल्पनिकं मत्वैव न त्याज्यम् । भारतीया योद्धारो देवाश्च स्वीयविमानान्यधिष्ठाय भयङ्करं युद्धमेतादृशमेवाऽकुर्वन्, यादृशमाधुनिकजेट-चालितोड्डयनयानैः क्रियते ।

असाववोचत् – भारतीयोड्डयनयानानि तादृशधातुभी रचितान्यभूवन् येन तानि विशेषतया तापसहानि भवेयुः । अग्रे स एतद् रहस्यमपि प्राकाशयद् यदु-ड्डयनयानेषु सप्तविधा दर्पणा अप्ययोज्यन्त । तेषु पिञ्जुलनामकदर्पणस्य घातक-रश्मयः शत्रुचालकानप्यन्धानकुर्वन् । 'मारक' नामकास्त्रेण शत्रुविमानं नाशयितुं प्राभवन् । तानि वर्णनानि 'लेसर'टैक्नालाजीसाम्यं वहन्ते । तस्मिन् काले विमान-चालनाय विद्युतो रासायनिकद्रव्याणां सौरोर्जायाश्च प्रयोगः क्रियते स्म । विमानशास्त्रीय'त्रिपुर'विमानवर्णनं आधुनिकलम्बविमानसमानमेवासीत् । 'शकुन' विमानवर्णनं चाद्यतन-राकेट-वायुयानयोर्व्यध्यमानं किमपि अन्तरिक्ष-शटल-सदृशं समभवत् ।

अग्रेऽसौ प्रत्यपादयद् यदार्या अग्नितत्त्वस्यैतादृशप्रयोगान् जानन्ति स्म यैर्ज्वालाक्षेपकप्रक्षेपास्त्राणि स्वापनप्रक्षेपास्त्राणि च रचयितुमशक्यन्त । ते सूर्य-नक्षत्रमण्डलगमनयोग्यानि यानानि अरचयन्त । तेषां वर्णनं तादृक् टैक्नीकल-विध-

---

था । सम्मेलन में उपस्थित विश्व के प्रतिनिधियों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा कि हिन्दूशास्त्रों का विमान-वर्णन काव्य मानकर छोड़ने योग्य नहीं है । भारतीय योद्धा और देवता लोग अपने विमानों पर बैठकर ऐसा भयङ्कर युद्ध करते थे, जैसा कि आजकल जैट चालित उड्डयन यानों से किया जाता है ।

उन्होंने कहा – भारतीय उड्डयनयान कुछ ऐसी धातुओं से बने हुए थे, जिससे वे ताप सह होते थे । आगे उन्होंने यह भी रहस्य उद्घाटित किया कि उड्डयन-यानों में सात प्रकार के दर्पण भी लगे रहते थे, जिनमें 'पिंजुल' नामक दर्पण की घातक किरणें शत्रु के चालकों को अन्धा भी कर देती थीं । 'मारक' नामक अस्त्र से शत्रुविमान को ध्वस्त किया जा सकता था । ये वर्णन 'लेसर-टैक्नालाजी' के समान ही हैं । उस समय विमानों में विद्युत्, रासायनिक द्रव्य और सौर ऊर्जा का प्रयोग किया जाता था । विमानशास्त्र में त्रिपुर-विमान का वर्णन आधुनिक लम्बे विमान के समान ही है । 'शकुन' विमान का वर्णन आजकल के राकेट और वायुयान के बीच का कोई यान है, जो अन्तरिक्ष के 'शटल' जैसा रहा होगा ।

आगे उन्होंने बताया कि आर्य लोग अग्नि तत्त्व के ऐसे प्रयोग जानते थे जिनसे ज्वाला-क्षेपक प्रक्षेपास्त्र, सुला देनेवाले प्रक्षेपास्त्र बनाये जा सकते थे । वे आर्य सूर्य-मण्डल तथा नक्षत्रमण्डल तक पहुंचनेवाले यानों की रचना कर लेते थे ।

सम्पन्नं विद्यते यन्न काल्पनिकं कथयित्वा उपेक्षितुं शक्यम् । अत इदमेव मन्तव्यं यत् तस्मिन् काले एकात्यन्तसमुन्नतसभ्यताऽऽसीद् या सम्प्रति लोपं गता । फलत उचितमेतदेव यद् हिन्दूशास्त्रटेक्नालाजी-अध्ययनं वैज्ञानिकदृष्ट्या कर्त्तव्यम् ।

भवता योऽर्थोऽलौकिकोऽनुपयोगश्च विहितः "सुष्ठु शोभनानि मखानि येषान्ते" इति, हिन्दीकृता अर्थे वैशिष्ट्यमाविष्कृतं भङ्गापानतरङ्गाप्यायितमनसा —'सुन्दर मुंहवाले ये' । अयं सुमुखास इत्येवमपठत्, इत्याश्चर्यम् । अन्यत्रापि यथा 'त्रिधातु' इत्येतैः पदैः कथं यन्त्रनिर्माणमनुवादे मन्त्रा इति व्यलिखत् । अस्मि-न्नेव मन्त्रे 'श्वेतबिन्दुभिर्युक्ता मृगी ।' 'स्ववाहनानि आयुध्वम्' इत्यादि व्याख्यानमेव उपहास्यम्, बुद्धिविरुद्धत्वात् ।

पृ० १४१८, पं० ३—"आ नो नावा मतीनाम्' इति मन्त्रस्यापि व्याख्यानं निःसारम्, मन्त्रे उपमानादिबोधकस्य पदस्याभावात्, निर्माणप्रकारकनिर्देशा-भावाच्च ।" वस्तुतस्तु अस्यैव वचसो निस्सारत्वम्, ऋषिणा वैज्ञानिकार्थस्तु सम्य-

---

उनका वर्णन वैसी टैक्नालाजी की रीति से किया गया है, जिसे काल्पनिक कह कर टाला नहीं जा सकता । इसीलिये यही मानना चाहिये कि उस समय एक अत्यन्त समुन्नत सभ्यता थी, जो अब लुप्त हो गई है । अतः उचित यही है कि हिन्दूशास्त्र-टैक्नालाजी का अध्ययन वैज्ञानिक दृष्टि से किया जावे ।

महर्षि ने इसी वैज्ञानिक दृष्टि से वेदों का अध्ययन व मनन करके उनका भाष्य कर विज्ञान का पथ-दर्शन किया है ।

आपने इस मन्त्र का जो अर्थ किया, वह अलौकिक और अनुपयोगी है । आपके हिन्दीकार ने 'सुमखासः' का अर्थ भङ्ग की तरङ्ग से आप्यायित मन से 'सुन्दर मुंहवाले' यह अर्थ किया है । कमाल है, वह इसे 'सुमुखासः' पढ़ रहा है । बलिहारी है इस मति की । अन्यत्र भी 'यन्त्रनिर्माण' अर्थ लिख मारा । इसी मन्त्र की व्याख्या में सफेद चित्तीदार हरिणियों को आप वाहन में जोतने का विचित्र अर्थ कर रहे हैं, तब भी इसे आप उपहासास्पद नहीं समझ रहे हैं, जो कि सर्वथा बुद्धि-विरुद्ध है ।

पृ० १४१८, पं० ३—पूर्वपक्ष—"आ नो नावा' आप इस मन्त्र के ऋषि-व्याख्यान को निःसार बता रहे हैं; क्योंकि मन्त्र में उपमानादिबोधक पद नहीं है और यन्त्रनिर्माण-विधान की कल्पना असङ्गत है ।

उत्तरपक्ष—पारिजातकार का उक्त कथन वास्तव में सारहीन है । ऋषिकृत

https://t.me/Dharmacamat

गूहितः, लुप्तोपमालङ्कारमन्त्रे तदूहनस्यौचित्यात् ।

यदाह—"मन्त्रार्थस्तु—हे अश्विनौ ! मतीनां स्तुतीनां पारं गन्तुं नावा समुद्रादागच्छतम् । भूमौ भवेतां तदा रथेन" इत्येवंविधानस्य साररहितानर्थान् विलोक्यैव वेदेभ्योऽश्रद्दधाना पराङ्मुखा बभूवुर्बहवः । भवता बुद्धिसङ्गतवचनं कथ्यविष्यते इत्याशा त्वमायां चन्द्रदर्शनाभिलाष एव ।

पृ० १४१८, पं० ८—आक्षेपः—यदुच्यते—"कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति' इत्यस्य भाष्यं नूतनमस्ति, धूम्रशकटीदर्शनोद्भूत-संस्कारमहिम्नैव वेदमन्त्रेष्वपि तादृशार्थभानम् । यदि चाधुनिकेनाग्नेयतैलेन चालितविमानदर्शनं कृतं स्यात्तदा तदनुगुणा अपि केचिच्छब्दाभासा मन्त्रेष्वन्विष्टा भवेयुः । अधस्ताज्ज्वालारूपाः काष्ठेन्धनैः प्रज्वलिताः कलाकौशलभ्रमणयुक्ता इत्येतत् सर्वं हरिपदेन कथं लभ्यत इति तु स एव जानीते ।" इति ।

समा० अनेन रूढिकीलकनिबद्धमतिना वेदशब्दानां धात्वर्थनिष्ठोऽर्थो नाद्रियते, न चाप्यूह्यते । नहि तस्मिन् काले धूमशकटीविमानाद्याविष्कृतान्यभूवन् ।

अर्थ विज्ञानानुगत है, तथा यहां लुप्तोपमा अलङ्कार है, जिसका आपको ज्ञान ही नहीं है । इसमें उपमादिबोधक पद लुप्त भी होते हैं ।

आप स्तुतियों को सुनाने के लिये जिन अश्विनीकुमारों को नाव द्वारा समुद्र मार्ग से बुला रहे हैं, उनका स्वरूप भी तो प्रस्तुत किया होता । आप उनकी स्थिति किस टापू में मानते हैं ? ऐसे हवाई, सारहीन अर्थों को देखकर ही बहुत से विद्वान् लोग भी वेदों से पराङ्मुख होते चले गये । आपसे तो बुद्धिसङ्गत वचन या ऊहन की आशा करना अमावास्या में चन्द्रदर्शन की अभिलाषा ही हो सकती है ।

पृ० १४१८, पं० ८—आक्षेप—यह कहना कि "कृष्णं नियानं' इस मन्त्र का भाष्य नया है, आधुनिक धूमशकटी (रेल) को देखकर उसके संस्कार के कारण वेदमन्त्रों में भी उसी की खोज का परिणाम है । यदि दयानन्द ने पेट्रोल से चलनेवाले वायुयान को देखा होता, तो वे उसको भी वेदमन्त्रों में से खोज निकालते । केवल एक हरिपद से 'ज्वालारूप काष्ठ के ईंधन से जलाये गये और कलाकौशल से घूमनेवाले' इतना अर्थ कैसे निकलेगा ? इस बात को दयानन्द ही जान सकते हैं ।"

समा०—उक्त आक्षेप रूढि खूंटे से बंधी बुद्धि के द्वारा किया गया है । वेद शब्द के धातुनिष्ठ अर्थ का इनके द्वारा न तो आदर ही किया गया है और न ऊहन ही । महोदय ! जब ऋषि ने यह भाष्य किया था उस समय तो रेल का

वैदिकवाङ्मये एवंविधयानानां सुविस्तृतं वर्णनमास्ते, तच्चैवेह वेदमूलकं भवितुमर्हति तदाविष्कर्तृभिर्वेदमूलकत्वाङ्गीकृतत्वात् ।

आग्नेयतैलस्या (पैट्रोल) पि बहुत्र चर्चा पूर्वतनग्रन्थेष्वस्ति । 'यदा च हृधातोर्हरणादित्यरश्मयोऽपो जलानि वसाना आच्छायन्तो हरन्तः कृष्णं नियान दाक्षिणायनं प्रति गच्छन्तो वृष्ट्यर्थं पूर्वं दिवमुत्पतन्ति' इत्यर्थः शब्दैरेव सुस्पष्टः । तथैव हरयोऽग्नयोऽश्वाः प्रज्वलिता भवन्ति चुल्लिकाया अधस्तात् । अग्नयश्च काष्ठेन्धनैरेव प्रदीप्ता भवन्तीति लोके प्रसिद्धम् । कलाकौशलेन च ते किरणा अग्नयो वा वस्तुभ्रमणेन युक्ता अर्थात् किरणाग्निसहायतया यन्त्राणि चालितानि कृतानि स्युश्चेत्तदेत्यर्थस्तु सिद्ध एव व्यज्यते हरिपदेन । न काचिद्विप्रतिपत्तिरिति भवद्बुद्धिगम्यं नापि स्यात् परमपरे प्रज्ञावन्तस्त्ववबुध्यन्त एव । का कथा पुनः तपःपूतर्षिदयानन्दस्य ?

यश्च सायणकृतोऽर्थ उद्धृतो भवता, यास्काचार्यस्यानुकृतः स च । महर्षिणा ऋग्वेदे दिग्दर्शित एषोऽप्यर्थः । इह तु क्षुण्णं पन्थानमपहाय धात्वाधारो विज्ञानपरकोऽर्थो नूतनो दृष्टस्तद् ऋषित्वमेव दयानन्दस्य वेदगौरववर्धकम् ।

आविष्कार भी नहीं हुआ था, दूसरे इस सबका वैदिक वाङ्मय में सुविस्तृत वर्णन भी मिलता है, जो कि वेदमूलक है; क्योंकि उसके आविष्कर्ताओं ने इनकी वेदमूलकता स्वीकार की है, जैसा हमने अन्यत्र भी वर्णन किया है ।

पैट्रोलसदृश या पारद आदि की बहुत सी चर्चा प्राक्तन ग्रन्थों में है, तथा 'जब हृ धातु से निष्पन्न हरि शब्द से अग्नि आदि (अश्व) आदित्यकिरणें जलों का ग्रहण कर सूर्य के दक्षिणायन को उद्यत वृष्टि करने के लिये उत्तरायण ग्रीष्म ऋतु में आकाश में ऊपर जाती हैं' यह अर्थ शब्दों से ही स्पष्ट है । अग्नियां चूल्हे के नीचे काष्ठेन्धन से प्रदीप्त होती हैं, यह बात लोक में प्रसिद्ध है । 'कला-कौशल से वे अग्नियां या किरणें और उनकी सहायता से यन्त्रचालित हैं ।' यह अर्थ तो 'हरि' शब्द से अभिव्यक्त हो रहा है । इस अर्थ में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है । यह सारा अर्थ आपकी बुद्धि से परे है, पर अन्य प्रज्ञावान् तो समझ ही रहे हैं । तपःपूत ऋषि दयानन्द का तो कहना ही क्या ?

तथा जो सायणकृत अर्थ आपने उद्धृत किया है, वह यास्काचार्य के अर्थ की छाया है, जिसे महर्षि दयानन्द ने अपने ऋग्भाष्य में दिग्दर्शित किया है । यहां पूर्व लोगों से दृष्ट मार्ग के अतिरिक्त भी धातु के आधार पर विज्ञान-परक अर्थ ऋषि ने देखा था, यही उनका ऋषित्व है, जो वेद के गाम्भीर्यगौरव का भी वर्धक है ।

https://t.me/Dharmasastra

भवादृशास्तु "द्वादशप्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत" इत्यादिमन्त्रोऽपि, लोके यानचक्रं लोकनिर्दिष्टत्रिशतोत्तरषष्टिदिवसानब्देऽवलोक्य रचित इत्यारोपयितुं दुस्साहसं कर्तुं शक्नुवन्ति ।

पृ० १४२०, पं० ६—यच्चोच्यते—"कलाभ्रमणार्थमेकं चक्रं त्रीणि मध्यस्थानि मध्यावयवधारणार्थानि यन्त्राणि रचनीयानि" इति नगण्यम्, नेदं व्याख्यानं शब्दानुगुणम्, न वार्थानुगुणम्, केवलं प्रजादौर्भाग्यात् समयापव्ययार्थमेव" इत्युक्तं समग्रमप्यस्य ऊहनशक्तेरभावमेव द्योतयते, कालरूपकद्वारा वैज्ञानिकार्थस्यापि ध्वनित्वात्, ध्वनिरपि शब्दार्थमूलोत्थः । महर्षिणा यः पन्थाः प्रदर्शितस्तेन प्रजायाः सौभाग्यद्वारमेवोद्घाटि । दौर्भाग्यं तु कुण्ठितधियां भवादृशां ये नानुमन्यन्ते सर्वसत्यविद्यापदार्थविद्यानाम् आदिमूलम् ।

प्रसङ्गतः पाठका निध्यातगभीरसारा विचिन्वन्तु यत्सायणमहीधरतद्वंशगामिज्वालाप्रसादमिश्रग्रिफिथादयो वेदमन्त्राणामसङ्गतोपहासजनयित्रीं व्याख्यामकुर्वन् । महर्षिदृग्दिशा श्रुतयः खलु सार्वभौमसर्वजनोपयोगिशिक्षाणां सर्वविद्या-

---

आप जैसे लोग ऐसा कहने का दुस्साहस कर सकते हैं कि गाड़ी के पहिये और उसके अरों तथा वर्ष के ३६० दिनों को लोक में प्रचलित देखकर "द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम्" मन्त्र की रचना हुई है ।

पृ० १४२०, पं० ६—यह जो कहा जा रहा है कि "उनमें एक चक्र चाहिये, जिसके घुमाने से सब कला घूमें फिर इसके मध्य में तीन चक्र रखने चाहिये, जिसमें से एक के चलाने से सब रुक जावें, दूसरे के चलाने से आगे चलें। इस तरह की सारी बातें वाग्जालमात्र हैं। इसमें मन्त्र के शब्द और अर्थ की कोई सङ्गति नहीं है, केवल प्रजा के दुर्भाग्य से समय की बर्बादी है।"

उक्त सभी कथन श्री करपात्री की ऊहा प्रतिभा के अभाव का दिग्दर्शक है; क्योंकि काल के रूपक द्वारा ऋषिकृत वैज्ञानिक अर्थ मन्त्र के शब्दार्थ से ही ध्वनित हो रहा है। महर्षि ने जो मार्ग प्रदर्शित किया है; उसने तो प्रजा के सौभाग्य का द्वार ही खोल दिया। हां, कुण्ठितबुद्धि आपसदृशों का अवश्य दुर्भाग्य है, जो वेद में सब सत्य विद्या और पदार्थ विद्याओं के मूल का लेश भी नहीं मानते।

"सायण के भाष्य का स्वामीजी ने आश्रय लिया है" यह कथन मिथ्या है। स्वामीजी ने तो यास्कादि ऋषियों की दिशा को ही अपनाया है।

प्रसङ्गतः पाठकों को हम यह भी कहना चाहते हैं, वे ध्यान दें कि सायण, महीधर, उनके अनुगामी ज्वालाप्रसादमिश्र, ग्रिफिथ आदि ने वेदमन्त्रों के असङ्गत उपहासजनक व्याख्यान किये हैं । महर्षि की दृग्दिशा से वेद सार्वभौम तथा सर्व-

नामागाराः समभवन् । वेदवाक्यरचना सर्वथा बुद्धिपूर्वा, तस्मात् श्लेषाद्यलङ्कारलक्षणाव्यञ्जनादिभिर्वेदा व्याख्येयाः सन्ति ।

सायणाचार्यमहीधरादीनां केवलं यज्ञपदार्थविधानस्यायं परिणामो भयावहोऽभूत् । अतः काशीयपण्डितसभाप्रधानाः पं० गोपालदत्तशास्त्रिणो दर्शनकेसरीत्युपाधिभूषिता अत्रावर्णयन् वेदवाणीद्वितीये विशेषाङ्के (१९५३)—

"अद्य केवलयज्ञपरकार्थकृतां सायणाचार्यादीनां भाष्याणि अधीत्य लोकानाम् अनास्थाऽजायत । अस्मिन् निदर्शनद्वयं पर्याप्तं भविष्यति—

(१) स्वर्गीयशिवप्रसादगुप्तमहानुभावोऽतितरां वेदेषु श्रद्दधान आसीत् । स श्रद्धया कस्माच्चिद्विदुषः सायणाचार्यभाष्यमधीतवान् । तस्मिन्नेवावसरेऽहमपि (गोपालदत्तः) अगमम्, तदाऽसौ करौ समानीय हसन् मामवोचत्—शास्त्रिमहाराज ! पूर्वमेव सम्यगासम्, यावद्वेदार्थं नाश्रौषम् । यत्कालादहं सायणाचार्यवेदार्थमशृणवं तावतो मे वेदान् प्रत्यनास्था जाता ।

(२) मम स्वर्गीया गुरवो महामहोपाध्यायाः पूज्यचरणाः पं० अन्नदाचरण-

---

जनोपयोगी, शिक्षा तथा सब सत्य विद्याओं के आगार सिद्ध हुए हैं। 'वेदवाक्यरचना सर्वथा बुद्धिपूर्वक है' यह तथ्य प्रकाश में आया है। वेदों की व्याख्या करते समय श्लेषादि अलंकार, लक्षणा, व्यंजना आदि का ध्यान रखना चाहिये।

सायणाचार्य, महीधर आदि के केवल यज्ञपरक अर्थविधान का भयावह परिणाम हुआ। इस विषय में काशी के पण्डित-सभा के प्रधान पं० गोपालदत्तजी शास्त्री 'दर्शकेसरी' इस उपाधि से विभूषित १९५३ ई० की 'वेदवाणी' पत्रिका के विशेषाङ्क में वर्णन करते हैं—

"आज केवल यज्ञपरक अर्थ करनेवाले सायणाचार्य आदि के भाष्यों को पढ़कर वेदों के प्रति लोगों की अनास्था उत्पन्न हो गई है। इसमें दो उदाहरण प्रस्तुत करना पर्याप्त होगा—

(१) स्वर्गीय श्री शिवप्रसाद गुप्त महानुभाव वेदों में अतितराम श्रद्धा करते थे। उन्होंने श्रद्धापूर्वक किसी विद्वान् से सायणाचार्य का भाष्यार्थ पढ़ा। उसी अवसर पर मैं भी (गोपालदत्त) पहुंच गया तब उन्होंने हाथ जोड़कर हंसते हुए मुझसे कहा कि शास्त्रीजी महाराज ! हम तो पहले ही अच्छे थे, जब हमने वेदार्थ नहीं सुना था। जब से हमने सायणाचार्य का वेदार्थ सुना है, तब से मेरी वेदों के प्रति अनास्था पैदा हो गई।

(२) मेरे स्वर्गीय गुरुवर महामहोपाध्याय पूज्यचरण श्री पं० अन्नदाचरण

https://t.me/Dharmik_Sahitya

तर्कचूडामणय आसन् । त एकवारं दर्शनं पाठयन्तोऽब्रुवन् प्रसङ्गतो यद् वेदसंहितासु किं रक्षितमस्ति । इन्द्रस्तुतयो वरुणस्तुतय एव सर्वत्र, सारस्तूपनिषत्श्रुतिषु विद्यते, यासु वेदव्यासो विचारं कृतवान् ।'

दृष्टं भवद्भिस्तद्भाष्याध्ययनफलम् ! अत एवाहम् अवादिषं यत् केवलयज्ञपरकार्थेन वेदानां महत्त्वं न्यूनीभूतम् । एतत् सर्वं निधायैव मनसि जगद्विख्यातो योगी अरविन्दो महर्षिदयानन्दस्य वेदभाष्यसम्बन्धे व्यलिखत्—

"वेदानां सम्पूर्णमन्तिमं भाष्यं किमपि भवेत्, महर्षिदयानन्दस्य श्रेष्ठभाष्यं शैल्या प्रथमोद्धारकरूपे सदा सम्मानितं करिष्यते । समयेन यानि द्वाराणि पिहितान्यासन्, ईदृशद्वाराणां कुञ्चिका(तालिका)मसौ पुनः प्राप्नोत्, पिहितस्रोतसश्च विष्कम्भमुदघाटयत् ।"

वर्तमानयुगस्य सुप्रसिद्धदाक्षिणात्यो विद्वान् योगी श्रीमाधवपुण्डलीकपण्डितः 'मिस्टिक एप्रोच टू दी वेद एण्ड उपनिषद्' नामके ग्रन्थेऽलेखीन्महर्षिदयानन्दविषये—

"गताया ऊनविंशशताब्द्या मध्ये वेदान् पुनरपि भारतराष्ट्रियजीवने सर्वोद्-

---

तर्कचूड़ामणि थे, वे एकवार दर्शन पढ़ाते हुए प्रसङ्गवश कहने लगे कि वेदसंहिताओं में क्या रखा है ? इन्द्र की स्तुतियां, वरुण की स्तुतियां ही सर्वत्र भरी पड़ी हैं, सार तो औपनिषदिक श्रुतियों में है, जिन पर वेदव्यास ने विचार किया है ।"

देखा आप लोगों ने ! उन (सायणादि) के भाष्यों के अध्ययन का फल ! इसीलिये मैंने कहा सायणाचार्य ने वेदार्थ करके जगत् का कुछ उपकार तो किया, किन्तु केवल यज्ञपरक अर्थ करके वेदों को सङ्कीर्ण बना देने का महत्तम अपकार भी किया है । यह सब मन में विचार कर जगद्विख्यात योगी अरविन्द ने महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य के सम्बन्ध में लिखा था—

"वेदों का सम्पूर्ण अन्तिम भाष्य कोई भी हो, ऋषि दयानन्द का श्रेष्ठ भाष्य शैली की दृष्टि से प्रथमोद्धारकरूप में सदा सम्मानित किया जायेगा । उस समय पर जो द्वार बन्द कर दिये थे, ऐसे द्वारों के तालों की तालियां पुनः ऋषि ने प्राप्त की थीं और बन्द स्रोत के प्रवाह को खोल दिया ।"

वर्तमान युग के सुप्रसिद्ध दाक्षिणात्य विद्वान् योगी श्री माधव पुण्डलीक पण्डित ने 'मिस्टिक एप्रोच टू दी वेद एण्ड उपनिषद्' नामक ग्रन्थ में महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के विषय में लिखा था—

"बीती हुई उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में वेदों को पुनरपि भारतीय

कृष्टरूपेण प्रतिष्ठापितान् कर्तुं सर्वेषु प्रबलतमसमर्थको भारतीयसंस्कृतेर्बलशालिपोषकः स्वामिदयानन्दरूपे प्राप्तः । असौ ज्योतिर्मयवेदानां विषये भ्रान्तीः पाश्चात्यपक्षपातांश्च निराकृत्य प्रत्येकं भारतीयं प्राबल्येन प्रेरयद् यत् स सत्यं सरलदिशयैव द्रष्टुं यतेत, इदं च प्राभिजानीयाद् यद् वेदो वस्तुत ईश्वरीयज्ञानमस्ति । अनिराकार्यप्रमाणैः स एतत् सिद्धमकरोत् ।" इति दिङ्मात्रम् ।

इति श्रीमद्बिहारीलालशास्त्रिशिष्येण श्रीयुतपण्डित-अयोध्याप्रसादमिश्रात्मजेन श्रीमदाचार्यविशुद्धानन्दमिश्रेण श्रीयुतनिर्मलामिश्रा-सहधर्मिणीसहायेन विरचिते करपात्रिमतखण्डने दयानन्दीयमतमण्डने 'वेदार्थकल्पद्रुम'नामग्रन्थे 'नौविमानादिविद्या-विषयः'

॥ सम्पूर्णः ॥

राष्ट्रिय जीवन में सर्वोत्कृष्टरूप में प्रतिष्ठापित करने को सब से प्रबलतम समर्थक और भारतीय संस्कृति के बलशाली पोषक स्वामी दयानन्द सरस्वती के रूप में प्राप्त हुए । उन्होंने ज्योतिर्मय वेदों के विषय में भ्रान्तियों और पाश्चात्य पक्षपातों का निराकरण करके प्रत्येक भारतीय को प्रबलता से प्रेरणा दी कि वह सत्य को सरल दिशा से देखने का यत्न करे और यह पहचाने कि वेद वस्तुतः ईश्वरीय ज्ञान है । अकाट्य प्रमाणों से उन्होंने यह सिद्ध कर दिया ।" यह दिङ्मात्र है ।

श्रीमान् पण्डित बिहारीलालजी शास्त्री के शिष्य, श्रीयुत पण्डित
अयोध्याप्रसाद मिश्र के आत्मज, श्रीमदाचार्य विशुद्धानन्द
मिश्र द्वारा श्रीयुतनिर्मला मिश्रा सहधर्मिणी की
सहायता से विरचित करपात्रिमतखण्डन तथा
दयानन्दीय मतमण्डन करनेवाले इस
'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में
'नौविमानादिविद्या-विषय'
॥ सम्पूर्ण हुआ ॥

https://t.me/DharmaSamrat

अथ तारविद्याया मूलम्

पृ० १४२० –"युवं पेदवे' (ऋ० १।११९।१०) अत्र केवलं तारशब्दमवलोक्य कथञ्चित्तदनुगुणानि पदानि योजितानि। कतिचिदपहान्ये सायणभाष्यानुसारिणः। 'अश्विनौ' इति सम्बोधनमुत्सृज्य हे मनुष्या इति सम्बोधनमप्यक्षरबाह्यमेव। श्वेतमित्यस्य अग्निगुणविद्युन्मयं शुद्धधातुनिर्मितम् इत्यर्थः कृतः। शुद्धधातुनिर्मितं तु सायणोक्तमेव। अग्निगुणविद्युन्मयमिति कथं श्वेतशब्दार्थः? अभिद्युमित्यस्य प्राप्तविद्युत्प्रकाशमित्यपि कथमर्थः? 'द्यु'शब्दस्य द्युत्यर्थकत्वे सत्यपि विद्युदिति कथमर्थः? तरुतारं यूयं कुरुतेति क्रियापदं मूले नैवोपलभ्यते। चर्कृत्यं वारं वारं सर्वक्रियासु योज्यम्, सर्वमित्यपि तथाविधमेव। कथं सर्वक्रियासु तारयोजनं दृश्यते? शर्यैरित्यस्य हननप्रेरणगुणयुक्तत्वं कथमर्थः? शृणातेर्हिंसार्थकत्वात्। स्पृधां पराजयाय स्वकीयानां वीराणां विजयायेत्याद्यपि निर्मूलमेवाक्षर-

---

पृ० १४२०—आक्षेप—"युवं पेदवे' इत्यादि मन्त्र में केवल तार शब्द देख कर ही जिस किसी तरह से मन्त्र का सम्बन्ध दूर तक संवाद भेजने की प्रणाली से जोड़ दिया गया है और इस मन्त्र के कुछ शब्दों का अर्थ तोड़-मरोड़ कर किया गया है। कुछ शब्दों का अर्थ सायण के अनुसार ही किया है। 'अश्विनौ' पद से अश्विनीकुमारों को सम्बोधित न कर मनुष्यों को सम्बोधित करना गलत है। 'श्वेत' पद का अर्थ 'शुद्ध धातु से बना अग्नि गुणवाला विद्युत्प्रकाश से युक्त' किया गया है। शुद्ध धातु से निर्मित, यह अर्थ तो सायण को भी अभिप्रेत है, किन्तु इसका अर्थ 'अग्नि गुणवाली विद्युत् से युक्त' कैसे हो सकता है? 'अभिद्यु' पद का अर्थ भी 'विद्युत्प्रकाश से संयुक्त' कैसे किया जा सकता है? 'द्यु' शब्द यद्यपि द्युति के अर्थ में प्रयुक्त होता है, किन्तु उसका अर्थ 'विद्युत्' कैसे हो सकता है? 'जो इस तरह का तार नामक यन्त्र है, उसको सिद्ध करके प्रीति से सेवन करो' इस अर्थ में जिस क्रिया का उल्लेख है, वह मन्त्र में देखने को नहीं मिलती। 'जो सब क्रियाओं में वार-वार चलाने के योग्य होता है' यह व्याख्या भी असङ्गत है, सभी क्रियाओं में तार को जोड़ने की बात का क्या तुक है? 'शर्य' शब्द का अर्थ 'अनेक प्रकार की कलाओं के चलाने से अनेक उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करने के लिए विद्युत् की उत्पत्ति करके उसका ताडन करना चाहिए' यह अर्थ कैसे होगा? 'शृणाति' धातु का अर्थ हिंसा होता है। इसी प्रकार 'स्पृधां' पद का 'लड़ाई करनेवाले राजपुरुषों के लिए यह तारविद्या अत्यन्त हितकारी है' यह

बाह्यत्वात्।"

इति पारिजातकथनमकिञ्चित्करमगूढचिन्तनफलत्वात्, रूढिकीलकबद्धानुवंरमस्तिष्कत्वाच्च। भवान् एव ब्रवीतु यदिह 'अश्विनौ' इति रूपं सम्बोधनस्यैव भवितुमर्हति किं वान्यविभक्तेरपि? अन्यत्रापि चेत्, किमर्थमाग्रहः सम्बोधनस्यैवेति। 'हे मनुष्याः' इति ऊहितसम्बोधनं सर्वथा साधीयः, तान्प्रत्येव सर्वोपदेशस्य प्रतिपादनौचित्यात्। तव तु 'नेदु नाम्ने राज्ञे' इति कथनं न केवलं मन्त्राक्षरबाह्यम् अपि तु बुद्धिबाह्यमनित्येतिहासस्य वेदेऽसम्भवात्। 'द्यु' दिवं वाऽभिलक्ष्य 'अभिद्युम्' इत्यस्य विशेषणत्वे श्वेतमग्निगुणमयमेवार्थो भवितुमर्हति, दिवि सूर्यविद्युद्रूपस्यैव लभ्यत्वाद् विद्युतो भास्वरत्वात्।

'द्यु' शब्दस्य द्युत्यर्थकत्वे द्युतेः प्रकाशस्य तारविद्याबोधकान्यशब्दसहचरितत्वाद् विद्युदर्थ एव साधीयान्, विद्युतैव तारद्वारा शब्दप्रेषणसम्भवात्। अत्र तारविद्याविषय इत्यनुक्त्वा तारविद्यामूलमिति कथनेन अथवा 'अस्मिन्मन्त्रे तारविद्याबीजं प्रकाश्यत' इत्यनेनापि ऋषिरेतस्या विद्याया मूलं वेदेऽपि वर्तत इति स्पष्टयति। एवं तारयति, अतिक्राम्यति अन्यान् शब्दान् इति व्युत्पत्त्या तार इति

अर्थ भी सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि मन्त्राक्षरों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।"

समा०—श्री करपात्र के उक्त आरोप सारहीन हैं; क्योंकि यह प्रश्न थोथे चिन्तन के परिणाम हैं। अब आप यह बताइये कि क्या 'अश्विनौ' यह रूप सम्बोधन में बनता है या यहां अन्य विभक्ति का है, यदि अन्यत्र भी बनता है, तो वह सम्बोधन का क्यों माना जाए? इसीलिए ऋषि दयानन्द ने सम्बोधन न मानकर 'तरुतारं' का विशेषण माना है। 'करो' क्रिया का अध्याहार करने पर (हे मनुष्याः!) यह सम्बोधन सर्वथा उपयुक्त है; क्योंकि यह समस्त विद्योपदेश मनुष्यों के लिए ही है। 'द्यु' अर्थात् सूर्यविद्युत्प्रकाश को अभिलक्षित कर 'अभिद्यु' शब्द बना। सूर्य-विद्युत्-प्रकाश श्वेत ही होता है। श्वेत शब्द 'टुओश्वि गतिवृद्ध्योः' तथा 'श्विता वर्णे' धातु से बनता है, अतः गतिवाली या गति देनेवाली विद्युत् जो कि अग्नि गुणवाली ही होती है, उक्त अर्थ किया, बिल्कुल ठीक है।

जहां-जहां प्रकाश है, वहां-वहां विद्युत् अवश्य है, अतः 'अभिद्यु' का अर्थ विद्युत्-प्रकाशयुक्त है, जो सर्वथा उपयुक्त है। दूसरे तारविद्या-बोधक अन्य शब्दों के साथ तार से शब्द प्रेषण करने में विद्युत् का योग होने तथा प्रकरण में सहचरित होने से 'विद्युत्' अर्थ का ही ग्रहण होगा। 'तारयति' अर्थात् जो विद्युत् के

https://t.me/DharmaSamrat

शब्दोऽपि सिद्ध्यति ।

'कुरुत' इति क्रियापदं शेषत्वेन आक्षिप्यते तदाकांक्षितत्वात् । 'शर्यं' शब्दस्य हिंसार्थकात् 'शॄ' धातोः निर्मितत्वादेव हननप्रेरणाद्यर्था लभ्यन्ते । हिंसा हि त्रासन-ताडनाद्यर्था । यथा व्रीहीन् अवहन्ति, कुट्टतीत्येवार्थः । यथा 'शर्यं' सुखमित्यपि हिंसार्थकाद् धातोः, तत्राशुभं हन्तीति व्युत्पत्तिः, तथैव हिनस्ति स्थिरतामित्येवं लभ्योऽर्थो गत्यर्थकाच्च 'हन्' धातोः प्रेरणार्थोऽपि सुगमः ।

न च वर्तमानतारयन्त्राणि दृष्ट्वा भगवता दयानन्देन स्वकल्पनया बलात् तदनुगुणाः शब्दार्था योजिता इति वाच्यम् । दिव्यदृष्ट्या संजयेन संग्रामगत-समस्तवृत्तं धृतराष्ट्रं श्रावितम्, यथात्र दिव्यदृष्टेर्दूरदर्शनस्य मूलं मृग्यते, तथैव शुक्रनीतिनामकग्रन्थाद् "अयुतक्रोशजां वार्तां हरेदेकदिनेन वै" (१।३।६७) इत्या-त्मकानि प्रमाणानि पर्वतः स्वामिनोऽन्यार्षवाङ्मयेऽपि दर्शनसम्भवात् । भवता पूर्वखण्डित एवतिहासिकोऽर्थः सायणाचार्यसम्मत उद्धृतः, नासौ युक्तियुक्तः ।

दिव्यदृष्टिविषये चरकसूत्र-स्थाने (अ० ११) कथितमस्ति—"धर्मद्वाराव-

---

वेग से अन्य शब्दों का अतिक्रमण करता है, इस प्रकार तार शब्द की सिद्धि भी है ।

आकांक्षित होने से शेषत्वेन 'कुरुत' क्रिया का अध्याहार हो जाएगा । हिंसार्थक 'शॄ' धातु से शर्य शब्द सिद्ध होता है । हन् का अर्थ ताडन त्रासनादि भी होता है । जैसे व्रीहि का अवहनन अर्थात् कुट्टन करता है । ताडन करने पर तरङ्ग उत्पन्न होने से प्रेरण भी होता है । 'शॄ' धातु से 'शर्य' शब्द भी बनता है, जहां दुःख या अशुभ का हनन होता है । उसी प्रकार स्थिरता को नष्ट करनेवाला तथा 'हन्' का गति अर्थ होने से 'प्रेरण' अर्थ उपलब्ध होता है ।

यह कहना कि वर्तमान तारयन्त्रों को देखकर भगवान् दयानन्द ने अपनी कल्पना से बलात् उसके अनुगुण शब्द और अर्थ की योजना कर दी, ठीक नहीं है । प्राचीन पुस्तकों में उपलब्ध है कि दिव्य दृष्टि से संजय के द्वारा संग्रामगत सारा वृत्तान्त धृतराष्ट्र को वहीं सुनाया गया था जैसे यहां दिव्य दृष्टि या दूर-दर्शन का मूल मिलता है, वैसे ही शुक्रनीतिनामक ग्रन्थ में "दश सहस्र कोश की बात एक दिन में हो जाती थी" ऐसा लेख मिलता है, इसके आधार पर आवि-ष्कार सम्भव हुआ । आपने इस मन्त्र का ऐतिहासिक अर्थ सायणकृत उद्धृत कर दिया है, जिस ऐतिहासिक पक्ष के वेद में होने की सम्भावना का हम पूर्व ही खण्डन कर चुके हैं ।

चरक सूत्रस्थान (अ० ११) में दिव्य दृष्टि के विषय में लिखा है कि "धर्म

हितैश्च व्यपगत-भयरागद्वेषलोभमोहमानैर्ब्रह्मपरैराप्तैः कर्मविद्भिरनुपहतसत्त्व-बुद्धिप्रचारैः पूर्वैः पूर्वतरैर्महर्षिभिर्दिव्यचक्षुर्भिर्दृष्ट्वोपदिष्टः" इति ।

प्रतिपदं चायं करपात्रः "प्रसिद्धमर्थं विहाय स्वामी अप्रसिद्धमर्थं गृह्णाति —अत्र किं मूलम्" इत्याक्षिपति । तदा ब्रूताम्, अस्मिन्नेव मन्त्रे तरुशब्दस्य प्रसिद्धोऽर्थस्तु वृक्षः, पुनस्तरुतारमित्यस्य तरणीयतारकमित्यर्थः कथंकृतः सायणेन ? निश्चितमेवात्र वैदिकशब्दानां लौकिकत्वमङ्गीकृतं तेन । तदा स्वामिवर्य एवाक्षेपः पक्षपातलेपप्रलेपः । वस्तुतस्तु वेदभाष्यस्य श्रेयान् पन्था यौगिक एव ग्राह्यः सर्वत्र ।

'स्पृधां स्पर्धमानानां' तत्र स्वीय एव तु विजयः, शत्रूणाञ्च पराजयः सर्वा-भीष्टो भवति, परमयमुत्तममर्थमक्षरबाह्यं मनुते । भवेन्नामाभिधाधीनामक्षर-बाह्यत्वं किन्तूर्वरमतीनां तु नैतद् बुद्धिबाह्यम् ।

एतस्यासूयादूषितमतिः स्पष्टं प्रस्फुटयति यदयम् 'चर्कृत्यं वारं वारं सर्व-क्रियासु योज्यम्' इति लिखितमभिनिन्दति, परं 'चर्कृत्यं सर्वकार्येषु मुहुर्मुहुः

द्वारा अवहित, भय, राग, द्वेष, लोभ, मोह, मान से रहित, ब्रह्मनिष्ठ, आप्त, कर्मवेत्ता; जिनके मन और बुद्धि की गतियां अनुपहत थीं, ऐसे पूर्व और पूर्वतर दिव्यदृष्टिवाले महर्षियों के द्वारा पुनर्जन्म (अदृष्ट) का उपदेश दिया गया है ।" इसी श्रेणी में स्वामीदयानन्दसदृश योगी विद्वानों की गणना है ।

प्रतिपद पर यह करपात्रीजी "स्वामी दयानन्द प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर अप्रसिद्ध अर्थ ग्रहण करते हैं, इसमें क्या आधार है" ऐसा आरोप लगाते हैं । तब बताइए, सायण ने तरु से प्रसिद्ध अर्थ 'वृक्ष' क्यों नहीं ग्रहण किया, तरणीय-तारक, विजयकारक अर्थ कैसे कर लिया ? श्रीमन् ! इस विग्रह तरणीय से इतनी तो पुष्टि होती ही है कि सायण भी कहीं-कहीं यौगिक अर्थ की शरण लेते हैं । यह मार्ग सर्वथा श्रेयस्कर था, कदाचित् वे रुढ़ि से छूटकर इसी यौगिक प्रक्रिया का ग्रहण करते तो वेदोद्धार होकर सबका कल्याण होता ।

संघर्षार्थक स्पर्ध धातु से सम्प्रसारणादि करने पर 'स्पृध' शब्द बनता है । स्पर्धा करनेवाले शत्रु का पराजय और अपना विजय तो अभीष्ट होता ही है । परन्तु ये महोदय इस अर्थ को अक्षरबाह्य कहते हैं, जब कि यह अर्थ सर्वथा अक्षरानुगत है । उर्वरमस्तिष्क इस बात को ठीक समझ रहे हैं, पर इनकी मति असूयाग्रस्त है ।

इस लेखक की गुणों में दोषारोपवृत्ति पूर्णतया स्पष्ट है, जो कि यह 'चर्कृत्यं' के 'वार-वार सब क्रियाओं में योज्य' स्वामीजी के इस अर्थ पर आक्षेप

https://t.me/Dharmadarshan

प्रयोज्यम्' इति, सायणमुद्धरन् स्वीयमभिनन्दति। अहो ! गर्हणीयोऽयमक्षम्यपक्षपातप्रलेपः।

यदाऽयं 'चर्षणी' शब्दः केवलं मनुष्यवाचकः, कथन्तदा शत्रुजनानामभिभवितारम्; अत्र शत्रुशब्दः कल्पितः ? सेनाजनानामेव दूरसन्देशप्रेषणादौ आवश्यकतया मनुष्यसेनायां कार्यसहनशीलम्, इति विज्ञानसमर्थकोऽर्थः सम्भवन् गृहीत ऋषिणा।

यच्चाह—"शुद्धधातुनिर्मितं तु सायणोक्तमेव" तदा सायणोक्तत्वादेव ते साधुत्वमभिमतम्, न च व्याख्यानम्। ऋषिणा 'अभिद्युम्' इति विशेषणसान्निध्येन 'अग्निगुणविद्युन्मयम्' इत्यपि सङ्गतोऽर्थ ऊहितस्तन्नाभिनन्दतीति पक्षपात एव।

शरीरधारिण; कस्यचिदिन्द्रस्य तदश्वस्य च धातुनिर्मितस्योहनं तु अशास्त्रीयम्। वस्तुतस्तु इन्द्रः सूर्यस्तदश्वश्च विद्युदेव साप्यश्नुते व्याप्नोति द्रुतं देशम्।

कर रहा है और ठीक वैसा ही 'सब कार्यों में वार-वार प्रयोज्य' इस सायणकृत अर्थ को उद्धृत कर रहा है, है न सिरफिरापन इसका ! यह पक्षपातप्रलेप सर्वथा गर्हित है।

'चर्षणी' शब्द का अर्थ मनुष्यवाचक है। यहां पर शत्रु शब्द तो श्री करपात्रीजी ने अपनी ओर से जोड़ दिया, अस्तु सह्य है। तो सेनाजनों के लिए दूर सन्देश-प्रेषण में 'मनुष्य सेना में कार्य-सहनशील' यह विज्ञानसम्भूत अर्थ ऋषि ने किया है।

आप सायण के अर्थ को उतार कर कह रहे हैं कि अश्विनीकुमारों ने 'पेदु' नाम के राजा के लिए इन्द्र से प्राप्त घोड़े को दे दिया। ऐसे बुद्धिहीन किस्से कल्पित करके वेद को प्राकृत जन का गीत बना देने का पाप ऐसे लोगों ने ही किया है।

यह भी कहना कि 'श्वेत' पद का शुद्धधातुनिर्मित अर्थ तो सायण का ही कहा हुआ है, इसलिए तो आप इसे ठीक मानते हैं, पर इन्द्र का घोड़ा जो आपने माना है, वह किस शुद्ध धातु से निर्मित है, नहीं बताया। परन्तु ऋषि द्वारा 'अभिद्युम्' इस शब्द के विशेषणसामीप्य से 'अग्निगुण विद्युन्मय' अर्थ निकालना सर्वथा प्रशस्य है, वह आपको नहीं भाता, यह तो आपका घोर पक्षपात ही है।

किसी इन्द्र को शरीरधारी मानना और उसके घोड़े को भी शरीरधारी मानना अशास्त्रीय पौराणिक कल्पना है। वास्तव में इन्द्र सूर्य है और उसका अश्व विद्युत् है, जो कि शीघ्र ही अन्य देश को व्याप्त कर लेती है।

इह विवेचका एतस्य बुद्धिपराभवमपि प्रणिभालयन्तु यदाहासौ यत् "पृतनासु संग्रामेषु दुस्तरम्..... .....चर्षणीसहं शत्रुजनानामभिभवितारम्" इत्यत्र संग्रामसाहचर्ये 'चर्षणी' इत्यस्य च मनुष्यवाच्यत्वे 'मनुष्यसेना' इत्येवार्थोऽधिगम्यते। पुनः सेनाकार्यादिबोधकपदाभावादिति आक्षेपवचनं बुद्धेर्दिवालयत्वमेवैतस्य। एषा मतिर्हि न्यसनीयाऽद्भुतालये। इति।

इति श्रीमद्बिहारीलालशास्त्रिशिष्येण श्रीयुतपण्डित-अयोध्याप्रसाद-
मिश्रात्मजेन श्रीमदाचार्यविशुद्धानन्दमिश्रेण श्रीयुतनिर्मला-
मिश्रा-सहधर्मिणीसहायेन विरचिते करपात्रिमतखण्डने
दयानन्दीयमतमण्डने 'वेदार्थकल्पद्रुम'नामग्रन्थे
'तारविद्याया मूलम्' विषयः
॥ सम्पूर्णः ॥

उक्त पर विचारशील जन श्री करपात्री का बुद्धि-पराभव ही इसे मानेंगे, जो ये एक ओर तो 'पृतना' का अर्थ संग्राम और 'चर्षणीसहम' का अर्थ शत्रुजनों का अभिभव करनेवाला कर रहे हैं। दूसरी ओर महर्षि के अर्थ पर आक्षेप करने से इनकी बुद्धि का दिवालियापन ही प्रकट हो रहा है; क्योंकि पृतना के साहचर्य से मनुष्यसेना ही उपयुक्त अर्थ है, जब कि आपको भी युद्ध में शत्रुजनों का अभिभव करना इष्टार्थ है। ऐसी बुद्धि तो प्रदर्शनी में ही रखने योग्य है, जो स्वकथित पौर्वापर्य को भी नहीं विचारती। इति।

श्रीमान् पण्डित बिहारीलालजी शास्त्री के शिष्य, श्रीयुत पण्डित
अयोध्याप्रसाद मिश्र के आत्मज, श्रीमदाचार्य विशुद्धानन्द
मिश्र द्वारा श्रीयुतनिर्मला मिश्रा सहधर्मिणी की
सहायता से विरचित करपात्रिमतखण्डन तथा
दयानन्दीय मतमण्डन करनेवाले इस
'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में
'तारविद्याया मूलम्' विषय
॥ सम्पूर्ण हुआ ॥

https://t.me/DharmaSanskrit

अथ वैद्यकशास्त्रमूलोद्देशः

पृ० १४२१—यदुच्यते—"सुमित्रिया' इति मन्त्रस्यार्थवर्णनमशुद्धमेव। मन्त्रार्थस्तु—'हे वरुण ! सुमित्रिया आप ओषधयश्च साधु मित्रत्वेनावस्थिताः सन्तु। यः शत्रुरस्मान् द्वेष्टि वं च वयं द्विष्मः, तस्मै उभयात्मकाय शत्रवे दुर्मित्रिया अमित्रत्वेनावस्थिताः सन्तु।" इति तु अनर्गलं प्रस्तुतम्, हेतोरनुल्लेखाद्, अशुद्ध-कथनेन स्वमुखसत्तामात्रप्रख्यातेः। वतो लक्षणप्रमाणाभ्यामेव वस्तुस्थितिर्न तु प्रतिज्ञामात्रेण।

वयं साधयामो यद् यः सायणाचार्यार्थः प्रस्तुतः स तु नान्वयमात्रावतिरिच्यते। महर्षेरर्थस्तु विशिष्टप्रतिभाप्रसूतिविभूतिमेवानुभावयति विभावयन्तु तथा भूरिप्रज्ञाः। यथा—

अत्र सम्बोधन एव 'परमवैद्येश्वर !' इति प्रख्यापयति अन्यविद्यानामिव वैद्यकशास्त्रस्यापीश्वर एवाद्यप्रणेता। भवत्कृपयेतिवचनेन रोगिण आस्तिकताया

पृ० १४२१—"सुमित्रिया न आपः' इस मन्त्र का अर्थवर्णन अशुद्ध ही है। इस मन्त्र का अर्थ तो इस प्रकार है कि—'हे वरुण ! हमारे लिये जल तथा औषधियां मित्र की तरह हित करनेवाली हों, तथा जो शत्रु हमसे द्वेष रखता तथा जिससे हम द्वेष रखते हैं, दोनों ही प्रकार के शत्रु कभी सुखपूर्वक न रहें।" पारिजात का यह कथन ही सर्वथा अनर्गल और अशुद्ध है; क्योंकि ऋषि दयानन्द के भाष्य को अशुद्ध कहने में इसने कोई हेतु प्रस्तुत नहीं किया है। जब कि न्याय शास्त्र के नियम हैं कि हम किसी वस्तु की सिद्धि लक्षण करके या प्रमाणों के आधार पर ही कर सकते हैं। इन्होंने अशुद्ध कहकर केवल अपने मुख की सत्ता का ही होना सिद्ध किया है। क्या अशुद्धि है, नहीं बताया।

हम यहां पर इनके द्वारा प्रस्तुत सायणाचार्य का मन्त्रार्थ अशुद्ध और अपूर्ण है, यह सिद्ध कर रहे हैं। यहां सायणोक्त मन्त्रार्थ प्रायः अन्वयमात्र ही समझना चाहिये। पर महर्षि दयानन्द के अर्थ से अपूर्व प्रतिभा-सम्पन्नता का प्रमाण मिल रहा है। जैसे—

महर्षि दयानन्द वैद्यक प्रकरण के इस मन्त्र में 'हे परम वैद्येश्वर' यह सम्बोधक विशेषण ही परम सार्थक दे रहे हैं। इससे उन्होंने अभिव्यक्त किया है कि वेद में अन्य विद्याओं के आदि प्रणेता की भांति वह परमेश्वर वैद्यक शास्त्र का भी आदि प्रणेता हैं। दूसरे 'भवत्कृपया' शब्द से ओषध्यादिसेवन में प्रभु की

दृढीकरणेन मनःस्फूर्तिमत्त्वापादनमपि ध्वन्यते। सायणस्य मित्रत्वेनावस्थिताः सन्तु, इति वचस्तु न कञ्चित् स्पष्टं भावं प्रस्तौति, परं भूमिकायाम् 'ओषधयः स्वस्थाय सुखप्रदा रोगिणश्च रोगनाशका भवन्तु न केवलमेवमेव, प्रत्युत विज्ञाताश्चापि भवन्तु। वयं तद्गुणैरभिज्ञाः समधीत्य भवेमेत्यप्यभिव्यज्यते। आपः प्राणाः प्रबला एव निरामयतायां हेतव इत्यपि गम्यते।

इदं तु सर्वथा भवतः सायणाचार्यस्याऽपि बुद्धिस्तराद् बाह्यं यद् यः को द्वेष्टि ? इति प्रश्नोद्भवे महर्षिस्तु समाधत्ते, अधर्मात्मा कामक्रोधादिर्वा, अध्यात्मक्षेत्रे द्वेष्टा शरीरे च रोगो विरोधी भवति, अत्र तापत्रयध्वननम्। यमेव च अधर्मात्मानं पुरुषं रोगं च वयं द्विष्म इति भाष्यं सम्यक्। तस्मै उभयात्मकाय शत्रवे दुर्मित्रिया

कृपा से ही ये औषधियां सुखद हैं, ऐसी भावना रोगी की सदा बनी रहे, यह भी ध्वनित किया है। उधर इनका अर्थ देखिये—'ओषधियां और आप साधु मित्ररूप से अवस्थित हों' यह भाष्य किसी विशेषार्थ को स्पष्ट नहीं कर रहा है। इधर भूमिकाभाष्य देखिये—"सुमित्राः सुखप्रदा रोगनाशकाः सन्तु, यथावद्विज्ञाताश्च" अर्थात् सोमलता आदि सब ओषधियां सुख देनेवाली रोगनाशक हों, और ठीक-ठीक हमको इनके गुणों का भी ज्ञान होवे। लोक में भी सुमित्र वही होता है जो सुख देनेवाला, मानसिक या शारीरिक चिन्ता आदि रोगों का प्रशमन करने में सहायक हो, और हम परस्पर के गुणों से भी परिचित हों, यह यह अर्थ कितना स्पष्ट व्याख्यात व उत्तम है।

"आपः' का अर्थ ऋषि ने 'प्राण और जल' दोनों किये हैं। जल के बाद हिन्दी में आदि पद से ईश्वर, वायु आदि भी अभिप्रेत समझने चाहिये। 'आपो वै प्राणाः' शत० ३।८।२।४ तथा उपनिषत्प्रमाण हैं कि जल के सूक्ष्मतम अंश से प्राण बनता है।

महर्षि दयानन्द का यह भाष्य आप और सायण दोनों के बुद्धिस्तर से ऊपर की बात है। यथा "योऽस्मान् द्वेष्टि जो अधर्मात्मा, काम, क्रोध आदि तथा रोग हमारे द्वेषी हों" इससे तापत्रय का ध्वनन है। यही शत्रु हैं। वैद्यक शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि अधर्मात्मा व काम-क्रोधादियुक्त मनुष्य पर ओषधियों का न्यून व देर से प्रभाव होता है क्योंकि क्रोधादि से शरीर में शीरा आदि की उत्पत्ति व वृद्धि हो जाती है। ऋषिभाष्य से धर्मात्मा बनने की प्रेरणा मिलती है; परन्तु पारिजात का हिन्दी का अनुवाद कितना दूषित है कि "शत्रु कभी सुखपूर्वक न हों"। मैं पूछता हूं, आप तो हों अधर्मी और शत्रु हों धार्मिक, तो बताइये कौन सुखी रहेगा ?

यह अर्थ कि "जो हमसे शत्रुता रखता है या जिससे हम शत्रुता रखते हैं,

https://t.me/Dharmesarthi

अमित्रत्वेनावस्थिताः सन्तु, इति कथनेनास्य उभयात्मकत्वे प्रार्थनाया नैष्फल्यापत्तेः। वयं ये प्रार्थयितारस्ते नैवाधर्मात्मानः। पारिजातस्य हिन्द्यामनुवादस्तु भ्रष्ट एव।

"ये सुपथ्यकारिणस्तेभ्य ओषधयो मित्रवद् दुःखनाशिका भवन्ति। तथैव कुपथ्यकारिभ्यो मनुष्येभ्यश्च शत्रुवद् दुःखाय भवन्ति" इति ऋषिः परामृशत्। यतो हि वैद्यकशास्त्रे—

"पथ्ये सति गदार्त्तस्य किमोषधनिषेवणैः।
पथ्येऽसति गदार्त्तस्य किमोषधनिषेवणैः॥" इत्युपदिष्टम्।

ऋषिराह—'एवं वैद्यकशास्त्रस्य मूलार्थविधायका वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति"। तेषु मया केचनोदाह्रियन्ते—

एवं भिषग्वरैर्नानौषधीनां संग्रहः कार्यः—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीव चातनः॥ (ऋ० १०।९७।६)

शतं ते राजन् भिषजः सहस्रमुर्वी गभीरा सुमतिष्टेऽस्तु (ऋ० १।२४।९)

तदेवं वातपित्तश्लेष्मात्मकानां त्रयाणां दोषाणां बीजरूपेण मौलिकः

उन दोनों को सुखप्रद या दुःखप्रद होवें" इस रूप में तो प्रार्थना की निष्फलता आ पड़ेगी। ऋषि के अर्थ से यह भी ध्वनित होता है कि हम धर्मात्मा बनें और काम क्रोधादि से रहित होवें। इतना ही कहकर ऋषि ने विराम नहीं लिया, अपितु आगे भी रोगनाश के लिये व नीरोग रहने के लिये अमोघ उपाय भी बता दिया कि जो सुपथ्यकारी हैं, उनको ओषधियां मित्रवत् दुःखनाशक होती हैं तथा जो कुपथ्य करनेवाले मनुष्य है, उन्हें शत्रुवत् दुःखकारक होती हैं। यह भी परामर्श दे दिया। क्योंकि वैद्यकशास्त्र में भी उपदेश किया गया है कि—

पथ्य करने पर रोगार्त्त को ओषधिसेवन करना व्यर्थ है, पथ्य से न रहने पर भी ओषधिसेवन करना व्यर्थ है, क्योंकि अपथ्य में ओषधि का कोई प्रभाव नहीं होता।

इस प्रकार वेद में वैद्यक-शास्त्र के मूलार्थ बतानेवाले बहुत से मन्त्र हैं। विशेष जिज्ञासु निम्न मन्त्र देखें—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीव चातनः॥ ऋ० १०।९७।६॥

शतं ते राजन् भिषजः सहस्रमुर्वी गभीरा सुमतिष्टेऽस्तु। ऋ० १।२४।९॥

इस प्रकार वेद में वात, पित्त और श्लेषात्मक तीनों दोषों का मौलिक

सिद्धान्तोऽपि समीचीनतया उल्लिखितो दृश्यते वेदे। तथा हि—

तं युञ्जाथां मनसो यो जवीयान् त्रिबन्धुरो वृषणा यस्त्रिचक्रः।
येनोपयाथः सुकृतो दुरोणं त्रिधातुना पतथो विर्न पर्णैः॥
ऋ० १।१८३।१॥

एवमेव ऋ० १।३४।७, ३।५६।६, ४।४२।४; अथर्व० १।११।५ आद्यो मन्त्राः। मूलस्य उद्देशोऽर्थान्नाम्ना संकीर्तनमात्रमिष्टमिह।

इति श्रीमद्बिहारीलालशास्त्रिशिष्येण श्रीयुतपण्डित-अयोध्याप्रसाद-मिश्रात्मजेन श्रीमदाचार्यविशुद्धानन्दमिश्रेण श्रीयुतनिर्मला-मिश्रा-सहधर्मिणीसहायेन विरचिते करपात्रिमतखण्डने दयानन्दीयमतमण्डने 'वेदार्थकल्पद्रुम'नामग्रन्थे 'वैद्यकशास्त्रमूलोद्देशः'
॥ सम्पूर्णः॥

सिद्धान्त बीजरूप में वेद में निहित है। जैसे—

तं युञ्जाथां मनसो यो जवीयान् त्रिबन्धुरो वृषणा यस्त्रिचक्रः।
येनोपयाथः सुकृतो दुरोणं त्रिधातुना पतथो विर्न पर्णैः॥
(ऋ० १।१८३।१)

इसी प्रकार—ऋ० १।३४।७, ३।५६।६, ४।४२।४; अथर्व १।११।५ आदि मन्त्र द्रष्टव्य हैं। यहां केवल वैद्यकशास्त्र के मूल का नाममात्र से कहना उद्दिष्ट है।

श्रीमान् पण्डित बिहारीलालजी शास्त्री के शिष्य, श्रीयुत पण्डित अयोध्याप्रसाद मिश्र के आत्मज, श्रीमदाचार्य विशुद्धानन्द मिश्र द्वारा श्रीयुतनिर्मला मिश्रा सहधर्मिणी की सहायता से विरचित करपात्रिमतखण्डन तथा दयानन्दीय मतमण्डन करनेवाले इस 'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में 'वैद्यकशास्त्रमूलोद्देश'
॥ सम्पूर्ण हुआ॥

https://time/DharmaSanchat

अथ पुनर्जन्म-विषयः

केचिद् वेदाऽप्रणिहितमतं मन्यमाना यथेच्छम्,
मृत्वा भूयो जननमपि नो मन्वते प्राणिनां वै।
ईसाभक्ता यवनमतगास्तर्कशून्या अधन्याः,
मुक्तेः सीमा निगमगदिता तत्पुनर्जन्मसिद्धिः॥

पृ० १४२२– यदुच्यते श्रीकरपात्रिणा—"असुनीते पुनरस्मासु' इत्यादि-व्याख्याने यद्यप्यर्थो नातीवाऽसङ्गतस्तथापि कर्मवशादवश्यम्भाविनि जन्मनि चक्षुरादीन्यवश्यं भविष्यन्त्येव, कर्मप्रातिकूल्ये तद्विघटनमप्यवश्यं भावीति तत्-प्रार्थनं निरर्थकमेव, तथापि प्रार्थनया सामर्थ्यविशेषप्राप्तिस्तत्र सम्भवत्येव।" तदिदं बालभाषितमिव, नैरर्थक्य-प्रतिपादनानन्तरमपि पुनः सामर्थ्यविशेषप्राप्त्या प्रार्थना-वश्यकतासमर्थनात् तद्विचाररमणीयम्।

किञ्चेदं प्रार्थनं वेदमन्त्राक्षरमूलकं तदेवं शङ्कनं नास्तिक्यावहम्। वस्तुतस्तु नास्तिक्यवृत्तिभ्रान्तमतित्वादेवायं वक्ति 'वेद-प्रार्थना-नैरर्थक्यम्'। परमेश्वर-

---

कतिपय लोग वेद से अप्रतिपादित मत को यथेच्छ मान प्राणियों का मर-कर पुनरागमन (पुनर्जन्म) नहीं मानते हैं। ऐसे ईसाभक्त और यवनमतानुयायी तर्कशून्य दुर्भागी हैं; क्योंकि वेद में मुक्ति की सीमा कही गई है, अतः पुनर्जन्म की मान्यता सिद्ध है।

पृ० १४२२ पर करपात्रीजी कहते हैं कि "'असुनीते' इत्यादि मन्त्र का व्याख्यान यद्यपि अधिक असङ्गत नहीं है, किन्तु कर्मों के कारण जन्म अवश्य होगा और जन्म होने पर चक्षु आदि इन्द्रियां भी होंगी ही। कर्मों के प्रतिकूल होने पर उन इन्द्रियों की विगुणता रोकी नहीं जा सकती। ऐसी परिस्थिति में उसके लिए प्रार्थना निरर्थक है, तो भी प्रार्थना करने पर सामर्थ्यविशेष की प्राप्ति सम्भव हो सकती है।"

इनका यह सब कथन बालिशभाषण है। अन्तिम दोनों वाक्यों में परस्पर विरोध है। प्रथम में आक्षेप और अन्तिम में समाधान है। प्रथम में प्रार्थना की निरर्थकता और दूसरे में उससे सामर्थ्यविशेष का होना भी कह दिया, न जाने आप किस सनक में थे।

भाई! यह प्रार्थना तो वेदमन्त्राक्षरमूलक है, इस पर शङ्का करना नास्तिकता है। प्रार्थना से निर्भीकता आती है। जैसा कि वेदमन्त्र में 'मृडय'

प्रणिहितमतेर्भक्तस्य तु तदेकमात्राश्रयस्य न कदाचिदप्येवंविधविकल्पः सञ्जायते। प्रार्थनया मृत्युभयसहनशक्तेराधायकत्वं भवति। अस्मिन् मन्त्रे 'असुनीते' 'प्राण-मिह नो धेहि' इति पाठेनायमपि ध्वन्यते सिद्धान्तो यद् यः प्राणान् शरीरे पुनर्धातुं धारयितुं वा समर्थः स एव प्राणान्नेतुमितः शरीरादपक्रामयितुमधिकारी नान्यः, अन्यस्तु पापकर्त्तैव मन्तव्यः। वस्तुतस्तु 'णीञ्' धातोरेव प्रापणार्थकाभिखिलार्थो व्यज्यते।

पृ० १४२३ पं० ३—यदुक्तम्– 'असुनीते' इत्यत्र पुनर्जन्मलिङ्गं दृश्यते, तत्प्रतिपादनम्" इति, तदपि तर्कानुमतम्। नेयं काचिद् देवी। लिंगं हि गत्यर्थकाद् 'लिगि' धातोः 'हलश्च' (अष्टा० ३।३।१२१) इति घञि निष्पद्यते। परोक्षार्थो ङ्गिचते गम्यतेऽनेनेति लिङ्गम्। तथा हि न्यायशास्त्रे—

"लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धदर्शनमाद्यं प्रत्यक्षम्, लिङ्गदर्शनं द्वितीयम्, बुभुत्सावतो द्वितीयलिङ्गदर्शनात् संस्काराऽभिव्यक्त्युत्तरकालं स्मृतिः, स्मृत्यनन्तरं च पुनर्लिङ्ग-दर्शनमयं धूम इति तदिदमन्तिमं प्रत्यक्षं पूर्वाभ्यां प्रत्यक्षाभ्यां स्मृत्या चानुगृह्य-माणं परामर्शरूपमनुमानं भवति, यत् पुनरस्य फलमग्निविषयाप्रतिपत्तिः, इति वचनात्।" लिङ्गे स्वीकृते प्रतिपादनमपि स्वीकर्त्तव्यं भवता, तल्लिङ्गमूलक-त्वात्।

पृ० १४२३, पं० ४—"सोमो नः तन्वं शरीरं पुनर्ददातु" इति भवद्व्याख्या-

---

अर्थात् 'सुखी करो' से स्पष्ट है। इस मन्त्र में 'असुनीते' और 'प्राणं धेहि' इन पदों के पाठ से यह भी सिद्धान्त ध्वनित होता है कि जो शरीर में प्राण डाल सके, उसी को प्राण लेने का अधिकार है, अन्य का नहीं। वास्तव में 'णीञ्' धात्वर्थ से ही निखिलार्थ व्यञ्जित हो रहा है। भला सोचिए, वह पहचान क्या प्रतिपादन नहीं है? इनका कथन बेतुका और बुद्धिशून्य है। लिङ्ग कहते ही उसे हैं जिसके द्वारा ज्ञान या प्रतिपादन हो। जैसा कि न्यायदर्शन में कहा है—

"लिङ्गलिङ्गी सम्बन्ध का दर्शन, आद्य प्रत्यक्ष, दूसरा प्रत्यक्ष-लिङ्गदर्शन, जानने की इच्छावाले को द्वितीय लिङ्गदर्शन से संस्कारों की अभिव्यक्ति के उत्तर-काल में स्मृति और स्मृति के अनन्तर पुनर्लिङ्गदर्शन, 'यह धुंआ है' इस प्रकार का यह अन्तिम प्रत्यक्ष पूर्व के दोनों प्रत्यक्षों के द्वारा और स्मृति से अनुगृह्यमाण परामर्शरूप अनुमान होता है। इसका फल अग्निरूप प्रतिपत्ति (प्रतिपादन) है।" इससे भी यह पुनर्जन्म लिङ्गदर्शन स्वीकृत कर लेने पर आपको प्रतिपादन या प्रतिप्रत्ति भी अवश्य स्वीकरणीय होनी चाहिए, क्योंकि प्रतिपादन का मूल तो लिङ्ग है ही।

पृ० १४२३, पं० ४—"सोम हमारे लिए शरीर देवे" इस आपके कथन से

https://t.me/Dhanasamrat

नैनैव सिध्यति यन्मृत्युनाऽपाहृतशरीरस्यैव पुनस्तादृक्शरीर-प्राप्ति-प्रार्थना भवति ।

पृ० १४२४, पं० १३—"वस्तुतस्तु कर्मानुसारेण जन्मानि प्राप्नुवन्ति, जन्मसु तन्नान्तरीयकाणीन्द्रियाद्योन्युपलभ्यन्त एव, अतस्तत्प्राप्तिप्रार्थना तु निरर्थकप्राया। ..... -शास्त्रप्रामाण्यवादिनामामुष्मिकफलकर्मणां विधानादेव पुनर्जन्मानायाससिद्धमेव ।"

पारिजातस्य इदं वचोऽपि बुद्धिशून्यतामेव पुष्णाति, तर्कासङ्गतत्वात् । न हि जन्मसु समेषामेव सर्वाणीन्द्रियाणि जायन्ते, पूर्वकृतकुकर्मजन्यफलेन तेषामन्यतमस्याप्यनुपलभ्यमानस्य प्रत्यक्षत्वात् । न च तदा प्रार्थनाया नैरर्थक्यम्, सत्यां च तस्यामीश्वरप्रेरणया सत्कर्मकरणप्रवृत्तिशीलत्वात् परिणामे पुनर्जन्मनि अविकलेन्द्रियोपलम्भ-सम्भवात् ।

पृ० १४२४, पं० १४—यदप्याह—"पुनर्जन्मसाधनायैतेषां मन्त्राणां प्रयोगो-

---

भी शरीर की पुन. प्रार्थना भी पुनर्जन्मपोषिका है।

पृ० १४२४, पं० १३—"वास्तव में प्राणी अपने कर्मों के अनुसार जन्म पाते हैं, जब पुनर्जन्म होगा, तो उसके साथ अनिवार्यरूप से इन्द्रिय आदि की प्राप्ति होगी ही, अतः इनकी प्राप्ति के लिए प्रार्थना निरर्थक ही है। .....पारलौकिक फल के लिए कर्मों का विधान होने से पुनर्जन्म अनायास सिद्ध ही है।"

लेखक का उक्त कथन बुद्धिशून्यता का द्योतक है तथा तर्क से अपुष्ट है; क्योंकि 'न जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' अर्थात् बिना कर्म किये नहीं रह सकता। अतः कर्म तो होते ही रहेंगे। तो क्या सत्कर्मों का चिन्तन, प्रार्थना द्वारा उत्तम सात्त्विक बुद्धि का बनाना आपकी दृष्टि से निरर्थक ही है ?

महाशय ! आपका मन इतना दूषित क्यों है ? जो आप महर्षि दयानन्द-कृत उत्तम अर्थों का विरोध ही विरोध करते हैं। क्या श्रेष्ठ गुणयुक्त चक्षु मन आदि इन्द्रियों की प्रार्थना नहीं करनी चाहिए ? यदि नहीं करेंगे, तो आप ही जैसा असूयक और निकृष्ट मन प्राप्त होगा। अन्य जन्म में यह अनिवार्य नहीं है कि ईश्वरप्रणिधान व इनके अनुग्रह के बिना सभी उत्तम इन्द्रियां प्राप्त हो जावें। पूर्वजन्मकृत कुकर्मजन्य फल से अन्यतम इन्द्रिय की हानि भी हो सकती है, जैसा कि प्रत्यक्ष देखने में आता है, तब प्रार्थना की निरर्थकता कदापि नहीं है। प्रार्थना करने पर ईश्वरप्रेरणा से सत्कर्म करने की प्रवृत्तिशीलता और ईश्वर में निष्ठा होती है। तब परिणाम में उत्तम अविकल इन्द्रियों का मिलना सम्भव है।

पृ० १४१४, पं० १४—यह कहना कि "पुनर्जन्म सिद्ध करने के लिए इन

ऽपि न युक्तः" तदपि वेदेष्वनास्थाबुद्धेः समुज्जृम्भणमात्रम् । महर्षेस्तु एतदेव वैशिष्ट्यं यदसौ प्रत्येकसिद्धान्तस्य सार्थकताया मूलं वेदादेव प्रतिपादयति, येन सिध्यति यत् सर्गारम्भादेवास्माकं पूर्वजा पुनर्जन्मादिसिद्धान्तान् स्वयं विजानन्तो निखिलेभ्यो जनेभ्यस्तज्ज्ञानं प्रददुः ।

पृ० १४२४, अनु० ४—यदुक्तम्—"अग्ने त्वं सुजागृहि' इतिमन्त्रेण यजमानस्य स्वापो विहितः, कात्यायनश्रौतसूत्रस्मरणात् । ... . नात्र पुनर्जन्मप्रसङ्गः" इति, तदप्रासङ्गिकम्, ऋषिणा तदनुद्धरणात् । उपरि तु अयं प्रार्थनामाक्षिपन्नस्ति, अत्र पुनः स्वप्रार्थनं कथं न व्यर्थमस्य ?

पृ० १४२५, अनु १—"पुनर्मेत्विन्द्रियमित्यपि मन्त्रो न पुनर्जन्मबोधकः" इत्युक्तिरप्यर्थानवबोधादेव, 'आत्मा देहाऽभिमानी' इत्यर्थादेव पुनर्जन्मपुष्टेः । देहाभिमानी आत्मा मनःसंयुक्तः सप्राणः । अस्मिन् जन्मनि च मनसः 'पुनर्मनः पुनरायुः पुनः प्राणः' इति प्रमाणेन च आयुषः प्राणानाञ्च अस्तित्वात् पुनर्याचनाया नैष्फल्यापातात् ।

मन्त्रों का सहारा पकड़ना भी ठीक नहीं है" यह कथन भी वेद में अनास्थाबुद्धि के ही कारण है। महर्षि की सर्वातिशायिनी विशेषता तो यही है कि उन्होंने प्रत्येक सिद्धान्त की सार्थकता का मूल वेद में ही प्रतिपादित माना है। जिससे सिद्ध होता है कि सृष्टि के आरम्भ से ही ईश्वरीय ज्ञान वेद से हमारे पूर्वजों ने पुनर्जन्मादि सिद्धान्तों को स्वयं जानते हुए समग्र मनुष्यों के लिए इस ज्ञान का दान दिया था।

पृ० १२४, अनु० ४—"अग्ने त्वं सुजागृहि' मन्त्र को उद्धृत कर कात्यायन का सन्दर्भ देकर अग्नि से जागो को प्रार्थना और स्वयं सो जाने की बात कही है।" इस विषय में हम इतना ही कहेंगे कि यह उद्धरण ऋषि ने नहीं दिया है। अच्छा यह बताइए, कि आप ऊपर प्रार्थना करने पर आक्षेप कर रहे थे। यहां पर आप प्रार्थना कर रहे हैं कि 'हे अग्ने तुम जागते रहो और हमारी सावधानी से रक्षा करो' तो यहां आपने नहीं सोचा कि अग्नि तो बिना प्रार्थना के ही जगता तथा रक्षा करता रहता है। फिर आपकी प्रार्थना व्यर्थ क्यों नहीं ?

पृ० १४४५, अनु० १—"पुनर्मेतु' यह मन्त्र भी पुनर्जन्म का बोधक नहीं।" पारिजातकार का यह कथन मन्त्रार्थ को न समझ पाने के कारण है। मुझे धन व पुन. इन्द्रिय प्राप्त हो, इस आपके ही कथन से पुनः शरीर की प्राप्ति तो दूसरे जन्म में हो सकती है। 'पुनर्मनः पुनरायुः पुनः प्राणः' इस मन्त्र से बिल्कुल स्पष्ट है कि मन, आयु और प्राण की पुनः प्राप्ति तो दूसरे बार (द्वितीय जन्म) में ही हो सकती है।

https://t.me/Dharmaraj_Sarmat

न च स्वप्नावस्थायां सुषुप्तौ वा मनसो वृत्त्यभावाद् इन्द्रियाणां चाऽपि लुप्तत्वाद् अस्मिन्नेव जन्मनि एषा प्रार्थना सङ्गच्छत इति वाच्यम्, अस्मिन् जन्मनि वस्तुतो मनआदीनामभावाभावात्। शयनमात्रेण अथवा मनसः पुरीतत-नाड्याश्रयेण इन्द्रियसम्पर्काभावे तद्वृत्तेर्वस्तुनः परिज्ञाने मन-इन्द्रिययोरभाव-कथनं तु चक्षुषोर्मीलने दृश्य-संसारस्याभावकथनमिव मृषा।

एतन्मन्त्रोक्तं ब्राह्मणं ब्रह्म-निष्ठात्वमेव, न तु मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः। ऋषिभाष्योत्तमार्थव्याख्यानं तु पश्चाद् विस्तरशो विधास्यते मयका।

पृ० १४२६, अनु० १—"आ यो धर्माणि' इति मन्त्रोऽपि न त्वदभिप्र य-पोषकः, किन्तु जन्मकर्मणां कार्यकारणभावमेव बोधयति। यः प्राणभृज्जीवः प्रथमः पूर्वजन्मसु धर्माणि धर्मरूपाणि ससाद, कर्मणामनुष्ठानेन धर्मरूपमदृष्टं प्राप्तवान्, स तत एव पुरूणि वपूंषि कृणुषे कुरुते।" इति, अत्र कुशाग्रमतयस्तर्क-प्रतिष्ठा-निष्ठा विचारयन्तु यदा 'जन्मकर्मणां कार्यकारणभावोऽनेन बोध्यते' तदापि 'पूर्व-

---

शङ्का—स्वप्न वा सुषुप्ति अवस्था में मन की वृत्ति का अभाव होने से इन्द्रियों की भी लुप्तता मान ली जावेगी, तो इसी जन्म में मन, इन्द्रियों की पुनः प्राप्ति मानना तर्कसङ्गत प्रतीत होता है।

समा०—नहीं, उक्त कथन बिल्कुल तर्कयुक्त नहीं है। सोजानेमात्र से या मन के पुरीतत नाडी में जाने पर, इन्द्रियों से सम्पर्क न रहने पर, वृत्ति या किसी वस्तु का ज्ञान न होने से मन और इन्द्रियों का अभाव मानना तो ऐसा ही है, जैसे आंखें बन्द कर लेने पर दृश्य संसार का अभाव मानना।

ब्राह्मण शब्द से ब्राह्मणात्मक वेद अर्थ ग्रहण करना अबुद्धिसङ्गत है, क्योंकि व्याख्याग्रन्थ ब्राह्मण तो वेदचतुष्टयी के बाद के हैं, पुनः वेद में उस ग्रन्थ की चर्चा सर्वथा असम्भव है। अतः ब्रह्मनिष्ठात्व अर्थ करना ही ठीक है। ऋषि-भाष्य के अत्युत्तम अर्थों का व्याख्यान-मूल्याङ्कन तो विस्तार से हम इस कल्पद्रुम की समाप्ति के अनन्तर करने का शुभ सकल्प कर रहे हैं, जो परमेश्वर के अनुग्रह से एक उत्तम ग्रन्थ होगा।

पृ० १४२६, अनु० १—"आ यो धर्माणि' यह मन्त्र भी दयानन्द के अभिप्राय का पोषक नहीं है; किन्तु जन्म और कर्म के कार्यकारण भाव को बताता है। जो प्राणधारी जीव पूर्वजन्म में पुण्य कर्मों को करके धर्म (अदृष्ट) का संचय करता है, वह व्यक्ति उन्हीं के कारण उत्कृष्ट शरीरों को प्राप्त करता है।" करपात्रीजी के इस लेख पर कुशाग्रमति, तर्कनिपुण व्यक्ति विचार करें कि जब जन्म और कर्म

कर्मभिरेतज्जन्माधिगतिः, एतज्जन्मकर्मभिर्भाविजन्मसिद्धिर्जाता' एष एवाभिप्रायो महर्षेर्यदेतेन पुनर्जन्म सिध्यतु। न तु ते यथा दुरभिप्राय एषः। परमेतस्याहङ्कृते-स्तोषो महर्षेर्मतखण्डनप्रयास एव, भवेन्नामासौ प्रयासो निष्फलोऽत्र परम्।

पृ० १४२७, अनु० २—"यत्तु—एकः पितॄणां ज्ञानिनां देवानां विदुषां च द्वितीयो मर्त्यानां विद्याविज्ञानरहितानां तयोरेकः पितृयानो द्वितीयो देवयानश्च' इति, तत्तु निर्मूलमेव, ज्ञानिनां विदुषां च बोधे तयोश्चैकमार्गत्वे देवपितृशब्दाभ्यां मार्गद्वयवर्णनाऽसङ्गत्यापत्तेः।" इत्यपि ऋषेरभिप्रायाऽमननादेवोच्यतेऽनेन।

भूमिकाया मन्त्रस्यान्वयपूर्वकार्याऽकरणे एव एषा भ्रान्तिरुत्पद्यते। अन्व-यस्तु एषः। यथा यजुर्भाष्ये—'अहं पितॄणां मर्त्यानां देवानां च द्वे सृती अशृणवम्'।

का कार्यकारण भाव इन्होंने स्वीकार किया है, तो पूर्व कर्मों के कारण इस जन्म की प्राप्ति और इस जन्म के कर्मों से पर जन्म की प्राप्ति सिद्ध ही हो गई। बस, इतना भर अभिप्राय ऋषि का है कि इन मन्त्रों से पुनर्जन्म की सिद्धि हो और आपका दुरभिप्राय जो पुनर्जन्म की असाध्यता करता है, वह कदापि सिद्ध नहीं होता। तथापि इनका अहङ्कारपूर्ण प्रयास ऋषि के मत-खण्डन का तो चलता ही रहेगा, चाहे वह निष्फल ही क्यों न हो।

पृ० १४२७, अनु० २—शङ्का—"एक पितृ अर्थात् ज्ञानियों, देवों और विद्वानों का, दूसरा विद्या-विज्ञानरहित मनुष्यों का। उनमें एक पितृयान है, दूसरा देवयान' यह व्याख्या तो निर्मूल है, असङ्गत है, क्योंकि पितृ शब्द से ज्ञानी और देव शब्द से विद्वान् का अर्थबोध होने पर दोनों तो एक ही हुए, तो इन्हीं के नाम पर दो भिन्न भाव कैसे?"

समा०—यह सारा कथन ऋषि के अभिप्राय को मनन न करने का परिणाम है। भूमिका में मन्त्र का अन्वय न करके अर्थ करने से यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है। अन्वय यजुर्भाष्य में इस प्रकार है—

'पितॄणाम् मर्त्यानाम् देवानाम् च' पितर जो केवल सांसारिक सुख भोगने-वाले विद्या-विज्ञानरहित आवागमन चक्र में पड़े हुए विषय-सुख भोगनेवाले हैं। दूसरे ज्ञानी विद्वान् मोक्षसुख भोगनेवाले अमृतों का मार्ग। इसीलिए अन्वय में 'पितॄणां मर्त्यानां देवानां च' भावार्थ में स्पष्ट किया है। भूमिका में भाष्य अन्वया-नुसारी नहीं किया है। यहां भी अन्वय में 'पितर और मर्त्यों' (मरणशील) का और देवों का, ये दो मार्ग हैं, ऐसा समझना चाहिए।

यहां यह भी प्रश्न हो सकता है कि देव शब्द से जब भूमिका में विद्वान् गृहीत किए गए हैं, तब वे भी तो मर्त्य अर्थात् मरणधर्मा हैं, फिर केवल पितर

https://t.me/Dharmasastra

यजुषि अन्वये— 'पितृणां मर्त्यानां देवानां च द्वे सृती अशृणवम्'। भावार्थे द्वे एव जीवानां गती वर्तेते। एका मातृपितृभ्यां जन्म प्राप्य संसारे विषयसुखभोगरूपा, द्वितीया विद्वत्सङ्गादिना मुक्तिसुखभोगाख्याऽस्ति।

पुनरत्र एष प्रश्नो यद् देवशब्देन भूमिकायां विद्वांसो गृह्यन्ते, तेऽपि खलु मरणधर्माणो मर्त्या कथं पितर एव मर्त्याः? तत्राह "मर्त्याः पितरः" (श० २।१।३।४)। न चंकश्रेण्यामेव पितरो देवा वा। यथाह—

'पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।' (मनु० १२।९४)

'ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।' (मनु० ३।८०)

'यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।' (यजु० २३।१४) इति।

अथवा यथाप्रकरणं पितरोऽपि देवा भवन्ति। यथा 'देवा वा एते पितरः' (गो० ३०।१।२४)। भूमिकायामिह पितृणामित्यस्य नार्थो 'ज्ञानिनाम्' इति।

ननु देवा हि विद्वांसोऽत्र गृहीतास्ते तु ज्ञानिन एव भवन्ति, पुनः किमर्थं ज्ञानिनां देवानामिति सविशेषण-प्रयोगः कृत इति चेन्न, देवा हि द्विविधा ज्ञानिनश्चेतना विद्वांसः, अचेतनाः सूर्यादयः। तत्र ज्ञानिनां चेतनानां देवानामर्थाद् विदुषामेवात्र ग्रहणम्, न तु जडानाम्, इति द्योतनाय ज्ञानिनां देवानामित्यस्य

को मर्त्य मानना और देवों को मर्त्य न मानना युक्तियुक्त नहीं है। इस विषय में यही समझिए कि 'प्रकरणभेदादभिप्रायभेदः' अर्थात् प्रकरणानुसार अनेकार्थक शब्दों के अभिप्राय में भी भेद हो जाता है। इस विषय में प्रमाण देखिए—

शतपथ में पितर का विशेषण मर्त्य दिया है। यह कहना सर्वत्र संगत नहीं है कि पितर और देव तो एक ही हैं; क्योंकि मनु ने भी पितृ, देव, मनुष्य, ऋषि, भूत, अतिथि सभी मर्त्य होते हुए भी इसमें श्रेणीय कोटि भेद माना है और कहीं-कहीं पितरों को ही देव कहा है। जैसे गोपथ में कि 'ये देव पितर हैं'। यहां पर पितरों का अर्थ ज्ञानी अभिप्रेत नहीं है, प्रत्युत यहां पितर का अर्थ विद्याविशेष-रहित मर्त्य अर्थ गृहीत है।

शङ्का—यहां पर देव शब्द से विद्वान् लिए गए हैं, वे ज्ञानी ही होते हैं और फिर 'ज्ञानी देव' यह सविशेषण प्रयोग क्यों किया?

समा०—देव दो प्रकार के होते हैं। एक चेतनज्ञानी, दूसरे अचेतन सूर्य आदि। उनमें ज्ञानी चेतन देव अर्थात् विद्वान् का ही यहां ग्रहण होगा, जड़ देवों का नहीं होगा। यह द्योतन करने के लिये ज्ञानी विशेषण दिया गया है। उक्त भाव को महर्षि ने अपने संस्कृतभाष्य में स्पष्ट किया है अतः 'एकः पितृणाम्, ज्ञानिनां

विशेषणम्। पितृणां च मर्त्यानां विद्याविशेषज्ञानरहितानामेवात्र ग्रहणम्। तदा एकं पितृयानं द्वितीयं च देवयानमिति द्वयं सूपपन्नम्।

एतद्विषयमतितरां विशदीकर्तुं विशिष्टमिहोपन्यस्यते। ऋषिर्दयानन्दः पञ्चमहायज्ञविधौ 'पितृषु प्रमाणम्' इत्युपशीर्षकेण 'आयन्तु नः' इति मन्त्रस्य हिन्द्यामलेखीत्—'पथिभिर्देवयानैः' इत्युक्तभेदेन मार्गद्वयम्—देवयानं पितृयानं चेति। मोक्षोपासना देवयानम्, कर्मोपासना पितृयानम्। सर्वेऽत्रैव पुरुषार्थं विदधति।

अत्र यथावत्तत्त्वज्ञं मोक्षतत्त्वज्ञं विद्वांसं वदन्ति। यथा—

यत्र काले त्वनावृत्तिम् आवृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ गी० ८।२३॥

प्रथमदेवयानिजनाः—

'तत प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।' गी० ८।२४॥

देवानां विदुषां च द्वितीयः' इस प्रकार 'पितृणाम्' के बाद अल्पविराम तथा 'द्वितीयः' के अनन्तर अल्पविराम संस्कृत में स्पष्ट प्रतिप्रत्यर्थ आवश्यक है।

इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए नीचे विशिष्ट लिखा जा रहा है। ऋषि दयानन्द ने पञ्चमहायज्ञविषय में आगे 'पितृषु प्रमाणम्' के 'आयन्तु नः पितरः' मन्त्र की हिन्दी में लिखा है—"पथिभिर्देवयानैः' उक्त भेद से विद्वानों के दो मार्ग होते हैं—एक देवयान और दूसरा पितृयान। अर्थात् जो विद्या (वेत्ति यथावत्तत्त्वमनया सा विद्या मोक्षप्रदा) मार्ग है, वह देवयान और जो कर्मोपासना मार्ग है, वह पितृयान कहाता है। सब लोग इन दोनों प्रकार के पुरुषार्थ को सदा करते रहें।"

यहां यथावत्तत्त्व अर्थात् मोक्षतत्त्व को जाननेवाले को विद्वान् कहा है। इसी देव शब्द को गीता में इसी मार्गनिरूपण में योगी कहा गया। यथा—

'यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥८।२३॥

अर्थात् हे अर्जुन! जिस काल (सृति, गति, मार्ग) में शरीर त्याग कर गए हुए योगी जन फिर न आनेवाली गति और पुनरागमन को प्राप्त होते हैं, उस काल अर्थात् मार्ग को कहूंगा।

प्रथम देवयानी पुरुष—'तत प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः'।

https://t.me/DharmaSamrat

द्वितीयपितृयानिजनाः—

'तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ।' गी० ८।२५॥

'नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।' गी० ८।२७॥

'द्वे सृती' इति वेदमन्त्रे द्वौ मार्गौ जन्मधारणे— एको मानुषः, अपरः पशु-पक्षिकृम्यादिसम्बन्धी । मनुष्येष्वपि मार्गद्वैविध्यम्—एको विद्याविज्ञानसम्बन्धी मार्गः, इतरश्च विद्याविज्ञानरहितः । विद्याविज्ञानवतामपि द्वौ मार्गौ—एको मोक्षगामी, अपरः कर्मोपासनात्मकः ।

'पितरं मातरं च अन्तरा' अन्तरा मध्ये अर्थाद् 'जीवनधारणाय रजो-

दूसरे पितृयानी—'तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते' । प्रथम ब्रह्म अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होते हैं। दूसरे चान्द्रमस ज्योति प्राप्त कर लौटते हैं। 'नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन' अर्थात् इन दोनों मार्गों को तत्त्व से जानता हुआ कोई भी योगी मोहित नहीं होता ।

यहां वेदमन्त्र में प्रथम 'द्वे सृती' से दो प्रकार के जन्मरूपी मार्ग अर्थात् मनुष्य और मनुष्येतर पशु पक्षी कृमी आदि समझने चाहिए। उन मनुष्यों में भी दो भेद हैं—एक विद्या विज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाले, दूसरे इन से रहित जड़मति अनाड़ी। विद्या-विज्ञान रखनेवालों के भी दो भेद हैं—एक मोक्षगामी ज्ञानमार्गी दूसरे कर्मोपासनामार्गी ।

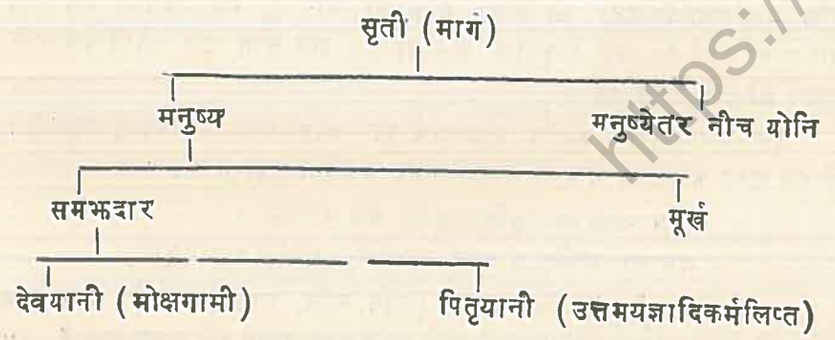

इस प्रकार एक पितृयान और दूसरा देवयान ये दोनों मार्ग सूपपन्न हैं। आप इससे पूर्व अभिधार्थ के उपस्थित होने पर लाक्षणिक अर्थ ग्रहण करने में ऋषि पर आक्षेप करते रहे हैं, फिर यहां सीधा अर्थ पिता और माता का ग्राह्य है ,उसकी उपेक्षा करके पितृ से द्यावापृथिवी का ग्रहण करना भी ठीक नहीं है।

वीर्ययोः प्रविश्य' इत्येव अर्थः सम्यगुपपद्यते । तत्र न काऽपि विचिकित्सावशिष्टा ।

निरुक्तेऽपि महर्षिप्रोक्तदेवपितृमनुष्येति त्रिगतीः प्रति संकेतो विद्यते । यथा —'परेयिवांसं पर्यागतवन्तं प्रवत उद्वतो निवत इति' (१०।२०) ।

छान्दोग्येऽपि—'तिस्रो गतयः । ता एव क्रमश उद्वत्, प्रवत्, निवद् योगिनाम्, उत्तमज्ञानयुक्तकर्मवतां निकृष्टकर्मवतां च ।'

पृ० १४२८, अनु० १—यदुक्तम्—"मृतश्चाहमित्यपि वैराग्यार्थमेव ।" तव अत्र 'एव' मरणं सर्वथाऽपार्थकम्, अपीत्युक्तेरौचित्यात् । ऋषिणा पुनर्जन्मसाध्यमिह तच्च सुविशदं सिध्यति ।

'आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥"
(निरु० १४।६)

अवाङ्मुखः पीड्यमान इति नैरुक्तोक्त्या सिध्यत्येव ।

अतः अन्य माता पिता के मध्य में आकर जीव शरीरान्तर धारण करता है, यही उपयुक्त अर्थ है, इसमें कोई सन्देह नहीं ।

निरुक्त में महर्षि को देव, पितर और मनुष्य इन तीन गतियों की ओर संकेत किया गया है । यथा 'परेयिवांसं पर्यागतवन्तं प्रवत उद्वतो निवत इत्यवतिर्गतिकर्मा' ।

छान्दोग्य उपनिषद् में आत्माओं की देवयान, पितृयान और जायस्व म्रियस्व, ये तीन गतियां बताई हैं । क्रमशः उन्हीं तीन गतियों को कहनेवाले उद्वत्, प्रवत् और निवत् शब्द हैं। 'उद्वत्' गति योगियों की, 'प्रवत्' गति कर्म करनेवाले मनुष्यों (पितृयान) की, 'निवत्' गति नीच मनुष्य तथा पशु-पक्षी आदि प्राणियों की है ।

पृ० १४२८, अनु० १—आपका यह कथन कि "मैं मरा फिर उत्पन्न हुआ' यह वैराग्य के लिए ही है" यह प्रत्यक्ष को झुठलाना है । 'अवाङ्मुखः पीड्यमानः' गर्भ में नीचे को मुंह किए पीड्यमान, ईश्वर से प्रार्थना करता है कि मैं सांख्य और योग का अभ्यास करूं तथा २५ वें पुरुषतत्त्व आपका चिन्तन करूं, इससे मुक्त होऊं, ऐसी कृपा कीजिए ।

आपका 'वैराग्यार्थम् एव' इसमें एवकरण सर्वथा निरर्थक है । 'एव' के स्थान पर 'अपि' होता तब भी ठीक होता । ऋषि द्वारा पुनर्जन्म साध्य है, जो यहां स्पष्ट है कि 'आहार दूध विविध पिये और माता पिता मित्र अनेक देखे' ।

https://t.me/DharmaSamrat

यच्चोक्तम्—"स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः' (यो० सू० २।९), 'पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः' (गो० सू० १।१।९) इत्यादिभिरपि मरणभय-दर्शनेन मरणसंस्काराधानादनेकदेह-सम्बन्धेन जीवस्य देहादिव्यतिरिक्तत्वसाधन एव तात्पर्यम्।" इति, तदपि नूनमन्यूनो मतिविभ्रमोऽस्य श्रीकरपात्रस्य। नह्यत्र मरणभयदर्शनं न वाऽपि मरणसंस्काराधानम्, भारतीयदर्शनशास्त्राणां तदनुद्दिष्ट-त्वात्, जीवस्य नित्यत्वेऽभीतेरमृतत्वस्य च संस्काराधानसमुद्देश्यत्वाच्च।

यद् हिन्दीकार आह—"मरण के संस्कारों को दृढ किया गया है।" इति तु बुद्धिबाह्योऽनुवादः, तत्संस्काराणां दृढीकरणाऽभीष्टत्वाभावात्।

अपरतश्चेह प्रेत्यभावस्य च लक्षणमेव लक्षितम्। स्वरसपुनरुत्पत्ति-शब्दा-भ्याञ्च पुनर्जनन-ध्वननमपि कृतम्। तथाहि—

अनादिकालात् पूर्वं पूर्वजन्मानुभूतमरणजन्मदु खवासना हि नाम 'स्वरसः'। उक्तवासनासमूहद्वारा निरन्तरजायमानं 'कदापि न म्रियेय, किन्तु सर्वदैव जीव्या-सम्' इत्यात्मकमरणभयमेवाऽभिनिवेशः। इदं भयं ज्ञानिनो मूर्खस्य चोभयोः समानम्। अत्र वाचस्पतिमिश्रेण 'विदुषः' इति पदस्य शास्त्रज्ञस्य वार्तिककृता च तत्त्वज्ञस्येत्यर्थो विहितः।

'स्वरसवाही' सूत्र पर महर्षि व्यास के भाष्य से स्पष्ट है कि बिना मृत्युभय की पूर्वानुभूति के 'अभिनिवेश क्लेश' हो ही नहीं सकता। महान् विद्वान् वात्स्या-यन ने भी प्रत्यभाव की व्याख्या में पूर्व शरीर को छोड़कर फिर द्वितीय शरीर को धारण करना माना है।

'पुनरुत्पत्ति प्रेत्यभावः' इस न्यायसूत्र से शरीर से आत्मा की व्यति-रिक्तता सिद्ध करना दूसरा अप्रासङ्गिक वा मतिविभ्रम है। 'यहां मृत्यु का भय दिखाकर मृत्यु के संस्कारों को दृढ किया गया है'। यह कथन तो भारतीय दर्शन के उद्देश्यों की नितान्त अनभिज्ञता को सूचित करता है। क्योंकि 'मरण के संस्कारों का दृढ करना, हमारे दर्शनों का सर्वथा अनुद्दिष्ट है। जबकि जीवात्मा की नित्यता सर्वत्र प्रतिपाद्य है। अतः मृत्यु से निडर होना भी तथा अमरता का संस्काराधान ही नितान्त लक्षित है। साथ ही यहां 'स्वरस' और 'पुनरुत्पत्ति' शब्दों से पुनर्जन्मधारण ही ध्वनित है। यथा—

अनादिकाल से पूर्वजन्मानुभूत मरणजन्य दुःख की वासना ही 'स्वरस' है। उक्त वासनासमूह के द्वारा निरन्तर जायमान 'कदापि न मरूं, किन्तु सर्वदा ही जीवित रहूं इस प्रकार का 'मरणभय' ही 'अभिनिवेश' है। यह भय ज्ञानी और मूर्ख दोनों के लिए समान है। यहां पर वाचस्पति मिश्र ने 'विदुषः' का अर्थ शास्त्रज्ञ तथा वार्तिककार ने 'तत्त्वज्ञ' अर्थ किया है।

'उत्पन्नस्य क्वचित् सत्त्वनिकाये मृत्वा या पुनरुत्पत्तिः स प्रेत्यभावः' इति (न्यायभाष्यम् १।१।१९)। प्रेत्यभावः पुनरुत्पत्तिश्चोभौ पर्यायौ। अयं 'प्रेत्यभावः' प्रागभावसदृशोऽनादिः सान्तोऽपवर्गपर्यन्तस्थायी, अर्थान्मोक्षाधिगत्यनन्तरं प्रेत्यभावो न भवति।

ननु मोक्षकालावधेः समाप्तौ तु पुनरायाति जीव इति वैदिकः सिद्धान्तः प्राक् प्रत्यपादि, कथं पुनरिह प्रेत्यभावो निषिध्यते, इति तु न वाच्यम्, सा मोक्षात् पुनरावृत्तिर्हि न प्रेत्यभाववाच्यार्थो भवितुमर्हति, अज्ञानिसदृशमल्पकालभावि नैतदागमनं जीवस्य।

"अयं भावः अज्ञानावस्थायां वर्तमानजीवानां पौनःपुन्येन जन्ममरणं हि प्रेत्यभावः कथ्यते, 'यदि पूर्वं दुःखं तज्जन्मना विना न युक्तम्, अथ पूर्वं जन्म तदा धर्माधर्मावन्तरेण न युक्तम्। अथ पूर्वं धर्माधर्मौ तावपि विनारागद्वेषाभ्यां न युक्तौ, अथ पूर्वं रागद्वेषौ न मिथ्याज्ञानादृते तयोः प्रादुर्भाव इति' मिथ्याज्ञानं तर्ह्यादि, तदपि शरीरादीनन्तरेण न युक्तं सोऽयं दुःखादीनां मिथ्याज्ञानपर्यन्तानां कार्य-कारणभावोऽविच्छिन्नः संसार इति, आजरञ्जरीभाव इति चोच्यते" (न्या० वा०)। आजरञ्जरीभाव एव प्रेत्यभावः। अथ च देहादिव्यतिरिक्तत्वसाधनेऽपि न

इसी प्रकार 'उत्पन्न हुए की वहीं सत्त्वनिकाय में मरकर जो पुनरुत्पत्ति है, वह प्रेत्यभाव है (न्या० भा०)। प्रेत्यभाव और पुनरुत्पत्ति ये दोनों पर्याय हैं। यह प्रेत्यभाव प्रागभावसदृश अनादि सान्त अर्थात् अपवर्गपर्यन्त स्थायी है, मोक्ष के बाद नहीं होता।

प्रश्न—मोक्षकाल के बाद तो जीव पुनः आता है, यह वैदिक सिद्धान्त है, जैसा पूर्व कहा है, फिर यहां प्रेत्यभाव का निषेध क्यों करने लगे?

उ०—आपने ठीक नहीं समझा। मोक्ष से आवृत्ति प्रेत्यभावपदवाच्य नहीं है। अज्ञानीसदृश अल्पकालभावी आवागमन भाव ही प्रेत्यभाव से अभिप्रेत है, इसमें वात्स्यायन-भाष्य प्रमाण है। यथा—

"यह भाव है ज्ञानावस्था में वर्तमान जीवों का पौनःपुन्य से जन्ममरण ही प्रेत्यभाव है। यदि पहले दुःख है, तो वह जन्म के बिना नहीं होता, और जन्म धर्माधर्म के बिना नहीं हो सकता, और ये धर्माधर्म बिना राग-द्वेष के नहीं हो सकते, रागद्वेष मिथ्याज्ञान के बिना सम्भव नहीं, तो सबका आदि मिथ्याज्ञान ठहरा। वह भी शरीरादि के बिना सम्भव नहीं, यह दुःख से लेकर मिथ्याज्ञानपर्यन्त कार्यकारणभाव ही संसार, जिसे 'आजरञ्जरीभाव' कहते हैं।" आजरञ्जरीभाव ही प्रेत्यभाव है। यहां दुर्ज

https://t.me/DharmaSamrat

पुनर्जन्माऽसिद्धिरिति ।

ननु सर्वकालस्थायिनि कूटस्थे आत्मनि कथं पुनः पुनर्भवनं भविष्यति परिणामादिकार्यान्तरशून्यत्वात् । एवञ्च शरीरस्यापि अत्रैव लयत्वात् पुनः कथमुत्पत्तिः ? अतः प्रेत्यभावस्य न सिद्धिर्भवितुमर्हति इति चेन्न, स्थायित्वेन क्रियाऽभ्यावृत्तिसम्भवात् । तस्यैव पुनः पुनरुत्पत्तिं ब्रूमः, उत्पत्तिवन्मरणमपि सोऽयमात्मानः शरीरस्य एव मृत्वा पुनर्जन्म 'प्रेत्यभाव' इति जयन्तभट्टः । न चैवं तु आत्मनो मरणे मते सिद्धान्तहानिरेव स्याद् इति वाच्यम्, आत्मनो भोगायतनदेहेन्द्रियादिवियोगस्य मरणाख्यापकत्वात् ।

निद्रासम्भूतिगवेषकवैज्ञानिकास्तु आश्चर्याम्भोधौ निमग्ना जायन्ते यदा ते नवजातशिशुनिद्रामधीयते यत् ते च शिशवः ४/५ समयं निद्रायामेव यापयन्ति । तेषां निद्राप्रतिशतं पञ्चाशत् (रेय=रैपिड आई मूवमेण्ट) अर्थात् 'तीनेग'(=तीव्रनेत्रगतौ) श्रेण्यामायति । तीनेगावस्थायां शिशुः स्वप्नान् पश्यति । वैज्ञानिका एतत्समस्यासमाधानाय प्रचिन्तिता अतितरां वर्तन्ते यन्नवजातशिशु-मस्तिष्कं तु

तोषन्याय से यदि देहादि से जीव की व्यतिरिक्तता का प्रतिपादन भी मान लें, तो पुनर्जन्म की असिद्धि तो कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती ।

प्रश्न—यह बताइए कि सर्वकालस्थायी कूटस्थ आत्मा में पुनः-पुनर्भव कैसे घटित हो सकता है ? क्योंकि इस आत्मा में परिणाम आदि कार्यान्तर होते ही नहीं । इस प्रकार शरीर का भी यहीं लय हो जाता है, फिर उत्पत्ति कैसी ? इसलिए प्रेत्यभाव की सिद्धि न होने से यवनमत-सिद्धान्त ठीक ठहरता है ।

उत्तर—आपका यह कथन ठीक नहीं । जीवात्मा स्थायी और अनश्वर है । तभी तो इसमें क्रियाओं की अभ्यावृत्ति (बारंबारता) सम्भव है, नश्वर होने पर तो कौन आता और कौन जाता । उसी अमर आत्मा को ही तो शरीर पुनः-पुनः प्राप्त होता व उस शरीर का ही नाश होता है । ऐसा जयन्तभट्ट कहते हैं । परन्तु उसे आत्मा का मरण व जन्म नहीं माना जा सकता । आत्मा का तो भोगायतन देह और उसमें इन्द्रियादि हैं और उनका वियोग ही मरण कहाता है ।

निद्रा की सत्ता के खोज करनेवाले वैज्ञानिक तो आश्चर्य में डूब जाते हैं, जब वे नवजात शिशु की नींद का अध्ययन करते हैं । वे बच्चे ४/५ समय अर्थात् अपने समय के ८०% समय तक सोते हैं । उनकी नींद का ५०% रेय (रैपिड आई मूवमेण्ट) श्रेणी का होता है । रेय (तीनेग=तीव्र नेत्रगति) के दौरान नवजात शिशु भी सपने देखते हैं । वैज्ञानिकों की उलझन यह है कि नवजात शिशु तो एक अनुभवरहित जीवन है, उसका मस्तिष्क तो कोरी स्लेट जैसा स्वच्छ होता है ।

अलिखितपट्टिकेव स्वच्छा, तदा कथन्ते स्वप्नान् पश्यन्ति । नाद्यावधि वैज्ञानिकपार्श्वे तत्समाधानं यच्चास्मत्सविधे विद्यते, पूर्वजन्मसंस्कारहेतुमत्त्वात् ।

असंख्यातनवजातशिशुमस्तिष्के विविधतन्त्रतन्तवो योज्यन्ते, येनाधिगन्तुं स्वप्नकारणमभीप्सन्ति । परं स्वप्नानामपि अनेकप्रकाराः सन्ति, यथा केचित् स्मर्यन्ते, केचिच्च विस्मृतौ विलीयन्ते । तत्राऽपि केचन स्वप्नेषु नियन्त्रणमधितिष्ठन्ति यदा नाऽपरे । नैते स्वप्नाः कल्पनात्मका न च देवदूतोद्भाविताः ।

वस्तुत एवंविधा जना इन्द्रियातीतानुभूतिस्वामिनो भवन्ति । अस्यामेव श्रेण्यां ब्रह्मचारिकृष्णदत्तोऽपि कुरुक्षेत्रवास्तव्यः । य ऋषिशृङ्गिण आत्माऽऽगमनमभिनयते । अस्यामेव च गणनायां विश्वप्रसिद्धः आर० एल० स्टीवेंसनो विद्यते । यश्च स्वीयं प्रसिद्धमुपन्यासं 'ट्रेजर आयर्लेण्ड' नामकमलेखीत् । स धाराप्रवाहेण नियन्त्रितं स्वप्नमपश्यत्, यत्परिणामभूतेयं कृतिः ।

अहं स्वानुभूतिमपि वर्णये । मया बहुवारमेवंविधाः स्वप्ना दृष्टा यदाहं

इसके होते हुए भी नवजात शिशु को स्वप्न क्यों दीखते हैं और उन स्वप्नों में आखिर क्या दिखाई पड़ता है । इस उलझन का वैज्ञानिकों के पास कोई सुलझाव नहीं है । पर हमारे पास पूर्व-संस्कार-समाधान में है ।

असंख्यात नवजात शिशुओं के मस्तिष्क में विविध तारों के तन्तु जोड़े जाते हैं, जिससे वैज्ञानिक परीक्षक स्वप्न के कारण प्राप्त करना चाहते हैं । लेकिन स्वप्नों के भी अनेक कारण हैं । जैसे कुछ स्वप्न याद रहते हैं, कुछ विस्मृति में ऐसे विलीन हो जाते हैं, जो जागने पर याद करने पर भी याद नहीं आते । उनमें भी कुछ स्वप्नों पर देखनेवालों का नियन्त्रण होता है, जबकि कुछ का उन पर नियन्त्रण नहीं होता । जैसे स्वप्न मस्तिष्क में भरे तनावों को खींचकर बाहर निकाल देते हैं । नियन्त्रित स्वप्न देखनेवाले व्यक्ति कभी कभार ही सामने आते हैं । तब या तो इन्हें फ्राड मान लिया जाता है या फिर देवदूत । वैज्ञानिकों की दृष्टि में वे न कल्पित होते हैं और न देवदूत ।

वास्तव में इस प्रकार के लोग इन्द्रियातीत अनुभूतियों के स्वामी होते हैं । इसी श्रेणी में ब्रह्मचारी कृष्णदत्त कुरुक्षेत्रवास्तव्य भी हैं, जो ऋषि शृंगी के आत्मा के आवागमनावशेष का अभिनय करते हैं । और इसी गिनती में विश्वप्रसिद्ध आर० एल० स्टीवेंशन हैं, जो अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'ट्रेजर आयर्लेण्ड' नामक के लेखक हैं । जो धाराप्रवाह से अपने नियन्त्रित स्वप्नों को देखते थे, जिसके परिणामस्वरूप यह उपन्यासकृति है ।

हम यहां अपनी भी अनुभूति का वर्णन कर रहे हैं । हमने बहुत बार ऐसे

https://t.me/Dharmasamrat

धाराप्रवाहेण कैश्चिदपि विपश्चिद्भिः साकं संस्कृतभाषायां कवितायां च साहित्यिकप्रौढाङ्गलभाषामप्यभाषे । अतितरां रोचमानविषयं तत्र प्रवणत्वाद् जागृतः सन् पुनरावाहयं निद्राम्, मनःस्थितिं मुहुरवाप्य तामेव भाषां तैरेव जनैः सह भूयोऽपि तेनैव प्रवाहेण भाषितुं प्रावर्त्तिषि ।

एतत्समग्राया विस्मयोत्पादकताया मूलमस्माकं वन्दनीयमहर्षयो नित्यजीवात्मना साकम् अन्तःक र सञ्चितान् प्राक्तनान् पूर्वजनुरनुबन्धिनः संस्कारानेवाम्यमन्यन्त । यत्रायं वैज्ञानिकसंघः तदाप्तौ विश्रमं लप्स्यते ।

इति श्रीमद्बिहारीलालशास्त्रिशिष्येण श्रीयुतपण्डित-अयोध्याप्रसाद-
मिश्रात्मजेन श्रीमदाचार्यविशुद्धानन्दमिश्रेण श्रीयुतनिर्मला-
मिश्रा-सहधर्मिणीसहायेन विरचिते करपात्रिमतखण्डने
दयानन्दीयमतमण्डने 'वेदार्थकल्पद्रुम'नामग्रन्थे
'पुनर्जन्म-विषयः'
॥ सम्पूर्णः ॥

स्वप्न देखे जबकि किन्हीं विद्वानों से संस्कृत और साहित्यिक प्रौढ़ इङ्गलिश में तथा काव्यरचना में हमने बातचीत की। यद्यपि जागने पर वह कविता हमने नोट भी तत्काल की और पुनः शीघ्र ही उसी प्रवाह में आंखें बन्द कर वही प्रसंग याद कर सोने व स्वप्न देखने का अभिनय किया और फिर वही स्वप्नधारा प्रवाहित हो गई और बोलना प्रारम्भ कर दिया।

उक्त इस समग्र विस्मयोत्पादकता का मूल हमारे पूज्य ऋषियों ने नित्य जीवात्मा के साथ पूर्वजन्मसञ्चित संस्कार ही माने हैं। जहां पर एक दिन यह वैज्ञानिकों का संघ भी उसी पुनर्जन्मवाले जीवात्मा की प्राप्ति पर विश्राम प्राप्त करेगा।

श्रीमान् पण्डित बिहारीलालजी शास्त्री के शिष्य, श्रीयुत पण्डित
अयोध्याप्रसाद मिश्र के आत्मज, श्रीमदाचार्य विशुद्धानन्द
मिश्र द्वारा श्रीयुतनिर्मला मिश्रा सहधर्मिणी की
सहायता से विरचित करपात्रिमतखण्डन तथा
दयानन्दीय मतमण्डन करनेवाले इस
'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में
'पुनर्जन्म-विषय'
॥ सम्पूर्ण हुआ ॥

अथ विवाहविषयः

पृ० १४२८—"सन्तानोत्पत्त्यादिप्रयोजनसिद्धय इति तु नाक्षरार्थः। भगोऽर्यमादयस्तु देवविशेषा एव, तानपलप्य सावित्रादिशब्दानां परमेश्वरपरत्व-व्यवस्थापनमपि शाब्दन्यायोल्लङ्घनमेव। देवा विद्वांस इत्यप्यपव्याख्यानमेव, देवजातेर्मनुष्यभिन्नत्वेन साधितत्वात्। यद्यावां प्रतिज्ञोल्लङ्घनं कुर्यावहि तर्हि परमेश्वरदण्ड्यौ विद्वद्दण्ड्यौ च भवेवेत्यादिकं तु निर्मूलम्, मन्त्रार्थबाह्यत्वात्।"

इत्युक्तमविकलसङ्कलनमेतस्य बुद्धिविकलाङ्गत्वमेव प्रकटयति, तद्धि श्रूयताम्—

'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय' एतन्मन्त्रस्य प्रत्येकशब्दो गम्भीरं भावं बिभर्ति। यथा 'सौभगत्वाय' इति सुभग एव सौभगस्तस्य भावस्तस्मै। सौभाग्यं हि नाम प्राधान्येन पुरुषस्य स्त्रियाश्च मिथो दृढप्रेमभक्तिस्थितिः। तथा हि व्यज्यते कवि-

---

पृ० १४२८—पूर्वपक्ष—"गृभ्णामि ते' इस मन्त्र के अर्थ में 'सौभगत्वाय' इसका अर्थ सन्तानोत्पत्त्यादि प्रयोजनसिद्धि के लिए स्वामीजी ने किया है, वह अक्षरार्थ नहीं हो सकता। भग अर्यमा आदि ये सब देवताविशेष हैं इनका अपलाप कर सविता प्रभृति शब्दों का अर्थ परमेश्वर सर्वथा शाब्दिक प्रक्रिया के विरुद्ध है। देव पद का अर्थ विद्वान् करना भी गलत है। मनुष्य जाति से भिन्न देव जाति का प्रतिपादन किया जा चुका है। 'यदि हम लोग प्रतिज्ञा का उल्लघन करें, तो हमें परमेश्वर और विद्वान् लोग दण्ड दें' यह सारा अर्थ निराधार है।"

उत्तरपक्ष—उक्त सारा सङ्कलित कथन पारिजातकर्ता की बुद्धि की विकलाङ्गता का द्योतक है। कैसे? सुनिए—

'गृभ्णामि' इन मन्त्रों का प्रत्येक शब्द गम्भीर भाव को लिए हुए है। जैसे 'गृभ्णामि ते' 'मया पत्या' आदि में एकवचन तथा पत्नी के पाठ में लिङ्गविपर्यय में भी एकवचन, एक पत्नी और एक पति होने की वैज्ञानिकता को अभिव्यञ्जित कर रहा है। प्रथम 'सौभगत्वाय' इस शब्द की रचना पर ध्यान दीजिए, सुन्दर ऐश्वर्य ही सौभग कहलाता है। उसका भाव सौभगत्व हुआ। यह ही प्रधानतया स्त्री और पुरुष का दृढ़ प्रेमभाव है। कविकुलगुरु कालिदास ने सौन्दर्य का फल

https://t.me/DharmaSangraha

कुलगुरुकालिदासेन 'प्रियेषु सौभाग्य-फला हि चारुता' इति। दम्पत्योः परस्पर-स्वीकृतिः सन्तानोत्पत्त्यादिसिद्धये एव न तु कामोपभोगरूपविलासजीवनाय। यतो हि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥ (मनु० २।९४)

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः।
तस्मात् साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः॥ (मनु० ९।९६)

महोदय ! देवाः समेऽपि जडा एव, तदा कथं साक्षित्वं प्रभवति तेषाम् ?

प्रिय पति में सौभाग्य अर्थात् उसके प्रेम को माना है। दम्पती की परस्पर स्वीकृति सन्तानोत्पत्ति तथा आदि पद से धर्मकार्य-सम्पादनार्थ ही होती है न कि कामोपभोग के लिए, क्योंकि मनु महाराज ने इसी की पुष्टि की है—

काम की कभी उपशान्ति ही नहीं हो सकती। वह तो घी से बढ़नेवाली आग के समान पुनः-पुनः बढ़ता ही जाता है।

स्त्रियों की सृष्टि प्रजनन के लिए और सन्तानस्थिति के लिए पुरुषों की सृष्टि की है। वेद में पत्नी की साक्ष्य में ही अन्य साधारण धर्मपूर्ति करने को भी कहा गया है।

महाशय ! पहले तो आप महर्षि के दृष्टिकोण को समझिए। महर्षि से पूर्व सारा संसार प्रायेण जड़ देवता को उपास्य मानने लगा था और उन्हीं जड़ों की साक्षी मानकर सारे कृत्य सम्पन्न करने लगा। अतः महर्षि ने उन देवतावाचक शब्दों के अर्थ सुघटितरूप से परमेश्वरवाचक सिद्ध किए हैं; जिससे सब लोग जड़ पूजा से पराङ्मुख होवें। साथ ही वैदिक शब्दों में रूढ़िवाद की मान्यता को वे समाप्त करना चाहते थे। अत एव भी उन्होंने भग, अर्यमा आदि के यौगिकार्थ किए।

दूसरे भग, अर्यमा आदि देवविशेषों का अपलाप कर सविता आदि शब्दों का अर्थ करने को शाब्द न्याय का उल्लघन बताना, सङ्कीर्णमस्तिष्कता, अल्पज्ञान और शाब्दन्याय का स्वरूप न समझने के कारण है। बताइए, आप के ये देवता अन्तरिक्ष के किस स्थान पर रहते हैं ? वे सर्वव्यापक न होने से विवाहस्थल पर साक्षी नहीं हो सकते। हां, सूर्य अग्नि आदि में साक्षित्वारोप आंखें न होते हुए भी औपचारिकतया किया जा सकता है। पर जो सर्वज्ञ, सर्वव्यापक परमेश्वर है, उसकी साक्षिता उपेक्षित कैसे की जा सकती है।

यच्च शाब्दन्यायतां-घोषमुद्घोषयति, कोऽन्योऽसौ शब्दादृते। इह अग्न्यादय एव स्वामिकृतानर्थान् ख्यापयन्ति तत्तद्धातुसङ्गतत्वात्। 'भज सेवायाम्' धातोर्भज्यते सेव्यते इति ऐश्वर्यमैश्वर्यवांश्च। अर्यमा 'ऋ' गतिप्रापणयोरिति धातोरर्य इति। 'अर्य'शब्दात् तत्पूर्वाद् 'माङ् माने' इति धातोः कनिन्प्रत्यये च 'अर्यमा' शब्दः सिध्यति। योऽर्यान् स्वामिनो न्यायाधीशान् मिमीते मान्यान् करोति सोऽर्यमा। यः खलु सन्न्यायेन व्यवहर्तॄन् मानयति कर्मिणां पापपुण्यफलानि यथावन्नियमयति स परमेश्वरोऽर्यमा।

प्रेरणार्थक 'षू' धातोरन्येभ्योऽपि च आद्यर्थसङ्गतेः सविता जगदुत्पादक ईश्वरः। नहि विदुषां देवानां देवजातेर्भिन्नत्वम्, यजमानादिमनुष्याणां देवत्व-

---

शाब्द न्याय की दुहाई ऋषि के अर्थों के अवसर पर ही क्यों दी जा रही है ? क्या आपके उव्वट व महीधर ने भगादि शब्दों से वे देवताविशेष ही ग्रहण किए हैं ? कदापि नहीं। देखिए—

यजु० ३४।३८ पर उव्वट ने 'भगवन्तः' का 'धनवन्तः' और महीधर ने ३४।३९ पर 'ज्ञानवन्तः', ३४।५४ पर भग, अर्यमा, वरुणादि सूर्यविशेषण, ११।७ पर 'भगाय' का अर्थ सौभाग्य के लिए, ८।७ पर 'भगाय' का अर्थ 'यज्ञफलाय' तथा 'भग इति पदनाम' (निघण्टु ५।६) आदि अर्थ लिए हैं। इनमें भग देवताविशेष का कहीं ग्रहण नहीं है। फिर यहां सर्वत्र शाब्द न्याय का उल्लंघन आप क्या मानते हैं ? इस प्रकार अर्यमादि शब्द में भी समझना चाहिए।

महोदय ! प्रथम आपको शाब्द न्याय विद्वानों के सान्निध्य में समझना चाहिए। अन्यथा आपका यह कथन शाब्द अन्याय मात्र है।

वस्तुतः तो इस प्रकार यहां शाब्द न्याय ही है कि मूल धातु से शब्दोत्पत्ति को समझकर व्यापक अर्थ करना। जैसे यहां 'भज सेवायाम्' धातु से भग शब्द सिद्ध होता है। गतिप्रापणार्थक 'ऋ' धातु से पुनः 'माङ् माने' से कनिन् प्रत्यय करने पर 'अर्यमा' शब्द सिद्ध होता है। जो अर्य अर्थात् स्वामी व न्यायाधीशों का मान करे, वह अर्यमा है। वह परमेश्वर न्याय से व्यवहार करनेवालों का मान करनेवाला, कर्मियों के पापपुण्यों का फल यथावत् देनेवाला है, अतः वह अर्यमा कहाता है।

इसी प्रकार प्रेरणार्थक 'षू' धातु तथा अन्य धातुओं से 'सविता' जगदुत्पादक सिद्ध है। विद्वान् देव जाति से भिन्न नहीं है, वस्तुतः परमेश्वर के साथ ये विद्वान् चेतन ही विवाह में साक्षी हो सकते हैं, जैसा कि ऋषि का प्रतिपाद्य है।

https://t.me/DharmaSamrat

प्रतिपादनात् । यथा प्राक् प्रत्यपादि मया ।

महाशय ! या प्रतिज्ञा न्यायाधीशस्य परेशस्य विदुषां च साक्ष्यं कृत्वा क्रियते, तस्या अपलापने तु त एव दण्डं विधास्यन्ति इति स्वाभाविकमेव । ग्रामेऽपि पञ्चाभिधन्यायिनां समक्षे कृतप्रतिज्ञाया उल्लङ्घने त एव दण्डयितारो भवन्ति, इदं तत्साक्ष्यादर्थापत्त्या गम्यते ।

पृ० १४२९, अनु० १—"इहैव स्तं मा वियौष्टम्' इति व्याख्याने भूमिकायां यदुक्तम्—स्त्रिया एक एव पतिर्भवतु, एकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री चेति, अर्थादनेकस्त्रीभिः सह विवाहनिषेधो नरस्य तथानेकैः पुरुषैः सहैकस्याः स्त्रियाश्चेति, वेदमन्त्रेष्वेकवचनस्यैव निर्देशादिति, तत्तुच्छम्, निषेधक-वेदवाक्यानुपलम्भात् । यद्यप्येकस्याः स्त्रिया अनेकपुरुषसम्बन्धनिषेधक-वचनमुपलभ्यते । यथैकस्मिन् यूपे बह्वयो रशनाः संश्लिष्यन्ते तथैवैकस्मिन् पुरुषेऽनेका भार्याः सम्भवन्ति । यथैका रज्जुर्नानेकैर्यूपैः संश्लिष्यते, तथैका योषिन्नानेकैः पुरुषैः संश्लिष्यते । .... 'यदेकस्मिन् यूपे द्वे रशने परिव्ययति तस्मादेको द्वे जाये विन्दते, यन्नैकां रशनां द्वयोर्यूपयोः परिव्ययति तस्मान्नैका द्वौ पती विन्दते' (तै० सं० ६।६।४।३), 'एकस्य बह्वयो जाया भवन्ति नैकस्यै बहवः सहपतयः' (ऐत० ब्रा० २।२३), 'एकस्य पुंसो बह्वयो जायाः भवन्ति' (शत० ९।४।१।६) इत्यादिषु विधेयगतसंख्याया विवक्षितत्वेऽपि उद्देश्यगतसंख्याया अविवक्षितत्वेनैकवचननिर्देशस्य 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' इत्या-

---

यजमान आदि अनेक का भी यज्ञ आदि में देवतात्व पूर्व बता आए हैं, वहीं देखना चाहिए।

श्रीमन् ! जो प्रतिज्ञा न्यायाधीश, परेश और विद्वानों के साक्ष्य में की जाएगी, उसके न पालन करने में वे दण्ड देंगे, यह स्वाभाविक है । ग्रामों में भी पञ्च नामक न्यायियों के समक्ष प्रतिज्ञा करनेवाले यदि उल्लंघन करते हैं, तो वे ही पञ्च दण्ड दे देते हैं, यह उस साक्ष्य की अर्थापत्ति से सिद्ध है।

पृ० १४२९, अनु० १—शङ्का "इहैव स्तम्' मन्त्र के व्याख्यान में भूमिकाकार ने कहा है कि स्त्री का एक पति होवे और एक पुरुष की एक ही स्त्री हो, अर्थात् अनेक स्त्रियों के साथ विवाह निषिद्ध है; क्योंकि वेदमन्त्रों में वर वा वधू का एकवचन आया है । स्वामी का यह कथन गलत है, क्योंकि पुरुष का अनेक स्त्रियों से विवाह करानेवाला वेदवाक्य उपलब्ध है, इसके विपरीत एक स्त्री के लिए अनेक पुरुषों का वरण करना निषिद्ध है । जैसे एक यूप में बहुत सी रशनायें बांधी जा सकती हैं, उसी प्रकार एक पुरुष की अनेक पत्नियां हो सकती हैं । जैसे एक रज्जु अनेक यूपों में नहीं बांधी जा सकती, वैसे एक स्त्री अनेक पुरुषों के साथ नहीं रह सकती । विधेयगत संख्या की विवक्षा रहने पर भी उद्देश्यगत संख्या की विवक्षा न रहने से यहां एकवचन का उल्लेख उसी तरह बाधक नहीं होगा,

दाविवाऽकिञ्चित्करत्वात् । प्रकृते च विवाहो विधेयो न त्वेकत्वादिकम् । अग्निहोत्रादिरक्षणार्थं कल्पसूत्रेषु पत्न्यन्तरविधानाच्च पुरुषस्य पुनर्विवाह उक्तः । स्त्रियास्तु तदविधानादेव न पुनर्विवाहसम्भवः ।"

इति सर्वं शास्त्ररहस्यानभिज्ञानं कुपथप्रेरणात्मकम् । 'गृभ्णामि ते' 'इहैव स्तम्' इत्यनयोर्मन्त्रयोः प्रत्येकशब्दो गम्भीरतयैव निभालनीयः । यथा— गृभ्णामि, ते, मया, पत्या, जरदष्टिः, आसः, मह्यम्, त्वा – एतेष्वेकवचनत्वम् । स्तम्, वियौष्टम्, व्यश्नुतम्, क्रीडन्तौ, मोदमानौ इत्यत्र द्विवचनं च । एतेन पत्युः पत्न्याश्चैकैकत्वं प्रतिपादितम् इति तु निखिलं शास्त्रपूतप्रज्ञाविज्ञानगोचरम् ।

अस्वच्छतुच्छदृष्टेरेव तुच्छत्वात् तूक्तं तुच्छम्, विधायकवाक्येन सिद्धस्य तदभावाय निषेधवाक्यस्य कथनस्यानावश्यकत्वात् ।

ऐतरेयादिप्रमाणेषु तु एवमवगन्तव्यं यत्तेषां ग्रन्थानां निर्माणकाले याः प्रथाः प्रचलिता आसन्, तासामुल्लेखमात्र तत्र । यथा चाह सामश्रमिमहाभागः—"अथेदानीं विचार्यमस्ति, कीदृशान्यासन् तदानीन्तनान्याचारविज्ञानानीति" ।

जैसे 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' यहां पर ग्रह में एकवचन होते हुए भी अनेक ग्रहों का सम्मार्जन का निषेधक नहीं माना जाता । प्रकृत मन्त्र का प्रतिपाद्य विवाह ही है, उस का एकत्व नहीं । जैसे 'ग्रह सम्मार्ष्टि' यहां पर 'ग्रहं' से एक-एक करके प्रत्येक का मार्जन विहित है, एकत्व नहीं । अग्निहोत्र आदि में रक्षणार्थ कल्पसूत्रों में दूसरी पत्नी के विधान होने से पुरुष के द्वितीयादि विवाह का प्रसंग उपस्थित होता है, पर स्त्री के पुनर्विवाह का विधान नहीं है ।"

समा०—उक्त समस्त कथन शास्त्ररहस्य न समझने के कारण उत्पन्न हुए हैं तथा ये कुपथ की प्रेरणा दे रहे हैं । ऊपर बताया जा चुका है कि 'गृभ्णामि' मन्त्र में एकवचन से एक पति तथा एक पत्नी का ही तात्पर्य है ।

इस लेखक की दृष्टि ही अस्वच्छ और तुच्छ है, ऋषिकथन तुच्छ नहीं है । विधायक वाक्य से जब स्त्री तथा पुरुष का एक-एक ही विवाह होना सिद्ध है, तो इसके विपरीत निषेधक वाक्य की अनावश्यकता है ।

ऐतरेयादि के प्रमाणों के विषय में यह समझना चाहिए कि ये ग्रन्थ जब बने थे, उस समय तक अनेक स्त्रीविवाह की प्रथा समाज में प्रचलित हो गई थी, परन्तु अनादि ज्ञान वेद जो सृष्टि के आदि में प्राप्त हुआ था, उनमें यह विधान उपलब्ध नहीं है । जैसा कि सामश्रमी महाभाग लिखते हैं कि "अब इस समय विचारणीय है कि ऐतरेयकाल में आचार, विचार, विज्ञान क्या-क्या था ?"

https://t.me/Dharmasamrat

'अहं सम्मार्ष्टि' इत्युदाहृत्य भवत्कथनेन एतदपि सेत्स्यति यदेकस्य पुंसो बह्व्यो जाया भवन्ति, एकस्य अविवक्षितत्वे बहवो हि पुमांसः पतयो भवितुमर्हन्ति। परमिदं सर्वं कुतर्काश्रितम्। आर्यसंस्कृतौ एकस्यैव पत्युरेकस्या एव पत्न्या विधानात्। तथा सत्येव—

समञ्जन्तु विश्वे देवा समापो हृदयानि नौ।
सम्मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ॥ (ऋ० १०।८५।४७)

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥
(पा० गृह्ये १।८।८)

इत्यनयोर्मन्त्रयोर्वरेण कन्यया चोच्यार्यमाणयोः सार्थकता। नहि विवाहबहुत्वे प्रत्येकस्य प्रत्येकस्या वा मनसश्चित्तस्य अनुमनस्त्वमनुचित्तत्वं च सम्भाव्यते। जायाबहुत्वे प्रत्येकजायायाश्चित्तस्यानुगतत्वे नैष्ठिकता न भविष्यति।

मन्त्रविधि-प्रणिबद्ध-ग्रन्थिकः प्रतिज्ञात-पतिपत्नीव्रतो देवैरभ्यनुज्ञातः पवित्र-यज्ञाग्निसाक्षिको वरकन्यापित्रोरनुमतो यावज्जीवनमविच्छेद्यत्वेन वरीवर्ति, न वैष प्रणयसम्बन्धस्तात्कालिकोऽनियतो वा। एतं सम्बन्धमुभयोर्मृत्युरेव परिहर्तुं परिवृढः। किञ्च न मृत्युरपि विच्छेत्तुमर्हः, अग्रिमजन्मन्यपि तस्यैव सम्बन्धस्य याच्य-

---

आपके 'अहं सम्मार्ष्टि' इस वाक्य से तो यह भी सिद्ध हो जाएगा कि एक पुरुष की जैसे अनेक जाया होती हैं, वैसे ही एक स्त्री के अनेक पुरुष भी होते हैं, क्योंकि एकत्व प्रतिपाद्य नहीं है। परन्तु यह आपका लेख केवल कुतर्कमात्र है। यतः आर्य संस्कृति में एक पति के लिए एक स्त्री का ही विधान है।

ऐसा होने पर ही 'समञ्जन्तु विश्वे देवा' और 'मम व्रते ते हृदयम्' इन दोनों मन्त्रों के अर्थ की संगति है। बहु विवाह मानने पर प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक स्त्री के मन या चित्त की अनुगामिता वा अनुकूलता अनेक होने पर किस-किस के साथ संगत होगी? बहुत स्त्री होने पर 'मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु' वर के इस कथन का औचित्य कैसे सिद्ध होगा कि मेरा चित्त तुम्हारे चित्त के अनुकूल हो।

मन्त्रविधि से प्रणिबद्ध ग्रन्थिवाला, एक पति और एक पत्नीव्रत की प्रतिज्ञा किये हुए देवताओं से अभ्यनुज्ञात (अनुमतम्) पवित्र यज्ञाग्नि को साक्षी किए हुए वर और कन्या के माता-पिताओं का अनुमत यह सम्बन्ध यावज्जीवन अविच्छेद्य रूप से रहता है; परन्तु तात्कालिक प्रणय सम्बन्ध जैसा नहीं रहता। दोनों के उक्त सम्बन्ध को मृत्यु ही विच्छिन्न कर सकती है। बल्कि मृत्यु भी विच्छिन्न नहीं कर सकती, क्योंकि अग्रिम जन्म में भी उसी सम्बन्ध की आकांक्षा की जाती

मानस्य अवाप्ति-सङ्कल्पत्वेन। तद्यथा जगज्जनन्याः त्रिभुवनपावन्याः भगवत्याः सीताया उद्गारः—

साऽहं तपःसूर्यनिबद्धदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जन्मान्तरेऽपि त्वमेव भर्त्ता न च विप्रयोगः॥

मम पूज्यश्रीपित्रा श्रावितम् एकपत्नीव्रतगौरवं च निम्नपद्यमनवद्यं प्रसूते। युवावस्थायां 'बरेली'नगरे एकस्य विदुषः पत्नी दिवङ्गता। मृतपत्नीकस्य तस्य पुनर्विवाहप्रस्तावमेकक्कन्यापिता प्रास्तावीत्, तदाऽसौ युवा पण्डितः प्रत्यब्रवीत्—

मृतदारान् कृतदारान् पुनरपि काम्योपभोगाय।
ह्यस्मिन् भारतवर्षे सारसपक्षी विलज्जयति॥

यदा नहि मृतपत्नीकः सारसः पुनर्विवाहं कुरुते, कथमहं मानवः सन् पुनः? अथवा कश्चिद् अप्रतिकार्यः प्रत्यूह-व्यूहरूपो रुजाविशेषोऽशेषविशेषोपायैरप्रतिविधेय आपद्धर्मरूपं तदा विधानमेव। नान्यः कश्चिन् मनश्चाञ्चल्य-प्रणोदित

रही है, जैसा कि त्रिभुवनपावनी जगज्जननी भगवती सीता के उद्गार महाकवि कालिदास के शब्दों में हैं—

वह मैं तपःसूर्य पर एक-टक दृष्टि लगाये हुए गर्भस्थ सन्तान के प्रसव पर्यन्त निरन्तर तप में लगी रहूंगी। जिससे पुनः जन्मान्तर में भी तुम्हीं (राम) मेरे भर्त्ता बनो; और यह वियोग न हो।

एकपत्नी व्रत को निम्न पद्य में, जिसे मेरे पूज्य श्री पिताजी प्रायः सुनाया करते थे, प्रकट किया गया है। युवावस्था में बरेली में एक विद्वान् की पत्नी का देहान्त हो गया, उनके पास पुनर्विवाह का प्रस्ताव आया तो उन्होंने प्रस्तावक से निम्न पद्य में अपनी भावना अभिव्यक्त की। युवा पण्डित ने कहा—

जिनकी स्त्री मर चुकी है और पुनः उन्होंने काम्य उपभोग के लिए पुनर्विवाह कर लिया है, ऐसे लोगों को इस पवित्र भारत देश में सारस पक्षी विशेष रूप से लज्जित कर रहा है।

स्मरण रहे सारस के जोड़े में से यदि एक बिछड़ जावे, तो दूसरा अन्य से संसर्ग नहीं करता, अपि च विलाप करते-करते प्राण छोड़ देता है। जब मृतपत्नीक सारस पक्षी तक पुनः अपर संगिनी का वरण नहीं करता, तो मैं पुनर्विवाह कैसे कर सकता हूं अथवा कोई अप्रतिकार्य विघ्नव्यूहरूप रोगविशेष हो जावे, जो सम्पूर्ण विशेष उपायों से भी ठीक न हो सके, तब आपद्धर्मरूप विधान

https://t.me/DharmaSamrat

उदितः सम्बन्धं परिहर्त्तुं प्रभविष्णुः पृथिव्याम्।

न वा तत्र रूपलावण्य-निर्भर-पारम्पर्यप्रत्युद्वेलितः प्रकामवामकामोच्छृङ्खलता लालितो विकटलम्पटपाटवाभिनिवेशः। एवं दिव्य-सन्तान-वितान-ललित लता-मण्डप-सुरम्यशीतलच्छायां समाश्रित्य दाम्पत्योरुद्दामप्रणयप्रसरो भृशं प्रकर्ष-हर्षमावहन्नुत्तरोत्तरं द्रढिमानमावध्नाति। एवं सति प्रतिषिद्धे वैवाहिक-सम्बन्धोच्छेदे निसर्गत एव बहुपत्नी-परिणयोऽपि सुतरां विनिवर्तते।

वेदार्थपारिजातप्रणेतृसदृशो नामानुमन्येत शास्त्रीयमादर्शं बहुपत्नीवत्वम्। यथा पाणिनीय-व्याकरणे विवाहयोग्यामवस्थां प्राप्ता कन्या 'वर्या' कथ्यते स्म। सा हि अनिरोधेऽर्थे सिध्यति। काशिकायामेतस्य उदाहरणद्वयम्—'शतेन वर्या' 'सहस्रेण वर्या'। कश्चित् टीकाकारैर्वा पुरुषशतेन पुरुषसहस्रेण वरणायोपलब्धा सा वर्या इति व्याख्यातम्।

वृङः न तु वृञः। निरोधे हि वृत्या। परं तत्राप्येष एवार्थो यत् शतं सहस्रं वा कार्षापणान् कन्यापिता आदाय कस्यचिदपि दातुमनुमंस्यत इत्यर्थ एव। परमे-

---

ही है, पर मन की चञ्चलता से प्रेरित उपस्थित विघ्नविशेष के द्वारा इस सम्बन्ध का विच्छेद विहित नहीं है।

परन्तु उन एक पति-पत्नीनिष्ठ विवाहों में रूपलावण्य से प्रेरित, अत्यन्त उल्टे काम भावपूर्ण उच्छृंखलता से ललित, विकट लम्पट मन के चातुर्य का अभिनिवेश भी विच्छेद में कारण नहीं बन सकता। इस प्रकार सुयोग्य सन्तान विस्तार के सुन्दर लतामण्डप की सुरम्य शीतल छाया में समाश्रय पाकर दाम्पत्य का उत्कृष्ट प्रणयप्रसार अत्यन्त ही प्रकृष्ट हर्ष को देता हुआ उत्तरोत्तर दृढ़ता को ही बढ़ाता रहता है।

ऋ० १०।३३।२ मन्त्र में कहा है कि जीवात्मा के पुनः मातृकुक्षि में आने पर उसे मातृदेह की पसलियां सौतों के समान पीड़ित करती हैं, इससे बहुपत्नीत्व का स्पष्ट निषेध है।

इस प्रकार बहुपत्नी का भी प्रतिषेध होने पर वैवाहिक सम्बन्ध के उच्छेद होने की आशंका से निसर्गतः ही बहुपत्नी का परिणय भी सुतरां निरस्त हो जाता है।

'वेदार्थपारिजात' प्रणेता के समान ही बहुपत्नी-विधान को शास्त्रीय मानता रहे, परन्तु वह अशास्त्रीय ही है। जैसे पाणिनीय व्याकरण में विवाह अवस्था को प्राप्त कन्या 'वर्या' कहलाती थी। वह अनिरोध अर्थ में सिद्ध है, अर्थात् जहां सौ या सहस्र कार्षापण देकर कोई भी वरण कर सकता था, पर वृत्या कन्या माता-

पाऽपि प्रथा न धर्मशास्त्रानुमोदिताऽऽसीत्। यदाह मनुः—

न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि।
गृह्णन् शुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी॥३।५१॥

भारतीयसंस्कृतिगौरवगिरिशिखरशृङ्गारसारो विश्वगुणाभिरामो रामः एकपत्नीव्रतस्यानुकरणीयमादर्शमास्थापयत्। सर्वथा सत्यमेव—

कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः। रघुवंशे १४।८४॥

सीतायां गौरवधियं निबध्नानोऽश्वमेधयज्ञे तद्दशायां काञ्चनमयीं प्रतिमां प्रतिष्ठापयामास सः। कालिदासस्तथाह—

सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्याम्,
तस्या एव प्रतिकृतिसखो यत् क्रतूनाजहार।
वृत्तान्तेन श्रवणविषयप्रापिणा तेन भर्त्तुः,
सा दुर्वारं कथमपि परित्यागदुःखं विषेहे॥
रघुवंशे १४।८७॥

पिता के अनुमति अर्थात् वर खोजने पर विवाह्य होती थी। पर कार्षापण देनेवाली प्रथा भी अशास्त्रीय थी, जैसा कि मनु-वचन है—

कन्या का विद्वान् पिता कन्या के विनिमय में शुल्क कदापि ग्रहण न करे। शुल्कग्राही सन्तान का बेचनेवाला कहलायेगा।

भारतीय संस्कृति के गौरवगिरि के शिर पर शृङ्गारसार समस्त गुणों से अभिराम राम ने एक-पत्नीव्रत के अनुकरणीय आदर्श की स्थापना की। अहा धन्य है, सर्वथा सत्य है—

उत्तम कुल से सम्बन्ध होने के कारण भीत राम ने भगवती सीता को घर से तो निकाल दिया, परन्तु विदेहनन्दिनी को वे मन से न निकाल सके।

सीता में गौरवबुद्धि बांधते हुए राम ने अश्वमेध यज्ञ में पुनः प्राप्त्याशा में ही सीता की काञ्चनमयी प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। महाकवि कालिदास का वर्णन पढ़िए—

भगवती सीता को छोड़कर भगवान् राम ने अन्य स्त्री से विवाह नहीं किया, केवल उन्हीं की प्रतिमा को यज्ञ में रखा। पति का यह सुसमाचार जब सीता के कानों तक पहुंचा, तो न जाने किस प्रकार उसने पति के परित्याग के अपार दुःख को सहन किया?

https://t.me/DharmaSamrat

अपि च परिणयकाले पुरोहितैः पठितवधूवचनेऽपि एकवचनम्—

तीर्थव्रतोद्यापनयज्ञदानं मया सह त्वं यदि कान्त कुर्याः।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं जगाद वाक्यं प्रथमं कुमारी॥
धनं धान्यं च मिष्टान्नं व्यञ्जनाद्यं च यद् गृहे।
मदधीनं च कर्त्तव्यं वधूराद्ये पदे वदेत्॥

पत्या प्रतिवचने प्रवृत्ते सति एकस्यै कथमन्यस्यै दानेन वञ्चना शास्त्र-सम्मता मन्येत। एवं श्रीकरपात्रप्रतिपादितबहुपत्नीविधानतर्काः संस्कृतिसमुच्छेद-जनका अशास्त्रीया एव। अयं खलु प्रच्छन्नविभिन्नकुतर्कनिशितीकृतलेखनी-कुठार-प्रहारैरार्यसंस्कृति-पादपान् छेत्तुमेव प्रावर्त्तिष्ट। इहैषा निर्मलोक्तिर्घटते—

पश्चात्तापं विदधति समावन्द्यवेदार्थशैल्यः,
रोदित्यस्रैरविरलमहो सा निरुक्त-प्रणाली।
आर्यद्वेषा निगमसरणेर्दूषणे सम्प्रवृत्ताः,
यस्मात् कालात् कुमलकरयोर्लेखनीमेष देवे॥

उपर्युक्तप्रमाणैरेकस्याः स्त्रिया अनेकपुरुषसम्बन्धो यो निषिध्यते तदु-ल्लङ्घनमपि गीताप्रेसगोरखपुरतः प्रकाशिततृतीयसंस्करणे महाभारते। यथा

अपि च विवाह के समय पुरोहित-पठित वधू के वचन में भी एकवचन है, जो समस्त पौराणिकों में वचन पढ़े जाते हैं। देखिये—

हे कान्त मेरे साथ तीर्थ-व्रतादि का वचन दो, तो मैं वामाङ्ग आऊंगी। धन धान्यादि मेरे अधीन रखोगे, ऐसा प्रथमवचन में वधू कहती है।

पति के द्वारा एक पत्नी के लिये दिये वचन तो अनेक पत्नी करने पर वे वचन-वञ्चन ही माने जायेंगे। इस प्रकार सत्य सनातन धर्म के विध्वंसक श्री करपात्र द्वारा प्रतिपादित बहुपत्नीत्व की अशास्त्रीयता, संस्कृति-समुच्छेदन का संकल्प या जनक ही समझना चाहिए।

वस्तुतः यह लेखक छिपे हुए अनेक कुतर्क-शाण पर तीक्ष्णीकृत लेखनी-कुठार के प्रहारों से आर्यसंस्कृति के पादपों को समूल उच्छिन्न करने को प्रवृत्त हुआ है। यहां पर यह निर्मलोक्ति सुघटित हो रही है—

जिस समय से अपने कुमल करों में इस लेखक ने लेखनी पकड़ी है, तभी से वन्दनीय वेदों की समस्त शैलियां पश्चात्ताप करने लगी हैं, और वह प्रसिद्ध निरुक्त-प्रणाली भी निरन्तर आंसुओं से रो रही है। आर्यों से द्वेष रखनेवाले वेदार्थ के मार्ग को दूषित करने में तभी से जुट गये हैं।

श्री करपात्र द्वारा कहे ऐतरेयादि प्रमाणों से तथा हमारे द्वारा बहुत से प्रमाणों से एक स्त्री के अनेक पुरुष होने का निषेध है, पर उसका भी उल्लङ्घन

नारदवचनं पञ्चपाण्डवान् प्रति—

पाञ्चाली भवतामेका धर्मपत्नी यशस्विनी।
यथा वो नात्र भेदः स्यात्तथा नीतिर्विधीयताम्॥ (आदिपर्व २०७।१८)
तथा ब्रुवन्ती करुणं सुमध्यमा भर्तॄन् कटाक्षैः कुपितानपश्यत्।
सा पाण्डवान् कोपपरीतदेहान् सन्दीपयामास कटाक्षपातैः॥
(सभापर्व ६७।४२)

परमेतद् वेदविरुद्धम्। उक्तप्रमाणे च 'सह पत्या' इत्यस्य व्याख्यानं पुरुष-पक्षेऽपि व्याख्येयमौचित्यात्। 'नहि जीविते पत्यौ स्त्री अन्यमभिलषेत् तथैव जीवितायां स्त्रियां नापरां पुरुषोऽपि' इति दिक्।

इति श्रीमद्बिहारीलालशास्त्रिशिष्येण श्रीयुतपण्डित-अयोध्याप्रसाद-मिश्रात्मजेन श्रीमदाचार्यविशुद्धानन्दमिश्रेण श्रीयुतनिर्मला-मिश्रा-सहधर्मिणीसहायेन विरचिते करपात्रिमतखण्डने दयानन्दीयमतमण्डने 'वेदार्थकल्पद्रुम'नामग्रन्थे 'विवाह-विषयः'
॥ सम्पूर्णः॥

गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित महाभारत के तृतीय संस्करण में देखिये। नारद का वचन पांच पाण्डवों के प्रति—

अकेली पाञ्चाली आपकी एक धर्मपत्नी होगी। आप लोगों में भेद न पड़े ऐसी नीति वरतो। वैसा कहती हुई सुमध्यमा द्रौपदी ने कुपित पतियों को कटाक्षों से देखा। उसने कुपित पाण्डवों को और भी अपने कटाक्ष-पातों से संदीप्त कर दिया।

परन्तु यह सारा कथन भी वेद के विरुद्ध है। वेद में 'सह पत्या दधामि' की व्याख्या यही है कि पुरुषपक्ष में पति के जीवित रहते अन्य पुरुष का अभिलाष स्त्री न करे और न जीवित स्त्री के होने पर अन्य स्त्री का अभिलाष पुरुष करे।

श्रीमान् पण्डित बिहारीलालजी शास्त्री के शिष्य, श्रीयुत पण्डित
अयोध्याप्रसाद मिश्र के आत्मज, श्रीमदाचार्य विशुद्धानन्द
मिश्र द्वारा श्रीयुतनिर्मला मिश्रा सहधर्मिणी की
सहायता से विरचित करपात्रिमतखण्डन तथा
दयानन्दीय मतमण्डन करनेवाले इस
'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में
'विवाह-विषय'
॥ सम्पूर्ण हुआ॥

http://t.me/Dharmasamrat

अथ नियोग-विषयः

पृ० १४२९—यदुक्तम्—"कुहस्विद्दोषा' (ऋग् १०।४०।२) इति मन्त्रेण विधवेव देवरं द्वितीयं वरं नियोगेन प्राप्तं विधवेव विधवाया दैवरेण नियोगो (मैथुनादिसम्बन्धः) सिध्यति इति, तन्न, मन्त्रस्यान्यार्थत्वात्। वेदे तादृशार्थे नियोगशब्दस्यादर्शनाच्च।" इति समग्रं भ्रामकम्, मूलस्य तथाऽसत्वात्। हिन्दीं कृत्वाऽपि "इस बात से वेदमन्त्रों से विधवाविवाह सिद्ध होता है" इति भ्रान्त्युत्पादक एवानुवादः कृतः। यच्चोक्तं 'मन्त्रस्यान्य एवार्थः' तदपि न सत्यम्, सायणस्याऽपि भाष्यस्य स्वामिनोऽर्थस्यानुगम्यत्वात्।

पृ० १४३०, पं० ३—यच्चोक्तम्—"किञ्च वां युवां कः यजमानः सधस्थे वेधाख्ये आकृणुते आकुरुते परिचरणार्थमभिमुखी करोति। अत्र दृष्टान्तो विधवेव मृतभर्तृका नारी यथा देवरं भर्तृभ्रातरमभिमुखी करोति पालनार्थं देवरमाश्रयते, यथा वा योषा सर्वा नारी शयुत्रा शयने मर्यं मनुष्यं पुमांसं भोगकालेऽभिमुखी करोति। सम्भोगाभिमुखस्यैव विवक्षितत्वे 'मर्यं न योषा' इत्येकेनैव दृष्टान्तेनो-

---

पृ० १४२९—"कुह स्विद्' इत्यादि मन्त्र में आए 'विधवेव देवरम्' इन पदों से दयानन्द ने यह अभिप्राय निकाला है कि जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ सन्तानोत्पत्ति करती है, वैसे तुम भी करो, इस बात से वेदमन्त्रों से विधवाविवाह सिद्ध होता है (पृ०२४५)। किन्तु यह कहना गलत है, क्योंकि मन्त्र का दूसरा ही अर्थ है। वेद में इस अर्थ में नियोग शब्द का कहीं प्रयोग किया भी नहीं गया है।"

श्री करपात्र का उक्त समग्र लेख भ्रामक है, क्योंकि मूल उक्त प्रकार का है ही नहीं। हिन्दी अनुवाद भी भ्रान्त्युत्पादक है। वैसे इससे विधवा-नियोग तो सिद्ध ही होता है। यह कहना कि इसका अन्य अर्थ है, गलत है, क्योंकि सायणाचार्य ने भी स्वामीजी महाराज के अनुरूप ही अर्थ किया है।

पृ० १४३०, पं० ३—पूर्वपक्ष—"हे अश्विनीकुमारो! आप लोगों को कौन यजमान सत्कार आदि करने के लिए बुलाता है? 'विधवेव देवरम्' यहां दृष्टान्त के रूप में दिया गया है। जैसे विधवा नारी अपने पति के भाई देवर का अपना गुजर-बसर करने के लिए सहारा लेती है। यदि 'विधवेव देवरम्' इस वाक्य में भी विधवा संभोग के लिए ही देवर का सहारा लेती है, ऐसा अर्थ माना जाए, तो इस अर्थ की प्राप्ति तो 'मर्यं न योषा' इस उदाहरण से ही हो जाती है,

द्देश्यसिद्धौ विधवेवेत्यस्य वैयर्थ्यापातात्। तस्मात् पत्यभावे रक्षणार्थं भ्रातृभार्या भर्तृभ्रातरं देवरमाश्रयत इत्येवार्थः।" इति।

तदपि भ्रामकमेव। सायणभाष्यस्य अंशस्य छेदनेनान्यथा दर्शितत्वात्। तच्चाविकलम्—"शयुत्रा शयने विधवेव यथा मृतभर्तृका नारी देवरं भर्तृभ्रातरम् अभिमुखी करोति, 'मर्यं न' यथा च सर्वं मनुष्यं योषा सर्वा नारी सम्भोगकाले अभिमुखी करोति तद्वदित्यर्थः।" तथा च यास्कः—'क्वस्विद् रात्रौ भवथः क्व दिवा क्वाभिप्राप्तिं कुरुथः क्व वसथः। को वां शयने विधवेव देवरम्। देवरः कस्माद् द्वितीयवर उच्यते। योषा यौतेराकुरुते सह स्थाने' इति निरुक्तम्।

दुर्गाचार्योऽपि—'शयुत्रा शयने किं विधवा इव देवरं यथा विधवा मृतभर्तृका काचित् स्त्री शयने रहस्यतितरां यत्नवती देवरमुपचरति, स हि परकीयत्वात् नार्या दुराराध्यतरो भवतीति यत्नेनोपचर्यते न तथा निजो भर्ता। तस्मात्तेनोपमिमीते अश्विनौ। तथा मर्यं मनुष्यं देवरं सैव मृतभर्तृका योषा आकृणुते आभिमुख्येन कुरुते। को वाम् एवमाभिमुख्येन सधस्थे सहस्थाने समाने सहयोगिनावात्मना कृत्वा परिचचार।'

तब इस दूसरे उदाहरण की व्यर्थता हो जाएगी, इस लिए पति के अभाव में अपनी रक्षा के लिए भौजाई देवर का सहारा लेती है। यही अर्थ करना ठीक होगा।"

उत्तरपक्ष—यह कथन भी भ्रामक है, क्योंकि सायण के भाष्य का अंशतः काटकर उद्धरण दिया गया है। सायण का पाठ है कि वहां दृष्टान्त देते हैं (१) सोने के स्थान में जैसे विधवा स्त्री पति के भाई को अभिमुख करती है उसी प्रकार यास्क ने भी लिखा है कि तुम दोनों के शयनागार में जैसे विधवा दूसरे वर को सम्मुख करती है। योषा (स्त्री) जैसे समान (शयन) स्थान में सम्मुख करती है। (सायणभाष्य)।

चारपाई पर जैसे कोई विधवा स्त्री सेज पर अत्यन्त एकान्त में यत्न से देवर को प्रसन्न करती है, वह दूसरी स्त्री का पति होने से विधवा द्वारा प्रसन्न करना कठिन होता है। यदि यहां मन्त्र में गुजर-बसर पालन का अभिप्राय होता तो 'शयने' और परकीयत्वात् अर्थात् 'दूसरी स्त्री का पति होने से' इन शब्दों की यहां आवश्यकता ही नहीं थी। इस लिए अति प्रयत्न से इस देवर को प्रसन्न करती है वैसे अपने पति से नहीं। इसलिये उससे अश्विनीकुमारों की उपमा दी है और मनुष्य देवर को वही मृतभर्तृका स्त्री सम्मुख करती है। आप कौन हैं? इस प्रकार सम्मुख करके समान स्थान में आत्मा से सम्भोग करके सेवा करती है।

http://t.me/Dharmagaanchat

अत्रोभयसन्दर्भयोर्विधवाशब्देन सहैव शयने इति शब्दप्रयोगेण सायणस्य च 'सम्भोगकाले अभिमुखीकरोति' इत्यनेनाऽपि स्पष्टतया विधवाया अपि सम्भोगाभिमुखीकरणे एव तात्पर्यम्, न च रक्षणार्थमेव देवरमाश्रयत इति ।

महामहोपाध्यायः शिवदत्तशास्त्री अपि निरुक्तटिप्पण्यामस्मिन् मन्त्रेऽलिखीत्—"एवं चतस्रो गतयो विधवानां प्रतिभान्ति, तत्र पत्यौ प्रेते ब्रह्मचारिणी उत्तमा। ब्रह्मचर्यं स्थातुमसमर्था पतिमनुगच्छन्ती मध्यमा। ब्रह्मचर्यपत्यनुगमनयोरसमर्था पुनर्भूत्वमङ्गीकुर्वन्ती अधमा। पुनर्भूत्वमप्यनङ्गीकुर्वन्ती व्यभिचारजातगर्भादि निःसारयन्ती अधमाधमा। एवं चतुर्विधासु विधवागतिषु तिस्रो गतीरुत्तममध्यमाधमा उपदेष्टुमयं मन्त्रः। न त्वधमाधमगतिं चतुर्थीमिति सर्वमनवद्यम्" (नि० अ० २।१५)।

अत्र भवन्तं पृच्छामि यत् किं विधवोद्वाहं नियोगं वा वेदाऽऽप्रतिपादितं मत्वा अन्यथार्थो व्याख्यायते, उत वानेन मन्त्रेण सिद्ध्यतीति? आद्यं चेत् तन्न

यहां दोनों ही सन्दर्भों में विधवा शब्द के साथ ही 'शयने' इस शब्द के प्रयोग करने से और सायण के द्वारा 'सम्भोग काल में अभिमुख करती है' इस वाक्य द्वारा भी स्पष्टरूप से विधवा का सम्भोग के लिए ही अभिमुख करने में ही तात्पर्य है, न कि देवर का आश्रय अपनी रक्षा के लिए चाहती है।

महामहोपाध्याय शिवदत्त शास्त्री प्रधानाध्यापक ओरियण्टल कालेज लाहौर ने भी निरुक्त पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि—"इस प्रकार विधवाओं की चार गतियां प्रतीत होती हैं, इनमें से पति के मरने पर ब्रह्मचारिणी रहे, वह उत्तमा। ब्रह्मचर्य पालन करने में असमर्थ पति के साथ सती हो जावे, वह मध्यमा। जो उक्त दोनों में असमर्थ हो और पुनर्विवाह करले वह अधमा। जो पुनर्विवाह भी न करके व्यभिचार से हुए गर्भ आदि को निकालनेवाली गर्भपात के अधिक दोष के कारण अधमाधमा है। इस प्रकार से विधवाओं की चार गतियों में से पहली तीन उत्तम, मध्यम अधम का मन्त्र उपदेश करता है, चौथी अधमाधम गति का नहीं। यह सब निर्विवाद है।" (नि० अ० २।१५) (टिप्पणी—वस्तुतः सती होने की प्रथा जो मध्यकाल में प्रचलित हो गयी थी वह अवैदिक है, क्योंकि वेद का ऐसा निर्णय मानना पुरुष को न होकर एकपक्षीय होने से अन्याय व अयौक्तिक है।)

यहां हम आपसे पूछते हैं कि क्या आप विधवोद्वाह या नियोग वेद से अप्रतिपादित मानकर अन्य अर्थ बता रहे हैं याकि इसी मन्त्र से यह नियोग (विधवाविवाह) सिद्ध होता है। पहली बात तो सम्भव नहीं है, क्योंकि इसमें

सम्भवति, अन्यत्र वेदप्रमाणबहुलत्वात्। यथा—

या पूर्वं पतिं वित्त्वा अथान्यं विन्दतेऽपरम्।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः॥ (अथर्व० ९।५।२७)

समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ (अथर्व० ९।५।२८)

अत्र आपत्तिकाले स्त्रिया द्वितीयस्य पत्युः पुरुषस्य द्वितीयस्त्रिया अनुमतिर्दत्ता। अस्मिन् प्रथममन्त्रे 'अन्य' शब्दे सत्यपि 'अपरम्' इति विशेषणेन पूर्वाङ्गीकृत-प्रथमस्त्रीक एव पुरुषोऽनुदिश्यते तथा स्त्रीपक्षेऽपि योज्यम्। अथ चेदन्यत् तदपि न, मन्त्रेण स्पष्ट-प्रतिपादनात्।

पृ० १४३०, पं० १०—यदुच्यते—"विधवा स्त्री मृतकस्त्रीकपुरुषेण सहैव सन्तानार्थं नियोगं कुर्यात्, न कुमारेण सहेत्यादिकम्, तदपि मूढजनकल्पितमेव, मन्त्रे निरुक्ते वा विधिप्रत्ययाभावेनाज्ञाद्यसिद्धेः।"

इत्यपि त्वन्मूढजनजल्पितमेव समाधीयते मया। विधवा हि मृतपतिका स्त्री देवरश्च द्वितीयवरस्तमभिव्यनक्ति ऋष्युक्तोऽर्थः। केन प्रमाणेन कुमारेण सह

वेदादि ग्रन्थों से बहुत से प्रमाण हैं। जैसे वेद में—'जो पहले पति का वरण कर'—आदि।

यहां आपत्तिकाल में स्त्री को दूसरे पति और पुरुष को दूसरी स्त्री की अनुमति दी गई है। इस प्रथम मन्त्र में 'अन्य' शब्द के होते हुए भी 'अपरं' शब्द से स्पष्ट है कि पूर्वस्वीकृत स्त्रीवाला पुरुष तथा पूर्व विवाहित पुरुषवाली स्त्री अपर स्त्री व पुरुष से नियोग करे। यदि यह कहा जावे कि इस मन्त्र से नियोग सिद्ध नहीं होता, तो ठीक नहीं, क्योंकि ऊपर स्पष्ट रूप में सिद्ध किया जा चुका है।

पृ० १४३० पं० १०—"विधवा स्त्री विधुर के साथ ही सन्तानार्थ नियोग करे, कुमार के साथ नहीं। इत्यादि भूमिकालेख मूढ आग्रह से भरा है; क्योंकि मन्त्र में और निरुक्त के वचन में भी आज्ञासूचक विधिवचन नहीं है।"

आपके इस मूढ कथन का समाधान किया जा रहा है। सुनिये, जबकि विधवा तो मृत पति की ही होती है और देवर द्वितीय वर होता है। यहां उनका ही दृष्टान्त दिया गया और दृष्टान्त वही होता है जिसकी सिद्धि पूर्वतः मानी हुई होती है। फिर 'यह विधि या आज्ञासूचक वचन नहीं है' यह कथन कोरी बकवास है। उक्त दृष्टान्त से विधवा का देवर के साथ नियोग होना अभिव्यक्त होने से ऋषि दयानन्द का किया अर्थ ही ठीक है। आपको स्यात् आक्षेप यह है कि कुमार

https://t.me/DharmeSamrat

विधवाया अथवा तया सह तस्य नियोगोऽनुमन्यते ?

ननु यदुक्तं तात्पर्याभावे विधिवचनमपि न विधातुं शक्नोतीति वाच्यमिति चेन्न, आपद्धर्म तद्विधानस्य तात्पर्यात् श्रुतिमूलकस्मृत्यादिभिरपि तथा प्रतिपादितत्वात् । यथा च—

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥

(पाराशरस्मृ० अ० ४।३०)

पृ० १४३०, पं० १२—यच्चोच्यते—"मन्त्रे दृष्टान्तरूपेण कथञ्चिद् विधवादेवरयोः सम्भोगाभिमुख्याभ्युपगमेऽपि न तस्य वैधत्वं निश्चीयते" इत्यपि मूढजनजल्पितमेव । मन्त्रेणाभ्युपगमे सति वैधत्वाभावशङ्कनं बुद्धेर्निष्कोषताप्रमाणम्, वेदानाधारत्वे सति वैधत्वप्रतिपादकसर्वान्यप्रमाणानामप्रामाणिकत्वापत्तेः । तत्र प्रमाणानि—

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥ मनु० ९।५९॥

के साथ विधवा का विवाह क्यों न हो ? भाई जब तक इसमें वेद प्रमाण नहीं, तब तक यह अवैध ही रहेगा। फिर आप ही बताते कि विधवा का कुंआरे के साथ और कुमारी का विधुर के साथ नियोग करने में कौनसा वेद प्रमाण है ?

फिर यह कथन भी ठीक नहीं कि "तात्पर्य के अभाव में विधिवचन भी विधान नहीं कर सकता।" क्योंकि आपद्धर्म के रूप में इसके विधान करने का तात्पर्य सिद्ध है। श्रुति तथा स्मृतियों से भी अनुमोदित है। यथा—

अदृष्ट, मृत, दीर्घप्रवास, नपुंसक, तथा पति के न होने पर—इन पांच आपत्तियों में अन्य पति का विधान है। कहिये, यह पाराशरवचन भी आपकी भांति बकवास है ?

पृ० १४३०, पं० १२—"मन्त्र में दृष्टान्तरूप में जैसे-तैसे विधवा और देवर का सम्भोगार्थ आमने-सामने स्वीकार भी कर लिया जावे, पर इसकी वैधता का निश्चय नहीं" वाह ! क्या ही कमाल की बात कही ? जादू वह जो सिर पर चढ़ के बोले। 'जैसे-तैसे' ही सही आप बड़ी आनाकानी के बाद यह स्वीकार करने को तैयार हैं। फिर भाई ! इसे स्वीकृत करने पर भी वैधता के निश्चय में कमी देखना तो मूढजनप्रलाप ही कहा जायेगा तथा बुद्धि का दिवालियापन भी है। वेद के आधार न मानने पर तो वैधताप्रतिपादक सभी अन्य प्रमाणों की प्रामाणिकता ही सन्देह में पड़ जायेगी। नियोग में मनुस्मृति-प्रमाण भी देखिए—

सन्तान के परिक्षय होने पर देवर से व सपिण्ड से विधिपूर्वक नियोग करके

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि ।
एकमुत्पादयेत् पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ॥ मनु० ९।६०॥

यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा ।
स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥ मनु० ९।१६७ ।

यो मृतस्य नपुंसकस्य प्रसवविरोधिव्याध्युपेतस्य वा भार्यायां घृताक्तत्वादि-नियोगधर्मेण गुरु-नियुक्तायां जातः स क्षेत्रजः पुत्रो मन्वादिभिः स्मृतः (कुल्लूकभट्टः)।

सत्यवती च यथा स्वपुत्रवधूमाह—

"कौशल्ये देवरस्तेऽस्ति निशीथे ह्यागमिष्यति ।"

(महाभा० आदिप० १०६।२)

इति प्रमाणानि नियोगोत्पादन एव ।

पृ० १४३१, पं० १—यच्चाह—"हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ इति सम्बोधनन्तु सर्वथाऽशुद्धमेव, अश्विना इति मूलोक्तसम्बोधनविरुद्धत्वात् । यजमानस्तु स्वोपास्यौ प्रति तददर्शनादेवं प्रश्नान् कर्त्तुमर्हति । विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ प्रति को वा

सन्तान प्राप्त कर लेनी चाहिए ॥९।५९॥

विधवा में नियुक्त पति घृत से लिप्त तथा मौन होकर एक पुत्र का उत्पादन करे, द्वितीय का कदापि नहीं ॥९।६०॥

जो मरे हुए, नपुंसक, प्रसवविरोधी बीमारी से युक्त पुरुष का स्त्री में घृत लगाना आदि नियोगधर्म से गुरु की आज्ञा से नियोग करनेवाली में पुत्र पैदा हो, उस का नाम क्षेत्रज है। ऐसा मनु आदि मानते हैं ॥९।१६७॥ (कुल्लूकभट्ट)

देखिये सत्यवती ने भी अपनी पुत्रवधू से निबोग करने को कहा—"हे कौशल्ये ! तुम्हारा देवर मध्यरात्रि में निश्चय ही आयेगा।"

ये प्रमाण तो सन्तति के नियोग द्वारा ही उत्पादन करने में हैं।

पृ० १४३१, पं० १—पूर्वपक्ष—"हे विवाहित स्त्री पुरुषो !' ऐसा सम्बोधनपरक अर्थ करना सर्वथा गलत है, क्योंकि इसका मूल में आये 'अश्विनौ' पद से सीधा विरोध है। यजमान अपने उपास्य देवता के प्रति इस तरह के प्रश्न कर सकता है, किन्तु विवाहित स्त्री-पुरुषों से ऐसे प्रश्न करने की क्या तुक है और इनको पूछने

https://t.me/DharmaSamrat

पृच्छकः ? न परमेश्वरः सम्भवति, तस्य सर्वज्ञत्वात्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः क्व साम्यमिति तु मन्त्रानुसारेण नोक्तं दयानन्देन ।" इति, तदपि मन्दबुद्धित्वात् यथार्थानवगमनमेव भवतः ।

'अश्विना' इत्यनेनैव गृहस्थस्त्रीपुरुषार्थलाभः, 'वां शयुत्रा' पदाभ्यां मानुषस्त्रीपुरुषयोरेव ग्रहणौचित्यात् । नहि जडयोर्वा कयोश्चिदश्विनीकुमारयोर्ग्रहणं सम्भवति, तयोः शयन-जागरणक्रियानुपलब्धेः । चेतनयोश्चेत्तदा मनुष्ययोनित्वाभिन्नत्वमेव । अथवा ब्रूतां को वाश्विनौ अन्यौ ययोर्विषये यजमानो रात्रेर्दिवसस्य च निवासं पृच्छति ? किं सूर्यद्वारा संज्ञानासायां कृतगर्भाधानविधिनोत्पन्नौ पुराणोक्तौ अश्विनीकुमारौ अभीष्टौ ते ? तयोर्वा यजमानस्य दर्शनमपि जायते कदाचिद् यददर्शनात् पृच्छति ? किंस्वरूपौ च तौ ? भवता हि पृच्छको यजमानः कल्पितो न मन्त्रोक्तस्तथेहाऽपि कश्चिदपि तद्वर्गप्रमुखः प्रष्टुमर्हति । यश्च धर्मशास्त्रानुसारनियोगविधेर्निर्देष्टा भविष्यति ।

वाला कौन होगा ? वह परमेश्वर नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो सर्वत्र है, उसको सब बातें मालूम हैं । दयानन्द ने इस मन्त्र में दृष्टान्त और दार्ष्टान्ति की समानता भी नहीं बताई ।"

उत्तरपक्ष – इस लेखक का उक्त कथन यथायथ अर्थ के न जान सकने के कारण इसकी बुद्धिमन्दता का ही द्योतक है । क्योंकि 'अश्विनौ' इस शब्द से स्त्री पुरुष का यहां ग्रहण होगा । 'वां शयुत्रा' अर्थात् 'तुम दोनों के शयन में' इन पदों से चेतन स्त्री-पुरुष के ग्रहण का ही औचित्य प्रतीत होता है । किन्हीं जड़ अश्विनी कुमारों का ग्रहण करना सम्भव ही नहीं है; क्योंकि जड़ों में 'शयन' जागरण क्रिया की अनुपलब्धि रहेगी ।

यदि ये कहा जाय कि ये अश्विनी कुमार चेतन हैं, तो मनुष्य-योनि से भिन्न सम्भव ही नहीं है । देवता (चेतन) ऋषिसाध्य आदि तो इस (मनुष्य) की ही उन्नत श्रेणियां हैं । अथवा आप ही बताइये कि ये अश्विनीकुमार कौन हैं ? जिनके विषय में यजमान रात्रि और दिन के निवास के विषय में पूछ रहा है । आपके ये अश्विनीकुमार कदाचित् वे तो नहीं हैं, जो सूर्य के द्वारा संज्ञानामिका की नासिका में गर्भाधान करके उत्पन्न किए गए थे, जिनका पुराणों में वर्णन है ? उनका यजमान को कभी दर्शन भी होता है ? जोकि अदर्शन होने के कारण से पूछ रहा है । उनका स्वरूप क्या है ? आपका यह पूछनेवाला 'यजमान' सायणादि द्वारा कल्पित ही है, क्योंकि मन्त्र में तो कहीं 'यजमान' शब्द आया नहीं है । उसी प्रकार महर्षि दयानन्द के संगत अर्थ में स्त्री पुरुष के नियोग के निर्धारण करने में उस वर्ग का प्रमुख (पञ्चायत का सरपञ्च) पूछ ही सकता है; क्योंकि विवाहित

दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकविचारे द्वावपि दृष्टान्तौ सायणाचार्येण निर्दिष्टौ, 'मर्यं न योषा' दृष्टान्तश्च 'विधवेव देवरम्' इति तु सुविशदं भाष्ये प्रत्यपादि महर्षिणा । यन्न दिवान्धस्य ते सुप्रकाशं नयनगोचरतामापेदे । तथाहि 'मर्यं न योषा' यथा विवाहितं मनुष्यं (सधस्थे) समानस्थाने सन्तानार्थं योषा विवाहिता स्त्री अ कृणुते तथैव विधवा विगतस्त्रीकश्च सन्तानोत्पत्तिकरणार्थं परस्परं नियोगं कृत्वा विवाहितस्त्रीपुरुषवद् वर्तेयाताम् । अथवा 'इव' 'न' इति पदद्वये सति उभयोरनयोः 'विधवेव देवरम्' 'मर्यं न योषा' इति वाक्यमेतद्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकौ कावपि विवाहितस्त्रीपुरुषौ स्याताम् ।

पृ० १४३१, पं० ४—यदुक्तम्—"हिन्दीव्याख्याने तु लिखितम्—'जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ सन्तानोत्पत्ति करती है, वैसे ही तुम भी करो' एतच्च सर्वथा वेदबाह्यम्, असङ्गतं च । –……अस्वाभाविकं विधवादेवरोदाहरणमसङ्गतमेव स्यात्" इति, तदकिञ्चित्, विधवाविस्त्रीकनियोगव्यवस्थाविधानस्य प्राधान्यविवक्षायां हिन्दीगतमपि सङ्गच्छते । नैषोऽभिप्रायो वेदबाह्यः, परव्याख्यातृभिरपि नियोगविधेरङ्गीकरणात् ।

यदुक्तम्—"मूले तु सन्तानोत्पादनस्य चर्चाऽपि नास्ति, किन्तु तत्र को वां

होने का लाइसेंस मिलने पर भी उस समाज में रहने, सोने, अन्न धन आदि प्राप्त करने के कतिपय नियम-बन्धन भी थे । विवाहित रात में स्मशलिङ्ग का भी काम कर सकते थे, अतः प्रमुख पूछता था और वह ही धर्मानुसार नियोग विधि का निर्देष्टा भी होता था ।

सायण ने दो दृष्टान्त माने हैं । वस्तुतः दार्ष्टान्ति विवाहित स्त्रीपुरुष हैं और दृष्टान्त 'विधवेव देवरम्' है । जैसा कि महर्षि के भाष्य में स्पष्ट है ।

पृ० १४३१, पं० ४—"जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ सन्तानोत्पत्ति करती है, वैसे तुम भी करो" इस कथन को वेदबाह्य तथा असङ्गत कहना ही असङ्गत है । जब 'मर्यं न योषा' इस वाक्य की प्राधान्य विवक्षा होगी तब संस्कृतगत तथा जब विधवा तथा विस्त्रीक पुरुष के नियोगव्यवस्था करने की प्रधानता विवक्षित होगी तब हिन्दीगत वाक्यरचना सुसङ्गत होगी । यहां परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव वक्ता की विवक्षा के अनुरूप होगा, यह भी ध्वनित कर दिया गया । यह साहित्यिक काव्यसौन्दर्य समझना आपकी बुद्धि के स्तर से परे की बात है । यह आपद्धर्म व्याख्याताओं ने भी नियोगविधि के रूप में स्वीकृत किया है ।

"मूल में सन्तानोत्पादन की चर्चा भी नहीं है, किन्तु वहां वेदी पर तुम्हें

https://t.me/Dhanadasamrat

सधस्थ आकृणुते इति दार्ष्टान्तिः" इत्यपि बुद्धिबाह्यमाक्षेपणम्। सायणेनाऽपि सम्भोगकाले अभिमुखी करोतीत्यर्थस्वीकारात्। समानस्थानशयनं किं तव मते केवलं सम्भोगायैव स्त्रीपुंसोः न सन्तानोत्पत्त्यर्थम्? यथा च मन्वादिभिः प्रतिपादितम्।

सधस्थ इत्यस्य वेधाख्य इत्यर्थोऽपि भ्रष्ट एव। सधस्थ इत्यस्य समानस्थान इत्यर्थोऽस्ति। तत्र न काचिदप्रतिपत्तिः।

वेदे तु समागमोऽन्वादिष्टः केवलं गर्भधारणार्थमेव। यथा—

रेतोमूत्रं विजहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम्।
गर्भो जरायुणा वृत्त उल्वं जहाति जन्मना॥ यजु० १९।७६

एतदेव समर्थयन् मनुरप्याह—'ऋतुकालाभिगामी स्यात्' (३।४५), 'प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः।' (९।९६) इति।

सायणप्रतिपादितोऽर्थोऽपि न केवलं सम्भोगायैवाभिमुखीकरणं मंस्यते। सम्भोगस्य सन्तानोत्पादनोद्देश्यत्वाद् अन्यथा वेदविरुद्धत्वमापतेत्। अथ ब्रूतां 'घृताभ्यक्त ऋतावियात्' (गरुडाचारे ९५।१६) अत्र ऋतुगमनं किमर्थमुक्तम्?

कौन बुलाता है, यही कही गई है" यह आक्षेप बुद्धिबाह्य है, क्योंकि 'शयुत्रा' का अर्थ 'शयनस्थान' है न कि वेदी। सायण ने भी 'सम्भोगकाल में अभिमुख करती है' यही अर्थ किया है। आपके मत में क्या समान स्थान पर पति-पत्नी का शयन केवल सम्भोग के लिए है? सन्तानोत्पादन के लिए नहीं है? ऐसा मानना तो उच्छृङ्खलता ही होगी। मनु आदि ने सन्तानार्थ ही सम्भोग की उपयोगिता मानी है।

पहले आपने 'सधस्थ' का अर्थ 'वेधाख्य' किया है, जो कि सर्वथा भ्रष्ट है। 'सधस्थ' का अर्थ समान स्थान ही है। इसमें किसी प्रकार की अप्रतिपत्ति (अबोध) नहीं है।

वेद में पति-पत्नी का समागम गर्भधारणार्थ ही आदिष्ट है। जैसे यजुः १९।७६ में बताया है 'वह वीर्य जेर से लिपटा हुआ गर्भरूप होकर जन्म लेता है। जन्म से उल्व (जेर) को छोड़ता है।' इसी का समर्थन मनु ने भी किया है कि 'ऋतुकालगामी हो' (३।४५), 'प्रजनन के लिए स्त्रियां तथा सन्तानोत्पत्त्यर्थ पुरुष बनाये हैं' (९।९६)।

सायणकृत अर्थ भी केवल सम्भोग के लिए ही नहीं समझना चाहिए। सम्भोग सन्तानोत्पादनार्थ ही होता है, अन्यथा वेदाज्ञा का विरोध होगा। देखिये, आपके गरुड़पुराण में (आचार ९५।१६) 'घृतलिप्त होकर ऋतु-

किं केवलं भोगार्थम्? अपि तु नैव, सन्तानार्थमृतुगमनप्रयोजनत्वात्।

पृ० १४३१, पं० १२—यदुच्यते—"सामाजिकास्तु विधवाविवाहायैव बद्धपरिकरा दृश्यन्ते। नियोगोऽपि दयानन्दस्य न देवरेण, किन्तु केनचिदपि विधुरेण सम्भवति। स ब्राह्मणो वा स्यात् शूद्रो वा स्याद् आङ्ग्लो वा स्याद् यवनो वा स्यात्, तदरीत्या तु कर्मणैव वर्णव्यवस्थाऽभ्युपगमात्।" इत्यपि सकलवचनमनधीतशास्त्रस्य मूढजनस्य एव शोभते।

मुग्धतैषा भवतो यदाह 'विधवाविवाहम्'। स तु शूद्रेषु एव विहितो न द्विजातिषु, तस्य तु नियोगशब्दाभिधेयत्वात्। तन्नियोगार्थं भवतः प्रतिष्ठिताः पूर्वजा एव बद्धपरिकरा आसन्निति विभाव्यतां निदर्शनेषु, यथा—

(१) केसरिणा सह अञ्जनाया नियोगः—

स त्वं केसरिणः पुत्रः क्षेत्रजो भीमविक्रमः।
मारुतस्यौरसः पुत्रस्तेजसा चाऽपि तत्समः॥३०॥
(वाल्मीकिकिष्किन्धा ६६)

(२) सत्यवती भीष्मादिसम्मत्या व्यासोऽम्बिकायाम् अम्बालिकायां दास्यां च नियोगं कृतवान्। (महाभारते आदि० अ० १०६)

काल में स्त्री के समीप जावे' ऋतुकाल में ही आदिष्ट होने से सन्तानोत्पत्ति ही प्रयोजन है।

पृ० १४३१ पं० १२—"आर्यसमाजी लोग विधवा-विवाह के लिए ही कमर कसे दिखाई पड़ते हैं। दयानन्द ने नियोग भी केवल देवर के साथ ही नहीं, अपितु किसी भी विधुर के साथ हो सकना बताया है। वह ब्राह्मण हो या शूद्र, अंग्रेज हो या मुसलमान। उनकी रीति से तो कर्म से ही वर्णव्यवस्था मानी गई है।" श्री करपात्र का यह कथन शास्त्रज्ञानरहित है।

बार-बार आप 'विधवा विवाह' शब्द का ही प्रयोग करते हैं, पर याद रहे स्वामीजी ने पुनर्विवाह शूद्रों में विहित बताया है। द्विजातियों में तो उसका नाम नियोग होगा। सो महाराज! उस नियोग के लिए तो आपके प्रतिष्ठित पूर्वज ही कमर कसे रहते थे। इन उदाहरणों में देखिये—

(१) जैसे केसरी के साथ अञ्जना का नियोग—

भीम विक्रमशाली तुम केसरी के क्षेत्रज पुत्र हो और पवन के भी औरस पुत्र हो तथा वीरता में भी उसके समान हो।

(२) सत्यवती और भीष्मादि की सम्मति से व्यास ने अम्बिका, अम्बालिका और दासी में नियोग किया (महा० आदिपर्व अ० १०६)।

https://t.me/DharmaSamrat

(३) महात्मा वसुः शान्तनुस्त्रीगङ्गायां नियोगं कृत्वा भीष्ममुत्पादितवान्। इत्यादीन्यनेकनिदर्शनानि सन्ति।

आपद्धर्मं नियोगं हि सन्तानोत्पत्त्यर्थं वेदस्मृतिसदाचारपुराणानि समर्थयन्ते। यतो हि—"प्राता रत्नम्" इत्यादि (ऋग् १।१२५) मन्त्रभाष्ये सायणोऽप्याह—

"यद्यप्यसौ कालिङ्गाख्यस्य राज्ञः पुत्रः, तथापि तेन कालिङ्गेन स्वयं वृद्धत्वादपत्योत्पादनाय सामर्थ्यमलभमानेन तदुत्पादनाय याचितो दीर्घतमा ऋषिः उशिग्नामिकामपत्योत्पादनाय प्रेषितया राजमहिष्याऽतिजरठेन महर्षिणा सह रन्तुं लज्जमानया स्ववस्त्राभरणैरलङ्कृत्य स्वप्रतिनिधित्वेन प्रेषिताम् उशिग्नामिकां योषितं दासीमित्यवगत्य मन्त्रपूतेन जलेनाभिषिच्य ऋषिपुत्रीं कृत्वा तया सह रेमे। तदुत्पन्नः कक्षीवान् नाम ऋषिः।" यद्यपि न वेद इतिहासः।

(४) एवं सन्तानोत्पादनासमर्थः पाण्डुरपि कुन्तीं माद्रीं च धर्मवाय्विन्द्राश्विनीकुमारैः सह नियोगमन्वमन्यत।

(५) भागवतेऽपि 'व्यासवीर्यात्तु संजातो धृतराष्ट्रोऽन्ध एव सः' (देवी-

---

(३) महात्मा वसु ने शान्तनु की स्त्री गङ्गा में नियोग द्वारा भीष्म को उत्पन्न किया। इत्यादि अनेक उदाहरण हैं।

आपद्धर्म नियोग को सन्तानोत्पत्ति के लिए वेद, स्मृति, सदाचार और आपके पुराणों ने भी समर्थित किया है। "प्राता रत्नम्" इत्यादि (ऋक् १।१२५) मन्त्र के भाष्य में सायण ने भी लिखा है कि—

"यद्यपि वह कक्षीवान् कलिङ्ग देश राजा बली का पुत्र था, तथापि उस कलिङ्ग राजा ने वृद्ध होने से सन्तान उत्पन्न करने के लिए सामर्थ्य न होने के कारण उससे पुत्र पैदा करने के लिए दीर्घतमा ऋषि के पास भेजी हुई सुदेष्णा रानी ने अति वृद्ध दीर्घतमा से समागम करने में लज्जा मानकर अपने कपड़े और गहनों से सजाकर अपने स्थान पर उशिग् नाम की दासी को भेज दिया। दीघतमा ऋषि ने उसको जानकर मन्त्रों से पवित्र किये जल से उसको स्नान कराके और उसे ऋषि-पुत्री बना के उसके साथ समागम किया। उससे कक्षीवान् नामवाला ऋषि पैदा हुआ।" (सायणभाष्य)

(४) इसी प्रकार सन्तानोत्पादन में असमर्थ पाण्डु ने धर्म, वायु, इन्द्र और अश्विनीकुमारों के साथ नियोग करने की अनुमति दी थी।

(५) देवी भागवत में तो बिल्कुल स्पष्ट लिखा है। आपको अपने घर की

भागवतपुराणे)। न चाऽपि वरदानेन उत्पन्ना पाण्डवादयः। 'कौशल्ये देवरस्तेऽस्ति निशीथे ह्यागमिष्यति।' न च वरप्रदानं निशीथ एव।

सुभाषितरत्नभाण्डागारस्य निभालयतु श्लोकम्—

पौराणिकानां व्यभिचारदोषो न शङ्कनीयः कृतिभिः कदाचित्।
पुराणकर्त्ता व्यभिचारजातस्तस्याऽपि पुत्रो व्यभिचारजातः॥

ननु वेदप्रमाणमन्तृभिः कथं पुराणादिभ्यो नियोगे प्रमाणान्युद्धियन्त इति चेत्, अयं श्रीकरपात्रस्तु पुराणप्रमाणस्तस्मात् प्रस्तूयन्ते। यद्यसौ न मन्येत तदा घोषणां विदध्यात्। यावन्तं कालमयं पुराणानि मंस्यते तावन्तमेव कालं वयं पुराणेभ्यः प्रमाणानि प्रस्तोष्यामः।

तथाहि 'हस्तग्राभस्य तनयम् इति वेदेषु निश्चितम्' इति भीष्मवचोऽपि नियोगं समर्थयते।

भी सुध नहीं है कि आपके पूर्वज नियोग के लिए कमर कसे हैं। देखिए, व्यास के ही वीर्य से अन्धा धृतराष्ट्र उत्पन्न हुआ था।

सत्यवती ने अपनी पुत्रवधू अम्बिका को कहा था—कि हे वधू! तेरा देवर (व्यास) आधी रात में तेरे पास आएगा। आप लोग यदि ऐसा कहें कि यह तो वरदान से उत्पन्न हुए, तो मैं आपसे पूछता हूं कि आधी रात को ही वरदान देने की यह किस शास्त्र की परम्परा है?

सुभाषितरत्नभाण्डागार का यह श्लोक क्या कभी आपके दृग्गत हुआ कि 'पौराणिकों में व्यभिचार दोष माना जाता है, ऐसी शङ्का विद्वान् पुरुषों को नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पुराणकर्त्ता व्यास (पाराशर द्वारा सत्यवती में) नियोग से उत्पन्न हुए और शुकदेव भी व्यास द्वारा तोती से नियोग (व्यभिचार) करने से उत्पन्न हुए।'

कदाचित् आप शङ्का करें कि वेदप्रमाण माननेवाले इन पुराणों के प्रमाण क्योंकर देने लगे? इस पर हम इतना ही कहेंगे कि आप जब तक पुराणों को प्रमाण मानते रहेंगे, तब तक हम पुराणों से आपके लिए प्रमाण देते रहेंगे या यह घोषणा करिए कि आप पुराणों को नहीं मानते।

'उदीर्ष्व नार्यभि' इस मन्त्र में 'हस्तग्राभस्य' मानने पर भीष्म का कथन है कि नियोग से उत्पन्न हुई सन्तान उस मरे हुए पति की मानी जाएगी।

आपकी यह भी बकवास है—

https://t.me/DharmaSanskrit

यदुक्तम् – "स (विधुरः) ब्राह्मणः शूद्र आङ्ग्लो यवनो वा कश्चिदपि भवेत् तेन सह नियोगो दयानन्दमते सम्भवति" इति त्वत्कथनेन तु बालिशत्वस्य परा कोटिरधिष्ठीयते, अत्र द्विजानां द्विजेषु नियोगस्य प्रतिपादनात्। तथा सत्यार्थ-प्रकाशेऽपि – "नियोग – विवाह के पश्चात् पति के मर जाने आदि वियोग में अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में स्त्री वा आपत्काल में पुरुष सवर्ण वा अपने से उत्तमवर्णस्थ स्त्री व पुरुष के साथ सन्तानोत्पत्ति करना।" (स्वमन्तव्या-मन्तव्यप्रकाशे ४७)।

महोदय! स्वयं काचनिचितनिकेतने निषीदन् वज्रमणिसुदृढशिला-सुनिर्मित-प्रासादे विलसत उपरि पाषाणखण्डान् प्रक्षिप्य प्रहरतीति महामुग्धतैव भवतः। महर्षेर्व्यवस्था तु सनुदाहृता। सम्प्रति प्रणिभालयतु स्वपुराणपापपङ्ककलङ्क-कङ्कालजालमालाम्। यथा –

त्रिपाठीनामकब्राह्मणः कामिनीनाम्नीं स्वभार्यां गृहे मुक्त्वा सप्तशतीपाठाय क्वाऽपि देशान्तरमितः। एकमास एवातीते कामव्याकुलकामिन्याः कमनीयकाम-कलितकलालीलाविलासं निभालयतु –

"तथा वह विधुर ब्राह्मण हो या शूद्र या अंग्रेज या मुसलमान, किसी के साथ नियोग हो सकता है।" ऐसा स्वामीजी ने तो कहीं नहीं कहा है। यह मिथ्या आरोप लगाना तो मूर्खता की पराकोटिगति है, क्योंकि वहीं पर द्विजों का द्विजों से नियोग करने की बात कही गई है। तथा सत्यार्थप्रकाश में—"नियोग—विवाह के पश्चात् पति के मर जाने आदि वियोग में अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में स्त्री वा आपत्काल में पुरुष सवर्ण वा अपने से उत्तमवर्णस्थ स्त्री व पुरुष के साथ सन्तानोत्पत्ति करना।" (स्वमन्तव्यामन्तव्य ४७) भी कहा है।

महोदय ! स्वयं काचनिर्मित घर में बैठे हुए, वज्रमणि की सुदृढ़ शिलाओं से सुरचित प्रासाद में विलसित व्यक्ति के ऊपर पत्थरों को फेंककर प्रहार कर रहे हों, यह तो महामुग्धता ही ठहरी। महर्षि की तो नियोगसम्बन्धिनी सारी व्यवस्था हमने वर्णित कर दी। अब आप ही अपने पुराणों के पापपङ्क कलङ्क के कङ्कालजाल-माला पर एक दृष्टि डाल तो लीजिए कि इन पुराणों की गल्पों ने कितना अनर्थ किया है, कि सबसे पहले ब्राह्मणों पर ही निन्दनीय प्रहार किया है। कथानक है—

त्रिपाठी नामक एक ब्राह्मण कामिनी नामिका अपनी भार्या को घर में छोड़कर सप्तशती का पाठ करने के लिए कहीं देशान्तर को गया हुआ था। एक मास ही बीता होगा कि काम से व्याकुल कामिनी की कमनीय काम की कलित लीलाविलास का नग्न दिग्दर्शन होने लगा—

दृष्ट्वा निषादं सबलं काष्ठभारोपजीविनम्।
तस्मै दत्त्वा पञ्चमुद्रा बुभुजे कामपीडिता॥

तदा गर्भं दधौ सा च व्याधवीर्येण सञ्चितम्।
पुत्रोऽभूद् दशमासान्ते जातकर्म पिताऽकरोत्॥

अत्र एकमासावधि वियोगं सोढुमसमर्था नियोगमनादिष्टमेव कृतवती। महर्षिणा तु आर्यजातेः कल्याणार्थं व्यभिचारवेश्यागमनादिदोषवारणार्थमेष आपद्धर्मो नियोगाभिधानः श्रुतिस्मृत्यादिसम्मतः समाख्यात एवं कथयता—

"जो जितेन्द्रिय रह सकें वे विवाह वा नियोग भी न करें, तो ठीक है, परन्तु जो ऐसे नहीं हैं, उनका विवाह व आपत्काल में नियोग अवश्य होना चाहिए।" (सत्यार्थप्रकाशे समु० ४)

वस्तुत इह निर्मलोक्तिरियं घटते—

काष्ठ बेचकर अपना निर्वाह करनेवाले निषाद को देखकर इस कामिनी ने उसे पांच रुपये देकर भोग किया। तब व्याध से उसने गर्भ धारण किया। दश मास के अन्त में पुत्रोत्पन्न हुआ। उसका नामकरण पिता ने किया।

यहां पति के एकमासावधि वियोग को ही न सहकर अनादिष्ट नियोग को ही कर बैठी। हे लज्जाशील करणात्रजी ! ये त्रपाकर दृश्य आपके पुराणों में भरे पड़े हैं। इनका संशोधन यदि विद्वानों से करा लिया जाता, तो कम से कम वेदानुकूल उपयोगी चीजें तो बच जातीं। इन कुलक्षणों से भरे हुए पुराणों के रहते हुए भला आर्य जाति का समृद्ध वाङ्मय भी अपना सिर ऊंचा उठाकर कैसे चले ?

महर्षि दयानन्द ने तो आर्य जाति की कल्याणदृष्टि से ही व्यभिचार वेश्यागमनादि दोषवारण के लिए ही श्रुति-स्मृत्यादिसम्मत नियोगरूप आपद्धर्म का आख्यान किया है—

"जो जितेन्द्रिय रह सकें वे विवाह वा नियोग भी न करें, तो ठीक है; परन्तु जो ऐसे नहीं हैं, उनका विवाह व आपत्काल में नियोग अवश्य होना चाहिए।" (सत्यार्थप्रकाश समु० ४)।

वस्तुतः यहां पर यह निर्मलोक्ति घटित होती है—

https://t.me/DharmaSamrat

जम्बुकस्य यदा मृत्युः, ग्रामाति च तदन्तिकम् ।
तदा कालवशात् फेरुः, नगरं प्रति धावति ॥

अत एव बुद्धिहतकोऽयं मुषैव ऋष्यर्थमधिक्षिपन् श्रुतिविरुद्धमप्यनर्गलमालपति प्रायशो यथाऽत्र ।

पृ० १४३१, अनु० २—"इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम् ।' इति मन्त्रार्थस्तु—इयं पुरोवर्तिनी नारी पतिलोकं पत्यानुष्ठितानां यागदानहोमादिकर्मणां फलभूतं स्वर्गस्थानं वृणाना सहधर्मचारिणीत्वेन सम्भजमाना 'वृञ् सम्भक्तौ' एवंभूता नारी प्रेतम् (उपनिपद्यते) उप समीपे नितरां गच्छति, अनुमरणं प्राप्नोत्यर्थः ।" इत्याद्यर्थेन एकतोऽयं तु अवैदिकीं सतीप्रथां सिषाधयिषति । अपरतो महर्षिदयानन्दः 'इयं विधवा नारी मृतपतिं विहाय पतिसुखं (वृणाना) स्वीकर्तुमिच्छती सती, हे मनुष्य ! त्वाम् उपनिपद्यते त्वां पतिं प्राप्नोति, तव समीपं नियोगविधानेनागच्छति' इत्याद्यर्थेनापद्धर्मं वैदिकं नियोगविधिं साधयति ।

इहायमाक्षिपति—"एषोऽर्थस्तु सर्वथाऽशुद्धः, प्रजाप्रवञ्चकश्च, वेदाक्षरबाह्यत्वात् । तथाहि मन्त्रेऽस्मिन् 'विहाय' पदं नास्त्येव । एवं नियोविधानेन तव

'जब शृगाल (स्यार) की मौत आने को होती है, तो वह नगर की ओर दौड़ता है ।' इसीलिए यह हतबुद्धि ऋषि की निन्दा करते हुए स्वयं श्रुति-स्मृति-विरुद्ध ऐसी ही बकवास करने लगता है, जैसी यहां पर की है ।

पृ० १४३१, अनु० २—"इयं नारी' इत्यादि मन्त्र का अर्थ यह है—यह सामने उपस्थित नारी पति के द्वारा अनुष्ठित याग, दान, होम आदि से प्राप्त होनेवाले स्वर्ग आदि स्थानों में इन कर्मों के अनुष्ठान में साथ-साथ रहने के कारण हे मनुष्य ! यह मृत्यु के उपरान्त दूसरे लोक में भी तुम्हारे पास पहुंच जायेगी । पुरातन अनादि काल से चले आये अथवा (स्मृति-पुराण आदि में प्रसिद्ध सुकृत धर्म) का पालन करती हुई, यह नारी मृत्यु के उपरान्त तुम्हारे पास चली आवेगी ।" इत्यादि अर्थ नहीं, बल्कि अनर्थ के द्वारा एक ओर इन्होंने अवैदिकी सतीप्रथा को सिद्ध करना चाहा है । दूसरी ओर देखिये, महर्षि दयानन्द ने 'यह विधवा नारी मृत पति की चिन्ता को छोड़कर नवीन पतिसुख का वरण करने की इच्छुक तुझ पति के पास नियोग विधि द्वारा आ रही है' इत्यादि अर्थ करके आपद्धर्म (वेदानुमोदित) नियोगविधि को सिद्ध किया है ।

ऋषि के अर्थ पर आप आक्षेप करते हुए कहते हैं कि "यह अर्थ सर्वथा अशुद्ध है, प्रजाप्रवञ्चक है, क्योंकि यह वेदबाह्य है तथा इस मन्त्र में 'विहाय'

समीपमागच्छतीति निर्मूलम्, नियोगविधानस्य मन्त्रेष्वदर्शनात् । पुराणधर्मपालनं नियोगश्च परस्परं विप्रतिषिद्ध्यते । इयं नियोगेन त्वां पतिं वृणुते त्वमपि इमां वृणु इति विधानं दयानन्दीयविकृतमस्तिष्कपरिणाम एव । नात्र विषये मन्त्रो मन्त्रपदं मन्त्राक्षरं वा प्रमाणम् । त्वमस्यां प्रजां द्रविणं द्रव्यं वीर्यं वेहीत्यपि निराधारमेव, प्रजाधानेनैव गतार्थतायां वीर्यार्थकद्रविणाधानोक्तिस्तद्वद्रीत्याऽपि व्यर्थैव ।"

इत्यविवेकपुरस्सरमेव सकलमालोचनमेतस्य । ऋषेरर्थस्याशुद्धतायां वेदाक्षरबाह्यत्वं हेतुं प्रस्तौति प्रजावञ्चकत्वेऽपि च ।

एवमिह संवोक्तिर्घटते 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी ।' एतेन मन्त्रेण नियोगप्रतिपादनं नहि प्रजाया वञ्चनम्, अनेन अन्येनाऽपि वा मन्त्रेण तत्सिद्धान्तपुष्टिप्रामाण्यात् । प्रजायाः प्रवञ्चनं तु भवता क्रियते, यदिह सतीप्रथां वेदविरुद्धामपि प्रतिपादयति, तस्माद् भूमिकार्य एव सर्वथा शुद्धः, भवतस्तेनैव हेतुनाऽशुद्ध इति तु भवद्धेतुत्वे साध्यसमो दोषः ।

पद भी नहीं है । 'इस प्रकार नियोगविधि से तुम्हारे समीप आ रही है' यह अर्थ भी निर्मूल है । नियोग का विधान कहीं मन्त्रों में है ही नहीं । पुराण धर्मपालन और नियोग परस्पर विप्रतिषिद्ध हैं । यह 'नियोग से तुझ पति का वरण करती है, तुम भी इसका वरण करो' यह विधान दयानन्द के विकृत मस्तिष्क का परिणाम है, क्योंकि इस विषय में मन्त्र, मन्त्रपद व मन्त्राक्षर का भी प्रमाण नहीं है । तुम इसमें प्रजा, द्रविण और वीर्य का आधान करो । यह कथन भी निराधार है; क्योंकि प्रजा के आधान से ही वीर्य का आधान भी सिद्ध हो जाता है और द्रविण का अर्थ भी आपने वीर्याधान ही किया है, तब प्रजाधान से ही गतार्थ हो गया, तो वीर्याधान कहने की व्यर्थता ही है ।"

यह उक्त आलोचना सारी की सारी अविवेकपूर्ण ही है । ऋषि के अर्थ की अशुद्धता में वेदबाह्यता हेतु प्रस्तुत किया है, जब तक वेदबाह्यता सिद्ध न हो अर्थात् साध्यवती हुई, तब तक यह हेतु आपके कथन में भी समानरूप से घटित होने से 'साध्यसम' व्यभिचरित हेतु हुआ ।

प्रजावञ्चकता में भी आप उक्त हेतु ही दे रहे हैं, तो इस विषय में तो यही कह सकते हैं कि 'मुंह है तो बक सकते हैं, हर्र दश हाथ की होती है ।' महोदय ! इस मन्त्र से नियोग का प्रतिपादन प्रजा का वञ्चन नहीं है, क्योंकि इसी से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन स्पष्ट है । प्रजावञ्चन तो आप कर रहे हैं, जो अवैदिकी सतीप्रथा को खींचातानी करके सिद्ध करना चाहते हैं । प्रजा की आंखों में अपने झूठे पाण्डित्याडम्बर से आप सरासर धूल झोंक रहे हैं ।

https://t.me/Dharmasastra

अथार्थपरीक्षणं क्रियते 'इयं नारी प्रेतं पतिलोकं वृणाना मर्त्यं त्वा उपनिपद्यते' पूर्वं वृतस्य पत्युः पश्चान् मृतस्य वरणं सर्वथा असम्भावि पुनर्वरणस्य मृतस्य प्रतिपाद्यत्वस्य अनौचित्यात्, असम्भवाच्च। तस्माद्भवत्कृतोऽर्थः सर्वथाऽशुद्धो बुद्धिबाह्यः।

पूर्ववृतस्य पत्युः परलोकगमने अन्यजीवितपतेरेव सम्भवति वरणम्, तस्मात् 'प्रेतम्' इत्यत्र 'विहाय' इत्याक्षिप्यते ऊह्यते वा। अन्यपत्युपनिपदनं हि नाम नियोगः। तदा नियोग-विधानेन तव समीपमागच्छतीति निर्मूलकथनमेवाविवेकमूलम्। पुनर्नियोग-विधानस्य मन्त्रेष्वदर्शनादिति जल्पनमपि रूढमूढतया गूढरहस्यावगमनमेव ख्यापयति।

अथ 'पुराणधर्मपालनं नियोगश्च विप्रतिषिध्यते, इत्युक्तम्, तदाऽपि 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (अष्टा० १।४।२) इति नियोगेन नियोगो नावमन्तव्यो भवता। ननु एतयोः पुराणधर्मपालने नियोगे च परस्परविरोध आख्यायते, न पुनरयमाशयो यश्च वक्तुरभिप्रायादन्यथा निकृष्ट इति चेत् तथापि एष आपद्धर्मश्च पुरातनः,

---

अच्छा तो, यहां पर आपके इस अर्थ की परीक्षा की जा रही है। आप बताइये पूर्ववृत पति का अब मर जाने पर पुनः वरण कैसे सम्भव है? दूसरे पुनर्वरण मृत का प्रतिपादन सर्वथा अनुचित है। आप कहेंगे, स्वर्गस्थान का वरण करने की इच्छुक होगी। तो बताइये, पति के दानादि से पत्नी को प्राप्त स्वर्ग की स्वभावतः प्राप्ति उस पत्नी के द्वारा वरण करने योग्य (ऐच्छिक) कैसे कहा जा सकेगा? तथा मरे हुए पति से प्रजाधान कैसे होगा? आप कहेंगे यह अगले जन्म में इसी पति से प्रजाधान होगा, तो यह अगला जन्म मन्त्रपदाक्षरबाह्य होने से असिद्ध है। अतः आपका किया अर्थ सर्वथा अशुद्ध व असङ्गत है।

पूर्व पति के मरणानन्तर अन्य पति वरण करके ही प्रजाधान सम्भव है, अतः 'प्रेतम्' इसके बाद 'विहाय' पद का अध्याहार स्वयं हो जायेगा। अन्य पति की प्राप्ति होना ही नियोग है। अतः 'नियोगविधान से तुम्हारे पास आती है' इस कथन का निर्मूल कहना ही अविवेकमूल है। फिर नियोगविधान का मन्त्रों में दिखाई न देना आपका ही दृष्टिदोष है। आपके सायण तथा मनु आदि को भी मन्त्रों में नियोग दीखा और आपको नहीं दीखा।

आपका कथन है कि पुराण धर्म का पालन (सती होना) और नियोग दोनों में विप्रतिषेध है, तो 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इस व्याकरण-नियम से भी पर कार्य नियोग ही बलवान् रहेगा। यदि आप कहें कि विप्रतिषेध से आशय परस्पर विरोध है न कि यह आशय जो वक्ता-अभिप्राय से भिन्न हम निकाल रहे हैं, तब

परमेतस्या मृतपतिकायाः कृते तु नूतन इवेति न परस्परविरोध इति दिक्।

यच्चोच्यते "इयं नियोगेन त्वां पतिं वृणुते, त्वमपि इमां वृणु" इति विधानं महर्षिदयानन्दस्य योगनिष्ठतया परिपातिरेव। परं भवद्विक्षिप्तकुमतेरेव दुष्परिणामः, या पूर्वं तु शास्त्रविहितं नियोगविधानमेव स्वीकुरुते अन्यच्च स्वाभाविकपरिणाम-परिगतं तथ्यं नैवावबुध्यते। यदेका वृणुते अपरो न वृणुयात्, तदा कथङ्कारं सामञ्जस्यं स्यात्? एवं मन्त्रपदैरेवाऽत्र नियोग उपपद्यते। अन्यप्रमाणान्यन्यत्र प्रत्यपाद्यन्त। या च जन्मान्तरे प्रजाद्रविणप्रार्थनाऽनेन मता सा सर्वथैव निर्मूला।

यच्चाक्षिप्यते—"त्वमस्यां प्रजां धेहि द्रविणं धेहि वीर्यं धेहीत्यपि निराधारमेव, प्रजाधानेनैव गतार्थतायां वीर्याधिकद्रविणाधानोक्तिस्तु व्यर्थैव" इति, वस्तुतः एतत्कथने तु भवन्मतिरद्भुता तु संग्रहागारे न्यासनीया।

महाशय! इह मन्त्रे तद्व्याख्याने चैतदप्यभिव्यज्यते यत् प्रजोत्पत्तेर्मूलं वीर्याधानमेव मन्तव्यम्। न च प्रजाधानवचनेन गतार्थता। एवं पुराणेषु प्रति-

---

भी कोई परस्पर विरोध नहीं, क्योंकि आपद्धर्म पुराण (पुरातन) धर्म है; परन्तु इस मृत पति के लिए तो यह नया ही वरणावसर है।

आपका यह कथन है कि "यह नियोग से तुझ पति का वरण करती है और तुम भी इसका वरण करो" तो महर्षि के योगनिष्ठ तपःपरिपूत मति का ही परिणाम है। परन्तु यह आपकी विकृत मति का अवश्य परिणाम है, जो बुद्धि वेद, स्मृति-सदाचार विहित एवं परिपुष्ट नियोगविधान को इतने पर भी स्वीकार नहीं करती। दूसरे स्वभावतः यह सिद्ध है कि जब एक वरण करेगा तो और दूसरा भी वरण करे, अन्यथा सामञ्जस्य असम्भाव्य है। इस प्रकार मन्त्रों से नियोग सर्वथा उपपन्न है। जो जन्मान्तर में प्रजा द्रविणाधान की प्रार्थना इन्होंने मानी है, वह सर्वथा निर्मूल है।

यह आक्षेप कि "तुम इसमें प्रजा को धारण करो और वीर्य का आधान करो' कथन निराधार है, क्योंकि प्रजाधान से ही वीर्याधान का अर्थ निकल आयेगा" (बिना वीर्याधान के तो प्रजाधान होता ही नहीं—इत्यर्थ)। ऐसा कहने पर तो यही निश्चय करना पड़ता है कि ऐसी बुद्धि अद्भुत वस्तुसंग्रहालय में रखनी चाहिये थी।

महाशय! इस मन्त्र तथा इसके व्याख्यान से यह भी अभिव्यक्ति होती है कि प्रजा की उत्पत्ति का मूल कारण वीर्याधान ही मानना चाहिये। इसलिये

https://t.me/Dharmadasamra

पादिता बुद्धिविरुद्धा गप्पाष्टका अप्युद्धिह्यन्ते, यत्र विना वीर्याधानेन पुत्रोत्पत्तिर्वर्णिता। यथा—

'षष्टिः पुत्रसहस्राणि तुम्बभेदाद् विनिःसृताः।'

(वाल्मीकि बालसं० ३८)

अत्र तु वीर्याधानं विनैव पुत्रोत्पत्तिर्दर्शिता। एवं घटद्रोणीधनुर्बाणादिभिः सह नियोगे मित्रावरुणभरद्वाजगौतमादीनाम् अगस्त्यवशिष्ठद्रोणाचार्यकृपाचार्यादीनां सम्भव-प्रकारोऽपि कल्पितो निरस्यते। तस्माद् वेदे प्रजोत्पत्तिकारणं वीर्याधानमेव निर्दिष्टम्।

किञ्च वीर्यस्याऽपि निषेको यथास्थानीयः स्यात्, न च तथा यथा भवतः पुराणेषु कीर्तनम्। शिवेनाग्निमुखे, अञ्जनायाः कर्णे, युवनाश्वपुरुषस्य वाऽपि गर्भाधानं कस्य विकृतविचारमस्तिष्कस्य परिणामः?

तथा च वीर्याधानं विना वरदानेन नाऽपि प्रजोत्पत्तिरप्यवगन्तव्या। न हि व्यासस्य वरदानेन धृतराष्ट्रपाण्डुविदुराणामुत्पत्तिरभूत्। अपितु नियोगविधिनैव जाता। एतच्चैतेन प्रमाणितं जायते यत् महाभारते सत्यवती भीष्ममकथयद् यत्

प्रजाधान कथन से गतार्थता (अर्द्ध सिद्ध) नहीं होती, अतः पुराणों के बुद्धिविरुद्ध गप्पाष्टकों का भी खण्डन हो जाता है, जिनमें बिना वीर्याधान के भी पुत्रोत्पत्ति का वर्णन किया गया है। यथा—

'साठ हजार पुत्र तूंबी के फूटने पर पैदा हो गये।' (बाल्मीकि बा० ३८)।

यहां तो वीर्याधान के बिना ही प्रजोत्पत्ति दिखला दी गई है। इस प्रकार घड़ा, द्रोणी, धनुर्बाण आदि के साथ नियोग होने पर मित्रावरुण, भरद्वाज, गोतम तथा अगस्त्य, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि की उत्पत्ति-प्रकार जो कपोलकल्पित है, उसका भी ऋषिव्याख्यान से निरसन (खण्डन) हो जाता है। इसलिए वेद में प्रजोत्पत्ति का कारण वीर्याधान ही माना है।

साथ ही वीर्य का निषेक (आधान) भी यथास्थान ही प्रकृत्यनुकूल होना चाहिये। पुराणों में शिव के द्वारा अग्नि के मुख में, अञ्जना के कान में तथा युवनाश्व पुरुष के भी गर्भाधान वर्णन किए गये हैं। कहिये, यह किसके विकृत मस्तिष्क का परिणाम है?

तथा वीर्याधान के बिना ही प्रजोत्पत्ति केवल वरदान से भी सम्भव नहीं है। व्यास के वरदान मात्र से धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर की उत्पत्ति नहीं हुई, अपितु नियोगविधि से ही हुई थी। यह बात इसी से प्रमाणित हो रही है कि

स्वभ्रातृजायासु सन्तानम् उत्पादय, अन्यथा इमास्तिस्रोऽपि विधवा निःसन्तानाः स्थास्यन्ति। भीष्मः प्रत्यवदद् यदहं तु मरणपर्यन्तं ब्रह्मचर्यस्य प्रतिज्ञां कृतवान्, नाहं कथमपि व्रतखण्डनं विधास्ये। 'सूर्यो नामोदयेत् पश्चिमाशायाम्, परं मे प्रतिज्ञा नान्यथा भवितुमर्हति।'

एनेनाऽपि प्रतीयते यद् वीर्याधानं विना न केवलवरप्रदानेन प्रजायाः सम्भूतिः, अन्यथा वरदाने क्व व्रतखण्डनमभविष्यत्?

पृ० १४३३, अनु० १—पूर्वपक्षः—"उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि' इत्याद्यस्य मन्त्रस्य व्याख्याने दयानन्देन यदुक्तम्—हे विधवे नारि एतं गतासुं गतप्राणं मृतं विवाहितं पतिं त्यक्त्वा अभिजीवलोकं जीवन्तं द्वितीयवरं पतिम् एहि प्राप्नुहि। उपशेषे तस्यैवोपवर्त्तस्व सन्तानोत्पादनाय। तत्सन्तानं हस्तग्राभस्य विवाहे संगृहीतहस्तस्य पत्युः स्यात्, यदि नियुक्तपत्यर्थो नियोगः कृतस्तर्हि दिधिषोस्तस्यैव सन्तानं भवति। इदमेव विधवायास्तव सन्तानं भवति? हे विधवे! विगतविवाहितस्त्रीकस्य पत्युश्चैतन्नियोगकरणार्थं त्वम् उदीर्ष्व विवाहितपतिमरणानन्तरमिमं नियोगमिच्छ। तथा अभिसम्बभूव सन्तानोत्पत्तिं कृत्वा सुखसंयुक्ता भव" इति।

महाभारत में सत्यवती ने भीष्म से कहा कि तुम अपनी भोजाइयों में सन्तान उत्पन्न करो, नहीं तो ये तीनों ही विधवा निःसन्तान ही रह जायेंगी। भीष्म ने प्रत्युत्तर दिया कि मैंने तो मरणपर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत की प्रतिज्ञा कर रखी है। मैं किसी प्रकार भी व्रत का खण्डन नहीं करूंगा। चाहे सूर्य भी पश्चिम दिशा में उदय हो जावे; परन्तु मेरी प्रतिज्ञा अन्यथा नहीं हो सकती।

इससे भी प्रतीत होता है कि वीर्याधान के बिना केवल वरदान से सन्तानोत्पत्ति सम्भव नहीं है, अन्यथा वर देने में व्रत का खण्डन कैसे हो जाता?

पृ० १४३३, अनु० १—"उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि' इस मन्त्र की व्याख्या में दयानन्द ने कहा है कि अपने मृतक पति को छोड़ के 'अभिजीव लोकम्' इस जीवलोक में 'एतमुपशेष एहि' जो तेरी इच्छा हो तो दूसरे पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त करो। जब तक मरण न हो तब तक ईश्वर का ध्यान और सत्य धर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होकर जो कि तेरा हस्तग्रहण करनेवाला दूसरा पति है, उसकी सेवा किया करो, वह तुम्हारी सेवा किया करे। उसका नाम 'दिधिषु' है। वह तेरे सन्तान की उत्पत्ति करनेवाला हो। जो तेरे लिए नियोग किया गया हो, तो वह तेरा सन्तान हो और जो नियुक्त पति के लिए नियोग हुआ हो, तो वह सन्तान पुरुष का हो। इस प्रकार नियोग से अपने-अपने सन्तानों को उत्पन्न करके दोनों सदा सुखी रहो।"

https://t.me/Dharmasastra

पृ० १४३३, पं० ९—आक्षेपः—"अहो अस्मिन् कलिहतकेऽभद्रमुखे-यत्तो दानव्यावृत्तेः प्राक्यम, यत् पत्युर्मरणाव्यवहितोत्तरकालमेव दाहादिसंस्कारादपि पूर्वं विधवायाः पुरुषान्तरेण नियोगविधानेन सन्तानोत्पत्तिं विदधाति। तादृशे भीषणे विपत्तिकाले देवरस्य भ्रातृजायां प्रति तथाकथनं गर्ह्यतामेव दयानन्दमनोगतस्य विशदयति। अन्यथा को वा कुलीनो मृतस्य भ्रातुरौर्ध्वदेहिकादिक्रियाया अपि प्राक् तथा वक्तुं शक्नुयात्। न केवलं भारते, किन्तु क्वाऽपि तादृशी नारी नोपलब्धुं शक्या। पतिमरणानन्तरमेव गतासुं देहं मक्त्वा पुरुषान्तरसंयोगं कामयते। मन्ये लज्जावशादेव हिन्दीभाषायामन्यथोक्तम्—'जो तेरी इच्छा है, दूसरे पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त कर, नहीं तो ब्रह्मचर्याश्रम में स्थित होकर कन्याओं और स्त्रियों को पढ़ाया कर।"

समाधानपक्षः—(१) प्रथमस्त्वयं दोषोऽत्र कथने यद्देनावतरणे सन्दर्भस्य बहुत्र अपपाठो विहितः। तेनास्य व्याकरणाऽज्ञानताऽपि प्रस्फुटिता जायते। यथा 'पतिं एहि' इत्यत्र पतिशब्दान्ते न कथमपि अनुस्वारः सन्धौ भविष्यति, यदि 'एहि' शब्दः कोष्ठके ध्रियेत तथा 'प्राप्नुहि' इत्यनुसन्धायानुस्वारत्वं स्यात्, यथा

पृ० १४३३, पं० ९—आक्षेप—"यह भयंकर कलिकाल का ही प्रभाव माना जायेगा कि पति के मरने के तुरन्त बाद पति के दाहसंस्कार होने के पहले ही विधवा दूसरे पति से नियोग करके सन्तान उत्पन्न करने लगे। इस तरह के भीषण विपत्ति के समय में देवर के साथ भौजाई के नियोग की बात कहना दयानन्द के मन की कलुषता को प्रकट करता है। अन्यथा कौन कुलीन व्यक्ति ऐसा होगा, जो अपने भाई का दाहसंस्कार करने से पहले अपनी भौजाई से इस तरह की बात करे, केवल भारत में ही नहीं किन्तु संसार में कहीं भी इस तरह की नारी नहीं मिल सकती, जो कि पति के मरने के तुरन्त बाद उसके शव का संस्कार होने से पहले ही दूसरे पुरुष के साथ सहवास करना चाहती हो। लगता है इसी लज्जा के कारण हिन्दी भाषा में अर्थ करते समय उन्होंने कुछ बदल दिया है—'जो तेरी इच्छा है (हो) तो, दूसरे पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त कर, नहीं तो ब्रह्मचर्याश्रम में स्थित (स्थिर) होकर कन्याओं और स्त्रियों को पढ़ाया कर।"

समाधान—(१) आपके इस कथन में पहला दोष तो यह है कि आपने सन्दर्भ के उतारने में बहुधा अपपाठ (अनर्थपाठ) किया है, जिससे आपके व्याकरण-ज्ञान की पोल खुल जाती है। जैसे—'पतिं एहि' पर पति शब्द के आगे (एहि) शब्द इस प्रकार कोष्ठक में रखा है, 'तब प्राप्नुहि' आगे आने पर अनु-

हि ऋषिभूमिकायाम्।

(२) द्वितीयदोषः—'उपशेषे' इत्यनन्तरं 'तस्यैव' इति पदद्वयस्यापि विशिष्टाशयस्य द्वितीयवरस्यैवेत्यर्थकस्य विलोपः कृतः।

(३) तृतीयदोषः—'सन्तानं भवति' इत्यग्रिमस्य 'इदमेव विधवायास्तव सन्तानं भवति' इति विधवायाः सर्वलोकदयाभाजिनीभूताया अपि नियोगद्वारा प्राप्तसन्तानस्यानेन करुणेन यतिवेशधारिणा करपात्रेण लोपो(अपहरणम्)व्यधायि।

एषा निर्मलोक्तिरेवात्र सुघटते—

हा! निर्घृणो न लज्जते करपात्र एषः,
कुर्वन् सुपाठमपपाठमपि प्रकामम्।
कारुण्यकारणभुवो मृतभर्तृकायाः,
अत्राकरोदपहृतिं सुखसन्ततेर्यः ॥१॥

हा हन्त हन्त! हतकस्य मनोदशाऽस्य,
योऽत्याहितं तु चरतीति कलेः प्रभावः।
"प्राग्भर्तृदेहदहनात् खलु भूमिकायाम्,
पत्यन्तरस्य वरणं" निजगाद मिथ्या ॥२॥

स्त्रार ठीक ही लिखा माना जा सकता है।

(२) दूसरा दोष है—'उपशेषे' के अनन्तर 'तस्यैव' इस विशिष्ट आशयवाले दोनों पदों को छोड़ दिया।

(३) तीसरा दोष—'सन्तानं भवति' इसके आगे 'तवेदम् इदमेव विधवायास्तव सन्तानं भवति' इस वाक्य का लोप करके जिसमें 'सब लोगों की दयापात्रीभूत विधवा जो नियोग द्वारा प्राप्त' इस पाठ का ही साधुवेषधारी इसने निर्दयतापूर्वक अपहरण ही कर लिया।

यहां पर यह निर्मलोक्ति घटित हो रही है—

अफसोस! इस निर्दय करपात्री को इस सन्दर्भ में सुपाठ का अपपाठ करते हुए लज्जा नहीं आ रही है, जो करुणापात्र विधवा की सन्तान का भी अपहरण कर रहा है ॥१॥

हा हन्त! इस हतबुद्धि की ऐसी मनोदशा हो गई, जो यह अत्याचार कर रहा है, यह वस्तुतः कलियुग का प्रभाव ही है। जो कि मृत पति के देहदाह से पूर्व

https://t.me/DharmaSamrat

कुटिलकेलिकलाकलिता किल,
तव कुकल्पन-जल्पन कौशला ।
अलमलीक-कलालपनाऽऽकुला,
कलिमलग्रसनाऽऽरसना मतिः ॥३॥

भवन्तं पृच्छामि, यदिह भवान् नियोगमनुचितमशास्त्रीयं निर्धारयति, उत दाहादिसंस्कारात् पूर्वत्वमनुचितम् ? विकल्पस्त्वसम्भावितोऽविधानात् । अथ चेन्नियोगमात्रं पापमनुचितं वा बुध्यमान आक्षिपति, भयङ्करभ्रान्तिरेषा । प्रथमं तु अस्मिन्नेव मन्त्रे 'दिधिषोः' पदेनैव नियोगप्रतिपत्तिर्जायते । यथा—

"पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्विस्तस्या दिधिषुः पतिः ।
स तु द्विजोऽग्रे दिधिषूः सैव यस्य कुटुम्बिनी ॥" अमरको० १६।२३॥

तथा च—

भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः ।
धर्मेणाऽपि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषुः पतिः ॥ मनु० ३।१७३॥

इति प्रमाणाच्च ।

सायणाचार्योऽपि तैत्तिरीयारण्यकभाष्ये एतस्य मन्त्रस्यार्थं प्रस्तौति । पश्यतु —"हे नारि ! त्वम् इतासुं गतप्राणमेतं पतिमुपशेषे उपेत्य शयनं करोषि, उदीष्व

ही अन्य पति के वरण की बात कहकर, भूमिकाकार पर मिथ्या ही लाञ्छन लगा रहा है ॥२॥

अब प्रथम आप यही बात बताइये कि आप नियोग को अशास्त्रीय होने से अनुचित मानते हैं या कि मृत पति के दाहादिसंस्कार से पूर्व नियोग करने को अनुचित मानते हैं। द्वितीय (विकल्प) का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता; क्योंकि भूमिका में ऐसा कहीं कथन ही नहीं किया गया है, और यदि नियोगमात्र को अशास्त्रीय होने से पाप और अनुचित मानते हो, तो यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रथम तो इसी मन्त्र में 'दिधिषोः' यह पद आया है, जिसमें नियोग की सिद्धि असन्दिग्धरूप से हो रही है। जैसे—

'पुनर्भू और दिधिषुः' ये दो नाम दो बार विवाहित स्त्री के हैं। 'दिधिषुः' यह नाम दो बार विवाहित स्त्री के पुनर्विवाहेच्छुक पति का है। तथा 'अग्रे दिधिषुः' द्विजमात्र पतियों के हैं।

श्री सायणाचार्य ने तैत्तिरीयारण्यक-भाष्य में मन्त्रार्थ इस प्रकार किया है। देखिये—"हे नारि ! तू इस मृत पति के पास लेटी है, तू इस पति के समीप से

अस्मात् पतिसमीपादुत्तिष्ठ जीवलोकमभिजीवन्तं प्राणिसमूहमभिलक्ष्य एहि आगच्छ त्वं हस्तग्राभस्य पाणिग्राहवतः दिधिषोः पुनर्विवाहेच्छोः पत्युः एतज्जनित्वं जायात्वमभिसम्बभूव आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्नुहि ।"
(तैत्तिरीया० २०६।१।१४)।

कथयतु भगवन् ! प्रजाप्रतारकशिरोमणे ! एवंविधसनातनधर्मसुपुत्र ! साधुवादार्होऽसि । यत् सायणादिसम्मतार्थमिति लिखित्वा विपर्ययमेव प्रस्तौषि—"हे नारि ! मृतस्य पत्नि ! अपक्रान्तप्राणमेतं पतिमुपशेषे तस्य समीपे स्वपिषि । जीवलोकं जीवानां पुत्रपौत्रादीनां लोकं गृहमभिलक्ष्य उदीर्ष्व अस्मात् स्थानादुत्तिष्ठ । (ईर् गतौ) तस्मात् त्वमेहि आगच्छ । यस्मात्त्वं हस्तग्राभस्य पाणिग्राहं कुर्वतः दिधिषोः गर्भस्य निधातुस्तस्य पत्युः सम्बन्धादागतमिदं जनित्वं जायात्वमभिलक्ष्य बभूथ सम्भूताऽसि अनुमरणनिश्चयमकार्षीः । अत्र तु कमलं (कं सुखम् अलम्) सम्पादितम् । वराणां काऽलमाख्याऽत्रावरोऽतोऽप्यधिकायते ।

(बड़े मियां तो बड़े मियां छोटे मियां शुभानल्लाह ।)

सायणस्तु शास्त्रीयं नियोगमेतेन मन्त्रेण पुष्णाति, परं भवान् तस्या अनु-

---

उठ। जीवित प्राणिसमूह को अभिलक्ष्य करके आ और तू हाथ पकड़नेवाले पुनर्विवाह की इच्छा करनेवाले उस पति को जायाभाव से अच्छी तरह प्राप्त हो जा।

कहिये भगवन् ! प्रजाप्रतारकशिरोमणे ! ऐसे सनातन धर्म के सपूत ! शाबाश ! जोकि 'सायणादिसम्मतस्त्वर्थः' यह लिखकर उल्टा ही प्रस्तुत कर रहे हो।

"हर वक्रचाल आपकी तो लाजवाब है।
हंडे को आप कहते हैं कि आफताब (सूर्य) है ॥"

(सायणसम्मतार्थ)—"हे मृतपुरुष की पत्नि ! तुम इस निष्प्राण पति के पास सो रही हो। अपने पुत्र-पौत्र आदि का, इस लोक के सगे सम्बन्धियों का ख्याल कर तुम इस स्थान से उठो। हमारे साथ आओ, तुमने अपना हाथ पकड़नेवाले अपने में गर्भ का आधान करनेवाले इस पति के सम्बन्ध से उत्पन्न, पत्नीधर्म का पालन करने के लिए इसके साथ मरने का निश्चय किया है। यह ठीक होते हुए भी तुम अपने पुत्र-पौत्रों का पालन करने के लिए हमारे साथ घर चलो।"

यहां तो आपने कमाल ही कर दिया। "बड़े मियां तो बड़े मियां छोटे मियां शुभानल्लाह।"

सायणाचार्य तो इसी मन्त्र में 'दिधिषुः' पद से पुनर्विवाह की पुष्टि कर रहे

https://t.me/Dharmesumal

मरणनिश्चयं प्रतिपादयति। स तु दयतेऽपि किञ्चिद् अन्वक्षरभाष्यकरणे, परमयमुदक्षरां व्याख्यां प्रस्तुवन् न दयते महापण्डितम्मन्यः। एवंविधैरेवाज्ञैर्वेदार्थे महाननर्थः कृतः। वेदा विलपन्ति बिभ्यति च कृतप्रतिपदभयङ्करव्याख्यानमिवीक्ष्यैतादृशान्।

सत्यमुक्तं केनापि—

रमणीया कृतिः सर्वा स्वकीया च प्रजापतेः।
दुर्भगाः सन्ति केचिद् वै संविदाकारकारितः॥

श्रीमन्! महर्षिणा तु भूमिकायाम् 'उदीर्ष्व' इत्यर्थः 'विवाहितपतिमरणानन्तरमिमं नियोगमिच्छ' एष कृतः। नहि क्वापि शवोपस्थितौ नियोगो विहितः। परं तव पूज्येन सायणेन तु तथापि आचरितम्। यथा—'उदीर्ष्व अस्मात् पतिसमीपादुत्तिष्ठ' इति। स्वामिदयानन्दकृतार्थमपहसन् साम्प्रतं तु किञ्चिल्लज्जताम्। सायणस्तु तत्पतिमरणाव्यवहितकालमेवान्यपतिप्राप्तिं प्रतिपादयति।

है और एक आप हैं, जो कह रहे हैं 'सती होना है तो ठीक'। सायण के हृदय में अन्वक्षर भाष्य करने से कुछ तो दया आई जो 'पुनर्विवाहेच्छुक' अर्थ कर दिया। एक आप हैं, जो पुनर्विवाह को ही श्राद्ध की खीर समझ कर पी गये। अपने को महापण्डित माननेवाले जिन पद और अक्षरों का मन्त्र में पता नहीं, न जाने कहां से ये कौडी पकड़कर लाते हैं? ऐसे प्रज्ञाशत्रुओं ने वेदों का महान् अनर्थ किया है। ऐसे ही भयङ्कर व्याख्याकारों को देखकर वेद डर कर रो रहे हैं।

किसी ने सच कहा है—

"सब हसीनों को बनाया हाथ से अल्लाह ने।
पर है कुछ कम्बख्त जो ठेके पे ढलवाये गये॥"

श्रीमन्! महर्षि ने तो भूमिका में 'उदीर्ष्व' का अर्थ विवाहित पति के मरने के अनन्तर इस नियोग को चाहो (अर्थात् पति के जीवनकाल में ही नियोग मत कर बैठना, जैसा कि पुराणस्थलों पर विहित है) यह किया ऋषि ने, कहीं पर भी शव पड़े होने पर नियोग का विधान नहीं किया। किन्तु आपके पूजनीय सायणाचार्य ने तो वह भी कर डाला। जैसे—'इस पति के पास से उठ'। अब स्वामी दयानन्द का उपहास करने में तनिक सी लज्जा का अनुभव करो। सायण उस पति के मरण के अव्यवहित काल में ही अन्य पति की प्राप्ति का प्रतिपादन कर रहे हैं। पर विना प्रतिपादन करने पर भी लाञ्छन मढ़ते हो महर्षि के मत्थे। सच है—जब अन्धेरे में चोर ही अन्यों के साथ चोर-चोर कहकर आवाज लगाने लगे, तो वह साफ बच जायेगा। पर करपात्रजी! आपके कर में यह पात्र चोरी का ही है, जिसकी 'मन्त्रार्थ' में आप डींगं मार रहे हो।

श्रीमन्! वेदाभिप्रायास्तु अन्यर्षीणामाचार्याणां वा व्यवस्थाग्रन्थेषु प्रस्फुटिता भवन्ति। यथा चात्र निदर्शयति कौटिल्यवचनम्—'प्रेतस्य वा भार्या सप्ततीर्थान्याकांक्षेत्।' (अर्थशास्त्रद्वितीयभागे तृतीयाधिकरणे अ० ४। वाक्य ४३)। एवमन्यत्राप्यवधिर्निर्दिष्टः।

अस्तु साम्प्रतमभिधत्तां यत् स्वव्याख्याने (१) पुत्रपौत्रादीनाम्, (२) हिन्द्यां सगोत्रसम्बन्धिध्यानं कृत्वा, (३) हिन्द्यां 'अपने पुत्र-पौत्रों का पालन करने के लिए हमारे साथ' एतदर्थविधायकाः शब्दाः के सन्ति मन्त्रे? यदि नैव तदेयं मिथ्यैव कल्पना ते। अनुमरणनिश्चयो नाम यो व्याख्यातोऽसावप्यशास्त्रबोधाधारकः। पश्य, सन्ति श्लोका माधवव्याख्यासंवलितायां पाराशरस्मृतौ (संवत् १८८९ बम्बईमुद्रिते ५६ पृष्ठे)। यथा—

उपकारं यथा भर्तुर्जीवन्ती न तथा मृता।
करोति ब्राह्मणी श्रेयो भर्तुः शोककरी चिरात्॥१॥

अनुवर्त्तत जीवन्तं नानुयायान् मृतं पतिम्।
जीव्यभर्तुर्हितं कुर्यान् मरणादात्मघातिनी॥२॥

महानुभाव! वेदों के ये अभिप्राय अन्य ऋषि और आचार्यों के ग्रन्थों में भी प्रस्फुटित हुए हैं। यथा—आचार्य कौटिल्य ने भी 'प्रेत (मृत) की भार्या सात तीर्थ (ऋतुधर्मों) की आकांक्षा करे, (अर्थशास्त्र द्वि० भा० तृतीयाधिकरण अ० ४ वा० ४३)। इस प्रकार अन्यत्र भी अवधि निर्दिष्ट है।

अब आप यह बताइये कि आपके व्याख्यान के (१) पुत्रपौत्रादीनाम् (२) (हिन्द्यां) सगे सम्बन्धियों का ख्याल करके (३) तथा अपने पुत्र-पौत्रों का पालन करने के लिए हमारे साथ- इस अर्थ के विधायक शब्द मन्त्र में कौन से हैं? 'अनुमरण निश्चय' (सती रूप में जलकर मरने का) तो बता रहा है कि आपको शास्त्रों का भी ज्ञान नहीं है। देखिये, ये श्लोक माधवव्याख्यासंवलित पाराशरस्मृति के हैं—

स्त्री जैसा उपकार पति के बाद जीवित रहकर करती है, वैसा मरकर नहीं। पति का बहुत काल तक शोक करनेवाली ब्राह्मणी जीवित रहकर ही प्रेम कर सकती है॥१॥

जीवित पति का सदा अनुसरण करे, मृत पति का नहीं, जीकर पति का उसके दायित्व सन्तान आदि के प्रति हित कर सकती है। मरण से केवल आत्मघातिनी ही कहलायेगी॥२॥

https://t.me/Dharmasamrat

अङ्गिरास्मृतौ च—

या तु ब्राह्मणजातीया मृतं पतिमनुव्रजेत्।
सा स्वर्गमात्मघातेन नात्मानं न पतिं नयेत्॥

'अनुमरणप्रभावाज्जन्मान्तरेऽपि स एव तस्याः पतिर्भवति सर्वाभीष्टप्रापकश्च' इति कथने अनेनावैदिकसतीप्रथाप्रपोषणं स्पष्टतयैव कृतम्।

विवेचका एतस्य स्वमान्यशास्त्रज्ञानस्यापि निदर्शनं निबालयन्तु। किञ्च मरणाऽव्यवहितकालमेव देवरद्वारा विधवाया उत्थापनस्य ध्वननं कल्पयते, तत्त्वत्यन्तं विरुद्धम्, मरणानन्तरं रोदने नैवोत्थापनक्रियाया व्यवहितत्वात्। अन्यच्च महाकल्पक!

श्राद्धं भुक्त्वा त्वधीयीत वृषलीतल्पगश्च यः।
पुरीषे तस्य तं मांसं पितरस्तस्य शेरते॥

महाभा० अनु० प० ९०।१३॥

अत्र कोऽर्थो विधास्यते? यथा तत्र बुद्धेस्त्यागपत्रमाधाय अव्यवधानं वेदाध्ययनं वायते अथवा कदापि नाध्ययनं विदधीत। प्रथमध्वनने पितृणां पुरीषे निवासः केन वार्यताम्? द्वितीये च श्राद्धभोजनाऽर्पितजीवनस्य भवत आजीवन-

---

अङ्गिरास्मृति में—जो ब्राह्मणी मृत पति का अनुव्रजन करती है, वह आत्महत्या के द्वारा पति या स्वयं को भी स्वर्ग नहीं ले जाती।

'अनुमरण के प्रभाव से जन्मान्तर में भी वही उसका पति होता है और सर्वाभीष्ट करनेवाला भी होता है।' इस कथन से इन्होंने अवैदिक सतीप्रथा की पुष्टि की है।

विचारशील लोग इस लेखक के ज्ञान का और नमूना देखें कि मरण के अव्यवहित काल में ही देवर के द्वारा विधवा के उठाने के अर्थध्वनन की कल्पना यह कर रहे हैं, यह तो अत्यन्त विरुद्ध है; क्योंकि मरण के अनन्तर रोदन क्रिया के द्वारा उत्थान क्रिया का व्यवधान द्योतित है। तो हे महाकल्पक! निम्न श्लोक का आप फिर अर्थ क्या करेंगे?

जो श्राद्ध खाकर वृषली के साथ शयन कर वेद का स्वाध्याय करता है, उस व्यक्ति के पुरीष (मल) में उस महीने पितर सोते हैं।

यहां पर आप क्या व्यञ्जना करेंगे? या जैसे बुद्धि से त्यागपत्र देकर 'श्राद्धभोजनाव्यवहितं वेदाध्ययनं वारयिष्यते' अथवा कदापि वेद का अध्ययन ही न करे, यह ध्वन्यर्थ करेंगे? प्रथम ध्वनन में पितरों को पुरीष में निवास एकमासान्त करना ही पड़ेगा और द्वितीय ध्वनि में श्राद्ध खाने मे ही जीवन का अर्पण करने-

मामरणं वा वेदाध्ययनाद् विरतिः स्वीकृता भवेत्। अन्यथा पितृणां मासं यावत् पुरीषावास आमन्तव्यः स्यात्। उभयथाऽपि अवैदिकत्वम्। तस्माद् ब्राह्मणो वेदरक्षार्थं श्राद्धभोजनं परिहरेदिति निष्कृष्टार्थे वेदरक्षणं पितृणां पुरीषावासपरिहरणमुभयमपि सिध्यति। ततः कुकल्पनाया विरम्यतां प्रभो!

किञ्च शौनकस्य ऋग्विधाने 'उदीर्ष्व' इत्यस्य नियोग एव विनियोगो कृतो न ते नयनगोचरीभूतः? इत्यप्याश्चर्यम्।

अपरं च सायणाचार्यस्य (ऋक् १०।१८।८) भाष्यलेखं पश्येद् भवान्—"देवरादिकः प्रेतपत्नीमुदीर्ष्व नारी··· ·· भर्तुः सकाशादुत्थापयेत्। तामुत्थापयेद् देवरः पतिस्थानीयोऽन्तेवासी दासो वा" इति।

प्रतारकप्रवर! स्वगृहावकरमस्मद्स्वच्छागारे निक्षिप्य पुनराक्षिपसि। किं नेदं करपात्र! त्रपाकरमत्र?

यदुक्तम्—"मन्ये लज्जावशादेव हिन्दीभाषायाम् अन्यथोक्तम्—'तेरी इच्छा हो तो नियोग कर। नहीं तो ब्रह्मचर्याश्रम में स्थित होकर कन्याओं और

वाले की जीवनपर्यन्त वेदाध्ययन से छुट्टी ही हो जायेगी। अन्यथा अर्थात् वेदाध्ययन कभी भी करने पर पितरों को एक मास पुरीष में रहना ही पड़ेगा। उभयतःपाशा रज्जु है। 'भई गति सांप छछूंदर केरी' इसलिये सच्चा ब्राह्मण तो वेदरक्षार्थ श्राद्धभोजन ही क्या, प्राणों तक को छोड़ देगा।

मृतश्राद्ध खाना छोड़ने से पितर भी पुरीषावास से बच जायेंगे और वेद की भी रक्षा हो सकेगी। यही श्राद्ध का निन्दापरक-उत्तमार्थ का ध्वनन ही कल्याणकर है। बस महाराज! अब तो कुकल्पनाजाल से अपना पिण्ड छुड़ाओ, नहीं तो जिनके आप भी, आपके मतानुसार मरकर पितर बनेंगे। एक मास आपके लिए तो मलमास ही सिद्ध होगा। हम चाहते हैं कि आपको भी उस सडांध से बचा लें।

और भी देखिये शौनक के ऋग्विधान में 'उदीर्ष्व' इस मन्त्र का नियोग में ही विनियोग किया गया है। यह भी आपके नयनगोचर नहीं हुआ, आश्चर्य है।

दूसरे सायणाचार्य के भाष्य को (ऋक् १०।१८।८) भी देखिये—यहां पर भी 'भर्तुः सकाशादुत्थापयेद् देवरः' देवर पति के पास से उठाये, या पतिस्थानीय अन्तेवासी, बूढा दास उठाये।

महाशय! आप अपने घर का कूड़ा हमारे स्वच्छ घर में फेंककर फिर आक्षेप करते हैं कि आपका घर गन्दा है, क्या यह लज्जाकर नहीं?

आपका यह कहना "मानते हैं लज्जावश ही हिन्दीभाषा में स्वामी दयानन्द ने अन्यथा ही कह दिया।" महाशय! महर्षि ने नियोग को सर्वत्र ही आपद्धर्म

https://t.me/DharmaSamrat

स्त्रियों को पढ़ाया कर"। यद्यपि मन्वादिवचनमनुरुध्य पुनर्विवाहेऽनेकदोषाः सत्यार्थप्रकाशे विहिताः। अग्रे महर्षिलेखभावः 'पुनर्विवाह होना अच्छा नहीं, क्योंकि जो स्त्रीपुरुष ब्रह्मचर्य में रहना चाहें तो कोई भी उपद्रव न होगा और जो कुल की परम्परा रखने के लिए किसी अपने स्वजाति का लड़का गोद ले लेंगे, उससे कुल चलेगा और व्यभिचार भी नहीं होगा, और जो ब्रह्मचर्य न रख सकें तो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करलें" इत्यनेन आपद्धर्म एवैषः।

तथापि मन्ये भवदुक्तं दुर्जनतोषन्यायेन यद् लज्जावशाल्लिखितमिह, परं भवांस्तु निर्लज्जतायाः परां कोटिमाटीकते यद् व्यभिचारादिदोषेभ्यो मानवजातिरक्षितुं वैदिकं सिद्धान्तं नानुमोदते नोदयते च सतीप्रथाप्रसारप्रचाराद् विरम्य इति खेदास्पदम्।

किञ्च 'धारयितुमिच्छोस्तव हस्तग्राहवतः पत्युश्च' इति उभयत्र दिधिषोरन्वयादपि वर्गप्रमुखेन तदिच्छां जिज्ञासमानेन स्वकर्त्तव्यत्वेन पृष्टा सा यदीच्छेत् तदोत्तिष्ठेद् इच्छेद् वा। गता (भूतकाले न तु सम्प्रत्येव) असवः प्राणा यस्य स तं त्यक्त्वेत्यध्याहारः। जीवलोकं द्वितीयं पतिमभिलक्ष्य गतासुं चोपेक्ष्य इति नियतकालानन्तरं ध्वन्यते। मन्त्ररचनायां तस्माद्भास्त्यवशिष्टः कश्चिच्छङ्काक्लेशलेशोऽपि।

कहा है, उनका लक्ष्य ही यह था कि समाज व्यभिचार से दूषित न हो जाये। पर आपके जाने समाज रसातल को जाये; पर चोरी से व्यभिचार भले चलता रहे।

'दुर्जनतोषन्याय' से मान लेते हैं कि महर्षि ने लज्जावश ही ब्रह्मचर्य की व्यवस्था की थी; परन्तु आप तो निर्लज्जता की परम कोटि को पहुंच गये, जोकि व्यभिचार दोष से समाज की रक्षा करने को 'नियोग' के वेदसम्मत सिद्धान्त को नहीं मानते और अवैदिक सतीप्रथा के प्रचार-प्रसार से नहीं रुकते, यह अति खेदकर है।

और 'धारण करने के इच्छुक हस्तग्रहण करनेवाले पति का' यह 'दिधिषुः' का अन्वय उभयत्र (स्त्री तथा पुरुष में) लग सकता है; अत एव भी अपने कर्त्तव्य से प्रेरित उनकी इच्छा के जानने के इच्छुक पञ्चायत के मुखिया द्वारा पूछी हुई, यदि इच्छा करे तो उठे या 'जा चुके है प्राण जिसके—ऐसे उसे छोड़कर' इसका अध्याहार स्यात् ही हो जायेगा। 'जीवित द्वितीय पति को अभिलक्षित कर मृतक की स्मृति को भुलाकर' यह अर्थ मन्त्र की रचना से 'नियत काल के अनन्तर' ऐसी ध्वनि निकलती है। इसलिये कोई अब शङ्का समाधानार्थ शेष नहीं रह जाती है।

ऋषिणा नियोगेऽपि आपद्धर्मेऽत्र प्रतिबन्धाः कृतास्तेऽपि मननीयाः सूक्ष्मेक्षणविचक्षणैः। यथा—

(१) स्त्रियाः पुरुषस्य वा मृत्यौ। (२) एकतरस्याऽपि स्थायिरोगे प्रजननसम्बन्धिनि। (३) नपुंसकत्वे वन्ध्यात्वे वा परमेतदपि युवावस्थायां सन्तानोत्पत्तेरिच्छायां च। (४) कथमपि ब्रह्मचर्यपालनेऽसमर्थतया।

किञ्चास्माभिरत्रानुमीयते यत्—

अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥
(ब्रह्मवैवर्ते ४।११५।११३)

यतो भवान् कलियुगेऽस्मिन् देवरसुतोत्पत्तिनिषेधत्वाद् विरुणद्धि, एतेन ध्वन्यते हि पूर्वयुगत्रिके पञ्चापि विधयोऽनुसर्तव्याः। अस्मिन् तदा संन्यासोऽपि कथमङ्गीकृत उत वा कलिरेव धन्यो यत्रोक्तजघन्यकृत्यानि अविहितानि।

पृ० १४३४, अनु० १—पू० प०—यदुक्तम्—"वस्तुतस्तु 'परं मृत्योरिति

ऋषि ने तो इस आपद्धर्म नियोग में भी प्रतिबन्ध (शर्तें) लगा दिये हैं, वे भी सूक्ष्म बुद्धियों से मननयोग्य हैं। जैसे—

(१) स्त्री या पुरुष की मृत्यु हो जाने पर। (२) किसी एक के प्रजनन-सम्बन्धी स्थायी रोग हो जाने पर। (३) नपुंसकत्व या वन्ध्यात्व होने तथा युवावस्था होने पर तथा सन्तानोत्पादन की इच्छा होने पर। (४) ब्रह्मचारी न रह सकने की विवशता में आदि।

साथ ही हम अनुमान करते हैं कि—

पौराणिकसम्मत अश्वमेध, गवालम्भ, संन्यास, मांस से श्राद्ध, देवर से पुत्रोत्पत्ति—ये पांच बातें कलियुग में छोड़ दो (ब्रह्मवैवर्त ४।११५।११३)।

शायद इसी कारण से आप इस कलियुग में देवर से पुत्रोत्पत्ति का (नियोग-द्वारा) विरोध कर रहे हैं, इससे ध्वनित होता है कि पूर्व के सतयुग, त्रेता और द्वापर में इन पांचों विधियों का पालन किया जाता था। तो इन युगों से तो हमारा यह कलियुग ही बहुत अच्छा सिद्ध हुआ, जहां पौराणिक अश्वमेध और गोवध आदि, जघन्य कृत्य करने का निषेध है। पर महाराज! यहां तो संन्यास लेने का भी निषेध है, जो आपने ले रखा है।

पृ० १४३४, अनु० १—पूर्वपक्ष—"वास्तव में 'परं मृत्योः' इत्यादि चौदह

https://t.me/Dharma_Sanrat

चतुर्दशर्चस्य सूक्तस्य आद्यास्चतस्रो मृत्युदेवत्याः सप्तम्याद्याः पितृमेधाभिधायिन्यः।' सूत्रितं च—'इमे जीवा विमृतैरिति सव्यावृतो व्रजन्ति' (आ० श्रौ० सू० ४।४।९)। तत्र प्रथमा—'इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा संविशन्तु। अनश्वाः-ऽनमीवाः सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे॥' (ऋ० १०।१८।७)। अत्राप्युप-युक्तायामृचि गतासुं मृतं विवाहितपतिं त्यक्त्वेति कस्य पदस्यार्थः।" इति।

उ० प०—सत्योक्तिर्यत् 'शृगाल एषोऽपि मुमूर्षति ध्रुवम् अतो विनाशाय पुरं प्रतिष्ठते'। अथवेयं निर्मलोक्तिरुचिता।

कदापि जिह्वारसलोलुपोऽशृणोत्,
निमन्त्रिताः सन्ति सुदण्डिमुण्डिनः।
अमुण्डयत् स्वीयशिरस्तदा पथि,
अभूदकस्माद् उपलप्रवर्षणम्॥

हे दण्डिमुण्डिन्! बहु किलानर्गलं जल्पितम्, किन्न तदासीत् पर्याप्तम्, येन आश्वलायनप्रकरणमवतारितम्। अचर्चैव श्रेयस्करी आसीत् ते; किन्तु भवांस्तु बद्धपरिकरः पौराणिकसनातनधर्मस्य निःसारतां (पोल) प्रकाशयितुं मादृश-

---

ऋचावाले इस सूक्त की पहली चार ऋचायें मृत्यु देवता से सम्बद्ध हैं। सातवीं से लेकर आगे के मन्त्र पितृमेध कर्म से सम्बद्ध हैं। आश्वलायनश्रौतसूत्र में तदनुसार ही इन मन्त्रों को विनियुक्त किया गया। 'इमा नारी' इनमें से पहला मन्त्र है। इसमें ये 'गतप्राण विवाहित पति को छोड़कर' इस अर्थ को बतानेवाला 'विहाय' पद नहीं है। इस तरह दयानन्द सर्वत्र वेद की व्याख्या करते समय मनमानी करते हैं।"

उत्तरपक्ष—यह कहावत सत्य है कि 'जब स्यार की मौत आती है तो नगर की तरफ भागता है।' अथवा यहां रुचिकर निर्मलोक्ति प्रस्तुत करना उचित होगा—

कभी किसी चटोरे लालची ने सुना कि कहीं सभी दण्डी मुण्डियों (साधुओं) का न्यौता किया गया है, तो उस चटोरे ने भी माल खाने के प्रलोभन में अपना सिर मुण्डवा लिया और उसी ओर चल दिया, पर मार्ग में भीषण ओलों की वर्षा हो गयी।

हे दण्डिमुण्डिन्! यही दशा आपकी है, बहुत कुछ अनर्गल बकवास कर ली, क्या वह पर्याप्त नहीं थी? तो आश्वलायन का भी प्रकरण छेड़ दिया। उसकी चर्चा न छेड़ने में ही आपका भला था, किन्तु आपने तो हम जैसे महर्षि-भक्तों

महर्षिभक्तद्वारा। तदा श्रूयताम्—

आश्वलायनस्यैतन्मन्त्रस्य अन्त्येष्टिकर्मणि विनियोगो वेदविरुद्ध एव, मन्त्रस्य प्रतिपाद्यविषयदेवतायाः पितृयज्ञत्वात्। पितॄणां च तृप्तिः सन्तानेन जायते। तथा हि—

"पितरः प्रजया तृप्ता इति हि श्रुतिरब्रवीत्।" (शिवकैलास अ० १२)

एतेन सिद्धं यत् सन्तानोत्पादनमेव पितृमेधः पितृयज्ञः पितृतर्पणं वेति, न तु श्मशानकर्म पितृमेधः। अतो नान्त्येष्टिकर्मणि विनियोगः, प्रत्युत विवाहे, पुन-र्विवाहे, नियोगे वोचितः। आश्वलायनगृह्यसूत्रं न भवन्मतं पुष्णाति, अपितु भवन्मतसनातनधर्मस्य नग्नं विपरीतं चित्रं प्रस्तुतं कुरुते च। यथा—

दध्न्यत्र सर्पिरानयन्त्येतद् पिश्यं पृषदाज्यम्॥ ४।१।१७॥

केचित्—तेन निःपुरीषमेके कृत्वा पृषदाज्यस्य पूरयन्ति।
पीठचक्रेण गोयुक्तेनेत्येके॥ ४।२।३॥

अनुस्तरणीम्॥४।२।४॥
प्रेतमनुस्तर्यते या स्त्री पशुः सानुस्तरणी।

के द्वारा पौराणिक सनातन धर्म की पोल खुलवाने के लिए कमर कस ली है, तो आइये, लगे हाथों आश्वलायन की भी खबर ले लें।

सुनिये, आश्वलायन ने इस मन्त्र का अन्त्येष्टि कर्म में विनियोग किया है। जो कि वेदविरुद्ध है, क्योंकि मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय देवता 'पितृयज्ञ' है। और पितरों की तृप्ति सन्तान के द्वारा होती है। जैसा कि कहा भी है—

"पितर लोग प्रजा से तृप्त होते हैं, ऐसा श्रुति ने कहा है" (शिवकैला० अ० १२)।

इससे सिद्ध है कि सन्तानोत्पादन ही पितृमेध, पितृयज्ञ या पितृतर्पण कह-लाता है। श्मशान-कर्म पितृमेध नहीं कहाता है। इसीलिए अन्त्येष्टि-कर्म में इसका विनियोग नहीं है; प्रत्युत विवाह में है। अथवा पुनर्विवाह या नियोग में उचित है। आश्वलायनगृह्यसूत्र भी आपकी पुष्टि नहीं करता; किन्तु आपके माने सनातन धर्म का (उल्टा) नग्न चित्र ही प्रस्तुत कर रहा है। यथा—

"इस प्रेत कर्म में दही और घी लाते हैं। इसी का नाम पृषदाज्य है। कई आचार्यों का मत है कि मृतक के पेट को मल से खाली करके उसमें पृषदाज्य भर दिया जावे। कई आचार्यों का मत है कि बैल जुती गाड़ी से मृतक को श्मशान ले जावे। अनुस्तरणी का प्रयोग करे। मृतक के पीछे जाकर जो उसको पवित्र करती

https://t.me/DharmaSamrat

गाम् ॥४।२।५॥

सव्ये बाहू बद्ध्वानुसङ्कालयन्ति ॥४।२।८॥

उत्तरतः पत्नीम् ॥४।२।१६॥ ततः प्रेतस्योत्तरतः प्रेतस्य पत्नीं संवेशयन्ति। शाययन्ति इत्यर्थः।

धनुश्च क्षत्रियाय ॥४।२।१७॥ धनुरपि रक्षेत्।

तामुत्थापयेद् देवरः पतिस्थानीयोऽन्तेवासी··· ॥४।२।१८॥ अनेन ज्ञायते पतिकर्तृकं कर्म पुंसवनादि पत्यसम्भवे देवरः कुर्यादिति।

कर्त्ता वृषले जपेत् ॥४।२।१९॥

अथैतानि (हवन) पात्राणि योजयेत् ॥४।३।१॥

(शवे) अनुस्तरण्या वपामुत्खिद्य (निकाल) शिरोमुखं (शवस्य) प्रच्छादयत् (चरबी से) अग्नेर्वर्म परिगोभिर्व्ययस्वेति ॥४।३।१९॥ (अग्नेर्वर्म— मन्त्र पढ़)

वृक्का उद्धृत्य पाण्योरादध्यादतिद्रवसारमेयौ श्वानाविति दक्षिणे दक्षिणं सव्ये सव्यम् ॥४।३।२०॥ (गौ के वृक्क निकाल मृतक के हाथों में दे 'अति' इस मन्त्र को पढ़े, दायां वृक्क दायें हाथ में और बायां बायें हाथ में।)

हृदये हृदयम् ॥४।३।२१॥

सर्वां यथाङ्गं विनिक्षिप्य चर्मणा प्रच्छाद्य 'इममग्ने' (अनेन ज्वालयेत्) ॥ ४।३।२४॥

है, वह स्त्री या पशु अनुस्तरणी कहाता है। वह अनुस्तरणी गौ की प्रयोग की जावे।

पशु के बायें बाहु में रस्सी बांध कर पीछे-पीछे ले जाते हैं। वेदी बनाकर मृतक को चिता में लिटा कर प्रेत के उत्तर की तरफ प्रेत की पत्नी को सुलाते हैं। प्रेत यदि क्षत्रिय हो तो धनुष भी उसके उत्तर की ओर लिटाते हैं।

उसको देवर, अन्तेवासी या दास उठाता है, इससे ज्ञात होता है कि पतिकर्तृक देवर पति के असम्भव में पुंसवनादि पतिकर्म करे।

यदि उठानेवाला नौकर हो, तो मन्त्रजप कार्य कर्त्ता करे। इसके पश्चात् हवनपात्रों को लाश पर चुन दिया जावे।

उस गौ की चरबी निकाल कर उस लाश का मुख और शिर चरबी से ढक दिया जावे, और 'अग्नेर्वर्म' यह मन्त्र पढ़े—मृतक के हृदय पर गौ का हृदय रखे। गौ के सम्पूर्ण अङ्गों को लाश के सब अङ्गों पर रखे। चमड़े से सारी चिता को

स एवंविदा दह्यमानः सहैव धूमेन स्वर्गं लोकमेतीति ह विज्ञायते ॥ ४।४।७॥

कथयतु श्रीमन्! अयमस्ति ते सनातनधर्मः, यत्र शूनागृहदृश्यम्। एवमर्थः परमघमाश्वलायनलेखो न कदापि वेदानुकूलो भवितुमर्हति।

'त्यक्त्वा' इत्याद्याहरणे, सन्तानशब्दसाध्यता नपुंसकेऽपि प्रथमखण्डेऽस्य समुक्ता। 'उदीर' इत्यस्य उद्गमनम्, कथनमेषणं चेत्यर्था वाङ्मये प्रसिद्धा एव। तस्मान् महर्षिदयानन्दप्रतिपादितोऽर्थ एव सर्वथा सङ्गच्छते, नापरः कश्चिदिति दिङ्मात्रम्।

पृ० १४३५, अनु० १—'इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः' 'सोमः प्रथमो विविदे' 'अदेवृघ्न्यपतिघ्नी हैधि' इतिमन्त्रत्रिकस्य स्वामिदयानन्दकृतभाष्यमुद्धृत्यायम् अधिक्षिपति यत्—"अहो धार्ष्ट्यमस्य कलिहतकस्य धर्मध्वजस्य। यस्य नियोगस्य समर्थनमेतैर्मन्त्रैः करोति, स नियोगः किंलक्षणः, क्व च प्रोक्त इति तु नोक्तम्। न केवलं पतिमरण एव, किन्तु पत्युर्विदेशादिगमनकालेऽप्ययं नियोगं विदधाति। तत एवोच्छृङ्खलेष्वस्य महर्षित्वं प्रसिद्धम्" इति।

उत्तरम्—तत्तु पुराणप्रचालितव्यभिचार-प्रथाया निरोधनात् त्वादृक्-

---

ढक कर 'इममग्ने" इस मन्त्र से जलावे। यह मृतक इस प्रकार से जलाया हुआ स्वर्गलोक में पहुंच जाता है।"

कहिये श्रीमान्जी! यही तो है आपका सनातन धर्म, जहां पर कसाईखाने का दृश्य है। परन्तु यह आश्वलायन का लेख कदापि वेदानुकूल नहीं हो सकता।

'त्यक्त्वा' के अध्याहार तथा 'सन्तानं' शब्द के नपुंसकत्व प्रयोग के विषय में पूर्व कह दिया गया है। 'उत् पूर्वक ईर' धातु के अर्थ उठना, कहना तथा इच्छा करना संस्कृतसाहित्य में प्रसिद्ध ही हैं। इसलिए महर्षिदयानन्द प्रतिपादित अर्थ ही सर्वथा सङ्गत है, अन्य नहीं। यह दिङ्मात्र दिखाया गया है।

पृ० १४३५, अनु० १—'इमां त्वमिन्द्र' 'सोमः प्रथमः' 'अदेवृघ्न्यपति' इन तीनों मन्त्रों का महर्षि दयानन्द द्वारा किया हुआ भाष्य उद्धृत करके ये आक्षेप करते हैं कि—"कलियुग के इस यति की धृष्टता देखने लायक है। इन मन्त्रों से जिस नियोग का समर्थन स्वामी दयानन्द करते हैं, उस नियोग का स्वरूप क्या है और उसका प्रतिपादन कहां किया गया है? इस बात को उन्होंने बताया नहीं है। पति के मर जाने पर ही नहीं, विदेश आदि चले जाने पर भी यह नियोग का विधान करते हैं, इसलिए उच्छृङ्खल व्यक्तियों के बीच में महर्षि के नाम से प्रसिद्ध हैं।"

समाधान—सत्यार्थप्रकाश में तथा यहां पर भी सप्रमाण नियोग विषय का

https://t.me/Dharmadarshan21

स्वाच्छन्द्यं नियमयितुम् ऋषिणा नियोगविधिरन्विष्टः। प्रकोपोपलिप्तस्य त्वद्वचो धार्ष्ट्यं तवैव शोभते। सत्यार्थप्रकाशे इहापि वा नियोगः सप्रमाणं प्रतिपादितः। पुनरपि मिथ्या आक्षिपतीति किं न धार्ष्ट्यम्।

एतावतो महर्षिणा नियोगविषयस्य कृतस्य व्याख्यानस्य अनन्तरमपि अयं हि कल्लिलक्षणः कुलक्षणः सम्प्रति लक्षणं मार्गयन् भाग्यहतकः स्वमतिमान्द्यमेव (कालुष्यं वा) द्योतयते। भङ्गाऽभङ्गतरङ्गरङ्गानुरञ्जनजितप्रज्ञश्चाधुना पृच्छति 'क्व च प्रोक्त' इति।

प्रस्तुतं वेदमन्त्रमपि नेक्षते अथवा शाङ्करवचनम्—'पश्यन्नपि न च पश्यति मूढः' इत्यनुसरति। परं ब्रूतां भवान् सुभाषितरत्नभाण्डागारे सङ्गृहीतश्लोकः किंलक्षणकं नियोगं वर्णयते—

पौराणिकानां व्यभिचारदोषः,
न शङ्कनीयः कृतिभिः कदाचित्।
पुराणकर्त्ता व्यभिचारजातः,
तस्यापि पुत्रः (शुक्यां शुकदेवः) व्यभिचारजातः॥ इति।

पूरा प्रतिपादन किया है, फिर भी यह कहना कि 'नहीं बताया' यह मिथ्या कथन क्या धृष्टता नहीं है? आप इतने रोषपूर्ण अपशब्द प्रयोग पर इसलिये कटिबद्ध हुए हैं कि महर्षि दयानन्द ने पुराण-प्रचलित व्यभिचार-प्रथा का नियोगविधि आपद्धर्म की कर्त्तव्यता दिखाकर निरोध कर दिया। त्वादृक् पुरुषों के स्वच्छन्दाचरण पर अंकुश लगा दिया; अत एव क्रोधान्धमति आपने अपने धार्ष्ट्य का यहां भी प्रयोग कर दिया। यह धार्ष्ट्य आपको ही शोभित करे।

नियोग के विषय में इतना व्याख्यान करने के बाद भी यह लक्षण की खोज करने में लगे हुए हैं, यह इस लेखक का बुद्धिमान्द्य या कालुष्य ही प्रतीत होता है, या भांग की अभङ्ग तरङ्ग के रङ्ग के अनुरञ्जन से विवशबुद्धि होकर ये पूछ रहे हैं कि 'कहो, कहां है?'

प्रस्तुत वेदमन्त्र को भी नहीं देखा। यह शङ्कराचार्य का वचन प्रयोक्तव्य है कि 'देखते हुए भी मुग्ध पुरुष नहीं देख पाता'। पर अब यही बताइये कि 'सुभाषितरत्नभाण्डागार' में सङ्कलित यह श्लोक किस लक्षणवाले नियोग का प्रकथन कर रहा है कि—

पौराणिकों का व्यभिचार दोष कुशलों को कदापि शङ्कनीय ही नहीं है; क्योंकि पुराणकर्त्ता व्यभिचार से पैदा हुआ और उनके पुत्र शुकदेव भी (शुकी में) व्यभिचार से पैदा हुए थे। अस्तु।

अत्र भवदाशयो न स्पष्टो यद् भवान् स्वामिनोऽस्मिन् व्याख्याने कस्मिन्नंशे शङ्कते? किं (१) पतीनां गणनायां शङ्काऽस्ति? (२) आहोस्वित् सन्तानगणनायाम्? (३) अथवा सन्तानोत्पत्तिप्रकारे?

(१) यदि पतिगणनायां शङ्का, तदेयं निर्मूला, स्वामिव्याख्यायां तु एतावत्सु प्रतिबन्धेषु नैकादशपतिपर्यन्तं नियोगावसर आयातुं शक्यते, तथापि मानवसमाजे पतितानामपि पतितस्य ब्रह्मचर्यजितेन्द्रियत्वासाध्यत्वे दुराचारनिरोधाय मन्त्रोक्ता नियोगपतिसंख्या अनुमन्तुं शक्यते सामाजिकप्रतिष्ठितपुरुषैः। तथा चाथर्ववेदेऽपि—

उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः।
ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा॥ ५।१७।८॥

व्यभिचार-निरोधाय एकादशपर्यन्तपतयोऽनुमताः, किन्तु भवन्मान्यपुराणेषु एकस्त्रिया एकविंशतिपतयो वर्णिताः। यथा—

एकविंशतिभर्त्तारः काले काले मृतास्तदा।
ततो राजा महादुःखी सञ्जातः ख्यातविक्रमः॥
(पद्मभूमि अ० ८५।६)

यहां आपका आशय स्पष्ट नहीं है कि स्वामीजी के इस व्याख्यान के किस अंश में आपका प्रश्न है। (१) क्या पतियों की गणना में शंका है? (२) या सन्तान की गणना में शङ्का है? (३) या सन्तानोत्पत्ति के प्रकार में है?

(१) यदि पतिगणना में शङ्का है, तो निर्मूल है; क्योंकि स्वामीजी की व्याख्या के प्रतिबन्धों के कारण ११ प्रति पर्यन्त नियोग का अवसर ही नहीं आ सकता। अधिकाधिक पञ्चम पति तक अवसर आ सकेगा। तब भी मानवसमाज में पतियों से भी पतित व्यक्ति का ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियता असाध्य होने पर दुराचार न फैल जावे; अतः मन्त्र में कथित नियोग के पतियों की संख्या की अनुमति तो सामाजिक प्रतिष्ठित पुरुषों के द्वारा दी ही जा सकेगी।

अथर्ववेद (५।१७।८) में भी—"यदि जो स्त्री के पूर्व दश पति अब्राह्मण हों, उसके पश्चात् यदि ब्राह्मण उसका हाथ पकड़ ले तो वही एक प्रकार से पति होगा।"

व्यभिचार-निरोधार्थ आपद्धर्म में ११ पतियों तक की अन्तिम अनुमति दी गई है, किन्तु आपके मान्यपुराणों में एक स्त्री के २१ पतियों का वर्णन है। जैसे—

'समय-समय पर २१ पति तक मरते हुए चले गये, तब प्रसिद्ध पराक्रमी

https://t.me/DharmaSamrat

वधव्यं भुञ्जते सा तु दिव्या देवी सुपत्रक ।
दिव्या-पिता दिवोदासश्चिन्तितः..... ॥ (पद्म०)

इदं तु समये समये कृतैकविंशतिपतीनां चर्चा । किन्तु महाभारते तु युगपदेव दशपतीनां वर्णनमुपलभ्यते । यथा—

तथैव मुनिजा वार्क्षी तपोभिर्भावितात्मनः ।
सङ्गताऽभूद् दशभ्रातॄन् एकनाम्नः प्रचेतसः ॥
(आदिप० १९६।१२)

अतः पतिसंख्यायां तु भवान् शङ्कितुं नार्हति ।

(२) अधुना सन्तान-संख्या-विषयं विमृशामः । तत्रापि स्वामीदयानन्दो वेदमन्त्रं समुदधृत्य दश सन्तानान् अनुमन्यते । परं पौराणिकसाहित्ये तु सन्ततिसेनैव वर्णिता । यथा—

इति पुत्रशतं राजन् कन्या चैव शताधिकाः ।
(महाभा० आ० प० ११७।१५)

शशबिन्दोश्च भार्याणां सहस्राणि दशाऽच्युत ।
एकैकस्यां सहस्रं तु तनयानामभूत् तदा ॥
(महाभा० शान्तिप० अ० २०८।११)

राजा महादुःखी हुआ । तब दिव्या देवी 'वैधव्य' भोगती रही । (पद्म पु० अ० ८५।६)

यह तो समय-समय पर किये २१ पतियों की चर्चा रही, पर एक साथ ही दस पतियों का वर्णन भी महाभारत में है । देखिए—आदिपर्व (१९६।१२)। अतः पतियों की गणना में आप शङ्का नहीं कर सकते ।

(२) अब सन्तान की गणना के विषय में विचार किया जा रहा है । उसमें भी स्वामी दयानन्द वेदमन्त्र का उद्धरण देकर दश सन्तानों तक की (पुत्र या पुत्री) अनुमति लिखते हैं, परन्तु पौराणिक साहित्य में तो सन्तान की सेना का ही वर्णन किया गया है । यथा—

राजा धृतराष्ट्र के ये सौ पुत्र और सौ से अधिक कन्यायें थीं (महा० आदिपर्व ११७।१५) ।

शशबिन्दु राजा के दश हजार स्त्रियां थीं और एक-एक स्त्री के एक-एक हजार पुत्र थे, अर्थात् शशबिन्दु के एक करोड़ पुत्र थे (महा० शान्तिपर्व अ० २०८।११) ।

अस्यामवस्थायां न काप्यापत्तिर्भवताऽभिमंस्यते ।

(३) सम्प्रति अन्तिमा शङ्का पुत्रोत्पादनप्रकारिकाऽवशिष्यते, तत्राऽपि स्पष्टमेव । एकनियोगे पुत्रद्वयप्रतिबन्धे पञ्चैव पुरुषा नियोक्तव्या भविष्यन्ति । (महाभारत उद्योगप० अ० १०५-१२१) पर्यन्तं वर्णिता विश्वामित्रकथा स्वतितरां विचित्रा । नाऽत्र ग्रन्थविस्तरभिया प्रस्तूयते, जिज्ञासुभिस्तत्रैवाध्येतव्या ।

अतः स्वामिलेखस्य वेदानुकूल्याद् अखिलाः शङ्का निर्मूलास्ते ।

(क) यच्चाक्षिप्यते—"पत्युर्विदेशादिगमनकालेऽपि अयं नियोगं विदधाति, तत एवोच्छृङ्खलेषु महर्षित्वं प्रसिद्धम्" इति । अनेन प्रतीयते यदयमकृतवाङ्मयस्वाध्यायोऽन्धभक्तिजनेषु स्वस्य स्ववाचालतया दम्भवृत्त्या प्रवञ्चनपाटवेनैव वा अज्ञप्रतिष्ठामलभत । ऋषिकथने तु मनुः प्रमाणम्—

इस दशा में तो आपकी यह आपत्ति भी समाप्त हो जाती है । श्रीमन् ! जैसे दीर्घायुष्य प्राप्ति के लिये घृत का विधान है, तो यह ज्वरित या रोगी पर लागू नहीं, उसी प्रकार वेदाज्ञा भी समझिये ।

(३) अब अन्तिम शङ्का पुत्र के उत्पादन-प्रकार में अवशिष्ट रह जाती है, उसमें भी स्पष्ट ही है । एक नियोग में दो पुत्रों का प्रतिबन्ध लगाने पर पांच तक ही पुरुष अन्तिमरूप में नियुक्त हो सकेंगे । "विश्वामित्र ने अपने शिष्य गालव से गुरु दक्षिणा में ८०० श्यामकर्ण घोड़े मांगे । वह एतदर्थ ययाति राजा के पास गया । उसके पास घोड़े न थे, तो अपनी माधवी नाम की कन्या को दे दिया । उससे हर्यश्व, दिवोदास, उशीनर ये पुत्र उत्पन्न किये" इत्यादि कथा महाभारत उद्योगपर्व अ० १०५ से १२१ तक वर्णित है ।

स्वामीजी का लेख तो सर्वथा वेदानुकूल है, अतः इनकी समस्त शङ्कायें निर्मूल हो गईं ।

(क) यह आक्षेप कि "पति के विदेशादिगमनकाल में भी ये (स्वा० द०) नियोग का विधान करते हैं । इसीलिए ये उच्छृङ्खल व्यक्तियों के बीच में महर्षि के नाम से प्रसिद्ध हैं" भी निर्मूल है । इससे यही प्रतीत होता है कि इन्होंने वैदिक वाङ्मय का भी स्वाध्याय नहीं किया है और अन्धभक्त जनों में अपनी वाचालता, ढोंगवृत्ति और प्रवञ्चन-कौशल से ही प्रतिष्ठा पाली है । देखिये, ऋषि के कथन में मनु का प्रमाण—

https://t.me/Dharmaadarsh

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ समा नरः।
विद्यार्थं षड् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान्॥ (९।७६)

न च गौतमस्मृतौ 'अत ऊर्ध्वं पतिसकाशं गच्छेत्' इति प्रत्यपादि, क्वास्ति प्रश्नो नियोगस्येति वाच्यम्, गौतमप्रकथनस्य मनुकथनप्रकरणे योजनस्यानौचित्यात्। मनुना हि अ० ९।५६ तः १०३ श्लोकेषु स्त्रीणामापद्धर्मो व्याख्यातः।

पत्युरनावर्त्तने तन्निवाससङ्केतस्याज्ञातावस्थापन्नाया आपदि एष धर्मः, न तु साधारणावस्थायाम्। आपद्धर्मस्त्वेष एव पत्युर्विषये आवासस्य जीवनस्यानिश्चये ब्रह्मचर्य-व्रतादि-धारणाऽसमर्थतायां गुप्तव्यभिचारादिदोष-निवारणार्थमाऽऽपद्धर्मव्यवस्था।

(ख) प्रकृते मनुरेव प्रमाणम्। अस्मिन् हि प्रकरणे पुरुषस्याऽप्यापद्धर्मो व्यवस्थापितः—

वन्ध्याऽष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी॥ (९।८१)

धर्मकार्यार्थ गये पति की प्रतीक्षा ८ वर्ष तक, विद्या और यश के लिये ६ वर्ष और कामार्थ तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करनी चाहिये।

शङ्का – गौतमस्मृति में लिखा है 'इसके अनन्तर पति के पास चली जावे' तब नियोग का प्रश्न ही नहीं उठता।

समा०–मनु के कथनप्रकरण में गौतम का कथन जोड़ना अनुचित है, क्योंकि मनु से विपरीत अन्य स्मृति मान्यता की कोटि में नहीं आ सकती। मनु महाराज ने अ० ९।५६ से १०३ श्लोकों में स्त्रियों के आपद्धर्म की व्याख्या की है।

पति के न लौटने और उसके निवास-संकेत के अज्ञात होने पर आपत् में यह धर्म बताया गया, साधारण अवस्था के लिए नहीं। आपद्धर्म तो यही होता है, जब पति के विषय में उसका निवास, जीवित होने का अनिश्चय, ब्रह्मचर्य व्रत आदि के धारण करने में असमर्थता की स्थिति में गुप्त व्यभिचार आदि दोषों के निवारणार्थ यह नियोग-व्यवस्था है।

(ख) इसमें मनु ही प्रमाण हैं। इस प्रकरण में पुरुष के भी आपद्धर्म की व्यवस्था बताई गई है, जो व्यवस्था पुरुष के लिए है, वह स्त्री के लिए भी समझनी चाहिए।

यदि स्त्री वन्ध्या हो तो आठवें वर्ष, सन्तान मर जाया करे तो दशवें वर्ष, कन्या ही कन्या पैदा हों तो ११ वें वर्ष और कटुभाषिणी हो तो तत्काल ही दूसरी स्त्री से नियोग कर सन्तान उत्पन्न कर लेनी चाहिये।

एवमेव स्त्रिया अप्युपायो नियोगरूपः।

(ग) वशिष्ठस्मृतौ अपि एवन्नियोगपुष्टिविधिना भूमिकावचनसमर्थनं मन्तव्यम्—

"प्रोषितपत्नी पञ्चवर्षा प्रवसेद् यद्यकामा यथा प्रेतस्य एवं वर्त्तितव्यं स्यात्। एवं पञ्च (५ वर्ष) ब्राह्मणी प्रजाता, चत्वारि राजन्या प्रजाता। त्रीणि वैश्या प्रजाता द्वे शूद्रा प्रजाता। अत ऊर्ध्वं समानोदकं पिण्डजन्यर्षिगोत्राणां पूर्वपूर्वो वरीयान्। न खलु कुलीने विद्यमाने परगामिनी स्यात्।" (वशिष्ठस्मृतौ अ० १७)

यतिवेशधारिन्! सम्प्रति तु विरमतु दुर्वचनचयनप्रयोगात्। अङ्गीकरोतु च यत् 'सत्यमेव जयते नानृतम्'।

महर्षिस्तु विवेकशीलेषु सत्यधर्ममनुसन्धित्सु स्ववेदमन्त्रादिशास्त्रशृङ्खलानियन्त्रितमतिषु महात्मस्वेव महर्षित्वस्य पतितपावनीं प्रतिष्ठां लेभे लभते लप्स्यते च।

इसी प्रकार स्त्री को भी नियोग रूप उपाय है। (मनु० ९।८१)

(ग) वसिष्ठस्मृति में भी स्वामीजी के इस कथन का समर्थन किया है—

भावार्थ—पति परदेश गया हुआ हो तो स्त्री इच्छा रोकने की ५ वर्ष तक प्रतीक्षा करके मृतपति के समान ही व्यवस्था करले। इसी प्रकार ब्राह्मणी ५ वर्ष, क्षत्राणी ४ वर्ष, वैश्या ३ वर्ष तथा शूद्रा २ वर्ष के बाद अपना कुटुम्बी, सजातीय अपने ऋषि और गोत्रों में पूर्व-पूर्व का उत्तम होने से अन्य के साथ समागम न करे। (वशिष्ठस्मृति अ० १७)

यतिवेशधारिन्! अब तो दुर्वचन-प्रयोग से विराम लो, तथा सत्य को स्वीकार करो। अथवा आपका तो यह स्वभाव ही बन गया है कि—

'अपशब्दप्रयोगेण किञ्चिदुच्छृङ्खलोक्तिभिः।
किञ्चित्तत्त्वस्पृशा बुद्ध्या शेषं कोपेन पूरयेत्॥

अर्थात् कुछ तो अपशब्दों के प्रयोग से, कुछ उच्छृङ्खल बकवास से, कुछ कभी-कभी तत्त्व छूनेवाली बुद्धि से और शेष कथन को क्रोध में भरकर गाली देने से पूरा ही कर लेते हैं।

यह प्रत्यक्ष है कि महर्षि ने तो योगी अरविन्दसदृश विवेकशीलों में, सत्यधर्म के अनुसन्धान करने के इच्छुक वेदमन्त्रादि शास्त्रों की शृङ्खला से नियन्त्रित मस्तिष्कों में तथा महान् आत्माओं में पतितों को भी पवित्र करनेवाली प्रतिष्ठा प्राप्त की और करते रहेंगे।

https://t.me/DharmaSamrat

सर्वथेह घटिता निर्मलोक्तिः—

नो कल्पनामकृत यत् करपात्र एषः,
सम्मर्दयिष्यति बुधो यदखर्वगर्वम्।
कश्चित् सुतर्कनिशितैश्च शरैर्यथाऽसौ,
अङ्गारकस्तृणचयं दहति क्षणेन ॥१॥
अद्याऽऽगृहीत इह निग्रहशृङ्खलायाम्,
एतद्बुधस्य खलु खेलति तीव्रतर्कः।
युक्तिप्रमाणजलधिः प्लवबृंहितोऽस्य,
संवेपते सपदि ते करपात्र चेतः ॥२॥

पृ० १४३६, पं० ७-१०—"किञ्च, यदि नियोगः शास्त्रीयः स्यात्, मन्त्राणां च तद्बोधकत्वं स्यात्, तदा कथं न आश्वलायनकात्यायनादयस्तथा सूत्रयेरन्? किञ्चात्र मन्त्रे इन्द्रेति सम्बोधनपदं स्पष्टमस्ति, तदपहाय पतिमेकादशं कृधीत्यत्र स्त्रीति सम्बोधनपदं कुतो लब्धम्? मन्त्रे स्त्रीति पदाऽभावात्। प्रथमद्वितीयादिशब्दैर्नियुक्ता गृह्यन्त इत्यपि निर्मूलम्, अत्र नियोगस्याऽप्रकृतत्वात्। प्रसिद्धसोमगन्धर्वादिदेवानपहाय नियुक्तानां संज्ञाबोधकास्ते शब्दा इत्यपि निर्मूलम्।

निर्मलोक्ति यहां पर घटित हो रही है कि—

इन करपात्री ने कभी कल्पना भी नहीं की होगी कि कोई विद्वान् अपने उत्तम तर्कों के तीक्ष्ण शरों के द्वारा मेरा अखर्व (विशाल) गर्व मर्दन ऐसे ही कर देगा, जैसे कोई अङ्गारा तिनकों के ढेर को क्षण भर में जला कर पूर्ण भस्म कर देता है ॥१॥

करपात्रीजी! आज आप इस विद्वान् की निग्रह (पकड़) की शृङ्खलाओं में बुरी तरह जकड़ लिये गये हो, इस विद्वान् की तीव्र तर्कशक्ति शास्त्रार्थ-मैदान में खुलकर खेलने लगी है। इसका युक्ति और प्रमाणों का समुद्र ठाठें मार रहा है। इससे करपात्रीजी का दिल अवश्य दहल रहा होगा ॥२॥

पृ० १४३६, पं० ७-१०—पूर्वपक्ष—"यदि नियोग शास्त्रीय होता और उस में मन्त्रों का बोधकत्व होता, तो आश्वलायन, कात्यायन आदि ने इस पर सूत्र क्यों नहीं रचे? तथा इस मन्त्र में 'इन्द्र' यह सम्बोधन पद स्पष्ट है, उसे छोड़कर 'पतिमेकादशं कृधि' यहां पर 'हे स्त्रि!' यह सम्बोधन पद कहां से मिल गया, मन्त्र में तो स्त्री पद है ही नहीं। प्रथम, द्वितीय आदि शब्दों से नियुक्तों का ग्रहण करना भी निर्मूल है, क्योंकि यहां नियोग का प्रकरण ही नहीं है। प्रसिद्ध सोम, गन्धर्व आदि देवों को छोड़कर वे शब्द नियुक्तों के संज्ञाबोधक हैं, यह कथन भी

अदेवृष्नीति मन्त्रे वाऽपि नास्ति नियोगचर्चा।" इति करपात्रकथनं समग्रमपि शास्त्रगहनावगाहनाऽक्षमताफलम्।

अत्र विषये मन्त्राणां मन्वादिग्रन्थानां च नियोगविधिसमर्थकप्रमाणसमुच्चयः पुरस्कृतोऽस्माभिः। आश्वलायनस्योपर्यव वैदिकमादर्शप्रमाणमुट्टङ्कितम्। मन्ये 'तोषन्यायेन' यदि कात्यायनादयोऽसूत्रयिष्यन्नपि बहु तदाऽपि अन्यदर्शितप्रमाणप्रचयवन्नाक्षिलक्षीकृतमेवाशेक्ष्यत। अनध्ययनशीलप्रकृतेर्निखिलं प्रकृतमपि अप्रकृतमेवास्ति। महिष्याः समक्षे वेणौ वादितेऽपि सा तु रोमन्थमेवाचरिष्यति। पश्यतु नियोगप्रतिपादकसन्दर्भसूचीमपि, परमेतेनाऽपि तव किम् अवल्गमुखजल्पने न्यूनताऽऽयास्यति?

'इति धर्मो व्यवस्थितः' (मनु ९।१२०), 'धर्मतः प्रसवश्च सः' (९।१४५), 'स्वधर्मेण नियुक्तायाम्' (मनु० ९।१६७), 'धर्मं कर्त्तुमर्हसि' (महाभा० आदिप० १०३।१), 'अशं समं परो धर्मः' (महाभा० आदिप० १०३।१३), 'धर्मश्च न पराभवेत्' (महा० आ० १०३।२२), (महाभा० १०३।२५, १०५।२०, ३४, ३६, ४९, १२३।५) इत्यादीनि असंख्यानि प्रमाणानि सन्ति।

भवता 'इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः' इति मन्त्रस्यार्थकरणे तु काऽपि ऋषिभाष्ये

निर्मूल है। 'अदेवृष्नी' इस मन्त्र में भी नियोगचर्चा नहीं है।"

उत्तरपक्ष—यह करपात्रजी का समग्र कथन शास्त्र की गहराई में उतरकर अवगाहन करने की असमर्थता का ही परिणाम है।

इस विषय में मन्त्रों तथा मन्वादि ग्रन्थों के बहुत से प्रमाण हमारे द्वारा ऊपर प्रस्तुत कर दिये गए हैं। ऊपर आश्वलायन का भी एक उद्धरण दिया जा चुका है। दुर्जनतोषन्याय से हम मानते हैं, पर यदि कात्यायनादि इस विषय पर सूत्र बना भी देते तो ऊपर दिखलाये हुए बहुत से प्रमाण जिस प्रकार आज तक आपके दृष्टिगोचर नहीं हुए तो वे भी कैसे हो जाते? अनध्ययनशील स्वभाववाले आपके लिए तो प्रकृत भी अप्रकृत मालूम पड़ता है। यहां यही कहावत चरितार्थ है कि—

"भैंस के आगे बीन बजाई, भैंस खड़ी पगुराई"

यहां नियोगप्रतिपादक बहुत से प्रमाणों की सूची देखिये—पर यह सूची भी आपके लिए तो बेकार ही है; क्योंकि आप बेलगाम मुख से फिर भी यह कहते रहेंगे कि कोई प्रमाण नहीं दिया।

आपने 'इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः' इस मन्त्र के अर्थ करने में ऋषिभाष्य में

https://t.me/Dharmadarshan

त्रुटिर्नोपस्थापिता, यदा ह्यर्थः सम्यक् तदा कुत आक्षेपसम्भवः ?

शपथोऽस्ति करपात्रिन् ! यदि कदाऽपि बुद्धेः प्रयोगं कुर्यात्। महाराज ! अस्मिन् मन्त्रे मीढ्वः, कृणु, आधेहि, कृधि इति क्रियाचतुष्टयं विद्यते। तत्र वीर्यसेकम्, सुभगां कर्त्तुम्, पुत्राधानं च इन्द्रेण पत्यैव सम्भाव्यते, वरं 'पतिम् एकादशं कृधि' इत्यत्र पतिवरणं तु स्त्रियैव सम्भाव्यते। यथा पुरुषेण स्त्रीवरणं तदा बुद्ध्या सहजतयैवानुमेयं 'हे स्त्रि !' इति सम्बोधनम्।

नात्र शङ्कायामनेन स्वबुद्धेः परबुद्धेर्वा प्रतिवेशिनः सहयोगो याचितः। किञ्च, 'स्त्रीति सम्बोधनं पदं कुतो लब्धम्, मन्त्रे स्त्रीतिपदाऽभावात्' अयमत्र हेतुरप्यनैकान्तिकः, असतः पदस्याऽपि प्रकरणादिवशात् सरलतयोपह्रियमाणत्वात्। इदमेवानेन साध्वाचरितं यदिन्द्रेण पुत्राऽधानं नाऽकारयत्, अन्यथा पौराणिकपरम्परापालने चायं स्वतन्त्र एवासीत्।

प्रथमद्वितीयादिशब्दैर्नियुक्तग्रहणं न निर्मूलम्, प्रत्युत 'नियोगस्याऽप्रकृतत्वात्' इत्येव निर्मूलम्, मन्त्राभिप्रायस्य तथात्वात्, अन्यथा सर्वशास्त्रविरोध-

---

कोई त्रुटि नहीं दिखाई; क्योंकि जब अर्थ ठीक है, आक्षेप ही सम्भव नहीं।

करपात्रीजी आपने तो बुद्धि से काम न लेने की कसम ही खा रखी है। इस प्रकृत मन्त्र में वीर्यसिञ्चन, सुभग करना और पुत्राधान तो इन्द्र पति द्वारा सम्भव है, परन्तु पति-वरण करना तो स्त्री द्वारा ही हो सकता है। जैसे कि पुरुष द्वारा स्त्रीवरण होता है। तो यह तो सहज बुद्धि से ही अनुमान किया जा सकता है। 'कृधि' (पति वरण करो) क्रिया के योग में स्त्री को ही सम्बोधन किया जा सकता है।

इस शङ्का के करने में आपने अपनी या पड़ौसी के बुद्धि-सहयोग की भी याचना नहीं की। तथा स्त्री-सम्बोधन पद कहां से लिया, क्योंकि मन्त्र में स्त्री पद ही नहीं है। वाह ! कैसी लाजवाब दलील है ? कि मन्त्र में सम्बोधन पद न होने से वह सम्बोधन नहीं हो सकेगा। फिर आपने 'यजमान' सम्बोधन ऊपर क्यों माना ? जबकि मन्त्र में यह पद है ही नहीं। महाराज ! यहां आपका यह हेतु अनकान्तिक है, क्योंकि अविद्यमान पद भी प्रकरण आदि के कारण सरलता से ऊहित हो जाते हैं। अरे भाई ! यही खैर हुई कि लेखक ने अपने इन्द्रदेवता द्वारा यहां पुत्राधान की बात नहीं कही, नहीं तो पौराणिक परम्परा पालन में तो ये स्वतन्त्र थे।

प्रथम द्वितीयादि शब्दों से नियुक्त का ग्रहण करना निर्मूल नहीं, अपितु 'नियोग अप्रकृत है' यह कथन ही निर्मूल है, क्योंकि मन्त्र का अभिप्राय नियोगार्थ

स्यापातः स्यात्।

एतमेव विषयमथर्ववेदे पुनराह—

सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेऽपरः पतिः।
तृतीयोऽग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजः॥

तथा च (अथर्व० ५।१६)—

यद्येकवृषोऽसि सृजाऽरसोऽसि ॥१॥ यदि द्विवृषोऽसि० ॥२॥ यदि त्रिवृषोऽसि० ॥३॥ (एवमेव) यद्येकादशोऽसि सोऽपोदकोऽसि ॥११॥

एवं स्पष्टं वेदे आपत्तिकालधर्मः कथितः। पुराणेष्वपि तथा वर्णनं लभ्यते।

अम्बिकाऽम्बालिकयोर्द्वे द्वे पती—विचित्रवीर्ये, व्यासश्च। माद्र्याः पतित्रयम्—पाण्डुः, अश्विनीकुमारौ च। कुन्त्याः पतिचतुष्टयम्—पाण्डुर्धर्मो वायुरिन्द्रश्च। द्रौपद्याः पञ्च। गौतमपुत्र्या जटिलायाः सप्त पतयः। वृक्षपुत्र्या मुनिजाया दश। दिव्याया एकविंशतिः।

या च चर्चा कृता भवता—

सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो दददग्नये।
रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्॥ (ऋ० १०।८५।४१)

में ही उपयुक्त है। नियोग को वेदमूलक न मानना और मन्वादि ग्रन्थों में विहित होना तो सभी इन शास्त्रों का वेद से विरोध ही ठहरेगा।

जबकि इसी (नियोग) विषय को अथर्ववेद (५।१६) में पुनः कहा है—

हे स्त्रि ! तु पहले सोम की पत्नी बनती है, गन्धर्व तेरा दूसरा पति है, तीसरा पति अग्नि नाम वाला है, चौथे से अधिक तेरे पतियों का नाम मनुष्य है। और हे पुरुष ! यदि तु स्त्री का वीर्यसिञ्चन करनेवाला पति है तो सन्तान पैदा कर, वरना निर्बल कहायेगा ॥१॥ यदि दूसरा पति है ॥२॥ यदि तीसरा पति है ॥३॥ (इसी प्रकार) यदि ग्यारहवां पति है तो वह तू दुःखों में तड़पने से बच सकता है ॥११॥

इस प्रकार वेद में आपद्धर्म का वर्णन है। पुराणों में तो इससे भी बढ़कर वर्णन मिलता है—

अम्बिका और अम्बालिका के दो-दो पति बिचित्रवीर्य और व्यास। माद्री के तीन पति पाण्डु और दो अश्विनीकुमार। कुन्ती के चार, द्रोपदी के पांच, गौतमपुत्री जटिला के सात पति। वृक्षपुत्री मुनिजा के दश पति, दिव्या के इक्कीस।

यह जो चर्चा आपने 'सोमो ददद् गन्धर्वाय' (ऋ० १०।८५।४१ में) को

https://t.me/DharmaSamrat

तदेतेन सोमपतिभुक्ता गन्धर्वेण भुक्ता, तद्भुक्ता च अग्निना, अग्निभुक्ता मनुष्याय दत्ता। देवेषु यदा पुनर्विवाहभुक्तायास्तदा कथं न पुनर्विवाहो मनुष्येषु स्यात्? परं पुनर्विवाहो द्विजेषु नियोगसंज्ञया व्यपदिष्यत इति पूर्वं प्रमाणितम्।

न चात्र एवं शङ्कनीयं यत् सा कन्या भुज्यते देवैरथ च कोमलादिगुणवत्त्वादेव तेषां पतित्वस्यालङ्कारिकं वर्णनमिति वाच्यम्। तथाविधप्रमाणोपलब्धौ भवता तथा वाच्यसम्भवाऽभावात्। यथा च—

पूर्वं स्त्रियः सुरैर्भुक्ताः सोमगन्धर्ववह्निभिः।(अत्रिस्मृतिश्लो० १९१)

रोमकाले तु सम्प्राप्ते सोमो भुङ्क्तेऽथ कन्यकाम्।
रजो दृष्ट्वा तु गन्धर्वः कुचौ दृष्ट्वा तु पावकः॥
(संवर्तस्मृतौ अ० १२।६५)

अस्मत्पक्षे सोमादिदेवानां जडत्वान्न काचिदापत्तिः सम्भाविताऽभविष्यत्। तथा च—

पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वा देवैः०। (अथर्व० ५।१७।११)

इह जायाशब्दो न कन्यावाचकः, प्रत्युत पत्नीवाचकः। प्रमाणं चेह—

पतिर्भार्यां सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः॥ (मनु० ९।८)

है, सो इससे सिद्ध है कि सोमादि के द्वारा भुक्त स्त्री मनुष्य को दी गई है। सोम आदि में ही जब पुनर्विवाह सिद्ध है तो मनुष्यों में सिद्ध हो ही गया। परन्तु द्विजों में इसकी संज्ञा नियोग होगी, यह पूर्व ही कहा गया है।

शङ्का—इससे ऐसा क्यों न समझा जावे कि वह कन्या (स्त्री) देवों से भोगी नहीं जाती है, किन्तु सोमादि के कोमलत्वादि गुणों के आधार पर अवस्था-भेद ही बताया जाता है, यह वर्णन तो आलङ्कारिक है।

उत्तर—आपका कथन तो इसलिये प्रामाणिक नहीं है; क्योंकि आपकी मान्य स्मृति में तत्परक वर्णन मिलता है, यथा—

पहले स्त्री सुरों से भोगी जाती है (अत्रिस्मृति १९१)। काल आदि स्थिति विविधों से भुक्त है (संवर्त्तस्मृति)। आपके पक्ष में ये देवता भी चेतन हैं। हमारे पक्ष में तो ये जड़ हैं, तो कोई आपत्ति की सम्भावना भी नहीं।

'पुनर्दाय' (अथर्व० ५।१७) विद्वान् लोग ब्राह्मण की पत्नी को पुनः निर्दोष निष्पाप करके और उसको योग्य पति के हाथों पुनः दान करके भूमि के बल का विभाग कर उस महान् यशस्वी परमात्मा की उपासना करते हैं। यहां पर जाया शब्द तो कन्यावाचक नहीं है, प्रत्युत पत्नीवाचक है। इसमें प्रमाण है—पति

नियोगे अन्यच्च प्रमाणम्—

'अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम्।'
(अथर्व० १८।३।३)

आपत्कालायैवेयं वैदिकी नियोगव्यवस्था, वेदेनाऽप्रतिपादितत्वे मन्वादि-प्रतिपादितस्यामान्यत्वापत्तेः।

पृ० १४३६, पं० १२—यदुच्यते—"वेदोऽयमास्तिकानां ग्रन्थो न नास्तिकानां देवपित्राद्यनभ्युपगन्तॄणाम्।" सत्योक्तिमेतां पुष्णीमो वयमपि, परं देवपित्राद्यर्थं यं ध्यात्वा भवान् भूमिकामाबध्नाति तद्विषये तु वदामो यद् देवपितृस्वरूपनिर्धारणदिशा तु महर्षेरेव गरीयसी वैज्ञानिकी वेदसम्मता च।

पृ० १४३७, पं० १०—यदुच्यते—"त्वद्रीत्या सोमो विवाहितः प्रथमः पतिः। स किं नियोगिने स्वभार्यां प्रयच्छति? भवत्येवं सामाजिकानां क्षेत्रेषु किम्?" तत्समाधानं श्रूयताम्—

प्रजाप्रवञ्चनपटो! छलाचरणाद् विरम। दर्शय क्व लिखितं स्वामिना यत्

जिसमें पुनः पैदा होता है। (मनु० ९।८)

नियोगविषय में अन्य प्रमाण भी लीजिए—(अथर्व० १८।३।३)

अर्थ—आपत्काल के लिये यह वैदिकी व्यवस्था है। यदि वेद में अप्रतिपादित होने पर वेदविरुद्ध है, तो मन्वादि से प्रतिपादित होने पर भी अमान्यता रहेगी।

पृ० १४३६, पं० १२—यह कहना कि "वेद यह आस्तिकों का ग्रन्थ है, उन नास्तिकों का नहीं, जो देव, पितृ आदि को ही नहीं मानते" ठीक नहीं। हम भी इसका समर्थन करते हैं, पर देव, पितृ आदि से आप जिन अर्थों की भूमिका बांध रहे हैं, उस विषय में हमारा कथन है कि ऋषि दयानन्द ने देवाधिदेव परमेश्वर, विद्वान्, चेतन देव तथा शेष जड़ तथा ज्ञानी, जीवित माता पिता प्रपितामह आदि पितर आदि कहे हैं। वही सिद्धान्त वेदसम्मत, गरीयान् तथा वैज्ञानिक है।

पृ० १४३७, पं० १०—शङ्का—यह कहना कि "तुम्हारी रीति से सोम विवाहित पहला पति है, वह किसी दूसरे नियोगी को अपनी पत्नी दे देगा? क्या ऐसा आर्यसमाजियों में होता है?"

समा०—हे प्रवञ्चनपटो! अब भी आप छलाचरण छोड़ दीजिए। यह

https://t.me/DharmaSamrat

भार्यां नियोगिने प्रयच्छति। न क्वापि लिखितमिह। स सौकुमार्यादि-
त्वात् सोमसंज्ञो भवति। द्वितीयो विधवां प्राप्नोति, स गन्धर्वसंज्ञां लभते।
। स्वभार्याप्रदानं समापन्नामोघवीर्येषु सामाजिकेषु च न भवति; किन्तु
सनातनधर्मक्षेत्रे तु भवत्येव। पश्यतु—
"युधिष्ठिरो भीष्ममपृच्छत्—गृहस्थः कदा मृत्युं जयते? भीष्म उत्तरे
समश्रावयद् यत् सुदर्शननामा एको ब्राह्मणः स्वस्त्रियमकथयत्—

अतिथेः प्रतिकूलं ते न कर्त्तव्यं कथञ्चन।
येन येन च तुष्येत नित्यमेव त्वयाऽतिथिः।
अप्यात्मनः प्रदानेन न ते कार्या विचारणा॥

सुदर्शनश्चैकदा यातो बहिरिन्धनमानेतुम्। तदनुपस्थितौ एको ब्राह्मणः
ययौ अतिथिरूपेण। सुदर्शनपत्नी सत्कारं यथानिर्दिष्टं कृतवती। प्रत्यागीये-
ं स आकारयत् स्वपत्नीं द्वारस्थः। सा—

उच्छिष्टास्मीति मन्वाना लज्जिता भर्तुरेव च।
तूष्णीं भूत्वाऽभवत् साध्वी न चोवाचाऽथ किञ्चन॥

तदा कुटयन्तर्गतोऽतिथिः प्रत्यवोचत्। श्रुत्वा सुदर्शनः प्राह—

लिखा दिखाइये कि सोम अपनी भार्या को नियोगी के लिये देता है। वस्तुतः ऐसा स्वामीजी ने कहीं नहीं लिखा। यह लिखा है कि वह प्रथम पति सुकुमारता आदि गुणों से युक्त होने के कारण सोमसंज्ञक होता है, यह भावार्थ है।

दूसरा पति तो नियोग से होता है, सो गन्धर्वसंज्ञक अर्थात् भोग में अभिज्ञ होता है। सामाजिकों में कोई अपनी विवाहित पत्नी को नियोग के लिए न भी दे, पर आपके सनातन धर्म में तो ऐसा सदा से ही होता आ रहा है। देखिये—

"युधिष्ठिर भीष्मजी से पूछ रहे हैं—गृहस्थ मृत्यु को कब जीत लेता है? भीष्म ने उत्तर में एक लम्बा इतिहास सुनाया है कि सुदर्शन नामक एक ब्राह्मण ने (कदाचित् आपके हिन्दी अनुवादक से भिन्न ही था) अपनी स्त्री से कहा—'अतिथि के प्रतिकूल तुम्हें कभी आचरण नहीं करना चाहिए, जिस-जिससे अतिथि सन्तुष्ट हो वही अर्पित करना चाहिए। स्वयं को भी उसे देना पड़े तब भी विचार नहीं करना चाहिए'।

सुदर्शन यह कहकर कहीं ईंधन लेने चला गया, उसकी अनुपस्थिति में एक ब्राह्मण अतिथिरूप में आया। सुदर्शन की पत्नी ने यथानिर्दिष्ट सत्कार किया। ईंधन लेकर जब लौटा तो उसने ब्राह्मणी को पुकारा। वह 'मैं उच्छिष्ट हो चुकी हूं' ऐसा सोचती हुई लज्जिता हो चुप रही, कुछ नहीं बोली। तब कुटिया के

सुखं तेऽस्तु विप्राग्र्य, प्रीतिर्हि परमा मम।
तदाऽऽकाशवाणी जाता—
विजितश्च त्वया मृत्युर्योऽयं त्वामनुगच्छति।
अतो हे युधिष्ठिर! अतिथिपूजा हि गृहस्थस्य मृत्युं जयते।"

धन्योऽसि यते! यस्मिन् सनातनधर्मे मृत्योर्विजयोपाय ईदृशः। कः खलु पौराणिको मृत्युञ्जयमन्त्रस्य जपे मुधैव मस्तिष्कपञ्चीकरणं कुर्यात्।

कथयन्तु महाराजाः! युष्माकं क्षेत्रे तु स्वभार्यां जीवन् पतिरेवातिथये प्रयच्छति। सम्प्रति तु नास्ति कश्चित् संशयः?

पृ० १४३७, अनु० ४—यदुच्यते—"अत्र नैकादशसंख्याकाः पतयो विहिताः, किन्तु दशपुत्रानपेक्ष्य पत्युरेकादशसंख्यापूरकत्वेन ग्रहणम्। नैकादशसंख्याकपति-विधानम्, पूरणार्थप्रत्ययविरोधात्।" इति, तदपि न किञ्चित्। न वा पूरणार्थक-प्रत्ययविरोधः। विजातीन् पुत्रान् विमृश्य संख्यापूरणकरणापेक्षया सजातीयेन सार-

---

भीतर अतिथि ने उत्तर दिया। सुदर्शन ने सुनकर कहा—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! तुम्हारा सुरत सिद्ध है, इसी से मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई है।

तभी आकाशवाणी हुई—तूने उस मृत्यु को जीत लिया है, जो कि तुम्हारा अनुगमन कर रही है। अतः हे युधिष्ठिर! अतिथिपूजा ही गृहस्थ की मृत्यु को जीत लेती है।"

करपात्रीजी! आप धन्य हैं, जिनके सनातन धर्म में मृत्यु के विजय का ऐसा अद्भुत उपाय है। अब कौन मूढ़ पौराणिक होगा जो मृत्युञ्जय मन्त्र के जप करने-कराने में माथा-पच्ची करेगा?

अब कहिये महाराज हरिहरानन्दजी! आपके समाज के क्षेत्र में तो जीते-जीते ही पति अपनी भार्या को अतिथि के लिए दे देता है। अब तो कोई संशय शेष नहीं रहा होगा।

पृ० १४३७, अनु० ४—यह कहना कि "मन्त्र में एकादश पतियों की संख्या विहित नहीं है, [प्रत्युत दश सन्तान की अपेक्षा रखकर पति ग्यारहवीं संख्या के पूर्ण करने के लिए है। ११ पतियों का विधान नहीं हो सकता, क्योंकि पूरणार्थक (अर्थात् ग्यारहवां) प्रत्यय का विरोध होगा।" भी अपने अज्ञान को प्रकट करना है। इसमें पूरणार्थक प्रत्यय का ११ वां पति सजातीय संख्या मानने पर विरोध कैसे है? अपितु विरोध नहीं है। विजातीय पुत्र १० गिनकर ११ वें की संख्या पूरी करने को आप विरोध नहीं मानते हैं। विचित्र तर्क है। सजातीय से पूरणा-

https://t.me/Dharmasamrat

ल्येन संख्यापूरणदर्शनात्। अतो भवज्जल्पनमनर्गलमप्रामाणिकं च।

यदुच्यते—माङ्गलिकविवाहप्रकरणे पतिमरणवर्णनमपि सर्वथाऽसम्बद्धमिति, तदा श्राद्धमपि मृतकानभिलक्ष्य विवाहकाले करणमशुभमेव, यत् पौराणिकैराचर्यते। पौराणिकैरन्तरपटं कारयित्वा 'परं मृत्योरनुपरेहि पन्थाम्' इति हव्याहुतिरपि अमाङ्गलिकी एव दीयते। शिष्टमशिष्टं समाधानाय। एषोऽप्रासङ्गिको भूमिकायामर्चितो विषयश्चर्चितः। अत्र स्मरामि निर्मलोक्तिमेताम्—

चौरः क्वापि निकेतने सुनिभृतं हस्ते ज्वलद्दीपकम्,
धृत्वा प्राविशदाशु वस्तु निखिलं संवीक्षमाणो मुदा।
दृष्टः किन्त्वचिरं स भाग्यहतकस्तेनैव हा स्वामिना,
नाशं तस्करवृत्तिकेन्द्रितमतिर्न ध्यातवान् मूढधीः॥

इत्यतोऽमाङ्गलिकचर्चायां पौराणिकसंस्कारालुण्ठिताऽमङ्गलप्रसङ्गो मेऽपि स्मृतिपथमवतीर्णोऽयम्।

एकोऽयं प्रश्नो यत् स्वामिना अस्य विवादस्य नियोगस्य चर्चा एवं कथं-

---

र्थक संख्या का सामञ्जस्य भी बैठ जाता है। अतः आपका कथन अप्रामाणिक तथा बकवास है।

यह कहना भी कि 'मांगलिक विवाहप्रकरण में पति के मरने का वर्णन भी सर्वथा असम्बद्ध है।' बेतुका है। अन्यथा मृतों को अभिलक्ष्य करके विवाह-समय श्राद्ध करना, तथा 'परं मृत्योरनुपरेहि' आदि मन्त्रों में अमङ्गलवाचक 'मृत्यु' शब्द का बोलना भी अमङ्गल ही है। शेष भी पहले समाधान करने के कारण अब समाधान के लिए शेष नहीं है। आपने भूमिका में अर्चित अतः अप्रासङ्गिक विषय की यहां चर्चा छेड़ दी। मुझे इस अवसर पर निर्मलोक्ति का स्मरण आ रहा है—

एक चोर किसी घर में हाथ में जलता हुआ दीपक रात में लेकर इसलिए घुसा कि उस घर की सब वस्तुओं को सरलता से देख लेगा, पर उस मूढधी के यह समझ नहीं आया कि उसी दीपक से वह गृहस्वामी के द्वारा एक दम पहचान लिया जायेगा। उसकी मति तो चौर्य कर्म में केन्द्रित थी। इतने में ही गृहस्वामी ने उसे आकर धर दबोचा।

यहां आपके द्वारा की तो गई अप्रासङ्गिक, अमाङ्गलिक चर्चा, पर आप वहीं पकड़ लिये गये कि वह अमाङ्गलिकता तो आपके संस्कारों में बहुत है।

प्रश्न—एक प्रश्न यह भी है कि स्वामीजी ने नियोग जैसे विवादास्पद विषय

कृता? यत्र विदुषामपि शङ्का प्रजायन्ते व्यभिचारप्रसारसाधनरूपिकाः।

तत्रैवं बोद्धव्यं यत् मानवीयवासनासरित् स्वभावपतनोन्मुखा जायते, तदा कतिचन बन्धा आवश्यका एव प्रतिपादनीया भवन्ति।

ननु भवता कल्पद्रुमप्रणेत्राऽपि बहूनि प्रमाणानि तेभ्य एव पुराणेभ्य उद्धृतानि यानि पुराणानि स्वामी दयानन्दो विषसम्पृक्तान्नवत् त्याज्यानि ब्रवीति इति कथम्? इति चेन्न, वयमपि पुराणानि तथैव मन्यामहे। अत एव वयं स्वपक्षस्थापनार्थं वेदस्य तदनुकूलग्रन्थानामेव वा प्रमाणानि प्रस्तुमः, न तु पुराणेभ्यः। जातुचिन्मन्ये भवतः पौराणिकान् सम्बोधयितुमेव भवता गृहादेव भवन्मान्यग्रन्थेभ्य उष्ट्रलष्टिकान्यायेन प्रयुञ्जीमहि। स न्याय एषः—

की अपने ग्रन्थ में चर्चा ही क्योंकि, जिससे यह नियोग विद्वानों तक के पूर्णतया गले नहीं उतरता और उन्हें भी व्यभिचार जैसा ही ज्ञात होता है।

उत्तर—यहां यही समझना चाहिए कि मनुष्य की दो प्रकार की वृत्ति होती है, एक वासनावृत्ति सरित् (स्वभावतः—बिना प्रयास के) पतन की ओर को ही प्रवाहित या उन्मुख रहती है, अतः उन पतनोन्मुख समाज की वृत्तियों पर कुछ नियम, नियन्त्रण आदि के शास्त्रीय सिद्धान्तों के बांध लगाना भी आवश्यक था। स्वामीजी के इस विषय के छेड़ने से पूर्व ही इस विषय में विधान तथा प्रतिबन्ध लगे ही थे। उनको पुनः वैदिक मन्त्रों का विवेचन करके परिष्कृत कर दिया। यदि स्वामीजी चर्चा नहीं करते तो पुराणों के ऊल-जलूल निदर्शनों से लोग अधिक व्यभिचारी होते चले जाते। अतः स्वामीजी ने सर्वप्रथम ब्रह्मचारी तथा जितेन्द्रिय रहने पर बल दिया। यदि नहीं रहा जाये तो इस वैधानिक बन्धन में रहे।

शङ्का—आप (कल्पद्रुम-प्रणेता) ने बहुत से प्रमाण पुराणों से दिये हैं, जिन पुराणों को स्वामीदयानन्द विषसम्पृक्त अन्न के समान त्याज्य मानते हैं, तो ऐसा क्यों किया?

समा०—भाई! हम भी पुराणों को स्वामीजी के सदृश ही त्याज्य मानते हैं, इस लिए हमने अपने पक्ष की स्थापनार्थ वेद के तथा वेद के अनुकूल शास्त्रों के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, न कि पुराणों से। हां! यह मानते हैं कि हमने आपको तथा आपसदृश पुराणभक्तों को सम्यक् प्रकार से समझाने के लिए ही आप के घर से ही अर्थात् आपके मान्य पुराणों से भी प्रमाणों को देकर 'उष्ट्रलष्टिका' न्याय का ही प्रयोग किया है। वह न्याय यह है—

https://t.me/DharmaSamrat

उष्ट्रे कश्चित् त्वनयत गृहं लष्टिकानां समूहम्,
किन्तु क्षिप्रं ह्यचलदनिशं नैव गत्येष्टयाऽसौ ।
मार्गे स्वामी तदुपरि धृतां लष्टिमाकृष्य चैकाम्,
तत्ताडेनाऽवहत पुरतो 'लष्टिकान्याय' एषः ॥

शङ्का—न चेतिहासस्य विधवाविषये उदाहरणानि विधवाविवाहं साधयितुं
ुवन्ति । एवं कस्यचिदपि कामवशप्रवृत्ताया बहुपतिवरणे द्विजाय धर्मः प्रति-
यितव्यः स्यात् । कंसेन हृतानां बालानां निदर्शनमन्यैरप्यनुवर्त्तितव्यं स्यात् ।
'धर्मादिष्वनियमः' इति व्याकरणशास्त्रपुष्टयाऽपि दक्षरथवत् कश्चिदपि स्त्री-
य रामवच्चैकस्त्रीव्रतं यथेच्छं प्रवर्त्तेत । उग्रसेनवद् ब्राह्मणभक्तिमाचरेत्
यद् वा तच्छात्रवम् । यतो हि न धर्मादिषु कश्चिन्नियमः स्यात् ।

उत्तरम्—उभयत्राऽपि प्रामाण्यकरणं भवद्भिः प्रत्यक्षमक्षिषु धूलिक्षेप एवेति
यम् । वयं हि धर्मेऽधर्मे च नेतिहास प्रमाणं मन्यामहे, अपितु परमं प्रमाणं वेद-
मन्यामहे । इतिहासस्तु स एव प्रामाणिको यश्च वेदस्मृतिप्रतिपादितसिद्धान्त-
ाध्यति । यथा च मनुरपि—

कोई व्यापारी ऊंट पर लठिया लाद कर कहीं लिये जा रहा था, परन्तु
शैतान ऊट सही रास्ते पर नहीं चलता था । तब बीच-बीच में वह ऊंटों का
नक लदी हुई लाठियों के बट्ठर में से एक लाठी खींच कर ऊंट की टांगों में
र देता । बस वही हमने किया है ।

यह भी नहीं कहना चाहिए कि इतिहास से प्राप्त विधवाविवाह के उदाहरण
वाविवाह को सिद्ध करने में समर्थ हैं । इस प्रकार किसी के भी कामवश
त होने पर बहुपतियों के वरण करने पर भी उसे धर्म मान लिया जाने लगेगा ।
र कंस के द्वारा अपहृत बालाओं के उदाहरण औरों को भी अनुकरणीय होने
गे तथा 'धर्म आदि में कोई नियम नहीं' इस व्याकरणशास्त्र की पुष्टि से भी
रथ के समान तीन स्त्रियों का वरण या राम के सदृश एक मात्र सीता के वरण
उदाहरण से किसी एक के अनुकरण में स्वच्छन्दता होगी । उग्रसेन के समान
ुणभक्ति करे या कंस के समान उनसे शत्रुता करे ।

उत्तर—इस प्रकार दोनों जगह प्रामाण्य मानना आपके द्वारा प्रत्यक्ष ही
खों में धूल झोंकना है । हम लोग धर्म या अधर्म में इतिहास को प्रमाण नहीं
नते, किन्तु वेद को ही परम प्रमाण मानते हैं । नित्य इतिहास तो वही
माणिक है, जो वेद-स्मृतिप्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार है । जैसा मनु भी

'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ।' (२।१३)
'आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च ।' (१।१०८)

एतदाधारीकृत्य इतिहासस्य मन्तव्याऽमन्तव्यनिर्धारणं सरलम् । विधवा-
विवाहैकस्त्रीव्रतगोब्राह्मणरक्षणं च वेदानुकूलम् । युगपद् बहुस्त्रीविवाहादिकम-
वैदिकत्वादधर्म एवेति निश्चयः । धर्माधर्मनिकषः खलु वेद एव ।

'धर्मादिष्वनियमः' इत्यस्य व्याकरणविषयकस्य पूर्वनिपाते एव प्रयोगो न
तु धर्मं कुर्यादधर्मं वेति ऐच्छिकाचरणविधानं निर्दिश्यतेऽनेन । तस्मात्—

कन्यायां सत्यवत्यां च पाराशरकृतं च यत् ।
कन्याकुन्त्यां यदर्केण 'सैष धर्मः सनातनः' ॥
न तु वैदिकः, इति ।

निर्मलोक्तेरुद्धरणलोभमवारयन्नतिपल्लवितेन विरमामि—

दम्भोलिसन्निभसुतीक्ष्णसुतर्कवाचा,
नाराचसम्प्रहरणैरभवद् विचूर्णम् ।

कहते हैं कि 'धर्मजिज्ञासा में श्रुति ही परम प्रमाण है' (२।१३), 'श्रुति और
स्मृति से उक्त आचार परम धर्म है' (१।१०८) ।

इसी का आधार मान कर इतिहास की मान्यता या अमान्यता का निर्धारण
सरल है । विधवा-विवाह, एकस्त्रीव्रत, गौ, ब्राह्मण की रक्षा वेदानुकूल है । एक
साथ बहुत स्त्रियों से विवाह आदि अवैदिक होने से अधर्म है । धर्म और अधर्म की
कसौटी तो वेद है ।

'धर्म आदि में कोई नियम नहीं होता' इसका छल से अन्य अर्थ मत
कीजिए । इसका उपयोग तो धर्म और अधर्म शब्दों के समस्त होने पर किसका
पूर्वनिपात किया जावे, इस विषय में कहा गया है कि चाहे धर्म शब्द का चाहे
अधर्म शब्द का पूर्वनिपात कीजिए । कोई नियम निर्धारित नहीं है । यह बताया
गया है । अर्थात् प्रयोग में 'धर्माधर्मौ' अथवा 'अधर्मधर्मौ' दोनों ही ठीक हैं ।

अतः कन्या सत्यवती में पाराशर ने तथा कन्या कुन्ती में सूर्य ने जैसा किया,
वह आपका पौराणिक धर्म है, पर यह वैदिक धर्म नहीं है ।

हम यहां विराम करते हुए इस निर्मलोक्ति-उद्धरण करने का लोभ संवरण
नहीं कर पा रहे हैं कि—

हे दम्भ से अभिमानी करपात्रीजी ! आपका वेदार्थरोधक, पुराण व कुतर्क-

https://t.me/DharmaSamrat

वेदार्थ-कल्पद्रुमः

दम्भाभिमानिकरपात्र विजृम्भणं ते,
वेदार्थरोधकपुराणकुतर्कमूलम् ॥

॥ इति शम् ॥

इति श्रीमद्बिहारीलालशास्त्रिशिष्येण श्रीयुतपण्डित-अयोध्याप्रसाद-
मिश्रात्मजेन श्रीमदाचार्यविशुद्धानन्दमिश्रेण श्रीयुतनिर्मला-
मिश्रा-सहधर्मिणीसहायेन विरचिते करपात्रिमतखण्डने
दयानन्दीयमतमण्डने 'वेदार्थकल्पद्रुम'नामग्रन्थे
'नियोग-विषयः'
॥ सम्पूर्णः ॥

॥ समाप्तश्चायं द्वितीयो भागः ॥

तक विजृम्भण (गर्व) वज्रसदृश, तीक्ष्ण सुतर्कमय वाणी के बाणों के प्रहारों से
ब पूर्णतया चूर-चूर हो चुका है।

॥ इति शम् ॥

श्रीमान् पण्डित बिहारीलालजी शास्त्री के शिष्य, श्रीयुत पण्डित
अयोध्याप्रसाद मिश्र के आत्मज, श्रीमदाचार्य विशुद्धानन्द
मिश्र द्वारा श्रीयुतनिर्मला मिश्रा सहधर्मिणी की
सहायता से विरचित करपात्रिमतखण्डन तथा
दयानन्दीय मतमण्डन करनेवाले इस
'वेदार्थ-कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में
'नियोग-विषय'
॥ सम्पूर्ण हुआ ॥

॥ द्वितीय भाग समाप्त हुआ ॥

https://t.me/DharmaSamrat